भारतीय अर्थशास्त्र

केवल कृष्ण डयूवेट

एम. ए., पी. एच. डी.,

सयोजक अर्थशास्त्र पाठ्यक्रम समिति, पंजाब विश्वविद्यालय
प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर

तथा

गुरुचरण सिंह

एम. ए., पी ई. एस.

इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स, जलंधर डिविजन, जलंधर

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

फव्वारा : दिल्ली

इसी विषय के सहायक ग्रन्थ

MODERN ECONOMIC THEORY
(FIFTH EDITION 1952)

अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धांत [illegible]

INDIAN ECONOMICS (1952 ENGLISH EDITION)

मूल्य : १५)

प्रथम हिन्दी संस्करण १९५२

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
१० दरियागंज,
दिल्ली

प्रस्तावना

अर्थशास्त्र वास्तव में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। अर्थशास्त्र से न केवल देशहित के कार्यों के लिए बुद्धि परिष्कृत होती है वरन् इतिहास एवं राजनीति के अध्ययन में भी इससे बड़ी सहायता मिलती है। वरन् यह भी कहा जा सकता है कि आज की राजनीति का आधार अर्थशास्त्र है, अतएव अर्थशास्त्र की बारीकियों को जाने बिना राजनीति का भी गम्भीर अध्ययन नहीं किया जा सकता।

अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धांतों की अपेक्षा यदि उसका वर्णन किसी देश की परिस्थिति के दृष्टिकोण से किया जाता है तो वह उस देश के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है।

वैसे किसी देश विशेष की परिस्थिति को दृष्टि में रखकर अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में ग्रंथ लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि इस प्रकार की परिस्थिति प्रायः सदा ही बदलती रहती है। फिर गत महायुद्ध के समय तो भारत की आर्थिक परिस्थिति में अत्यन्त क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अस्तु, यदि इस ग्रंथ की रचना युद्ध से पूर्व की जाती तो युद्ध काल में अथवा उसके बाद इसका नवीन संस्करण निकालने के लिए इस को सर्वथा नये ढंग से लिखना पड़ता, किंतु इसको लिखने की सब से अधिक आवश्यकता युद्धकाल में ही प्रतीत हुई। इधर विद्वानों के अतिरिक्त विद्यार्थियों का आग्रह भी इस ग्रंथ के लिए बढ़ता ही जाता था। अतएव इस ग्रंथ को लिखना आरम्भ करके इसको सन् १९४४ में उस समय समाप्त किया गया जब द्वितीय महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों का पलड़ा अत्यन्त भारी हो चुका था और जर्मनी के पतन के लक्षण दिखलाई देने लगे थे।

यह सौभाग्य की बात है कि विद्वानों के अतिरिक्त शिक्षा विभाग ने भी इस ग्रंथ को बहुत पसन्द किया और शीघ्र ही इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। अन्त में युद्ध समाप्त होने के समय सन् १९४६ में इसका दूसरा संस्करण निकाला गया, इसके पश्चात् इसका १९४८ में तृतीय, १९४९ में चतुर्थ तथा १९५१ में पांचवां संस्करण निकाला गया। इसके प्रत्येक संस्करण में तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार पर्याप्त परिवर्तन करने पड़े।

किंतु १९५१ के बाद भारत की स्थिति में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक भारी परिवर्तन हुए। मूल्यह्रास तथा उसके परिणामस्वरूप भारत तथा पाकिस्तान के व्यापारिक सम्बन्धों में गतिरोध होने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था के अनेक क्षेत्रों पर उसका भारी प्रभाव पड़ा। उधर आर्थिक कमीशन की रिपोर्ट भी प्रकाशित की गयी। इस रिपोर्ट में पुरानी

समस्याओं पर नवीन प्रकाश डाला गया तथा अनेक नई-नई समस्याओं पर भी विचार किया गया। योजना कमीशन की पंचवर्षीय योजना आरम्भ हो जाने से अन्य भी अनेक समस्याओं की ओर ध्यान देना पड़ा, अतएव लेखकों ने इस ग्रंथका १९५८ में छठा संस्करण तैयार करके उसमें भारतीय अर्थशास्त्र की नवीनतम समस्याओं का सर्वाधिक नवीन दृष्टिकोण से वर्णन किया। इस प्रकार की समस्याओं में जमींदारी उन्मूलन, सहकारी कृषि, कृषि योजना, खाद्य सम्बन्धी नवीनतम स्थिति, पूंजी निर्माण, औद्योगिक संकट, औद्योगिक आदर्श, औद्योगिक (विकास तथा नियंत्रण) विधेयक, औद्योगिक सम्बन्ध विधेयक १९५०, सड़क यातायात, राष्ट्रीयकरण, भारत तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन, देशमुख निर्णय, राज्यों का आर्थिक विलीनीकरण, नई आर्थिक नीति, मूल्य ह्रास, पुनर्मूल्यन, सहयोग में नवीनतम गतियां, बैंकिंग तथा सार्वजनिक अर्थव्यवस्था आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया।

इंग्लिश संस्करण के साथ-साथ इस के हिंदी संस्करण के लिए भी बहुत समय से मांग आ रही थी। अतः हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री तथा श्री सन्तराम जी 'विचित्र' को इसका हिंदी अनुवाद तैयार करने का भार सौंपा गया। उसके परिणामस्वरूप यह ग्रंथरत्न आपके कर-कमलों में समर्पित है।

आशा है कि अध्यापक, विद्यार्थी तथा हिंदी पाठक इस ग्रंथ को विशेष रूप से अपनावेंगे।

केवलकृष्ण ड्यूवेट

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	प्रस्तावना (भारतीय अर्थशास्त्र का स्वरूप और उसका कार्य-क्षेत्र,)	१
१	भौगोलिक पृष्ठभूमि	६
२	सामाजिक पृष्ठभूमि (जनता)	३६
३	” ” (गत अध्याय का शेषांश) संस्थाएं	६९
४	कृषि का सामान्य निरीक्षण	८०
५-६	भूमि के पट्टों की प्रणालियां	१०८
७	कृषि की इकाई	१३६
८	किसान और उसके साधन	१५८
९	कृषि मज़दूर	१६४
१०	सिंचाई	१७०
११	कृषि उत्पाद की बिक्री	१८२
१२	कृषि अर्थ-व्यवस्था और ऋणत्व	१९५
१३	सहकारिता	२१९
१४	अकाल और खाद्य समस्या	२४५
१५	राज्य का कृषि से सम्बन्ध	२५८
१६	मालगुज़ारी की नीति	२७४
१७	भारतीय उद्योग	२९२
१८	बृहद्-स्तर उद्योग (१)	३०६
१९	बृहद्-स्तर उद्योग (२)	३२५
२०	औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था और प्रबन्ध	३५३
२१	औद्योगिक श्रम	३८२
२२	यातायात—रेलें	४१३
२३	भारत में यातायात—सड़कें	४३५
२४	” ” ” —जलमार्ग और वायु मार्ग	४४७
२५	भारत का व्यापार	४५
२६	भारतीय राजकर नीति	५१०
२७	मुद्राचलन और विनिमय (१८३५-१९२५)	५५९
२८	” ” ” (१९२६-१९३९)	५७३

२९ द्वितीय महायुद्ध में भारतीय चलअर्थ तथा विनिमय
[redacted] चलअर्थ तथा विनिमय की मुख्य समस्याएँ
३१ बैंकिंग प्रणाली
३२ भारतीय मूल्य
३३ सार्वजनिक राजस्व
३४ केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्ध
३५ प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्ध
३६ राष्ट्रीय आय
३७ भारत में आर्थिक योजना-निर्माण
३८ बेकारी, पूर्ण रोजगार और विस्थापितों का पुनर्वास
३९ आर्थिक नियंत्रण

भारतीय अर्थशास्त्र

प्रस्तावना

भारतीय अर्थशास्त्र का रूप और उसका कार्य-क्षेत्र

१. **भारतीय अर्थशास्त्र क्या है ?** "भारतीय अर्थशास्त्र" शब्द के उपयोग के विषय में अत्यधिक वाद-विवाद चला आता है। इस शब्द का सब से प्रथम रानाडे ने अपने उन व्याख्यानों में उपयोग किया था, जो उन्होंने पूना के डेकन कालिज में सन् १८९२ में भारतीय राजनीतिक अर्थशास्त्र पर दिये थे। 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द की अनेक व्याख्याएं की जा सकती हैं।

इसका अर्थ भूतकालीन तथा वर्तमान भारतीय आर्थिक विचारों का अध्ययन हो सकता है। किन्तु भारतीय आर्थिक विचारों के क्षेत्र के सम्बन्ध में अभी तक भी बहुत-कुछ खोजबीन करना बाकी है। तदनुरूप सामग्री बहुत कम है। यदि हम भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास के सम्बन्ध में अन्वेषण करें तो हमको उसमें इतने अधिक अन्तरालों को पार करना पड़ेगा कि हम को अपने प्रयत्न को व्यर्थ समझ कर उससे हाथ खींचना पड़ेगा। कुछ प्राचीन हिन्दू शास्त्रों—विशेषकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसे विचारों का भारी भंडार भरा पड़ा है, जिनको अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचार कह सकते हैं। किन्तु उनका सम्बन्ध एक विशेष काल से ही है और उससे भारतीय आर्थिक विचारों के क्रमबद्ध विकास का पता नहीं लगाया जा सकता। भारतीय इतिहास के समस्त काल में भारत में अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचारों के विकास का प्रामाणिक तथा शृंखलाबद्ध वर्णन अभी तक भी नहीं मिला है। अतएव, हम भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन को भारतीय आर्थिक विचारों के अध्ययन के साथ एकाकार नहीं कर सकते।

शब्द 'भारतीय अर्थशास्त्र' का दूसरा संभावित अर्थ यह है कि यह अर्थशास्त्र का **नया विज्ञान** है, जो एडम स्मिथ से प्राप्त उस अर्थशास्त्र विज्ञान से मौलिक रूप में भिन्न है, जिसको पश्चिम के विचारकों ने पुष्ट किया है। न्यायमूर्ति रानाडे ने इस बात पर विशेष रूप से बल दिया है कि पाश्चात्य अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धांतों को भारतीय परिस्थितियों पर लेशमात्र भी लागू नहीं किया जा सकता। भारत की असाधारण सामाजिक रचना के कारण, जिसमें जन्मना जाति तथा सम्मिलित परिवार प्रणाली में प्रतियोगिता तथा बराबरी के व्यावहारिक नियम के स्थान पर रीतियों तथा प्रथाओं की प्रधानता पाई जाती है, रानाडे की सम्मति में भारतीय

लोग पाश्चात्य लोगों के ठीक विपरीत दिशा में जाते हैं। जिस समय रानाडे ने पाश्चात्य अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धांत के विषय में इस प्रकार की गर्जना की थी तो हम एक प्रकार की उनसे आशा लगाये बैठे थे। उस समय यह दिखलाई देता था कि संभवतः, उनके द्वारा एक नये विज्ञान को जन्म दिया जायगा। किन्तु रानाडे का एकमात्र उद्देश्य था पाश्चात्य अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धांत को भारतीय परिस्थितियों पर बिना विवेक के लागू करने के विरुद्ध प्रबल प्रतिरोध उपस्थित करना। वास्तव में भारतीय अर्थशास्त्र का कोई नया विज्ञान उसी प्रकार संभव नहीं हो सकता, जिस प्रकार भारतीय गणित, भारतीय भौतिक शास्त्र, आदि नहीं हो सकते।

शब्द 'भारतीय अर्थशास्त्र' का एक अन्य उपयोग यह है कि यह अर्थशास्त्र के साधारण सिद्धांतों का उस प्रकार का अध्ययन है, जिसमें भारतीय आर्थिक जीवन के समुचित उदाहरण दिये हुए हों। किन्तु भारतीय जीवन के अर्थशास्त्र सम्बन्धी नियमों का दृष्टांतपूर्वक विवेचन उपयोगी एवं आवश्यक होने पर भी यह बात ध्यान में रखने की है कि अर्थशास्त्र के इस प्रकार के अध्ययन को 'भारतीय अर्थशास्त्र' नहीं कहा जा सकता। इतने पर वह अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धांत का अध्ययन ही बना रहेगा। भारतीय अर्थशास्त्र—जिससे अब हम परिचित हो चुके हैं—बिलकुल ही भिन्न विषय है।

सार्वजनिक तथा ठीक दृष्टिकोण यही है कि शब्द 'भारतीय अर्थशास्त्र' का अभिप्राय है अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धांतों के भाववाचक अध्ययन से भिन्न ठोस भारतीय आर्थिक समस्याओं का अध्ययन। भारत को आज अनेक आवश्यक आर्थिक समस्याओं का मुकाबला करना पड़ रहा है। भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य यह दिखलाना है कि यह समस्याएं किस प्रकार उत्पन्न हो गईं तथा उसको यह बतलाना है कि उन समस्याओं को किस प्रकार सुलझाया जा सकता है, जिससे भारत को समृद्धि के मार्ग पर ले जाया जा सके। भारतीय अर्थशास्त्र को पक्षपात रहित होकर भारतीय आर्थिक समस्याओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना होगा। उसको शांति के साथ वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण करना होगा तथा सहानुभूतिपूर्ण ढंग से देश के लिए अत्यधिक हितकारी राष्ट्रीय नीति का निर्माण करना होगा।

२. भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र। जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्र की ऊपर दी हुई परिभाषा से स्पष्ट है, भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भारत का मुकाबला करने वाली विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन तथा उनका हल स्वयं ही आ जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र अर्थ-सम्बन्धी के नियमों के निर्माण से स्वयं कोई सम्बन्ध नहीं रखता। उसमें तो वर्तमान नियमों का भी बहुत कम, और वह भी कभी-कभी ही उल्लेख किया जाता है। यह एक ठोस और वास्तविक अध्ययन है। यह ऐसा भाववाचक अध्ययन नहीं है, जिसमें

वास्तविकता का परित्याग कर दिया गया हो । यह भारतीय कृषि, व्यापार और उद्योग, मुद्रा (Currency) तथा विनिमय और भारत की बैंकिंग प्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं का अध्ययन करता है । यह आन्दोलनों का अध्ययन भी करता है । श्रमिक आन्दोलन, सहकारिता समितियों के आन्दोलन तथा मूल्य की गतियों के आन्दोलन भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आते हैं। प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण और उनके द्वारा पड़ने वाले आर्थिक प्रभाव का भी अत्यन्त सतर्कता से अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त हमको भूमि कर प्रणाली, यातायात प्रणाली तथा सार्वजनिक राजस्व का भी अध्ययन करना पड़ता है । ग्रामीण ऋणग्रस्तता, विदेशी पूंजी तथा राजकर सम्बन्धी नीति की समस्याओं की भी सावधानी से छानबीन की जाती है । सारांश यह है कि भारतीय अर्थशास्त्र में हमको भारतीय आर्थिक जीवन की प्रत्येक गति का अध्ययन करना पड़ता है। वास्तव में यह अध्ययन की एक अत्यन्त लालसापूर्ण योजना है ।

यह अध्ययन एक और प्रकार से भी लालसापूर्ण है । यह भूतकाल को खोद-खोद कर देखता है, यह वर्तमान का सावधानी से विश्लेषण करता है तथा अपने अध्ययन के प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध में भविष्य की ओर देखने का प्रयत्न करता है। किसी आर्थिक समस्या के संभावित कारणों का पता लगा लेने से ही उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता । उसको उस समस्या का, उसके सभी महत्वपूर्ण दृष्टिकोणों से अध्ययन करना चाहिए । फिर उसका अनुसरण करने योग्य एक नीति के सम्बन्ध में सुझाव देना चाहिए। और उस प्रकार की नीति के परिणामों के विषय में पहले से ही अनुमान लगा लेना चाहिए। इस प्रकार यह अध्ययन विस्तृत तथा गहरा—दोनों ही प्रकार का है ।

भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन एक प्रबल उद्देश्य से संचालित होता है, और वह है भारतीय जनता के आर्थिक हित का अधिकाधिक संपादन करना। यह उच्च कोटि के प्राचीन अर्थशास्त्री केयरनीज़ (Cairnes) तथा नवीन अर्थशास्त्री राबिन्स (Robbins) के समान तटस्थ वृत्ति का अवलम्बन भी नहीं करता। भारतीय अर्थशास्त्री स्पष्ट रूप से पक्षपाती होते हैं। वह अपने देश का हित सम्पादन करना चाहते हैं, यद्यपि ऐसा वह अन्य देश के हित का बलिदान करके करना नहीं चाहते। इस प्रकार भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को दृढ़ता से भारत के राष्ट्रीय हित को लगातार ध्यान में रखना होता है, किन्तु इसका अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों में उदासीनता नहीं है। भारत के अर्थशास्त्री पृथकत्ववादी नहीं होते । इसका अभिप्राय केवल यह है कि वह भारत के लिए जो कुछ भी आर्थिक सुविधा प्राप्त हो सके, उसके लिए प्रयत्न करना चाहते हैं। वह भारत को अन्य किसी भी वस्तु से ऊपर रखना चाहते हैं और उनकी इस वृत्ति में कोई बुरी बात नहीं है ।

३. भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता । भारतीय अर्थशास्त्र

इतने अधिक प्रकार की तथा पेचीदा समस्याओं का वर्णन करता है कि उससे मस्तिष्क को अत्यधिक सामग्री मिलती है। मानसिक उत्कर्ष में इस प्रकार के अध्ययन का एक आवश्यक स्थान होता है। यदि कोई व्यक्ति अपने निजी देश की आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में वार्तालाप न कर सके तो वह ठीक तौर से विद्वान होने का दावा नही कर सकता। यह विषय इतना अधिक महत्वपूर्ण है। जिन मामलों का हमको मुकाबला करना पड़ता है उनको ठीक तौर से समझने के लिए भी यह अध्ययन आवश्यक है। अनेक पठित व्यक्ति किसी दैनिक पत्र के प्रथम पृष्ठ पर मुद्रा-प्रसार (Inflation) अथवा क्रॉसरेट (Cross Rate) शब्दों को देखकर परेशान हो जाते हैं। भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से उनको इस कठिनाई में सहायता मिलेगी।

किन्तु इस विषय के उन्नति-सम्बन्धी दृष्टिकोण के अतिरिक्त इसके अध्ययन करने की आवश्यकता इससे भी अधिक एक भारी दृष्टिकोण से है। भारत आज अपने इतिहास के अत्यधिक नाजुक समय में से गुज़र रहा है। आज उसने अपने सो वर्ष पुराने स्वतन्त्रता के स्वप्न को कार्यरूप मे परिणत कर लिया है। यदि उसको सफल होना है और यदि उसको योग्यतापूर्वक भारतीय जनता की वास्तविक भलाई के लिए कार्य करना है तो भारत के विधान निर्माताओं को पूर्ण अध्ययन के साथ जनतंत्र को कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। उसको जागरूक जनता द्वारा भी समर्थन मिलना चाहिए। कुछ सम्माननीय अपवादों को छोड़ कर, हमारी विधान सभा के अधिकांश सदस्य मुद्रा (Currency) तथा विनिमय (Exchange) की समस्याओं, तटकर नीति तथा सार्वजनिक राजस्व (Public Finance) की समस्याओं से नितांत अपरिचित हैं। उनको हल करने में वह क्या संभव सहायता कर सकते हैं? सभी प्रकार के विधान का प्रधान रूप अर्थशास्त्र है। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन सभी सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए अनिवार्य रूप मे आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त युद्ध के कारण आर्थिक समस्याओं की एक भरी पूरी फ़सल पैदा हो गई है। प्रत्येक पठित भारतीय से यह आशा की जाती है कि वह इन समस्याओं के हल करने में स्वयं कुछ योग दे। भारतीय अर्थशास्त्र के मामलों के आवश्यक ज्ञान से लैस रहना हमारी आवश्यक तैयारी का एक अंग है। जबतक भारत की आर्थिक समस्याओं को संतोषजनक रूप से नहीं सुलझाया जायगा, भारत में वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं आ सकती।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का व्यावहारिक महत्व तो वर्णनातीत है। भारतीय कृषि की समस्याओं पर वाद-विवाद से व्यावहारिक किसानों को अत्यधिक लाभ होगा। भारतीय उद्योग-धन्धों के अध्ययन से उद्योगपतियों को अत्यन्त उपयोगी शिक्षा मिल सकती है। व्यापारी भी व्यापारिक समस्याओं और उसकी प्रवृत्तियों के अध्ययन से अत्यधिक लाभ उठा सकता है। बैंकिंग कार्य में लगा हुआ

व्यक्ति भारतीय बैंकिंग प्रणाली के अध्ययन से अच्छा फल प्राप्त कर सकता है। इससे उसको अधिक सफलता के साथ-साथ उसकी क्षमता भी बढ़ेगी। भारतीय श्रमिक नेता भारत की श्रमिक समस्याओं से अधिक परिचित होकर श्रमिकों के संग्राम को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से लड़ सकेंगे। सारांश यह कि भारतीय आर्थिक जीवन के बुद्धिमत्तापूर्ण अध्ययन से भारत की दरिद्रता की समस्या को हल करने में बड़ी भारी सफलता मिलेगी।

पहला अध्याय

भौगोलिक पृष्ठभूमि

१. भारतीय आर्थिक जीवन पर भौगोलिक प्रभावों का वर्णन

कहा जाता है कि "देश स्वयं ही अपने निवासियों का निर्माण करता है।" हम इस कथन की यह कह कर व्याख्या कर सकते हैं कि किसी देश की प्राकृतिक परिस्थितियों का सभी मामलों में उसके आर्थिक जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है। किसी देश में कार्य करने वाली प्राकृतिक शक्तियों का उसकी जनता के आर्थिक कार्यों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जलवायु का श्रमिकों की योग्यता पर प्रभाव पड़ता है। साथ ही वह भोजन तथा वस्त्र से सम्बन्धित कुछ वस्तुओं के बाज़ार के परिमाण का भी निश्चय करती है। वर्षा तथा भूमि के उपजाऊपन की प्रकृति के साथ मिल कर जलवायु यह भी निश्चय करता है कि वहां फसल में क्या वस्तुएं बोई जाँयगी। प्राकृतिक दशा तथा नदी प्रणाली तो किसी देश की विशेष प्रकार की भौगोलिक रचना का परिणाम होती है। यह सब मिलाकर व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के परिमाण तथा उनकी गति का निश्चय करते हैं, जो अपनी बारी पर सरकारी राजस्व तथा सरकारी कार्यों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार सभी आर्थिक तथा राजनीतिक कार्य प्राकृतिक परिस्थितियों के परिणाम होते हैं।

किन्तु मनुष्य प्रकृति पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। उसने समुद्रों पर पुल बांधे हैं और पर्वतों को काट डाला है। उसने वायु पर विजय प्राप्त की है। वह जल के नीचे भी यात्रा कर सकता है। यात्रा के तेज़ साधनों द्वारा उसने दूरी को अत्यन्त नगण्य सिद्ध कर दिया है। बिजली के द्वारा उसने रात को दिन बना दिया है और कठोरतम जलवायु को भी मृदु बना दिया है। अपनी जलसिंचन योजनाओं द्वारा उसने वर्षा के विषय में भी प्रकृति से स्वाधीनता का सम्पादन कर लिया है। उसकी भूमि सुधार योजनाएं इसी इच्छा को प्रगट करती हैं कि वह भूमि के उत्पादन की प्रकृति के कारण लागू की गई पाबन्दियों को जीतना चाहता है। यूरोप की उर्वरा भूमि का नई दुनिया को निर्यात किया जाता है। प्रकृति की प्रबल शक्तियां आज मनुष्य जाति की सेवा कर रही हैं। मनुष्य के यह चमत्कार एक महाकाव्य को भर देंगे।

तो भी प्रकृति के ऊपर मनुष्य का यह स्वामित्व अभी पूर्ण तथा निर्विवाद नहीं है। प्रकृति में बन्धनों से बच जाने की तथा अपना प्रभुत्व प्रगट करने की

कुशलता है। ऋतु सम्बन्धी दशाएं सभी कार्यों में बाधा उत्पन्न करती हैं। समुद्र कभी-कभी बरफ से जम जाता है और फिर उसमें जहाज़ चलना संभव नहीं होता। मनुष्य के श्रम तथा उसकी मौलिक कल्पना को ओलों सहित आंधी और तूफान एकदम नष्ट कर देते हैं। भूकम्प मानवी योजनाओं को एकदम लोटपोट देता है। इस प्रकार अभी हम प्रकृति पर आंशिक रूप में ही विजय प्राप्त कर सके हैं और आर्थिक कार्यों पर प्रकृति के प्रभाव की पूर्णतया उपेक्षा करके उसको पूर्णतया निकाला नहीं जा सकता।

भारतीय आर्थिक जीवन पर प्रकृति का प्रभाव सदा विजयी होता रहा है। हिमालय वर्षा पर प्रभाव डालता है और वर्षा देश भर में कृषि कार्यों पर शासन करती है। हमारे समुद्री तट की प्रकृति और भूमि की सीमा ने व्यापार की गति और उसके परिमाण पर अपना प्रभाव डाला है। आकार तथा भूगर्भ-रचना देश की खनिज सम्पत्ति के रूप का निर्णय करते हैं। साथ ही वह भारतीय उद्योग-धन्धों को उपलब्ध होने वाले शक्ति साधनों के लिए भी उत्तरदायी हैं। भारतीय जलवायु भारतीय श्रमिकों की योग्यता पर कम प्रभाव नहीं डालता। और वह देश की पशु-सम्पत्ति तथा वनस्पति-सम्पत्ति पर भी प्रभाव डालता है। यह कहा जाता है कि भारत का बजट 'वर्षाकालिक वायु में एक जुआ है'। इस प्रकार भारतीय कृषि, व्यापार और उद्योग-धन्धों, राजस्व तथा सभी बातों पर देश के प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। वास्तव में भारतीय जीवन की किसी ऐसी दशा के विषय में विचार करना कठिन है, जिस पर प्राकृतिक दशाओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव न पड़ता हो।

२. भारत के विषय में कुछ भौगोलिक तथ्य—आकार, स्थान आदि। हमारे देश के विषय में पहली बात जिसकी ओर किसी का ध्यान जाता है, देश के आकार का विस्तार और उसकी महाद्वीप जैसी लम्बाई-चौड़ाई है। अविभक्त भारत का समस्त क्षेत्रफल १५,७४,००० वर्ग मील था। विभाजन के फलस्वरूप अब भारतीय संघ का क्षेत्रफल १२,२१,००० वर्ग मील है, जो कि अविभक्त भारत के समस्त क्षेत्र का तीन-चतुर्थांश से कुछ अधिक है। आज भारत का समस्त क्षेत्रफल ग्रेट ब्रिटेन के क्षेत्रफल से बारह गुना है। भारत आज भी अपने अन्दर फ्रांस, ब्रिटेन, आयरलैण्ड, बेल्जियम, हालैण्ड, जर्मनी, डेनमार्क, आस्ट्रिया, हंगरी, स्विटजरलैण्ड, स्पेन, पुर्तगाल, इटली और रूमानिया को समा सकता है। भारत आकार में ही बड़ा नहीं है, वरन् वह मनुष्य जाति के लगभग षष्ठांश ($\frac{1}{6}$) का निवासस्थान भी है। इस प्रकार वह एक देश न होकर एक महाद्वीप है।

इसके अतिरिक्त भारत एक ऐसा देश है, जिसमें सब प्रकार की विभिन्नताएं मिलती हैं। उसके कुछ भागों में वर्षा बिल्कुल नही होती और कुछ भाग ऐसे हैं, जिनमें संसार भर में सबसे अधिक वर्षा होती है। उसका जलवायु भी इतनी विभिन्नता

लिये हुए है कि उसमें बरफ जमने योग्य ठंड के अतिरिक्त अयनवृत्त सम्बन्धी अत्यधिक गर्मी भी पड़ती है। मलाबार अपनी अयनवृत्त सम्बन्धी वनस्पति से समृद्धि वाला है तो उसके विरुद्ध पंजाब के कुछ मैदानों मे एक भी वृक्ष नहीं है। जनसंख्या का घनत्व भी इतनी विभिन्नता लिये हुए है कि काश्मीर में प्रति मील ४९ व्यक्ति रहते है तो कोचीन राज्य में प्रति मील ९५३ व्यक्ति रहते हैं राजपूताना की बालुकामय मरुभूमि काश्मीर की घाटियों जैसे स्थानो की विरोधी है।

किन्तु इस विभिन्नता में एकता भी है। यह विचित्रता हमारे आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को समृद्ध बनाती है और यह हमारे सामने असीम विभिन्नताओं तथा समृद्धि वाले आर्थिक जीवन का विकास करने की विस्तृत तथा लगभग असीमित योग्यताएं उपस्थित करती है। इस प्रकार यह विभिन्नता भारत के लिए स्वागत योग्य है।

भारत की भौगोलिक स्थिति तो उसके अत्यधिक अनुकूल है। पूर्वी गोलार्द्ध के वह ठीक मध्य में है। स्वेज़ नहर के द्वारा पश्चिम से वह उतनी ही दूर है, जितना सुदूरपूर्व से अथवा आस्ट्रेलिया और अफ्रीका से। इस प्रकार व्यापार के लिए निस्सन्देह, उसकी स्थिति अत्युत्तम है। प्रकृति का स्पष्ट रूप से यह अभिप्राय था कि वह विश्व व्यापार के बहुत बड़े भाग के वितरण केन्द्र का काम दे सके। सारांश यह कि प्रकृति ने भारत को विशेष रूप से छांटकर एक बड़ा तथा महत्वपूर्ण देश बनाया है।

३. जलवायु। देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित करनेवाले अंगों में जलवाय एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राकृतिक हरियाली का विभाजन, पशु-सम्पत्ति तथा वन-सम्पत्ति, मनुष्य की कार्य करने की योग्यता, मानवी आवश्यकताएं तथा उद्योग-धन्धों का स्थानीकरण तथा वितरण सभी जलवायु के परिणाम हैं।

भारत में समग्र रूप से अयनवृत्त सम्बन्धी मानसून शैली का जलवायु है, तो भी वर्षा की ऋतु और उसके विभाजन और तापक्रम पर ऊंचाई के प्रभाव के कारण भारत को कई जलवायु वाले भागों में विभक्त किया जा सकता है।

इस प्रकार भारत में पहाड़ों तथा एकदम उत्तर में शीत जलवायु है तो मैदानों में उष्ण तथा शुष्क जलवायु है। यह तापक्रम की एक विभिन्न प्रकार की विस्तृत शृंखला को उपस्थित करता है जो उत्तर के कुछ भागों में ५०° से लेकर पंजाब के भटिंडा जैसे स्थानों में ११६ अंश और उससे भी अधिक विभिन्नता को प्रगट करता है। दक्षिण-पश्चिम का जलवायु उष्ण तथा आर्द्र है जब कि वहां का तापक्रम एक-जैसा ही रहता है। कुछ भागों में तापक्रम, आर्द्रता तथा दबाव में दैनिक शृंखलाएं विशेष उल्लेखनीय है। तो भी भारत में जलवायु की एकता है।

हम अपने जलवायु के कारण ही इतने विभिन्न प्रकार की फसलें पैदा कर सकते हैं तथा अनेक समृद्ध उद्योग-धन्धों की नींव रख सकते हैं। यह हमारा जलवायु ही है

जो हमारे आर्थिक आत्मनिर्भरता के उद्देश्य को हमारे समीप आता हुआ दिखलाता है, किन्तु शर्त यह है कि हम उस तक पहुंचने की इच्छा करें। किन्तु यह कहा जाता है कि भारतीय जलवायु का मानवी शरीर पर दुर्बलताकारक प्रभाव डालता है। यह लोगों को असावधान तथा सुस्त बनाकर उनको कठोर तथा लगातार परिश्रम करने के अयोग्य बना देता है। यह कहा जाता है कि अयनवृत्त के निवासियों का मस्तिष्क सोने वाला तथा गतिहीन होता है। किन्तु हमको अपने जलवायु के इस विपरीत प्रभाव के विषय में अतिशयोक्ति से काम नहीं लेना चाहिए और नाही अपनी आर्थिक गिरावट का कारण उसे मानना चाहिए। ऐसे ही जलवायु में प्राचीन काल के भारतीय कला, साहित्य, औषधि, व्यापार और उद्योग-धन्धे आदि उन्नति के चरम-शिखर पर पहुंचे हुए थे, अतएव अपनी आर्थिक गिरावट के कारण हमको कहीं और ही खोजने चाहियें।

४. वर्षा। भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए वर्षा के महत्व के विषय में कहना कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। यह व्यर्थ नहीं है कि एक भारतीय किसान कष्ट के समय सदा त्राण पाने के लिए ऊपर को देखा करता है। अशिक्षित भारतवासी का परमात्मा बादलों में निवास करता है। वास्तव में परमात्मा के विषय में उनकी ऐसी ही कल्पना है। वर्षा समय पर होनी ही चाहिए और वह पर्याप्त होनी चाहिए, किन्तु वह आवश्यकता से अधिक भी नहीं होनी चाहिए और साथ ही उसको समानभाव से विभक्त होना चाहिए। इनमें से किसी एक बात के भी न होने से भारतीय किसान को आपत्ति का मुकाबला करना पड़ता है। यह कहा जाता है कि भारतीय वर्षा प्राचीन राजा-महाराजाओं का सभी प्रकार का बुद्धि-चापल्य प्रगट करती है। हमको यह समझ लेना चाहिए कि इस विषय में प्रकृति के अपना कार्य न करने से वह लाखों व्यक्ति नष्ट हो सकते हैं, जो केवल कृषि पर निर्भर करते हैं, किन्तु वर्षा के कारण केवल किसानों को ही कष्ट भोगना नहीं पड़ता। फसल न होने का अर्थ है माल की मांग को कम करना, उसका अर्थ है शक्तिहीनता व उसके परिणाम-स्वरूप सरकारी राजस्व में कमी आती है, जिसके फलस्वरूप सरकार को अपने कार्यों में कांटछांट करके कार्यकर्त्ताओं की छंटनी करनी पड़ती है। वास्तव में इसके प्रभाव बहुत दूर तक जाते हैं और वह हमारे समस्त आर्थिक जीवन में छिद्रों में से होकर घुस जाते हैं। सर गे फ्लीटवुड विल्सन (Sir Guy Fleetwood Wilson) ने जो भारत के कभी अर्थ सदस्य थे, भारतीय बजट को "वर्षा में जुआ" बतलाया है और ऐसा कहने में वह पूर्णतया ठीक थे।

भारत में वर्षा अनेक रूप दिखलाती है, उसका विभाजन तो देश भर में अत्यधिक विश्रम है। औसत वार्षिक वर्षा देश के विभिन्न भागों में इतनी अधिक विभिन्नता लिये हुऐ है कि यदि हिसार (पंजाब) में वर्ष भर में १० इंच होती है तो चेरापूंजी (आसाम) में ४६० इंच होती है। आसाम, बंगाल तथा पश्चिमी घाट जैसे प्रदेश अत्यधिक

वर्षा वाले प्रदेश हैं। पंजाब, बम्बई तथा उत्तर प्रदेश जैसे क्षेत्र अनिश्चित वर्षा वाले हैं। फिर कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहां अत्यन्त कम वर्षा होती है। पंजाब के कुछ दक्षिणी भाग, सिन्ध और राजस्थान ऐसे ही प्रदेश है।

भारत की अधिकांश वर्षा वर्षाकालीन वायु (मानसून) से आती है। यह मानसून अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी से उठते हैं। भारत की ९० प्रतिशत वर्षा को यही लाते है। भारतीय वर्षा न केवल एक स्थान से दूसरे स्थान में विभिन्नता लिये हुए होती है, वरन् प्रतिवर्ष मानसून की तीव्रता में भी परिवर्तन होता जाता है। पांच वर्ष के चक्कर में से यह कहा जाता है कि एक वर्ष अच्छा है, एक बुरा है और शेष तीन न अच्छे हैं और न बुरे हैं। यह हो सकता है कि एक साल वर्षा इतनी अधिक हो कि उससे बाढ़ें आ जाँय और एक दूसरे वर्ष केवल बूंदाबांदी होकर ही रह जाय। किन्तु हमारी वर्षा की विशेषता यह है कि वह ऋतु के अवसर पर ही होती है। उदाहरणार्थ लन्दन की वर्ष भर की २४ इंच वर्षा १६१ दिन में हल्की बूंदाबांदी के रूप में बहुत धीरे-धीरे होती है, जबकि बम्बई की ७१ इंच वर्षा केवल[1] ७५ दिन में होती है। इस प्रकार हमारी वर्षा का अधिकांश जल मूसलाधार वर्षा के रूप में आता हुआ बहकर निकल जाता है और व्यर्थ जाता है। इससे कृषि भूमि के कट जाने और बाढ़ आने से उसके अत्यधिक विनाशकारी परिणाम होते हैं।

भारत में वर्षा की एक निश्चित ऋतु होती है, और वह प्रायः ग्रीष्म ऋतु के महीनों में पड़ती है। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ वर्षा जाड़ों में भी होती है। यह विशेष रूप से पश्चिमोत्तर में होती है। यह शीत ऋतु की वर्षा गेहूं जैसी जाड़ों की फसल के लिए अधिक उपयोगी और आवश्यक होती है। गर्मियों में मानसून के न आने अथवा जाड़ों में वर्षा के न होने से अकाल पड़ जाता है।

५. भूमि। भारतीय भूमियों को मोटे तौर से तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है—

(१) **नदी निर्मित भूमि**—इसमें गंगा के मैदान, पूर्वी तथा पश्चिमी घाट की समुद्र तटवर्ती पट्टियां, और आसाम में सुर्मा घाटी। नदी के जल अथवा बाढ़ों से बनी हुई उस नदी निर्मित भूमि का समस्त क्षेत्रफल लगभग तीन लाख वर्गमील समझा जाता है। यह भूमि मुलायम, गहरी और छिद्रों वाली है और नमी को अधिक समय तक धारण कर सकती है। इसको नदियों ने बराबर धो-धो कर उपजाऊ बनाया है और यह फसलों की अनेक प्रकारों को बड़े परिमाण में उगाने योग्य होती है।

(२) **दक्षिणी जाल भूमि**—यह लगभग समस्त दक्षिण में फैली हुई है। इसका

---

१. दुबे आर–भारत का आर्थिक भूगोल Economic Geography of India 1941, Page 2 (a)

क्षेत्रफल लगभग दो लाख वर्गमील है। बम्बई प्रान्त के अधिकांश भाग, समस्त बरार, पश्चिमी मध्य प्रदेश, और हैदराबाद में इस प्रकार की भूमि है। पहाड़ियों पर भूमि की ऊपरी परत पतली होती है, इसलिए निर्बल तथा अनुत्पादक होती है। किन्तु नीचे नदियों की घाटियों में भूमि की परत गहरी और अत्यन्त उपजाऊ होती है। इसमें अनेक प्रकार की फसलें—विशेषकर रुई उत्पन्न हो सकती है। नमी को थामे रखने की अपनी शक्ति के कारण इस भूमि में सिंचाई करना बिल्कुल अनावश्यक होता है।

(३) **बिलौर के समान स्वच्छ भूमि**—यह समस्त मद्रास प्रान्त, बम्बई प्रान्त के दक्षिण-पूर्व में, उड़ीसा, छोटा नागपुर, मध्य प्रदेश के अधिकांश भाग, आधे हैदराबाद, मध्य भारत और बंगाल तथा उत्तर प्रदेश के कुछ ज़िलों में मिलती है। यह भूमि लाल पत्थर की उन चट्टानों के पास मिलती है, जिनका रंग ईंट जैसा होता है और जिनको लैटेराइट (Leterite) चट्टान कहते हैं। अतएव ऐसी भूमि को लैटेराइट भूमि भी कहते हैं। जहां वर्षा अनुकल होती हो, अथवा सिंचाई की सुविधा हो तो उस भूमि में अनेक प्रकार की अच्छी फसलें हो सकती हैं। यह गहराई, अनुरूपता तथा उपजाऊपन में अत्यधिक विभिन्नता लिये हुए होती है।

इन तीन प्रकार की भूमियों के अतिरिक्त मरुभूमि का भी उल्लेख किया जा सकता है, जो राजस्थान तथा दक्षिणी पंजाब के बड़े भारी भाग को घेरे हुए है। फिर पंजाब की रेह की भूमि या कल्लर भी है। उनमें "अत्यधिक अप्रवेश्यता तथा चिपचिपाहट के साथ-साथ बहुत अधिक खार होता है और इसमें प्रायः स्वतन्त्र रूप से अत्यधिक नमक होता है।" इनमें नत्रजन (Nitrogen) तथा ह्यमस (Humus) बहुत कम होता है। अतएव बिना रासायनिक खाद मिलाये यह फसल उत्पन्न नहीं कर सकतीं।

पिछले वर्षों में भूमि की उत्पादन क्षमता के वर्गीकरण तथा अन्वेषण के विषय में बहुत अधिक कार्य किया गया है। दिल्ली की भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्था (Indian Agricultural Institute) में भारत का एक भूमि मानचित्र तैयार किया गया है तथा समस्त भारत में भूमि की सरवे करने की योजना जारी की गई है।

अन्य भारतीय आर्थिक समस्याओं के समान भारतीय भूमि की समस्या भी अपने ढंग की निराली ही है। हमारी भूमि शुष्क है, जबकि अन्य अनेक देशों की भूमि गीली है। अतएव अन्य देशों में सरकार का ध्यान भूमि सुधार की ओर जाने की आवश्यकता है, जबकि भारत में सिंचाई अधिक महत्वपूर्ण है।

६. **वन-सम्पत्ति**। भारत के पास अपनी विस्तृत तथा विभिन्न प्रकार की वन-सम्पत्ति के रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है। भारत के वन का कुल

क्षेत्रफल २,०७,७७०· वर्ग मील है, जो कि देश[1] के समस्त क्षेत्रफल का १९·२ प्रतिशत है।

वनों के समस्त क्षेत्रफल में मे ५५·३ प्रतिशत व्यापार योग्य है तथा शेष ४४·७ प्रतिशत लाभ योग्य नहीं है। विभिन्न प्रदेशों में भूमि क्षेत्रफल की अपेक्षा वनों का प्रतिशत अनुपात विभिन्न प्रकार का है। उत्तर प्रदेश में यह केवल १६·४ प्रतिशत है। पंजाब में ११ प्रतिशत, बिहार में १४·८ प्रतिशत, उड़ीसा में १३·७ प्रतिशत, मद्रास में २६·९ प्रतिशत, बंगाल में १५·२ प्रतिशत, आसाम में ३९·० प्रतिशत और मध्य प्रदेश में ४७·७ प्रतिशत है।[2]

अधिकांश राज्यों में वनों का क्षेत्रफल वहां की जनता की आवश्यकताओं के अनुसार अपर्याप्त है। केवल मद्रास, आसाम तथा मध्य प्रदेश में वन क्षेत्रफल को पर्याप्त माना जा सकता है। वनों की कमी के कारण ईंधन में कमी होती है, जिसके फलस्वरूप गाय के गोबर का ईंधन के रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

७. **वनों की उपयोगिता**। भारत के वन बड़ी भारी राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। भारत के लिए उनकी उपयोगिता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वह बाढ़ों के विरुद्ध प्रकृति के बीमा (Insurances) हैं। नमी की रक्षा करके वह सूखे की कठोरता को कम कर देते हैं। वह वायु धाराओं पर भी नियन्त्रण रखते हैं। वह देहात के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं तथा सफ़ाई में भी सहायता करते हैं। जलवायु पर उनका प्रभाव अत्यन्त पौष्टिक होता है।

वनों के इन अप्रत्यक्ष लाभों के अतिरिक्त उनसे अनेक सीधे आर्थिक लाभ भी हैं। वनों से मकान बनाने के वास्ते लकड़ी मिलती है तथा घरेलू एवं औद्योगिक कार्यों के लिए जलाने की लकड़ी मिलती है। वह कागज, दियासलाई और लाख जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योगों के लिए कच्चा माल देते हैं। इसके अतिरिक्त वह अन्य भी अनेक मूल्यवान पदार्थ देते हैं जैसे चमड़ा कमाने के लिए छाल, गोंद, अनेक प्रकार के रंग, औषधियां तथा जड़ों एवं फलों से कुछ खाद्य उत्पादन। वह पशुओं के लिए गोचर भूमि तथा चारा देते हैं तथा पक्षियों एवं पशुओं को निवास-स्थान प्रदान करते हैं। वन की पत्तियों का खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है।

वन उत्पादनों को प्रायः दो श्रेणियों में बांटा जाता है (१) बड़े उत्पादन तथा (२) छोटे उत्पादन। इमारती लकड़ी तथा जलाने की लकड़ी बड़े उत्पादन हैं।

---

१. योजना कमीशन की रिपोर्ट १९५१—प्रथम पंच वर्षीय योजना, इंगलिश संस्करण (a draft outline) पृष्ठ १२९.

२. योजना कमीशन की रिपोर्ट तथा भारतीय वनों के क्षेत्र (१९४९)

१९४४ में कुल इमारती तथा जलाने की लकड़ी का उत्पादन २७,५०,००,००० घन फुट हुआ था। भारत की महत्त्वपूर्ण इमारती लकड़ियों में साल, देवदार, सागवान का वृक्ष, रोज़वुड नामक सुगन्धित लकड़ी (Rosewood), भारतीय महोगनी तथा शीशम होते हैं। बाज़ार में इमारती लकड़ी लगभग ३० प्रकार की मिलती है और उसमें भी एक-एक की लगभग एक दर्जन स्वीकृत श्रेणियां होती हैं। लकड़ी का उपयोग अधिक इमारती उद्देश्यों, रेलवे की गाड़ियों के निर्माण, सलीपरों के लिए, बसों की बाडी (Bodies) बनाने के लिए, फर्नीचर बनाने के लिए तथा कृषि के औज़ार बनाने के लिए किया जाता है।

छोटे उत्पादनों में लाख, राल, तारपीन, आवश्यक तेल, चमड़ा कमाने की सामग्री, बांस, घासें तथा जड़ी बूटियां, हैं। जंगलात के छोटे उत्पादनों का मूल्य १९४४-४५ में २,२१,०८२ रुपये कूता गया था। भारत का कागज़ उद्योग विभिन्न प्रकार का कागज़ बनाने में बांस, उल्ला और सबाई घासों का उपयोग करता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि कागज़ उद्योग में ३५,००० टन बांस की लुगदी तथा २५,००० टन सबाई घास की लुगदी का उपयोग किया जाता है। दियासलाई के उद्योग के लिए तीलियां तथा डिब्बियाँ बनाने के लिए लकड़ी का बड़े भारी परिमाण में उपयोग किया जाता है। लाख के विषय में तो भारत का विश्व के बाज़ार में व्यावहारिक रूप में एकाधिकार है। यह मध्यभारत, उड़ीसा, बिहार, मध्यप्रदेश, हैदराबाद तथा मध्य आसाम से बड़े भारी परिमाण में प्राप्त की जाती है। इसके समस्त उत्पादन में से लगभग ६० प्रतिशत बिहार के छोटा नागपुर से प्राप्त की जाती है। इसमें से समस्त उत्पादन का ९८ प्रतिशत विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी और जापान लाख के हमारे प्रधान ग्राहक हैं। भारत में लाख से चमड़ा बनाया जाता है, जिसका उपयोग ग्रामोफोन के रिकार्ड, वारनिश तथा इनसलेटर (बिजली बनाने योग्य बिजली के उपकरण) बनाने में लिया जाता है। राल चीड़ तथा देवदार के वृक्षों से निकाली जाती है, जिसका उपयोग बीरोज़ा तथा तारपीन का तेल बनाने में किया जाता है। राल का उपयोग कागज़ तथा साबुन के बनाने में तथा तारपीन के तेल का उपयोग वारनिश बनाने तथा स्वास्थ्यदायक औषधियों में किया जाता है। माईराबेलान एक अत्यन्त उपयोगी वृक्ष होता है। वह चमड़ा कमाने तथा रंग बनाने में विशेष रूप से उपयोगी होता है। उसकी लकड़ी को कई यूरोपीय देशों को निर्यात किया जाता है। बबूल की फली आम की छाल तथा तरवाद (Tarwad) की छाल का भी चमड़ा कमाने में उपयोग किया जाता है। हमारे बांस के जंगल—जो कि भारतीय कागज़ उद्योग के लिए प्रधान कच्चा माल है—इतने विस्तृत हैं कि वह संभवतः कभी भी समाप्त नहीं हो सकेंगे।

हमारी इतनी विशाल वन-सम्पत्ति का अभी केवल एक छोटा-सा भाग ही आर्थिक

उपयोग में लाया जा सका है । प्रायः वन तो दुर्गम एवं अप्रवेश्य हैं । हमारे वनों से आर्थिक लाभ उठाने में मुख्य बाधा यातायात के सस्ते साधनों का अभाव है । भारत के विभाजन से यह कठिनाइयां और भी अधिक बढ गई हं । लकड़ी को नदियों में बहा कर सस्ते में लाया जा सकता है, किन्तु काश्मीर से जिन नदियों में लकड़ी को बहा कर लाया जा सकता है, वह पाकिस्तान में हैं । इस प्रकार काश्मीर में हमारी वन-सम्पदा इस प्रकार रुकी पड़ी है, जैसे बोतल में बन्द कर दी गई हो ।

पिछले दिनों वनों के कुछ छोटे उत्पादनों ने अधिक आर्थिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है । उदाहरणार्थ, चन्दन के तेल का उपयोग सुगन्धित इत्रों के बनाने में तथा नीम के तेल का उपयोग चर्म रोग के लिए उपयोगी साबुन बनाने में किया जाता है । अनेक बूटियों तथा औषधियों के पौदों का उपयोग आज औषधियां बनाने में बड़े परिमाण में किया जा रहा है । देहरादून की वन अनुसन्धानशाला वन-सम्पत्ति के नये नये उपयोग निकालने में मूल्यवान कार्य कर रही है । आज उसका ध्यान जिन अत्यधिक महत्वपूर्ण समस्याओं पर लगा हुआ है उनका सम्बन्ध ऐसी लकड़ी से है, जो छापने के कागज़ को सस्ते ढंग से छापने के लिए काम में लाई जा सके, अथवा विमान-निर्माण के लिए उपयुक्त लकड़ी, बटरी पृथक करने वाले यंत्रों तथा बिजली के कार्यों के लिए । इन दिशाओं में कुछ उन्नति पहले ही की जा चुकी है; तो भी हमारी सम्मति में वन अनुसन्धानशाला के कार्य के परिणाम-स्वरूप व्यापारिक तथा औद्योगिक स्वत्वों को अधिकतम लाभ नहीं हो रहा ।

भारत अभी लकड़ी में आत्म-निर्भर होने से बहुत दूर है । हम प्रति वर्ष करोड़ों रुपयों की लकड़ी का आयात करते हैं । द्वितीय महायुद्ध ने यह अच्छी तरह प्रदर्शित कर दिया कि हम लकड़ी के लिए विदेशों की अधीनता में शोचनीय रूप में पड़े हुए हैं । क्या हो सकता है, और क्या है, में भारी अन्तर है । अपनी प्राकृतिक सम्पत्ति का उपयोग करने के सम्बन्ध में हमारी योग्यता के विषय में यह खेदपूर्ण आलोचना है ।

८. **वन नीति** । यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि किसी देश के हित तथा विकास में वनों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । बहुत समय तक भारत के वनों का बिना हिसाब के विनाश किया जाता रहा । इससे "किसानों को ईंधन तथा छप्पर बनाने के लिए लकड़ी से वंचित होना पड़ा, कृषि को सूखे, बाढ़ तथा भूमि फट जाने के भारी संकट के लिए खुला छोड़ दिया और सब मिला कर उसका परिणाम यह हुआ कि भूमि की उत्पादन शक्ति नष्ट हो गई ।"[१] यह अनुभव नहीं किया गया कि वनों की रक्षा करने अथवा उनका वैज्ञानिक प्रबन्ध करने से देश को आर्थिक तथा भौतिक हित सम्पादन करने में बड़ी सहायता मिलेगी । यह अनुभव सरकार को गत शताब्दी के मध्य

---

१. नानावती तथा अंजारिया—भारत की ग्रामीण समस्या (Indian Rural Problem) पृ० १६

में तब हुआ, जब उसने जंगलात विभाग स्थापित करने के लिए यत्न किया। इस बारे समय पाकर जंगलात के केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विभागों की स्थापना की गई।

वन अपनी-अपनी प्रांतीय सरकार के आधीन होते हैं। किन्तु देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उनके अत्यधिक महत्त्व के कारण यह अवश्य है कि राज्यों की वन-नीति में ठीक-ठीक तरह से सहयोग रहे।

वन के तीन भेद किये जाते हैं--बन्द जगल (Reserved), संरक्षित (Protected) तथा बिना वर्ग वाले। १९४६-४७ में ६५,७७३ वर्ग मील जंगल रिजर्व थे, ७,८२५ एकड़ संरक्षित थे, तथा १५,४२१ एकड़ बिना वर्ग वाले थे। बन्द जंगलों के विषय में सरकार अत्यन्त कठोर नियन्त्रण रखती है। संरक्षित जंगलों के विषय में जनता को उनका उपभोग करने की अधिक छूट रहती है। बिना वर्ग वाले जंगलों में सरकारी नियन्त्रण कम से कम होता है और न उन क्षेत्रों का प्रबन्ध ही वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है, तो भी जंगलों का यह वर्गीकरण दोषपूर्ण है। आर्थिक दृष्टिकोण से उनका वर्गीकरण कुछ ऐसा होना चाहिए: (क) इमारती लकड़ी तथा ईधन देने वाले क्षेत्र और (ख) पशुओं के चारे के लिए उपयोगी क्षेत्र और (ग) सुगमता से कृषि भूमि बनाने योग्य क्षेत्र।

भारत में प्राचीन जंगलात नीति की घोषणा १८९४ में की गई थी। उसका आधार निम्नलिखित सिद्धान्त थे: (१) जंगलों के पर्याप्त क्षेत्र की रक्षा की जाय, जिससे देश के जलवायु तथा भौतिक दशाओं की रक्षा करके उसको भौतिक महत्त्व दिया जा सके; (२) जनता के साधारण उपयोग के लिए पर्याप्त जंगल बचा रखने की आवश्यकता उसके बाद आती है; (३) कृषि जंगलात की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु स्थायी कृषि करके जंगलों को अपने निश्चित न्यूनतम परिमाण से कम न होने दिया जाय; और (४) जंगलों से यथासंभव अधिक से अधिक आय की जाय, किन्तु वह देहाती तथा स्थानीय जनता की आवश्यकताओं को निःशुल्क अथवा रियायती मूल्य पर पूर्ण करके ही की जाय। व्यवहारिक रूप में सरकार का मुख्य कार्य आय बढ़ाना ही रहा है। किन्तु इस विषय में एक अधिक निश्चयात्मक नीति की आवश्यकता है।

वनों की आय में स्थिरता तथा शासन सम्बन्धी समरूपता उत्पन्न करने के अतिरिक्त समुचित वन-नीति में निम्न बातों का अन्तर्भाव किया जाना चाहिये: (१) स्थानीय उपभोक्ताओं को वन की वस्तुएं दी जाँय; (२) भूमि की फटने, बाढ़ तथा प्रतिकूल मौसमी प्रभावों से रक्षा; (३) मकानों के निर्माण के लिए लकड़ी की रक्षा और (४) लकड़ी तथा वनों के अन्य उत्पादन की कच्ची सामग्री की उन उद्योगों के लिए रक्षा, जो लकड़ी का उपयोग करते हैं। जंगलात के उद्योग-धन्धों, जैसे कोयला

निर्माण, लाख निर्माण, बिरोजा तथा तारपीन निर्माण, रंग बनाने तथा चमड़ा कमाने की सामग्री आदि का विकास करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाय। इन उद्योगों में आय बढ़ने के अतिरिक्त भूमि पर भी दबाव कम हो जायगा। भारत में हमारी आवश्यकता के अनुरूप जंगल कम होने के कारण यह आवश्यक है कि नये-नये जंगल लगाने की बड़ी भारी योजनाएं बनाई जावें। भूमि को फटने से बचाने के लिए भी नये-नये जंगलों का लगाना बहुत आवश्यक है। विस्तृत मानचित्र बनाने की सरवे में यह पता लगा है कि राजस्थान की अत्यन्त विस्तृत भारतीय मरुभूमि बराबर आगे को बढ़ती जाती है और प्रतिवर्ष पचास वर्ग मील उपजाऊ भूमि को दबा लेती है। इस मरुभूमि को आगे बढ़ने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि उनके किनारे किनारे वनों की बाड़ जैसी शृंखला लगा दी जाय।

पिछले दिनों जमींदारियों के टूट जाने अथवा टूटने के भय से हमारी वन-सम्पत्ति में भी बड़े-बड़े अन्तर्वर्ती मार्ग बन गए हैं। इस प्रकार के व्यक्तिगत वनों की रक्षा करने के लिए भी तत्काल कार्यवाही करना आवश्यक है।

योजना आयोग अंत में निष्कर्ष निकालता है कि "अब वह समय आ गया है जब वन-विद्या को कृषि की दासी न समझकर उसका आवश्यक पूरक समझना होगा।"

९. खनिज साधन। हमारे खनिज साधनों के विषय में हमारी जनता में एक गलत धारणा फैली हुई दिखलाई दे रही है। कुछ लोगों का हमारे देश में उत्पन्न होने वाले खनिज द्रव्यों के परिमाण तथा भेद के विषय मे अतिरंजित ध्यान बंधा हुआ जान पडता है। भारत जैसे विस्तार तथा जन-संख्या वाले देश के लिए भारत के खनिज साधन अधिक नहीं कहे जा सकते। किन्तु दूसरी ओर यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि भारत की खनिज सम्पत्ति अत्यन्त कम अथवा नगण्य है। इस विषय में भो हमारी स्थिति अत्यन्त सम्मानपूर्ण है।

कई खनिजों की हमारे पास यहाँ ढेरों कच्ची धातुएँ हैं। उदाहरणार्थ क्रोमाइट (Chromite) लोहा, स्यानाइट (Cyanite), मैग्नेसाइट (Magnesite), मैंगेनीज़ (Manganese), अभ्रक, मोनाज़ाइट (Monazite), टाल्क (Talc), टीटोनियम (Titonium), तथा ज़िरकन (Zircon)। हम निम्नलिखित वस्तुओं में न्यूनाधिक मात्रा में आत्मनिर्भर हैं—संखिया, कांच, बालू का पत्थर, बैरियम (Barium), बाक्साइट (Bauxite), हरितमणि या फीरोज़ा, (Beryl), मिट्टियां कोबल्ट (Cobalt), डोलोमाइट (Dolomite), फेल्डस्पार (Feldspars), ग्रैफाइट अथवा काला सीसा (Graphite), खड़िया मिट्टी (Gypsum), चूने का पत्थर, नाइट्रेट (Nitrates), फास्फेट (Phosphates), नमक, स्ट्रांटियम (Strontium). टंगस्टन (Tungsten), और वैनाडियम (Vanadium)। किन्तु निम्नलिखित

वस्तुएं या तो हमारे यहां बिल्कुल नहीं होतीं अथवा बहुत कम होती हैं—ऐस्बेस्टोज़ (Asbestos), कांसा (Bismuth) बोरेट्स (Borates), ब्रोमाइन (Bromine), कैडमियम (Cadmium), चीनी मिट्टी, तांबा, फ्लोराइट, (Flourite), सोना, आयोडीन (Iodine), सीसा (Lead), पारा, मालिब्डेनाइट (Molybdenite), निकल, प्लैटिनम, पोटास, (Potash), रेडियम, चांदी, गंधक, टीन तथा ज़िंक।

भारत के खनिज उद्योग की एक बड़ी निर्बलता यह है कि भारत की खनिज सम्पत्ति का अभी तक भी पूर्णतया तथा वैज्ञानिक रूप से लाभ उठाने की दृष्टि से विकास नहीं किया गया और न हमारी खानों में केवल भारत के लाभ के लिये काम किया गया है। हमारा खनिज उद्योग नियमित आधार पर अभी तक विदेशी पूंजीपतियों के हाथ में रहा है। और खनिज द्रव्य अभी तक अधिकतर निर्यात के लिये ऐसे परिमाण में निकाले गये कि जिससे भारत के औद्योगिक भविष्य को हानि पहुंचे। यह बुद्धिमत्तापूर्ण नीति नही है, क्योंकि इससे भारत के खनिज साधन विदेशियों के लाभ के लिये समाप्त हो जाँयगे। हमारी तटकर नीति का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिये कि हमारे धात्वीय कच्चे माल का निर्यात कम हो जाय। मुख्य खनिज द्रव्य देश के अन्दर ही रुक कर हमारे उद्योग-धंधों में काम आवें। हमने अभी तक उन खनिज द्रव्यों के स्थान में दूसरे पदार्थों की खोज नहीं की, जो हमारे यहां उत्पन्न नहीं होते।

१९४८ में भारत में उत्पन्न कुल खनिज द्रव्यों का मूल्य १११ करोड़ रुपये[1] था। देश में मुख्य खनिज द्रव्य यह उत्पन्न हुए—कोयला, लोहा, मैंगेनीज़, तांबा, सोना, चांदी, सीसा, अभ्रक, क्रोमाइट आदि। अब तो गंधक भी मिलता है। महत्वपूर्ण खनिज द्रव्यों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है—

कच्चा लोहा—यदि किसी देश को विदेशों की दया पर आश्रित नहीं रहना है तो उसके पास निर्माण कार्यों के योग्य धातुओं का पर्याप्त भंडार होना चाहिये। इनमें से लोहा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारत के कच्चे लोहे की कुछ जातियां संसार भर में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं और उनमें ६० प्रतिशत धातु होती है। "भारत के पास एशिया भर में कच्चे लोहे की सब से बड़ी खानें हैं। केवल बिहार और उड़ीसा की खानों की पट्टी में ही २,८३,२०,००,००० टन कच्चा लोहा होने का अनुमान किया जाता है, जो भारतीय निर्माताओं की एक सहस्र वर्ष तक की आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य है।" इन कोयला खानों की निकटता इनके भंडार को और भी अधिक बहुमूल्य बनाती है। कच्चा लोहा अधिक होने तथा कोयला खानों के समीप होने के कारण भारत बहुत कम लागत में खान से निकला हुआ लोहा तैयार कर सकता है। कच्चा लोहा सिंहभूम, केओन्झर, मयूरभंज, बंगाल, मध्यप्रदेश, मैसूर तथा हिमालय में

१. Indian Year Book, 1950, Page 225.

मिलता है। भारत के खनिज साधनों की संस्थाओं का विचार है कि मद्रास राज्य के नेल्लोर तथा सलेम ज़िलों में कच्चे लोहे का अक्षय भंडार है। औसत वार्षिक उत्पादन लगभग तीस लाख टन है। किन्तु यह फ्रांस का लगभग दसवां अंश तथा अमरीका का पचासवां अंश है।

हम इसमें बहुत भाग्यशाली हैं कि हमारे कच्चे लोहे के भंडार कोयला खानो के बिलकुल समीप हैं। अतएव हम बहुत कम लागत में ढला हुआ लोहा तैयार कर सकते हैं।

तांबा—निर्माण कार्य में काम आने वाली यह दूसरी धातु है। यह छोटा नागपुर, सिंहभूम, राजस्थान, सिक्किम, कुल्लू और गढ़वाल में पाया जाता है। तांबे के प्राचीन बढ़िया बर्तनों के मिल जाने से यह अनुमान किया जा सकता है कि भारत में कभी तांबे का उद्योग अत्यन्त उन्नत दशा में था। तांबे के सभी भंडार कार्य करने योग्य नहीं है, क्योंकि उनमें से कुछ कण के रूप में बिखरे हुए हैं। भारत संसार को ताम्बा देने के कार्य में वास्तव में बहुत कम भाग ले पाता है।

ताम्बे की खानें अधिकतर सिंहभूम (बिहार) की तांबा पट्टी में ८० मील तक फैली हुई है। १९३८ के अंत में यह अनुमान लगाया गया था कि तांबे का भंडार ८,५०,३०० छोटे टन है, जिसमें औसत तौर पर २·८८ प्रतिशत धातु निकलती है। १९४९ में कुल ३,२९,३०४ टन उत्पादन हुआ था।

मैंगेनीज़—किसी देश के पास निर्माण योग्य धातुओं के अतिरिक्त ऐसी मिलावट करने योग्य धातुएं भी होनी चाहियें जिनका उपयोग फौलाद के औज़ारों, बन्दूकों, कवच की चादरों आदि को बनाते समय उनको कठोर बनाने में किया जा सके। मैंगेनीज़ का सम्बन्ध इसी वर्ग के धातुओं से है। इसके अतिरिक्त मिलावट करने योग्य अन्य धातुएं, तांबा, ज़िक, टिन तथा निकल हैं, जिनके विषय में भारत एक अत्यधिक घाटे वाला देश है। इन कठोर बनाने वाली धातुओं के पर्याप्त भंडार के बिना एक देश शांति तथा युद्ध दोनों ही काल में अत्यधिक असुविधा में रहता है। मैंगेनीज़ एक अत्यधिक उपयोगी सामग्री है और "सभी व्यापारों में हरफन मौला" कहलाता है। इसकी आवश्यकता मीनाकारी, चीनी मिट्टी के बर्तनों, रासायनिकों, मूर्तिकला, वार्निश, शीशे की तरह चमकते हुए बर्तनों, सूखी बैटरियों (Dry Batteries) और सभी कार्यों में पड़ती है। किन्तु इसका सब से बड़ा उपभोक्ता फौलाद उद्योग है। हमारे फौलाद उद्योग के पूर्णतया विकसित न होने के कारण भारत में उत्पन्न अधिकांश मैंगेनीज़ का निर्यात कर दिया जाता है। मैंगेनीज़ के विषय में भारत रूस के बाद संसार में सब से बड़ा उत्पादक है। १९४९ में कुल उत्पादन ६,४६,००० टन था। भारतीय लोहा तथा फौलाद उद्योग इसमें से एक वर्ष में कुल ६०,००० टन खपा पाता है। नागपुर, बालाघाट, भंडारा और छिंदवाड़ा, मध्यप्रदेश के ज़िले, बम्बई राज्य के कुछ भाग, मैसूर, मद्रास राज्य, बिहार और

उड़ीसा इसके उत्पन्न होने के मुख्य स्थान हैं। भारत के भूगर्भ सरवे के भूतपूर्व डाइरेक्टर डाक्टर डन (Dr. Dunn) के अनुसार भारत में मैगेनीज़ के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होने की संभावनाएं है। अतएव कच्ची धातु का निर्यात कम कर देना चाहिये। मद्रास के बिलारी ज़िले में उच्च कोटि के कच्चे माल के साथ-साथ समीप ही बिजली मिल जाने के कारण इस उद्योग के विकास के अनुकूल उत्तम अवस्थाएं हैं।

सोना—सोना भारत भर में पाया जाता है, यद्यपि सभी जगह यह अत्यन्त कम वरन् नगण्य परिमाण में मिलता है। इसको नदी के बालू को धोकर प्राप्त किया जाता है। किन्तु मैसूर की कोलर के स्वर्ण क्षेत्र इसके एकमात्र महत्वपूर्ण साधन हैं। कोलर के अतिरिक्त सोना हैदराबाद (दक्षिण), के हुट्टी में दस लाख स्टर्लिंग का मिलता है। मद्रास के अनन्तपुर में ७॥ लाख स्टर्लिंग का मिलता है। किन्तु यह बहुत कम उत्पादक है। १९४९ में कुल सोना १,६३,८७१ औंस हुआ था।

चांदी—उत्पादक न होने पर भी भारत चांदी का संसार में सब से बड़ा उपभोक्ता है। कोलर के क्षेत्रों से केवल एक छोटा परिमाण २५,००० औंस ही मिलता है। भारत प्रतिवर्ष एक करोड़ पौड की चांदी का आयात करता है।

सीसा—कच्चे लोहे का भंडार मद्रास, हिमालय, राजस्थान तथा बिहार के मानभूम और हज़ारीबाग ज़िलों में पाया जाता है। किन्तु सीसे का समस्त उत्पादन लगभग नगण्य है।

अभ्रक—भारत कच्चे अभ्रक के उत्पादन में संसार भर का नेता है। अभ्रक के भंडार अजमेर, ट्रावनकोर, मैसूर और बिहार के हज़ारीबाग ज़िले में है। हज़ारीबाग में भारत भर के उत्पादन का ८० प्रतिशत अभ्रक उत्पन्न होता है। यह मद्रास के नेल्लोर ज़िले में भी मिलता है। बिजली के सामान बनाने में अभ्रक अत्यधिक उपयोगी होता है। भारतीय अभ्रक पृथकत्वकारी विद्युत्सामग्री के निर्माण में विशेष रूप से उपयोगी होता है। अभ्रक का उपयोग दीवार पर लगाने के कागज़ के उद्योग, रोगनों के निर्माण, रेडियो में तथा विमानों में भी किया जाता है। काले अभ्रक का उपयोग चूल्हे, स्टोव (Stove) और भट्टी, खिड़कियों, गैसके लैम्पों और चिमनियों, लैम्प के छायाकारकों (Shades) तथा गैस नकाबों आदि में किया जाता है। भारत के पास अभ्रक के विषय में संसार भर का एकाधिकार है। वह विश्व भर के उत्पादन का ७५ प्रतिशत उत्पादन करता है और उसका, लगभग सारा-का-सारा विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। १९४९ में भारत में कुल १,५१,७०९ हंडरवेट अभ्रक निकाला गया। अभ्रक निकालने के उद्योग में भारत का यह उच्च-स्थान प्राप्त करने का कारण उसके सस्ते मज़दूर हैं, जिन्होंने दीर्घकालीन अनुभव के कारण इस विषय में अत्यधिक कुशलता प्राप्त की है।

क्रोमाइट—क्रोमाइट का भंडार भारत को प्रकृति ने बहुत कम दिया है। यह युद्ध के उद्देश्यों के लिये एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धातु है। और गत युद्ध तक इसका प्रयोग मुख्य

रूप से कठोर सामग्री में किया जाता था। हमारे उद्योग-धंधों में पिछड़ा हुआ होने के कारण इसके लिये भारत में बहुत कम मांग है। मैसूर राज्य इसका सब से बड़ा उत्पादक है। सिंहभूम, बम्बई तथा मद्रास के कुछ भाग इसके अन्य केन्द्र हैं। हमारी औसत वार्षिक ख़पत ६,४९५ टन है। किन्तु मोटरकारों तथा विमानों को बना कर भारत अधिकाधिक क्रोमाइट का उपयोग करेगा।

अन्य खनिज उत्पादन—उपरोक्त खनिज पदार्थों के अतिरिक्त भारत में अनेक प्रकार की मिट्टियां होतीं हैं, जिनम उच्च कोटि की ऐसी कोमलता होती है, जो बर्तन, टाइल (Tiles), नल (Pipes) और उच्च-कोटि के चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने में अत्यधिक उपयोगी होती हैं। ऊपरी गोंडवाना, बंगाल, सिंहभूम, मैसूर, दिल्ली और जबलपुर में चीनी मिट्टी के भंडार मिलते हैं। उच्च-कोटि की उम्दा मिट्टी भी मिलती है।

उत्तरप्रदेश के कई क्षेत्रों तथा बड़ौदा में बालू की कई प्रकार की जातियां मिलती हैं और वह कांच उद्योग के लिये बहुत उचित होती हैं।

आसाम, मध्य प्रदेश, बम्बई तथा मद्रास के कुछ भागों में बाक्साइट (Bauxite) के विस्तृत तथा विपुल भंडार है। किन्तु हमने अभी तक उससे ऐल्यूमीनियम धातु बनाकर नहीं देखा है।

हमारे नमक के साधन भी कम नहीं है। नमक मद्रास ओर बम्बई में समुद्र के पानी से निकाला जाता है ओर सांभर झील जैसे देश के आन्तरिक भाग में झीलों से निकाला जाता है। सेंधा सारे का सारा पाकिस्तान में मिलता है। नमक रासायनिक द्रव्यों के बनाने मे एक अत्यधिक उपयोगी सामग्री है। मनुष्य तथा पशुओं के भोजन के लिए इसकी विश्व भर में मांग है।

अभी-अभी सितम्बर १९५१ में बम्बई राज्य के दक्षिणी पहाड़ी प्रदेश में स्वर्णमाक्षिक या सोना मक्खी (Pyrites) के अत्यन्त विस्तृत भंडार का पता लगा है। यह कहा गया है कि वह समस्त पर्वत श्रृंखला केवल सोनामक्खी से बनी हुई है, जोकि इस कच्चे धातु का कम से कम लाखों टन होना चाहिए। यह कहा जाता है कि इस कच्चे धातु में ५१ तिशत गन्धक, (जोकि संसार के सबसे अच्छे गन्धक का मुकाबला कर सकता है), ५ प्रतिशत निकल, और १ प्रतिशत तांबा है। इस समय भारत के पास निकल बिल्कुल नही और तांबा बहुत कम है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि आरम्भ में इससे दस सहस्र टन कच्ची धातु प्रति मास निकाली जा सकती है, जो देश के गन्धक के तेज़ाब के सभी कारखानों को चला सकेगी।

१०. खनिज स्थिति की आलोचना। भारत अभ्रक का सबसे बड़ा उत्पादक है। उसका कच्चा लोहा सबसे अच्छी प्रकार का है, और ब्राज़ील के अतिरिक्त उसके कच्चे लोहे के साधन संसार में सबसे बड़े है। ब्रिटिश राष्ट्र मंडल में वह कोयला तथा लोहे का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक देश है, किन्तु भारत के खनिज साधनों का नम्र

दृष्टिकोण ही लेना ठीक रहेगा। स्थिति यह है, "युद्ध सामान्य के महत्त्व की धातुएँ कुछ भागों में पर्याप्त हैं, किन्तु टाँस्टन, टीन, सीसा, ज़िक, पारा, ग्रैफाइट तथा तरल ईंधन जैसी गोलाबारूद बनाने वाली धातुओं की अत्यधिक कमी है। किन्तु लोहा, मैंगनीज़, ऐल्यूमीनियम, मैग्नेशियम और क्रोमियम जैसी मौलिक धातुएं देश में पर्याप्त मात्रा में हैं। और प्रथम तीन धातुएँ तो उसके पास अपनी आवश्यकता से भी अधिक हैं।"[1] इस प्रकार हम सुगमता से यह परिणाम निकाल सकते हैं कि हमारे खनिज साधन पर औद्योगीकरण की किसी भी योजना के लिए अच्छी तरह निर्भर किया जा सकता है। तो भी खनिज द्रव्य के वितरण से यह स्पष्ट है कि महत्वपूर्ण धातुएं मुख्य रूप से दक्षिण की उच्च-भूमि (Plateau) के उत्तरपूर्वी भाग में पाई जाती है। यहां वह मुख्य रूप से बिहार और उड़ीसा राज्यों मे मिलती हैं। इस तथ्य की दृष्टि से इन राज्यों के औद्योगीकरण का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। तो भी इन धातुओं के देश के उत्तर-पूर्वी भाग में केन्द्रित हो जाने से देश के दूसरे भागों के औद्योगीकरण में बाधा पड़ सकती है, क्योंकि धातुएं भारी होती हैं और उनको सुगमता से देश के दूसरे भागों में नहीं भेजा जा सकता। आज अधिकांश धातुएं कच्चे रूप में विदेशों को निर्यात की जाती हैं। अतएव हम उनका सब से अच्छा उपयोग नहीं कर पाते। देश के औद्योगीकरण से क्षणमात्र में स्थिति बदल सकती है। ऐसी दशा में हमारे भंडार की अनेक वस्तुएं, जिनका आज हमारे लिए बहुत कम मूल्य है, कभी भी महत्वपूर्ण बन सकती हैं। जब हमारे मुख्य खनिज सम्पत्ति का उचित-परिमाण देश में खपने लगेगा तो हम देखेंगे कि भारत विश्व में नेतृत्व का स्थान प्राप्त कर लेगा। आज देश के स्वतन्त्र हो जाने से हम यह आशा कर सकते हैं कि हम एक बुद्धिमत्तापूर्ण तथा योजनाबद्ध खनिज नीति पर चल सकेंगे और भारत को विश्व के औद्योगिक मानचित्र पर शीघ्र ही प्रभुत्व से अंकित कर सकेंगे। हम को अपनी धातुओं का कच्चे रूप में निर्यात बन्द करके उसका अपने घर में ही निर्माण करना चाहिये।

अभी-अभी भूगर्भ विभाग (Geological Department) की क्षमता को बढ़ाने का कुछ प्रयत्न किया गया है, जिससे देश के औद्योगिक तथा आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने के लिए देश के खनिज साधनों की प्रभावशाली रूप से और छानबीन की जाय। १९४८ में खानों की भारतीय संस्था (Indian Bureau of Mines) की स्थापना की गई, जिससे औद्योगिक परामर्श देने के साथ-साथ उनको आवश्यक जानकारी दी जा सके। यह संस्था प्रयोगशालाओं में परीक्षण करेगी और औद्योगिक लोगों को उद्योग-धंधों के लिए खनिजद्रव्यों की उपलब्धता तथा योग्यता के सम्बन्ध में परामर्श देकर सहायता देगी। दूसरी बातों के अतिरिक्त उस संस्था के यह काम भी होंगे—(क) देश के खनिज साधनों का अनुमान करना, (ख) खनिज उद्योग की उन्नति करना, (ग) महत्वपूर्ण खनिज द्रव्यों के निर्यात पर नियंत्रण करना, (घ) देश के अन्दर

१. Indian Year Book, 1950, Page 224.

लोहेतर धातुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करना और (ङ) अनुसंधान करना।

योजना आयोग (Planning Commission) ने एक ऐसी समुचित खनिज नीति का प्रस्ताव किया है, जिसका मुख्य उद्देश्य होगा धातुओं का संग्रह और उनका आर्थिक रूप में उपयोग। साथ ही यह नीति सहयोग और आर्थक विकास की होगी। इस नीति की आवश्यक बातें यह होंगी—(क) संचित भंडार की वस्तुओं का मूल्य निश्चित करना, (ख) खानों में काम करानेवालों का ठीक-ठीक आचरण, (ग) खनिज सम्पत्तियों को ठेके पर देना और खनिज विकास को नियमबद्ध करना, (घ) खनिज उद्योग के अंक तैयार करना, (ङ) खनिज व्यापार, और (च) अनुसन्धान ।

११. विद्युत साधन। औद्योगिक उन्नति के लिए सबसे बड़ी महत्वपूर्ण आवश्यकता सस्ती बिजली की पूर्ति है। भारत उच्च कोटि का औद्योगिक देश बनने की इच्छा करता है। अतएव हमको यह देखना है कि वह अपने औद्योगिक कारखानों को चलाने के लिए बिजली के दृष्टिकोण से ठीक तौर से समर्थ है अथवा नहीं।

विद्युत उत्पन्न करने के अनेक साधन हैं। उदाहरणार्थ, लकड़ी, वायु, जल, मद्यसार (Alcohol), तेल और कोयला। यद्यपि यूरोप के देश नीदरलैंडस् में वायु का विद्युत के लिए बहुत अधिक उपयोग किया जाता है, किन्तु इस देश में अभी इसका उपयोग नहीं किया गया है। चीनी उद्योग के सहायक उत्पादन के रूप में मद्यसार (स्पिरिट) का उत्पादन बहुत बड़े परिमाण में आगे किया जा सकता है, किन्तु आज इसका औद्योगिक ईंधन के रूप में कुछ भी महत्व नहीं है। लकड़ी एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है और अतीत में इससे अत्यधिक काम लिया जा चुका है। किन्तु इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि वनों को बेहिसाब नष्ट किया गया और औद्योगिकों को लकड़ी के लिए किसी अन्य क्षेत्र की ओर देखना पड़ा। अतएव हमारे पास अब केवल पेट्रोलियम, कोयले तथा जल की बिजली के साधन ही शेष रह जाते हैं।

१२. पेट्रोलियम। यद्यपि भारत में उत्पन्न होने वाले खनिज पदार्थों में मूल्य की दृष्टि से पेट्रोलियम का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, अर्थात् पांचवां, किन्तु वह भारत में इतने कम परिमाण में उत्पन्न होता है कि वह उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त नहीं है। भारत अपनी आवश्यकता का कुल ५ प्रतिशत पेट्रोलियम उत्पन्न करता है। प्रति वर्ष लगभग तीस करोड़ गैलन पेट्रोलियम भारत को आयात करना पड़ता है। विभाजन के फलस्वरूप हमको पूर्ति का एक साधन—हिमालय का पश्चिमी भाग—पाकिस्तान के लिए छोड़ना पड़ा और अब हमारे पास उसका केवल पूर्वी भाग आसाम में बचा है। इस क्षेत्र में तीन महत्वपूर्ण तेलक्षेत्र हैं—डिरबोई, बप्पापुंग और हंसापुंग। १९४९ में इनका समस्त उत्पादन लगभग ६६ लाख ७० हज़ार गैलन था। भारत में खनिज तेल की कमी को चीनी के शीरे और तिलहन (तेल के बीजों) के विश्लेषणात्मक ईंधन का तेल बनाकर पूरा किया जा सकता है। लगभग

अढ़ाई लाख टन शीरा प्रतिवर्ष चीनी के कारखानों द्वारा फेंक दिया जाता है। इसका उपयोग स्पिरिट (मद्यसार) बनाने में अच्छी तरह किया जा सकता है और इसको पेट्रोलियम के साथ मिलाकर मोटरों आदि के लिए एक उत्तम ईंधन शक्ति के काम में लिया जा सकता है।

१३. **कोयला**। जैसा कि ए. ज़िमरमैन (A. Zimmerman) ने कहा है "कोयला वर्तमान उद्योग-धन्धों की अनेक रूप में सेवा करता है। कोक (Coke) के रूप में यह लोहे तथा फौलाद के व्यापक रूप में उत्पादन के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह रासायनिक उद्योग का एक महत्वपूर्ण कच्चा माल है और यह निर्माणकार्य करने वाले उद्योग-धन्धों के स्थान को निश्चित करने का अत्यन्त महत्वपूर्ण एकमात्र अंग है। उसके अधिक चमत्कारिक विरोधियों—विशेषकर पेट्रोलियम के महत्व के बढ़ते जाने पर भी कोयला वर्तमान उद्योग-धंधों को शक्ति पहुंचाने का सबसे अधिक मुख्य साधन बना हुआ है और आजकल के व्यापार के शुष्क एवं भारी माल को एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने के लिए अधिकाँश शक्ति दे रहा है। साथ ही रेल, सड़क और जहाज़ में ले जाया जाकर यह अपने बोझ का सबसे अधिक किराया देता है। इस प्रकार आज की यांत्रिक सभ्यता किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा कोयले पर अधिक निर्भर करती है।"[1]

यद्यपि भारत राष्ट्रमंडल में दूसरा सबसे बड़ा कोयले का उत्पादक देश है, किन्तु देश के महाद्वीप जैसे विस्तार पर ध्यान देने से पता चलता है कि हमारे कोयले के साधन अत्यन्त सीमित हैं और न उनका स्थान ही संतोषजनक है। हमारे कोयले में राख अधिक होने तथा नमी मिलने के कारण वह हल्की किस्म का है। इसके अतिरिक्त कोयले के भंडार भी अत्यन्त असमान रूप में विभक्त हैं। अतएव समस्या कोयले के उत्पादन की अपेक्षा उसके यातायात की है। हमारी कोयले की खानें न तो इंग्लैंड के समान समुद्र के तट पर स्थित हैं और ना ही जर्मनी के समान नदी-क्षेत्र के पास है। अतएव कोयले को केवल रेल द्वारा ही ले जाया जा सकता है और उसमें अत्यधिक लागत बैठती है।

१९५० में भारत में कुल ३,१०,८७,००० टन कोयला निकाला गया था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में वह ४५,६०,००,००० टन से अधिक था। पूंजी की दृष्टि से कोयले की खपत अमेरिका के ४·७५ टन के मुकाबले में भारत की ·०७ टन है, जिससे पता चलता है कि हम औद्योगिक रूप में कितने पिछड़े हुए हैं।[2] झरिया के कोयला क्षेत्रों का हिसाब ४७ प्रतिशत से कुछ ही कम तथा रानीगंज का लगभग ३० प्रतिशत होता है। लगभग ९० प्रतिशत तो अकेले बिहार तथा बंगाल के ही कोयला

---

१. ए. के. सूर (A. K. Sur) ने अपने ग्रन्थ (National Resources of India) (१९४२) में उसका पृष्ठ ४५ पर उद्धरण दिया है।

२. वाडिया एण्ड मर्चेन्ट—Our Economic Problem, पृष्ठ २२।

क्षेत्रों से मिला। गोंडवाना के कोयला क्षेत्रों से लगभग ९८ प्रतिशत मिला। इस प्रकार कोयले का समस्त भंडार इतने बड़े देश के एक कोने में ही केन्द्रित है। कोयला भारी होता है, अतएव उसके बम्बई और मद्रास जैसे औद्योगिक क्षेत्रों को ले जाने का खर्चा बहुत अधिक पड जाता है। यह उन क्षेत्रों के उद्योग-धन्धों के मार्ग में भारी बाधा है।

हमको पिछले दिनों से इस बात की बराबर चेतावनी दी जा रही है कि निकट भविष्य में हमारा कोयले का भंडार समाप्त हो सकता है। १९३४ में डा० सी० एस० फॉक्स (Dr. C. S. Fox) ने अनुमान लगाया था कि भारत में बढ़िया किस्म के कोयले का कुल भंडार पांच अरब टन है। खाना बनाने के कोयले का भंडार कुल दो अरब टन है। और संग्रह करने के उपायों—विशेषकर ठीक प्रकार से रखने, मिलाने और धोने का उपयोग न किया जाय तो यह परिमाण आधा ही रह जायगा। यह अत्यन्त भयावह स्थिति है। भारतीय कोयला कमेटी ने १९३७ में अनुमान लगाया था कि बढ़िया किस्म के कोयले का भंडार १२२ वर्ष और भोजन बनाने के कोयले का भंडार केवल ६२ वर्ष[1] चलेगा। १९४६ में जो कमेटी धात्वीय कोयले के संरक्षण के लिए बनाई गई थी, उसने भी स्थिति को असंतोषजनक बताया था।

विशेषज्ञों द्वारा बतलाई हुई स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि हमको कोयले के प्रयोग में कमी करनी चाहिए और ऐसे साधन निकालने चाहिएं जिससे कोयले के हमारे सीमित साधनों से यथा-संभव अधिक से अधिक समय तक काम लिया जा सके। इसके विपरीत हम देखते हैं कि हम अपने कोयले के साधनों को अत्यन्त मूर्खतापूर्वक नष्ट कर रहे हैं। रेलवे तथा अन्य लोग अच्छी किस्म के कोयले का उपयोग वाष्प बनाने में कर रहे हैं। किन्तु उसका उपयोग केवल धातु शोधन सम्बन्धी कार्यों में ही किया जाना चाहिए। इस समय भारत में बड़ी-बड़ी भट्टियां बिना धुले अच्छी किस्म के कोयले के उपयोग के लिए बनाई गई हैं। उन भट्टियों को सुधार कर इस प्रकार से बनाना चाहिए कि वह हल्की किस्म के कोयले से काम ले सकें। हल्की किस्म के कोयले के कुछ अन्य आर्थिक उपयोगों का भी पता लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, तेल, चाकलेट रेचक (Chocolate Laxative), फिनैल आदि को कारबन बनाए हुए कोयले से बनाया जा सकता है।

हमारी कोयला खानों को चलाने की शैली में भी बहुत-सा कोयला व्यर्थ जाता है। कोयले को मिला कर रखने, साफ करने और उसका लदान करने में यांत्रिक शैली से बहुत कम काम लिया जाता है। भूमि के नीचे के कार्य का भी उसी अच्छी तरह से यंत्रीकरण नहीं हो पाया है। १९३७ की भारतीय कोयला कमेटी ने लिखा था, "भारत में कोयले का व्यापार उस दौड़ के समान रहा है, जिसमें लाभ तो सदा अव्वल नम्बर पर रहा किंतु सुरक्षा बेचारी नंबर दो पर रही। ठीक प्रणाली ने भी 'दौड़' में भाग

१. उनकी रिपोर्ट भाग १, पृष्ठ ६३

लिया और राष्ट्रीय हित ने 'मृतक घोड़े' के रूप में प्रवेश किया, किन्तु जिसके चलने की कभी भी सम्भावना नहीं हुई।'[१]

कम खर्च करने के उपाय के रूप में योजना आयोग ने सुझाव दिया था कि (१) यद्यपि कोयले का कोक बनाने के कार्य को वर्तमान स्तर पर ही चलने दिया जाय, तथापि नए क्षेत्रों का विकास किसी स्थिति में भी न किया जाय; (२) सामग्री को ठिकाने से रखने, मिलाने तथा धोने के कार्य को अनिवार्य रूप से कराने के लिए कानून बना दिया जाय; (३) कुछ चुने हुए क्षेत्रों में कोयला निकालने के कार्य को पूर्ण तथा बंद कर दिया जाय; (४) एक कार्यक्रम द्वारा कोक वाले कोयले के स्थान में दूसरे कोयले से काम लिया जाय, और (५) कोयला बोर्ड बनाये जाँय, जो कोयले के सम्बन्ध में सभी प्रश्नों की विस्तार से जांच करें।

१४. पन-बिजली साधन। हम यह देख चुके हैं कि भारत में बिजली की स्थिति लकड़ी अथवा कोयले अथवा पेट्रोलियम के किसी भी दृष्टिकोण से संतोषजनक नहीं है। भारत के वन प्रवेश करने योग्य नहीं हैं। किन्तु, यदि वर्तमान उद्योग-धंधों की आवश्यकता की पूर्ति लकड़ी से ही की जाय तो वन बहुत समय तक नहीं चल सकेंगे। कोयले के विषय में स्थिति यह है कि भारतीय कोयले की न केवल किस्म ही घटिया है, वरन् उसका परिमाण भी सीमित है और उसका देश में विभाजन भी अत्यन्त विषम रूप में हुआ है। पेट्रोलियम भी पर्याप्त नहीं है। किन्तु यदि प्रकृति ने कोयले या तेल के विषय में भारत के साथ कंजूसी की है तो उसने उसको पनबिजली साधन प्रभूत मात्रा में दिये है। भारत में पनबिजली की शक्ति के विकास के लिए बहुत अधिक संभावनाएं है, विशेषकर उन क्षेत्रों में जो कोयले की खानों से दूर हैं। यह प्रतीत होता है कि प्रकृति ने भारत में दो पृथक् पृथक् क्षेत्र विशेष रूप से छांट कर बनाये हैं—एक 'कोयला प्रदेश' तथा दूसरा 'जल प्रदेश'। यह समझा जाता है कि भारत में पानी द्वारा ४ करोड़ किलोवाट बिजली उत्पन्न करने योग्य साधन हैं; हिमालय की प्रत्येक १००० फुट की ऊंचाई से गिरने वाली सिंधु नदी से पूर्व की सात बड़ी नदियां तीस लाख हार्सपावर की बिजली उत्पन्न कर सकती है। यही बात अन्य नदियों पर भी लागू होती है। १९५० में भारत में लगाए हुए कुछ कारखानों की शक्ति १७ लाख किलोवाट[२] थी।

१९३९ से १९४९ तक के दस वर्षों में भारत में दुगनी बिजली उत्पन्न की गई है।

१५. बिजली के आर्थिक लाभ। किसी वर्तमान समाज के लिए बिजली एक भारी वरदान है। यह एक साथ ही सभ्यता का हेतु तथा प्रतीक है। घर के

१. उनकी रिपोर्ट भाग १, पृष्ठ ३०

२. अंकों का मासिक संक्षेप, जुलाई १९५१

अन्दर यह अनेक गार्हस्थ्य झंझटों मे छुटकारा दे देती है। यह कम खर्च पर अधिक उत्तम प्रकाश देती है और यह अत्यधिक सुविधाजनक भी है।

एक उद्योगपति को यह उसके सुविधाजनक स्थान पर उसकी आवश्यकता के अनुसार युनिटों में सस्ती बिजली देती है। बिजली को बनाने का खर्चा कोयले, तेल या ईंधन की अपेक्षा एक चौथाई पड़ता है। किन्तु शक्ति देने के अतिरिक्त बिजली अनेक औद्योगिक कार्यों के लिए भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ, बीसवी शताब्दी की आश्चर्यजनक धातु ऐल्यूमीनियम को बाक्साइट से बनाने के लिए कच्ची धातु को गला कर पृथक् करने के लिए बिजली के बिना काम नही चल सकता। बिजली के २५० मील तक सस्ती कीमत में ले जाए जा सकने के कारण यह कारखानों को ऐसी सुविधा दे सकती है कि वह अत्यन्त सघन इलाकों तथा खर्चीले औद्योगिक केन्द्रों से हटकर खुले क्षेत्रों में आ जाँय। यह सर्दियों को गर्म तथा गर्मियों को ठण्डा बनाती है और इस प्रकार श्रमिकों की योग्यता को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाती है।

बिजली छोटे-छोटे कारखानेदारों तथा देहाती दस्तकारों के लिए भी लाभकारी है। सूरत में लगभग ५००० करघे, जो प्राय: कारीगरों के अपने हैं बिजली से चल रहे हैं। जापान और स्विटजरलैंड में सभी छोटे छोटे उद्योग-धंधे बिजली से चलते हैं। अतएव इसका भारत में भी ग्रामीण तथा छोटे छोटे उद्योग-धन्धों का पुनरुद्धार करने में उपयोग किया जा सकता है।

यातायात में भी बिजली से अनेक लाभ होते हैं। भारत में पहले ही बम्बई और कल्याण के बीच बिजली की रेलें चल रही हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि भारतीय रेलों में काम में आने वाली समस्त शक्ति को अकेले कोसी योजना द्वारा पैदा किया जा सकता है और भारतीय रेलें प्रति वर्ष सत्तर लाख टन कोयला जलाती हैं।

हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में बिजली को महत्वपूर्ण कार्य करना है। वह कुओं से पानी ऊपर उठाकर पशुओं की शक्ति की बचत कर सकती है। पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा मद्रास के कुछ गांवों में पहले से ही इस उद्देश्य के लिए बिजली दी जा रही है। फ्रांस में ९५ प्रतिशत छोटे छोटे खेतों को, जापान में ९० प्रतिशत को तथा हालैंड में सौ प्रतिशत को बिजली के केन्द्रीय स्टेशन से बिजली दी जाती है[1]। 'पुच्छ जल' का प्रयोग सिंचाई में किया जा सकता है। इस प्रकार पनबिजली की योजनाओं को महत्वपूर्ण सिंचाई की योजनाओं के साथ मिला दिया गया है। भारत में आज अनेक बहु-उद्देश्य वाली योजनाओं को या तो बनाया जा रहा है या उनके विषय में जांच की जा रही है।

इस प्रकार बिजली नयी औद्योगिक क्रान्ति की आधारशिला है। विश्व के शक्ति उत्पादन अंक यह प्रगट करते हैं कि कोयले का शक्ति के साधन के रूप में तेल और

---

१. नानावटी तथा अंजलिया—The Indian Rural Problem, Page 179.

जल-शक्ति की अपेक्षा शीघ्रतापूर्वक स्थान छिनता जा रहा है ।

१६. वर्तमान पनबिजली कारखाने । भारत पनबिजली कारखानों के मामले में संसार के मुख्य प्रेरक देशों में से एक है । भारत में प्रथम पनबिजली कारखाना दार्जिलिंग में १८९७-९८ में खोला गया था । दूसरा कारखाना मैसूर में १९०२ में कावेरी नदी पर खोला गया था । कुछ समय तक यह लाइन बिजली भेजने को ससार में सबसे लम्बी लाइन थी ।

बम्बई में मेसर्स टाटा एंड संस के प्रबन्ध में इस समय बिजली के तीन कारखाने चल रहे है और वह लोनावल, आंध्रघाटी और नीलामला में है । उनकी संयुक्त शक्ति २,४६,००० अश्वशक्ति है । वह बम्बई की मिलों तथा बिजली की रेलगाड़ियों को दो पैसा प्रति यूनिट से भी कम पर बिजली देते हैं ।

दक्षिण में पाइकारा पनबिजली कारखाना (मद्रास) की क्षमता ९०,००० अश्वशक्ति है । उसमें कुछ नीचे के एक और पुच्छ-जल को मिलाकर ३०,००० अश्वशक्ति और मिल जाती है । यह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में सबसे बड़ा बिजली का कारखाना है । इसकी बिजली की कुल मांग में से ६० प्रतिशत कपड़े की मिलें लेती हैं तथा १५ प्रतिशत अन्य कारखाने लेते है । फिर दक्षिण में एक मेत्तूर पनबिजली कारखाना है । यह कारखाना संसारभर में अपने ढंग का सबसे बड़ा कारखाना है । इसकी क्षमता ५०,००० किलोवाट है । इनके अतिरिक्त मद्रास में अन्नोली, करतेरी तथा मुनार में भी पनबिजली के कारखाने है । पापानासम की योजना, जिसे १९४४ में ही पूर्ण किया गया है, २१,००० किलोवाट बनाती है । ट्रावनकोर का पल्लीवसल कारखाना भी इतनी ही बिजली बनाता है ।

पंजाब के मण्डी के पनबिजली कारखाने की क्षमता १,१८,००० किलोवाट है । वह दिल्ली की वर्तमान पीढी तथा समस्त पंजाब की आवश्यकताएं पूरी करके भी बिजली बचा लेगी ।

उत्तर प्रदेश में पनबिजली का छड़ लगे हुए ढांचे की प्रणाली द्वारा गगा नहर से बिजली उत्पन्न करके राज्य के प्रधान-प्रधान नगरों को बिजली दी जाती है । एक और कारखाना नैनीताल में है ।

काश्मीर ने भारत में दूसरे पनबिजली कारखाने की योजना को पूर्ण कर लिया है । बारामूला में जेहलम नदी पर बिजली उत्पन्न की जाती है । उस कारखाने की क्षमता २६,००० अश्वशक्ति है ।

१७. पनबिजली विकास की आलोचना तथा भावी संभावनाएं। भारत की जल शक्ति के साधन इतने अधिक है और उनकी स्थिति इतने अच्छे स्थानों में है कि उनसे तीन-चार करोड़ किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकती है । किन्तु अभी भारत ५ लाख किलोवाट से अधिक बिजली उत्पन्न नहीं कर सका है, जोकि उसकी

समस्त शक्ति का १५ प्रतिशत ही है। भारत में पनबिजली की योजना के मार्ग में सब से बडी बाधा उसकी वर्षा का ऋतु सम्बन्धी रूप है। उस के कारण हमको बड़े खर्चे से बडे-बडे बांध बनाने की आवश्यकता है, जिससे बिजली के कारखानों को जल बराबर मिलता रहे। अभी तक भारत का जन-साधारण बिजली से अपरिचित है और उसकी खपत नागरिक क्षेत्रों तथा कुछ गिने-चुने ग्रामों तक ही सीमित है। भारत में जब पनबिजली का प्रथम कारखाना खुला था, तो उसके तीन वर्ष पश्चात् कैनेडा ने अपनी पनबिजली योजना आरम्भ की थी। किन्तु आज उसके कारखानों की क्षमता हमारे कारखानों से १५ गुनी, अमरीकन कारखानों से २९ गुनी तथा रूसी कारखानों से ४५ गुनी है। फ्रांस, स्विटजर्लैंड, नार्वे, स्वेडेन और जापान जैसे छोटे-छोटे देशों की क्षमता भी हमारी अपेक्षा ५ से लेकर १० गुनी तक है भारत आज वर्षभर में जितनी बिजली का उपयोग करता है उतनी अमरीका एक सप्ताह में पैदा कर लेता है। इसमें से ८२ प्रतिशत बिजली केवल बम्बई और कलकत्ते में ही खर्च हो जाती है। और यदि इसमे अहमदाबाद और कानपुर को भी सम्मिलित कर दिया जाय तो भारत की समस्त उपभोग्य बिजली का लगभग आधा भाग इन चार नगरों में ही खप जाता है, जिनकी जनसंख्या समस्त देश[1] की जनसंख्या का १½ प्रतिशत से भी कम है। भारत मे बिजली का प्रति व्यक्ति व्यय ९·२ किलोवाट है, जबकि अमरीका में प्रति व्यक्ति १,६६० किलोवाट, स्विटज़र्लैण्ड में १,९४४ किलोवाट, स्वेडन में २,१०० किलोवाट, नार्वे में ३०९० किलोवाट तथा कैनेडा में ४००० किलोवाट है।

अब हमारी भारत सरकार की बड़ी अभिलाषा यह है कि हमारे "जल को सम्पत्ति" रूप में बदल दें। इस समय भारत में निर्माण कोटि में, अनुसंधान कोटि में तथा विचार कोटि में कुल १६० योजनायें हैं। उन पर अनुमानतः १२८० करोड़ रुपया व्यय होगा। इन निर्माण कार्यों के पूर्ण होने पर अढ़ाई करोड़ एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधाएं मिल जाँयगी (जो अमरीका के समस्त सिंचित क्षेत्र के बराबर है)। इससे पचास-साठ लाख टन गेहूं की उपज बढ़ जायगी तथा एक करोड़ ८० लाख किलोवाट अतिरिक्त पनबिजली उत्पन्न होगी। इससे भारत इस विषय में संसार में तीसरा बड़ा देश बन जायगा और केवल अमरीका और रूस ही उससे आगे रह जायेंगे। इन योजनाओं के पूर्ण हो जाने से न केवल बिजली मिलेगी वरन् सिंचाई, बाढ़ों पर नियंत्रण, नौचालन, मत्स्यपालन, आमोद सुविधाएं और यात्रा के नये स्थान भी प्राप्त होंगे। नई पनबिजली विकास योजनाओं को संक्षेप में नीचे दिया जाता है:—

पंजाब के नये राज्य के आर्थिक पुनर्जन्म के लिए भाकड़ा-नांगल योजना को पूर्ण करने का प्रत्येक प्रयत्न किया जा रहा है। भाकड़ा बांध सीधी बिजली उत्पादन करने वाला संसार भर में सबसे बड़ा बांध होगा। उसमें ५६ मील लम्बी झील बनाई जायगी।

१. Whittakar, 1948 Edition, Page 765.

भाकड़ा बाध के पास बिजली के दो कारखाने बनाये जाँयगे। प्रत्येक कारखाना बारह इकाई (यूनिट) का होगा। प्रत्येक इकाई में ८४,००० किलोवाट बिजली होगी। नांगल जल-विद्युत्धारा में दो बिजली-घर होंगे। उनमें से प्रत्येक में तीन उत्पादन सेट (Generating Sets) होंगे और एक-एक उत्पादक से २४,००० किलोवाट बिजली बनेगी। भाकड़ा-नांगल योजना के अंतिम रूप में पूर्ण हो जाने पर चार लाख किलोवाट बिजली शतप्रतिशत भार उठाने वाली होगी। यदि इसको अन्य रूपों में परिवर्तित करने दिया गया तो वह आठ लाख किलोवाट बिजली के भार को उठा सकेगी।

भाकड़ा-नांगल योजना की अनुमानित लागत प्रथम स्थल में १२६ करोड़ रुपये होगी। किन्तु अत्यन्त तंगदिली से यह अनुमान भी लगा लिया गया है कि यह सारी लागत अकेले रुई तथा अन्न के उत्पादन से ही प्रथम दो वर्ष में वसूल हो जायगी। उससे पंजाब, पटियाला, तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ और बीकानेर की ६५ लाख एकड़ भूमि सींची जायगी। नांगल जल- विद्युत कारखाना पंजाब के ६७ नगरों को केवल बिजली न देकर उनकी प्रकाश, गर्मी तथा औद्योगिक आवश्यकताओं को भी पूर्ण करेगा। साथ ही वह अम्बाला जैसे क्षेत्रों में, जहां सिंचाई की सुविधाएं नहीं हैं, ट्यूबवेल (कुओं) से पानी भी निकालेगा। यह अधिक जल वाले क्षेत्रों के जल को संग्रहित करके उस को शुष्क क्षेत्रों में पहुँचायगा और सिंचाई वाली भूमि तथा बिना सिंचाई की भूमि के अन्तर को बहुत-कुछ कम कर देगा। यह भी आशा की जाती है कि बाद में दिल्ली तथा अम्बाला के बीच चलने वाली रेलगाड़ियां बिजली से चला करेंगी। यह आशा की जाती है कि इस योजना के पूर्ण होने पर दिल्ली तथा पंजाब के प्रत्येक गांव को बिजली मिल जायगी। इससे औद्योगिक विकास में भी बड़ी भारी सहायता मिलेगी ।

उत्तर प्रदेश में दो कारखाने बनाने के लिए आरंभिक जांच का कार्य पूर्ण हो चुका है। यह दोनों कारखाने गढ़वाल ज़िले में बनेंगे—एक भरोड़ा बांध तथा दूसरा रामगंगा बांध होगा। भरोड़ा बांध योजना में नायर नदी को पार करके एक बांध बनाया जायगा। इससे भरोड़ा बांध से दो लाख किलोवाट तथा व्यासघाट पर ३२,००० किलोवाट बिजली बनेगी। इस योजना की लागत २४ करोड़ रुपए होगी। रामगंगा योजना से ९०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। उसके नीचे के जल से और भी २०,००० किलोवाट बिजली बनेगी। इसमें कुल व्यय १,१०,५०,००० रुपए होगा। शारदा पन-बिजली योजना पर आजकल काम किया जा रहा है। वह ७ करोड़ रुपये की लागत पर ४१,४०० किलोवाट बिजली देगी। मुहम्मदपुर का बिजली का कारखाना तो लगभग बन कर तैयार हो चुका है। उसकी क्षमता ९,३०० किलोवाट है। बेतवा जल विद्युत् योजना को दो श्रेणियों में पूर्ण किया जायगा। प्रथम स्थल में नारायणी नदी पर पीपरी में एक बांध बनाया जायगा। साथ ही एक बिजली-घर धुकपारी में बनाया जायगा।

इसमें १ करोड़ ३१ लाख रुपये की लागत लगेगी और २,५०० किलोवाट बिजली बनेगी। दूसरे स्थल में सिंहपुरा में बांध बनाया जायगा, जिसमें लगभग आठ करोड़ रुपये की लागत लगेगी। इसके पूर्ण होने में तीन वर्ष लगेंगे। यह ४,५०० किलोवाट उत्पन्न करेगा। घाघरा जल विद्युत् योजना दो स्थलों में तीन लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी। गढ़वाल ज़िले में कोठरी बांध योजना ५,००० किलोवाट उत्पन्न करेगी। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजना, जो विचार कोटि में है—पीपरी बांध तथा पावर स्टेशन योजना है। इसमें रिहंद नदी के पार पीपरी के समीप मिर्ज़ापुर ज़िले में एक बांध बनाया जायगा। इसके बिजली-घर में २,३०,००० किलोवाट की शक्ति होगी। इसमें कुल २९ करोड़ रुपये लागत लगेगी और ६ वर्षों में काम पूरा होगा। एक और बड़ी योजना यमुना जल-विद्युत् योजना है। यह प्रथम स्थल (Stage) में ४०,००० किलोवाट और दूसरे स्थल में ५०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी। फिर मई से अक्तूबर तक ४७,२०० किलोवाट और ७२,८०० किलोवाट इसके अतिरिक्त और पैदा कर सकेगी। पिंडार जल-विद्युत् योजना ४०,००० किलोवाट स्थिर शक्ति तथा ५०,००० किलोवाट मौसमी शक्ति उत्पन्न करेगी।

बिहार में कोसी योजना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योजना है। इसमें नैपाल में छत्र घाटी को पार करके ७५० फुट ऊंचा एक बांध बनाया जायगा। इसका बिजली घर ५० प्रतिशत भार के आधार पर १०,८०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगा। इस सम्पूर्ण योजना पर ९० करोड़ रुपये लागत बैठेगी।

बम्बई में कोयाना घाटी योजना के नाम से एक बहुत बड़ी पनबिजली योजना का प्रस्ताव किया जा रहा है। यह स्थान सतारा ज़िले में करड रेल्वे स्टेशन से ४० मील दूर है। यह भारत में सब बड़े बिजलीघरों में से एक बनेगा, जहां अढ़ाई लाख किलोवाट से अधिक बिजली बनेगी। इसमें २५ करोड़ रुपये की लागत आयगी। काली नदी पन-बिजली योजना पर जनवरी १९४७ में काम आरंभ किया जा चुका है। इससे साढ़े तीन लाख किलोवाट बिजली मिलेगी।

मध्यप्रदेश में पनबिजली के विकास के लिये चार स्थान हैं, जो पांच स्थलों में पूरे किये जायंगे। इनके पूर्ण होने पर एक लाख किलोवाट की लगातार बिजली अथवा दो लाख किलोवाट ५० प्रतिशत भार के आधार पर बिजली उत्पन्न होगी। इसमें कुल खर्च २० करोड़ रुपया लगेगा।

मद्रास में पाइकारा बिजलीघर विस्तार योजना के तृतीय स्थल की स्वीकृति १९४६ में दी गई थी, जिससे पाइकारा क्षेत्र की बिजली की मांग को पूरा किया जा सके तथा मेत्तूर और पापनासम प्रणालियों की मौसमी तथा आवश्यक कमियों को दूर किया जा सके। इससे २,१२,००० किलोवाट बिजली मिलेगी। इसमें आरंभ में दो करोड़ रुपये तथा दसवें वर्ष के अंत में ३ करोड़ ६० लाख रुपये खर्चा लगेगा। मोयर

जल-विद्युत योजना पाइकारा बिजली-घर के नीचे के पानी से काम लेगी। रामपद सागर योजना तथा किस्टना पावर योजना भी कुछ बिजली देंगी। तुंगभद्रा योजना मद्रास और हैदराबाद की सेवा करेगी। सिंचाई की सुविधाओं के अतिरिक्त यह १,४५,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी। इसके जून १९५३ में पूर्ण हो जाने की आशा है।

उड़ीसा में महानदी घाटी को एक बनाकर उसका विकास करने की योजना है। इसमें तीन इकाइया हैं—हीराकुंड बांध योजना, तिकरपाड़ा बांध योजना और नारज बांध योजना। इन तीनों इकाइयों का एक-दूसरी से स्वतन्त्रतापूर्वक विकास किया जा सकता है और तब भी यह महानदी के सारे क्षेत्र की एक योजना का भाग बनी रहेंगी। हीराकुंड बाध जंगली महानदी नदी के वेग को सम्बलपुर नगर से नौ मील ऊपर एक बांध द्वारा रोकेगा। इस योजना में साढ़े तीन लाख किलोवाट बिजली बनेगी और अनुमानतः ४८ करोड़ रुपये लागत आयगी। डूडुना झरने पर मचकुंड के प्रवाह से भी एक लाख किलोवाट बिजली बनेगी।

पश्चिमी बंगाल में दामोदर घाटी योजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजना है। इस योजना में दामोदर और उसकी सहायक नदियों के ऊपर अनेक उद्देश्य वाले आठ बांध बनाये जाँयगे। इसमें लगभग ८००० वर्गमील क्षेत्र आ जायगा। इससे तीन लाख किलोवाट बिजली बनेगी। इस पर लगभग ५५ करोड़ रुपये की लागत आयगी। केन्द्रीय सरकार ने जुलाई १९४८ में एक अधिनियम (Act) पास करके अमरीका के प्रसिद्ध टी. बी. ए. की शैली पर स्वतंत्र रूप से स्वयं काम करने वाली दामोदर घाटी कारपोरेशन की रचना की थी। सरकार ने इस योजना को सर्व प्रधानता दी है। इस योजना के एक महत्त्वपूर्ण अंग के लिये विश्वबैंक ने एक बहुत बड़ा ऋण दिया है। यह कार्य रूप में परिणत होने के अत्यन्त अग्रगामी स्थल में है।

इनके अतिरिक्त एक जलधोक पनबिजली योजना है। इसमें सूखी ऋतु में १०,००० किलोवाट और मानसून के दिनों में १७,००० से ३३,००० किलोवाट तक बिजली उत्पन्न होगी। यह सभी चाय के कारखानों की आवश्यकता को पूरा करेगी।

इन बड़ी योजनाओं के अतिरिक्त अनेक अन्य योजनायें भी देश के भिन्न भागों में या तो हाथ में ले ली गई है अथवा विचार कोटि में है। आसाम में ४० लाख किलोवाट बिजली बनाने योग्य ११ स्थान हैं। बड़ौदा में जंखारी योजना २५०० किलोवाट की और साबरमती योजना ६००० किलोवाट की है। कोलर नदी योजना १६,५०० किलोवाट की और सिंध नदी योजना (ग्वालियर) १६,००० किलोवाट की है। हैदराबाद में चार योजनाओं पर निर्माण कार्य हो रहा है। उनसे लगभग १,३९,००० किलोवाट बिजली मिलेगी। इसके अतिरिक्त सात बड़ी-बड़ी योजनाओं के सम्बन्ध मे अनुसंधान किया जा रहा है। उनसे ५ लाख किलोवाट बिजली बनेगी। जोधपुर में जवाई पनबिजली योजना से नहर के ऊपरी भाग में १,५१० किलोवाट तथा नहर के निचले भाग में २,५३० किलोवाट

बिजली मिलेगी। मैसूर में जोग योजना (जिसका नाम अब महात्मा गांधी पनबिजली कारखाना कर दिया गया है) १,२०,००० किलोवाट बिजली देगा। भाद्रा बांध योजना (मैसूर में ही) से १२,६८० किलोवाट बिजली मिलेगी। पटियाला पन बिजली योजना से १६,००० किलोवाट बिजली मिलेगी। चम्बल पनबिजली योजना (होल्कर राज्य) से ११,२८,००० किलोवाट बिजली पैदा होगी। इसके अतिरिक्त मेवाड़ के बिजली-घर से ६८,००० किलोवाट तथा कोटा के बिजली-घर से ५६,००० किलोवाट बिजली मिलेगी।

भारत सरकार ने १९४८ में एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने बिजली देने वाला अधिनियम (Electricity Supply Act) बनाया। उस अधिनियम का उद्देश्य यह था कि बिजली उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय और सारे देश में शीघ्रता से बिजली फैल जाय। इस अधिनियम में इस बात की व्यवस्था की गई कि प्रत्येक राज्य में एक राज्य विद्युत् सभा (State Electricity Board) बनाई जाय तथा एक केन्द्रीय विद्युत् अधिकारी (Central Electricity Authority) नाम से विशेषज्ञों का संघ बनाया जाय जो राज्य विद्युत्सभाओं के काम की सूक्ष्मता पूर्वक देख-भाल करता रहे और उन बड़ी बिजली योजनाओं के विषय में परामर्श देता रहे, जो वह समय समय पर हाथ में लें। इन अधिनियम के अनुसार सन् १९५० में केन्द्रीय विद्युत् अधिकारी का संगठन किया गया। अधिकांश राज्यों में विद्युत्सभाएं बन गई हैं। यह सभी प्रशंसनीय विकास कार्य हैं। विशेषज्ञों का अनुमान है कि १९५४ तक भारत की विद्युत शक्ति ७२ प्रतिशत बढ़ जायगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में भाकड़ा-नांगल, हरीके, दामोदर घाटी और हीरा-कुँड बांध योजनाओं की व्यवस्था की गई है। इनके पूर्ण होने पर ६३,३५,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होगी और ९,३३,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसी योजनाए हैं, जो राज्यों के कार्य-क्षेत्र में आती हैं।

१८. धनी देश की निर्धन जनता। भारत के साधनों की यह द्रुतगामी जांच यह दिखलाने के लिए पर्याप्त है कि प्रकृति ने भारत के प्रति अत्यधिक उदारता दिखलाई है। कुछ मामलों में तो प्रकृति ने भारत को अत्यधिक सम्पन्न बनाया है। उसका सब से बड़ा वरदान—हिमालय—हमको असंख्य आर्थिक लाभ देता है और उसमें अनेक धन सम्पदायें छिपी पड़ी हैं। भारत का गंगा मैदान तो विभिन्न प्रकार की समृद्ध फसलों का सदा बना रहने वाला साधन है। जलवायु की अपरिमित किस्में हमको एक अत्यन्त समृद्ध आर्थिक जीवन का विकास करा सकती हैं। हमारे खनिज साधन भी अच्छी तरह से विभिन्न प्रकार के हैं और पर्याप्त रूप में अधिक हैं। कोयला कम हो सकता है, किन्तु जलशक्ति के साधन बहुत अधिक हैं। हमारे पास पशुओं की भारी संख्या है और जन संख्या भी बहुत अधिक है। भौगोलिक रूप से भी हम एक आदर्श स्थान में स्थित

हैं। इस प्रकार यह दिखलाई देता है कि भारत विश्व के अत्यधिक समृद्ध देशों में से एक बनाने के लिये छांट लिया गया है।

किन्तु वास्तविक स्थिति क्या है ? सारे देश में निर्धनता छाई हुई है और निर्धनता भी ऐसी कि जिसकी विश्व भर में समानता नहीं की जा सकती। यह वास्तव में देखने में असत्य दिखलाई पड़ता है कि जब हमारा देश इतना समृद्ध है तो हम स्वयं निर्धन हैं। स्पष्ट रूप से मनुष्य प्रकृति के सभी वरदानों से लाभ उठाने में असफल प्रमाणित हुआ है।

यहां निर्धनता की समस्या के सम्बन्ध मे विस्तार से विचार नही करना है। किन्तु अनेक रहस्यों में से इस निर्धनता के रहस्य को समझने के लिए हम यहां कुछ साधारण परीक्षण कर सकते हैं।

एक बात जिसकी ओर हमारा ध्यान बरबस जाता है, वह है हमारे साधनों का दोषपूर्ण विनाश। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए हमारे कोयले के साधनों का किस प्रकार विनाश किया जा रहा है। डाक्टर आर. के. दास ने अपने ग्रंथ 'भारत की औद्योगिक कार्यक्षमता' (Industrial Efficiency of India) में भारत के साधनों के विनाश का विस्तृत अध्ययन किया है। उसके हिसाब के अनुसार भारत के कृषियोग्य क्षेत्रफल में से केवल ३० प्रतिशत उत्पादक कार्यों के उपयोग में आ रहा है और शेष ७० प्रतिशत व्यर्थ पड़ा हुआ है। अत्यन्त उदार दृष्टिकोण से भी हमारे वन साधनों में से भी केवल २५ प्रतिशत का उपयोग किया जा रहा है और शेष ७५ प्रतिशत व्यर्थ नष्ट हो रहा है। मत्स्यशालाओं के तो तृतीयांश का प्रतिवर्ष नष्ट हो जाता है। कच्चे लोहे का उत्पादन भी अपने उचित उत्पादन का कुल ११ प्रतिशत ही किया जाता है। पानी के तो ९९ प्रतिशत साधन व्यर्थ में नष्ट हो रहे हैं। अंत में उन्होंने परिणाम निकाला है कि भारत के ७५ प्रतिशत प्राकृतिक साधन व्यर्थ नष्ट हुए जा रहे हैं।

फिर अस्वास्थ्य, अज्ञानता, बेरोजगारी अथवा न्यून रोजगार, व्यर्थ के प्रसव तथा अकाल मृत्युओं के कारण मानवी साधनों का भी विनाश हो रहा है। १९२१ में भारत की जनसंख्या १७ करोड़ ८० लाख थी। इनमें ९ करोड़ बीस लाख पुरुष तथा ८ करोड़ ६० लाख स्त्रियां थी। इनमे से भारत ४ करोड़ ५९ लाख श्रमिकों अथवा शक्ति साधन को कम रोजगार के कारण, ३ करोड़ २९ लाख को अस्वास्थ्य के कारण तथा २५ लाख को व्यर्थ के प्रसव द्वारा विनष्ट कर रहा है। दूसरे शब्दों में ११ करोड़ ४० लाख व्यक्तियों के शक्ति साधन अर्थात् समस्त मनुष्य शक्ति का ६४ प्रतिशत प्रति वर्ष नष्ट हो रहा है।

पूंजी के विनाश के कारण अनुत्पादक कार्यों में पूंजी लगाना, पूंजी के साधनों को एकत्रित न कर सकना तथा वर्त्तमान पूंजी साधनों का अपूर्ण उपयोग।

उत्पादक अंगों अर्थात् भूमि, श्रम तथा पूंजी का समस्त विनाश ६९ प्रतिशत[1] हो रहा है, जो कि दो तृतीयांश से भी अधिक है। दूसरे शब्दों में हम अपनी उत्पादक शक्ति के दो तृतीयांश से भी कम का प्रयोग कर रहे हैं तो क्या यह आश्चर्य की बात है कि हम निर्धन हैं ?

इस विनाश के कारण अनेक तथा पेचीदा हैं, उनका निवास हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रचना में है। जातीय विशेषताएं, अज्ञान, अनुभवहीनता और शिक्षा सभी का इस मामले से कुछ न कुछ सम्बन्ध है।

अभी तक आर्थिक स्वतन्त्रता का अभाव ऐसी नीतियों को नहीं बनने देता था, जिससे हम अपने साधनों से ठीक दिशा में ओर पूर्ण परिमाण में कार्य ले पाते। भारत से सरकार की उपेक्षा नीति ने हमारे साधनों के विकास को अत्यधिक प्रभावित किया है।

सामाजिक दशाओं का विपरीत प्रभाव भी बिलकुल स्पष्ट है। जाति प्रथा ने हमारे समाज को अनेक टुकड़ों में बांट दिया है और श्रमिकों को स्वतन्त्रतापूर्वक काम में न लगने देकर इसने चोकोर छिद्रों के बीच में गोल खूंटियां गाड़ दी हैं। सम्मिलित परिवार प्रणाली ने व्यक्तिगत आंशिक प्रयत्न और साहसिक कार्यों को समाप्त कर दिया है ओर आलसी मनुष्य पाल रखे हैं, जो अपनी ओर से पूंजी के एकत्रित होने के अवसरों को कम कर देते हैं। इस प्रणाली के कारण जो घर में पड़े रहने की आदत पड़ती जाती है, उससे श्रमिकों के मिलने में और उनके लिये मांग उत्पन्न होने का प्रबन्ध बहुत बिगड़ गया है।

धर्म-प्रधानता लोगों को भाग्यवादी, अंध-विश्वासी और पुरातनपंथी बना देती है और आर्थिक स्वत्वों के संगठन में बहुत कुछ कांट-छांट कर देती है। धार्मिक भावना, अधिकांश मामलों में हमारे पशु-धन के साधनों के पूर्ण आर्थिक उपयोग में भी बाधा उपस्थित करती है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण हमारी राजनीतिक पराधीनता भी रहा है। अब स्वतन्त्र हो जाने पर हम एक ठीक आर्थिक नीति का अनुसरण कर सकेंगे। किन्तु किसी स्पष्ट परिणाम के प्राप्त किये जा सकने से पूर्व हमारी जनता के उस आचरण को ऐसे राज्य में से निकाल कर कहीं और भेजना पड़ेगा जिसमें हमारी १५० वर्ष की दासता ने हमको पटक दिया था।

आगे अध्ययन करने योग्य पुस्तकें

१. सूद, ए. के.—भारत के प्राकृतिक साधन (Natural Resources of India) पद्मा पब्लिकेशन्स, बम्बई।

२. जार्ज कुरयान—भारत के पनबिजली साधन (Hydro-Electric Resources of India).

---

१. आर. के. दास—Industrial Efficiency of India, 1930.

३. सिंचाई के केन्द्रीय बोर्ड का पर्चा संख्या ५—भारत का पनबिजली विकास (Hydro-Electric Development of India).

४. कोगिन ब्राउन—भारत की खनिज सम्पत्ति (Mineral Wealth of India).

५. वाडिया, डी. एन.—भारत का भूगर्भ विज्ञान (Geology of India).

६. कृषि पर शाही कमीशन की रिपोर्ट—(वनों वाला अध्याय)

७. युद्धोत्तर वन-नीति (Post-war Forest Policy) पर सर हरबर्ट हॉवर्ड का नोट ।

८. दुबे—भारत का आर्थिक भूगोल (Economic Geography of India).

९. विश्व अर्थशास्त्र में भारत (India in World Economy)
१०. समृद्धि के लिये योजनाएँ (Projects for Plenty)
११. योजना कमीशन की रिपोर्ट
} भारत सरकार के प्रकाशन

दूसरा अध्याय

सामाजिक पृष्ठभूमि

जनता

१. **अध्ययन का महत्त्व** । भारत ने द्वितीय महायुद्ध में पहले ही लगे होने पर भी १९४१ में अपनी जन-संख्या करा ली । आर्थिक कारणों से यह कार्य अत्यन्त विचारपूर्वक नहीं किया जा सका और अनेक महत्त्वपूर्ण तालिकायें अधूरी ही छोड़ दी गई, किन्तु सन् १९५१ के पूर्ण विवरण की प्रतीक्षा की जाती रही । तो भी यह पूर्णतया अनुभव कर लिया गया कि किसी देश की उन्नति उसमें रहने वाली जनता पर इतनी अधिक निर्भर है कि उसके विभिन्न रूपों की ठीक ठीक जांच किये बिना कोई भावी योजना नहीं बनाई जा सकती। भारत एक निर्धन देश है और उसकी निर्धनता की कोई समानता नहीं कर सकता । प्रति व्यक्ति आय अत्यन्त कम है । जीवनमान विश्व भर में लगभग सबसे नीचा है । यह बात बड़ी विचित्र है कि यह भीषण निर्धनता उन भारी समृद्धियों के बीच में पड़ी हुई है, जिनके विषय में आप गत अध्याय में पढ़ चुके हैं। इस स्थिति को संभालने के लिए भारतीय आर्थिक जीवन का गंभीर तथा वैज्ञानिक अध्ययन करना आवश्यक है। उसकी जनता का; उनकी संख्या, आयु के वर्ग, पेशों, रोगों, स्त्रियों तथा पुरुषों के सम्बन्धित अनुपात आदि अध्ययन किये बिना उनकी किसी कार्यकारी औषधि के सम्बन्ध में प्रस्ताव नहीं किया जा सकता । इसी में देश की जनता की समस्याओं के अध्ययन का महत्त्व छिपा हुआ है।

२. **जनसंख्या के आंकड़े** । १९४१ में आज की भारतीय क्षेत्र की जन-संख्या ३१,८८,९७,५३२ थी । १९५१ की जनसंख्या में यह संख्या ३६,१८,२१,६०४ हो गई । अर्थात् उस समय १९४१ के अंकों में १३·४ प्रतिशत की वृद्धि हो गई । भारत का क्षेत्रफल काश्मीर, हैदराबाद और आसाम के राज्यों सहित १२,२१,००० वर्गमील समझा जाता है । इससे भारत में प्रति मील २९६ व्यक्ति के घनत्व[1] का पता चलता है।

१९३१ से १९५१ तक के बीस वर्ष में १९२१ से १९३१ तक के दस वर्ष की

---

१. यह सितम्बर १९५१ के मासिक अंकों के संक्षेप से लिया गया है। इसमें १ मार्च १९५० के अनुमान के अनुसार काश्मीर तथा आसाम के कबायली क्षेत्रों के अंक भी सम्मिलित कर लिये गए हैं। १९५१ की जनसंख्या में उन क्षेत्रों को सम्मिलित नहीं किया गया था।

अपेक्षा जनसंख्या में तिगुनी वृद्धि हुई और १९०१ से १९३१ तक के तीस वर्ष की अपेक्षा दुगनी वृद्धि हुई।

३. **जनसंख्या में वृद्धि।** जैसाकि नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट है, गत पचास वर्षों में भारत की जनसंख्या १२ करोड़ तीस लाख बढ़ गई—

तालिका १

भारत की जनसंख्या में वृद्धि

वर्ष	जनसंख्या	विभिन्नता	प्रतिशत अनुपात
१९०१	२३८	..	..
१९११	२५२	+१४	+५·८
१९२१	२५१	— १	—०·३
१९३१	२७९	+२८	+११·०
१९४१	३१९	+४०	+१४·२
१९५१	३६२	+४३	+१३·४
	योग	+१२४	५२%

उपरोक्त तालिका से यह प्रगट है कि प्रत्येक दशाब्दी में जनसंख्या की वृद्धि बराबर नहीं हुई है। इस विषमता को लाने वाले कारण अकाल अथवा महामारियों के समान बिखरे हुए एवं आकस्मिक हैं। उनके फैलने से जनसंख्या घटी तथा उनके अभाव से जनसंख्या पर्याप्त बढ़ गई। १९०१ से १९११ तक भारत में कृषि संबंधी उन्नति अत्यधिक हुई। अतएव इस बीच में जनसंख्या ५·८ प्रतिशत बढ़ गई। अगली दशाब्दी में इंफ्लूएंज़ा के कारण उन्नति रुक गई जो कि महामारी के रूप में फूट निकला। इसमें १ करोड़ ४० लाख व्यक्ति बीमार पड़े, जिससे दस लाख व्यक्ति मर गए। १९२१ से जनसंख्या अत्यन्त शीघ्रता से बढ़ी है। प्रकृति की कृपा रही। इसके अतिरिक्त महामारियों पर विजय प्राप्त करने के उपाय भी अधिक कार्यकारी रहे। अधिक उत्तम सिंचाई की सुविधाओं ने अकाल नहीं होने दिया। जनसंख्या में वृद्धि का कुछ कारण जनसंख्या के क्षेत्र में वृद्धि तथा गणना की प्रणाली में सुधार भी था। इन बातों को स्वीकार कर लेने पर भी ११ प्रतिशत की वृद्धि भारी वृद्धि है। १९३१ से १९४१ तक की १४ प्रतिशत वृद्धि भी घबरा देने वाली है। १९४१ से १९५१ तक की १३·४ प्रतिशत की वृद्धि तो और भी अधिक घबरा देने वाली है। देश के विभाजन के कारण उत्तर में जनसंख्या का पूर्ण परिवर्तन किया गया और पूर्व में आंशिक रूप में किया गया। उपरोक्त तालिका में जो वृद्धि के अंक दिये गये हैं, वह पाकिस्तान को निकाल कर दिये गये हैं।

तो भी भारत के सब भागों में एक-सी वृद्धि नहीं हुई। जनसंख्या की रिपोर्ट में कहा गया है, "वृद्धि दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में अधिक हुई है और एकदम पश्चिम, पश्चिमोत्तर और पूर्व में अत्यधिक वृद्धि हुई है। वास्तव में पंजाब और बंगाल में दो अत्यधिक जनसंख्या वाले क्षेत्र है। दोनों ही विकास के दृष्टिकोण से अभी बच्चे हैं।"[1]

हमको जनसंख्या के तेज़ी से बढ़ने के कारणों पर विचार करना चाहिये—

४. जनसंख्या में वृद्धि के कारण। १९०१ से आगे जनसंख्या में लगातार वृद्धि होने के कारण संक्षेप में यह है—

(१) पंजाब में नए सिंचाई योजना से अर्द्ध-मरु-भूमि वाले क्षेत्रों में नई बस्ती बनने लगी। यह क्रम शून्य से आरंभ होकर अत्यन्त तेज़ी से बढ़ा। अमरीका और कैनाडा में भी जब यूरोप से प्रथम बार मानवी लहर पहुंची तो यही हुआ। बीकानेर में भी नई बस्तियों में यही अनुभव हुआ—बंगाल में भी कृषि योग्यता बढने के साथ साथ जनसंख्या बहुत शीघ्रता से बढ़ी।

(२) १९३१ की जनगणना के अंक कम थे, क्योंकि यह जनगणना राजनीतिक दंगों के समय ली गई थी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण अनेक व्यक्तियों के रजिस्टरों में नाम तक नहीं आये। उत्तरी भारत में ऐसे नाम बहुत छूट गए। जो कुछ १९३१ में छूट गए थे वह १९४१ में पकड़े गए। अतएव उन दिनों उत्तरी भारत की जन-संख्या बढ़ी हुई दिखलाई देती है।

(३) १९४१ में समस्त जनता को जनसंख्या के महत्त्व का पता चल गया था। अतएव उस समय कोई भी लिखे जाने से छूटना नहीं चाहता था। वास्तव में यह भी संदेह किया गया कि दुरनुमानित साम्प्रदायिक उत्साह ने भी गणना में गड़बड़ पैदा की। अशुद्ध अंकों को ठीक करने के लिए तुलनात्मक मिलान के लिये मकानों की सूची से काम लिया गया और उससे "ठोस तथा पर्याप्त परिणाम निकला", जैसाकि जनसंख्या कमिश्नर का कहना है।

(४) यद्यपि भारत में डाक्टरों, नर्सों तथा अस्पतालों की संख्या कम है और देश के विस्तृत क्षेत्रफल को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा की सुविधा का प्रबन्ध बहुत कम है, किन्तु तो भी इन वर्षों में चिकित्सा की सुविधाएं भी पहले की अपेक्षा बढ़ गईं। इसके परिणामस्वरूप जन्म संख्याके स्थिर रहते हुए मृत्यु संख्या घटने लगी। इसके अतिरिक्त हैज़े, चेचक और प्लेग जैसी महामारियों से मृत्यु की संख्या भी घट गई।

(५) स्पष्ट रूप से इन सभी कारणों से जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु देश में जनसंख्या के बढ़ने का सबसे बड़ा कारण देश में जीवनमान का नीचा होना है। यह एक तथ्य है कि देश में निर्धन व्यक्तियों के सन्तान अधिक होती है। भारत की

१. भारतीय जनसंख्या की रिपोर्ट १९४१, भाग १, पृष्ठ २३।

निर्धनता एक कहावत बन गई है, और इसीलिये उसकी जनसंख्या बढ़ रही है। इस विषय में वह चीन से मिलता-जुलता है।

५. जनसंख्या के घनत्व में विभिन्नता[1]। प्रति मील व्यक्तियों की संख्या प्रत्येक राज्य में भिन्न भिन्न है। हम इस विषय में इतनी विभिन्नता पाते हैं कि जहां जम्मू और काश्मीर राज्य में प्रति वर्ग मील ५३ व्यक्ति रहते हैं वहां पश्चिमी बंगाल में ८१९ रहते हैं, राजस्थान में ११९ तथा पंजाब में कुल ३३९ रहते हैं। ट्रावनकोर-कोचीन में १,०१९ व्यक्ति प्रति वर्ग मील में रहते है जो वहां के अत्यधिक घनत्व को प्रगट करते हैं। इन विभिन्नताओं के अनेक कारण है।

घनत्व पर सबसे प्रथम जलवायु का प्रभाव पड़ता है। स्वास्थ्यकर स्थान अधिक व्यक्तियों को आर्कषित करता है और उससे अधिक संख्या को अपने यहां रख लेता है। यदि जलवायु कम अनुकूल हो जैसे कि आसाम में, तो घनत्व कम होगा। बंगाल और उत्तर प्रदेश में घनत्व निश्चय से अधिक रहेगा।

दूसरे, स्वास्थ्य पर जलवायु के प्रभाव के अतिरिक्त भारत की जनसंख्या का घनत्व अन्य देशों के समान मुख्य रूप से वर्षा के वितरण से नियंत्रित होता है। यदि वर्षा पर्याप्त तथा समय तथा समानरूप से विभक्त होती है तो उससे चावल जैसे अनाज की फसल अच्छी होगी। चावल की उपजाऊ फसल होने के कारण यह जनसंख्या के उच्च घनत्व की रक्षा कर सकता है। किन्तु केवल वर्षा ही घनत्व को निश्चित नहीं करती। हिमालय के देहरादून, अल्मोड़ा और शिमला में वर्षा पर्याप्त होती है और ६० से लेकर ८५ इंच तक वर्ष भर में होती है। तो भी वहां प्रति वर्ग मील संख्या बहुत कम है। इसी प्रकार आसाम में भी जहां वर्षा बहुत होती है घनत्व १८६ है। यही बात काश्मीर के विषय में भी सत्य है, जहां घनत्व ४९ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनसंख्या के घनत्व में भूमि का आराम महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। जिन देशों में वर्षा तो अधिक होती हो, किन्तु उनके पर्वत वनों से ढके हुए हों वहां अधिक चावल उत्पन्न नहीं हो सकता। वास्तव में घनत्व में परित्व का कोई एक कारण नहीं हो सकता। कई कारणों के अच्छी तरह मिलने से ही अधिक घनत्व हो सकता है।

तीसरे, यह देखा जाता है कि सिंचाई की सुविधाएं, जिनसे कृषि स्थायी रूप से अच्छी होती है जनसंख्या में घनत्व का कारण होती हैं। पंजाब के सिंचाई वाले क्षेत्र हिसार जैसे ज़िलों की अपेक्षा अधिक सघनता से बसे हुए हैं।

चौथा, अधिक आर्थिक उन्नति से जनसंख्या का घनत्व बढ़ता है और उसके न होने से घनत्व घटता है। निःसंदेह, गड़रियों जैसी दशा में जनसंख्या अधिक नहीं रखी जा सकती। कृषि की दशा में अधिक संख्या को पाला जा सकता है। किन्तु औद्योगिक स्थिति

---

१. घनत्व के अंक १९५१ की जनसंख्या के अकों से लिये गए हैं और क्षेत्रों को १९५० में की गई वार्षिक पुस्तक (Year book) में दिया गया है।

में और भी अधिक व्यक्तियों के लिए स्थान बन जाता है। यह बात प्रसिद्ध है कि व्यापार और उद्योग-धंधों के केन्द्र में प्राय: अधिक घनकी जनसंख्या होती है। बंगाल में अधिक घनत्व का कारण कुछ यह है, और पंजाब के कम घनत्व का कारण उक्त प्रांत का कृषि रूप है।

पांचवें, भूमि की प्रकृति भी कुछ अन्तर का कारण होती है। बालुकामय भूमि में उपजाऊ क्षेत्रों की अपेक्षा कम घनत्व होगा, उदाहरणार्थ, राजस्थान बहुत कम जनता से बसा हुआ है।

छठे, सम्भवत: घनत्व पर सबसे अधिक अकेला प्रभाव किसी क्षेत्र के आकार का पड़ता है। पृथ्वी तल का आकार घनत्व में सबसे अधिक विभिन्नता उत्पन्न करता है। भारत के पूर्वोत्तर में पार्वत्य प्रदेश पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के समतल में मैदानों की अपेक्षा कम घनत्व वाले हैं। मैदान आर्थिक कार्यो को अधिक सुविधाएं देते है और अधिक फल भी देते हैं। भारत जैसे कृषि प्रधान क्षेत्र में कृषि कार्यों के साथ साथ घनत्व में परिवर्तन होता है।

सातवें, किसी क्षेत्र में रहने वालों की संख्या का कारण उस क्षेत्र में जान और माल की रक्षा का प्रबन्ध भी होता है। सीमान्त क्षेत्रों में इसीलिये घनत्व बहुत कम है।

अन्त में, प्रत्येक राज्य में घनत्व की विभिन्नता का कुछ कारण अप्रवृत्ति भी है। दूसरे राज्य में, जहां रीति-रिवाज तथा भाषा बदली हुई होती है—जीवन उन्नति के अधिक अवसर होते हुए भी लोग अपने निजी स्थान को छोड़ना पसन्द नहीं करते।

भारत के घनत्व की विदेशों से तुलना—यदि हम भारत के घनत्व का ब्रिटेन जैसे अन्य देशों के साथ तुलना करें तो भय का कोई कारण शेष नहीं रह जाता।

तालिका २

कुछ देशों में प्रति वर्गमील घनत्व

देश	घनत्व	वर्ष
यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन)	५३३	१९४८
बेल्जियम	६५४	१९३१
इटली	३९४	१९४८
जर्मनी	४४३	१९३१
भारत	२९६	१९५१

उपरोक्त वर्ग में औद्योगिक देश हैं और ऐसे देश सुगमता से अधिक संख्या को रख सकते हैं। तो भी जब हम भारत की तुलना कृषि विषयक बचत वाले देशों से करते हैं, तो हमको समस्या की गम्भीरता का पता चलता है।

तालिका ३

देश	घनत्व	वर्ष
फ्रांस	१९२	१९४८
अमरीका	४९	१९४८
आस्ट्रेलिया	३	१९४८
कैनाडा	३	१९४८
भारत	२९६	१९५१

इस वर्ग में मुख्य रूप से कृषि कार्यों वाले देशों को रखा गया है। इनमें भारत का घनत्व सबसे अधिक है। संख्याओं के बढ़ने के साथ साथ भूमि पर दबाव भी बढ़ता है। देश के कृषि साधन उसी अनुपात में नही बढ़े। १९०१ से लेकर १९५१ तक जनसंख्या ३२ प्रतिशत बढ़ गई जबकि कृषि क्षेत्र केवल १३ प्रतिशत ही बढ़ा और भोजन की फसलों का क्षेत्र उन्हीं ४० वर्षो में केवल ५.३ प्रतिशत बढ़ा। १९३९ से ४५ तक के युद्ध के समय जब भारत का आस्ट्रेलिया तथा बर्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, उसको अन्न के इतने भयंकर अभाव का मुकाबला करना पड़ा कि बंगाल जैसे कमी के क्षेत्र में भयंकर अकाल पड़ा। युद्ध के बाद भारत को बहुत बड़े परिमाण में अन्न का आयात करना पड़ा, जिससे उसके भुगतान का संतुलन कम हो गया और भारत की अर्थव्यवस्था[1] पर भारी बोझ पड़ा।

७. क्या देश में जनसंख्या के घनत्व और समृद्धि के स्तर में कोई सम्बन्ध है? उपरोक्त तालिका २ से यह पता चलता है कि जहां तक जनसंख्या के घनत्व का सम्बन्ध है, हम ब्रिटेन, बेल्जियम, जर्मनी और इटली जैसे धनी और समृद्ध देशों के साथ है, उनके समान हम भी प्रति वर्ग मील में अधिक घनत्व दिखलाते हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उच्च घनत्व तथा समृद्धि में कोई सम्बन्ध है। यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि अधिक बुद्धिमान औद्योगिक और साधनों वाले व्यक्तियों की अधिक संख्या देश के साधनों को अपने अधिक से अधिक लाभ के लिए विकसित करेगी और उससे उसकी भौतिक समृद्धि बढ़ावेगी। देखने में यह तर्क ठीक दिखलाई देता है किन्तु यह तर्काभास है। यदि कोई देश अधिक घन का बसा हुआ है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह समृद्ध भी हो। घनत्व का वही परिमाण आर्थिक समृद्धि के उसी स्तर को प्रगट नही करता। आज अमरीका संसार में सबसे धनी देश है। किन्तु उसके प्रति वर्ग मील में कुल ४९ व्यक्ति बसते हैं। आस्ट्रेलिया भी अत्यधिक धनी है तो भी उसका घनत्व प्रति वर्गमील केवल तीन है। उच्च घनत्व के साथ ब्रिटेन तथा नीचे घनत्व के साथ अमरीका आज समृद्धि के उच्च स्तर का आनन्द ले रहे है। इस प्रकार घनत्व और समृद्धि में कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। किन्तु समृद्धि का परिचायक होने की अपेक्षा यह घनत्व हमारे लिए एक भय का कारण बन गया है।

---

१. Gyan Chand--India's Teeming Millions, Chapter VIII.

८. नगरों के बसने की समस्या। १९२१ में भारतीय जनता का १०.२ प्रतिशत नगरों में रहता था। १९३१ में ११ प्रतिशत, जबकि १९४१ में १२.८ प्रतिशत नागरिक क्षेत्रों में मिला। भारतीय जनतन्त्र की स्थिति निम्नलिखित है:—

भारतीय जनतंत्र की जनसंख्या का प्रतिशत अनुपात

वर्ष	ग्रामीण	नागरिक
१९२१	८८.७	११.३
१९३१	८७.९	१२.१
५१	८६.१	१३.९

इस प्रकार लगभग ८६ प्रतिशत जनता भारत में अब भी गांवों में ही रहती है। पश्चिम की स्थिति इसके ठीक विपरीत है। पश्चिमी देशों में नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार का है। फ्रांस में ५२ तो इंगलैण्ड में ८० है। तो भी यह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि भारत के नगरों में लगभग १४ प्रतिशत मनुष्य ही रहते हैं, किन्तु १४ प्रतिशत ३६ करोड़ २० लाख के अर्थात् ५ करोड़ हैं, जो यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन और आयरलैण्ड) की समस्त जनसंख्या से अधिक है।

ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों में जनसंख्या का विभाजन भी अत्यधिक अर्थपूर्ण है। प्रत्येक देश की आर्थिक उन्नति के साथ उसकी नागरिक जनसंख्या में भी वृद्धि हुआ करती है। यह तथ्य कि हमारी जनता का एक बहुत छोटा अनुपात ही नागरिक क्षेत्रों में रहता है, हमारी अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति का ठीक ठीक परिचायक है। इसमे यह ठीक-ठीक प्रकट होता है कि हम व्यापार, यातायात तथा उद्योग-धंधों के विकास में अन्य देशों से अभी बहुत पीछे हैं। इससे पता चलता है कि अपने घर में अभी हम कृषि के ही आधीन हैं और यह हमारी असंतुलित अर्थ-व्यवस्था को प्रकट करती हैं।

किसी देश में जनसंख्या का ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों मे विभाजन एक अन्य दृष्टिकोण से भी अर्थपूर्ण है। इससे जनता के राष्ट्रीय आचरण का पता चलता है। यह सर्वविदित है कि ग्रामीण जनता प्रायः आलसी, पुरातन-पंथी, अन्धविश्वासी और नए विचारों को ग्रहण करने के लिये तैयार नहीं होती। ग्राम सभ्यता के लिए बहुत पिछड़े हुए होते हैं जहां बुद्धि ठप्प हो जाती है। ग्रामीण जीवन आर्थिक उन्नति को पीछे की ओर खींचता है। इसके विरुद्ध नगरों की जनता चुस्त, परिश्रमी, तथा साधन सम्पन्न होती है। सभी उन्नतिशील विचार नगरों से निकलते हैं, वहीं से सभ्यता फैलती है। यह तथ्य कि हमारे इतने लम्बे-चौड़े देश में कुछ गिने-चुने नगर ही हैं, प्रगट करता है कि आर्थिक उन्नति के सोते निर्बल हैं। हमारी विशाल नागरिक जनता उन्नति के मार्ग में खड़ी है। कोई देश वैसा ही बनता है, जैसा उसे उसकी जनता बनावे। अतएव राष्ट्रीय आचरण को स्वर बदल कर बोलना बहुत आवश्यक है।

इन विचारों से यह परिणाम निकलता है कि हमारी जनसंख्या का ग्रामीण तथा

नागरिक क्षेत्रों में विभाजन अधिक संतुलित होना चाहिए। हमारी नागरिक जनसंख्या का अनुपात ही अविचारपूर्ण नहीं है वरन् इस दिशा में उन्नति भी बहुत कम की गई है। १९२१ के ११ प्रतिशत नागरिक क्षेत्रों से हम १९४१ तक के बीस वर्ष में कुल १४ प्रतिशत हो पाए हैं। ऐसा पता चलता है कि इस विषय में हम जहां के तहां ही बैठे रहे हैं।

किन्तु यद्यपि वृद्धि का प्रतिशत अनुपात बहुत कम है तो भी नागरिक क्षेत्रों का विस्तार खूब हुआ है। निःसंदेह, भारत में बड़े नगरों की संख्या बहुत कम है। भारतीय जनतन्त्र में १९४१ में पांच लाख जनसंख्या से अधिक वाले कुल ६ नगर तथा एक लाख जनसंख्या से अधिक वाले कुल ४८ नगर थे। किन्तु यह संख्या धीरे धीरे स्थिरता से बढ़ी। १९३१ से १९४१ तक नगरों की संख्या में १५ की वृद्धि हुई। १९४७ में देश के विभाजन से नागरिक क्षेत्रों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर नगरों के निर्माण की संख्या पर्याप्त तेजी से बढ़ी हुई दिखलाई देती है। भारत और पाकिस्तान में नागरिक जनसंख्या १९३१ के ३ करोड़ ७० लाख से बढ़कर १९४१ में पांच करोड़ हो गई, जबकि ग्रामीण जनसंख्या ३० करोड़ १० लाख से बढ़कर कुल ३३ करोड़ ९० लाख इसी समय में हुई। इस उन्नति के मुख्य कारण नीचे दिये जाते हैं:—

(क) नगरों में जनता की भीड़ बढ़ते रहने के साथ औद्योगीकरण बढ़ रहा है। स्पष्ट रूप से भारत में बहुत बड़े पैमाने पर नगरों को बसाया जा रहा है और बड़े नगर और भी बड़े हो रहे हैं। नगरों के वातावरण को स्वस्थ रखने तथा वहां रोगों की रोकथाम के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय अधिकारियों को भविष्य में बनने वाले मकानों के कठोर नियम बनाने चाहिएं और नगरों के विस्तार के लिए समय रहते नियम बना देने चाहिएं। नगरों के विस्तार पर कोई नियंत्रण न रहने से आपत्ति और कष्ट बढ़ेंगे, जिनके प्रभाव को दूर करना असंभव हो जावेगा।

(ख) मध्यम श्रेणी के लोगों को नागरिक जीवन में अधिक रस आता है। बिजली का प्रकाश, नल का पानी, ट्राम और बस सब अपना-अपना काम इस विषय में करते हैं। लड़के लड़कियों के लिए शिक्षा की सुविधाएं और भी अधिक आकर्षण हैं। पुस्तकालय, थियेटर तथा सिनेमा घर भी जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वास्तव में बड़े नगरों का आराम और उनकी सुविधाएं उनकी संख्या को बढ़ाने में सहायक होती हैं।

(ग) पंजाब के साहूकार-विरोधी कानूनों के कारण गांवों के अनेक शिक्षित व्यक्ति नंगे हो गए और वह अच्छे रोज़गार की तलाश में कस्बों और नगरों में एकत्रित हो गए हैं।

(घ) बम्बई राज्य में नगर में रहने वाले लोगों का सबसे अधिक प्रतिशत अनुपात २४ है जबकि आसाम में सबसे कम अनुपात ३ है। पंजाब और पटियाला राज्य संघ दोनों में ही नागरिक क्षेत्रों में पन्द्रह-पन्द्रह प्रतिशत जनता रहती है।

इसमें सन्देह नहीं कि ब्रिटेन, जर्मनी और अमरीका जैसे देशों की जनता नगरों में

अधिक रहती है। भारत इस विषय में अभी बहुत पिछड़ा हुआ है किन्तु इस चित्र का एक और पक्ष भी है कि भारत एक उठता देश है। पश्चिम में जितना भी नागरिक क्षेत्रों का विकास हुआ है, वह वहां के जलवायु की अपेक्षा अभी पूर्ण नहीं है। भारत में १४ प्रतिशत व्यक्तियों के नगर में रहने पर भी यहां भीड़ भयंकर मालूम देती है, क्षय तथा मूत्र सम्बन्धी रोग अत्यधिक फैले हुए हैं और महामारियां भी खुले देहातों की अपेक्षा नगरों में ही अधिक फैलती हैं। जैसा कि मुख्य जनसंख्या कमिश्नर मिस्टर यीट्स (Mr. Yeats) ने कहा है, "इस नागरिक जीवन में अनियंत्रण तथा सामान्य गन्दगी की सभी बुराइयां बिज' प्रत्येक बड़े नगर को जाने का मार्ग भयंकर होता है। उसके बाहरी किनारों पर सहस्रों बेघर खानाबदोश ठहरे हुए होते हैं। ईंटों के भट्टे दूसरा भयंकर दृश्य है। दिल्ली में सड़कों के दोनों ओर जो फीते जैसा विकास होकर नगर के बाहर तक चला गया है, वह नेत्रों के लिये दुखदायी है। कलकत्ता "अपने इन्द्रिय ज्ञान के आठ से अधिक साधनों सहित एक अष्टापद" जैसा बना हुआ है। अमृतसर एक भद्दा एवं प्रतिरोधात्मक दृश्य उपस्थित करता है।

बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली जैसे नगरों की मैली-कुचैली गलियां, जिनमें श्रमिकों की बड़ी भारी संख्या रहती है, इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि उनकी स्थानीय संस्थाएं दूरदृष्टि से शून्य हैं। उनमें से कुछ में जो 'मकान' बनाए गए हैं उनके द्वारा कारखानों के मजदूरों की निवास दशा में सुधार करने का यत्न किया गया है किन्तु वह न तो पर्याप्त है और न आराम देने योग्य हैं। इन 'मकानों' से श्रमिकों के नैतिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य दोनों का पतन हो रहा है।

अतएव, भारत में हम पश्चिम की शैली पर नगरों में लोगों की भीड़ जमा हो जाने के पक्ष में नहीं हैं। हम इस बात के लिए उत्सुक हैं कि पश्चिम की गल्तियों को न दोहराएं। हमको अपने नगरों का वैज्ञानिक योजना के आधार पर विकास करना चाहिए, जिससे अधिक घन की आबादी के सभी दोषों से हमारे नगर बचे रहें। हमारे देश में मध्य आकार के खुले हवादार तथा स्वस्थ कस्बे होने चाहिएं। भारत की आवश्यकता है ग्रामीण क्षेत्रों का नागरिक रूप तथा नागरिक क्षेत्रों का ग्रामीण रूप।

पेशों के अनुसार विभाजन—नीचे दी हुई तालिका अध्ययन करने पर हमारी जनता के पेशों के रूप में विभाजन का पता लगेगा। उससे हमको उन विभिन्न साधनों के सापेक्षिक महत्त्व का पता लगेगा, जिनसे हमारी जनता ने १९३१ में अपनी आजीविका कमायी।

साधारण पेशा		प्रतिशत	सम्पूर्ण प्रतिशत
(क) कच्चे माल का उत्पादन	(१) पशु और वनस्पति	६५·६०	६५·८४
	(२) खनिज पदार्थ	०·२४	

१. १९५० के अन्त में कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की कुल संख्या लगभग २४,५०,००० थी। १९५१ की जन-संख्या के अंक अभी प्रकाशित नहीं हुए।

साधारण पेशा		प्रतिशत	सम्पूर्ण प्रतिशत
(ख) भौतिक पदार्थों का निर्माण और उनकी पूर्ति	(१) उद्योग-धंधे	१०·३८	१७·५६
	(२) यातायात	१·६५	
	(३) व्यापार	५·८३	
(ग) सार्वजनिक शासन तथा उदार कलाएं		२·८६	२·८६
(घ) विभिन्न	(१) स्वयं अपनी आय पर रहने वाले व्यक्ति	·१६	१३·७
	(२) घरेलू नौकरी	७·५१	
	(३) अपूर्णरूप से बर्ताव किये हुए	५·०३	
	(४) अनुत्पादक	१·०४	

हम देखते है कि १९३१ में लगभग ६६ प्रतिशत व्यक्तियों की आजीविका कृषि थी, जबकि उद्योग धंधों में कुल १० प्रतिशत और व्यापार में कुल ६ प्रतिशत व्यक्ति लगे हुए थे। यह स्थिति २० वर्ष पूर्व थी। किन्तु यह अनुमान लगाया गया है कि इस स्थिति में तबसे लेकर अब तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

एक साधारण दृष्टि से यह पता चलता है कि हमारी जनता विभिन्न पेशों में समान रूप से विभक्त नहीं है। इससे केवल यह पता चलता है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में एक कोने से दूसरा कोना भारी है। यदि देश का आर्थिक विकास विभिन्न प्रकार की प्रणालियों से पर्याप्त रूप में किया गया होता तो मानवी साधनों का अधिक संतुलित बटवारा हुआ होता।

शासन तथा उदार कलाओं में तीन प्रतिशत से भी कम व्यक्ति लगे हुए हैं। इससे पता चलता है कि हमारे देश में अत्यधिक अशिक्षा तथा बौद्धिक हीनता है। देश में साक्षरता के प्रचार के लिए गंभीर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। शासन-संबंधी, पुलिस और सेना की नौकरियों में हमारी जनसंख्या के केवल १ प्रतिशत से कुछ अधिक व्यक्ति ही आ सकते है। इस अनुपात को दुगना कर देने से भी इससे मध्यम श्रेणी वालों की बेरोज़गारी की समस्या हल नहीं होगी। रोज़गार का अन्य साधन न होने की दशा में यह समझ में आ सकता है कि परिमित सरकारी नौकरियों के लिये लोग इतना कठिन संघर्ष क्यों करते है।

यद्यपि उद्योग-धंधों में लगे हुओं की संख्या १०·३८ प्रतिशत दिखलाई गई है किंतु संगठित उद्योग-धंधों में कुल १·५ प्रतिशत ही लगे हुए हैं। जब हम जानते हैं कि हमारे लोगों के एक पंचमांश से भी कम व्यक्ति व्यापार, यातायात और उद्योग-धंधों में लगे हुए हैं तो हमको भारत की निर्धनता के कारण का पता मिल जाता है। अधिकांश जनता कम लाभ वाले कार्य कर रही है। इसलिए निर्धनता से नहीं बचा जा सकता। हमारा नारा होना चाहिए कि **"या तो देश को उद्योग-धंधों से भर दो या मर जाओ।"** कृषि के पुर्नानिवास से ही हमको निर्धनता के गर्त से नहीं निकाला जा सकता। हमारे व्यापारिक

विभाजन का कष्टदायक तथ्य यह है कि हमारी एक अत्यधिक संख्या कृषि के आधीन है। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में भी जहां कुछ उद्योग-धंधों का विकास हुआ है, वह मुख्यरूप से कृषिजीवी राज्य हैं। पंजाब और उत्तर प्रदेश की भी यही दशा है, यद्यपि उनकी जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग औद्योगिक मज़दूरों के रूप में परिवर्तित होता जाता है। संसार भर में भारत में कृषि कार्यों में लगे हुए लोगों का प्रतिशत अनुपात सबसे अधिक है। उस पर भी शोक यह है कि भारत खाद्यान्नों के विषय में आत्मनिर्भर है और उसे तीस-चालीस टन अन्न अर्थात् हमारी समस्त आवश्यकता का ५ से ७ प्रतिशत तक अन्न हमको विदेशों से आयात करना पड़ता है। सूखे अथवा कम वर्षा के वर्षों में तो हमको ९० लाख टन तक अन्न का आयात करना पड़ता है जैसा कि १९५१-५२ के वर्ष के लिए अनुमान लगाया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि सभी देशों में कृषि सबसे कम लाभदायक पेशा है। अनुभव से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि कृषि कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या कम होने से तथा व्यापार, यातायात और उद्योग-धंधों में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या बढ़ने से सदा ही देश की आर्थिक उन्नति को प्रोत्साहन मिला है। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में १० प्रतिशत से भी कम व्यक्ति कृषि कार्यों में लगे हुए हैं। भारतीय कृषि का वर्षा पर आश्रित रहना और इस प्रकार उसका अनिश्चित परिणाम होने के कारण मामला और भी खराब हो गया है। इस प्रकार घाटे के सौदे का नियम लागू होता है। यह एक ऋतु सम्बन्धी पेशा है। इसके कारण हमारी जनता वर्ष के कई मास तक बेरोज़गार बने रहने को विवश हो जाती है। हमारी असंतुलित अर्थ-व्यवस्था का कारण हमारा कृषि पर आवश्यकता से अधिक निर्भर रहना है। और यही हमारी निर्धनता का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है। इस स्थिति में तुरन्त ही सुधार किये जाने की आवश्यकता है। सन् १८८० में भी अकाल कमीशन ने इस प्रकार के व्यवसाय में पड़कर इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाने की चेतावनी दी थी। देश के विभाजन के कारण भारत से पश्चिमी पंजाब में नहरों द्वारा सिंचाई किया जाने वाला सबसे अच्छा प्रदेश छिन जाने से स्थिति और भी खराब हो गई।

अनेक दशाब्दियों से प्रतिशत के दृष्टिकोण से व्यावसायिक विभाजन व्यावहारिक रूप में वही का वही रहा है। गत ४० वर्षों अथवा ऐसे ही समय में इस स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। हमको आशा नहीं कि १९५१ के अंक कोई प्रगतिशील परिवर्तन प्रगट कर सकेंगे। यातायात में लगे हुए लोगों की संख्या में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है किन्तु उसका कारण मोटर यातायात का बढ़ना है। फिर उदार पेशों में भी कुछ वृद्धि हुई है, जिसका कारण कुछ शिक्षा का बढ़ जाना है। इसी समय हमको परिश्रम करके विभिन्न पेशों में पड़े हुए अपने लोगों के समविभाजन के विषय में अत्यधिक यत्न करके इस आर्थिक स्थिरता को जीतना चाहिए।

१०. सम्प्रदायों के अनुसार विभाजन। १९३१ तक जनसंख्या के अंकों का आधार धर्म होता था और उनसे सम्प्रदायों का पता चल जाया करता था। १९४१ में जांच की पुरानी शैली में परिवर्तन किया गया। जातियों का पता लगाना समस्त भारत में बन्द कर दिया गया क्योंकि कबायली लोगों के सम्बन्ध में धार्मिक अंक व्यर्थ थे। किसी कबीले वाले को 'धर्म' शब्द का अर्थ कोई नहीं समझा सकता। पिछले गणक लोग किसी व्यक्ति को यदि वह ईसाई, सिख या मुसलमान नहीं होता था, तो हिन्दू लिख दिया करते थे। अतएव १९४१ में सामाजिक गणना के लिए एक अधिक वैज्ञानिक आधार को अपनाया गया। विभिन्न जनसंख्याओं के तुलनात्मक अंक नीचे दिये जाते हैं :—

तालिका ४

भारत में विभिन्न सम्प्रदायों का प्रतिशत अनुपात

वर्ष	हिन्दू	मुस्लिम	ईसाई	जैन	सिख	कबीलेवाले	अन्य
१९३१	६८·२	२२·१	१·८	·४	१·२	२·४	३·९
१९४१	६५·९	२३·८	१·६	·४	१·५	६·६	०·२

इस प्रकार यह कहा जा सकता था कि भारत के प्रत्येक १०० व्यक्तियों में ६६, हिन्दू, २४ मुसलमान, ७ कबीले वाले और शेष में आधे ईसाई और आधे सिख थे। दक्षिण भारत तथा केन्द्र में हिन्दुओं का बहुमत था किन्तु उत्तर में मुसलमानों का बहुमत था। सिख पंजाब में ही रहते है और देश के भागों में जहां-तहां बिखरे हुए हैं। कबीले वाले प्रायः आसाम, बिहार और उड़ीसा में ही पाए जाते हैं। ईसाई लोग सबसे अधिक मद्रास में पाए जाते हैं।

देश के भारत तथा पाकिस्तान के रूप में विभाजन से जनसंख्या के साम्प्रदायिक विभाजन का महत्त्व बहुत कम हो गया। पाकिस्तान एक मुस्लिम राज्य है, जबकि भारत एक धर्म तटस्थ राज्य है और किसी एक सम्प्रदाय को अधिक प्रतिष्ठा नहीं देता। अतएव जनसंख्या के साम्प्रदायिक विभाजन की पुरानी रुचि बहुत-कुछ नष्ट हो चुकी है।

११. स्त्री-पुरुष का अनुपात। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि कन्याओं की अपेक्षा लड़के अधिक उत्पन्न होते हैं। दोनों में १०८ तथा १०० का अनुपात है। विदेशों में लड़के अधिक मरते हैं, इससे लड़कियां लड़कों से बढ़कर बाद में स्त्रियां हो जाती हैं। भारत में लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक पैदा होते हैं। मौलिक रूप में स्त्रियां अधिक प्रबल होती हैं। कुछ समय पूर्व राष्ट्र संघ (League of Nations) ने तीस महत्त्वपूर्ण देशों[१] के जीवन की आशा के विषय में अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक अंक विवरण प्रकाशित किया था। इसमें यह देखा गया कि भारत के अतिरिक्त सभी देशों

१. League of Nations' monthly Bulletin for December, 1944.

में ४० वर्ष की आयु मे सभी आयु के पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो के लिए जीवन की आशाए अधिक थीं। भारत में स्त्रियां अधिक मरती हैं। भारत में भी अन्य देशों के समान बारह वर्ष की आयु तक लड़कों की अपेक्षा लड़कियां कम मरती है। बारह वर्ष की आयु से ४५ वर्ष तक की आयु तक जो कि बच्चा पैदा करने की आयु है, भारत में अधिक स्त्रियां मरती हैं। इससे भारत में पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों का अनुपात घट जाता है और इससे पश्चिम से ठीक उल्टी समस्या उत्पन्न हो जाती है।[1] बालविवाह, पर्दे तथा शिक्षित दाइयों के अभाव के कारण, स्त्रियां अधिक मरती हैं। हानिकारक रक्ताल्पता, क्षय तथा गर्भाशय के रोग भी स्त्रियों की मृत्यु संख्या को बढ़ाते हैं। अत्यधिक निर्धनता के कारण स्त्रियाँ प्रसव से पूर्व तथा प्रसव के बाद पर्याप्त विश्राम नहीं कर पातीं और इससे भी वह अधिक मरती हैं। भारत में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के लिए जीवन की परिस्थितियां निश्चित रूप से अधिक कठोर हैं और इसके परिणाम मे उत्तरोत्तर प्रत्येक दशाब्दी में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या घटती जाती है। निम्नलिखित तालिका इस भयानक स्थिति को भली प्रकार प्रगट करती है:—

तालिका ५

प्रत्येक १००० पुरुषों की अवेक्षा भारत में स्त्रियों की संख्या

वर्ष	स्त्रियों की संख्या
१९११	९५४
१९२१	९४६
१९३१	९४०
१९४१	९३५
१९५१	९४६[2]

भारत में औरत सस्ती समझी जाती है, और उच्च घरानों में भी उसके स्वास्थ्य और आहार के प्रति उपेक्षा की जाती है। जानबूझकर की गई इस उपेक्षा को "अप्रत्यक्ष बालहत्या" कहा जा सकता है। बड़े प्रांतों में से पंजाब में स्त्रियां १००० के पीछे ८४७ हैं। केवल मद्रास, उड़ीसा और ट्रावनकोर में ही पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक हैं। किन्तु उन प्रान्तों में भी स्त्रियों का अनुपात कम हो रहा है, जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से प्रगट है:—

प्रति १००० पुरुष पीछे स्त्रियां

	१९३१	१९४१	१९५१
मद्रास	१०२१	१००९	१००४
उड़ीसा	१०८७	१०६९	१०२३
ट्रावनकोर	....	....	१००८

१. P. K. Wattal—Population Problem of India.

२. यह अंक १९५१ की जनसंख्या के भारतीय जनतंत्र के हैं और अभी तक अस्थायी हैं। इनमें काश्मीर सम्मिलित नहीं है। १९०१ से लेकर १९४१ तक के अंक संयुक्त भारत के हैं, जिसमें भारत और पाकिस्तान दोनों थे।

भारत में महिलाएं कम होने का महत्त्वपूर्ण कारण महिलाओं की मृत्यु है। पिछले दिनों मद्रास, कलकत्ता और बम्बई में डाक्टरों द्वारा तीन विशेष जांच की गई थीं, जिनसे पता चला कि प्रति १००० नवजात बच्चों में से १६·६, २·४४ और ८·९ बच्चे मर जाते हैं। यह श्रृङ्खला अत्यन्त विस्तृत है। सर जान मेगा (Sir John Megaw) की गांवों की १९३३ की जांच से पता चला कि २४५ माताएं मर जाती हैं। भारत के पब्लिक हैल्थ कमिश्नर (Public Health Commissioner) ने बतलाया था कि भारत में प्रति १००० नवजात बच्चों में २० मर जाते हैं। इंग्लैण्ड तथा वेल्स के सब ताज़े अंक २·९[1] हैं। भारत और इंग्लैण्ड में इस भारी अन्तर से भारत में स्थिति की भयंकरता का पता चलता है और उसको दृष्टि में रखकर भारत को अपना मार्ग सुधारना चाहिए।

१२. जीवन की आयु। विदेशों की अपेक्षा भारत में उत्पन्न होने वाले बच्चे के कम आयु तक जीने की आशा की जाती है। अन्य देशों में जीवन के औसत काल को बढ़ा लिया गया है जबकि भारत में कुछ भी उन्नति नहीं हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में जीवन का मान नहीं बढ़ा। पौष्टिक आहार की कमी के कारण जीवन की आयु भी कम है। भोजन का परित्याग ही अपर्याप्त नहीं है, किन्तु उसमें योग्यता की भी कमी है। क्योंकि उसमें क्षार तथा विटामिन कम होते हैं। नीचे कई देशों के जीवन की आयु के तुलनात्मक अंक दिये जाते है, जिससे अध्ययन का अच्छा आधार मिलता है।

तालिका ६

प्रत्याशित आयु

न्यूजीलैण्ड	६७(१९३४-३८)	अमरीका	६५(१९४०-४१)
ब्रिटेन	६२(१९३७)	रूस(यूरोप)	४४(१९२६-२७)
जापान	४८(१९३५-३६)	ब्रिटिश भारत	२७(१९११)

ब्रिटेन ने दीर्घजीवन के विषय में अधिक उन्नति की है। १८९१ में उसकी औसत आयु ४४·१३ से बढ़कर १९३१ में ५५·६२ और १९३७ में ६२ हो गई। इससे यह भी पता चलता है कि ब्रिटेन के जीवनमान के उच्च होने के साथ साथ चिकित्सा की सुविधाओं में भी उन्नति हुई है। राष्ट्रसंघ (League of Nations) द्वारा एकत्रित किये हुए अंकों से पता चलता है कि संसार के सभी महत्त्वपूर्ण देशों में लोग भारत[2] की अपेक्षा अधिक जीने की आशा करते हैं। भारत में आयु इतनी अधिक कम होने का कारण बच्चों तथा माताओं की मृत्यु है। प्रायः अशिक्षित होने के कारण भारतीय लोग स्वास्थ्य, भोजन तथा सफाई के नियमों को कम जानते हैं। इसके अतिरिक्त देश का

---

१. Mr. Yeats Census Report, 1941, Vol. I., P. 24.
२. League of Nations' monthly Bulletin for December 1941.

जलवायु भी ऐसी महामारियों तथा बीमारियों के फैलने के लिए उपयुक्त है जो समशीतोष्ण भूमि में नहीं होतीं। भारत प्लेग, चेचक, हैजे तथा पेचिश के लिए सर्वाङ्ग सम्पन्न क्षेत्र है। गावों में जहां पानी कम मिलता है, आंतों के कृमि भी भयंकर काम करते हैं। इन सबके अतिरिक्त मलेरिया भी एक भयंकर समस्या है। "यह हजारों भारतीयों की जान ले लेता है और हजारों में से सैकड़ों की आर्थिक योग्यता को कम कर देता है।" इससे वर्षभर में लगभग दस लाख व्यक्ति मर जाते हैं और दस करोड़ के लगभग असमर्थ हो जाते है। यद्यपि इन रोगों के आतंक को कुछ कम कर दिया गया है और उससे जीवन की आयु को कुछ बढ़ना ही चाहिए, किन्तु जब तक हमारे जीवन का मान नहीं बढ़ता और हमें अधिक पौष्टिक आहार नहीं मिलता तबतक हम पश्चिम की बराबरी नहीं कर सकते।

भारत में वर्त्तमान कम आयु का केवल यह अर्थ है कि मानव जीवन को पालने के परिश्रम तथा व्यय का उसी परिमाण में बदला नहीं मिलता। लोग अपने जीवन के आरम्भ में ही, जिस समय वह समाज के हित का कुछ कार्य करना आरम्भ करते हैं, मृत्यु का ग्रास हो जाते हैं। इस प्रकार के मूल्यवान् जीवनों के छिन जाने के कारण भारत की गरीबी बनी ही रहेगी।

भारतीय परिस्थितियों की दूसरी विचित्रता यह है कि मनुष्य की अपेक्षा स्त्रियां और भी कम आयु तक जीवित रहती है। पुरुष की २६·९१ की आयु के मुकाबले स्त्रियों की आयु २६·५६ वर्ष ही होती है। जबकि अमरीका में पुरुषों की आयु ६३·६५ तथा स्त्री की ६८·६१ वर्ष की औसत आयु होती है। इसी प्रकार अन्य देशों में भी स्त्रियों की आयु पुरुषों की आयु की अपेक्षा अधिक होती है। भारत में भी अधिक जीवन के परिमाण में कुछ वृद्धि हुई है। १८८१ के २३·६३ से बढ़कर १९१३ में यह २७ वर्ष हो गया। किन्तु इसका कारण अधिक पौष्टिक आहार न होकर सार्वजनिक स्वास्थ्य की दशा में सुधार है।

१३. आयु के वर्ग। किसी देश की जनता की आयु का निर्माण पिरामिड के रूप में इस प्रकार प्रगट किया जा सकता है कि नवजात बच्चों को उसकी तली समझा जा सकता है। पैदा हुए सभी बच्चे जीवित नहीं रहते। ज्यों ज्यों हम पिरामिड के ऊपर चढ़ते जाते हैं संख्याएं कम होती जाती हैं, यहां तक कि पिरामिड चोटी की ओर अधिकाधिक तंग होता जाता है। पिरामिड की शक्ल देश में जीवित बच रहने वाले अनुपात को प्रगट करती है। संसारभर में केवल भारत में जन्म तथा मृत्यु का अनुपात सबसे अधिक है। अतएव भारतीय पिरामिड की तली अत्यन्त चौड़ी और चोटी अत्यन्त तीखी नुकीली होती है।

भारत में आयु के विभाजन का अध्ययन करने से पता चलता है कि भारत में बच्चों की संख्या वृद्ध स्त्री-पुरुषों की संख्या से बहुत अधिक होती है। भारत तथा पाकिस्तान में

उत्पन्न होने वाले प्रत्येक १००० लड़कों में से काम करने योग्य आयु[1] तक पहुंचने के लिए कुल ५४१ जीवित बचते हैं। उन ५४१ में से भी ६० वर्ष की आयु तक कुल १४ ही जीवित रहते हैं। इस प्रकार देश उनके अनुभव से कुछ भी लाभ नहीं उठा पाता। योरुप का मनुष्य ६० या ६५ वर्ष की आयु तक काम करता रहता है; जबकि भारत में उसको ५५ वर्ष की आयु में निकम्मा समझकर अवकाश दिया जाता है। इस प्रकार भारत में प्रभावकारी जनसंख्या का अनुपात बहुत कम है।

१४. जन्म तथा मृत्यु की दर। जैसा कि अगले पृष्ठ पर सातवीं तालिका में दिखलाया गया है, भारत जन्म तथा मृत्यु दोनों के विषय में संसार भर में अग्रणी है। भारत में विवाह की अधिक व्यापकता होने तथा विवाह के उर्वर होने के कारण जन्म संख्या अधिक रहती है। लोग अशिक्षित, अज्ञानी तथा अन्धविश्वासी होते हैं। वह अपने परिवार की संख्या बढ़ने पर जानबूझकर कोई नियंत्रण स्थापित करने योग्य नहीं होते। उनको बच्चों की असीमित संख्या में लालसा लगी रहती है, यदि वह लड़का ही होता रहे। उनके जीवन का मान इतना कम होता है कि उनको अपने परिवार की संख्या बढ़ने की कोई आर्थिक चिन्ता नहीं होती। किन्तु यदि अधिक पैदा होंगे तो अधिक ही मरेंगे भी। भारत में बाल-मृत्यु की संख्या अत्यन्त ऊंची है। प्रति १००० जीवित नवजात बच्चों में १९५० में १३७ मर गए, जबकि अमरीका में ३२, ब्रिटेन में ३६ और आस्ट्रेलिया में १९४८ में २८ मरे। भारत में अधिक बालमृत्यु होने का कारण बाल विवाह, मातृत्व के विषय में अज्ञानता, दोषपूर्ण धाय-प्रबन्ध, दूध का कम मिलना और बच्चों को दवा खिलाने का अभ्यास है। भयानक निर्धनता तथा अत्यधिक फैलने वाली और बार-बार आने वाली महामारियां भी हमारी संख्या को निर्दयता से घटा रही हैं। इस प्रकार माताओं का बड़ा भारी परिश्रम व्यर्थ जा रहा है।

भारत में १९४० तक जन्म संख्या प्रति १००० पर ३२ के रूप में स्थिर रही तो मृत्यु संख्या १९२० में ३१ से घटकर १९४० में २२ ही रह गई। १९४० से जन्म तथा मृत्यु दोनों की ही संख्या में कमी हुई है जैसा कि आठवीं तालिका से स्पष्ट है। तो भी प्रोफेसर ज्ञानचन्द का विश्वास है कि गांव के विश्वसनीय अंक न मिलने के कारण यह अंक अत्यन्त कम हैं और उनकी सम्मति में यह अंक क्रमश: ४८ और ३३ होने चाहिएं।[2] पश्चिम के देशों से तुलना करने पर यह अंक भी बहुत ऊंचे हैं, और यह प्रमाणित करते हैं कि इस देश में मानवी जीवन और शक्ति का कितने भयंकर रूप से अपव्यय किया जा रहा है।

---

१. भारतीय उपनिवेश में १९४७ में १४६ तथा १९४८ में १३१ शिशु-मृत्यु-अनुपात था।

२. Gyan Chand—India's Teeming Millions.

तालिका ७

जन्म तथा मृत्यु का अनुपात

देश	जन्म अनुपात	मृत्यु अनुपात	वर्ष
अमेरीका	२८·८	९·९	१९४८
ब्रिटेन	१८·१	१०·९	
कैनाडा	२६·९	९·३	
आस्ट्रेलिया	२३·१	१०·०	
फ्रांस	१८·०	१६·०	१९४०
जर्मनी	१७·०	११·०	
भारत	२५·५	१६·७	१९५१

बच्चों तथा माताओं की मृत्यु में क्रमिक ह्रास होने से गत दो दशाब्दियों में हैजे तथा प्लेग के कारण होने वाली मृत्यु संख्या भी घटी है, और इस बीच मृत्यु अनुपात के गिरने से और जन्म अनुपात के स्थिर रहने से जनसंख्या का बढ़ना अनिवार्य था। मृत्यु-संख्या में कमी के कारण जनसंख्या के आगे बढ़ जाने की संभावना है। इस शताब्दी के सन् ६० तक संख्या की शक्ल में तब तक कमी देखने को नहीं मिल सकती, जब तक सरकार जनसंख्या को परिमित करने की कार्यवाही के लिए पग न उठाये।

इंग्लैण्ड तथा वेल्स की जन्म तथा मृत्यु अनुपात की तालिका के अध्ययन से हमको पता चलता है कि उस देश में मृत्यु अनुपात के गिरने और जन्म अनुपात के ऐसे ही आन्दोलन के बीच में ७० वर्ष का समय लगा। भारत में मृत्यु अनुपात का गिरना सन् १९२१-३१ के समय से आरम्भ हुआ। इसी प्रकार जन्म अनुपात में भी गिरने की आशा करना तर्कहीन न होगा। जैसा कि १९४१ से आरम्भ होकर आगे देखने में आता है। प्रोफेसर कर्वे भारतीय जनसंख्या के विषय में अपनी पुस्तक में बतलाते हैं कि इंग्लैण्ड में शुद्ध जन्म अनुपात में वास्तविक गिरावट उसके भी पचास वर्ष बाद आरम्भ हुई, जब कि सम्पूर्ण जन्म अनुपात ने गिरना आरम्भ किया। इसलिए उनको भय है कि यदि अकाल और महामारियों ने हस्तक्षेप न किया तो भारत में इससे अधिक समय लगेगा।

१५. पुनः प्रसूति का विशुद्ध अनुपात। जन्म मृत्यु और वृद्धि के अटपटे अनुपात तथा भारतीय जनसंख्या के पुस्तकों में लिखे हुए समस्त योग पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। जब से आर० आर० कुर्कज़िस्की (R. R. Kuczynski) की गणना-प्रणाली द्वारा जनसंख्या की भावी वृद्धि का पता लगाने की प्रणाली चली है।

तालिका ८

जन्म तथा मृत्यु अनुपात

समय	प्रति १००० में जन्म अनुपात	प्रति १०००में मृत्यु अनुपात	प्रति१००० पीछे अमली शुद्ध अनुपात	प्रति १००० जीवित नवजात पीछे शिशु मृत्यु
१९०१-१०	३८	३४	४	..
१९११-२०	३७	३४	३	..
१९२१-३०	३५	२६	९	..
१९३१-४०	३४	२३	११	..
१९४१	३२	२२	१०	१५८
१९४२	२९	२१	५	१६३
१९४३	२६	२३	३	१६५
१९४४	२५·८	२४·५	१·३	१६९
१९४५	२८	२२	६	१५१
१९४६	२९	१९	१०[१]	१३६
१९४७	२७	२०	७[२]	१४६
१९४८	२५	१७	८[२]	१३०
१९४९	२६	१६	१०[३]	१२३
१९५०	२६	१७	९	१३७

हमको भावी संख्याओं के विषय में जन्म तथा मृत्युओं के प्रभाव के विषय में अधिक विचार मिलने लगा है। उसकी शैली है शुद्ध पुनरुत्पत्ति के अनुपात का हिसाब लगाना। यह विचार अत्यन्त सरल तथा विश्वसनीय है। अनुपात उर्वरता तथा मृत्यु के आधार पर लगाया जाता है, जिनको सदा रहने वाला समझा जाता है। १००० स्त्रियों के, उनके पुनः प्रसूति के समय में कन्याओं की संभावित संख्या का हमको पता लग जाता है, जो भारत में १५ से ४५ तक समझी जाती है, और इस परिणाम को मृत्यु संख्या की तालिका से ठीक कर लिया जाता है। स्पष्ट रूप से १००० माताओं के लिए १०००कन्याओं का विशुद्ध अनुपात जनसंख्या को उसके वर्त्तमान स्तर पर ही रखेगा। किसी भी रूप में अन्तर आने से भावी संख्याओं में वृद्धि या ह्रास होगा।

हमारी कठिनाई यह है कि भारत के पुनः प्रसूति के अनुपात का अनुमान लगाने के लिए हमारे पास अंक नहीं हैं। राष्ट्रीय योजना कमेटी की रिपोर्ट में इस अनुपात को भारत के लिए निकालने का यत्न किया गया है। "भारत में प्रसव की आयु वाली प्रति

१. पूर्वी पाकिस्तान को छोड़ कर।

२. केवल भारतीय उपनिवेश के ही लिए।

३. १९४९ से आगे केवल भारतीय जनतंत्र के लिए।

१००० स्त्रियों के कुल ४,५४२ कन्याएं उत्पन्न होंगी। किन्तु जीवन तालिका के अनुसार प्रत्येक १००० नवजात जीवित कन्याओं में से कुल ५२४ कन्याएं ही प्रसव आयु अर्थात् लगभग २० वर्ष की आयु तक जीवित बचती हैं। इस प्रकार मृत्यु संख्या के द्वारा जन्म संख्या ४,५४२ से घटकर कुल १,७६२ ही रह जाती है। फिर एक सहस्र माताओं का स्थान १,७६२ नवजात कन्याएं ले लेंगी। इनमें ३०८ विधवाएं तथा अविवाहिता रहेंगी। इस प्रकार १००० माताएं फिर १,४५४ भावी माताओं को जन्म देंगी और इस प्रकार भारत के लिए पुनः प्रसूति का वास्तविक अनुपात १·४५४ होगी।"[1] इसके मुकाबले जापान में १·४९५ तथा रूस में १·७० होती है।

प्रोफेसर बृजनारायण ने भी १९४१ की जनसंख्या रिपोर्ट से पुनः प्रसूति के समस्त तथा वास्तविक दोनों प्रकार के अनुपातों का हिसाब लगाया है।

वह पुनः प्रसूति की आयु १५ वर्ष से लेकर ५० वर्ष तक लेते हैं और भारत के लिए समस्त पुनः प्रसूति की औसत २·६५ तथा वास्तविक पुनः प्रसूति की औसत १·१९ अनुमानित करते हैं।

तब हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि हमारी जनसंख्या निःसन्देह बढ़ने वाली है। किन्तु वह भयंकर रूप से उस प्रकार नहीं बढ़ती, जैसाकि कुछ लोगों ने कहा है। यहां तक कि १·४५४ का वास्तविक पुनः प्रसूति अनुपात नीचे लिखे अनुसार कुछ विदेशों के साथ तुलना की जाती है—

रूस	१९२८	१·७०
जापान	१९२५	१·४९५
भारत	१९३१	१·४५४
इटली	१९२१-२२	१·४०
इंग्लैण्ड और वेल्स	१९२१	१·०८७
फ्रांस	१९३३	०·८२

१६. भारत में जनसंख्या की समस्या। भारत की जनसंख्या की समस्या की तुलना यूरोप तथा अमरीका की समस्या के साथ करने से अच्छी शिक्षा मिलेगी। वास्तव में अमरीका, कैनेडा और आस्ट्रेलिया, अर्जेनटाइना अथवा अन्य नए देशों में जनसंख्या की कोई समस्या नहीं है। यह देश अभी नए हैं और उनमें जनसंख्या का घनत्व अभी हल्का है। अतएव जन्म तथा मृत्यु के आंकड़ों में बड़ा अन्तर होने पर भी उनके लिए कोई बात नहीं है, क्योंकि वह अपने यहां बढ़ी हुई संख्या को आसानी से पचा सकते हैं।

भारत की स्थिति से यूरोप की स्थिति भिन्न है। गत महायुद्ध के समय और उसके पूर्व भी यूरोप के सभी देश अपनी अपनी जनसंख्या को बढ़ाने का यत्न कर रहे थे।

---

१. N. P. C. Series—Population, pp. 29-31.

ब्रिटेन के दार्शनिक तो इस बात पर भारी चिन्ता प्रकट कर रहे थे कि वहां इच्छित अनुपात पर जनसंख्या नहीं बढ़ रही थी। उनको भय था कि नवजात शिशुओं की संख्या भविष्य में और भी कम हो जायगी। फ्रेंच सरकार ने जनसंख्या बढ़ाने के लिए कुछ बड़े परिवारों को शिक्षा, करभार तथा रेलवे के भाड़े में सुविधाएं दी थीं, किन्तु उनका कुछ भी परिणाम नहीं निकला। १९४० में मोशिये पेतां (M. Petain) ने अत्यन्त दुःखपूर्वक कहा था कि "फ्रांस की आपत्ति का कारण उसमें नवजात शिशुओं की संख्या का अत्यधिक कम होना है।" इसी प्रकार के कारणों से हिटलर ने भी जर्मनी में जन्मसंख्या बढ़ाने के लिए डिक्टेटरी प्रणालियों को अपनाया था। उसने इस उद्देश्य के लिए आग्रह तथा अनिवार्यता दोनों को सफलतापूर्वक मिला दिया। मुसोलिनी भी हिटलर के चरणचिह्न पर ही चला और उसने गर्भपात तथा गर्भनियंत्रण के लिए सज़ा का विधान किया। यद्यपि सन् १८७० से लेकर १९३० तक इन देशों में भारत की अपेक्षा भी अधिक उच्च अनुपात पर जन-संख्या बढ़ रही थी, जैसा कि नीचे की तालिका से प्रगट है तथापि इन देशों ने इस तथ्य पर बिल्कुल ध्यान न देते हुए अपने अपने देश की जनसंख्या बढ़ाने के उपाय किये—

देश	जनसंख्या दस लाखों में		६० वर्षों में प्रतिशत वृद्धि
	१८७० में	१९३० में	
जर्मनी	४१	६४	५६
इटली	२७	४१	५२
फ्रांस	३७	४०	८
इंग्लैंड और वेल्स	२३	४०	७४
यूरोप	३०८	५०६	६४
भारत	२६५	३५३	३३

निःसन्देह यूरोप में जनसंख्या स्थिरता से बढ़ती गई, किन्तु वहां जीवनमान नहीं गिरा। इसके विपरीत वहां मौलिक उन्नति की प्रणालियों को और तेज़ कर दिया गया। इस प्रकार आज यूरोप में सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा अधिक समृद्धि है। अकाल तथा महामारियां तो वहां भूतकालीन स्मृतिमात्र रह गई हैं। प्रकृति जनसंख्या की वृद्धि में कोई विध्यात्मक नियंत्रण नहीं लगाती। जीवनमान के ऊपर जाने के साथ साथ जन्म अनुपात में कमी होती ही है। यह कमी इतनी अधिक होती है कि फ्रांस और आस्ट्रेलिया जैसे कुछ देशों में कुछ वर्षों में पुनः प्रसूति की वास्तविक औसत एक से भी कम हो गई।

भारत के सम्बन्ध में विचार करने पर हम देखते है कि यहां जनसंख्या की समस्या बिल्कुल ही दूसरे ढंग की है। गत पचास वर्षों में यहां ५२ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इस शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियों में वृद्धि की औसत कुछ कम रही है। किन्तु १९२२

से लेकर १९५२ तक के तीस वर्षों में वह कम से कम ३९ प्रतिशत बढ़ी है। जनसंख्या में इस क्रमिक वृद्धि का कारण जन्म संख्या की वृद्धि न होकर मृत्यु संख्या में कमी है। १९५० में जन्म संख्या की औसत २५·५ तथा मृत्यु संख्या की औसत १६·७ थी। जबकि इस शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियों में वह क्रमशः ३८ तथा ३४ थी। यह हो सकता है कि जन्म संख्याओं की सूचनाएं कम आई हों किन्तु गत २५ वर्षों के अंक पर्याप्त कमी प्रगट कर रहे हे। तथ्य यह है कि जन्म की औसत में कमी हुई है। किन्तु मृत्यु की औसत में उससे भी अधिक कमी हुई है। मृत्युसंख्या की औसत में इस कमी का कारण है चिकित्साविज्ञान में उन्नति का होना, जिसने रोगों के नष्ट करने के साथ रोगनिवारक नई नई औषधियों का भी आविष्कार करके सहस्रों व्यक्तियों की जान बचाई। इसलिए यह संभव है कि आगामी कुछ वर्षों में जनसंख्या बराबर बढ़ती जायगी।

इसके विपरीत भारत में इन वर्षों में जीवनमान ऊंचा नहीं हुआ। पेशों की रचना में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय आय कमेटी बतलाती है कि १९४९ में ६८·२ प्रतिशत जनता कृषि कार्यों में लगी हुई थी। १९११ में यह संख्या ७१ प्रतिशत थी। इसके अतिरिक्त प्रति व्यक्ति द्वारा बोई हुई भूमि का औसत १९११-१२ में ०·८८ एकड़ से घट कर १९४८ में ०·७१ एकड़ हो गया। औद्योगिक क्षेत्र में भी कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। आज (१९५१ में) संगठित-उद्योग धन्धों में लगे हुए समस्त मज़दूरों की संख्या २० लाख ४० हज़ार से अधिक नहीं है। जनसंख्या के भूमि पर दबाव को कम करने के लिए उद्योग-धन्धों की उन्नति की औसत में भी पर्याप्त तेज़ी नहीं आई। इस प्रकार इसमें सन्देह नहीं कि भारत की आर्थिक व्यवस्था बहुत समय तक समग्र रूप में उत्पादन के निम्न स्तर पर चलती रही और उसके अनिवार्य परिणाम-स्वरूप खपत भी कम हुई। अतएव प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में कोई उन्नति नहीं हुई।

निश्चय ही भारत के पास ठोस साधन हैं। यह भी संभव है और संभवतः यदि वर्त्तमान विज्ञान तथा उसकी कार्यप्रणाली का ठीक ठीक उपयोग किया गया तो देश की उत्पादक योग्यता को बढ़ाया जा सकेगा। किन्तु यह बिलकुल स्पष्ट है कि वर्त्तमान परिस्थितियों में उत्पादन में वृद्धि से भारत की अर्थ-व्यवस्था पुष्ट न होकर निर्बल होगी। भारत की वर्त्तमान औसत से बढ़ती हुई जनसंख्या सुगमता से देश में बढ़े हुए उत्पादन को ले लेगी और कुछ वर्षों में ही इस समस्या को फिर इसी भयंकर रूप में उपस्थित कर देगी। अतएव यह बहुत आवश्यक है कि इस देश में संख्या को सीमित कर दिया जाय और एक योजनाबद्ध जनसंख्या-नीति का अनुसरण किया जाय। जबतक जन्मसंख्या की औसत को नहीं घटाया जायगा, जनसंख्या इससे भी अधिक औसत पर बराबर बढ़ती रहेगी। क्योंकि बच्चों तथा प्रसूति के लिए अधिक सुधरी हुई चिकित्सा-सुविधाएं देश को बराबर दी जा रही हैं। यह निश्चित है कि चिकित्सा सम्बन्धी अधिक उत्तम सुविधाएं मिलते रहने के कारण मृत्युसंख्या की औसत में भी कमी होगी

और यदि जन्मसंख्या की औसत को कम न किया गया तो जनसंख्या बहुत शीघ्र गति से और भी बढ़ेगी।

डाक्टर कुर्कज़िस्की (Dr. Kuczynski) ने यह दावा किया है कि उद्योग-प्रधान देशों की जन्मसंख्या धीरे धीरे कम होने लगती है? डाक्टर चार्ल्स (Dr. Charles) भी यह तर्क उपस्थित करता है। उसका कहना है कि "ब्रिटेन में लगातार होने वाले जनसंख्या के ह्रास को किसी प्रकार नहीं रोका जा सकता।" यह कमी किसी आपत्ति के कारण नहीं है और न इस बात की कोई साक्षी है कि ब्रिटेन-निवासियों में कोई शारीरिक नपुंसकता उत्पन्न हो गई है। प्रोफेसर हेरॉड (Prof. Herrod) की सम्मतिमें ब्रिटेन में जनसंख्या की इस कमी के दो मुख्य कारण हैं। इनमें से एक समृद्ध तथा सुख सुविधा स्तर का उच्च होना है। इसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन के माता-पिता बेबी लड़के अथवा लड़की के स्थान पर बेबी ऑस्टिन (छोटी मोटरकार) लाना अधिक पसन्द करते है, क्योंकि मोटर से उनको अधिक आराम मिलता है जबकि बच्चे उनके आर्थिक भार को बढ़ाते हैं। जनसंख्या में कमी का दूसरा कारण गर्भ-निवारक प्रभावशाली उपायों के उपयोग को बतलाया जाता है। माताएं अधिक बच्चे उत्पन्न करने के दबाव को सहन करने को तैयार नहीं हैं। वे गर्भनियंत्रण प्रणालियों का उपयोग करती है और इस प्रकार अच्छा पहनती तथा अच्छा खाती पीती रहती है।

भारत जैसे निर्धन देश में, जहा जीवनमान अत्यन्त नीचा है, इस प्रकार के उपायों का अवलम्बन नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त किसी देश का जीवनमान ऊंचा होने के कुछ वर्षो के बाद ही उसकी जनसंख्या में कमी होनी आरम्भ होती है। भारत अपनी वर्त्तमान स्थिति में जनसंख्या घटने के लिए वर्षो तक बैठा नहीं रह सकता। यह अत्यन्त आवश्यक समस्या है और देश जनसंख्या के स्वयं घटने के अवसर की प्रतीक्षा नही कर सकता। अतएव, हमें तत्काल ही जनता में इस बात का प्रचार करके उसकी सम्मति को बदलना चाहिए कि वह जनसंख्या पर स्वयं ही रोक लगाये। प्रथम पंचवर्षीय योजना के संक्षिप्त वर्णन में कहा गया है, "इस बात का सामाजिक आन्दोलन किया जाना चाहिए कि प्रत्येक परिवार अपने ऊपर स्वयं पाबन्दी इस प्रकार लगाए कि प्रत्येक परिवार इसमें स्वयं पहल करे और इस विषय में लोकमत को जाग्रत किया जाय।" हमारा यह विश्वास है कि राज्य को भी अनेक चिकित्सा-गृह खोलकर इस बात की शिक्षा तथा सम्मति उन सबको देनी चाहिए, जो लेना चाहें। यह भले ही सामाजिक अथवा आर्थिक कारणों से किया जाय। इसके अतिरिक्त गर्भनियंत्रण की ऐसी प्रणालियों को मालूम करने के लिए अनुसंधान-केन्द्र खोले जाँय जो सभी वर्गो की जनता के अनुकूल एवं अनुरूप हों। यह आवश्यक नही कि ऐसी प्रणालियां गर्भनिवारक ही हों, जो कोई भी उपाय उपयोगी पाया जाय,

उसका प्रचार किया जाय। कुछ वर्षों में जब जीवनमान ऊंचा हो जायगा तो यूरोपीय देशों के समान जन्म-अनुपात अपने-आप कम हो जायगा और हमारी समस्या हल हो जायगी।

१७. क्या भारत में जनसंख्या की अति है ? 'क्या भारत में अति जनसंख्या है ?' यह प्रश्न बार-बार किया जाता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमको यह जानना चाहिए कि अति जनसंख्या का वास्तव में अभिप्राय क्या है। प्रत्येक देश के लिए एक ऐसी आदर्श संख्या उसके निवासियों की होती है, जिनके स्वास्थ्य तथा योग्यता की वह ठीक तौर से रक्षा कर सके। यह संख्या स्वेच्छापूर्वक तय नहीं की जाती। इसका सम्बन्ध उस देश के आर्थिक साधनों और उनके विकास के परिमाण से होता है। यदि साधनों को पूर्णतया विकसित नहीं किया जाता तो छोटी-सी जनसंख्या भी अधिक मालूम देती है। किन्तु यदि उनको ठीक तौर से विकसित कर लिया जाता है तो उससे अधिक जनसंख्या को अच्छी तरह से पुष्ट किया जा सकता है।

कुछ ऐसी संख्या होती है जो देश के साधनों को उसके अधिकतम लाभ में परिवर्तित कर सकती है। यदि यह संख्या औसत से कम होती है तो प्रति व्यक्ति आय उससे कम होगी, जो वह इससे विपरीत परिस्थिति में होती, क्योंकि वहां के साधनों को विकास करने वालों की संख्या कम है। ऐसी दशा में यह मामला निम्न जनसंख्या (Under-Population) का बन जाता है। उसके विपरीत यदि उस देश में अत्यधिक व्यक्ति ऐसे हों तो साधन बहुत हल्के रूप में फैल जायगे। ऐसी दशा में भी प्रति व्यक्ति आय उससे कम होगी, जैसी वह होनी चाहिए थी। ऐसी दशा में वह अति जनसंख्या (Over-Population) का मामला बन जायगा।

कभी कभी अति जनसंख्या की दशा तथा अति जनसंख्या के रुझान में अन्तर कर दिया जाता है। अति जनसंख्या की दशा में देश में पहले से ही जनसंख्या अत्यधिक होती है और उसकी प्रति व्यक्ति आय उससे कम होती है, जैसी कि होनी चाहिए थी। ऐसी दशा में जनसंख्या में किसी प्रकार की भी कमी होने पर प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी। किन्तु यदि देश की जनसंख्या ऐसी स्थिति में बढ़ती हो, जबकि उसकी प्रति व्यक्ति आय कम हो रही हो, तो उसे अति जनसंख्या की प्रवृति (Tendency) कहते हैं।

भारत के विषय में अनेक प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। कुछ का विचार है, भारत में अति-जनसंख्या नहीं है। क्योंकि उसकी जनसंख्या का घनत्व यूरोप के अनेक देशों से नीचा है और उसके प्राकृतिक साधन बहुत अधिक हैं। यह अनुमान नहीं, वरन् आभास (Fallacious) है। निस्सन्देह, हमारे प्राकृतिक साधन बहुत अधिक हैं, किन्तु उनसे उचित रूप में लाभ प्राप्त नहीं किया जा सका है। यह देखने के लिए कि किसी देश में अति-जनसंख्या है अथवा नहीं, हमको उसके प्राकृतिक साधनों पर अस्तित्व

की दृष्टि से विचार न करके वास्तविकता की दृष्टि से विचार करना चाहिए। जिस परिमाण में हमारे साधनों को विकसित किया गया है, उस दृष्टिकोण से तो हमारी वर्त्तमान जनसंख्या भी भारत के ऊपर एक बोझा है। अधिक घनत्व वाले देश हमसे अधिक विकसित हैं और उस संख्या की अपेक्षा, जो हम अपने त्रुटिपूर्ण ढंग से विकसित साधनों से अपने यहां खपा सकते हैं, वह कहीं अधिक संख्या को अपने देश में खपा सकते हैं। यह विश्वास करने के कारण हैं कि यदि हमारी संख्या कम होती तो भारत की प्रति व्यक्ति आय आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंची होती। अधिक संख्या कुछ नहीं कमाती। यदि कभी भारत प्रति एकड़ अधिक अन्न पैदा करने लगे, अपने कारखानों में कम लागत पर अधिक माल बनाने लगे और अपनी खानों से अधिक खनिज द्रव्यों को खोदकर उनका अधिक पूर्णता के साथ उपयोग करने लगे तो वह निश्चय से अधिक उच्च जीवन-मान पर अब की अपेक्षा कहीं बड़ी जनसंख्या को अपने अन्दर खपा सकेगा। आज उसके वर्त्तमान औद्योगिक तथा कृषि साधनों को दृष्टि में रखते हुए उसके पास उससे अधिक जनसंख्या है, जितनी वह उचित रूप से अपने यहां खपा सकता है।

दूसरे, यह कहा जाता है कि हमारी राष्ट्रीय आय के प्रत्येक बाद के अनुमान में हमारी प्रति व्यक्ति वृद्धि को दिखलाया जाता है। उसको दृष्टि में रखते हुए अति-जनसंख्या कैसे हो सकती है ? हम यह बतला कर इस तर्क को सुगमता से काट सकते हैं कि प्रति व्यक्ति वृद्धि इतनी कम है कि वह नहीं के बराबर है। यह हो सकता है कि वास्तविक आय बिल्कुल ही न बढ़ी हो। राष्ट्रीय द्रव्य की आय बढ़ती रही है किन्तु जनसंख्या भी बढ़ती रही है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का भाग उससे कम है, जितना वह होना चाहिए था।

तीसरे, यह बताया जाता है कि भारत में श्रमिक कम हैं। एक अति-जनसंख्या वाले देश में यह कमी कैसे हो सकती है ? यह कहा जा सकता है कि हमारे यहां अशिक्षित मज़दूरों की कमी नहीं है वरन् शिक्षित मज़दूरों की कमी है। हमारे यहां औद्योगिक मज़दूरों को सिखाने की सुविधा के निन्दनीय अभाव को दृष्टि में रखते हुए उनकी कमी आश्चर्यजनक नहीं है। वास्तव में बहुत कम उद्योग-धन्धों को मज़दूरों की कमी का मुकाबला करना पड़ता है। भारत में उच्च-कोटि के शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों की वास्तव में कमी है।

अतएव भारत में अति-जनसंख्या होने का विरोध करने वालों के तर्कों में अधिक बल नहीं है।

डारविन जैसे वैज्ञानिकों ने शीघ्रतापूर्वक प्रगुणित होते रहने वाले विश्व नियम पर, जैसा कि वह जीवित प्राणियों पर लागू होता है, अधिक बल दिया है। डारविन के अनुसार "प्रत्येक प्राणी स्वाभाविक रूप से इतनी अधिक शीघ्र गति से बढ़ता है कि यदि उसे नष्ट न किया जाय तो सारी पृथ्वी एक अकेले जोड़े की सन्तान से ही भर जाय।"

मनुष्य भी इस व्यापक नियम का अपवाद नहीं है। यह अनुमान लगाया गया है कि एक अकेला जोड़ा वृद्धि की वर्तमान गति से १७५० वर्षों में इतनी अधिक सन्तान उत्पन्न कर सकता है, जितनी आज समस्त विश्व की जनसंख्या है। प्रकृति की प्रसवता इतनी अधिक है। इस प्रकार के अध्ययन के फलस्वरूप ही मालथस (Malthus) इस परिणाम पर पहुंचा कि जब तक जनसंख्या के बढ़ने को न रोका जायगा, वह जीवित रहने के साधनों को भी समाप्त कर देगी। जहा तक पश्चिमी देशों का सम्बन्ध है, मालथस एक सच्चा पैग़म्बर सिद्ध नही हुआ। किन्तु यह सिद्धान्त भारत पर लागू होता हुआ दिखलाई दे रहा है।

इसके अतिरिक्त यदि हम यह दिखला सकें कि भारत की जनसंख्या बिना प्रतिरोध के बढ़ती रही है तो हमको भारत मे अति-जनसंख्या होने के पक्ष में प्रबल तर्क मिल जायगा। इस उद्देश्य के लिए हमको यह देखना होगा कि मालथस द्वारा सोचे हुए विभिन्न प्रतिरोध किस परिमाण में कार्य कर रहे हैं। यूरोप में कुंवारे स्त्री-पुरुषों की संख्या बहुत अधिक है। किन्तु भारत में विवाह प्रायः सबको ही करना पड़ता है। भारत में विवाह एक धार्मिक आज्ञा है। यहां अविवाहित स्त्री-पुरुष की सामाजिक रूप से निन्दा की जाती है। अतएव यहां प्रत्येक व्यक्ति विवाह करता है। यदि प्रत्येक विवाह मे कम बच्चे पैदा किये जाँय तो यह आवश्यक नही कि विवाह के सार्वजनिक प्रचलन से यहां जनसंख्या बढ़ती ही रहे। बड़ी आयु में विवाह करने, स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करने अथवा गर्भनिवारक उपायों के उपयोग से कम सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। किन्तु भारत में बहुत छोटी आयु में विवाह कर दिया जाता है और उसको रोकने का कोई प्रयत्न नही किया जाता। इसके विरुद्ध अधिक संख्या बच्चे पैदा करने को उत्सुक रहती है और उसका वास्तव में यह विश्वास है कि "जिसने मुख दिया है वह उसके लिए भोजन भी देगा।" जनसंख्या में इच्छापूर्वक प्रतिबन्ध सबसे अच्छा विवाह न करने से ही हो सकता है।

किसी समय भारत में कन्याओं की पैदा होते ही हत्या कर दी जाती थी और इससे जनसंख्या नहीं बढ़ने पाती थी, किन्तु आज कोई भी बुद्धिमान् जनसंख्या को रोकने के लिए इस अपराधी प्रणाली का उपदेश देना पसन्द नहीं करेगा। इस बात की सभी समाज सुधारकों को प्रसन्नता है कि भारत के मुख से यह कलंक का धब्बा मिट गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मालथस का बतलाया हुआ प्रतिबन्धक निवारण भारत में काम नहीं करता। इसके विपरीत अकाल तथा महामारी जैसे विध्यात्मक नियंत्रक पूरी तरह से अपना काम कर रहे हैं। मालथस ने चेतावनी दी है कि यदि प्रतिबन्धक निवारक उपायों द्वारा जनसंख्या के बढ़ने को न रोका गया तो देश में जनसंख्या अत्यधिक बढ़ जायगी और उसकी संख्या को कम करने के लिए विध्यात्मक नियंत्रक अपना काम करने को घुस आवेंगे। कम मृत्यु संख्या के मुकाबले अधिक जन्म संख्या का

अस्तित्व यह प्रकट करता है कि जनसंख्या शीघ्रतापूर्वक बढ़ रही है। डाक्टर हटन (Dr. Hutton) ने १९३१ में कहा था कि "इस देश की जनसंख्या के गम्भीरता-पूर्वक बढ़ने की ओर पहले ही ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। वृद्धि के वास्तविक अंक ३ करोड़ ४० लाख से कुछ ही कम है। यह संख्या इटली और फ्रांस की सम्मिलित जनसख्या के बराबर है।" इसी प्रकार मिस्टर यीट्स (Mr. Yeats) १९३१ से ४१ तक के दस वर्षो में पांच करोड़ की वृद्धि की बात करते हैं। यह वृद्धि जर्मनी तथा रूस के अतिरिक्त यूरोप के किसी भी देश की समस्त जनसंख्या से अधिक है। यद्यपि १८९१ से लेकर १९४१ तक के बीच में वृद्धि का प्रतिशत अनुपात कुल ३९ था, जिसे कुछ अधिक नही कहा जा सकता और जो इंग्लैंड, जर्मनी आदि से कही कम है, किंतु समस्त संख्या पर दृष्टि डालने से भय लगता है। क्या वास्तव में मालथस का कहना गलत था ? बच्चों तथा माताओं की मृत्यु की अधिक संख्या की औसत,जीवन की छोटी आयु तथा प्रति व्यक्ति कम आय इस तथ्य के पर्याप्त चिह्न है कि देश में जनसंख्या उसकी आवश्यकता से अधिक है। जनसंख्या की समस्याओं के डाक्टर आर. के. मुकर्जी, मिस्टर पी. के. वात्तल (Mr. P. K. Wattal) तथा प्रोफ़ेसर ज्ञानचन्द जैसे विद्वानों को यह विश्वास है कि भारत की जनसंख्या उसके अन्न की पूर्ति के परिमाण से बढ़ती जाती है। १९४३ का बंगाल का अन्न-सकट तथा विदेशों से अन्न का लगातार आयात इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि भारत अपनी वर्त्तमान संख्या को नही खिला सकता। इस संख्या को रोकने के लिये कोई इच्छापूर्वक प्रयत्न नहीं किया गया। देश में संक्रामक बेरोजगारी है। यह सब तथ्य उत्पादन की अपेक्षा निश्चित रूप से अति-जनसंख्या की ओर संकेत कर रहे हैं। "भारत में जन्म और मृत्यु कृषि तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य की दशाओं पर निर्भर करते है। पश्चिम को इस प्रणाली का पता नहीं है। पश्चिमी देशों में आयु का निर्माण प्रायः स्थिर होता है, वह पुनः प्रसूति की औसत से शासित होता है। मृत्यु की वहां प्रायः उपेक्षा की जाती है। इसके विरुद्ध भारत में सभी इच्छाओं तथा उद्देश्यों के लिए पुनः प्रसूति मानवी नियमभंग से नहीं रुकती और फसल की दशाएं छोटी-छोटी आयु के विभिन्न वर्ग बनाने का कारण बन जाते हैं।"[1] इसके परिणामस्वरूप वहां की भूमि पर जनसंख्या का दबाव लगातार बढ़ता जाता है। भारत में अपर्याप्त पोषण अत्यन्त व्यापक रूप में है और लाखों व्यक्ति अर्द्ध मानव स्तर पर जीवन व्यतीत करते है। अतएव बहुत कम अर्थशास्त्री ऐसे है जो गम्भीरता से सोचते है कि भारत में अति-जनसंख्या है।

१८. प्रस्तावित उपाय। अतएव हम यह मान लेते है कि भारत में अति-जनसंख्या है और हम उसके लिए प्रस्तावित विभिन्न उपायों पर विचार करते हैं।

(क) **पारिवारिक योजना**—संख्या में अधिक वृद्धि होते रहने पर भी लोग पारिवारिक योजना की गंभीर आवश्यकता को नहीं समझते, अधिक उत्तम चिकित्सा

१. N.P.C. Series—Population, P. 33.

सुविधाओं, महामारियों के ऊपर पहले से अधिक नियन्त्रण तथा निर्धन से निर्धन व्यक्तियों के लिए भी अन्न मिलने की व्यवस्था के कारण मृत्यु संख्या क्रमशः घटती जा रही है। जबतक जन्मसंख्या की औसत को इच्छापूर्वक कम न किया जायगा, यह भारी वृद्धि होती ही रहेगी। अतएव पारिवारिक योजना एक आवश्यक तथा तात्कालिक आवश्यकता है। इससे न केवल जनसंख्या की वृद्धि रुकेगी वरन् माताओं एवं बच्चों का स्वास्थ्य भी सुधर जायगा और बाल मृत्यु की संख्या कम हो जायगी। इस समय "पृथ्वी को मोटा करने के लिए सहस्रों जन्म लेते हैं, किन्तु पृथ्वी उनको मोटा नहीं कर सकती।" यह एक अत्यन्त फलदायक प्रणाली है और अपने साथ कष्ट एवं प्रसव-वेदना लाती है और उसके परिणाम-स्वरूप दरिद्रता बढ़ती है। दरिद्रता से सन्तान बढ़ती है और उससे दरिद्रों की संख्या और भी अधिक बढ़ती है। इस व्यापक वृत्त को सफलतापूर्वक रोक द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। इस प्रकार की रोक के परिणामस्वरूप जीवनमान का स्तर ऊंचा होगा और उससे स्वयं ही जनसंख्या का बढ़ना बन्द हो जायगा। परिवार को सीमित करने के पक्ष में प्रचार करना बहुत आवश्यक है क्योंकि इससे व्यक्तियों को स्वयं कुछ करना पड़ेगा और इससे सामाजिक जागृति भी बढ़ेगी। इसमें सरकार को भी कीटाणुओं को मारकर संशोधन करने तथा गर्भनिरोधक उपायों के सम्बन्ध में आतुरालयों के द्वारा सहायता तथा परामर्श देना होगा।

संख्या को घटाने के लिए यह भी प्रस्ताव किया गया है कि विवाहित दम्पति ब्रह्मचर्य से रहें और इच्छापूर्वक अलग अलग रहें। मानवी प्रकृति के स्पष्ट होने के कारण यह आशा नहीं की जा सकती कि इस प्रस्ताव का कोई कार्यकारी परिणाम निकलेगा। इस विषय में केवल गर्भनिवारक उपायों से ही ठोस परिणाम निकल सकता है। यह कहा जाता है कि उनके उपयोग से मिश्रण को प्रोत्साहन मिलेगा, वह उपयोग करने वाले को हानिप्रद भी हैं और निर्धन व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर भी। किन्तु इन आपत्तियों के होते हुए भी यह आवश्यक है कि सरकारी खर्चे से इस प्रकार के आतुरालय (Clinics) खोले जाँय, जिनमें उन सबको परामर्श दिया जाय, जो उसकी सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से आवश्यकता अनुभव करें। आरम्भ में इस ज्ञान का दुरुपयोग भी हो सकता है किन्तु 'बच्चों की बाढ़' के रुक जाने से इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होगा। परिवारों को तर्कपूर्ण अनुपात में रखने के लिए उसके समान प्रभावशाली दूसरा उपाय नहीं है। भारत सरकार के भूतपूर्व सदस्य सर आरदेशर दलाल ने १९४५ में अपने भाषण में कहा था कि भारत के आर्थिक उत्पादन और राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए गर्भनियन्त्रण की नीति को अपनाने की आवश्यकता है। जन्म नियन्त्रण की प्रसिद्ध अमरीकन विशेषज्ञ मिसेज़ मारगेटेट सैंगर (Mrs. Margatet Sanger) ने भारत की जन्मनियन्त्रण की आवश्यकता पर आलोचना करते हुए कहा था, "यदि भारत में जन्मनियत्रण के बिना जीवनमान के स्तर को उठाने और जनता की

प्रति व्यक्ति आय को बढ़ान का यत्न किया गया तो इसमें उसे पूर्णतया असफल होना पड़ेगा।" प्रोफ़ेसर ज्ञानचन्द्र ने भी यह प्रस्ताव किया है कि आतुरालयों तथा प्रचार द्वारा जन्म संख्या में कमी करने के उपरान्त ही देश अधिक उत्पादन कर सकेगा।

गर्भनिवारक उपायों के सम्बन्ध में केवल एक प्रबल आपत्ति यह हो सकती है कि उनका उपयोग बुद्धिमान तथा बलवान ही कर सकते हैं। अज्ञानी तथा निर्बलों को तो संख्या बढ़ाने को फिर भी छोड़ दिया जायगा। भारत में यह खतरा कम है, क्योंकि यहां सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा अत्यन्त प्रबल है। हमको यह पाठ बतला दिया गया है या तो "योजनामय बनो अथवा मर जाओ"। जीवन के किसी कार्य की, भले ही वह सामाजिक अथवा आर्थिक हो, सुगमता से उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतएव सरकार को इस आवश्यक समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए।

मनुष्य वंश उन्नति विज्ञान (Eugenics) अभी अत्यन्त आरंभिक दशा में है। अभी भारत के लिए उसका प्रयोग जन-प्रिय नहीं होगा। व्यक्ति विशेष आग्रह के बिना अपनी स्वतन्त्रता छोड़ने के लिए तैयार न होगा, जिस पर कि समाज की वर्त्तमान रचना में गंभीरता से विचार नहीं किया जा सकता। तो भी इसमें कोई हानि नहीं है कि जिन व्यक्तियों को मूत्र रोग हों अथवा जिनका मस्तिष्क ठीक न हो, उनको सन्तान उत्पन्न करने योग्य न रहने दिया जाय।

भारत के विभाजन के कारण भारत की जनसंख्या को जानबूझ कर घटाने का अवसर बढ़ गया है। भारत एक धर्मतटस्थ (Secular) राष्ट्र है। यहां धर्म के आधार पर राजनीतिक सत्ता हस्तगत करने का युद्ध समाप्त हो गया। अतएव जन-संख्या की योजना के मार्ग में वर्गीय विचार बाधक नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त भारत में सम्मिलित निर्वाचन प्रणाली (Joint Electorate) लागू हो जाने से किसी भी एक समाज के लिए अपनी संख्या के बल पर राजनीतिक सत्ता हस्तगत करना असम्भव हो गया है। अतएव शिक्षा के बढ़ने के साथ साथ इस बात का सभी को अनुभव होगा कि अनियन्त्रित जनसंख्या के बढ़ते रहने से कोई लाभ न होकर देश को हानि ही पहुंचेगी।

संख्या में कमी का उपाय विवाह के स्थगित करने को भी बतलाया गया है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिक आयु में, निःसन्देह, विवाह करने से सन्तान बहुत कम होगी किन्तु इससे मृत्यु भी कम होगी। अतएव विवाह के स्थगित करने से जनसंख्या की कमी में कोई विशेष लाभ नहीं होगा। किन्तु निश्चय ही इससे जीवन तथा शक्ति के वर्त्तमान विनाश से बचा जा सकेगा। अतएव, यह उपाय उपयोगी हो सकता है।

(ख) **प्रवास**—यूरोप में प्रवास द्वारा पुराने देशों की रक्षा हो चुकी है। १९वीं शताब्दी में कम से कम तीन करोड़ दस लाख व्यक्ति यूरोप से अमरीका को प्रवास कर

गए। अकेले ब्रिटेन ने ही इस प्रकार १८५० से १९०० के ५० वर्ष में डेढ़ करोड़ व्यक्तियों को अमरीका भेजा। किन्तु भारतीय जनता के विषय में प्रवास कुछ अधिक सहायता नहीं कर सका। भारत के बाहर तीस लाख भारतीयों से अधिक नहीं रहते, जिनमें से बीस लाख ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में हैं। उनमें से अधिकतर मजदूर हैं, जो यातो प्रतिज्ञाबद्ध हैं अथवा भर्ती की विशेष प्रणाली द्वारा भेजे गये हैं। उनमें से कुछ व्यापारी अथवा कलाकार भी हैं। भारतीयों के बाहर न जाने का एक कारण यह है कि उनके विरुद्ध विदेशों में दक्षिणी अफ्रीका जैसा वर्णप्रतिबन्ध है। विदेशों में भारत की अपेक्षा जीवन का मान कहीं अधिक उच्च है। अतएव वहां उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध है। यह अत्यन्त अनुचित है। भारत इस विभेदात्मक व्यवहार को दूर कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) में बराबर लड रहा है किन्तु उसका अभी तक कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। ब्रिटिश गायना तथा पूर्वी अफ्रीका सरीखे ऐसे उपनिवेश भी हैं, जिनका जलवायु भारतीयों के अनुकूल है। यदि वहां वर्ण-प्रतिबन्ध न रहे तो इन प्रदेशों में प्रवास के लिए भारतीयों को भेजा जा सकता है।

प्रवास भारत के अन्दर भी सब मिलाकर बहुत कम है। आसाम के चाय बगीचों में पूर्व निश्चित शर्तों के आधीन उत्तर प्रदेश तथा बिहार से मजदूरों को भर्ती किया जाता है। बंगाल में अधिकांश खान खोदने वाले पड़ौसी राज्यों से आते हैं। साहसी पंजाबी सिक्ख अत्यन्त व्यापक हैं। वह सब कहीं पुलिस वाले, कारीगर या टैक्सी ड्राइवर के रूप में देखने को मिल जाते हैं। पिछले दिनों देश के विभाजन के फलस्वरूप बहुत बड़े पैमाने पर प्रवास किया गया। हिन्दू लोग पाकिस्तान से भारत आ गये और मुसलमान पाकिस्तान चले गये। यह एक असाधारण बात थी। साधारणतया मजदूर लोग गांवों से शहर को कारखानों में काम करने जाते हैं, किन्तु उनको सदा ही अपने घर वापिस जाने का ध्यान बना रहता है। इस प्रकार संख्याओं के पुनर्विभाजन को ठीक करने तथा घनी बस्ती में दबाव को कम करने के लिए अधिक असर नहीं है। तो भी इस विषय में अनेक उद्देश्यों वाली भाकरा-नांगल, दामोदर तथा तुंगभद्रा योजनाएं कुछ आशा बंधाती हैं।

(ग) **बढ़ा हुआ उत्पादन**—यूरोप के अनुभव से यह पता लगता है कि जीवनमान के ऊंचा हो जाने का स्वयं ही यह परिणाम होता है कि कुछ भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक शक्तियां जनसंख्या की वृद्धि को कम कर देती हैं। यद्यपि कम जनसंख्या के ठीक कारण को अभी नहीं समझा जा सका है तो भी यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि भारत में एक बार जीवनमान ऊंचा हो जाने पर यूरोप के समान वही शक्तियां भारत में काम नहीं करेंगी। जनसंख्या कोई बरफ की गेंद नहीं है जो सदा बढ़ती ही रहती है।

"एक बार जीवनमान के लगातार उठते रहने पर वह शीघ्र अथवा देर से जनसंख्या के रोकने पर अपना प्रभाव अवश्य डालेगा और तब व्यक्ति संख्या-सम्बन्धी अवधि

से योग्यता सम्बन्धी लाभ उठाने को उद्यत हो जाँयगे।"[१] भौतिक उन्नति से व्यक्ति की उत्पादक वृत्ति के पक्ष में स्वाभाविक रुकावट आ जाती है, किन्तु यह उन्नति इतनी बड़ी होनी चाहिए कि व्यक्ति इसमें अपनी भावी उन्नति देखकर स्वयं ही दिलचस्पी लेने लगे। भारत में यह तभी हो सकता है, जब यहां कृषि तथा उद्योग-धंधों का अत्यधिक उत्पादन बढ़ जाय।

(१) **कृषि**—कृषि उत्पादन में वृद्धि होने के लिए सिंचाई की सुविधाएं अधिक होने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इसमें भारत की आवश्यकता के अनुरूप मशीनों की भी आवश्यकता है। यह आवश्यक नहीं है कि अमरीका में काम में आने वाली बहुत बड़ी बड़ी मशीनें ही हों। भारी भारी ट्रैक्टरों की आवश्यकता कांस द्वारा खराब की हुई भूमि को सुधारने में ही पड़ती है। रासायनिक खाद, फसल के अदल-बदल कर बोने और सूखी खेती की प्रणालियों के ठीक-ठीक उपयोग से प्रति एकड़ पैदावार बढ़ जायगी और इससे अन्न की कमी तथा फसल से नकदी मिलने की कमी भी दूर हो जायगी। मध्य प्रदेश और आसाम जैसे जिन राज्यों में कृषि योग्य परती भूमि है, उनको अपने अपने राज्य में कृषि बस्ती बसाने के लिए भूमि सुधार विभाग (Land Reclamation Department) खोल देने चाहिएं। अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों द्वारा उत्पादकों को अच्छा तथा स्थिर मूल्य दिलाने का यत्न किया जाना चाहिए क्योंकि अन्तिम उद्देश्य यही है कि किसान सहित सभी लोगों का जीवनमान बढ़े।

(२) **उद्योग-धंधे**—बहुमूल्य वस्तुओं के आयात में कठिनाइयां होने पर भी गत युद्ध से भारतीय उद्योग-धंधे अनेक दिशाओं में चमक उठे। उस समय यह स्वीकार कर लिया गया था कि भारत को अपने द्वारा बनाये जाने योग्य वस्तुओं की आवश्यकता को स्वयं ही पूरा कर लेना चाहिए और ब्रिटेन तथा अमरीका को उसे मशीनें तथा केवल ऐसा माल भेज कर ही संतोष कर लेना चाहिए, जो भारत में नहीं बन सकता था। मुद्रा प्रसार के एक और कारण से भी अधिक माल का बनाना अधिक आवश्यक हो गया है। पूर्ण रोज़गार, जीवन का उच्चतर मान और भारतीयमाल के निर्यात से जनसंख्या का बोझ कम हो जायगा। इस उद्देश्य के लिए ग्रामीण उद्योग-धंधों के साथ साथ बड़े बड़े उद्योग-धंधों को भी बढ़ाना आवश्यक है। पश्चिम का अनुभव हमको बतलाता है कि जीवनमान के बढ़ जाने से परिवार को छोटा करने और बच्चों के लिए स्वास्थ्यकर स्थान प्राप्त करने की इच्छा बढ़ जाती है।

१९. सहायक-उपाय—(क) **सार्वजनिक स्वास्थ्य की योजनाएं**—आरम्भ में सार्वजनिक स्वास्थ्य की योजनाएं इसलिये आरम्भ की जाती हैं कि उनसे बाल मृत्यु तथा मातृ मृत्यु कम हों और मलेरिया, पेचिश, क्षय तथा अन्य रोग कम हों। आरम्भ में इन उपायों से जनसंख्या बढ़ेगी और भविष्य में बढ़ने की संभावना भी बढ़ जायगी, तो भी

१. Karve, D.G.—Economic Studies, P. 134.

की इकाइयां (Calories) मिलनी चाहियें। एक औसत भारतीय का आजकल का आहार तापमान की इकाइयों की दृष्टि से ही त्रुटिपूर्ण नहीं होता, वरन् उसमें स्निग्ध तथा विटामिन की भी कमी होती है। उसमें दूध, फल और सब्जियों को मिला कर उसको स्वस्थ तथा शक्त बनाये रखने के लिए अच्छी तरह पूर्ण किया जाना चाहिए। एक भारतीय के दरिद्र भोजन के लिए उसका अज्ञान तथा पक्षपात भी आंशिक रूप से कारण है। "आधे पेट रहने का मुख्य कारण जेब का खाली रहना है।" विभिन्न स्थानों की जांच से पता चलता है कि श्रमिकों की आय बढ़ने से वह पहले से अच्छा भोजन करने लगते हैं। आने वाली पीढ़ी का अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए और उसकी जीवन शक्ति बढ़ानी चाहिए। स्थानीय संस्थाओं को दिन में स्कूल के लड़कों को अपनी ओर से दूध देना चाहिए।

(ग) **शिक्षा**—भारतीय जनता अशिक्षित तथा अज्ञानी है। १९३१ की जन-संख्या के अंकों से पता चलता है कि भारत साक्षरता में सभी राष्ट्रों से अत्यन्त पीछे है। १९४१ की जनसंख्या के अनुसार २२% से अधिक मनुष्य साक्षर नहीं हैं। इस संख्या में कितना ही बड़ा प्रचार भी तब तक परिवर्तन नहीं कर सकता, जबतक जनता के हृदय में स्वयं प्रेरणा न हो। जब तक शिक्षा तथा गर्भनियन्त्रण की योजनाएं एक साथ काम नहीं करेंगी, जनसंख्या अधिकाधिक बढ़ती ही रहेगी। अतएव, निःशुल्क अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा के साथ वयस्कों की शिक्षा की विस्तृत योजना बनाना भी आवश्यक है। "प्रत्येक व्यक्ति एक व्यक्ति को पढ़ा दे" की योजना बड़ी उपयोगी है। कालेजों में कोई भी छात्रवृत्ति अथवा शुल्क में रियायत तब तक न की जाय, जब तक उनमें से प्रत्येक विद्यार्थी कम से कम दो व्यक्तियों को पढ़ाने का वचन न दे। रूस ने शिक्षा की योजनाबद्ध प्रणाली द्वारा अल्प काल में ही चमत्कार कर दिखलाया है। स्वतन्त्र भारत में सरकार तथा जनता दोनों के मिलकर यत्न करने से निराशा के लिए कोई कारण नहीं रहता; क्योंकि गेंद ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, वह झोंक लेने लगती है।

आगे पढ़ने के लिए ग्रंथ।

1. Gyan Chand—India's Teeming Millions.
2. Census of India Reports for 1931 & 1941.
3. Brij Narain—Indian Economic Problems, Vol. I.
4. P. K. Wattal—Population Problem of India.
5. Ramaswamy—The Economic Problem of India.
6. R. F. Harrod—Britain's Future Population.
7. D. G. Karve—Indian Population.
8. N. P. C. Series—Report on Population.

9. Indian Year Book for 1950.
10. C. N. Vakil—The Effects of Partition.
11. D.Ghosh—Pressure of Population and Economic Efficiency in India.
12. Baljit Singh—Population Problem.
13. R. K. Mukerjee—Food Planning for Four Hundred Millions.
14. The First Five-Year Plan.
15. India in World Economy.
16. The Statistical Abstract of India.

तीसरा अध्याय
सामाजिक पृष्ठभूमि
(गत अध्याय का शेषांश)
संस्थाएं

१. आर्थिक जीवन में सामाजिक संस्थाओं का महत्त्व । आर्थिक कार्यकलाप देश में सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यकलापों के साथ घनिष्ठ रूप में मिले होते हैं । मनुष्य के आचरण पर उसके दैनिक—धार्मिक, सामाजिक कार्यों का प्रभाव पड़ता है । आर्थिक क्षेत्र में उसके द्वारा प्राप्त की गई सफलताएं अधिकतर उसके सामाजिक वातावरण का परिणाम होती हैं । जैसा कि डाक्टर मार्शल कहता है—"संसार में सबसे बड़ी दो निर्माणकारी संस्थाएं धार्मिक तथा आर्थिक रही है।" इस प्रकार किसी जाति का कलाकौशल तथा व्यापार सम्बन्धी जीवन उसकी धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का आवश्यक परिणाम होता है। सम्भवतः, यह बात अन्य अधिकांश देशों की अपेक्षा भारत के विषय में अधिक सत्य हैं । अतएव भारत में इस प्रकार की संस्थाओं का गंभीर अध्ययन करने से अच्छा लाभ होगा ।

२. भारत में धर्म । भारतवासियों के जीवन में धर्म सदा एक अत्यन्त प्रभावशाली शक्ति रही है । उसने बहुत समय से भारतीय इतिहास का निर्माण किया है और यद्यपि आज के भारत ने अपने धर्मतटस्थ होने की घोषणा करदी है, तो भी वह बहुत समय तक इसी प्रकार अपना इतिहास बनाता रहेगा । हमारे यहां जीवन का कोई रूप ऐसा नहीं है, जिस पर धर्म का रूप तथा आकार न आजाय। सम्प्रदाय तथा रूप के अन्दर केवल छोटी-छोटी लहरें हैं और जल के ऊपर धर्म की व्यापक लहरें अत्यन्त गहराई तक चली गई है । भारतीय जीवन में वही गहन जल है, और धर्म का वह जल महासागर जितना गहरा है ।

बहुत बार धर्म क्रियापद्धति से ढक जाता है, जिसका यथार्थ अर्थ समय के धुंध में खो जाता है । कभी-कभी यह नैतिकता को उठाने के—जो कि इसका वास्तविक उद्देश्य है—स्फूर्तिदायक काम करने के स्थान पर नशे में सुलाने जैसा पतनकारी कार्य भी करता है । उस समय इसमें सुधार की आवश्यकता होती है, किन्तु हिन्दू धर्म में सदा ही एक केन्द्रीय तत्त्व रहा है । और वह है त्याग तथा तपश्चरण द्वारा 'आत्मा' के ऊपर स्वामित्व की प्राप्ति । पश्चिम ने जो 'प्रकृति' के ऊपर स्वामित्व का ध्येय बनाया है, उसकी यह ठीक विपरीत दिशा है । पश्चिम में वैज्ञानिक तथा आर्थिक उन्नतियों से अत्यधिक भौतिक उन्नति हुई है, किन्तु वह न तो निर्धनता

को निर्मूल कर पाए और न मनुष्य को अधिक सुखी बना पाए। इसके विपरीत "हमारे यहां अनेक नगरों में गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की छाया में रोटियों की पंक्तियां लगी होती थी और भोजन के गोदाम के गोदाम भरे रहते थे, क्योंकि यहां कोई मोल लेने वाला नही था।'[1] यंत्रीकरण ने मजदूरों की आवश्यकता को कम कर दिया और अनेक को बेरोजगार बना डाला। निर्धन तथा धनी के बीच की खाई अत्यधिक चौड़ी हो गई है और उसके परिणामस्वरूप बहिष्कार तथा हड़तालें हो रही है। गत दो महायुद्धों ने विचारकों की मोहनिद्रा को बुरी तरह झकझोर कर भंग कर दिया और पश्चिमी भौतिक संस्कृति की आन्तरिक निर्बलता को सामने लाकर खड़ा कर दिया।

भारतीय धर्म की बहुधा अपनी अप्रगतिशीलता के कारण निंदा की जाती है। पश्चिमी शैली पर उन्नति न करने पर तथा पश्चिमी मान पर जीवन के अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष का अभाव हिन्दू अध्यात्मवाद का ही परिणाम बतलाया जाता है। कुछ शिक्षित व्यक्तियों—विशेषकर विश्वविद्यालय के छात्रों ने धर्म से विमुख होना आरम्भ कर दिया है, किन्तु यह विचारधारा अभी जनता तक नहीं पहुंची। इस गुणदोष-विवेचक विद्रोह से एक उत्तम उद्देश्य की सिद्धि हो रही है। यह हिन्दू धर्म को परिवर्तित परिस्थिति में ढाल रहा है और उन अनेक रुकावटों को उसमें से निकाल रहा है, जो परम्परा तथा प्रथाओं द्वारा उसमें घुस आई थीं।

भारत की निर्धनता का मुख्य कारण भारतीय अध्यात्मवाद कदापि नहीं है। सच्चा धर्म अधिक अच्छे भौतिक जीवन के लिए उत्साहपूर्वक यत्न करने की शिक्षा देता है, न कि संसार छोड़ देने की। संसार में रहने के लिए, उसकी सेवा करना, धन कमाना और समाज के लिए उसका उपयोग करना और अन्त में मोक्ष प्राप्त करना, यही एक औसत भारतीय के सामने आदर्श होता है। भारतीय दृष्टिकोण से इहलोक और परलोक—दोनों का उपरोक्त परिणाम प्राप्त कर लेना अव्यावहारिक नहीं है।

भारत की दरिद्रता के कारण कुछ और ही हैं। भारत एक उष्ण देश है और यहां भीषण रोग होते हैं। मानवी आयु बहुत छोटी होती है। सूखा, अकाल तथा मलेरिया ने एक धुंधला दृष्टिकोण बना दिया है। विदेशी आक्रमणों तथा उनके शासनाधिकार ने उसके पतनशील प्रभाव को बढ़ा दिया है। भारतीय जनता के निराशाजनक दृष्टिकोण को उन चीजों ने बनाया न कि धर्म ने। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भविष्य में भारतीय धर्म पश्चिमी भौतिकवाद को स्वर बदल कर बोलने के लिए एक लकीर का काम देगा और समस्त संसार में पहले से अधिक संतोष तथा सुख की स्थापना के लिए कार्य करेगा।

---

१. Miller—The Beginnings of Tomorrow, P. 92.

३. सामाजिक संस्थाएं—ज्ञाति-पाँति-प्रणाली । जाति-पाँति-प्रणाली भारतीय समाज में सबसे प्राचीन संस्थाओं में से एक है। उसकी जड़ें अत्यन्त प्राचीन भूतकाल से अत्यन्त गहरी जमी हुई हैं। वह वृक्ष आज भी लहलहा रहा है। यद्यपि उसमें आज वह प्राचीन कालीन ज्योति नहीं है तथापि वह आज भी बहुत दूर दूर तक छाया कर रही है। हिन्दू आज भी अधिकतर उसकी मर्यादाओं का पालन करता है और उसके द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धों को मानता है। उसमें विभिन्न वर्गों में अन्तर्विवाह अथवा अन्तर्भोज की भी अनुमति नहीं है। इसके लिए कोई कारण नहीं दिये गये, किन्तु कुछ ऐसे कार्य हैं जो नहीं किये जाते। यह प्रतिबन्ध जीवन भर मार्ग में खड़े रहते हैं। भारत का इम्पीरियल गजेटीयर (Imperial Gazetteer of India) इस विचार को स्पष्ट रूप में इस प्रकार उपस्थित करता है, "किसी व्यक्ति के सामाजिक तथा घरेलू सम्बन्धों की समस्त धारा को जन्म अटल रूप से निश्चित कर देता है और उसे अपने जीवनभर जिस जाति में उसका जन्म हुआ था उसी के रीति-रिवाजों के अनुसार खाना, पीना, वस्त्र पहनना, विवाह में कन्या लेना तथा कन्या देना चाहिये।"[१]

उसी ग्रंथ में जाति की परिभाषा करते हुए उसे "ऐसे परिवारों अथवा वर्गों का समूह बतलाया गया है, जिसका एक सांझा नाम होता है, जो सदा एक विशेष पेशे को प्रगट करते हुए उससे सम्बद्ध होता है, और जो अपनी सांझी वंश परम्परा को एक पौराणिक पूर्वज, मानव अथवा देवत्व को बतलाते हैं; उसी के नाम पर अपने को घोषित करते हैं। इस विषय में जो सम्मति देने के लिये योग्य समझे जाते हैं उनके द्वारा वह एक समान उत्पत्ति वाला समाज माना जाता है।"[२]

जाति का उद्गम—अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने यह जानने के लिए यत्न किया कि जाति का उद्गम किस प्रकार हुआ, किंतु अभी तक किसी भी वैज्ञानिक परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सका है। डाक्टर मार्शल (Dr. Marshall) लिखते है, "प्राचीन काल में, जब धार्मिक, उत्सव सम्बन्धी, राजनीतिक, सैनिक तथा उद्योगधंधों सम्बन्धी संगठन एक दूसरे के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होते थे और वास्तव में वह एक उसी वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप थे, तब लगभग वह सभी राष्ट्र—जो संसार की उन्नति का नेतृत्व कर रहे थे—एक ऐसी व्यवस्था को अपनाने पर सहमत हो गये, जो न्यूनाधिक रूप में जाति ही थी।"[३] साधारणतया जाति का विकास आर्य लोगों में हुआ, जहां कहीं वह गये और बसे : वहीं—यूनान, रोम और भारत में जाति देखने को मिलती है। आदिवासी जातियों के साथ—जिन्हें अत्यन्त निम्न स्थान दिया गया था—सम्बन्ध स्थापित

---

१. Vol. I, Page 323.

२. Ibid. P. 313.

३. Marshall—Principles of Economics, P.244, 1936 Edition.

करने में जातीय विभेदात्मक व्यवहार और भी स्पष्ट हो गया। जेम्स मिल[1] (James Mill) का विश्वास है कि श्रम के विभाजन की आवश्यकता के कारण जातिवाद की प्रणाली का विकास हुआ। ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने कुछ समय बाद अधिक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया, क्योंकि उनके कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे और उनकी स्थिति वंशानुगत हो गयी। आरम्भ में जातिवाद के नियम अधिक कठोर नहीं थे। उस समय एक जाति से दूसरी जाति में जाना संभव था, किंतु बाद में निहित स्वार्थ बढ़ने पर जाति का बंधन इतना अधिक कठोर हो गया कि एक जाति से दूसरी जाति में जाना असंभव हो गया। आरम्भ में चार वर्ण थे—जिनका काम क्रमशः शिक्षा देना और प्रचार करना; शासन तथा रक्षा करना; कृषि और व्यापार करना तथा सेवा और शारीरिक श्रम करना था। उनके नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रखे गये।

जाति के दोष—आरम्भ में जाति-प्रथा में अनेक गुण थे, किंतु निहित स्वार्थों की वृद्धि होने पर उसका विभाजन कठोर हो गया और उसके गुण जाते रहे। उसके अधिकांश दोषों का कारण उसमें लचीलेपन का अभाव है। रिसले[2] (Risley) का कहना है कि "जाति अधम प्रकार की जीवधारी रचना है। यह सेलों (प्राण बिन्दुओं) के विभाग से बढ़ती है। उसकी वृद्धि का प्रत्येक पग, उस की शक्ति को आगे बढ़ने अथवा उस कला की रक्षा करने की क्षमता को कम करता है, जिसका अभ्यास करने का वह दावा करती है।" डाक्टर राधाकृष्णन् भी यह कह कर अपनी सहमति प्रकट करते हैं, "दुर्भाग्यवश उस उपाय ने, जिसे सामाजिक संगठन का पतन रोकने के लिए बनाया गया था, अंत में, उसको उन्नति करने से रोका।"[3]

आज जातिवाद देश की आर्थिक उन्नति के मार्ग में रुकावट है। यह लोगों को ऐसे पेशे अपनाने से रोकता है, जिनकी उनके अन्दर स्वाभाविक प्रेरणा है, साथ ही यह वर्गाकार छिद्रों में गोल खूंटियां ठोकता है। यह श्रम को एक होकर संगठित नहीं होने देता, क्योंकि उच्च जातियों वाले नीची जाति वालों के साथ काम नहीं कर सकते। जाति श्रम की पारस्परिक आधीनता की जड़ों तक को खोद देती है। यह कारखानों में भिन्न जाति के वर्ग बनाती है और देश में उन ट्रेड यूनियनों के विकास में बाधा डालती है, जो अपना औद्योगीकरण करने की अभिलाषा रखते हैं। क्योंकि ट्रेड यूनियन ही वर्गों में शक्ति का सन्तुलन रखते हैं और औद्योगिक शान्ति की स्थापना करते हैं।

यह पागलपन की 'पेबन्ददार रज़ाई" भारत की राजनीतिक फूट के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है। इसने उच्च जातियों के मन में एक उच्चता की झूटी भावना भरदी, जिसके परिणामस्वरूप भारत में "अछूतों" तथा "अप्रवेश्य लोगों" की सृष्टि हुई।

१. जॉन स्टुआर्ट मिल के पिता।
२. Risley—People of India, P. 270
३. Indian Philosophy, Vol. I, P. 113

दलित जातियों के साथ अमानवीय व्यवहार करने के उपरान्त एक औसत ब्राह्मण अपने को शाबाशी देता है और यह अनुभव करता है कि इससे उसकी पवित्रता बढ़ गई। मनुष्य के सम्मान का उसमें लेशमात्र भी विचार नहीं होता। हिंदू किसान अपनी जाति चली जाने और अपने गांव के समाज द्वारा बहिष्कार किये जाने के भय से अपने खेत में हड्डी और मछली के खाद को नहीं डालता। इन्हीं कारणों से कुछ लोग मांस जैसे कुछ विशेष प्रकार के आहार का भोजन नहीं करते, जिस से उनका आहार असंतुलित रहता है और उनका शरीर निर्बल बना रहता है। उसी छोटी-सी जाति में लगातार विवाह करते रहने से स्वास्थ्य और शारीरिक शक्ति का ह्रास हो रहा है।

जातिवाद के लाभ—अतीत काल में समाज की योजना करते हुए व्यक्ति की अपेक्षा वर्गों का अधिक ध्यान रखा गया। जाति का अर्थ है, अनेक के स्वार्थ के लिए एक का आंशिक बलिदान। उस समय व्यक्तिगत लाभ और उन्नति उस जातिवाद के बीमे के लाभ थे, जब कि सामाजिक स्थिरता उसकी किश्त (Premium) थी। जातिवाद के प्रशंसकों ने उसकी परिभाषा रूप में उसे "प्राचीन काल से समय की कसौटी पर उतारा हुआ ऐसा वैज्ञानिक समाजवाद बतलाया है, जिसने व्यापारिक वर्गों में शक्ति संतुलन को सदा बनाये रखा।"[१]

गांव के स्वतन्त्र संगठन का विकास जातिवाद ने ही किया था। पंचायत उसके राजनीतिक शरीर की प्रेरक थी। पंचायतों ने अत्यधिक सामाजिक जीवन-शक्ति का परिचय दिया है और विभिन्न प्रान्तीय सरकारें अपनी अपनी ग्राम-सुधार योजनाओं में उनका पुनरुद्धार करने का प्रयत्न कर रही है।

समाज को वर्गों में विभक्त करना और श्रम का सीधे-सादे ढंग से विभाजन कर देना बड़े भारी मस्तिष्क का काम था। उससे गड़बड़ी की स्थिति में व्यवस्था और नियमबद्धता स्थापित हो गई और इसके परिणामस्वरूप बड़ी भारी आर्थिक उन्नति हुई। इससे आर्य लोग उन्नतिशील राष्ट्रों के नेता बन गये। किसी नवयुवक के व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करते ही आजीविका तलाश करने की आवश्यकता नही थी। उसके जन्म लेते ही उसका स्थान तैयार हो जाता था। उसके बड़ा होने पर उसको अपनी कलाकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार का अवसर ऐसे स्कूल में मिलता था, जो सबसे अधिक सहानुभूतिपूर्ण होता था—वह होता था पैतृक स्कूल। वह अपने पिता की सम्पत्ति का ही उत्तराधिकारी नहीं बनता था, वरन् उसकी संपूर्ण विद्या तथा कारीगरी का भी उत्तराधिकार पाता था और फिर अपनी बारी आने पर वह इस उत्तराधिकार को अपनी संतान को दे देता था। "इस प्रकार प्राचीन परम्परा की रक्षा की जाती थी, सामाजिक शान्ति को सुरक्षित रखा जाता था,नागरिक तथा आर्थिक कल्याण प्राप्त

१. Bhagwan Das–Ancient v. s. Modern Scientific Socialism.

किया जाता था तथा व्यक्तिगत आनद और सन्तोष को बढाया जाता था।"[1] जाति ने असन्तोष को नष्ट कर दिया था। उस समय इस विचार का प्रचार किया जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने पिछले जन्म के कार्यों के अनुसार जन्म लेना पड़ता है और अपने भाग्य के अनुसार स्थान ग्रहण करना पड़ता है। अतएव जो लोग जीवन में अधिक उत्तम स्थान पर थे, उनके प्रति ईर्ष्या करने का कोई अवसर नहीं था। इस प्रकार जाति वर्ग-संघर्ष को कम करती थी और आर्थिक शक्तियों के—जिनके परिणामस्वरूप आज अनेक बुराइयां देखने में आती हैं—अनियंत्रित कार्य के विरुद्ध बीमे का काम देती थी।[2]

परिणाम—पाश्चात्य सम्पर्क द्वारा भारत में छोड़ी हुई शक्तियों ने जातिवाद को नष्ट करने के लिए कठोर परिश्रम किया। नागरिक क्षेत्र वाले अधिक उदारमना हो गए, क्योंकि वहां समस्त देशभर से सभी प्रकार के व्यक्ति आते थे। उत्तराधिकार में प्राप्त हुए पेशे आधुनिक मांग को पूर्ण करने में असमर्थ थे। अतएव उनकी उपेक्षा की जाने लगी। शिक्षित व्यक्तियों ने जाति-बन्धन के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने उस रुकावट को मानने से इन्कार कर दिया, जो उनके कार्यों पर जाति द्वारा लगाई जाती थी। उन्होंने सभी जाति वालों के साथ सभी प्रकार का भोजन करना आरम्भ कर दिया।

रेलों और बसों ने भी अस्पृश्यता तथा अप्रवेश्यता को तोड़ने में बड़ी सहायता दी। यात्रा में ऊंच और नीच जाति वाले सभी भीड़ में मिल जाते हैं। रेलवे प्लेट फार्म पर उनको जो कुछ भी मिल जाता है, उसी से भूख और प्यास बुझानी पड़ती है, और वह भी अपनी अशुद्धि को दूर करने के लिए बिना आवश्यक स्नान किये।

हिन्दूधर्म के अन्दर भी सुधार आन्दोलन ने इसी दिशा में कार्य किया। उदाहरणार्थ, आर्यसमाज जातिभेद को स्वीकार नहीं करता और अन्तर्भोज तथा अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकार करता है। उत्तरी भारत में सिक्ख धर्म भी एक प्रबल शक्ति है। उसने भी सामाजिक बन्धनों को नष्ट करके मानव की क्षमता को स्वीकार किया है। इस्लाम ने भी समस्त भारत में जाति को अर्थहीन मानने का यत्न किया है।

तो भी जातिप्रथा की जड़ अत्यन्त गहरी है और जो लोग पचास वर्ष पूर्व यह समझते थे कि जातिवाद शीघ्रतापूर्वक भागता जा रहा है और उसके शीघ्र ही उन्मूलन की भविष्यवाणी करते थे, अब तक भी ठीक सिद्ध नहीं हुए हैं। जाति अब तक भी लाखों मनुष्यों के जीवन में एक बलवान शक्ति है और देश की आर्थिक उन्नति के मार्ग में बाधा बनी हुई है। स्वतन्त्र भारत में, अछूत कहलाने वाली जातियों को विशेष सहायता तथा विशेष सुविधाओं द्वारा ऊपर उठाने का जो आन्दोलन आरम्भ किया गया है, वह कुछ समय में उच्च तथा नीच जातियों की दराड़ को बहुत कुछ भर देगा।

१. R. P. Masani on Caste in The Legacy of India, Ed. Garratt, P. 151.

२. Masani—Ibid., P. 159.

४. सम्मिलित परिवार प्रथा । आदर्श सम्मिलित परिवार में एक पिता, उसके पुत्र और पौत्र तथा कुछ लड़कियां होती हैं, जबतक कि उनमें से कुछ का विवाह होकर वह दूसरे सम्मिलित परिवारों में प्रवेश नहीं करतीं। सम्मिलित रहना हिन्दू समाज की साधारण शर्त है। किन्तु इच्छा होने पर उनमें बंटवारा भी हो सकता है। जबतक परिवार का विभाजन नहीं होता, तबतक उसका एकचौका और सम्मिलित सम्पत्ति रहती है। सभी सदस्यों की आय को एक सामान्य स्थान में रखा जाता है और उसी में से सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष इन मामलों पर नियंत्रण रखकर उनका संचालन करता है। वह दूसरों की सम्मति लेता है, किन्तु उसकी सम्मति अंतिम होती है।

इस प्रणाली के दोष—परिवार के छोटे सदस्य अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते और अविवेकी होते हैं। वह परिवार के नाम पर बनियों से बुरी तरह से उधार ले लेते हैं। परिवार में विवाह अथवा मृत्यु होने पर और 'मुंडन' तथा 'जनेऊ' जैसे अन्य धार्मिक उत्सवों पर अत्यधिक अपव्यय किया जाता है और प्रायः, उसके परिणामस्वरूप परिवार पर ऋण बढ़ जाता है।

सम्मिलित परिवार में सबको भोजन तथा वस्त्र की ओर से बिना कठिन परिश्रम के भी बेफिक्री होने के कारण, उसमें अनेक आलसी आदमियों का होना अनिवार्य है। वास्तव में किसी भी प्रकार के साम्यवाद के विरुद्ध यह सबसे प्रबल युक्ति है। सम्मिलित परिवार में परिवार की समस्त आय को पश्चिम वालों की संख्या से कहीं अधिक दावेदारों में खर्चना पड़ता है। बचत करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और पूंजी बहुत कम जमा हो पाती है। इसके अतिरिक्त बड़े परिवार के बोझ के कारण मनुष्य नए-नए उद्योगों को आरम्भ नहीं कर सकता और ना ही खतरे के बड़े-बड़े कार्यों में पड़ सकता है। इस प्रकार के विपरीत वातावरण में व्यक्तियों के लिए किसी नए कार्य को स्वयं अपने-आप उठाना असंभव होता है।

उसके गुण—विश्व अनियंत्रित पूंजीवाद से डटा हुआ है। सोवियत रूस में समाजवाद के प्रयोग की ओर आंखें लगी हुई हैं। यह सिद्धान्त संसार में नवीन नहीं है। इसके कीटाणु सम्मिलित हिन्दू परिवार में मिलते हैं, जहां प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करता है और आवश्यकता के अनुसार उपभोग करता है। रूसी प्रणाली को अनेक देशों की अपनी परिस्थितियों के कारण उनके ऊपर लागू नहीं किया जा सकता। किन्तु कुछ की सम्मति में सम्मिलित परिवार की भारतीय संस्था को विश्व-भर में लागू किया जा सकता है। इसके लागू करने से कोई भारी परिश्रम अथवा कोई समपात नहीं करना पड़ता, और तिसपर भी उसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करना है। उससे सहयोग तथा निःस्वार्थ सेवा की भावना बढ़ती है।

परिवार एक केन्द्र होता है और उसका उद्देश्य होता है "एक के लिए सब और सब के लिए एक।"

जबतक परिवार की भू-सम्पत्ति अविभक्त रहती है, तबतक घाटे की सम्पत्ति की बुराई पैदा नहीं होती। प्राचीन सम्पत्तियों का बंटवारा व्यक्तित्ववाद की भावना ने कराया, सम्मिलित परिवार को "कालगणना का एक भ्रम"[१] कहा जाता है। किन्तु कुछ लोगों की सम्मति में अलाभकारी सम्पत्ति की—जो भारतीय कृषि में एक अत्यधिक विनाशकारी अपराध है—औषधि केवल सम्मिलित परिवार-प्रथा है। यह "बिना विभाजन के उत्तराधिकार की सम्मिलित कृषि को" संभव बनाती है। सहयोग प्रणाली पर कृषि से भी इसी प्रकार के उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। इसमें सम्मिलित परिवार की हानियां न होने के कारण इसको अधिक पसन्द किया जाता है।

परिणाम—सम्मिलित परिवार प्रणाली शीघ्रता से टूटती जा रही है। यह भारत में जनसंख्या की वृद्धि, पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति के प्रसार के कारण जातिवाद की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से टूट रही है। परिवार के मुखिया के प्रति सम्मान की प्राचीन भावना का लोप होता जा रहा है और पारिवारिक अनुशासन के बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं। किन्तु इस सिद्धान्त के अन्तर्वर्ती सहयोग का सिद्धांत अत्यन्त मूल्यवान है और बहु-उद्देश्य समितियों की स्थापना करके उससे लाभ उठाया जा सकता है।

५. दायभाग और उत्तराधिकार की विधियां। भारतीयों में उत्तराधिकार मिताक्षरा तथा दायभाग के नियमों के अनुसार मिलता है। दायभाग का रूप बंगाल में चलता है और मिताक्षरा के नियम देश के अन्य सब भागों में चलते हैं।

(१) **मिताक्षरा प्रणाली**—इस प्रणाली के अनुसार पितृपरम्परागत सम्पत्ति के मालिक परिवार के सभी व्यक्ति सामूहिक रूप से होते हैं और सभी उसका उपभोग करते हैं। परिवार का मुखिया उसका उस समय के लिए प्रबन्धक मात्र होता है। उस को बिना सभी पुरुष-सदस्यों की सहमति के उस सम्पत्ति को बेचने का अधिकार नहीं होता। परिवार एक संघ अथवा कारपोरेशन (Corporation) होता है, जिसमें व्यक्तियों के अधिकारों की न तो परिभाषा की जाती है और न उनको निश्चित किया जाता है। किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर उसके भाग का उत्तराधिकार भी नहीं होता। वह अपने-आप ही शेष जीवित बचने वालों की सम्पत्ति हो जाती है। जबतक पितृसम्पत्ति (जायदाद वारिसगी) का विभाजन नहीं होता, परिवार सम्मिलित रहता है। ऐसा अवसर उपस्थित होने पर पुत्रों का पिता के समान ही उसमें बराबर अधिकार होता है।

(२) **दायभाग**—इसमें परिवार का मुखिया अपने जीवनभर निर्विवाद मालिक रहता है। वह उस सम्पत्ति को जब चाहे और जैसे चाहे समाप्त कर सकता है। इस कानून

१. Jathar and Beri—Indian Economics, Vol. I.

के अनुसार सम्मिलित परिवार में भी उत्तराधिकार होता है और मृतक सदस्य का भाग उसके उत्तराधिकारी को जाता है। इसमें पिता तथा पुत्रों में विभाजन नहीं होता, केवल भाइयों में होता है।

इन दोनों ही प्रणालियों में स्त्रियों को पितृसम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता। दोनों प्रणालियों में कर्त्ता खानदान को स्वयं अर्जित सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार दिया जाता है। ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार मिलने का नियम भारत में —राजाओं तथा बड़े ज़मींदारों के अतिरिक्त अन्यत्र लागू नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में उनकी रियासत का विभाजन नहीं किया जा सकता और सबसे बड़ा पुत्र समस्त सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है। किन्तु सामान्यतया "पूर्व में सम्मिलित सम्पत्ति का नियम चलता है और पश्चिम में व्यक्तिगत सम्पत्ति का।"

(३) **मुस्लिम विधि**—मुसलमानी विधि (Law) में पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को सम्पत्ति में भाग मिलता है। यद्यपि दोनों का भाग समान नहीं होता किन्तु अनेक राज्यों में व्यवहारिक रूप में मुसलमानों में भी हिन्दू कानून का ही अनुसरण किया जाता है। किन्तु मुसलमानों की अब अपनी इस्लामी विधि का अनुसरण करने की इच्छा बढ़ती जाती है।

(४) **उत्तराधिकार विधि के आर्थिक प्रभाव**—हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों की ही विधि संहिताएं समान हैं। वह सम्पत्ति के विभाजन के समय ज्येष्ठतम पुत्र और कनिष्ठतम पुत्र में कोई अन्तर नहीं करते। अतएव वह लोगों को व्यर्थ की परेशानियों से बचा देती है। इन विधियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन आरम्भ करने की सुविधा मिलती है और एक मध्यम-श्रेणी वाले को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार की मध्यम-श्रेणी समाज तथा सरकार दोनों का मेरूदंड होती है। हमारे गांव, जो विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक गड़बड़ के विरुद्ध सर्वोत्तम रक्षा का काम देते हैं, आत्मनिर्भर कृषक मालिकों को उत्पन्न करते हैं। यह अच्छा है कि एक व्यक्ति का भाग छोटा होता है। उससे उसे कठिन कार्य करने की अतिरिक्त प्रेरणा मिलती है। पूंजीवाद की बुराइयों को बचा दिया जाता है और सम्पत्ति का अधिक समानता से विभाजन कर दिया जाता है।

विपरीत दिशा में विचार करने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उत्तराधिकार के नियमों से अनेक खराबियां आती हैं। भूमि अधिकाधिक छोटे भागों में यहां तक विभक्त होती जाती है कि उसमें कृषि करना भी लाभदायक नहीं रहता। विभाजन पर विभाजन होने से इतने अधिक छोटे छोटे टुकड़े हो जाते हैं कि बुराई की हद हो जाती है। कानून मुकदमेबाज़ी को प्रोत्साहन देता है, जिसमें समय और धन का अपव्यय होता है। उससे बचत करने में बाधा उपस्थित होती है और बड़े-बड़े काम तो किये ही नहीं जा सकते।

६. भारत में पंचायतें । इस स्थान पर पंचायतों का अध्ययन अप्रासंगिक न होगा । प्राचीनकाल में पंचायतों के क्षेत्र में गांव के जीवन के सभी कार्य आ जाते थे। ब्रिटिशकाल में सरकार के केन्द्रीय बन जाने के फलस्वरूप उनकी उपयोगिता कम हो गई । अभी अभी उनका पुनरुद्धार करने का यत्न किया गया है । पंजाब में सन् १९३९ में ग्राम पंचायत अधिनियम (Act) पास किया गया था । उत्तर प्रदेश में पंचायत राज अधिनियम १९४७ में पास किया गया। इसको ग्रामीण जनतंत्र तथा विकेन्द्रीकरण में सबसे बड़ा प्रयोग कहा गया। पंजाब में पहले से ही ४,४०० पंचायतें काम कर रही है और ५,६०० और भी खुलने वाली हैं। पंजाब के १९३९ के अधिनियम में १९४८ में संशोधन किया गया। यह स्वीकार कर लिया गया कि सरकार की स्थिरता अधिकतर गांवों में पंचायतों के ठोस रूप पर निर्भर करती है। सरकार महात्मा गांधी के निम्न आदेश को स्वीकार कर उनकी संख्या अधिकाधिक बढ़ा रही है, "आनेवाला राज पंचायत राज है।" मार्च १९५० में पंजाब गांव पंचायत विधेयक (Bill) एक निर्वाचित कमेटी (Select Committee) के सुपुर्द कर दिया गया। इस विधेयक के अनुसार सरकार का यह उत्तरदायित्व था कि वह प्रत्येक गांव या, जहां गांव अधिक छोटे हों, वहां गांवों के समूह में एक गांव-सभा और एक पंचायत की स्थापना करे। इन दोनों का निर्वाचन सारे गांव की जनता मिलकर करेगी और गांव की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति वह पंचायतें करेंगी।

पंचायतों को शासन तथा न्याय, दोनों का काम दिया गया है। उनके शासन सम्बन्धी कर्त्तव्य नगरपालिकाओं (Municipal Committees) जैसे हैं और वह गांव के समस्त साम्प्रदायिक जीवन, उदाहरणार्थ—कृषि, व्यापार, उद्योग-धन्धे, स्वास्थ्य, त्योहारों तथा यातायात के साधनों की देखभाल करते हुए उनमें रुचि लेंगी।

न्याय के दृष्टिकोण से उनको फौजदारी तथा दीवानी की छोटी अदालतों के अधिकार दिये गये हैं और चोरी, घर में घुस आना आदि साधारण अपराधों के मुकदमें ले सकेंगी। वह आरंभिक शिक्षा (प्राइमरी एज्यूकेशन), पशुओं के अनधिकृत जगह में घुस जाने तथा टीका अधिनियम (Vaccination Act) के अपराधों की भी सुनवाई कर सकेंगी। वह पचास रुपये तक जुर्माना कर सकती हैं। यह प्रस्ताव है कि उनके अधिकार को २५०) के जुर्माने तक बढ़ा दिया जाय। कुछ चुनी हुई पंचायतों को ऐसे मुकदमों के सुनने का अधिकार दिया जाने को है, जिनम ऋण की राशि ५००) से अधिक न हो। नए पंजाब पंचायत विधेयक में पंचायतों को यह अधिकार दिया गया है कि वह सभी निवासियों पेर अनिवार्य 'चूल्हाकर' लगा सकें और सरकार की पूर्व स्वीकृति से ऋण ले सकें। पंचायतों की नीति तथा उनके शासन में सहायता देने के लिए प्रत्येक तहसील में एक तहसील-पंचायत संघ बनाने की भी योजना की गई है।

पंचायत के दीवानी मुकदमों की अपील ज़िला मैजिस्ट्रेट के यहां तथा फौजदारी मुकदमों की अपील ज़िला जज़ के यहां होगी।

"पंचायत घर" गांव की समाज के सभा-स्थल तथा सांस्कृतिक केन्द्र का काम देगा। उसमें एक पुस्तकालय तथा वाचनालय भी होगा और यदि धन-हुआ तो रेडियो सेट भी होगा।

पंचायतें भारतीय ग्रामों के सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। ग्रामवासी अपनी शक्ति को समझ सकेगा और कानून के नौकर उसको डरा-धमकाकर उससे काम न निकाल सकेंगे। वह जनतन्त्र सम्बन्धी शक्ति के राजमार्ग पर चल पड़ेगा और ग्राम-जनतन्त्र के नागरिक के रूप में उसका उपयोग करेगा।

आगे पढ़ने के लिए ग्रंथ।

1. Risley–The People of India.
2. Miller–The Beginnings of Tomorrow.
3. R. P. Masani–The Legacy of India.
4. Bhagwan Das–Ancient versus Modern Scientific Socialism.
5. Radhakrishnan–Indian Philosophy.
6. The Punjab Village Panchayat Act, 1939.
7. U. P. Panchayat Raj Act, 1947.
8. The Punjab Gaon Panchayat Bill, 1950.

चौथा अध्याय

कृषि का सामान्य निरीक्षण

१. भारतीय अर्थशास्त्र में कृषि का महत्त्व। भारत की भौतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने के उपरान्त अब हम उसकी आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में वादविवाद करने की स्थिति में आ गए हैं। वह सभी प्रकार की हैं—कृषि सम्बन्धी, औद्योगिक, मुद्रा सम्बन्धी तथा बैंकिंग सम्बन्धी, व्यापार, यातायात और मूल्य। आरम्भ में हम कृषि को लेंगे। भारतके लिए कृषि के महत्त्व के सम्बन्ध में कोई अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। प्रत्येक तीन व्यक्तियों में से दो कृषि में लगे हुए हैं और अनेकों उसमें परोक्षरूप से लगे हुए हैं। इस प्रकार हमारी बहुसंख्या का बहुत बड़ा भाग अपनी आजीविका के लिए उस पर निर्भर है। कृषि उनको भोजन के अतिरिक्त उनके उद्योग-धन्धों के लिए कच्चा माल भी देती है। यह उनको इस योग्य बनाती है कि विदेशियों से अपने कारखानों के लिए मशीनें और सामान तथा उपभोग्य वस्तुएं खरीद सकें। यह व्यापारी वर्ग की आजीविका और सरकार की आय का साधन है। इस प्रकार कृषि की समृद्धि अथवा भारत की समृद्धि पर्यायवाची है।

दुर्भाग्यवश, भारतीय-कृषि समृद्धि से बहुत दूर है; क्योंकि उसमें अत्यधिक व्यक्ति लगे हुए हैं। यह अधिक जटिल भारतीय-कृषि अर्थशास्त्र की बड़ी समस्याओं में से एक है। अन्य उद्योग-धन्धों में कुछ उन्नति होने पर भी इसकी व्यापारिक रचना में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। १९०१ में केवल ६७·४ प्रतिशत जनता ही कच्चे माल के उत्पादन में लगी हुई थी। १९२१ में, यह संख्या बढ़कर ७३ प्रतिशत हो गई। १९३१ की जनसंख्या की रिपोर्ट में जो इस कार्य में कुल ६६ प्रतिशत व्यक्ति लगे हुए बतलाए गए हैं, उसका कारण उनकी वर्गीकरण की एक भिन्न प्रणाली है। १८४८ के लिए राष्ट्रीय आय कमेटी ने इस अंक को ६८·२ प्रतिशत रखा है। भूमि पर जो बढ़ी हुई जनसंख्या का दबाव पड़ रहा है उसकी समस्या की गम्भीरता इस तथ्य से भी प्रगट होती है कि जब १९११ में १७·५ प्रतिशत व्यक्ति उद्योग-धन्धों में लगे हुए थे, तब १९३१ में केवल १६·३ प्रतिशत ही लगे हुए थे। स्पष्ट रूप से उद्योग धन्धों और दस्तकारियों में बढ़ी हुई संख्या नहीं खपाई गई और उनको कृषि पर फेंक दिया गया। इस प्रकार भूमि पर दबाव पड़ने का प्रभाव हुआ उसके विभाजन तथा उप-विभाजन की भयंकर समस्या।

२. अपर्याप्त उत्पादन। यद्यपि भारतीय अर्थशास्त्र में व्यापारिक फसलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, तथापि कृषि उससे भी अधिक व्यापक-रूप में 'जीवन का क्रम' है और लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या कृषि में लगी हुई है। समस्त क्षेत्रफल का ८०

प्रतिशत से अधिक भाग खाद्य फसलें पैदा करता है, तो भी भारत जीवन के वर्तमान निम्न-मान के कारण अपनी समस्त जनसंख्या को भोजन नहीं दे पाता। कुछ देशों में जनता का पांचवां भाग ही भोजन उत्पन्न करता है, जो एक व्यक्ति को लगभग ८००० कैलोरी प्रतिदिन भोजन में देता है; अर्थात् एक व्यक्ति बड़े मजे में पांच परिवारों को खिला लेता है, जबकि भारत में एक खेत वाला परिवार अपने तथा एक अन्य आधे परिवार को भी नहीं खिला पाता।[1] १९१४ से पूर्व भारत अन्न का निर्यात करता था, जबकि आज जनसंख्या के बढ़ जाने तथा देश के विभाजन के परिणामस्वरूप उसकी त्रुटि अनेक दिशाओं में हो गई है। इस प्रकार "एक साधारण वर्ष में नागरिक क्षेत्रों की वर्तमान राशन प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिए तीस लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है और यदि कहीं ऋतु अनुकूल न हुई तो इससे अधिक भी मंगाना पड़ सकता है।" अन्नों के अतिरिक्त भारत में उगाई जाने वाली रुई में भी १२ लाख गांठों की तथा कम से कम एक लाख गांठ पटसन की कमी पड़ती है। इसके अतिरिक्त दूध, दालें, मांस, तरकारियां, फल तथा मछली जैसे अन्य प्रकार के खाद्यों की भी कमी बनी रहती है।

इस प्रकार भोजन तथा कच्चे माल की कमी हमारी मुख्य समस्या है और जैसा कि योजना कमीशन का कहना है, "कि देश की अर्थव्यवस्था में यही हमारी सबसे बड़ी निर्बलता है।" भारत में युद्ध से पूर्व की यद्यपि १६ लाख एकड़ की खेती बढ़ कर १९५० में एक करोड़ ८३ लाख ८० हज़ार एकड़ हो गई, तथापि खाद्यान्नों का उत्पादन ४६,१०,००० टन से घट कर कुल ४४,२०,००० टन ही रह गया। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा उत्पादन प्रति एकड़ ६१९ पौंड से घट कर कुल ५६५ पौंड ही रह गया।

३. इस कठिनाई से बाहर निकलने का मार्ग। इससे बाहर निकलने का एकमात्र मार्ग है समस्त देश में एक योजना के आधार पर कृषि के लिए कार्यक्रम बनाना और फिर उसको कार्यरूप में परिणत करना। वर्तमान अव्यवस्था का कारण केवल वह असाधारण स्थिति ही नहीं है, जो युद्ध के दिनों तथा युद्ध के बाद के दिनों में भी फैली हुई थी। आज हमारी अर्थव्यवस्था शीघ्रता से बढ़ती जाने वाली हमारी जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल हो चुकी है। इस अर्थव्यवस्था में कई एक त्रुटियां हैं। हमारे देश में पर्याप्त जल नहीं है, खेत भी छोटे-छोटे हैं। अविभक्त भारत में ६४ प्रतिशत खेत ऐसे थे, जो पांच पांच एकड़ से कम के थे। वर्तमान उत्तर प्रदेश में ८१ प्रतिशत खेत ऐसे ही हैं। अन्य राज्यों की स्थिति भी इसी से मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतीयों की प्रधान आजीविका कृषि है। यहां खेती अर्थशास्त्र की शैली पर नहीं की जाती। यहां तो खेती मुख्य रूप से आजीविका का साधन है और उसमें कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं :

---

१. World Food Survey, issued by the F. A. O.

प्रथम, खेत के वास्तविक जोतने वाले को उसमें पूर्ण प्रयत्न करने का प्रलोभन होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसको इस बात का विश्वास होना चाहिए कि उसको उसके परिश्रम का पूरा लाभ मिलेगा। इस प्रकार वह जिस भूमि पर खेती करता है, या तो, वह उसकी अपनी होनी चाहिए या उसको यह विश्वास होना चाहिए कि वह उसके पास पर्याप्त लम्बे समय तक रहेगी। किसान की रक्षा के लिए तथा उभय मध्यस्थों को समाप्त कर देने के लिए आवश्यक कानून बनाया जाना चाहिए।

दूसरे, कृषि की इकाई को बढ़ाया जाना चाहिए। केवल छोटे छोटे खेतों को एक करना पर्याप्त नहीं है। वैज्ञानिक कृषि के लिए यांत्रिक कार्य करना आवश्यक होता है। एक प्रणाली यह है कि भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार और उसके समूहीकरण की प्रणाली को समाप्त कर दिया जाय। किन्तु भारत में व्यक्तिगत सम्पत्ति के ही अधिक पसन्द किये जाने से इसमें अत्यधिक ऐसी बाधाएं आयेंगी, जिनको पार नहीं किया जा सकेगा। एक दूसरी तथा अधिक व्यवहारिक प्रणाली है, व्यक्तिगत भूमियों को एकत्रित करके उनपर सहयोग के आधार पर कृषि करना।

तीसरे, गांवों तथा नगरों की बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए नए नए रोज़गार निकाले जाने चाहियें। यह तभी हो सकता है, जब छोटे तथा बड़े दोनों ही पैमानों पर देश में व्यापक औद्योगीकरण की नीति को अपनाया जाय।

यदि उद्योग-धन्धों का व्यापक रूप में साथ साथ विकास नहीं किया गया तो किसी प्रकार की भी कृषि सम्बन्धी उन्नति नहीं की जा सकती। औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी उन्नति के साथ ही यातायात, व्यापार, बैंकिंग, चल अर्थ आदि के विस्तार के प्रश्न भी जुड़े हुए हैं। किसी ठोस परिणाम को प्राप्त करने के लिए सभी को एक साथ लेना पड़ेगा। अतएव, एक ऐसी सर्वग्राही योजना के बनाए जाने की आवश्यकता है, जिसमें केन्द्रीय सरकार के पथ-प्रदर्शन में सभी राज्य सरकारों के सहयोग का विश्वास किया जा सके। हस्तक्षेप न करने की नीति से राष्ट्रीय शक्ति का अपव्यय होता है। इस बात की भारी आवश्यकता है कि देश की समस्त अर्थ-व्यवस्था तथा उसके कृषि सहित सभी रूपों को योजनाबद्ध किया जाय। हमारे देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाने से कृषि सम्बन्धी उन सुधारों को व्यवहारिक राजनीति के आधार पर सुलझाया जा सकता है, जिनके विषय में पहले विचार तक नहीं हो सकता था।

अब हम भारत में कृषि की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करेंगे।

४. क्षेत्र का विभाजन। भारत में प्रकाशित तथ्यों की अल्पता और उनके विश्वसनीय रूप के सम्बन्ध में आम शिकायत है। कृषि सम्बन्धी अंकों के विषय में यह शिकायत सबसे बड़ी है। कमी का मुख्य कारण ग्रामीण जनसंख्या की अशिक्षा तथा संग्राहक अफसरों की अयोग्यता है। अंकों की योग्यता को बढ़ाने का यत्न किया जा रहा है और यह आशा की जाती है कि इन प्रयत्नों का फल समय पर अवश्य होगा। भारत का

समस्त क्षेत्रफल इस प्रकार विभाजित किया गया है—

(दस लाख एकड़ों में)

देश	वर्ष	समस्त क्षेत्र-फल	जंगलों से ढका हुआ	कृषि के लिए अप्राप्य	कृषि योग्य व्यर्थ भूमि	ऊसर भूमि	बोई हुई भूमि के समस्त एकड़	सिंचित क्षेत्र
१	२	३	४	५	६	७	८	९
भारतीय जनतंत्र[1]	१९५१	७८१	१०९	२५५	८६	५४	२७७	५०
प्रतिशत अनुपात	—	१००	१४	३२·७	११	७	३५	१८

कृषि मंत्रालय द्वारा प्रकाशित उपरोक्त अंकों के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित परिणाम निकाल सकते हैं:—

(१) जंगलों से ढका हुआ १४ प्रतिशत क्षेत्र जनता की आवश्यकता के लिए पर्याप्त नहीं है। उसको २५ प्रतिशत तक बढ़ाने का तत्काल प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(२) जंगलों तथा ऊसर भूमि को मिला कर समस्त क्षेत्र फल का ५५ प्रतिशत वर्ष में खेती के लिए नहीं मिलता।

(३) प्रथम पंचवर्षीय योजना में बतलाया गया है कि ऊसर भूमि के क्षेत्र में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इस वृद्धि का कारण संभवतः विपरीत ऋतु, भूमि सुधार सम्बन्धी कानून तथा खेती के लिए बैल तथा कार्यकर्ता प्राप्त करने में कठिनाइयां हैं। इन बातों के सम्बन्ध में विस्तृत जांच की जानी चाहिए।

(४) भारत में लगभग ११ प्रतिशत क्षेत्रफल कृषि करने योग्य भूमि व्यर्थ पड़ी हुई है। खाद्य की संक्रामक कमी के कारण सरकार इस बात के लिए अत्यधिक प्रयत्न कर रही है कि इस क्षेत्र के यथासंभव अधिक से अधिक भाग में बहु-उद्देश्य योजनाओं तथा सिंचन योजनाओं द्वारा खेती कराई जाय।

(५) अविभक्त भारत के २४ प्रतिशत के मुकाबले आज भारत में समस्त बोए हुए क्षेत्र का केवल १८ प्रतिशत ही सींचा जाता है। शेष कृषि-भूमि वर्षा पर निर्भर करती है। अतएव बहुत छोटा भाग वर्ष में एक बार से अधिक बोया जाता है। भारत में सिंचित क्षेत्र का अनुपात कम होने से उसकी खाद्य-स्थिति पर बहुत विपरीत प्रभाव पड़ा है।

(६) भारत में समस्त बोई हुई भूमि २५ करोड़ १० लाख से लेकर साढ़े सत्ताईस करोड़ एकड़ के बीच में है। यह संख्या १९५१ की जनसंख्या के अनुसार प्रति व्यक्ति ·७ एकड़ पड़ती है।

१. देशी राज्यों सहित।

१९५० में यह अनुमान लगाया गया था कि "भारतीय राज्यों सहित भारतीय संघ का समस्त क्षेत्रफल ७८ करोड़ १० लाख एकड़ है। इसमें से साढ़े सत्रह करोड़ मकान, जंगल, पर्वतों तथा नदियों आदि से ढकी हुई है। कृषि न करने योग्य परती भूमि को छोड़ देने से भी शेष कृषि-योग्य भूमि देश में ४१ करोड़ ७० लाख एकड़ बच जाती है, जिसमें से ५ करोड़ ४० लाख एकड़ ऊसर भूमि है, साढ़े सत्ताईस करोड़ एकड़ में दो दो फसलों वाली भूमि सहित खाद्य तथा अन्य वस्तुओं की खेती होती है और शेष ८ करोड़ ८० लाख भूमि कृषि-योग्य पड़ी हुई व्यर्थ भूमि है"[1]।

५. फसलों का सापेक्ष महत्त्व। भारत में वर्ष भर में दो-दो फसलें देने वाली भूमि सहित जिस २४ करोड़ ८० लाख एकड़ भूमि में खेती की गई थी, उसमें से १९४०-४१ में कुल ८० प्रतिशत में खाद्य पदार्थ बोये गये थे, शेष २० प्रतिशत में अखाद्य पदार्थों की खेती थी। इसमें से ७५ प्रतिशत में तो अकेले अनाज ही थे। १९४८ में खाद्य पदार्थ (गन्ने सहित, किन्तु तिलहन को छोड़कर) कुल १८ करोड़ २ लाख एकड़ भूमि में बोये गये थे। इसके अतिरिक्त ३ करोड़ ६६ लाख एकड़ में अखाद्य फसलें, तिलहन तथा मसाले बोये गये थे। इससे हमारी अर्थ-व्यवस्था की असन्तोषजनक स्थिति का पता लगता है। हमारी जनसंख्या का तीन-चौथाई और हमारी खेती का चार-पंचमांश खाद्य पदार्थों के उत्पादन में लगा हुआ है और फिर भी वह देश की जनता के लिए पर्याप्त नहीं होते और भारतीय संघ को गेहूं तथा चावल का बहुत बड़े परिमाण में आयात करना पड़ता है। इस प्रकार १९४८ में हमको २८ लाख टन तथा १९४९ में ३७ लाख टन का आयात करना पड़ा। इस कमी को पूरा न किया जाने से भारत को १९५० में ४४ लाख टन तथा १९५१ में ४८ लाख टन सम्भवतः आयात करना पड़ेगा। यह आशा की जाती थी कि अपने सतत प्रयत्न से भारत १९५२ में अन्न के विषय में आत्मनिर्भर हो जायगा।

पृष्ठ ८५ पर दी गई तालिका से भारत में १९४७-४८ और १९५०-५१ में पैदा होने वाली फसलों के सापेक्ष महत्त्व का पता लगता है।

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि खाद्यपदार्थ, विशेषकर चावल तथा गेहूं उत्पादन के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि विदेशों को निर्यात के दृष्टिकोण से रुई, पटसन, चाय और तिलहन (विशेषकर मूंगफली,) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

६. खाद्य फसलें। अब भारत में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक फसल के सम्बन्ध में विस्तार से वाद-विवाद किया जा सकता है—

---

१. Self-sufficiency in Food, P. 8, published by Government of India.

खाद्य फसलें (लाख टनों मे)[1]

भारत	चावल[2]	गेहूं	ज्वार	बाजरा	चरी	रागी	जौ	जई	चना	योग	गन्ना[3]
१९४७-४८ (अन्तिम)	२१३	५६	५७	२६	२४	१४	२५	१६	४३	४७४	५८
१९५०-५१	२०३	६३[4]	५२	२३	१७	१४	२३	१९	३८	४३३	५५

खाद्येतर फसलें (लाखों में)

भारत	तिलहन, खाने योग्य (लाख टनों में)			खाद्येतर तिलहन (लाख टनों में)		तंतु (लाख गांठों में)		पेय पदार्थ (लाख पौंड में)		विभिन्न	
	तिल	मूंगफली	तरा व सरसों	अलसी	रेडी	रूई	पटसन	चाय	कहवा	तम्बाकू	रबड़ पौंड
१९४७-४८	४	३४	८	४·३	१·१	२२	१७	५६१७	३८६	२·४	३५०
१९५०-५१	४	३३	८	४	१	२९	३३	५७२०	३९०	२·५	३५०[5]

१. Source: Agricultural Situation in India. इसमें रिपोर्ट न करने वाले क्षेत्रों के अंक भी सम्मिलित हैं।

२. बिना छिलके वाला।

३. गुड़ के लिए।

४. सन् १९४९-५० के लिए।

५. १९५० के अंक।

(१) **चावल**—चावल भारत की सब से अधिक महत्त्वपूर्ण फसल है। यह अच्छे पानी वाली नीची भूमि में गरम जलवायु में उत्पन्न होता है। यह जाड़ों की फसल है। इसको दिसम्बर से जनवरी तक काटा जाता है। देश के विभिन्न भागों में स्थानीय दशाओं के अनुसार चावल की अनेक प्रकार की विभिन्न किस्में पैदा होती हैं। उदाहरणार्थ, बंगाल में दो फसलें होती हैं—औस या अगेती फसल और अमान या पिछेती फसल। औस को अमान की अपेक्षा कम वर्षा की आवश्यकता होती है। इसको ग़रीब लोग अधिक खाते हैं। जब कभी वर्षा होती है तो यह अकाल के विरुद्ध भोजन का काम देती है। नदी के मुहाने पर की निरल भूमि (Delta) की दलदलों में व्यवहारिक रूप से अकेले चावल की ही खेती की जा सकती हैं।

भारत में चावल के क्षेत्र तथा उत्पादन के सबसे ताजे अंक नीचे दिये जाते है। (१९४७–४८ और उसके बाद के जो भी अंक मिल सके, दिये जाते हैं।)

चावल (दस लाख में)

वर्ष	क्षेत्र (एकड़)	उत्पादन (टनों में)
१९४७–४८	६१	१९·६
१९५०–५१	७५	२०·३

बर्मा के भारत से पृथक् कर दिये जाने के बाद भारत को सदा ही चावल का आयात करना पड़ा। बर्मा के भारत से कट जाने से भारत का चावल का अपना उत्पादन घट कर कुल १३ लाख टन रह गया। १९३९-४० में भारत ने १८ लाख टन चावल का आयात किया, जो प्रायः बर्मा से ही मंगवाया गया। गत कुछ वर्षो से संसार भर में चावल की कमी हुई है। युद्ध से पूर्व विश्वभर में २० करोड़ टन चावल होता था। युद्ध के दिनों में इस उत्पादन में पर्याप्त कमी हो गई। १९४५ में कुल १८ करोड़ ८० लाख टन चावल ही उत्पन्न हुआ। युद्ध के बाद से 'खाद्य तथा कृषि संगठन' (Food and Agricultural Organization) अथवा (F. A. O.) एफ० ए० ओ० के तत्त्वानुधान में एक विश्व कांफ्रेंस प्रति वर्ष चावल के उत्पादन और वितरण के सम्बन्ध की समस्याओं पर विचार करती रही है।

१९४९ में अन्तर्राष्ट्रीय चावल कमीशन ने दक्षिण-पूर्व एशिया में चावल के उत्पादन और वितरण की व्यवस्था के सम्बन्ध में वाद-विवाद करने के उपरांत उसके विकास के लिए अनेक निश्चय किये थे। इनमें से कुछ ये हैं :

(१) चावल की फसल का परिवर्द्धन, (२) उसके बीजों तथा फसल के रोगों के नियन्त्रण, (३) उसकी खेती के यन्त्रों और उसके अर्थशास्त्र, (४) चावल की खेती के लिए भूमि, जलवायु, खाद और सिंचाई के सम्बन्ध में सूचनाएं एकत्रित करने, (५) माल का प्रामाणिक मान निश्चित करने, (६) अधिक अच्छे स्टोर बनाने,

(७) उसके उप-उत्पादनों, उदाहरणार्थ पुआल और भूसी के उपयोग, और (८) एक अंक विज्ञान परामर्शदातृ तथा अनुसन्धान संस्था के विषय में थे।

भारत को प्रति वर्ष एफ. ए. ओ. द्वारा चावल तथा गेहूं पर्याप्त परिमाण में दिये जाते हैं, किन्तु उसके लिए जो मूल्य चुकाना पड़ता है, वह बहुत ऊंचा होता है। यह अनुमान किया गया है कि भारत में १९४८ में कुल २८ लाख टन अनाज का आयात किया गया था और उसका मूल्य ११० करोड़ रुपये था, जबकि १९४९ में १५० करोड़ रुपये के मूल्य पर ३७ लाख टन का आयात किया गया था। १९५० में २१ लाख टन का आयात किया गया। १९५१ के लिए ३७ लाख टन का कोटा आयात करने के लिए निश्चित किया गया था। किन्तु अनेक भागों में वर्षा के न होने के कारण कोटे के इस परिमाण को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया गया। खाद्यान्न नीति कमेटी ने कहा था, "खाद्यान्नों को वर्तमान मूल्य पर इतने बड़े परिमाण में मोल लेते रहना स्पष्ट रूप से असम्भव है"। किन्तु, यद्यपि युद्ध को बीते ६ वर्ष से अधिक हो गये तथापि भारत के नागरिक क्षेत्रों में अभी तक अन्न का राशन चल ही रहा है। अन्न को किसानों से लेने की प्रणाली का भी आश्रय लिया जा रहा है, किन्तु पर्याप्त मात्रा में अन्न के न मिलते रहने से सरकार को भारी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है। सरकार इस कमी को पूरा करने के लिए अत्यधिक यत्न कर रही है, किन्तु १९५६ से पूर्व कभी पूरी किये जाने की आशा नहीं है।

(२) **गेहूं**—१९४७-४८ में २ करोड़ ४ लाख एकड़ भूमि में गेहूं बोया गया था और उससे ५४ लाख टन गेहूं पैदा हुआ था। १९४९–५० में २ करोड़ ४ लाख एकड़ भूमि में ६१ लाख टन गेहूं पैदा हुआ। १९५०–५१ की चतुर्थ भविष्यवाणी के अनुसार २ करोड़ ३५ लाख एकड़ भूमि में ६५ लाख टन गेहूं पैदा हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सरकार के प्रयत्नों का कुछ फल हो रहा है। किन्तु गेहूं की कमी एक साधारण वर्ष में भी सब मिला कर कम से कम तीस लाख टन बनी ही रहेगी, जो कि विदेशी अन्न के आयात से पूरी करनी पड़ेगी और जिसमें से कम से कम ५० प्रतिशत गेहूं तथा उसके उत्पादन होंगे। पाकिस्तान में एक एकड़ में ८ मन गेहूं पैदा होता है जब कि भारत में कुल सात मन ही पैदा होता है। इसके अतिरिक्त प्रति एकड़ उत्पादन प्रत्येक प्रांत में विभिन्न प्रकार का है—बिहार में प्रति एकड़ ८८२ पौंड, पंजाब में ७२८ पौंड और हैदराबाद में २३१ पौंड है। यूरोप में सबसे अधिक उत्पादन १,१४० पौंड प्रति एकड़, कैनेडा में ९७२ तथा अमरीका में ८४६ है। इस प्रकार यदि भारत में विज्ञान की सहायता ली जाय और हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था को ठीक-ठीक संगठित किया जाय तो यहां भी इस स्थिति में उन्नति हो सकती है। डाक्टर बर्न्स (Dr. Burns) ने हिसाब लगाया है कि प्रति वर्ष रस्ट (Rust) रोग हो जाने पर ५ प्रतिशत गेहूं बरबाद हो जाता है। किन्तु जिन स्थानों में बीमारियां बुरी तरह फैल जाती हैं वहां १०० प्रति शत गेहूं खराब हो जाता है। इसलिए गेहूं की ऐसी किस्मों में उन्नति करनी चाहिये जो रस्ट का

मुकाबला कर सकें। स्मट (Smut) नामक एक और रोग का भी प्रबन्ध करना है। इसका उष्ण जल के प्रयोग से इलाज किया जा सकता है। इस इलाज को पंजाब के कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने निकाला है। सिंचाई, खाद तथा फसलों को अदल-बदल कर बोने से प्रति एकड़ उत्पादन अवश्य ही अधिक होगा। अधिक से अधिक गेहूं उत्पन्न करने वाले क्षेत्र उत्तर प्रदेश, पंजाब बिहार, मध्य प्रदेश, पटियाला राज्यसंघ और मध्य भारत है।

१९१४ से पूर्व भारत गेहूं का निर्यात करता था। किन्तु विभाजन के बाद वह अन्न का बड़ी भारी मात्रा में आयात कर रहा है। १९४९ तथा १९५० में उसने कम से कम २२ और १४ लाख टन गेहूं तथा गेहूं के पदार्थों का क्रमशः आयात किया। इस बीच में सरकार ने गेहूं, चावल तथा अन्य अनाजों को किसानों से लेने का एकाधिकार स्थापित किया, जिससे राशन क्षेत्रों के लोगों को अन्न दिया जा सके।

अधिक कृषि के क्षेत्र छांट लिये गये हैं, खाद बांटे जा रहे हैं, ट्रैक्टरों द्वारा बंजर भूमि को तोड़ा जाकर उनमें कृषि कराई जा रही है। कांस तथा हरियाली भूमि का सुधार किया जा रहा है तथा ट्यूब वैल एवं सिंचाई के अन्य कार्यों को हाथ में ले लिया गया है। उद्देश्य केवल यह है कि १९५५-५६ तक अन्न के विषय में आत्मनिर्भरता हो जाय।

(३) **जौ**—भारत में कुल ७५ लाख एकड़ में जौ बोया जाता है। इसम से $\frac{३}{५}$ उत्तर प्रदेश में तथा शेष बिहार तथा पंजाब में बोया जाता है। हम सब मिलाकर २५ लाख टन जौ पैदा करते हैं। यह फसल खाद्य फसल की अपेक्षा अधिक नकद मूल्य देती है, क्योंकि इसका मुख्य रूप से शराब बनाने में उपयोग किया जाता है। भारत में इससे बीयर (Beer) नाम की शराब बनती है। पहले जौ की कुछ किस्मों का ब्रिटेन तथा अमरीका को निर्यात किया जाता था। किन्तु विभाजन के बाद की खाद्य स्थिति खराब हो जाने से अब देश में कुछ जौ का आयात भी करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, १९४९ में हमने १,८८,००० टन जौ विदेशों से मोल लिया। इस जौ का उपयोग अधिकतर खाने में किया गया। किन्तु १९५१ में जौ का आयात नहीं किया गया।

(४) **छोटे अन्न या मिलेट** (Millets) अथवा, जई, बाजरा और रागी समस्त देश में होते हैं। किन्तु यह अधिकतर बम्बई, मदरास, हैदराबाद, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश के खुश्क क्षेत्रों में होते हैं। यह खरीफ की फसल है और इसको उससे अधिक जल की आवश्यकता होती है, जितना उसको दक्षिण-पश्चिमी मानसून देता है। नागपुर, कोयम्बटूर और इन्दौर में किये हुए प्रयोगों के फलस्वरूप अब इनकी सुधरी हुई किस्में अच्छी मात्रा में बोई जा रही हैं।

निर्धन लोगों का भोजन यह छोटे अन्न ही हैं। बाजरे का इस कैलोरियों (पौष्टिक भोजन) की दृष्टि से अधिक मूल्य है। रागी में गेहूंसे भी अधिक कैल्सियम (Calcium) होता है। ज्वार कम वर्षा वाले क्षेत्रों में भारत में सदा ही बोई जाती रहेगी।

अतएव स्मट (Smut) के विरुद्ध उपायों तथा खुश्क खेती की प्रणालियों में अधिक अनुसन्धान करन से इसकी प्रति एकड़ उपज को बढ़ाया जा सकेगा।

चरी आदि यह छोटे अनाज पशुओं के भोजन के लिए भी उत्तम चारे का काम देते हैं। इनका विभिन्न किस्मों का गत वर्षों में समस्त क्षेत्रफल में उत्पादन निम्नलिखित रहा है—

छोटे अन्न (दस लाख टनों में)

फसल	क्षेत्र फल (एकड़)		उत्पादन (टनों में)	
	१९४७–४८	१९५०–५१	१९४७–४८	१९५०–५१
ज्वार	३६·२	३८·६	६·०	५·२
बाजरा	२०·७	२२·२	२·८	२·४
रागी	५·१	५·२	१·४	१·४
योग	६२·०	६६·०	१०·२	९·०

भारत में खाद्यान्नों के संकट के कारण हम इन छोटे अन्नों का भी आयात कर रहे हैं। १९४९ में हमने ४ लाख टन माइलो (Milo) बाहर से मोल ली थी और १९५१ के प्रथम आठ मास में ७·६ लाख टन मंगवाया जा चुका है।

(५) **दालें**—देश भर में चना, उड़द, मसूर, मोठ, मटर, अरहर आदि अनेक प्रकार की दालें पैदा होती हैं और यह लोगों के भोजन का आवश्यक भाग बनी हुई हैं। चना मुख्य दाल है और मुख्य रूप से पंजाब,उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, पटियाला राज्य संघ और बिहार में बोया जाता है। १९४७-४८ में एक करोड़ ७० लाख एकड़ में ३६ लाख टन तथा १९५०-५१ में एक करोड़ ९·७ लाख एकड़ में ३८ लाख टन चना भारत में पैदा हुआ। १९४९-५० हमारा सर्वोत्तम वर्ष था। इसमें भारत में ४५ लाख टन का उत्पादन हुआ था। देश के विभिन्न भागों में प्रति एकड़ उत्पादन कम नहीं है। कम से कम बम्बई में ५० पौंड, गुजरात में ५०० पौंड और पंजाब में १२०० पौंड है।

दालों का क्षेत्रफल तथा उत्पादन निम्नलिखित था—

दालें (लाखों में)

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ में)	उत्पादन (टनों में)
१९४७–४८	८५·९	८·२
१९४९–५०	८७·२	७·७

१९४० में कृषि अनुसन्धान की इम्पीरियल कौंसिल ने भारत में दालों के सम्बन्ध में किये हुए अन्वेषणों की सहायता करने तथा प्रत्येक मामले में एक बीज की किस्म का विकास करने तथा मिश्रित फसलें और खाद आदि अन्य उत्पादन बढ़ाने वाली दशाओं के

सम्बन्ध में एक विशेष कमेटी नियुक्त की थी। दालों का चारे के रूप में भी कम महत्त्व नहीं है।

(६) **चरी** (Maize)—चरी की खेती का क्षेत्रफल तथा उसका उत्पादन गत दो वर्षों में यह था :

जई (**दस लाख में**)

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ों में)	उत्पादन (टनों में)
१९४७–४८	७·८	२·१
१९५०–५१	७·६	१·७

भारत गत कुछ वर्षों में अपने लाखों भूखों को खिलाने के लिए चरी का भी आयात करता रहा है। इस समय भारत समस्त विश्व के १० करोड़ ९० लाख टन उत्पादन में से २० लाख टन चरी उत्पन्न करता है। चरी विश्व भर में उत्तरी तथा दक्षिणी अफ्रीका में सबसे अधिक उत्पन्न होती है। भारत में यह मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में उत्पन्न होती है। उत्तरी भारत में यह निर्धनों का महत्त्वपूर्ण भोजन है। इसके डंठल को पशु खा जाते हैं।

(७) **गन्ना**—भारत में गन्ने का क्षेत्रफल संसार के सभी देशों से अधिक है। गत वर्षों में इस उद्योग को संरक्षण दिये जाने से इसका उत्पादन अत्यधिक बढ़ गया है। १९४७-४८ में भारत में ३६ लाख एकड़ भूमि में गन्ना बोया गया था, जिससे ५० लाख टन गुड़ बना। सरकारी प्रयत्न से १९५०-५१ में गन्ने का क्षेत्रफल बढ़कर ४० लाख एकड़ हो गया और उससे ५५ लाख टन गुड़ बना। १९४९ में सफेद चीनी को फिर राशन में सम्मिलित कर दिया गया क्योंकि उसका स्टाक कम हो गया था और मूल्य चढ़ता जाता था। इस स्थिति में और भी सुधार करने के लिए सरकार ने चीनी सिन्डीकेट को बंद कर दिया। चीनी के उत्पादन तथा वितरण पर इसी सिन्डीकेट का नियन्त्रण था और जिसके विषय में यह कहा गया कि यह चोरबाजार पैदा करने में सहायता दे रहा था। १९५० में ५०,००० टन सफेद चीनी का आयात करना पड़ा था, किन्तु १९५१ में अधिक उत्पादन ने इस आवश्यकता को दूर कर दिया है।

गन्ना मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश तथा बिहार में बोया जाता है। भारत में इसकी हल्की किस्म ही बोई जाती है, और उसकी प्रति एकड़ पैदावार भी अन्य गन्ना-उत्पादक देशों की अपेक्षा कम है। सरकार गन्ने की किस्म तथा प्रति एकड़ उत्पादन पर विशेष ध्यान दे रही है। कोयम्बटूर में गन्ने की नसल को बढ़ाने के लिए एक केन्द्र खोला गया तथा राज्य के कृषि विभागों ने गन्ने की नई नई किस्मों को चालू किया है, जिनसे प्रति एकड़ अधिक गन्ना पैदा होता है।

७. खाद्येतर फसलें। प्रधान खाद्येतर अथवा नकदी की फसलें रुई, पटसन, चाय, कहवा, तम्बाकू, अफीम, रबड़ और मसाले हैं। इनको मुख्य रूप से बेच दिया

जाता है। इनका भारत के निर्यात में मुख्य स्थान है। १९५०–५१ में भारत में खाद्येतर फसलों (सभी प्रकार के खाने तथा न खाने योग्य तिलहनों सहित) का क्षेत्रफल ४ करोड़ २० लाख एकड़ था, जब कि खाद्य वस्तुएं २१ करोड़ ७० लाख एकड़ में बोई जाती थीं, अर्थात् खाद्येतर का अनुपात खाद्य वस्तुओं की अपेक्षा ८३% के विरुद्ध १७% था।

(१) **चाय**—भारत में चाय की खपत शीघ्रता से बढ़ रही है। भारत की चाय अमरीका तथा अन्य देशों में भी अधिक पसन्द की जाती है। इस ख्याति का कारण भारतीय चाय संघ का प्रचार-कार्य है। इसके प्रचार कार्य के लिए प्रति १०० पौंड पर बारह आने चुंगी लगा कर खर्चा दिया जाता है। यह तट-कर चाय के निर्यात पर १९३५ से लगाया जाता है। भारत में १९४८ में ७ लाख ६८ हजार एकड़ में ५७ करोड़ ६० लाख पौंड चाय पैदा हुई तथा १९४९ में ७ लाख ७१ हजार एकड़ में साढ़े ५८ करोड़ पौंड चाय का उत्पादन हुआ। १९४९ की चाय में से ४९ करोड़ २० लाख पौंड चाय का निर्यात कर दिया गया, जिससे ७९ करोड़ रुपये प्राप्त हुए। १९५० में चाय का निर्यात गिरकर ३९ करोड़ ६० लाख पौंड हो गया, जिससे ७० करोड़ रुपये मूल्य मिला।

(२) **कहवा**—भारत के अनेक स्थानों में अब कहवे के स्थान में चाय की खेती की जाने लगी है। इस कमी का कारण कुछ तो हानिप्रद पान तथा कुछ ब्राजील के सस्ते कहवे का बाजार में आ जाना है। कहवा (Coffee) प्रायः मैसूर राज्य (९६,२०० एकड़), मदरास (४९,६०० एकड़) तथा कुर्ग (३७,५०० एकड़) में बोया जाता है। कहवे के कुल उत्पादन अंकों को नीचे दिया जाता है—

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ों में)	उत्पादन (टनों में)
१९४८–४९	२,१८,०००	३५,०००
१९४९–५०	२,२१,०००	३९,०००

भारत पूरे वर्ष भर में एक करोड़ रुपये का ५००० टन कहवा निर्यात करता है। १९३५ से भारतीय कहवा कमेटी उसके पीने को सार्वजनिक रूप देने के लिए प्रचार कर रही है। इसके प्रचार के लिए प्रत्येक हंडरवेट पर आठ आना तट-कर लगा कर कमेटी को दिया जाता है। किन्तु कहवे का उत्पादन बढ़ाने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यह न तो भारतीय जलवायु के अनुकूल है और न ब्राज़ील के सस्ते कहवे के साथ प्रतियोगिता ही कर सकता है।

(३) **रुई**—भारतीय रुई की किस्म प्रायः नीचे दर्जे की होती है। "इसका तार छोटा होता है और प्रति एकड़ पैदावार भी कम होती है।" इस नीचेपन के कई कारण हैं। (क) इसकी किस्म को उन्नत करने में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता, क्योंकि इसका ऊन में मिलावट करने के लिए निर्यात किया जाता है और इस प्रकार

इसके अच्छे दाम मिल जाते हैं, (ख) नीची किस्म के अधिक बोये जाने का कारण यह भी है कि यह सूखे का अच्छा मुकाबला कर सकती है, (ग) गांठ बंधने के कारखानों में बीज मिल-जुल जाता है।

भारतीय रुई की किस्म तथा उसके प्रति एकड़ उत्पादन को बढ़ाने का यत्न भी किया गया। कृषि विभाग इसकी अच्छी किस्मों का विकास करने के कार्य में लगे हुए हैं। १९१७ में भारतीय रुई कमेटी की "लम्बे तार की रुई की उत्पत्ति को बढ़ाने के उपाय सुझाने, उसकी गांठें बांधने तथा उसको बेचने, उसमें मिलावट तथा गीलेपन को रोकने के लिए सुझाव देने के लिए" स्थापना की गई थी। उक्त कमेटी ने १९१९ में अपनी रिपोर्ट देते हुए यह सुझाव दिये :

(क) उसकी किस्म तथा उत्पादन को बढ़ाने के लिए वनस्पति शास्त्र सम्बन्धी कार्य;

(ख) बरार प्रणाली पर खुला बाजार; किसानों के लाभ के लिए रुई के मूल्यों का प्रकाशन; रुई की बिक्री करने वाली समितियों की स्थापना और स्टैण्डर्ड बाटों का प्रमाणीकरण तथा बीज में मिलावट रोकने के लिए उसकी रक्षा;

(ग) बम्बई में एक केन्द्रीय पूर्व भारत रुई संघ का रुई के समस्त व्यापार के नियन्त्रण के लिए निर्माण;

(घ) रुई उत्पादकों के हितों की रक्षा करने के लिए केन्द्रीय रुई कमेटी का निर्माण और कृषि विभाग तथा रुई के व्यापार को अधिक निकट लाना।

तदनुसार १९२१ में केन्द्रीय रुई कमेटी को नियत किया गया, जिसने उसी समय अपनी प्रथम बैठक की। १९२२ में पूर्व भारत रुई संघ को भी बना दिया गया, और १९२३ में मिलावट रोकने के लिए रुई निर्यात अधिनियम (Cotton Transport Act) भी पास कर दिया गया। १९२५ में इसी उद्देश्य से रुई से बीज निकालने और उसकी गांठें बनाने के कारखानों का अधिनियम (Cotton Ginning and Pressing Factories Act) को पास किया गया। भारतीय केन्द्रीय रुई कमेटी ने रुई की किस्म में सुधार करने की दिशा में बहुत काम किया है। उसने प्रयोगशालाओं की स्थापना की तथा बम्बई, इन्दौर और अन्य स्थानों में अनुसन्धान कार्य किया। उसके कार्यों के खर्चे के लिए प्रति गांठ दो आना कर लगाया जाता है। यह कर भारत में बनी सभी गांठों पर लगाया जाता है। रुई को बेचने की दशाओं में सुधार करने के लिए रुई बाजार अधिनियम (Cotton Markets Act) बम्बई, मध्य भारत तथा मदरास में पास किये गये।

भारत विभाजन ने भारत की रुई व्यवस्था को भी अत्यधिक निर्बल कर दिया। भारत जहां पहले रुई का निर्यातक था, अब उसका विशुद्ध आयातक है। निम्नलिखित तालिका से भारत में रुई के क्षेत्रफल और उसके उत्पादन का पता लगेगा :

रुई

वर्ष	क्षेत्रफल (१० लाख एकड़ों में)	उत्पादन (दस लाख गांठों में)[1]
१९४८–४९	११·३	१·८
१९४९–५०	१२·२	२·६
१९५०–५१	१३·९	२·९

रुई का क्षेत्रफल तथा उत्पादन दोनों ही बढ़ रहे हैं। प्रति एकड़ अधिक रुई उत्पन्न करने का अब अत्यधिक यत्न किया जा रहा है। भारत इस समय (१९५०–५१) में प्रति एकड़ ८७ पौंड रुई पैदा कर रहा है, जबकि मिस्र में वह प्रति एकड़ ५९०, अमरीका में ३१२ और पाकिस्तान में १५९ पौंड पैदा की जा रही है।

भारत की कच्ची रुई के विदेशी व्यापार को नीचे की तालिका में दिखलाया गया है:—

रुई के आयात और निर्यात

	निर्यात		आयात	
वर्ष	टन	रुपये (करोड़ों में)	टन	रुपये (करोड़ों में)
१९४८[2]	६३,०००	२०	९९,०००	५२
१९४९	४८,०००	१६	२,०४,०००	७७
१९५०	३६,०००	१८	२,०४,०००	६०

भारत को अगस्त १९४९ से पाकिस्तान के साथ अपने व्यापार-सम्बन्ध ठप्प हो जाने से रुई की प्राप्ति में बड़ी भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा था।

(४) **जूट**—१९२९–३५ तक की मंदी के दिनों में पटसन का मूल्य अत्यधिक गिर गया था। बाजार बढ़ाने में सहायता देने के लिए बंगाल सरकार ने उत्पादकों से अनुरोध किया था कि वह स्वेच्छापूर्वक पटसन की खेती कम करें; किन्तु उसका कुछ विशेष परिणाम नहीं निकला। १९३६ में अनुसन्धान करने तथा ठीक अंकों का संकलन करने के लिए ५ लाख रुपया वार्षिक के अनुदान से एक भारतीय केन्द्रीय जूट कमेटी नियुक्त की गई। युद्ध के कारण पटसन की मांग अत्यधिक बढ़ गई। १९४० में कारखानों का नियमन करने, जूट की खेती में एकड़ों का नियंत्रण करने तथा मूल्य का नियन्त्रण करने के लिए बंगाल जूट नियमन अधिनियम (Bengal Jute Regulation Act) पास किया गया। अभी पिछले दिनों सरकार ने पटसन पर से नियन्त्रण उठा लिया है, जिससे उसका मूल्य अत्यधिक चढ़ गया।

---

१. एक गांठ का भार ३९२ पौंड होता है।

२. केवल अप्रैल से दिसम्बर तक।

कुछ इलाकों में लोगों ने पटसन की खेती के कारण चावल बोना बन्द कर दिया है। इससे पटसन के कारण खाद्यान्नों के परिमाण में भी कमी हो गई है। पटसन किसी अन्य फसल की अपेक्षा भूमि के उर्वरापन को अधिक कम करता है। किन्तु बंगाल की केवल १० प्रतिशत भूमि पर ही पटसन बोया जाता है जबकि चावल वहां की ७२ प्रतिशत से भी अधिक भूमि पर बोया जाता है। विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए भारत से पटसन का निर्यात किया जाना बहुत आवश्यक है। भारत में पटसन का उत्पादन बढ़ाने का लगातार प्रयत्न किया जा रहा है। उसके अंक निम्न-लिखित हैं—

जूट

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ों में)	उत्पादन गांठों में (प्रत्येक गांठ ४०० पौंड की)
१९४८	८,३४,०००	२०,५५,०००
१९४९	११,६३,०००	३०,८९,०००
१९५०	१४,४९,०००	३२,९२,०००

दुर्भाग्यवश पटसन का ⅘ क्षेत्रफल पाकिस्तान में चला गया जबकि पटसन की सभी मिलें भारत में है। अतएव भारत को लगभग ५० लाख पटसन की गांठों के लिए पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ता है। किन्तु भारत के अपनी मुद्रा (Currency) का मूल्य घटाने तथा पाकिस्तान के न घटाने से पाकिस्तान का पटसन भारत को अधिक महंगा पड़ने लगा। वास्तव में सितम्बर १९४९ से लेकर अप्रैल १९५० तक, जबतक नेहरू-लियाकत समझौते के फलस्वरूप यह मामला अपने आप ही ठीक न हो गया, तबतक भारत तथा पाकिस्तान का व्यापार एकदम बन्द रहा। मामले को और खराब करने के लिए पाकिस्तान ने भारत द्वारा मोल लिये हुए पटसन को भी रोक लिया। अतएव भारत में पटसन के उत्पादन को बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक हो गया। इस बढ़े हुए उत्पादन के लिए उत्तर प्रदेश, मदरास तथा ट्रावनकोर को चुना गया। इसके फलस्वरूप पटसन बोये जाने वाले हमारे क्षेत्रफल में वृद्धि हुई। पंचवर्षीय योजना में अगले पांच वर्षों में पटसन के उत्पादन में २०,६०,००० गांठों की वृद्धि करने का प्रस्ताव किया गया है। १९५० में कुल कमी ३३ लाख गांठों की थी। यह अनुमान लगाया गया है कि १९५६ में कुल १२ लाख गांठों की कमी रहेगी। इस कमी को किसी अंश में मेस्टा (Mesta) के उत्पादन से भी पूरा कर लिया गया है। मेस्टा का उपयोग पटसन के वस्त्रों की मोटी किस्में बनाने में किया जाता है।

(५) **नील**—१९वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी द्वारा बनावटी रंगों का आविष्कार किये जाने से भारत के नील के निर्यात व्यापार को भारी धक्का लगा है। इससे नील की खेती का क्षेत्रफल अत्यधिक घट गया। १८९६-९७ में १७ लाख एकड़ भूमि में नील की खेती की जाती थी; १९४०–४१ में केवल ६५,००० एकड़ में ही

नील बोया गया। यह खेती मुख्य रूप से मदरास, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब और बंगाल में की जाती है। इसकी फसल का भावी व्यापारिक महत्त्व कुछ अधिक नहीं है, क्योंकि भारत इससे न तो रंग बनाने की स्थिति में दोबारा आ सकता है और न इसका निर्यात ही कर सकता है।

(६) **अफीम**—अफीम के खेतों का क्षेत्रफल भी बहुत घट गया। सरकार ने १९०७ के समझौते के अनुसार चीन को तथा बाद के समझौते द्वारा अन्य देशों को अफीम का निर्यात करना एकदम बन्द कर दिया। १९०६–७ में ब्रिटिश भारत में ६,१४,८७९ एकड़ में अफीम बोई जाती थी। १९४०-४१ में यह क्षेत्रफल घट कर कुल ५,८१६ एकड़ ही रह गया। अब पोस्ता की खेती सरकारी लेसेंस के आधीन केवल औषधियों के लिए ही की जाती है। इसकी खेती मुख्य रूप से भारत में मालवा और उत्तर प्रदेश में ही की जाती है। भारत को अपने अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का पालन करने के लिए अपने राजस्व के एक बड़े भाग से वंचित होना पड़ा है।

(७) **तम्बाकू**—भारत अमरीका तथा चीन के बाद तम्बाकू के उत्पादक देशों में संसार का तीसरा सबसे बड़ा देश है। १९५० में उसने ८,३६,००० एकड़ भूमि में २,४६,००० टन तम्बाकू पैदा किया। तम्बाकू भारतभर में पैदा होता है, किन्तु मदरास के गुन्टूर, किस्टना और गोदावरी ज़िलों में सिगरेटों के लिए सर्वोत्तम वर्जीनिया तम्बाकू की खेती की जाती है। गुन्टूर इसका मुख्य बाज़ार है। यहां केन्द्रीय अनुसन्धान गृह भी है। १९४८ में ८ करोड़ ७९ लाख रुपयों के तम्बाकू का तथा १९५० में १५ करोड़ ९० लाख रुपयों के तम्बाकू का निर्यात किया गया। ब्रिटेन इसका मुख्य बाज़ार है। इंडियन जेनेरल टुबैको कम्पनी (Indian General Tobacco Co.) ने डाक्टर जगजीवन सिंह को लंदन में अपना सम्पर्क अफसर बनाया हुआ है। भारत को तम्बाकू की पत्तियां उगाने तथा सिगार, सिगरेटों तथा पाइप के तम्बाकू में आत्मनिर्भर बनने के लिए (Flue Curers) कोमल पत्तियों के विषय में निपुण कारीगरों को शिक्षा देते रहना चाहिए। भारत में तम्बाकू का आयात कम करने और उसके निर्यात को यथासम्भव बढ़ाने के यत्न किये जा रहे हैं। इस प्रकार भारत के तम्बाकू का निर्यात १९४९-५० के ५ करोड़ ९० लाख पौंड से बढ़कर १९५०-५१ में १० करोड़ १० लाख पौंड हो गया जबकि उसका आयात इसी १२ मास के काल में ७० लाख पौंड से घटकर कुल ५० लाख पौंड रह गया।

(८) **चारे की फसलें**—१९०१ के २९ लाख ४० हज़ार एकड़ क्षेत्रफल के मुकाबले १९४०-४१ में १ करोड़ ५ लाख एकड़ में भारत में चारे की खेती की गई। यह खेती प्राय: पंजाब, बम्बई और उत्तर प्रदेश में की गई। किन्तु पशुओं की बड़ी भारी जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए यह क्षेत्रफल पर्याप्त नहीं है। पिछले वर्षों में हमारे कृषि विभाग ने अधिक उत्तम चारे की बुवाई कराने तथा चारे को गोदामों में रखने की

समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया है। अन्य घासों में मिस्र की क्लोवर (Clover) तथा बरसीम (Berseem) घासों को भारत में सफलतापूर्वक बोया गया है।

(९) **कुइनैन का वृक्ष**—सिनकोना (Cinchona) अथवा कुइनैन के वृक्ष की खेती दार्जिलिंग तथा नीलगिरी की सरकारी सिनकोना पौधशालाओं में की जाती है। सरकारी पौधशालाओं का आरम्भ १६८२ में आरम्भ किया गया था। युद्ध के दिनों में कुइनैन का मिलना एक कठिन समस्या हो गई। भारत में सिनकोना के अधिक वृक्षों को लगाने का यत्न किया जा रहा है। कुइनैन सिनकोना की छाल में से निकाली जाती है।

(१०) **रबड़**—रबड़ की खेती मुख्यरूप से मदरास, कुर्ग और मैसूर में की जाती है। १९५० में रबड़ की खेती का कुल क्षेत्रफल १,७०,००० एकड़ था। इससे साढ़े तीन करोड़ पौंड रबड़ निकली। युद्ध पूर्वकाल में रबड़ के मूल्य में भारी गिरावट आने से रबड़ का उत्पादन तथा निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार नियन्ति कर दिया गया। इससे बाज़ार को बड़ी भारी सहायता मिली। युद्धकाल में रबड़ के अधिक वृक्ष लगाने और उसके नए-नए साधन ढूंढने का यत्न किया गया। भारत को प्रतिवर्ष कई सौ टन रबड़ का आयात करना पड़ता है। इस कमी को पूर्ण करने के लिए कम रबड़ देने वाले वृक्षों के स्थान पर अधिक रबड़ देने वाले वृक्षों को लगाया जा रहा है। इस प्रकार २० वर्ष में १५,५०० टन का वर्त्तमान उत्पादन बढ़कर ४१,००० टन हो जायगा। आजकल रूस तथा अमरीका में मिलावटी रबड़ का निर्माण किया जा रहा है। वह स्वाभाविक रबड़ से कीमत में सस्ती पड़ती है।

(११) **तिलहनें**—भारत में दो प्रकार की तिलहनों (तेल के बीजों) की खेती की जाती है—एक खाने योग्य, दूसरे न खाने योग्य। मूंगफली खाने योग्य होती है, जबकि तरा, सरसों, रेंडो और अलसी खाने योग्य नहीं होते। मूंगफली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। निम्न तालिका से उसके महत्त्व का पता लग सकता है:—

मूंगफली

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ों में)	उत्पादन (टनों में)	निर्यात (टनों में)
१९४७-४८	१,००,७९,०००	३४,११,०००	६०,०००
१९५०-५१	१,०४,७२,०००	३३,३१,०००	९६,०००

मदरास में मूंगफली की सबसे अधिक खेती ४० लाख एकड़ में भूमि होती है। उसके बाद बम्बई में लगभग २० लाख एकड़, हैदराबाद में १५ लाख एकड़ तथा मध्यप्रदेश में ६ लाख एकड़ भूमि में मूंगफली की खेती की जाती है। अवमूल्यन (Devaluation) से पूर्व भारतीय मूल्य विश्व मूल्यों से ऊंचे थे। अतएव भारतीय तिलहन कमेटी ने सिफारिश की कि खेती तथा बिक्री की अधिक उत्तम प्रणालियों को अपना कर उत्पादन के खर्चे को कम किया जाय। भारत ने १९४९-५० में १,२६,००० टन मूंगफली का निर्यात करके १९५०-५१ में कुल ३६,००० का ही

निर्यात किया। किन्तु उसने इसी बीच में ७० लाख गैलन मूंगफली के तेल के मुकाबले १ करोड़ ५६ लाख गेलन तेल का निर्यात किया। मूगफली के लिए जर्मनी, नीदरलैण्ड्स्, स्विट्जलैंण्ड और ब्रिटेन हमारे सबसे अच्छे ग्राहक हैं और उसके तेल के लिए बर्मा, फ्रांस और नीदरलैण्ड्स् हमारे ग्राहक हैं। भारत सरकार मूंगफली के दाने की अपेक्षा उसके तेल का निर्यात बढ़ाने में सफल हो गई है।

भारत भर में १९४८ में १ करोड़ ४० लाख एकड़ भूमि में १७,०६,००० टन तिलहन का उत्पादन हुआ। यह उत्पादन १९५१ में बढ़कर १ करोड़ ५५ लाख एकड़ भूमि में १७,३८,००० टन हो गया। नीति यह है कि बीजों की अपेक्षा तेल का निर्यात बढ़ाया जाय, जिससे उनकी खली हमारे पशुओं के भोजन के लिए बच रहे। अलसी इन सब में अधिक महत्त्वपूर्ण है। १९४८-४९ में ३९ लाख एकड़ भूमि में ४,३९,००० टन अलसी का उत्पादन हुआ था। अलसी के तेल का निर्यात १९४९-५० के १८ लाख गैलन तेल के मुकाबले १९५०-५१ में १४ लाख टन तेल का हुआ। हमारा अलसी के तेल का सबसे बड़ा ग्राहक दक्षिणी अफ्रीका था। उसको हम १९४६-४७ से कोई तेल नहीं भेजते। आज अलसी तथा उसके तेल के लिए आस्ट्रेलिया हमारा सबसे बड़ा ग्राहक है। उसके अन्य मुख्य ग्राहक इटली, मिस्र, न्यूज़ीलैण्ड, ब्रिटेन और पाकिस्तान हैं।

हमारे रेंडी के बीज तथा तेल का निर्यात बहुत घट गया है। किन्तु १९४९-५० के ५,००० टन रेंडी के बीज तथा ११ लाख टन तेल के निर्यात की अपेक्षा वह १९५०-५१ में बढ़कर ७८,००० टन तथा ६० लाख गैलन हो गया। उसके निर्यात को बढ़ाने के लिए उत्पादन की किस्म को अधिक अच्छा करने का यत्न किया जा रहा है।

तरे (Rape seed) को सरसों में मिलाकर भ्रम नहीं उत्पन्न करना चाहिए। इसका उत्पादन मुख्य रूप से उत्तरी भारत अर्थात् उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार और बंगाल में किया जाता है। तरे के बीज का निर्यात ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम तथा फ्रांस को किया जाता है। भारत भर में तरे तथा सरसों का उत्पादन १९४९-५० में ४८ लाख एकड़ भूमि में ७,९३,००० टन का हुआ था। उसके बाद १९५०-५१ में ५५ लाख एकड़ भूमि में ८,२६,००० टन का हुआ। उत्तर प्रदेश तिल का सबसे बड़ा उत्पादक है। इसका निर्यात सबसे अधिक यूरोप के महाद्वीप के देशों को किया जाता है। १९५०-५१ में तिल का ५० लाख एकड़ में ४,२७,००० टन उत्पादन हुआ था।

गोले का तेल भी एक खाद्य पदार्थ है। इससे भोजन पकाने में काम लिया जाता है। साथ ही इससे नकली मक्खन (Margarine) तथा बनस्पति बनाया जाता है। इसकी खेती १५ लाख एकड़ में की जाती है। गोला गर्म जलवायु में द्वीपों तथा समुद्री तट के समीप उत्पन्न होता है।

८. उत्पादन और भी बढ़ाने की आवश्यकता। भारत की ग्रामीण जनसंख्या का अधिकांश केवल पेट भरने द्वारा ही अपनी गुजर करता आया है। ग्रामीण

क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति आय के विभिन्न अनुमान उसको वास्तव में अत्यन्त निम्न स्तर पर ही ले जाते हैं। डाक्टर राव की सम्मति में १९३१ में नागरिक क्षेत्रों की प्रति व्यक्ति १६२ रुपये आय के मुकाबले ग्रामीण क्षेत्रों की आय प्रति व्यक्ति कुल ४८ रुपये थी। १९४८-४९ के सम्बन्ध में राष्ट्रीय आय कमेटी (National Income Committee) की प्रथम रिपोर्ट १९५१ में प्रकाशित हुई थी, उसमें ३४ करोड़ १० लाख जनसंख्या की प्रति व्यक्ति आय २५५ रुपया लगाई गई थी। इस कमेटी के निर्णय के आधार पर लगाए हुए हिसाब के अनुसार ६८ प्रतिशत व्यक्ति कृषि की आजीविका में लगे हुए थे। कृषि कार्य में लगे हुए व्यक्ति की आय १८० रुपया तथा अन्य कार्य में लगे हुए व्यक्ति की आय ४१६ रुपये लगाई गई थी। ग्रामीण आय को बढ़ाने का एकमात्र उपाय कृषि उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न करना है।

इस समस्या पर एक और दृष्टिकोण से विचार करने पर यह देखने में आता है कि आज भारत को अन्न की भयंकर कमी का सामना करना पड़ रहा है। इस कमी का प्रथम बार अनुभव युद्ध के दिनों में उस समय किया गया जब बर्मा से आयात का आना रुक गया था। अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के चलाये जाने पर भी यह कमी बनी हुई है, वरन् और अधिक बढ़ गई है। सूखा, बाढ़ें तथा अन्य प्राकृतिक आपत्तियां इस आपत्ति को बढ़ाने का कारण हैं। जबकि हमारा उत्पादन घट रहा है हमारी जनसंख्या चालीस लाख प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही है। इसके परिणामस्वरूप विदेशों से अत्यधिक मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ रहा है।

१९४७ में देश के स्वतन्त्र होने पर सरकार ने स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया। अतएव उसने इस विषय में देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए खाद्य-पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने का निश्चय किया। भुगतान के संतुलन में कमी तथा पाकिस्तान के साथ व्यापार ठप्प हो जाने के कारण सरकार को रुई तथा पटसन का उत्पादन भी बढ़ाने के लिए विवश होना पड़ा। उन्होंने घोषणा की कि सरकार की इच्छा मार्च १९५२ के बाद अन्न का आयात करने की नहीं है, किन्तु प्राकृतिक आपत्तियों के कारण उसके प्रयत्न इस विषय में भी असफल प्रमाणित हुए। अतएव उन्होंने इस उद्देश्य को १९५३ में प्राप्त कर लेने की योजना बनाई है। इस विषय में दो दिशाओं में यत्न किया जा रहा है— अधिकाधिक भूमि में कृषि किये जाने का यत्न किया जा रहा है और प्रति एकड़ पैदावार बढ़ाने का यत्न भी किया जा रहा है। प्रथम समस्या का अर्थ है व्यर्थ पड़ी हुई भूमि का सुधार, और दूसरी समस्या अत्यधिक खेती पर बल देती है। अब उनके सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

९. यान्त्रिक कृषि द्वारा भूमि सुधार की सम्भावनाएं। ७८ करोड़ १० लाख एकड़ के समस्त क्षेत्रफल में से ८ करोड़ ८० लाख एकड़ कृषि योग्य परती भूमि समझी जाती है। इसके अतिरिक्त एक करोड़ एकड़ भूमि ऐसी है जो किसी समय

कृषि के काम में आती थी, किन्तु अब उस पर इतनी अधिक कांस पैदा हो गई है कि इसको छोड़ देना पड़ा। एक तीसरी प्रकार की बेकार भूमि और भी है, जो ऊसर कहलाती है। उसमें रेत जैसे क्षार मिले होते हैं।

'कृषि योग्य परती भूमि' कहलाने वाली भूमि 'कृषि योग्य' नहीं है। इसमें से दो या अढ़ाई करोड़ एकड़ से अधिक भूमि को जोत कर लाभ प्राप्त नहीं किया जासकता। यह हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकता पूरी करने के लिए कोषागार है।

भारत से बर्मा के पृथक् हो जाने से उसकी खाद्य की आन्तरिक पूर्ति १३ लाख टन कम हो गई है। द्वितीय विश्व युद्ध के दिनों में स्थिति और भी बुरी हो गई, क्योंकि भारत की खाद्य की कमी को विदेशी आयात द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता था। "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन से भी इस विषय में कुछ सहायता नहीं मिली, "क्योंकि उद्देश्य अत्यन्त व्यापक था और आवश्यक शक्ति तथा प्रयत्न का बहुत कुछ अभाव था।" देश के विभाजन के फलस्वरूप देश के खाद्यान्नों में ७ लाख ७० हजार टन की और भी कमी हो गई। यह देखने में आया कि "यद्यपि भारत के पास उसकी जनसंख्या का ८२ प्रतिशत बाकी रह गया, किन्तु उसको भूमि का केवल ७७ प्रतिशत भाग ही मिला, जिससे भूमि पर अधिक दबाव पड़ने लगा।" साथ ही जबकि जन्म संख्या प्रति मील बढ़ कर २५ से भी अधिक हो गई, मृत्यु-संख्या घटकर १६·७ ही रह गई। इससे हमारे पास प्रतिवर्ष ४० लाख व्यक्ति अधिक खाने वाले बढ़ने लगे। अतएव अधिक भूमि में कृषि करना एकदम आवश्यक हो गया। अतएव उसकी संभावनाओं पर विचार किया जाता है।

(क) राष्ट्रीय आय कमेटी के अनुसार १,५०,००० वर्ग मील भूमि राज्य के जंगलों से ढकी हुई है। रिपोर्ट न करने वाले क्षेत्रों तथा व्यक्तिगत जंगलों को इस संख्या में जोड़ देने से उसका समस्त योगफल २,५७,००० वर्ग मील हो जाता है। तो भी हमारे जंगलात साधन पर्याप्त नहीं हैं। हमको अधिक गोचर भूमि, अधिक ईंधन और इमारती लकड़ी मिलने तथा भूमि को फटने से बचाने के लिए इस क्षेत्रफल को कम से कम २५ प्रतिशत बढाने की आवश्यकता है। जंगलात के क्षेत्र में कृषि नहीं की जा सकती।

(ख) प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि क्षेत्रफल में १९५६ तक निम्न प्रकार से वृद्धि करने का प्रस्ताव किया गया है—

बड़े बड़े सिंचाई के कार्यों से	८० लाख एकड़
छोटे छोटे सिंचाई के कार्यों से	७० लाख एकड़
ऊसर में खेती करने से	४० लाख एकड़
केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन द्वारा भूमि सुधार से	१५ लाख एकड़

जंगली घास वाली भूमि प्रथम श्रेणी के खाद्य उत्पादक क्षेत्र हैं। कांस, हरिया अथवा

दूब वह जंगली घास हैं, जिन्होंने इन क्षेत्रों को देशी औजारों से खेती न करने योग्य बना दिया है। केवल विशेष ८० अश्व शक्ति के ट्रैक्टर विशेष हलों के साथ, जो भूमि के अन्दर १२ इंच तक घुस सकें, इस काम को कर सकते है। इन भूमियों के आरम्भ से ही बसी होने के कारण, उनके ऊपर नई बस्ती बसाने का खर्चा भी नहीं होगा।

नई भूमियों को सुधारना कुछ कठिन कार्य है। वह मलेरिया से भरे हुए क्षेत्र हैं और उनमें यातायात के साधन भी नही है। वहां न गांव है और न पीने का पानी। इन गहन झंखार वाले जंगलों को साफ करने के बाद यहां इन सभी सुविधाओं को भी उपलब्ध करना पड़ेगा। वृक्षों को गिरा कर भूमि में से उनकी जड़ों को भी निकालना होगा। अतएव यहां वृक्ष उखाड़ने वाले भारी भारी ट्रैक्टरों की आवश्यकता पड़ेगी। उत्तर प्रदेश के गंगा खादर तथा नैनीताल (तराई) में इस प्रकार की योजनाएं चला दी गई है और वहां सफलता प्राप्त हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने अमरीका से ३७५ नए ढंग के भारी ट्रैक्टर तथा अन्य सामान मोल लेने के लिए भारत को एक करोड़ डालर का ऋण दिया है। अमरीका से यह माल आ चुका है। उसको पन्द्रह-पन्द्रह की इकाइयों में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्य भारत और भोपाल को दे दिया गया है। कुछ ट्रैक्टर पंजाब को भी दिये गये हैं। उनकी मरम्मत करने के लिए कारखाने खोल दिये गये हैं और उनमें चतुर कारीगर रखे गये हैं।

केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ द्वारा प्रति वर्ष जितनी एकड़ भूमि का सुधार किया गया है, उसकी संख्या नीचे राज्यवार दी जाती है—

वर्ष	राज्य	उपयोग में आए हुए ट्रैक्टरों की संख्या	सुधारी हुई भूमि के एकड़ों की संख्या	अतिरिक्त उत्पादन (टनों में)
१९४७–४८	उत्तरप्रदेश	६०	२५,०७७	११,०००
	मध्यप्रदेश	३०	७,४५४	
१९४८–४९	उत्तरप्रदेश	४५	२०,६००	२४,०००
	मध्यप्रदेश	९०	३९,२४७	
	मध्यभारत	१५	५,२००	
	पंजाब	१५	६,४५०	
१९४९–५०	उत्तरप्रदेश	६०	१२,८६६	२६,०००
	मध्यप्रदेश	९०	२९,५६९	
	मध्यभारत	४५	११,३३५	
	पंजाब	३०	१,०६७	
	भोपाल	३०	१८,५०९	
१९५०–५१ के लिए लक्ष्य		२४०	२,३९,५००	
१९५१–५२ के लिए लक्ष्य		२४०	२,८०,०००	

यन्त्रों द्वारा भूमि सुधार करने का यह सारा खर्चा केन्द्रीय सरकार उठाती है।

यह भूमि-सुधार से स्वतः आय सिद्ध है। जंगली घासों की भूमि को सुधारने का खर्च प्रति एकड़ ४० रुपये तथा नई भूमि को सुधारने का खर्च प्रति एकड़ ५० रुपये पड़ता है। इस सारे खर्चे को ५ से लेकर १० वर्ष तक सुगमता से चुकाया जा सकता है।

ऊसर अथवा रेह वाली भूमि को सुधारने की समस्या बिलकुल भिन्न प्रकार की है। किन्तु उसको सुधारने के साधनों को भी अच्छी तरह से समझ लिया गया है। इस प्रकार की भूमि में कुछ थोड़े ही समय में हल चलाया जा सकता है।

इन विभिन्न प्रकार की योजनाओं से हम को ७२ लाख टन अन्न, २० लाख गांठ पटसन तथा १२ लाख गांठ रुई तिलहन तथा चीनी के अतिरिक्त मिलेगी।

(ग) **वर्तमान बंजर भूमियां**—एक वर्ष में साढ़े पांच करोड़ एकड़ भूमि को घेर लेती है। इस प्रकार की भूमियों का अनुपात अत्यधिक है। इससे हमारे कृषि-प्रणालियों के पुरानेपन पर प्रकाश पड़ता है। वैज्ञानिक खाद देने तथा फसलों की ठीक तौर से अदला-बदली करते रहने से इस क्षेत्र को बरबाद होने से बचाया जा सकता है। पाश्चात्य देशों में बंजर भूमि के स्थान पर अनाज, आलू तथा जड़ों वाली फसलें एक-दूसरे के अन्दर जोत कर बो दी गई हैं। इससे हमारी कृषि अर्थ-व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन होगा कि फसलों से और भी अधिक विशेषता प्राप्त की जा सकेगी। अगले पांच वर्ष में ४० लाख एकड़ बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाया जायगा।

१०. उन्नत कृषि प्रणाली के लिए कार्यक्षेत्र। १९४८ में भारत की जनसंख्या में प्रतिव्यक्ति खेती का क्षेत्रफल ·७१ एकड़ था। जापान में प्रति व्यक्ति कृषि भूमि $\frac{1}{3}$ एकड़ से कुछ कम पड़ती है, किन्तु जापान में कृषि की उन्नत प्रणालियों का उपयोग किये जाने के कारण प्रति एकड़ उत्पादन भारत की अपेक्षा कहीं अधिक है, जिससे वहां खाद्य की कोई बड़ी कमी नहीं है। भारत में प्रति एकड़ उत्पादन संसार भर में लगभग सबसे कम है। नीचे दी हुई तालिका से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।

उत्पादन का तुलनात्मक अध्ययन (१९४८)[१]

		पौंड प्रति एकड़	पौंड प्रति व्यक्ति
१. रुई (ओटी हुई)	भारत	८७	३
	पाकिस्तान	१५९	६
	मिस्र	५९०	४५
	अमरीका	३१२	४९
२. चावल	भारत	१०४५	१८५
	थाईलैण्ड	११४१	६८७
	बर्मा	१२१६	६८६

१. Agricultural Situation in India and F. A. O. Year Book of Agriculture, 1948.

		पौण्ड प्रति एकड़	पौण्ड प्रति व्यक्ति
	चीन	२२४३	..
	जापान	३३२१	३१३
३. गेहूं	भारत	५९३	३५
	पाकिस्तान	७३३	१००
	आस्ट्रेलिया	९०९	१४८४
	कैनाडा	९७९	१८३२
	अमरीका	१०७९	५३८
	फ्रांस	१६१०	४१२
४. कच्ची खांड	भारत	३०६३	३३
(चुकन्दर सहित)	क्यूबा	४५६७	२६२२
	मारीशस	६१३२	१९५६
	अमरीका	३७०१	२५
५. पटसन	भारत	१०५९	?
	पाकिस्तान	११६८	३०

यह अंक वास्तव में बहुत दिलचस्प हैं। इनसे यह स्पष्ट रूप से पता लग जाता है कि पाकिस्तान सहित सभी देश किस प्रकार भारत की अपेक्षा प्रति एकड़ प्रत्येक वस्तु का उत्पादन कर रहे हैं। भारत की नदी योजनाओं तथा सिंचाई की अन्य योजनाओं के पूर्ण हो जाने पर इस बात का कोई कारण नहीं रहेगा कि भारत भी पर्याप्त रूप में अपने प्रति एकड़ उत्पादन को क्यों नहीं बढ़ा लेगा।

जापान का मामला भारत के लिए अत्यन्त शिक्षापूर्ण है। उस देश में छोटे-छोटे किसान होते हैं, जो भारतीय किसान के समान आधुनिक यान्त्रिक प्रणालियों का बहुत कम उपयोग करते हैं। जापान में भारत के समान सिंचाई की समस्या इतनी कठिन नहीं है। अमरीका, कैनेडा और आस्ट्रेलिया जैसे देशों में सैकड़ों एकड़ के खेतों में आधुनिक यंत्रों तथा कृषि की वैज्ञानिक प्रणालियों से बहुत बड़े परिमाण में खेती करके प्रति एकड़ उत्पादन के उच्च स्तर को प्राप्त किया जाता है। इस प्रति एकड़ अधिक उत्पादन का अर्थ प्रति व्यक्ति अधिक उत्पादन अपने-आप निकल आता है। किन्तु जब भारत के समान रोजगार के अन्य उत्पादक साधनों की जनसंख्या में कमी होती है तो प्रति एकड़ उत्पादन अधिक करने का उद्देश्य बना लेना चाहिये, भले ही उसमें मजदूरों की अधिक संख्या से काम लेना पड़े। जब तक भूमि पर जनसंख्या का दबाव पड़ रहा हो, तबतक कृषि की उन्नत प्रणाली में भूमि और पूजी का खर्चा कम तथा श्रमिकों का अधिक करना चाहिये।

भारत में उन्नत कृषि के लिए अनेक संभावनाएं हैं। भारत में केवल उपज ही कम

नहीं होती, वरन् एक राज्य से दूसरे राज्य में विभिन्नता भी कम नहीं है। उदाहरणार्थ, १९४८-४९ में चावल की प्रति एकड़ उपज इतनी विभिन्न थी कि मदरास में ९६१ पौंड से लेकर बिहार में ५८६ पौंड थी। गेहूं की उपज पंजाब में ८०९ पौंड से लगाकर हैदराबाद में १२२ पौंड तक थी; गुड़ की उपज बम्बई में ७,३९५ पौंड से लेकर पंजाब में २,२७२ पौंड तक थी; रुई की उपज पंजाब में १२६ पौंड से लेकर बड़ौदा[1] में केवल ४३ पौंड तक थी। इस अन्तर के कुछ तो भूमि तथा वर्षा आदि प्राकृतिक कारण हैं तथा कुछ कृषि की प्रणालियों में अन्तर।

भारत की स्थिति आज स्थिर है। उसकी जनसंख्या बढ़ रही है, जबकि उसका समस्त उत्पादन, यदि घट नही रहा, तो स्थिर है। उसका व्यापारिक संतुलन उसके प्रतिकूल था और यदि व्यापार को नियंत्रित नहीं किया गया तो और भी प्रतिकूल हो जायगा। इसका मुख्य कारण है घर पर अपर्याप्त खाद्य का उत्पादन और उसके परिणाम-स्वरूप भारी मात्रा में विदेशों से आयात करना। इस कमी को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि खाद्य तथा खाद्येतर फसलों में शीघ्रतापूर्वक वृद्धि की जाय। यह तभी संभव हो सकता है कि जब न केवल प्रत्येक संभव एकड़ को जोत लिया जाय वरन् प्रति एकड़ उत्पादन भी बढ़ाया जाय। हम देख चुके हैं कि अधिकाधिक भूमि को सुधारने के यत्न किये जा रहे हैं। किन्तु इस उपचार में बहुत अधिक समय लगेगा। उपज अधिकतम शीघ्रता से बढ़ाने का उपाय है सिंचाई की छोटी योजनाओं तथा कृषि की उन्नत प्रणालियों को लागू करना। योजना कमीशन ने लक्ष्य पूर्ति का समय १९५६ निश्चित् किया है और यह आशा की जाती है उस समय तक देश अपने लक्ष्य की पूर्ति कर लेगा।

११. कम उत्पादन का उपचार। भारत में प्रति एकड़ उत्पादन अत्यन्त कम है। यह अन्य सब देशों से ही कम है। प्रत्येक वस्तु, जो भूमि से फल प्राप्त करने में रुकावट डालती है, भारतीय कृषि के कम उत्पादन के लिए उत्तरदायी है। भारत में कम उत्पादन के मुख्य कारणों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—विभाजन तथा पुनर्विभाजन के कारण भारत के खेतों का अत्यधिक एवं अलाभदायक छोटा परिमाण, घटिया बीज तथा खेती के पुराने तरीके, बाबा आदम के जमाने के औजार, खाद्य तथा सिंचाई की अपर्याप्तता, पूंजी की कमी, बेचने की सुविधाओं की न्यूनता, भूमि की भौतिक तथा रासायनिक गुणों की कमी, निर्धनता, अस्वास्थ्य, अज्ञान, किसान का दकियानूसीपन तथा उसकी ऋण-ग्रस्तता और भूमि पर अधिकार की दोषपूर्ण प्रणालियां।

अगले अध्यायों में इनमें से प्रत्येक विषय पर पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा। हम भूमि, खेतों के परिमाण, भूमि के अधिकार प्राप्ति के नियम, कृषि प्रणालियों और

१. यह अंक Agricultural Situation in India, 1949 नामक पुस्तक से लिये गए हैं।

की अन्य समस्याओं के समान खेतों को एक करके सुगम बनाया जा सकता है। छोटे-छोटे खेतों को मिला कर उन्हें एक बड़ा खेत बना देने के आन्दोलन को आग्रह द्वारा और जहां आवश्यक हो कानून द्वारा गतिशील कर देना चाहिये। सहकारिता कृषि (Co-operative Farming) की प्रणाली द्वारा खेती के छोटे-छोटे टुकड़ों की समस्या को अंतिम रूप से सुलझाया जा सकता है। जहां तक साधारण तथा संक्रामक रोगों का सम्बन्ध है, कृषि विभागों ने इन रोगों के रूप तथा उनको दूर करने के सम्बन्ध में अनुसन्धान करके अत्यन्त उपयोगी काम किया है। इन विचारों के लिए अधिक प्रचार की आवश्यकता है। इन उपायों द्वारा अधिकतम परिणाम प्राप्त करने के लिए साधारण शिक्षा का एक कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है, जिससे किसान को नए विचारों के ग्रहण करने को तैयार किया जा सके। हमारे ग्रामीण स्कूलों के पाठ्यक्रम में कृषि को कुछ विशेष स्थान देना अत्यधिक उपयोगी होगा।

१२. मुख्य उपाय सहकारिता कृषि। ऊपर जिन उपायों पर विचार किया गया है, वह सभी तब तक व्यर्थ हैं, जब तक किसान के पास बचत योग्य खेत न हो। छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटे हुए खेतों की समस्या भारत के लिए नई नहीं है। यूरोपीय देशों को भी उसका मुकाबला करना पड़ा था। इस बुराई को दूर करने के लिए इस विषय में फ्रांस, डेन्मार्क, जर्मनी आदि देशों द्वारा अपनाये हुए उपायों का अध्ययन करने से हमको इस विषय में ठीक दिशा का अनुसरण करने में सहायता मिलेगी। यदि भारत में कृषि को उन्नत करना है तो किसान के खेतों के आकार को बढ़ाना होगा। रूस ने समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण करके तथा कृषि को राष्ट्रीय उद्योग बनाकर इस समस्या का हल कर लिया। ब्रिटेन जैसे कुछ देशों में अब भी बड़े-बड़े ज़मीदार हैं। तो भी भारत में इन दोनों में से किसी भी योजना को नहीं अपनाया जा सकता। इनमें से प्रथम शक्य नहीं है,क्योंकि वह भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। दूसरी सामाजिक दृष्टिकोण से उचित नही है। अतएव एक तीसरा उपाय है—संयुक्त कृषि अथवा सहकारिता कृषि। इसके द्वारा किसान अपनी भूमि में दिलचस्पी रखते हुए भी वृहत्परिमाण पर कृषि के सभी लाभ प्राप्त कर सकते है। संयुक्त सहकारिता कृषि कार्यों की स्थापना अनेक देशों में की जा चुकी है। उनमें से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण देश फिलिस्तीन, मैक्सिको और अमरीका हैं। इन सहकारिता फार्मों द्वारा पिछड़े हुए क्षेत्रों में कृषि की उन्नत प्रणालियों को लागू करने में सफलता मिली है। किसानों ने प्रति एकड़ उपज को बढ़ाया है और अपने जीवनमान को ऊंचा किया है। फिलिस्तीन में कुत्जा (Kvutza) कोआपेरेटिव फार्मों ने, जिसमें सारी जायदाद के सभी मालिक होते है—"सामाजिक उत्तरदायित्व, आत्मनियंत्रण, आत्म-अनुशासन तथा परस्पर आधीनता की भावना जैसे जीवन में उच्च एवं कीमती विचारों का विकास करके" आश्चर्यजनक काम किया है। 'कोआपेरेटिवस् एट वर्क' (Co-operatives at Work) नामक ग्रंथ के लेखक श्री हैंड्रिक एफ. इनफील्ड

(Mr. Handrik F. Infield) तथा सर डेनियल हाल (Sir Daniel Hall) ने, जो एक प्रसिद्ध मौलिक वैज्ञानिक हैं—सहकारिता कृषि की प्रणालियों की अत्यधिक प्रशंसा करते हुए कहा है कि इससे उत्पादन बढ़ता है तथा ग्रामीण क्षेत्रों की जनता के जीवन का मान ऊंचा होता है।

भारत में सहकारिता कृषि के लिए विशाल क्षेत्र है। ज़मीदारी प्रथा को यथासंभव शीघ्र समाप्त करके भूमि पर राज्य को अधिकार कर लेना चाहिये। फिर उनको आर्थिक रूप से विभक्त करके ऐसे किसानों को दे दिया जाय, जो उस पर स्वयं खेती करें और उसको किसी और को न उठायें। इस प्रकार के खेतों को कच्चे काश्तकारों को उठाने की प्रथा को कानून द्वारा बंद कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त कृषि योग्य परती भूमि को सुधार कर उस पर सहकारिता आधार पर खेती कराई जाय। कृषि के सभी कार्यों की शाखाओं में कोआपरेटिव कृषि की जाय। इन कोआपरेटिव फार्मों में व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को मानते हुए भी उसका काम एक जगह होना चाहिये। और उत्पत्ति का वितरण प्रत्येक सदस्य द्वारा श्रम, औज़ारों तथा पशुओं के अनुदान के अनुपात में होना चाहिये। रैयतवारी क्षेत्रों में भी सम्मिलित कृषि के लिए अधिक क्षेत्र है। खेतों को मिलाकर एक किया जा सकता है और किसानों को अपनी भूमि को उनमें मिला देने को प्रोत्साहित किया जाय। पंजाब में, जहां विस्थापित शरणार्थियों को भूमि दी जा रही है, सहकारिता आधार पर काम करने के सिद्धान्त के कार्यकारी रूप में उन सोसाइटियों को पर्याप्त आर्थिक सहायता तथा ऋण देकर प्रचार किया जा सकता है, जो सहकारी आधार पर काम करने का वचन दें।

आगे पढ़ने के लिए ग्रंथ।

1. Agricultural Situation in India, Monthly Publication.

2. Abstract of Statistics, Monthly.

3. The National Income Committee Report, 1951.

4. The First Five-Year Plan, 1951.

5. Indian Agricultural and other Statistics, 1946-47 to 1950.

6. A. K. Y. N. Aiyer—Field Crops of India.

7. Indian Agriculture and its Problems—Edited by A. K. Aggarwal.

8. Reports—Indian Foodgrains Policy Committee,

Royal Commission on Agriculture, Flood Commission, Famine Commission.

9. Baljit Singh—Whither Agriculture ?

10. Nanavati and Angeria—The Indian Rural Problem.

11. R. K. Mukerjee—Land Problems of India.

12. J. P. Bhattacharya—Mechanization of Agriculture in India.

13. Indian Journal of Agricultural Economics, March 1949, Mechanization.

छठा अध्याय

भूमि के पट्टों की प्रणालियां

१. **प्रस्तावना**। भारत में उत्पन्न होने वाली फसलों के रूप और उनके विभाजन के विषय में हम पहले ही पढ़ चुके हैं। उन खेतों के रूप तथा उनसे लाभ उठाने के लिए उपलब्ध सामग्री पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि पहले कृषक की भूमि के सम्बन्ध में और उसकी कानूनी स्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त कर ली जाय। यह भूमि के पट्टों का विषय है। जिस भूमि पर कृषक खेती करता है, हम उसके ऊपर उसके अधिकार, उदाहरणार्थ, स्वामित्व, बिक्री तथा बंधक रखने आदि के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह देखेंगे कि कानून अथवा प्रथा उन अधिकारों को कहां तक स्वीकार करती है।

भूमि पर अधिकार के नियम के अध्ययन का महत्त्व तीन प्रकार से है:—

प्रथम—राज्य के दृष्टिकोण से भूमि का स्वामित्व स्थिर कर देना आवश्यक है, क्योंकि भूमि का राजस्व उसके मालिक से ही लिया जा सकेगा। **दूसरे,** भूमि पर अधिकार करने के नियम के प्रतिघात भूमि के उत्पादन तथा साधारण कृषि सम्बन्धी उन्नति पर अत्यन्त दूर तक अपना प्रभाव डालते हैं। उदाहरणार्थ, जो किसान भूमि का मालिक होगा वह अधिक उत्साह से अपनी भूमि से अधिक फल प्राप्त करेगा और उसमें स्थायी सुधार करने को उस किसान की अपेक्षा अधिक उत्सुक होगा, जिसको भूमि के मालिक से केवल अपने भाग का बटवारा करना होता है। **तीसरे,** भूमि पर अधिकार करने की प्रणाली पर ही एक देश का सामाजिक संगठन निर्भर करता है, फिर भले ही वह ज़मींदाराना, पूंजीवादी अथवा साम्यवादी प्रणाली हो। भूमि पर अधिकार करने की प्रणाली पर ही ग्राम संस्थाएं तथा सामाजिक धर्माध्यापकों का समूह निश्चित किया जाता है। यह अपनी बारी पर राजनीतिक प्रणाली पर भी अत्यधिक प्रभाव डालता है। इन कारणों से भूमि पर अधिकार करने के नियमों का प्रश्न सदा ही देश के राजनीतिक तथा सामाजिक निर्माण के साथ जुड़ा रहता है। यह जनता के जीवनमान को भी निश्चित करता है। कृषि की उन्नति और शांति तथा संतोष के लिए भी भूमि पर अधिकार करने के उचित तथा स्थायी नियमों का होना आवश्यक है। सबसे अच्छी प्रणाली वही है जो एक ओर भूमि से अधिक से अधिक उत्पादन करा सके तथा दूसरी ओर उस पर काम करने वाले के हित का अधिकाधिक सम्पादन कर सके।

२. **किसान और भूमि का सम्बन्ध**। एक किसान के उसकी भूमि के साथ निम्नलिखित प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है:—

(१) भूमि का मालिक राज्य हो और किसान का उससे सीधा सम्बन्ध हो और वह उसका निश्चित लगान देता हो। ऐसी स्थिति में राज्य उचित रूप से उसके सच्चे आर्थिक लगान को राजस्व के रूप में लेने का दावा कर सकता है। इस प्रकार की प्रणाली को **राज्य की ज़मींदारी** (State Landlordism) कहते हैं। समाजवाद का उद्देश्य यही प्रणाली है, यद्यपि इसको पूंजीवादी समाजों में भी आंशिक रूप में लागू किया जा सकता है।

(२) किसान को भूमि पर स्वतः अपना स्वामित्व का अधिकार हो। स्वामित्व पूर्ण—भूमि का राजस्व देने की शर्त पर—अथवा सम्बन्ध रखने वाला हो सकता है, जिसे अन्य दलों के स्वत्व में कानून अथवा प्रथा की पाबंदियों के आधीन लागू किया जाय। यदि मालिक अपनी भूमि को बेच सके, बन्धक रख सके अथवा अपने उत्तराधिकारियों को तबदील कर सके तो स्वामित्व का अधिकार सभी उद्देश्यों के लिए पूर्ण मान लिया जाता है। जब कोई किसान अपने खेत में स्वयं खेती करता है तो इस प्रणाली को किसान की मिल्कियत अथवा खुदकाश्त कहते हैं। भूमि का मालिक किसान लगान नहीं देता, वरन् राज्य को मालगुज़ारी देता है। कुछ लोग भूमि पर अधिकार की इस प्रणाली को सबसे अच्छी प्रणाली मानते हैं। आर्थर यंग (Arthur Young) ने कहा है कि "व्यक्तिगत सम्पत्ति का जादू बालू को सोना बना देता है।" यह एक स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर तथा संतुष्ट किसान समुदाय को उत्पन्न करता है। पंजाब, बम्बई तथा मदरास में ऐसे किसान आम हैं, किन्तु भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े उनके मार्ग में भारी बाधाएं हैं।

(३) किसान किसी **व्यक्तिगत ज़मींदारी** का काश्तकार हो सकता है। इसका ठीक रूप ज़मींदार तथा काश्तकार के भूमि में अधिकार पर निर्भर करता है। इस प्रकार ज़मींदार को (क) पूर्ण मालिकाना अधिकार हो सकता है, जो राज्य को उस भूमि की स्थायी अथवा अस्थायी प्रबन्ध द्वारा निश्चित मालगुज़ारी देता हो, अथवा (ख) वह केवल लेने वाला हो सकता है, जिसका लगान, प्रथा अथवा कानून द्वारा निश्चित कर दिया गया है और उसमें बिना विशेष परिस्थितियों के परिवर्तन नहीं किया जा सकता। (क) प्रकार के काश्तकार के विषय में यह है कि वह एक काश्तकार दखलकार (Occupancy Tenant) हो सकता है, जिसे जब तक वह लगान देता रहे, बेदखल नहीं किया जा सकता और न उस लगान को ही कुछ विशेष परिस्थितियों के बिना बढ़ाया जा सकता है। अथवा वह (ख) अस्थायी किसान (Tenant-at-will) हो सकता है। ऐसे काश्तकार को ज़मींदार चाहे जब निकाल सकता है और उससे चाहे जो लगान ले सकता है। इससे भूमि की मांग बढ़ने पर ऐसे किसानों की संख्या बढ़ने के साथ लगान भी बेहद बढ़ जाता है। अथवा (ग) वह एक उप-किसान (Sub-tenant) हो सकता है। ऐसा तब होता है, जब काश्तकार अपनी भूमि को स्वयं नहीं जोतता और उसको अधिक लगान पर उठा देता है और स्वयं उस अन्तर पर अपनी आजीविका

चलाता है, जो उसके लगान तथा उप-किसान के लगान में होता है। शिकमी काश्तकार भी उस सम्पूर्ण भूमि अथवा उसके एक भाग को दूसरे को किराये पर दे सकता है और इस प्रकार यह प्रणाली अनिश्चित रूप में चल सकती है। बंगाल बैंकिंग जांच कमेटी ने लिखा है कि "बकरगंज नाम की एक ज़मीदारी में मालिक और किसान के बीच में एक दूसरे के नीचे लगभग तीस उप-किसान या शिकमी काश्तकार थे।" स्थायी प्रबंध वाले क्षेत्रों में यह प्रणाली अत्यधिक पाई जाती है। इन भूमियों में लगान लेने वालों की बड़ी भारी संख्या होती है और उन सभी का गुज़ारा किसान के परिश्रम से चलता है किन्तु उनमें से कोई भी स्वयं अपने लिए परिश्रम नहीं करता। कृषि की उन्नति के दृष्टिकोण से यह प्रणाली सबसे बुरी प्रणाली है।

जब ज़मींदार केवल लगान लेने वाला रह जाता है अथवा अपने कार्य से अनुपस्थित रहने वाला ज़मींदार बन जाता है और पक्का किसान अपनी भूमि में काम नहीं करता तो किसान लोगों का कृषि मज़दूरों के रूप में पतन हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति राजनीतिक उत्थान के लिए सम्भावनाओं से भरी होती है। भूमि पर अधिकार करने की अच्छी प्रणाली में राज्य तथा वास्तविक कृषक के बीच में बिचोलिये नहीं होते।

३. भूमि पर अधिकार करने के नियम की प्रणाली। अब हम भारत में भूमि पर अधिकार करने के नियम की मुख्य प्रणाली के सम्बन्ध में वाद-विवाद कर सकते हैं। बेडन पॉवेल (Baden Powell)[1] ने, जो इस विषय के अधिकारी लेखक हैं, निम्नलिखित तालिका में किसान तथा सरकार के बीच में आने वाले विभिन्न स्वत्व वालों को प्रकट किया है—

एक स्वार्थ	दो स्वार्थ	तीन स्वार्थ		चार स्वार्थ
१. सरकार	१. सरकार	१. सरकार	१. सरकार	१. सरकार
एकमात्र मालिक	२. रैयत अथवा	२. एक ज़मीं-	२. ज़मींदार	२. एक ऊपरी
है अर्थात् राज्य	निश्चित अधि-	दार, ताल्लुकेदार		मालिक ।
की जमींदारी	कार (काश्त-	या गांव का	३. अर्ध मालिक	३. एक मालिक
(State Land-	कार नहीं) के	मिश्रित समूह	भूमि पर अधि-	ज़मींदार प्राय:
lordism)	साथ दखल-	३. वास्तविक	कार करने वाला	करके ग्राम
	कार, जैसे	काश्त करने		की सभा
	मद्रास, बम्बई	वाला या व्य-	४. रैयत या	४. वास्तव में
	और बरार में	क्तिगत हिस्से-	वास्तव में खेती	खेती करने वाले
	अर्थात् रैयत-	दार आदि अर्थात्	करने वाले	हिस्सेदार आदि

१. Land Revenue and British India, P. 129.

एक स्वार्थ	दो स्वार्थ	तीन स्वार्थ	चार स्वार्थ
	वारी प्रथा (Ryotwari System)	जमींदारी प्रथा।	अथवा महाल-वारी प्रथा।

राज्य की जमींदारी प्रथा को अलग छोड़कर, जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, इस प्रकार इस देश में भूमि पर अधिकार करने के नियम की तीन मुख्य प्रणालियां हैं—

रैयतवारी, महालवारी, तथा जमींदारी।

१९३७–३८ के अंकों के अनुसार भूमि पर अधिकार करने की इन तीनों प्रणालियों के आधीन भूमि का निम्नलिखित क्षेत्रफल विभक्त था—

भूमि पर अधिकार करने की प्रणाली का भेद	क्षेत्रफल दस लाख एकड़ों में	योगफल का प्रतिशत अनुपात	मुख्य राज्य जहां यह प्रणाली पाई जाती है
रैयतवारी	१८३	३६	मदरास, बम्बई, आसाम।
जमींदारी (स्थायी बन्दोबस्त)	१३०	२५	बंगाल, बिहार, मद्रास और उड़ीसा।
जमींदारी और महलवारी (अस्थायी बन्दोबस्त)	१९९	३९	मध्यप्रान्त, पंजाब, उत्तर प्रदेश।

अब हम इनमें से प्रत्येक प्रणाली के सम्बन्ध में पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

४. भूमि पर अधिकार करने की रय्यतवारी प्रणाली। इस प्रणाली को मदरास में प्रथम बार १७९२ में चलाया गया। बाद में इसको बम्बई में भी लागू किया गया। १८५५–५८ की मदरास शासन रिपोर्ट में रैयतवारी प्रणाली की निम्नलिखित शब्दों में व्याख्या की गई है: "रैयतवारी प्रणाली में भूमि के प्रत्येक रजिस्टर्ड (registered) रखने वाले को उसका मालिक मान लिया गया है और वह सीधा सरकार को पैसा देता है। उसको अपनी सम्पत्ति को किसी और किसान को किराये पर देने अथवा उसको दानपत्र, बिक्री अथवा बंधक द्वारा हस्तान्तरित करने का अधिकार है। जब तक वह तखमीना की हुई निश्चित रकम को सरकार को चुकाता रहेगा, उसको बेदखल नहीं किया जा सकता। उसको यह अधिकार है कि वह प्रतिवर्ष अपनी सम्पत्ति को चाहे बढ़ावे, चाहे नष्ट करदे अथवा बिल्कुल छोड़ दे।"[1] पंजाब की नौ आबादियों में भी भूमि पर अधिकार करने की ऐसी ही प्रणाली थी।

१. Baden Powell—Land System of British India, Vol. I., P. 235.

कुछ लेखकों का विचार है कि रैयतवारी प्रणाली में राज्य जमींदार होता है। इस सम्बन्ध में यह युक्ति दी जाती है कि (क) यदि काश्तकार मालगुजारी न दे तो राज्य भूमि को छीन सकता है, (ख) बेकार भूमि राज्य की होती है, (ग) काश्तकार को भूमि को छोड़ने का अधिकार है, और तब उसको राज्य ले लेता है।

इसके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है: (क) के अनुसार स्वामित्वाधिकार कभी पूर्ण नहीं होता। सभी सम्पत्ति इस मालगुजारी को देने की शर्त पर रखी जाती है, जो उस पर वाजिब होता है। यदि राज्य की मांग को न चुकाया गया तो वह किसी भी भूमि को वापिस ले सकता है।

(ख) खाली जमीन राज्य की हो सकती है, किन्तु यह बात कृषिक्षेत्रों पर लागू नहीं हो सकती। (ख) को स्वामित्व का अधिकार दिया जाता है। पंजाब में महालवारी प्रणाली में गांव की परती जमीन तक में स्वामित्व का अधिकार गांव वालों का तब तक संयुक्त रूप से बना रहता है, जब तक उसका विभाजन न कर दिया जाय।

(ग) काश्तकार को जमीन छोड़ने की अनुमति देने का अर्थ यह है कि वह भूमि को उस मालगुजारी के योग्य नहीं समझता जो उसको उस पर देनी पड़ती है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि राज्य अपने को जमींदार समझता है। काश्तकार को जमीन छोड़ने का अधिकार राज्य के स्वामित्वाधिकार की रक्षा के लिए न देकर उसको इस बात के लिए प्रोत्साहित करने के लिए दिया गया है कि वह ऐसे समय पर भी खेती करता रहे, जब कि भूमि पर स्वामित्वाधिकार को अधिक मूल्यवान नहीं समझा जाता और उसको भूमि में खेती करने के लिए विवश नहीं किया जाता।

अन्त में हम काले (Kale) के साथ इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि "रैयतवारी क्षेत्रों में 'सरकारी भूमि' का दखलकार (Occupant) कहलाने वाला अपनी भूमि का उतना ही जमींदार है, जितना बंगाल का जमींदार। इन दोनों में केवल अंतर यह है कि बंगाल के जमींदार की मालगुजारी स्थिर होती है, जब कि दूसरे की मालगुजारी को कभी-कभी बढ़ाया जा सकता है।[1]

इस प्रणाली से मुख्य लाभ यह होता है कि उसमें जमीन के बीच कोई मालिक नहीं होता और किसान का सरकार के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। बिचोलिये कोई नहीं होते। दखलकार द्वारा अपनी भूमि को किसी अन्य काश्तकार को उठा देने के कारण अब यह लाभ गायब होता जा रहा है। फिर भी यहां की स्थिति इतनी बुरी नहीं है जितनी जमींदारी प्रथा में होती है। यह भी पता चला है कि इन क्षेत्रों में भूमि कृषि न करने वालों के हाथ में क्रमशः जा रही है। कृषिरहित श्रमिकों की संख्या लगातार बढ़ रही है और भूमि का आकार लगातार छोटा होता जा रहा है।

इस प्रणाली में भूमि की मालगुज़ारी का तखमीना करने की प्रणाली भी दोषपूर्ण

१. Kale—Indian Economics Vol. II, P. 781

है। इसमें प्रबन्ध अधिकारी की इच्छा पर सब कुछ छोड़ दिया जाता है, जिसे केवल अपने अनुमान पर काम करना पड़ता है। इसमें दूसरी कमी यह है कि फसल के व्यक्तिगत तखमीने के कारण ग्रामीण जीवन का सामूहिक आधार नष्ट हो गया है और इससे ग्रामीण समाज का पतन हो रहा है।

५. **भूमि पर अधिकार करने की महालवारी प्रणाली।** इस प्रणाली को आरम्भ में आगरा और अवध में अपनाकर बाद में इसे पंजाब पर लागू किया गया था। महालवारी प्रणाली में भूमि पर ग्रामीण समाज के हिस्सेदारों का संयुक्त अधिकार होता है। उन समाज के हिस्सेदार सदस्यों पर इस भूमि की मालगुज़ारी का "संयुक्त रूप से तथा पृथक् पृथक् उत्तरदायित्व समझा जाता है।" इस प्रकार भूमि पर अधिकार करने की एक विशेष प्रणाली पंजाब में पाई जाती है। कैलवर्ट (Calvert) कहता है कि "पूर्व के पुराने बन्दोबस्त के ज़िलों में ग्रामीण समाज का संयुक्त रूप से मालगुज़ारी देते रहने की शर्त पर भूमि पर पूर्ण स्वामित्वाधिकार होता है, न कि उसके नीचे के खनिज द्रव्यों पर। राज्य ज़मीन का सबसे बड़ा मालिक होता है। वह उस भूमि को सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए अथवा भीषण अपराध के कारण अथवा मालगुज़ारी न चुकाने पर अथवा बन्दोबस्त की नई मांग को अस्वीकार कर देने पर भूमि को वापिस छीन लेने का अधिकार अपने पास रखता है। किन्तु इन अधिकारों का प्रयोग इतना कम किया जाता है कि ग्रामीण समाज के पूर्ण अधिकार में बहुत कम, और वह भी कभी कभी ही हस्तक्षेप किया जाता है और राज्य के अधिकार एक बड़े ज़मींदार के कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों में बाधा नहीं डालते।" कैलवर्ट इस सम्बन्ध में आगे यह भी लिखता है, "यदि कोई मालिक अपनी भूमि को छोड़ता है तो उसको उस भूमि की मालिक ग्राम-समाज ले लेती है। कानून तथा व्यवहार, दोनों ही प्रकार से ग्राम-समाज के अधिकारों की सावधानी से रक्षा की जाती है। वह ग्राम की 'सर्वसाधारण' अथवा **शामिलात** भूमि के उसके वृक्षों तथा घास सहित मालिक होते हैं,और वह गांव के मकान के स्थान के भी मालिक होते हैं।"[1]

संयुक्त गांवों में भूमि का तीन प्रकार से भाग किया जाता है। तीन प्रकार के गांव यह होते हैं—

(१) वंशानुगत गांव, जहां भूमि के मालिक एक ही पूर्वज के वंशज होते हैं। प्रत्येक का भाग उसकी वंशावलि में स्थिति पर निर्भर करता है। इनमें से कुछ गांवों में भूमि का स्वामित्व सम्मिलित होता है। कुछ में पूर्वजों के भाग (पट्टादारी) के अनुसार विभाजन हो जाता है और कुछ अन्य गांवों में विभाजन आंशिक (आंशिक पट्टादारी) होता है।

---

१. Wealth and Welfare of the Punjab, pp. 169-70.

(२) पूर्व पुरुषों के गांवों से भिन्न गांव, इनमें पूर्व-प्रथा अथवा **भाईचारे** के सिद्धान्त के अनुसार हिस्से बंटते हैं। यह हिस्सा-बांट कई ढंग से की जाती है : समान भाग में, अपने-अपने हलों की संख्या के अनुसार अथवा पानी या कुओं के भाग के अनुसार। भूमि को तब भी सम्मिलित स्वामित्व में ही माना जाता है।

(३) ऐसे गांव, जिनमें वर्त्तमान खेतों की वर्त्तमान स्थिति को ही स्वीकार कर लिया जाता है और उनके विभाजन के लिए वहां कोई नियम नहीं होते।

प्रत्येक मामले में हिस्सा-बांट करने के नियम इस बात पर निर्भर करते हैं कि उस सम्मिलिन को किस प्रकार आरम्भ किया गया था। वह इन तीनों में से किसी एक ढंग से बसाये गए थे :

(१) किसी व्यक्ति के वंशजों ने वंशानुगत गांव बसा लिये। अपने उस पूर्व-पुरुष को वह उस वंश को आरम्भ करने वाला मानते थे। ऐसे गांवों में दान भोगी, मालगुज़ारी देने वाले किसान अथवा शासक को जमींदार का स्थान दे दिया गया।

(२) भूमि के मालिक किसी प्रवासी अथवा विजयी जाति से सम्बन्ध रखते हों, जिन्हें परम्परा प्राप्त प्रथाओं के अनुसार भूमि दी गई थी।

(३) मालिक ऐसे व्यक्तियों का समूह हों, जिन्होंने उस बस्ती को बसाया और सम्मिलित पूंजी के सिद्धान्त पर वहां कृषि की स्थापना की।

एक आदर्श ढंग के सम्मिलित गांव में मालिक स्वयं ही किसान होते हैं। कुछ मामलों में भूमि कुछ अन्य ऐसे किसानों द्वारा भी जोती जाती है, जो लगान नकद अथवा बटाई के रूप में देते हैं। अन्य मामलों में बहुत अधिक भूमि का मालिक अपनी भूमि का कुछ भाग दूसरे किसान को दे देता है और शेष में स्वयं खेती करता है। कुछ मामलों में कम ज़मीन वाला किसान कुछ अन्य भूमि को लगान पर लेकर अपनी छोटी-सी ज़मीन को बढ़ा लेता है। जब किसी मालिक किसान के पास आर्थिक रूप से इतनी बड़ी भूमि होती है कि वह उसमें अपने परिवार की सहायता से ही खेती कर लेता है तो उस भूमि से सबसे अधिक लाभ होता है। यदि किसान अपने साधनों को सहकारी आधार पर एक में मिलाकर कृषि की यांत्रिक प्रणाली का उपयोग करें तो यह एक आदर्श खेती हो सकती है। किसानों के स्वामित्वाधिकार की यह प्रणाली पंजाब में है, यद्यपि इसमें खेत बहुत छोटे छोटे हो जाते हैं। ऐसे मामलों में भूमि से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए सम्मिलित कृषि अत्यन्त आवश्यक है।

उत्तर प्रदेश के कुछ मिश्रित गांवों में उनके ऊपर कुछ भूस्वामी (Overlord या ताल्लुकेदार) भी पैदा हो गए हैं। ऐसे स्थान पर मौलिक स्वामित्वाधिकार अर्द्धस्वामित्वाधिकार के रूप में बदल गए हैं। मध्य प्रदेश में बन्दोबस्त का आधार वही है जो महालवारी प्रणाली में होता है। इसमें केवल इतना ही अन्तर है कि राज्य ने मालगुज़ार लोगों को गांव का मुखिया मान लिया है। वह मरहटों के समय में

मालगुज़ारी के किसान थे और उनको 'भेंट' के रूप में स्वामित्वाधिकार दिये गए थे। उसके परिणामस्वरूप प्राचीन ग्राम समाज टूट गया और ग्राम के सम्मिलित रूप की रक्षा करने की मौलिक इच्छा का पालन करना बन्द कर दिया गया।

२. ज़मींदारी पट्टा प्रणाली। इस प्रणाली में एक या अधिक व्यक्ति एक गांव अथवा गांवों के मालिक होते हैं और वह मालगुज़ारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार के गांव बंगाल की विशेषता हैं। यह उत्तर प्रदेश में भी हैं; किन्तु पंजाब में यह बहुत कम होते हैं। मध्य प्रदेश में मालगुज़ार लोग बंगाल के अर्थ में ज़मींदार नहीं होते। बम्बई में भी ज़मींदारी रियासतों की कुछ किस्में मिलती है। मदरास में भी बंगाल की शैली के कुछ बड़े ज़मींदार होते हैं। उनके पास समस्त क्षेत्रफल की लगभग $\frac{1}{3}$ भूमि है।[1]

भूमि बन्दोबस्त के समय के दृष्टिकोण से ज़मींदारी प्रथा भी दो प्रकार की होती है—स्थायी बन्दोबस्त वाली रियासतों की प्रणाली। इसमें भूमि की मालगुज़ारी सदा के लिए निश्चित कर दी जाती है, जैसा कि बंगाल में तथा मदरास के कुछ भागों में। दूसरी प्रणाली अस्थायी बन्दोबस्त वाली रियासतों की प्रणाली है। इसमें प्रायः ३० या ४० वर्ष के बाद भूमि की मालगुज़ारी पर फिर विचार किया जाता है।

ज़मींदारों के स्वामित्वाधिकारों में क्रमशः विकास हुआ है। आरम्भ में भूमि के मालिक वह लोग थे, जिन्होंने या जिनके पूर्व-पुरुषों ने उन भूमियों को साफ किया था। शासकों ने उस भूमि पर कर लगा दिया। असुरक्षा तथा विदेशी आक्रमण के समय मौलिक स्वामियों के अधिकार छीन कर उनको काश्तकार की स्थिति में रख दिया गया। कुछ मामलों में नये आक्रमणकारियों ने इन विजयी लोगों से भी भूमि छीन ली। वर्त्तमान ज़मींदारों में से अनेक उन मालगुज़ारी किसानों अथवा शासकों के वंशज हैं, जो घट कर केवल ज़मींदार ही रह गये। बाद में ब्रिटिश सरकार ने उनके मालगुज़ारी देने के बदले में उनके स्वामित्वाधिकार को स्वीकार कर लिया। नियम यह है कि बड़ी रियासतों के मालिक स्वयं खेती नहीं करते, वरन् काश्तकार रखते हैं। असली किसान तथा ज़मींदार के बीच भी—जो सरकार को मालगुज़ारी देता है—लगान लेने वालों का प्रायः एक समूह पाया जाता है, जिनके इस प्रकार के विभिन्न नाम होते हैं—

(१) **बंगाल के भूस्वत्वाधिकारी**—"वह स्थायी मालगुज़ारी देते हैं। उनको भूमि पर अधिकार करने का स्थायी उत्तराधिकार योग्य तथा हस्तान्तरित करने योग्य अधिकार" की सुविधा प्राप्त है। १८८५ के अधिनियम ने उन सब को भूमि अधिकार प्राप्त करने वाला मान लिया, जिनके पास ज़मींदार के आधीन सौ बीघा ज़मीन थी।

---

१. उनको बम्बई और मदरास में अभी-अभी हटा दिया गया है, देखो Wealth and Welfare of the Punjab, पृष्ठ १०३।

(२) **पट्टीदार**—भी बंगाल में ही मिलते हैं। जो ज़मींदार अपनी ज़मीन के अत्यधिक होने के कारण उसका स्वयं प्रबन्ध नहीं कर पाते वह उसके कुछ भाग को स्थायी किराये पर दे देते है। पट्टीदार उस भूमि को लेकर अपने नए किरायेदार बनाते हैं, जिन्हें **दिरपट्टीदार** कहते हैं। उनको भी वही सुविधाएं प्राप्त होती हैं और वह भी मालगुज़ारी के उत्तरदायित्व में भाग लेते हैं। १९१९ के बंगाल रेगुलेशन के अनुसार इस प्रकार के अर्द्ध स्वात्मिव के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया।

(३) **मालगुज़ारों** को मध्यभारत में मालगुज़ारी के उत्तरदायित्व को निश्चित करने के लिए बनाया गया था। प्राचीन स्वामित्वाधिकार वाले जमींदारों के समूह को अर्द्धस्वामित्वाधिकार स्वीकार करने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ी।

(४) अवध में कुछ गांवों के मालिक ताल्लुकेदार को लगान देते रहने की शर्त पर अपने स्वतंत्र प्रबन्ध को बनाए रखने में समर्थ हुए। उनके अर्द्ध-स्वामित्वाधिकार को एक पृथक् बन्दोबस्त द्वारा स्वीकार करके उनके द्वारा दी जाने वाली मालगुज़ारी को निश्चित कर दिया गया। अर्द्ध-स्वामियों को अधिकार है कि चाहे वह उस भूमि में स्वयं खेती करें अथवा उसे काश्तकारों को दे दें।

७. ज़मींदारी प्रथा की आलोचना। ज़मींदारी प्रथा को ब्रिटिश राज्य ने जन्म दिया। यह ब्रिटिश भूमि प्रणाली की समानता में चलाई गई थी। मालगुज़ारी के किसानों को, जिनका कर्त्तव्य केवल मालगुज़ारी एकत्रित करना मात्र था—स्वामित्वाधिकार दे दिये गए। इसका कारण कुछ तो शासकों का भारतीय परिस्थितियों से अज्ञान् था और कुछ मालगुज़ारी प्राप्त करने में सुविधा थी। आरम्भ के प्रबन्ध में मालगुज़ारी को स्थायी रूप से तय कर लिया गया। बाद में इस नीति का ऐसे मामलों में भी परित्याग कर दिया गया, जहां भूमि की रियासतों को स्वीकार कर लिया गया था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का स्वार्थ अधिकतम मालगुज़ारी प्राप्त करना था, न कि किसान का हित सम्पादन करना। कम्पनी ऐसे स्वत्वों का भी निर्माण करना चाहती थी, जिनकी समृद्धि भारत में ब्रिटिश राज्य के बने रहने पर निर्भर थी और जो इस प्रकार उसे और प्रबल बनाते। ब्रिटिश नीति का समर्थन करने वाले कुछ लोगों का कहना है कि इस प्रकार ब्रिटिश लोगों की इच्छा देहात में जनता के नेताओं का निर्माण करने की थी, किन्तु तथ्य प्रथम दृष्टिकोण में ही है और वही अधिक ठीक भी है।

उसके बनाने की आरंभिक इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो, इस प्रणाली से लाभ कुछ नहीं हुआ। स्थायी प्रबन्ध के साथ मिलकर इस प्रणाली ने भूमि से होने वाले वास्तविक लाभ को बढ़ाने के लिए राज्य से उसका उचित भाग छीन लिया। यह उनके शासन को मज़बूत बना सकता था, किन्तु जब भारत से अंग्रेज़ों का राज्य जाता

रहा तो इस बात को सोचना अप्रासंगिक है। भारतीय दृष्टिकोण से इस प्रणाली में कोई गुण नहीं था। ज़मींदार लोग नेता तथा पथ-प्रदर्शक न बन कर सोते हुए समशोषक बन गए। इस प्रकार भूमि पर अधिकार करने की ज़मींदारी प्रणाली निश्चित रूप से किसानों तथा देश के कृषि विकास के लिए हानिप्रद सिद्ध हुई। किसानों से अत्यधिक लगान लेकर उनकी भूमि को भी उनसे बारबार छीना जाता रहा है। ज़मींदारों की बेपरवाही से कृषि को बहुत हानि पहुंची क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य कृषि की उन्नति के लिए बिना कोई यत्न किये अधिकतम लगान वसूल करना था। किसानों को भूमि को सुधारने की कोई प्रेरणा नहीं हो सकती थी। लगान के बार-बार बढ़ाये जाने तथा बेदखली के भय के बराबर बने रहने से उन्होंने भूमि में कुछ भी रुचि लेना बन्द कर दिया।

भारतीय ज़मींदार प्रायः सोते रहने वाला ज़मींदार होता है। उसके कभी उन्नति न करने वाले रूप को सभी मानते हैं। बंगाल भूमि मालगुज़ारी कमीशन ने १९४० में कहा था, "वह कृषिजीवी जनता के कार्य में एक भयानक दुःस्वप्न बना हुआ है। उसके कारण ही कृषिजीवी जनता, जहां तक कृषि की उन्नति का सम्बन्ध है, उसमें कोई भौतिक सुधार करना उचित नहीं समझती। और भूमि के साधनों के विकास के लिए कोई भी प्रभावशाली कार्य करना पसन्द नहीं करती।"[१] १९४५ में बने हुए बंगाल अकाल जांच कमीशन ने जो प्रश्नावली प्रान्तीय सरकारों को भेजी थी, उसके उत्तर[२] में उन्होंने ज़मींदारी प्रणाली की निन्दा की है। उड़ीसा सरकार ने लिखा है, "ज़मींदार चाहे स्थायी बन्दोबस्त और चाहे अस्थायी बन्दोबस्त की रियासतों वाले हों, वह भूमि से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए कोई उन्नति का काम नहीं करते और न भूमि को बाढ़ों अथवा सूखे से बचाने का ही यत्न करते हैं। वरन् इसके विरुद्ध वह अपने द्वारा बढ़ाए हुए लगानों अथवा अन्य लाभों को किसानों से वसूल करने के किसी भी अवसर पर नहीं चूकते।" बिहार सरकार ने लिखा था, "ज़मींदार अपने काश्तकारों को कोई सुविधा देने को तैयार नहीं, होते, वह केवल अपना लगान वसूल करते है।" आसाम सरकार ने अपने उत्तर में लिखा था, "रैयतवारी प्रणाली में उत्पादन अधिक करने का प्रलोभन रहता है, किन्तु ज़मींदारी क्षेत्रों में उसके ठीक विपरीत होता है। ज़मींदारी प्रणाली में काश्तकार को सदा अपनी असुरक्षा की शंका रहती है। उस बीते युग की प्रणाली को समाप्त किये बिना इससे किसी अच्छे परिणाम की आशा नही की जा सकती।" मदरास के रेवेन्यू बोर्ड (Board of Revenue) ने लिखा था, "ज़मींदारी प्रथा दोषपूर्ण है।" मदरास के कृषि निर्देशक (Director of Agriculture) के अनुसार यदि इस प्रणाली को हटा

---

१. Bengal Land Revenue Commission Report, p. 37.

२. Bengal Famine Enquiry Commission, Final Report, Appendix II pp. 449-56.

कर इसके स्थान में रैयतवारी प्रणाली लागू कर दी जाय तो "निःसन्देह सिंचाई की सुविधाओं, अधिकारों के रिकार्डों को सुरक्षित रखने, सहकारी संस्थाओं की स्थापना और कृषि विभाग के कार्यों के विस्तार में पर्याप्त उन्नति हो जाय।" पंजाब ने भी सोते रहने वाली ज़मींदार की निन्दा करते हुए लिखा था, "ज़मींदार ने यांत्रिक खेती को नहीं अपनाया और वह अभी तक सरकार की ओर ही नेतृत्व के लिए देखता रहता है।"

८. **भूमि-किराये की कृषि के दोष**। जमींदारी प्रथा में काश्तकारी कृषि भी आ जाती है। इस प्रकार की कृषि कृषक-स्वामियों की कृषि की अपेक्षा कम अच्छी होती हैं। आर्थर यंग (Arthur Young) ने लिखा है कि "किसी आदमी को एक खुली हुई चट्टान का सुरक्षित कब्ज़ा दे दो तो वह उसको एक बाग के रूप में बदल देगा और यदि उसे एक बाग का ९ साल के लिए पट्टा दे दिया जाय तो वह उसको मरुभूमि में परिवर्तित कर देगा।" डेनमार्क में भूमि को किराये पर देने की प्रथा से कृषि में कोई रुचि नहीं ली गई। पंजाब के किरायेदार काश्तकारों के विषय में कैलवर्ट (Calvert) ने लिखा है—"वह फसल को तैयार करने में बहुत कम ध्यान देते हैं। भूमि को प्रायः कम बार जोतते हैं, उसमें खाद कम डालते हैं और मालिकों की अपेक्षा उसमें कम औज़ारों से काम लेते हैं। वह मूल्यवान फसलें कम पैदा करते हैं। जिन फसलों में भूमि में पूंजी अधिक दिनों तक लगती है उन फसलों से तो विशेष रूप से बचते हैं। वह अपने खेतों को सुधारने में बहुत कम अथवा कोई प्रयत्न नहीं करते। वह प्रायः घटिया किस्म के पशु रखते हैं। वह पूरे वर्ष भर रहने वाली फसल पसन्द नहीं करते और वृक्षों की कोई परवाह नहीं करते।"[१]

९. **बटाई या वंडाई प्रणाली**। जहां भूमि का किरायेदार जिन्सके रूप में लगान देता है, वहां परिणाम और भी विपरीत होते हैं। पंजाब की बटाई प्रथा से, जिसके अनुसार लगान देने की प्राचीन-प्रथा भूमि की उपज की आधी फसल होती है—कुछ अच्छी फसल में सहायता नहीं मिलती। मार्शल (Marshall) का कहना है कि "जब काश्तकार को अपने ज़मींदार को उस पूंजी के प्रत्येक अंश तथा श्रम के बदले में, जो वह उस भूमि में लगाता है, उपज का आधा भाग देना पड़ता है तो उससे प्राप्त होने वाले समस्त भाग में उसको अधिक उपज के लिए लगाना उसके लाभ की बात नहीं रहती, क्योंकि उसका अपना पारितोषिक उसके दुगने से कम होता है।"[२] कभी-कभी बटाई किराये को यह कहकर उचित ठहराया जाता है कि उस पर से मूल्य के उतार-चढ़ाव के कारण नकदी लगान अधिक अच्छा नहीं रहता और इससे ज़मींदार और

---

१. Calvert—Wealth and Welfare of the Punjab, pp. 206-7.

२. Marshall—Principles of Economics, 1936 Ed. p. 614.

उसके काश्तकार के सम्बन्ध अच्छे बने रहते हैं। "किन्तु इन सुविधाओं को अत्यधिक मूल्य देकर मोल लिया जाता है।"[1] पंजाब के २७ काश्तकारों के खेतों की जांच करने पर पता चला था कि वास्तविक काम करने वाले को वास्तविक आय का १८ प्रतिशत से भी कम मिला, शेष उसके काम न करने वाले मालिक को मिला, जो किसी प्रकार के खतरे में सहायता नहीं देता।

भूमि के किरायेदारी की सदा निन्दा ही नहीं की जाती।"संसार भरमें सबसे अच्छी खेती किरायेदारी की भूमि प्रणाली[2] (इंग्लैण्ड) में ही की जाती है।" इसका कारण यह है कि "एक अंग्रेज़ ज़मींदार अपने काश्तकार किरायेदार को अपना सर्वोत्तम मित्र मानता है और अपने लगान का पूर्णतया तृतीय भाग वापिस उस भूमि और उसकी आवश्यकताओं पर खर्च कर देता है। पंजाब के अधिकांश ज़मींदार एक-एक अंग्रेज़ ज़मींदार की अपेक्षा दुगना लगान वसूल करता है और उसके बदले में भूमि पर कुछ भी खर्च नहीं करते।"[3]

इस प्रकार भूमि पर स्वामित्वाधिकार प्राप्त करने का नियम निर्णायक अंग नहीं है। काश्तकार तथा ज़मींदार के आचरण पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जब काश्तकार को सुगमता से भूमि से हटा दिया जाता है और उसके द्वारा उस भूमि में किये गए सुधारों का उसको कोई हरजाना नहीं दिया जाता और ज़मींदार को केवल अपने लगान से मतलब रहता है, तो काश्तकार को भूमि की ओर से उपेक्षा करनी पड़ती है। किन्तु जब काश्तकार को उस पर अधिकार करने की सुरक्षा मिल जाती है और उसके द्वारा किये जाने वाले सुधारों के लिए उसे हर्जाना मिल सकता है और जब ज़मींदार भूमि में पूंजी लगाता है तो किराये के काश्तकार उस भूमि में अन्य प्रणाली की अपेक्षा अधिक उत्तम परिणाम दिखला सकते हैं। किन्तु जब एक किसान मालिक तथा सोते रहने वाले ज़मींदार में से—जो केवल खून चूसने वाला होता है—एक को चुनना पड़े तो दोनों में से प्रथम सदा ही अच्छा रहेगा।

९. **ग्रामीण भूमि सम्बन्धी नीति।** आज भारत की खाद्यपूर्ति में अत्यधिक कमी के कारण सरकार को विश्वास हो गया है कि समस्या में सुधार करने से बुराई दूर नहीं होगी। रोग की जड़ें बहुत गहरी हैं और साहस के साथ पकड़ करने की आवश्यकता है। इस प्रकार कृषि के पुनर्निर्माण पर यथासंभव पूरा ध्यान दिया जा रहा है। इस नीति का उद्देश्य ऐसे सुधारों को लागू करना है, जिनसे ज़मींदारी तथा रैयतवारी दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों की सब बुराइयें दूर हो जाँय और प्रति व्यक्ति प्रति

१. Calvert—op. cit., p. 198.
२. Calvert—Principles of Rural Economics, p. 126.
३. Calvert—op. cit. p. 298.

एकड़ उत्पादन को अधिक से अधिक बढ़ाया जा सके। १९४६ में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस प्रश्न को गम्भीरता से हाथ में लिया था और बिहार तथा मदरास जैसे कुछ राज्यों में कुछ उन्नति हुई भी थी। अधिकांश अन्य राज्यों में इस मामले पर विचार करने के लिए उस विशेष उद्देश्य के लिए कमेटियां (ad hoc Committees) बना दी गयी थीं। विभिन्न राज्यों के कार्यों में एकरूपता लाने के लिए तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने 'किसान सुधार कमेटी' (Agrarian Reforms Committee) १९४८ में बनाई थी। इस कमेटी का काम था, "ज़मींदारी प्रणाली के बन्द कर देने से उत्पन्न होने वाले ग्रामीण भूमि विषयक सुधारों के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में प्रचलित परिस्थितियों के प्रकाश में जांच करके उनके सम्बन्ध में अपने सुझाव देना तथा सहकारिता कृषि, कृषि उत्पादन को बढाने की प्रणालियों, छोटे-छोटे खेतों वाले कच्चे काश्तकारों, बिना भूमि के कृषि मजदूरों के सम्बन्ध में तथा कृषि-जीवी ग्रामीण जनता की दशा सुधारने के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट देना।" इस कमेटी ने कुछ सिद्धान्तों को स्थिर किया है, जिन्हें राष्ट्रीय योजना कमीशन ने स्वीकार किया है। वह सिद्धान्त यह हैं:—

१. ग्रामीण अर्थशास्त्र को किसान के व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए।
२. वर्ग शोषण के लिए कोई गुंजायश नहीं रहने देनी चाहिए।
३. उत्पादन में अधिकतम पूर्णता होनी चाहिए।
४. सुधारों की योजना व्यवहारिक होनी चाहिए।

यह सिद्धान्त कुछ भारी परिवर्त्तनों की ओर संकेत करते हैं। उदाहरणार्थ, (क) किसान की दशा में कानून द्वारा सुधार, (ख) जमींदारी प्रथा की समाप्ति, (ग) कृषि की इकाई में वृद्धि, (घ) खेतों का समूहीकरण, (ङ) यांत्रिक कृषि को अपनाना तथा (च) कृषि में विभिन्न प्रकार से उन्नति करने के लिए पानी, बिजली और पूंजी का प्रबन्ध। इनमें से प्रथम दो के सम्बन्ध में अभी तथा शेष के सम्बन्ध में बाद में विचार किया जायगा।

१०. काश्तकारी कानून। जब मालिक स्वयं खेती करता हो तो काश्तकारी की समस्या नहीं उठती। यह तभी उठती है जब वह उसको किराये पर उठाता है। यह समस्या तब उत्पन्न हुई जब स्थायी प्रबंध वाले क्षेत्र में सरकार ने मालगुज़ारी देने वाले किसानों को स्वामित्व का अधिकार दे दिया और भूमिधारियों को आधीन स्थिति में गिरा दिया गया। उत्तर प्रदेश में यह समस्या तब उत्पन्न हुई जब १८५७ के ग़दर के पश्चात् सरकार ने जनता को बदलने के लिए ताल्लुकेदारों का निर्माण करने का विचार किया। आगरा में बिना जांच के ही जमींदारों के साथ बन्दोबस्त कर लिया गया। ऐसे ज़मींदारों को केवल इतना ही मतलब था कि उनको अधिकतम लगान मिलता रहे, जिससे वह उसके एक भाग से माल-

गुजारी की मांग को चुकाते रहें। इस प्रकार वास्तविक कृषि करने वाले को अपनी इच्छा के अनुसार किरायेदार या काश्तकार बना दिया गया। और उसकी दशा बहुत गिर गई। इससे अपने कार्य से अनुपस्थित रहने वाले जमीदारों की संख्या अधिक हो गई और क़िसानों को भूमि से निकालने और उनसे अत्यधिक लगान लेने की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हो गई कि राज्य को किसान की कानून द्वारा रक्षा करनी पड़ी। बंगाल अकाल जांच कमीशन ने विचार किया कि यदि भूमि का मालिक उसी प्रकार कार्य करे, जिस प्रकार रैयतवारी प्रणाली में सरकार कार्य करती है, तो ज़मींदारी प्रणाली में सुधार हो सकता है। किन्तु सर नानावटी के विचार में यह असम्भव था। अतएव काश्तकारों की रक्षा करने के लिए कानून बनाना आवश्यक हो गया।

रैयतवारी क्षेत्रों में भी, जहां भूमि को किराये पर देने की प्रणाली ने प्रवेश किया, इसी प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो गई। दक्षिण के कुछ जिलों में किराये के काश्तकारों की अपेक्षा मालिक काश्तकारों की संख्या कम हैं। वहां किराये के काश्तकार की कोई रक्षा नहीं की जा सकती और बिना भूमि के खेतीहर मजदूर के जैसा है। पंजाब, मदरास और बंगाल बैंकिंग जांच कमीशनों ने कहा है कि इस प्रथा के कारण किरायेदार काश्तकारों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। अतएव, न केवल ज़मींदारी क्षेत्रों में वरन् रैयतवारी क्षेत्रों में भी किसान की शोषण से कानून द्वारा रक्षा करने की आवश्यकता है। हम उस समस्या पर पृथक् राज्यवार विचार करेंगे, क्योंकि उस पर बिलकुल विभिन्न प्रकार से विचार किया गया है।

११. क. स्थायी बंदोबस्त वाले ज़मींदारी क्षेत्र। **बंगाल**—बंगाल में सन् १७९३ में भूमि की मालगुज़ारी लगान की दर $\frac{९}{१०}$ निश्चित कर दी गयी और उसको स्वीकृत ज़मींदार वसूल कर सकते थे। १८५९ में बंगाल में भी लगान अधिनियम (Rent Act) पास कर दिया गया। १८८५ में उसमें संशोधन किया गया। जिन किसानों के पास वहीं भूमि १२ वर्ष से थी, उनको इसके अनुसार रक्षा दी गई। उनको बिना किसी समुचित अदालत की डिग्री के बेदखल नहीं किया जा सकता था और न उन पर ५ वर्ष से पूर्व लगान बढ़ाया जा सकता था। पारस्परिक समझौते द्वारा लगान वृद्धि को रोकने तथा अन्य त्रुटियों को दूर करने के लिए उसमें १९०७ में फिर संशोधन किया गया। १९२८ में एक और काश्तकारी कानून बना कर काश्तकार को यह अधिकार दिया गया कि वह एक शुल्क देकर अपनी भूमि को हस्तान्तरित कर सकता था। साथ ही ज़मींदार को हकशुफ़ा (पूर्वत्य अधिकार) भी दिया गया। इस अधिनियम द्वारा आधीन रैयतों की दशा में सुधार किया गया। १९३८ में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने एक और काश्तकारी अधिनियम पास किया। इसके अनुसार ज़मींदार द्वारा कानून विरुद्ध ली जाने वाली रकमों तथा करों को बन्द कर दिया गया और बकाया लगान पर लिये जाने वाले सूद को घटाकर ६$\frac{१}{४}$ सैंकड़ा कर दिया

गया। इस अधिनियम के अनुसार हकशुफ़ा (पूर्वत्य अधिकार) को ज़मींदार से लेकर काश्त के हिस्सेदार को दे दिया गया। इस अधिनियम में १९३९ और १९४० में फिर संशोधन किया गया। यह संशोधन लगान बढ़ाने में धोखेबाज़ी को रोकने तथा बंधकों की रक्षा करने के लिए किया गया था। इन कानूनों से दखिलकारों (Occupancy Tenants) और आधीन रैयतों को कुछ सुरक्षा मिली, किन्तु फसल में भाग लेने की प्रणाली पर बंगाल में ⅕ भूमि पर खेती करने वाले बरगदारों की स्थिति अब भी पहले के समान ही बुरी बनी रही। बंगाल मालगुज़ारी कमीशन (Bengal Revenue Commission) ने उनके लिए सीमित दखिलकारी के अधिकार (Limited Occupancy Rights) दिये जाने का सुझाव दिया। साथ ही उनके सम्बन्ध में यह भी सुझाव दिया गया कि वह ज़मींदार को अपनी उपज का आधा भाग न देकर एक तिहाई भाग दिया करें।

मदरास—मदरास में काश्तकारों के अधिकार की रक्षा १९०९ में जायदाद-भूमि अधिनियम (Estates Land Act) द्वारा की गई। इस कानून को १८६५ के लगान वसूली अधिनियम (Rent Recovery Act) का स्थान दिया गया था। जायदादों की भूमि को जोतने वाले काश्तकारों को दखिलकारी के अधिकार (Occupancy Rights) दे दिये गए और उनको निश्चित लगान देते रहने की दशा में बेदखल नहीं किया जा सकता था। लगान को कुछ स्पष्ट रूप से बतलाए हुए कारणों से ही बढ़ाया जा सकता था। कांग्रेस मंत्रिमंडल ने १९३९ में काश्तकारों को कुछ और अधिकार देने का यत्न भी किया। किन्तु वह उसमें सफल न हो सके। सन् १९४६ में एक अधिनियम बेदखलियों को रोकने तथा कार्यवाहियों को ठहराने के लिए पास किया गया। १९४७ में जायदादों के लगान में कमी का अधिनियम (Reduction of Rents on Estates Act) पास किया गया। उसके अनुसार सन् १८०२ में प्रचलित दर पर लगान को निश्चित किया गया और उसके बाद सब प्रकार की वृद्धि को काट दिया गया। स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों की रैयत को दख़िलकारी के अधिकार मिल गए, जो उत्तराधिकार तथा हस्तान्तरित किये जाने योग्य थे।

बिहार—बिहार में १९३४ के अधिनियम द्वारा **सलामी** तथा **अबवाब** जैसे करों को नियम विरुद्ध ठहरा दिया गया, किन्तु वह चलते ही रहे। १९३८ में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने एक अधिनियम (Tenancy Act) पास किया। इसके अनुसार काश्तकार को अपने खेत को हस्तान्तरित करने का पूर्ण अधिकार दिया गया, बकाया लगान के ऊपर ब्याज की दर ६¼ प्रतिशत निश्चित कर दी गई, अबवाबों के लेने को दण्डनीय अपराध ठहराया गया और लगान की वृद्धि को सर्वथा रोककर केवल उस स्थिति में ही उसकी अनुमति दी गई, जब ज़मींदार भूमि में सुधार करे। इसी वर्ष बिहार बाकाश्त भूमियों की वापिसी का अधिनियम (Bihar Restoration of Bakasht

Land Act) तथा बकाया लगान में कमी के अधिनियम (Reduction of Arrears of Rents Act) भी पास किये गये। इसमें यह व्यवस्था की गई कि मंदी के दिनों में बेची हुई भूमि को रैयत घटाई हुई दर पर बकाया लगान चुका कर वापिस ले सकेगी। छोटा नागपुर की रैयतों को भी इसी प्रकार की सहायता दी गई, किन्तु इन कानूनों से उन किसानों को कोई लाभ नहीं पहुंचा जो बटाई के आधार पर भूमि के अधिकारी की इच्छा पर काम कर रहे थे। इस प्रकार के किसान कम से कम २० प्रतिशत भूमि को जोतते थे, जो बंगाल के बरगदारों के जैसे ही थे। १९४७ में एक कानून द्वारा उनकी उपज के स्थान में युद्ध-पूर्व के मूल्य पर लगान तय कर दिया गया। इससे किसानों को अत्यधिक आराम मिला।

इन स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में ज़मींदारी प्रथा के मिट जाने से ही असली समस्या सुलझ सकेगी। ज़मींदारी बन्द करने की दिशा में वास्तविक प्रगति अत्यंत मंद रही है क्योंकि ज़मींदारों को दिये जाने वाले हर्जाने को पूरा करने में अनेक वर्ष लगेंगे, किन्तु सिद्धान्त तय कर दिया गया है।

अस्थायी प्रबन्ध वाले ज़मींदारी क्षेत्र। उत्तर प्रदेश—१८५९ के बंगाल अधिनियम को आगरा प्रांत पर लागू कर दिया गया और लगातार बारह वर्ष अथवा अधिक समय तक भूमि पर अधिकार रखने वालों को दखिलकारी का अधिकार (Occupancy Right) दे दिया गया। १९०१ के आगरा काश्तकारी अधिनियम (Agra Tenancy Act) में इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि एक वर्ष के कम समय के लिए भूमि अधिकार के परिवर्तन अथवा बेदखली को समय का टूटना नहीं माना जायगा। यह भी विधान किया गया कि सात वर्ष अथवा इससे अधिक समय के ठेकों को भी दखिलकारी के अधिकारों में गिन लिया जायगा। १९२६ में कच्चे काश्तकारों (Non-occupancy Tenants) को उनके जीवनकाल के लिए भूमि का अधिकार दिया गया और उसके बदले में **सीर** अथवा **खुदकाश्त** के ऊपर ज़मींदार के अधिकार को बढ़ा दिया गया। १९३९ में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने उत्तर प्रदेश काश्तकारी कानून (U. P. Tenancy Act) पास किया। इसके अनुसार दखिलकार काश्तकारों (Occupancy Tenants) को वंशानुगत अधिकार दिये गए और ज़मीदार के खुदकाश्त अथवा सीर के क्षेत्रफल को पचास एकड़ तक परिमित कर दिया गया। इस कानून के द्वारा लगान को १८९५ और १९०५ के बीच की दर पर विकसित किया गया और उनको २० वर्ष तक बढ़ाया नहीं जा सकता था। बकाया लगान पर ब्याज की दर सवा छः प्रतिशत तय कर दी गई और बेदखलियों को तबतक रोक दिया गया, जबतक लगातार अप्राप्ति न हो। इस कानून से उत्तर प्रदेश में लगान के बढ़ाने के विरुद्ध पर्याप्त प्रगति हुई। इस काश्तकारी कानून में १९४७ में संशोधन किया गया। इसके द्वारा ज़मींदार के भूमि को प्राप्त करने के अधिकार

को सीमित कर दिया गया और काश्तकार को यह अनुमति दी गई कि चाहे वह लगान ज़मींदार को सीधा दे, डाक मनी-आर्डर से भेजे अथवा उसको एक कानूनी अदालत में जमा कर दे। यह भी व्यवस्था की गयी कि यदि काश्तकार न देने की बेदखली होने के एक मास के अन्दर-अन्दर लगान जमा कर देगा तो उसकी भूमि उसे वापिस मिल जायगी। उत्तर प्रदेश में ज़मींदारियों को समाप्त करने के सिद्धान्त को स्वीकार करके एक विधेयक (Bill) पास कर दिया गया है।

यहां के काश्तकारों की स्थिति अन्य स्थानों के काश्तकारों से सदा अच्छी रही है। बन्दोबस्त के समय अधिकारियों ने न केवल मालगुज़ारी तय की वरन् वह लगान भी तय किया, जो किसान को चुकाना था। दखिलकारी के अधिकार उत्तराधिकार योग्य तथा हस्तान्तरित-करण योग्य हैं। हां, उनमें प्रथमक्रय अधिकार (हकशुफ़ा) ज़मींदार को दिया गया है। १९३९ में दखिलकार काश्तकारों को यह अधिकार भी दिया गया कि वह भूमि को बंधक रख सकते थे और पांच साल तक दूसरे को किराये पर भी दे सकते थे। ज़मींदार को प्रथमक्रय अधिकार था, यदि भूमि उसको लगातार दी जाती रहे तो अस्थायी काश्तकार को दखिलकार काश्तकार बनाया जा सकता था। यहां लगान बुरी तरह बढ़ाने की समस्या नहीं थी।

उड़ीसा—इस राज्य में अस्थायी बन्दोबस्त वाली जायदादें हैं। १९३८ में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने रैयत को अपनी भूमि को हस्तान्तरित करने का अधिकार दिया, अबवाब के लिए जेल की सजा का विधान किया, बकाया लगान पर ब्याज की दर घटा कर सवा छः प्रतिशत कर दी तथा भूमि में ज़मींदार द्वारा की जाने वाली उन्नति के अतिरिक्त अन्य सभी दशाओं में लगान बढ़ाने को रोक दिया गया। इस पर अत्यधिक विरोध प्रगट किया गया। १९४६ में जायदाद भूमि अधिनियम (Estates Land Act) में संशोधन करके इनामदारों के काश्तकारों को भी मौरूसी (दखिलकारी) हक दे दिए गए। रैयत की रक्षा करने के लिए काश्तकारी कानून में १९४७ में दो बार संशोधन किया गया। १९४७ में जायदाद भूमि अधिनियम में फिर संशोधन किया गया जिससे लगान में कमी की जा सके।

ख. रैयतवारी क्षेत्र। पंजाब और बम्बई में भूमि पर अधिकार करने की रैयतवारी प्रथा चालू है। संयुक्त पंजाब में ४२ प्रतिशत भूमि किसान मालिकों के पास, ८ प्रतिशत मौरूसी काश्तकारों के पास तथा ५० प्रतिशत अस्थायी काश्तकारों के पास थी। मौरूसी अथवा दखिलकार काश्तकार (Occupancy Tenant) वह है, जिसने दो पीढ़ियों तक मालिक को न तो लगान और न सेवा दी हो, वरन् भूमि की मालगुजारी का भाग भी दिया हो। उसके अत्यन्त व्यापक अधिकार होते हैं और जबतक वह अपनी वाजिब रकम चुकाता रहे वह भूमि को अपने पास रख सकेगा। वह उस भूमि को इन्हीं शर्तों पर अपने उत्तराधिकारियों को भी दे सकेगा। तो भी अस्थायी काश्तकारों

का क्षेत्र बढ़ रहा है।

विभाजन के फलस्वरूप हिन्दुओं तथा सिक्खों की जनता पूर्वी पंजाब में आ गई। जितनी भूमि पूर्वी पंजाब में थी उससे वह बहुत अधिक भूमि पश्चिमी पंजाब में छोड़ आए। इसके परिणामस्वरूप मालिकों को उनके भाग के अनुसार पूरी भूमि नहीं दी जा सकती। निम्नलिखित आधार पर अर्द्ध-स्थायी अधिकार दे दिया गया—

(१) प्रत्येक आठ एकड़ अथवा उससे कम भूमि के मालिक को पूरी भूमि दी गई।

(२) आठ एकड़ से अधिक भूमि के मालिक को आनुपातिक आधार पर कम भूमि दी गई।

स्वयं खेती न करने वाले मालिकों से छूटने का यह अत्यन्त उपयुक्त अवसर था। उनको अपनी छोड़ी हुई भूमि के लिए किसी को भी भविष्य में चुकाई जाने योग्य हुण्डियां (Bearer Bonds) दी जा सकती थीं। इस प्रकार ऐसे आर्थिक संस्थान बना दिये जाते, जिनको तोड़ा नहीं जा सकता था। किन्तु विभाजन के कारण इतना भारी सदमा लोगों के दिल पर बैठा हुआ था कि ऐसा करना उचित नहीं समझा गया, तो भी काश्तकारों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है कि वह अपने साधनों को एकत्रित करके सहकारिता सोसाइटियां स्थापित कर लें। सरकार इस उद्देश्य के लिए ट्रैक्टरों सहित सभी प्रकार की सहायता दे रही है।

बम्बई—बम्बई में काश्तकारी कानून का शासन रिवाजी कानून के अनुसार किया जाता है। तो भी कानून की आवश्यकता अनुभव करके कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने १९३९ काश्तकारी कानून (Tenancy Act) पास किया। इसको १९४१ में कुछ चुने हुए क्षेत्रों में लागू किया गया। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(क) एक नये किस्म के काश्तकारों का वर्ग बनाया गया, जिसको बेदखल नहीं किया जा सकता था बशर्ते कि उसके पास १९३८ से पूर्व वह भूमि रही हो और उसने उसको स्वयं जोता-बोया हो।

(ख) उसके काश्तकारी अधिकार को कुछ शर्तों के आधीन सुरक्षित कर दिया गया था, जो यह थीं: (१) ज़मींदार चाहे तो उसको स्वयं खेती करने के लिए ले सकता था, (२) काश्तकार लगान बराबर देता रहे और (३) इस भूमि को किसी और काश्तकार को न उठाये। किन्तु बेदखल किये जाने पर काश्तकार को उस भूमि में अपने द्वारा किये हुए सुधार कार्यों का हर्जाना लेने का अधिकार था।

(ग) 'कोई काश्तकार लगान किस प्रकार चुकाए' इस विषय की विधि कोई अन्य इकरारनामा न होने की दशा में निश्चित कर दी गई।

(घ) सभी प्रकार के काश्तकारों को कुछ लाभ दिये गए। सरकार कुछ क्षेत्रों पर लगान की अधिकतम दर लागू कर सकती थी। सरकार यदि ज़मींदार की मालगुज़ारी

में कमी करती तो ज़मींदार को भी उसी अनुपात में अपने किसानों की लगान में छूट देनी पड़ती। ज़मींदारों को कानून विरुद्ध वसूली के लिए दण्डित होना पड़ेगा। किसानों का अपने द्वारा लगाए गए वृक्षों पर अधिकार होगा और बेदखली की दशा में उसे उनका हर्जाना पाने का अधिकार होगा।

(ङ) दस वर्ष से कम समय के लिए कोई कृषि-भूमि ठेके पर नहीं दी जा सकेगी। यह व्यवस्था कृषकों द्वारा भूमि का सुधार किये जाने में प्रोत्साहन देने के लिए की गई।

बम्बई का अभी पिछले दिनों का कानून और भी अधिक उन्नतिशील है। जिस काश्तकार के कब्ज़े में ५० एकड़ या अधिक भूमि है, उसे ज़मींदार बेदखल नहीं कर सकता। किसानको अपने द्वारा कृषिकी जाने वाली भूमिको मोल लेनेका भी अधिकारहै, बशर्तेकि उसका खेत ५० एकड़ से कम है। इसका उचित मूल्य एक न्यायालय (ट्रिब्यूनल) तय करेगा। ऐसा तभी होगा यदि ज़मींदार का छोड़ा हुआ खेत ५० एकड़ से कम न हो, किन्तु यदि किसान अयोग्य हो और उस भूमि से न्यूनतम उत्पादन न कर सके तो उससे भूमि छीन ली जायगी। जो भूमि दो ऋतु तक बिना खेती के पड़ी रहेगी उसे सरकार हर्जाना देकर प्राप्त कर सकेगी।

१२. काश्तकारी कानूनों की सफलताएं। भारत में काश्तकारी कानूनों के मुख्य उद्देश्य यह रहे हैं: (क) लगान वृद्धि को सीमित करना, (ख) स्वेच्छापूर्वक बेदखली को दूर करना, (ग) काश्तकारों को मौरूसी अधिकार देना, (घ) बकाया लगान के लिए कुर्की के अधिकार को सीमित करना और औज़ारों, बीज आदि की कुर्की से मुक्त करना, (ङ) मालगुजारी में कमी या मुनाफा होने पर लगान में भी कमी या मुनाफा दिलाना, (च) किसान के द्वारा की हुई उन्नति के लिए उसे हर्जाना दिलवाना और (छ) किसान की **सलामी** अबवाब आदि देनदारियों से रक्षा।

साधारणतया प्रत्येक राज्य द्वारा बनाए हुए कानूनों के द्वारा इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफलता मिलती है। उन्होंने ज़मींदार की सुविधाओं को अत्यधिक कम कर दिया है। किन्तु दुर्भाग्यवश लाभ सदा ही भूमि पर वास्तविक खेती करने वाले को नहीं पहुंचा। जिस मौसमी काश्तकार के अधिकारों की रक्षा की गई है वह सदा ही असली काश्तकार नहीं होता। वह भी लगान लेने वाला ही बन गया। वास्तविक किसान अब भी प्रायः अस्थायी काश्तकार है, जो बटाई देता है। काश्तकारी कानून उसकी रक्षा नहीं करता। उससे अब भी पहले के समान अधिक लगान वसूल किया जा रहा है और उसको चाहे-जब बेदखल होने से नहीं रोका जा सकता। भूमि पर जनसंख्या का दबाव इतना भारी है कि काश्तकार एक अत्यन्त निर्बल सौदा करने वाले की स्थिति में रह जाता है। इसके अतिरिक्त कानून में छिद्र भी सदा ही रहते हैं और अदालती कार्यवाहियां इतनी अधिक पेचीदी होती हैं कि निर्धन काश्तकार को कानून से लाभ नहीं पहुंच पाता।

विधेयकों (Bills) का मसविदा बनाया गया, किन्तु प्रगति कम हुई और बाधाएं अनेक आई। इसके परिणामस्वरूप अभी तक मदरास में १९४८ के रियासती अधिनियम (Estates Act) के अतिरिक्त अभी किसी कानून को कार्य-रूप में परिणत नहीं किया जा सका। इस विलम्ब के लिए सब से बड़ी बाधा हर्जाने के भुगतान की थी जिसका भुगतान नकदी में करने की हमारे विधान (Constitution) में अनिवार्य व्यवस्था की गई है। यह अनुमान लगाया गया है कि मदरास, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और बम्बई के जिन छः राज्यों में ज़मींदारियों को समाप्त करने का प्रस्ताव किया जा रहा है, उनमें कुल लागत ३४१ करोड़ रुपये की बैठेगी। इसके अतिरिक्त उनको साढ़े छः करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की और भी आय होगी, जो इस रकम का केवल ५ प्रतिशत है।

भारतीय अर्थशास्त्र आज मुद्राप्रसार की स्थिति में से गुज़र रहा है। अतएव हर्जाने का नकदी में दिया जाना असम्भव समझा जा रहा है। केवल मदरास में, जहां हर्जाने की रकम केवल १७ करोड़ है, उसको एकदम चुकाना संभव हो सकेगा। अन्य स्थानों में भुगतान की अन्य प्रणालियों—उदाहरणार्थ, बिक जाने योग्य हुण्डियां (Negotiable Bonds), बिक्री न करने योग्य हुण्डियां (Non-negotiable Bonds) तथा वार्षिक किश्तों को अपनाने का प्रस्ताव किया गया है। उसको चुकाने की जो भी प्रणाली हो, इस समस्या का अर्थ है अपने ऊपर चुकाने का विशाल उत्तरदायित्व ले लेना। इसी कारण से ज़मींदारियों को ज़ब्त करने के काम को गंभीरता से हाथ में नहीं लिया गया। यह बात उल्लेख कर देने योग्य है कि पंजाब में भी, जहां मालिक स्वयं खेती नहीं करता, बड़ी ज़मींदारियों को समाप्त कर देना चाहिये था। वहां विभाजन के फलस्वरूप कृषि न करने वाले मालिकों को समाप्त कर देने का उत्तम अवसर मिल गया था।

१६. भूमि पर अधिकार प्राप्त करने की प्रणाली का पुनर्निर्माण।

स्थायी बन्दोबस्त तथा ज़मींदारी प्रथा को समाप्त कर देने का प्रश्न जनता के मन में अत्यधिक समय से घूम रहा है। यदि राजनीतिक स्वतन्त्रता का लाभ किसान को देना है तो ज़मींदारी प्रथा को बंद करना ही होगा। जब तक किसान का भूमि पर अधिकार न होगा और उसको अभाव से मुक्ति न मिलेगी तबतक पंचायत राज का कोई अर्थ नहीं और उसकी आर्थिक उन्नति भी असंभव है।

बंगाल के भूमि राजस्व कमीशन (Land Revenue Commission) ने १९३८ में यह तर्क दिया था कि स्थायी बन्दोबस्त ने राज्य की आय को गत १५० वर्षों से लोचहीन बना रखा है और राज्य की जनसंख्या के बढ़ने तथा सिंचाई के विस्तार के कारण भूमि के बढ़े हुए मूल्य का लाभ नहीं पहुंचने दिया। उसने सुझाव दिया कि ज़मींदारी प्रथा के स्थान में रैयतवारी प्रथा को रख लिया जाय और सरकार तथा वास्तविक कृषि करने वाले के बीच के सभी बिचवैयों को हर्जाना देकर समाप्त कर दिया जाय।

इन तर्कों से सरकार को ज़मींदारों तथा अन्य बिचवैयों को समाप्त करने तथा भूमि पर अधिकार करने के नियम की प्रणाली का अधिक उन्नत रीति पर पुनर्निर्माण करने के लिए प्रेरणा मिली। उसको सभी राज्यों में सबसे प्रथम समाप्ति की दिशा में प्रगति करने का सम्मान बिहार को मिला। किन्तु उसके शास्त्रीय विषय न रह जाने से लगभग सभी राज्यों ने ऐसे अधिनियमों को पास कर दिया। संक्षेप में किसान सुधार दो विशाल-मार्गों पर चले :

(क) ज़मींदारियों की समाप्ति, और
(ख) काश्तकारी नियमों में सुधार तथा भूमि प्रणालियों का पुनर्निर्माण।

समुचित आर्थिक तथा संस्थाओं सम्बन्धी पृष्ठभूमि के बिना एक ठीक और समृद्ध कृषि-प्रणाली बनाना संभव नहीं है। जिन दशाओं के अधीन कृषि-भूमियों के ठेके दिये जा रहे हैं, और जिस प्रणाली के अधीन भूमि को काश्तकार अपने पास रखते तथा उसमें खेती करते हैं, वह कृषि अर्थशास्त्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग है।

क. ज़मींदारी की समाप्ति—A-वर्ग के ९ राज्यों में छः—मदरास, बिहार, उड़ीसा, आसाम, उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश ने आवश्यक कानून अपने अपने यहां उपस्थित कर दिये हैं अथवा बना दिए हैं, जबकि पूर्वी बंगाल सुन्दरबन के क्षेत्र में ज़मींदारियों को पूर्णतया समाप्त करने की एक अच्छी योजना बनाने का विचार कर रहा है। बम्बई ने, जो मुख्य रूप से एक रैयतवारी क्षेत्र है—मेहवा, ताल्लुकदार, खोटी, मुलेकी, नरवादरी आदि भूमि पर अधिकार करने वाले पुराने लोगों के एक बड़े भाग को समाप्त कर दिया है। उसने १९४८ का बम्बई काश्तकारी और कृषि भूमि अधिनियम (Bombay Tenancy and Agricultural Land Act) पास करके बड़ी बड़ी ज़मींदारी रियासतों के क्रमशः खण्ड-खण्ड होते जाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इस अधिनियम में कुछ संशोधन करके इसे हैदराबाद और सौराष्ट्र ने भी अपना लिया है। B-वर्ग के राज्यों में मध्यभारत और हैदराबाद ने ज़मींदारी तथा जागीरदारियों को समाप्त करने के लिए कानून बनाने का कार्य आरंभ कर दिया है। इसके अतिरिक्त पटियाला राज्यसंघ (P.E.P.S.U.) ने १९५० में बिस्वेदारी समाप्ति अधिनियम (Abolition of Biswedari Act) पास कर लिया है। इसके अनुसार मौरूसी काश्तकारों (Occupancy Tenants) के पास की भूमियों को ज़मींदारों तथा काश्तकारों में एक के विरुद्ध तीन के अनुपात में विभक्त कर दिया गया है। इस योजना में ज़मींदार को कोई हर्जाना नहीं दिया गया है। मैसूर, राजस्थान, पेप्सू (P.E.P.S.U.), ट्रावनकोर-कोचीन, सौराष्ट्र और पंजाब जैसे राज्यों में इस मामले पर पूर्ण विस्तार से[1]

---

१ इस विषय के विस्तृत विवरण के लिए भारत सरकार के खाद्य तथा कृषि सचिवालय द्वारा प्रकाशित 'भारत में कृषि सम्बन्धी स्थिति' शीर्षक से छपे हुए लेखों १, २ व ३ को पढ़ो।

विचार करने के लिए कमेटियां बना दी गई हैं।

समाप्ति का तरीका—इस कानून का उद्देश्य ज़मींदाराना रियासतों—महालों तथा उन भूमियों पर अधिकार करना है, जिन पर बिचवैयों का कब्ज़ा हो और जो ज़मींदार, मालिक, लैण्डलार्ड, मालगुज़ार, जागीरदार, ठेकेदार, ईनामदार, मुआफ़ीदार आदि विभिन्न प्रकार के नामों से पुकारे जाते हैं, और फिर उन ज़मीनों को किसानों को देना है। सरकार **हाटों, बाजारों**, खानों और खनिज द्रव्यों, जंगलों, मत्स्यागारों, तथा जहाज़घाटों पर एक-एक निश्चित घोषित तारीख के बाद कब्ज़ा कर लेगी। इस घोषित तारीख के बाद सभी अधिकार तथा देनदारियां सरकार की हो जाँयगी और ज़मींदारों को लगान, चुंगी अथवा किसी प्रकार की बकाया रकम को उन पर वसूल करने का अधिकार नहीं रहेगा। बंधक रखी हुई भूमि भी सरकार के हाथ में आ जायगी और सभी अनेक बंधकों के बदले में एक बंधक बना दी जायगी। एक निश्चित तारीख के बाद भूमि का हस्तान्तरीकरण भी—यदि वह कानूनी हस्तान्तरीकरण न हों—नहीं किया जा सकेगा।

सभी बिचवैये बड़े-बड़े जमींदार नहीं हैं, बल्कि उनमें से अधिकांश के पास बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हैं। उत्तर प्रदेश में इस कानून का प्रभाव २० लाख भूस्वामियों तथा ४ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि पर पड़ेगा। मदरास में ज़मींदारी तथा इनामी रियासतों का क्षेत्रफल १ करोड़ ४० लाख एकड़ है। अजमेर में इस्तमरारदारों के पास समस्त भूमि का ५० प्रतिशत है। हैदराबाद में जागीर क्षेत्र में ६,५०० गांव हैं, जो समस्त राज्य के क्षेत्रफल के एक तृतीयांश के लगभग है, मध्यभारत में १८,६३६ वर्गमील के मालिक जमींदारों पर इसका प्रभाव पड़ेगा।

इन अधिनियमों के अनुसार उन भूमियों का प्रबंध सरकार के पास आ जायगा, और वह प्रबन्धकों की नियुक्ति कर सकती है। वर्तमान किसानों को तब तक मौरूसी अधिकार प्राप्त रहेंगे, जब तक वह सरकार को अपनी देनदारी चुकाते रहेंगे, और उसी परिमाण में उनका भूमि पर अधिकार सुरक्षित रहेगा।

हमारे विधान के अनुसार, राज्य जिस सम्पत्ति को अनिवार्य रूप से प्राप्त करेगा उसके लिए उसे हर्जाना देना होगा। उसको या तो हर्जाने की रकम निश्चित कर देनी चाहिये अथवा उस सिद्धान्त का निर्देश कर देना चाहिये, जिसके अनुसार हर्जाने का हिसाब लगा कर वह दिया जाता है।

भूमि प्राप्ति अधिनियमों (Land Acquisition Acts) के अनुसार हर्जाने को वर्तमान वास्तविक आय में से एक पूंजी की रकम बना कर निश्चित किया जाता है। वास्तविक आय का हिसाब लगाने के लिए विभिन्न साधनों से होने वाली सभी प्रकार की आय का हिसाब लगा कर उसमें से प्रबन्ध, लगान वसूली पर होने वाले व्यय और सिंचाई कार्यों को चलाने के खर्च को काट दिया जाता है। इसको उत्तर प्रदेश में ८ की तथा मध्यप्रदेश में १० की साधारण दर से गुणा कर दिया जाता है। अन्य राज्यों में

इन तर्कों से सरकार को ज़मीदारों तथा अन्य बिचवैयों को समाप्त करने तथा भूमि पर अधिकार करने के नियम की प्रणाली का अधिक उन्नत रीति पर पुनर्निर्माण करने के लिए प्रेरणा मिली। उसको सभी राज्यों में सबसे प्रथम समाप्ति की दिशा में प्रगति करने का सम्मान बिहार को मिला। किन्तु उसके शास्त्रीय विषय न रह जाने से लगभग सभी राज्यों ने ऐसे अधिनियमों को पास कर दिया। संक्षेप में किसान सुधार दो विशाल-मार्गो पर चले :

(क) ज़मींदारियों की समाप्ति, और

(ख) काश्तकारी नियमों में सुधार तथा भूमि प्रणालियों का पुनर्निर्माण।

समुचित आर्थिक तथा संस्थाओं सम्बन्धी पृष्ठभूमि के बिना एक ठीक और समृद्ध कृषि-प्रणाली बनाना संभव नहीं है। जिन दशाओं के अधीन कृषि-भूमियों के ठेके दिये जा रहे हैं, और जिस प्रणाली के अधीन भूमि को काश्तकार अपने पास रखते तथा उसमें खेती करते हैं, वह कृषि अर्थशास्त्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग है।

क. ज़मींदारी की समाप्ति—A-वर्ग के ९ राज्यों में छः—मदरास, बिहार, उड़ीसा, आसाम, उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश ने आवश्यक कानून अपने अपने यहां उपस्थित कर दिये हैं अथवा बना दिए हैं, जबकि पूर्वी बंगाल सुन्दरबन के क्षेत्र में ज़मींदारियों को पूर्णतया समाप्त करने की एक अच्छी योजना बनाने का विचार कर रहा है। बम्बई ने, जो मुख्य रूप से एक रैयतवारी क्षेत्र है—मेहवा, ताल्लुकदार, खोटी, मुलेकी, नरवादरी आदि भूमि पर अधिकार करने वाले पुराने लोगों के एक बड़े भाग को समाप्त कर दिया है। उसने १९४८ का बम्बई काश्तकारी और कृषि भूमि अधिनियम (Bombay Tenancy and Agricultural Land Act) पास करके बड़ी बड़ी ज़मींदारी रियासतों के क्रमशः खण्ड-खण्ड होते जाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इस अधिनियम में कुछ संशोधन करके इसे हैदराबाद और सौराष्ट्र ने भी अपना लिया है। B-वर्ग के राज्यों में मध्यभारत और हैदराबाद ने ज़मींदारी तथा जागीरदारियों को समाप्त करने के लिए कानून बनाने का कार्य आरंभ कर दिया है। इसके अतिरिक्त पटियाला राज्यसंघ (P.E.P.S.U.) ने १९५० में बिस्वेदारी समाप्ति अधिनियम (Abolition of Biswedari Act) पास कर लिया है। इसके अनुसार मौरूसी काश्तकारों (Occupancy Tenants) के पास की भूमियों को जमींदारों तथा काश्तकारों में एक के विरुद्ध तीन के अनुपात में विभक्त कर दिया गया है। इस योजना में ज़मींदार को कोई हर्जाना नहीं दिया गया है। मैसूर, राजस्थान, पेप्सू (P.E.P.S.U.), ट्रावनकोर-कोचीन, सौराष्ट्र और पंजाब जैसे राज्यों में इस मामले पर पूर्ण विस्तार से[1]

१ इस विषय के विस्तृत विवरण के लिए भारत सरकार के खाद्य तथा कृषि सचिवालय द्वारा प्रकाशित 'भारत में कृषि सम्बन्धी स्थिति' शीर्षक से छपे हुए लेखों १, २ व ३ को पढ़ो।

विचार करने के लिए कमेटियां बना दी गई हैं।

समाप्ति का तरीका—इस कानून का उद्देश्य ज़मींदाराना रियासतों—महालों तथा उन भूमियों पर अधिकार करना है, जिन पर बिचवैयों का कब्ज़ा हो और जो ज़मींदार, मालिक, लैण्डलार्ड, मालगुज़ार, जागीरदार, ठेकेदार, ईनामदार, मुआफ़ीदार आदि विभिन्न प्रकार के नामों से पुकारे जाते हैं, और फिर उन ज़मीनों को किसानों को देना है। सरकार **हाटों, बाजारों**, खानों और खनिज द्रव्यों, जंगलों, मत्स्यागारों, तथा जहाज़घाटों पर एक-एक निश्चित घोषित तारीख के बाद कब्ज़ा कर लेगी। इस घोषित तारीख के बाद सभी अधिकार तथा देनदारियां सरकार की हो जाँयगी और ज़मींदारों को लगान, चुंगी अथवा किसी प्रकार की बकाया रकम को उन पर वसूल करने का अधिकार नहीं रहेगा। बंधक रखी हुई भूमि भी सरकार के हाथ में आ जायगी और सभी अनेक बंधकों के बदले में एक बंधक बना दी जायगी। एक निश्चित तारीख के बाद भूमि का हस्तान्तरीकरण भी—यदि वह कानूनी हस्तान्तरीकरण न हों—नहीं किया जा सकेगा।

सभी बिचवैये बड़े-बड़े जमींदार नहीं हैं, बल्कि उनमें से अधिकांश के पास बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हैं। उत्तर प्रदेश में इस कानून का प्रभाव २० लाख भूस्वामियों तथा ४ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि पर पड़ेगा। मदरास में ज़मींदारी तथा इनामी रियासतों का क्षेत्रफल १ करोड़ ४० लाख एकड़ है। अजमेर में इस्तमरारदारों के पास समस्त भूमि का ५० प्रतिशत है। हैदराबाद में जागीर क्षेत्र में ६,५०० गांव हैं, जो समस्त राज्य के क्षेत्रफल के एक तृतीयांश के लगभग है, मध्यभारत में १८,६३६ वर्गमील के मालिक जमींदारों पर इसका प्रभाव पड़ेगा।

इन अधिनियमों के अनुसार उन भूमियों का प्रबंध सरकार के पास आ जायगा, और वह प्रबन्धकों की नियुक्ति कर सकती है। वर्तमान किसानों को तब तक मौरूसी अधिकार प्राप्त रहेंगे, जब तक वह सरकार को अपनी देनदारी चुकाते रहेंगे, और उसी परिमाण में उनका भूमि पर अधिकार सुरक्षित रहेगा।

हमारे विधान के अनुसार, राज्य जिस सम्पत्ति को अनिवार्य रूप से प्राप्त करेगा उसके लिए उसे हर्जाना देना होगा। उसको या तो हर्जाने की रकम निश्चित कर देनी चाहिये अथवा उस सिद्धान्त का निर्देश कर देना चाहिये, जिसके अनुसार हर्जाने का हिसाब लगा कर वह दिया जाता है।

भूमि प्राप्ति अधिनियमों (Land Acquisition Acts) के अनुसार हर्जाने को वर्तमान वास्तविक आय में से एक पूंजी की रकम बना कर निश्चित किया जाता है। वास्तविक आय का हिसाब लगाने के लिए विभिन्न साधनों से होने वाली सभी प्रकार की आय का हिसाब लगा कर उसमें से प्रबन्ध, लगान वसूली पर होने वाले व्यय और सिंचाई कार्यों को चलाने के खर्चे को काट दिया जाता है। इसको उत्तर प्रदेश में ८ की तथा मध्यप्रदेश में १० की साधारण दर से गुणा कर दिया जाता है। अन्य राज्यों में

हर्जाना अधिक मान से दिया जायगा। उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश में छोटे बिचवैयों को भी साधारण दर से लगाए हुए हर्जाने के अतिरिक्त प्रगतिशील आधार पर पुनर्वास की रकम भी दी जायगी। हिसाब लगायी हुई आय की मदों में पर्याप्त अन्तर होने के कारण अधिनियम में निर्दिष्ट गणक लोग विभिन्न राज्यों में हर्जाने के रूप को ठीक-ठीक नही बतला सकते।

जहां तक हर्जाना चुकाने की प्रणाली का सम्बन्ध है, मदरास के अतिरिक्त अन्य सब राज्यों में यह हुण्डियों (Bonds) में अथवा आंशिक रूप से हुण्डियों में और आंशिक रूप से नकदी में चुकाया जायगा। उत्तर प्रदेश, मध्यभारत और मध्यप्रदेश में हर्जाने की रकम उन काश्तकारों से एकत्रित की जायगी, जिनको किसी अर्थ में अर्द्ध स्वामित्व के अधिकार मिल जाँयगे। उनको अगले बन्दोबस्त तक भूमि के लगान में छूट भी दी जायगी। उत्तर प्रदेश में काश्तकार लोग अपने वर्तमान लगान का एक मुश्त दस गुना देकर अथवा चार किश्तों में १२ गुना देकर भूमिधर के अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। इसके बदले में वह भविष्य में अपने लगान का ५० प्रतिशत ही देंगे, शेष भाग राज्य द्वारा चुकाया जायगा। मध्यभारत में मौरूसी काश्तकार (Occupancy Tenants) को ६ गुना तथा उप-काश्तकारों (Sub-Tenants) को १५ गुना देना पड़ेगा। इन साधनों से वसूल की हुई रकमों का उपयोग हटाये जाने वाले जमींदारों को हर्जाने देने में किया जायगा। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार २७ करोड़[1] रुपया जमा हो चुका है। कुछ राज्यों में चुकाए जाने वाले हर्जाने की अनुमानित रकम को नीचे दिया जाता है :

राज्य	करोड़ रुपयों में	राज्य	करोड़ रुपयों में
मदरास	१५·५	पश्चिमी बंगाल	२५·०
उत्तर प्रदेश	१४०·०	उड़ीसा	१०·०
बिहार	१५०·०	हैदराबाद	१८·०
मध्यप्रदेश	८·२५	मध्यभारत	१०·०

जमींदारी, जागीरदारी तथा ऐसी अन्य प्रणालियों के समाप्त किये जाने से मुख्य आर्थिक लाभ होगा भूमि पर अधिकार करने की प्रणाली में सीधे सादे रूप का। इसके अतिरिक्त काश्तकार को अधिक सुरक्षा भी मिल जायगी।

ख. **कृषि सम्बन्धी सुधार**—विभिन्न राज्यों की संस्थाओं तथा स्थानीय प्रथाओं में अत्यधिक विभिन्नता होने के कारण उन परिस्थितियों की दशा के अनुसार ही सुधार करने पड़ेंगे। भूमि के प्रबन्ध की प्रणाली, काश्तकारी कार्य की शर्तों तथा खेतों के आकार में किये हुए ताज़ा परिवर्तनों की यहां संक्षेप में आलोचना की जाती है :—

---

१. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए Guru Charan Singh द्वारा लिखी हुई Recent Agrarian Reforms को पढ़ें।

व्यक्तिगत खेती—अपने कार्य से अनुपस्थित रहने वाले जमींदारों के अस्तित्व की प्रणाली भारत में कृषि की उन्नति के मार्ग में अत्यन्त भयंकर बाधा है। इस बुराई के दूर होने के साथ-साथ जमींदारियों के सुधार तथा काश्तकारों के भूमि के अधिकार-प्राप्ति में सुरक्षा मिल जाने का परोक्ष प्रभाव यह होगा कि काश्तकारों द्वारा चुकाया जाने वाला लगान कम हो जायगा तथा आर्थिक आधार पर भूमियों की रचना हो जायगी। कुछ राज्यों ने इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए कृषि आजीविका न करने वालों को भूमि मिलने पर प्रतिबन्ध लगाए हैं। इन राज्यों में कृषिजीवी की परिभाषा में उन्हीं को लिया गया है, जो अपनी भूमि में खेती करता हो। व्यक्तिगत खेती की परिभाषा में ऐसे किसानों को लिया गया है, जो कृषि मजदूरों की सहायता से अथवा उनके बिना स्वयं खेती करें।

व्यक्तिगत खेती को प्रोत्साहित करने की एक और प्रणाली है, जमीन को किराये पर देने की प्रणाली पर प्रतिबंध। कुछ राज्यों में यह नियम पहले ही मौजूद है कि सीर और खुदकाश्त को तब तक किराये पर नहीं दिया जा सकता, जब तक काश्तकार को उन पर मौरूसी हक न मिल जाय। बम्बई, हैदराबाद और उत्तर प्रदेश के ताज़ा कानूनों (Acts) में भूमि को उठाने की अनुमति नाबालिगों, विधवाओं, असमर्थो, पागलों तथा भूमिसेना, जलसेना तथा वायुसेना के कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं दी गई।

काश्तकारी कानून में परिवर्तन—स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद राज्यों के अंदर काश्तकारी कानूनों में अत्यधिक संशोधन किये जाने का उद्देश्य यह है कि भूमि पर अधिकार करने की विभिन्न प्रणालियों में सरलता आ जाय और काश्तकार को भूमि के ऊपर स्थिर अधिकार मिलने के साथ साथ उसके लगान में कमी हो जाय। बम्बई और हैदराबाद में सुरक्षित काश्तकारों को यह भी अधिकार दे दिया गया है कि वह अपनी भूमि को इस प्रकार के उचित मूल्य पर मोल ले सकें, जो कृषिभूमि न्यायालयों (Agricultural Lands Tribunals) द्वारा तय किया जाय।

यद्यपि काश्तकारों के कुछ वर्गों को अपने खेतों पर उत्तराधिकार योग्य स्थायी अधिकार प्राप्त है तथापि उनके अधिकांश को अभी तक किसी प्रकार की भी कानूनी सुरक्षा प्राप्त नहीं थी। १९४८ के बम्बई काश्तकारी अधिनियम (Bombay Tenancy Act) तथा कृषि भूमि अधिनियम (Agricultural Land Act) तथा अन्य राज्यों में ऐसे ही अन्य अधिनियमों ने काश्तकारों के अपने खेतों में सुरक्षा के अधिकार को बढ़ा दिया है। वह अपनी भूमियों का सुधार कर सकते हैं और उनको उनसे तब तक नहीं निकाला जा सकता, जब तक वह लगान न दें सके अथवा अपनी भूमि को किसी अन्य को उठादें अथवा भूमि के उपजाऊपन को हानि पहुंचायें।

इसके अतिरिक्त वर्तमान काश्तकारी कानूनों में इस बात की व्यवस्था कर दी गई है कि उचित लगान तय करके निश्चित कर दिया जाय।

सातवाँ अध्याय

कृषि की इकाई

१. प्रस्तावना। उन्नतिशील कृषि के लिए तीन बातें आवश्यक हैं: (क) कृषि की एक आर्थिक इकाई, (ख) खेती का ठीक-ठीक उचित सामान, (ग) यत्न के लिए प्रलोभन। हम यह पहले देख चुके हैं कि किसान खेत में पूर्ण यत्न से तभी परिश्रम करेगा जब उसको अपने श्रम का फल मिलने का विश्वास हो जाय। यह करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि के लाभ में भाग लेने वाले अन्य सभी उच्च स्वार्थों को समाप्त कर दिया जाय। कृषि के रूप और उस के लिए प्राप्य उपकरणों से भी भूमि की उपज का निश्चय किया जाता है। किन्तु **कृषि की इकाई भी किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं है।** उसके आधार पर ही इस सामग्री का परिमाण निर्भर करता है, जिसका उसमें लाभदायक रूप में उपयोग किया जा सकता है। यदि अधिसंपति आर्थिक रूप से लाभप्रद आकार की न हो तो उसमें स्वामित्व का अधिकार भी सर्वोत्तम प्रयत्नों को प्रोत्साहित नहीं कर सकता।

२. अधिसंपत्ति। अधिसपत्ति निजी हो सकती है अथवा खेती के लिए ली गई। मालिकों की भूमि आकार में बड़ी होती हुई भी अनेक किसानों में बंटी हुई हो सकती है, जिससे खेती की इकाई बहुत छोटी हो जाती है। इसके विपरीत यह हो सकता है कि एक किसान के पास कई मालिकों की जमीन हो, जिनमें से प्रत्येक भाग आकार में छोटा होने पर भी, सब पर एक ही किसान खेती करता हो, जिस से किसान का खेत बड़ा हो जाता हो। कभी कभी मालिक अपने खेत को स्वयं जोतता है। यह हो सकता है कि वह अपनी भूमि का कुछ भाग किसी को लगान पर दे दे अथवा वह किसी पास की भूमि को लगान पर ले ले। पूर्णता के दृष्टिकोण से महत्व अपनी मालिकी की भूमि का नहीं, वरन् कृषि की जाने वाली भूमि का अधिक है। यह देखा जाता है कि भारत में एक औसत किसान की कृषि-अधिसपत्तियां केवल आकार में ही छोटी नहीं होतीं वरन् अनेक टुकड़ों में बंट कर गांव भर में फैली होती हैं।

३. आर्थिक अधिसंपत्ति। आर्थिक अधिसपत्ति की परिभाषा करना सुगम नहीं है। उसका आकार परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है, किन्तु वह ऐसा होना चाहिए कि उसके परिवार को बराबर काम तथा एक उचित आय मिलती रहे। उसका विस्तार (आकार) मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है:—

(क) **कृषि की प्रणालियां**—यदि यांत्रिक प्रणालियों से काम लिया जाय तो

उसका आकार कम से कम २०० एकड़ होना चाहिए। पुरानी प्रणाली से २० से २५ एकढ़ तक पर्याप्त होगी।

(ख) **उत्पन्न की जाने वाली फ़सलें**—गेहूं के लिए भूमि का आकार बड़ा होना चाहिए, ताकि उससे सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त किया जा सके, सब्ज़ियों तथा फलों के लिए कम आकार की भूमि की आवश्यकता होती है।

(ग) **भूमि का उर्वरापन**—जब भूमि का ऊपरी भाग अच्छा होता है तो एक छोटे भाग से भी परिवार का खर्च चल जाता है। जब भूमि हल्की किस्म की होती है अथवा उसमें पानी की कमी होती है तो उसके लिए कुछ बड़े क्षेत्रफल की आवश्यकता होती है। उदाहरणतया, पंजाब के जालन्धर ज़िले की ६ एकड़ भूमि से एक परिवार को हिसार ज़िले की १५ एकड़ भूमि की अपेक्षा जीवन का अधिक उच्चमान मिल सकता है।

(घ) **कृषि का संगठन**—यदि सहकारिता आधार पर खेती की जाय तो बड़े आकार की अधिसंपत्ति अधिक उत्तम उपज देगी, किंतु व्यक्तिगत रूप से स्वयं करने पर छोटे आकार की भी पर्याप्त उपज देगी, क्योंकि यंत्रों का उपयोग लाभदायक रूप में बड़े खेतों में ही किया जा सकता है।

एक परिवार का आकार और उसका सामान भी एक आर्थिक अधिसंपत्ति को निश्चित करते हैं। भूमि के प्रकार, वर्षा, सिंचाई की उपलब्ध सुविधाओं तथा बाज़ार की सुविधाओं के अनुसार इस प्रकार का विभिन्न आकार हो सकता है। डाक्टर मान (Dr. Mann) का विचार है कि दक्षिण (Deccan) में २० एकड़ भूमि एक औसत परिवार को जीवन के न्यूनतम मान को दे देगी। कीटिंग (Keatinge) की सम्मति में एक परिवार के पास आराम से रहने के लिए ४० से ५० एकड़ तक भूमि होनी चाहिए। सर विजय राघवाचार्य का विचार है कि "एक परिवार के पास कम से कम ४ से लेकर ६ एकड़ तक भूमि होनी चाहिए।"

आधार मूलक अधिसंपत्ति—कांग्रेस किसान सुधार कमेटी की रिपोर्ट (Congress Agrarian Reform Committee) में कहा गया है कि आर्थिक अधिसंपत्ति को जीवन का उचित मान प्राप्त करने के योग्य होना चाहिए। उस से साधारण आकार के एक परिवार को पूरा रोज़गार मिल जाय और वह उस क्षेत्र की किसान अर्थ-व्यवस्था के अंगों से सम्बन्ध रखती हो। वह आर्थिक आधारों की अपेक्षा सामाजिक आधार पर आर्थिक अधिसंपत्ति की सापेक्षता में छोटी अधिसंपत्ति की भी सिफारिश करती है। उसी को वह आधारमूलक अधिसंपत्ति (Basic Holding) कहा गया है और व्यक्तिगत कृषि को बहूद्देशीय सहकारिता संगठनों से अन्य कार्यों के लिए सहायता प्राप्त करने का प्रस्ताव किया गया है।

अधिसंपत्ति का आशातीत परिमाण—किसान कमेटी की सम्मति में खेती के आकार

की उच्चतर सीमा भी होनी चाहिए। भारत में एक औसत किसान के पास असीम खेत रखने के न तो साधन है और न योग्यता ही है। इसके अतिरिक्त, कमेटी की सम्मति में यांत्रिक पूंजीवादी कृषि से शोषण बढ़ता है और वह सामाजिक रूप से बुरी बात है। अतएव, उसमें प्रस्ताव किया गया है कि किसी खेती का आशातीत परिमाण आर्थिक खेती के परिमाण से तीन गुने से अधिक न हो, सम्मिलित परिवारों तथा पारमार्थिक संस्थाओं के लिए अपवाद हो सकते हैं। अतएव आशातीत आकार की एक सीमा सामाजिक न्याय तथा आर्थिक पूर्णता के स्वत्व की दृष्टि से बना ही लेनी चाहिए। आसाम जैसे कुछ ज़मींदारी निवारक कानूनों में एक किसान के पास रखने के लिए भूमि का अधिकतम परिमाण भी नियत करने का प्रस्ताव किया गया है। उत्तर प्रदेश में यद्यपि वर्तमान खेतों की कोई सीमा निश्चित नहीं की गई तो भी भविष्य में किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार अथवा विक्री के द्वारा ३० एकड़ से अधिक भूमि नहीं लेने दी जायगी।

४. स्वामित्व अधि-संपत्ति का आकार। एक आर्थिक भूमि की परिभाषा जो कुछ भी तय की जाय किंतु भारत में अधिकांश अधिसंपत्तियाँ—भले ही वह किसानों की हों अथवा मालिक की—आर्थिक आकार[1] का नही हैं। काल्वर्ट (Calvert) ने संयुक्त पंजाब में खुदकाश्त भूमियों के आकार तथा विभाजन की जांच की थी, और वह इस परिणाम पर पहुंचा था कि:—

(१) लगभग १७·९ प्रतिशत मालिकों की भूमियाँ एक एकड़ से कम थीं और इस प्रकार उनका क्षेत्रफल समस्त क्षेत्रफल का १ प्रतिशत था।

(२) लगभग ४०·४ मालिकों के पास एक एकड़ से लेकर पांच एकड़ तक भूमि थी। उसमें समस्त भूमि की ११ प्रतिशत भूमि थी।

(३) लगभग २६·२ प्रतिशत मालिकों के पास ५ एकड़ से लेकर १५ एकड़ तक भूमि थी, उसमें समस्त क्षेत्रफल का २६·६ भाग आता था।

(४) लगभग ११·८ प्रतिशत मालिकों के पास १५ से ५० एकड़ तक भूमि थी और उसमें समस्त क्षेत्रफल का ३५·६ प्रतिशत भाग था।

(५) लगभग ३·७ प्रतिशत मालिकों के पास पचास एकड़ अथवा उससे अधिक भूमि थी और उसमें समस्त क्षेत्रफल का लगभग २५·७ प्रतिशत भूमि आती थी।

पंजाब में प्रत्येक मालिक के पास औसत कृषि भूमि सात और आठ एकड़ के बीच थी। पंजाब के आर्थिक जांच बोर्ड (Board of Economic Enquiry) ने १९३९ में जांच करके यह पता लगाया था कि उनका आकार घट रहा था। काल्वर्ट के

१. "भारत में इस प्रकार के सच्चे किसानों के पास औसत क्षेत्रफल बहुत कम है और इन भूमियों में से अधिकांश दो-दो तीन-तीन एकड़ से भी कम की भूमि है", Report of the Agricultural Commission, p. 143.

अनुसार ५८·३ प्रतिशत मालिक लोग ५ एकड़ से कम भूमि पर खेती करते थे। दूसरी जांच के अनुसार यह अनुपात बढ़ कर प्रतिशत ६३·७ तक पहुंच गया, जब कि इसमें भूमि उतनी ही रही। यदि १५ एकड़ भूमि को एक आर्थिक भूमि माना जाय तो ८८ प्रतिशत मालिकों के पास १९३९ में उससे कम आकार की भूमियाँ थीं।

५. भूमियों का विभाजन। औसत आकार की अपेक्षा भूमि का विभाजन अधिक महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, यद्यपि पंजाब में औसत आकार ७ से ८ एकड़ तक है, किंतु लगभग ६० प्रतिशत किसानों में से प्रत्येक के पास पांच एकड़ से भी कम है। पृष्ठ १४० की तालिका में विभिन्न वर्गों में (न कि क्षेत्रफल) विभाजन की सब से ताजी सूचना के अनुसार विवरण दिया गया है। इससे पता चलेगा कि भारत में अत्यधिक बहुसंख्यकों के पास पांच-पांच एकड़ से कम भूमि है।

६. किसान की भूमि का आकार। स्वामित्व के आकार की अपेक्षा कृषि का आकार अधिक उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ, एक एकड़ से कम की अनेक भूमियों को पंजाब में दूसरे क्षेत्रों के साथ जोता जा रहा है। इसके विरुद्ध अनेक बड़ी-बड़ी भूमियों को मालिकों के छोटे-छोटे भागों में विभक्त करके काश्तकारों को खेती करने के लिए दे रखा है। मिस्टर काल्वर्ट ने पंजाब में किसानों के खेतों के आकार तथा उनके विभाजन के सम्बन्ध में जांच करके पता लगाया है कि २२ प्रतिशत किसानों में से प्रत्येक के पास एक से पांच एकड़ तक भूमि खेती करने के लिए है, ३३ प्रतिशत में से प्रत्येक १५ से लेकर ५० एकड़ तक भूमि को जोतता है, और केवल १ प्रतिशत ५० एकड़ से अधिक भूमि को जोतता है।

अपनी दोनों जांचों के परिणामों की तुलना करने पर मिस्टर काल्वर्ट इस परिणाम पर पहुंचे हैं, "वहां लगभग पांच लाख ऐसे किसान है, जो अपने खेतों के मालिक नही हैं और जो असल किसान हैं। एक एकड़ अथवा उससे कम भूमि जोतने वालों की संख्या अत्यधिक है। एक एकड़ से पांच एकड़ तक भूमि को जोतने वालों का वर्ग भी बहुत बड़ा है। यह लोग किसी न किसी प्रकार लगान पर अधिक भूमि प्राप्त कर के सब से नीचे वर्ग से ऊपर निकल आये हैं। एक बार प्रत्येक किसान को १५ एकड़ भूमि मिलने का नियम पास हो जाने पर यह संख्या अपने आप कम हो जायगी। यह समझा जाता है कि एक जोड़ी बैलों से लगभग १४ एकड़ भूमि को अच्छी तरह जोता जा सकता है। अतएव यह स्पष्ट है कि उस परिमाण में भूमि प्राप्त करने में अनेक किसान असफल रहे। इस लिए वहां लगान पर भूमि लेने की बड़ी मांग बन गयी है और इसी तथ्य के कारण वहां लगान बराबर बढ़ता जाता है और जमीदार उचित नकद[1] लगान लेने के बजाय उपज का आधा भाग प्रायः ले लेता है। इस प्रकार पंजाब के अधिकांश खेत आर्थिक स्तर से

१. Calvert—op. cit., p. 176.

आकार[1] के अनुसार अधिसंपत्ति अथवा भूमि का विभाजन

	मदरास	पंजाब	उत्तर प्रदेश	बंगाल	बम्बई	मैसूर	आसाम	उड़ीसा
खेत का औसत आकार (एकड़ों में)	४·५	१०·०	उपलब्ध नहीं	४·४	१३·३	६·२	४·८	४·९
५ एकड़ से कम के खेतों का समस्त योगफल में प्रतिशत अनुपात	८२	६३·७	८१·२	७१·३	४१·९	६५·९	६६·४	७९·२
१० ,, ,,	८९	८०·०	९३·९	८८·३	६०·९	८६·७	८७·४	८९·५
१५ ,, ,,	उपलब्ध नहीं	८७·९	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	७२·५	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	९४·३
२५ ,, ,,	,,	९३·७	९९·१	,,	८५·२	,,	उपलब्ध नहीं	९७·८

१. Dharm Bir Singh—Agricultural Legislation in India, Vol. II, p. *i*.

इस में अच्छी उन्नति की जा चुकी है। मध्य प्रदेश के १९२८ के अधिनियम के अनुसार यदि वास्तविक भूस्वामियों की आधी संख्या, जो हस्तगत किये हुए ग्राम क्षेत्र के कम से कम ⅓ क्षेत्र के मालिक हों—इस बात की घोषणा करे कि एकत्रीकरण के पक्ष में हैं, तो इस दिशा में अनिवार्यता का प्रयोग किया जा सकता है। मद्रास में १९४७-४८ में कुल २२ सोसाइटियां एकत्रीकरण का कार्य करने के लिए थीं, राज्य सरकार ने इस प्रयोग को यह कह के बंद कर दिया कि जब तक भूमि के खंड होने बन्द न होंगे, एकत्रीकरण से कोई अधिक लाभ नहीं हो सकता।

आरम्भिक दिनों में जब लोग एकत्रीकरण और उस के लाभों से परिचित नहीं थे, बहुत होशियारी से काम करना पड़ता था। कृषि पर शाही कमीशन ने लिखा है कि "राज्य को एकत्रीकरण के विषय में—जहां कहीं उसको अनुमति देने-वाले अधिनियम के आधीन लागू किया गया हो—अपने को बचाते हुए कार्य करना चाहिए। जब किसी प्रकार की अनिवार्यता को लागू करना हो तो विशेष क्षेत्रों को चुन लेना चाहिए, राज्य को प्रचार कार्य करना चाहिए, वास्तविक स्थिति की जांच करनी चाहिए और आरम्भिक चरण में उसका खर्च भी उठाना चाहिए।"[१] हम अनुभव करते है कि अब वह समय आ गया है, जब एकत्रीकरण के कार्य को प्रत्येक गांव में अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। प्रचार से क्षेत्र तैयार हो जायगा, किंतु अन्त में अनिवार्यता किसी न किसी रूप में तो करनी ही पड़ेगी।

बम्बई का १९४७ का, खंड निवारक तथा भूमि एकत्रीकरण अधिनियम इस दिशा में प्रथम ठोस चरण था। इसके अनुसार यह अधिकार दिया गया है कि वह स्थानीय दशाओं का ध्यान रखते हुए किसी ऐसे भूमि खंड के परिमाण को अनिवार्य रूप से निश्चित करदे, जिस में पृथक् भूमि खंड के रूप में लाभप्रद खेती की जा सकती है, और जिसे 'प्रामाणिक क्षेत्र' (Standard Area) कहा जाता है। इस प्रामाणिक क्षेत्र से कम भूमि खंड को टुकड़ा (Fragment) कहा जायगा। किसी प्रामाणिक क्षेत्र का नोटिस निकल जाने पर सभी टुकड़ों को अधिकार-पत्रों में 'टुकड़े' लिख दिया जायगा। इस प्रकार के टुकड़ों का हस्तान्तरीकरण अथवा पट्टे पर देना तब तक नहीं हो सकता जब तक वह एक स्वीकृत सर्वे (Survey) संख्या के उपविभाग (Sub-Division) में न मिल जाँय। किसी भूमि का इस प्रकार हस्तान्तरीकरण अथवा विभाजन नहीं हो सकेगा, जिससे उस भूमि के टुकड़े होते हों। उक्त अधिनियम में सरकार को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह किसी क्षेत्र में बिखरे हुए टुकड़ों का एकत्रीकरण कर सके। पंजाब के १९४८ के अधिनियम तथा पेप्सू के १९५० के अधिनियमों का बहुत कुछ आकार बम्बई का अधिनियम है।

ज़मींदारी प्रथा के समाप्त हो जाने पर और भूमि को वास्तव में खेती

---

१. Royal Commission Report, page 139.

करने वाले को दिये जाने पर इस प्रकार का कानून बनाया जाना चाहिए कि भूमियों का एक निश्चित सीमा तक पहुंचने पर विभाजन न किया जा सके। अभी तक इस कल्याणकर व्यवस्था को सौराष्ट्र के अधिनियम में ही रखा गया है।

१२. सम्मिलित कृषि। खेतों का एकत्रीकरण बुराइयों का सब से अधिक उपशमन करने वाला है। यदि किसी छोटी भूमि का एकत्रीकरण कर लिया गया और उसको फिर टुकड़े होने से बचा भी लिया गया तो भी वह छोटी भूमि ही बनी रहेगी। यदि उसका आकार आर्थिक स्तर से कम होगा तो उसमें श्रम तथा पूंजी की बरबादी ही होगी। इसका एक हल जो कि एक क्रांतिकारी हल है—यह है कि भूमि में व्यक्तिगत स्वामित्व को एकदम समाप्त कर दिया जाय। यह प्रस्ताव है कि संपूर्ण भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय और उस पर आधुनिकतम वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से कृषि की जाय और श्रमिकों को उनकी आवश्यकता के अनुसार मज़दूरी दी जाय। इसको 'सम्मिलित कृषि' कहा जाता है।

देश के वर्तमान सामाजिक संगठन में यह परिवर्तन अत्यधिक क्रांतिकारी होगा। धर्म तथा प्रथा दोनों में ही भूमि के ऊपर व्यक्तिगत अधिकार को स्वीकार किया गया है और किसान के मस्तिष्क में भूमि पर अधिकार करने की अभिलाषा इतनी गहरी होकर घुसी हुई है कि उसे सुगमता से नहीं निकाला जा सकता। इस के अतिरिक्त जब तक पूंजी के अन्य सब रूपों का भी राष्ट्रीयकरण न कर दिया जाय, भूमि के सामाजीकरण का अत्यधिक विरोध किया जायगा। अतएव, वर्तमान स्थिति में रूसी प्रयोग देश के अनुकूल नहीं होगा।

१३. सहकारिता कृषि। सहकारिता कृषि एक ओर सम्मिलित कृषि तथा दूसरी ओर कृषक स्वामित्व के अन्दर एक समझौता है। यह भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त किये बिना विशाल आकार की कृषि के सभी लाभ देती है। भूस्वामियों को सहकारिता कृषि समितियाँ बनाने को प्रोत्साहित किया जाता है, गांव की भूमि को कृषि के लिए मिला कर एक कर दिया जाता है किंतु इस में व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को कायम रखा जाता है। इस प्रकार राज्य के यंत्रों अथवा सहकारिता संस्थाओं के वैज्ञानिक यंत्रों से खेती की जा सकती है। यंत्रों का केवल बड़े-बड़े खेतों पर ही लाभप्रद रूप में उपयोग किया जा सकता है। काम के अनुसार मज़दूरी दी जाती है और स्वामित्वाधिकार के लिए पृथक् प्रतिफल दिया जाता है।

किसी न किसी रूप में सहकारिता कृषि करना भारत की कृषि अर्थ-व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना पुनर्निर्माण की कोई आशा नहीं की जा सकती। भारत में सहकारिता सिद्धांत को ऋण, बिक्री, बीज अथवा यंत्र आदि को मोल लेने में थोड़ा-थोड़ा करके आजमाया गया है। और उसके परिणाम कुछ अपवादों को छोड़ कर कुछ बहुत अच्छे नहीं हुए। मुख्य कठिनाई उसके सदस्यों की निर्धनता, अज्ञान तथा अशिक्षा है। सहकारिता

कार्य से आत्म-सहायता तथा पारस्परिक विश्वास की भावना बढ़ती है। इसके अतिरिक्त इस में जनता के अन्दर मे ही ठीक प्रकार के नेता की आवश्यकता होती है। जाति पांति के विभेद तथा विषम सामाजिक परिस्थिति भी इसमें बाधक होती है। सबसे अधिक आधार-मूलक कठिनाई सहकारिता की भावना की कमी है।

तो भी भारत के विभिन्न भागों में किये हुए प्रयोगों से पता चलता है कि यहां सहकारिता कृषि के लिए बड़ा भारी क्षेत्र है। साठ लाख एकड़ कृषियोग्य बेकार भूमि को सुधारा जा रहा है। लगभग सभी राज्यों में सहकारिता के आधार पर नई-नई बस्तियाँ बसाई जा रही हैं। फ़िलस्तीन की क्वुत्ज़ा बस्ती तथा मैक्सिको में ईजीजोस बस्ती को इन बस्तियों के लिए आदर्श बनाया जा सकता है। भूमि को पांच-पांच सौ से लेकर पन्द्रह-पन्द्रह सौ एकड़ के प्रत्येक टुकड़ों में विभाजित करके ऐसे प्रत्येक भूमिखण्ड में तीस से लेकर ५० परिवार तक को बसाया जा सकता है। इन बस्तियों के प्रत्येक परिवार को एक घर, एक छोटा भूमि खण्ड, सब्ज़ी बोने के लिए बीज तथा एक या दो गौएं दी जानी चाहिएं। उनको फ़सल के उत्पादन में परामर्श देने के लिए सरकार को एक विशेषज्ञ देना चाहिए। इस भूमि में सम्मिलित रूप से मिलकर खेती की जाय, मज़दूरों को स्थिर दर से मज़दूरी दी जाय, खेत की सभी सम्पति सम्मिलित सम्पत्ति के रूप में रखी जाय और खर्चे काट कर उसके लाभ को उनके द्वारा कमाई हुई मज़दूरी के आधार पर बांट दिया जाय। सम्मिलित कृषि उन क्षेत्रों में भी की जा सकेगी जहां बहूद्देशीय नदी योजनाएं चलाई जा रही हैं और जहां ज़मींदारी समाप्त की जा चुकी है। तो भी, यह सभी क्षेत्रफल भारत की समस्त कृषियोग्य भूमि का एक बहुत छोटा भाग होगा। शेष भारत में भूमि का एक बहुत बड़ा भाग अब भी व्यक्तिगत भूस्वामियों के हाथ में है। जिनके खेत छोटे छोटे तथा आर्थिक दृष्टि से अनुत्पादक है, उनमें किसी न किसी प्रकार के सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता है और इनमें अंतिम लाभ अत्यन्त स्पष्ट होगा। यह छोटे-छोटे किसान अत्यंत पुरातनपंथी तथा अज्ञानी हैं। कांग्रेस किसान सुधार कमेटी (Congress Agrarian Reforms Committee) ने १९४९ में प्रस्ताव किया था कि इनमें व्यापक रूप से इस बात का प्रचार किया जाना चाहिए कि वह सहकारिता कृषि संस्थाएं बना लें, और राज्य उनकी अच्छे बीज, खाद, खेती के यन्त्र और सस्ती पूंजी दे कर सहायता करे। कमेटी का कहना है कि "यदि स्वेच्छापूर्वक किये गए प्रयत्नों का उल्लेखनीय परिणाम नहीं निकलता तो फिर अनिवार्यता के लिए नियम बनाने पड़ेंगे।" उनका विश्वास है कि "कुछ समय बाद निर्देशन, निरीक्षण तथा मार्ग प्रदर्शन से भारत के किसान अपने आप छोटे-छोटे सहकारिता कृषि कार्य बना लेंगे और ऐसी अवस्था में प्रयोगात्मक सहकारिता कृषि के अतिरिक्त अनिवार्य के नियम से काम लेने के बहुत कम अवसर होंगे।"

बहूद्देशीय सहकारिता कृषि समितियों से कहा गया है कि वह किसानों को मौलिक आधारभूत और आर्थिक खेतों को जोतने में सहायता दें। इस प्रकार की कृषि से

यदि सुविधा के लिए इस ६० एकड़ भूमि को दस-दस एकड़ के ६ भागों में बांट दिया जाता है तो प्रत्येक कार्यकर्त्ता आधा अपने द्वारा किये हुए काम का पारिश्रमिक ले लेगा और शेष आधे को सम्मिलित साझे में रखेगा। इस सम्मिलित भाग (सम्मिलित बटाई) में से फार्म पहले भूमि की मालगुजारी देगा, फिर पूंजी लगाने के ऐसे कार्य करेगा जो सम्मिलित कृषि के लिए आवश्यक हों तथा अन्य ज़रूरी खर्चे निकालेगा। शेष रकम को स्वामित्व के लाभ के रूप में प्रत्येक स्वामी द्वारा फार्म को दिये हुए क्षेत्र के परिमाण के अनुसार बांट दिया जायगा।[1]

इस प्रकार अपने समस्त लाभों सहित विशाल पैमाने पर खेती करके भी भूमि का स्वामित्व बना रहेगा। "किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर स्वामित्व का यह अर्थ नहीं रहेगा कि किसी विशेष भूमि खण्ड पर स्थायी भौतिक कब्ज़ा, और न उसका यह अर्थ होगा कि भूस्वामी उसे किसी अन्य अस्थायी काश्तकार को लगान पर उठा दे। उसके पुत्र किसी विशेष भूमिखण्ड का बंटवारा नहीं करा सकेंगे। उनको अपने भाग से प्राप्त होने वाले लाभ को आपस में बांटने का अधिकार होगा और उस सम्मिलित प्रबन्ध वाले गांव में उनको काम करने का अधिकार होगा।"[2]

उसकी प्रबन्धकारिणी सभा में गांव के सभी परिवारों के प्रतिनिधि रहेंगे। यह सभा अन्य कार्यों के अतिरिक्त काम की इकाइयों को देगी तथा लाभ का वितरण करेगी। यह स्पष्ट है कि संयुक्त प्रबन्ध एक ऐसी सहकारिता सोसाइटी द्वारा ही किया जा सकता है, जो इसी उद्देश्य के लिए बनाई गई हो।

वैज्ञानिक कृषि की सभी प्रणालियों में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या अतिरिक्त श्रम (Surplus Labour) की उत्पन्न होगी। यह अतिरिक्त श्रम डेढ़ करोड़ से लेकर दो करोड़ व्यक्तियों तक के आसपास हो सकता है। इन लोगों के लिए तो रोज़गार ढूंढना ही पड़ेगा। काम की इकाइयों में कृषि के कार्य का विभाजन करते समय प्राथमिकता उनको देनी पड़ेगी जो स्वयं खेती में लगे होंगे। शेष लोगों में से कुछ को मज़दूरी के काम पर फलों के बागीचे में, कुछ को दुग्धशाला (डेयरी), कुछ को सब्ज़ी के खेत पर तथा कुछ को सहकारिता संस्था के अन्य ऐसे कार्यों में लगा दिया जायगा, जिनको गांव में गांव वालों की आवश्यकताओं को पूरा करने तथा निर्यात व्यापार के लिए खोला जायगा। कुछ को दस्तकारियों में—जैसे जूता बनाने के, बढ़ईगिरी, लुहारी के काम, कुम्हार के काम तथा ऐसे नये कामों में लगा दिया जायगा, जिनका बाद में विकास किया जायगा।

इस प्रकार सबको रोज़गार देने के लिए हमें संपूर्ण आर्थिक जीवन के लिए अपनी योजना को सहायक एवं सहयोगी के रूप में चलाना होगा। किन्तु इस प्रकार की प्रणाली को आरम्भ करने के पूर्व किसान तथा राज्य के बीच के सभी बिचवैयों को समाप्त करना होगा।

---

१. Tarlok Singh—Poverty and Social Change, pp. 57-8.
२. Ibid. pp. 65-66.

आठवां अध्याय

किसान और उसके साधन

१. प्रस्तावना । कृषि की पूर्णता जितनी कृषक की सामाजिक, आर्थिक, और कानूनी स्थिति पर निर्भर करती है, उतनी ही उपयोग में लिये जाने वाले यंत्रों के प्रकार, भूमि के प्रकार तथा खेत के आकार पर भी निर्भर करती है। हम किसान की, उसकी भूमि की कानूनी स्थिति के सम्बन्ध में तथा भूमि का छोटा आकार होने के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में पहले ही विचार कर चुके हैं। अब हम स्वयं किसान और उसके साधनों—जैसे, भूमि, यंत्रों, बीज, खाद, पशु और सिंचाई की सुविधाओं के सम्बन्ध में—जो उसे मिल सकते हैं, विचार करेंगे।

२. किसान। हल के पीछे रहने वाले आदमी, स्वतः किसान की क्या स्थिति है? उसके विषय में अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने परस्पर विरोधी विचार प्रगट किये हैं। डाक्टर वोएलकर (Dr. Voelcker) भारत में कृषि कार्य के सम्बन्ध में अपनी योग्यतापूर्ण रिपोर्ट में "भारतीय किसान के सावधानता पूर्ण कृषिकार्य के साथ साथ उसके कठिन श्रम, उसकी दृढ़निश्चयता तथा उसके साधनों के उपजाऊपन की" प्रशंसा करते हैं। कृषि कमीशन ने भी यह स्वीकार किया है कि "जिन परिस्थितियों में एक साधारण किसान काम करता है, उनमें कृषि विशेषज्ञों ने सुधार का प्रस्ताव करने के काम को एक सरल काम नहीं पाया।"[१] संभवतः इन विचारों में यह सुझाव दिया गया है कि दोष किसान का नहीं, वरन् उसके वातावरण का है। इसके विरुद्ध काल्वर्ट एक आइरिश लेखक का उद्धरण देता है, "किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके पास मिलने वाले भौतिक साधनों में न हो कर उसके निवासियों की शक्ति, उनके द्वारा किये जाने वाले आरंभिक और उनकी नैतिक योग्यता में होती है।"[२] इसका अर्थ यह है कि भारतीय जनता में गुण न होने के कारण वह निर्धन है।

इस मामले में तथ्य यह है कि जहां वातावरण अनुकूल होता है, भारतीय कृषक अत्यधिक साधन सम्पन्नता प्रगट करता है। किन्तु जहां वर्षा अनिश्चित होती है अथवा भूमि पर अधिकार करने के नियम दमनात्मक होते हैं, इन गुणों का लोप जैसा हो जाता है। तो भी साधारणतया हमारे किसान उन्नत देशों के भौतिक और मानसिक विकास से बहुत नीचे हैं। उनके इस पिछड़ेपन के कारण कुछ तो ऐतिहासिक और राजनीतिक तथा कुछ सामाजिक तथा जलवायु सम्बन्धी हैं। किन्तु वह सभी कारण एक दूसरे के

---

१. Report, p. 14.
२. Calvert. op. cit, p. 47.

साथ अभिन्नता से मिले हुए हैं। लेखक ने जो एक विशेष कारण पर बल दिया है, वह लेखक के राजनीतिक सिद्धान्त का परिणाम है।

वर्तमान स्थिति के कुछ भी कारण क्यों न हों, वर्तमान तथ्यों से इंकार नहीं किया जा सकता। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय किसान का स्वास्थ्य और उसकी शक्ति ब्रिटेन तथा अमरीका के किसान के स्वास्थ्य तथा शक्ति से कम होती है। वह अनेक रोगों तथा महामारियों का शिकार होता है। उन रोगों से न केवल अनेक किसान मर जाते हैं, वरन् शेष जीवित रह जाने वाले शारीरिक योग्यता को भी खो बैठते हैं। जिन लोगों को सदा रोग घेरे रहते है, वह जड़ बुद्धि वाले और निरुत्साही हो जाते है। इस समस्या को सुलझाने के लिए, रोकने तथा आरोग्य करने, दोनों प्रकार के उपायों से काम लेना पड़ेगा। इस दिशा में सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा चिकित्सा विभाग कार्य कर रहे है, किन्तु उसका अधिक लाभ नागरिक क्षेत्रों को पहुंच रहा है।

इसके अतिरिक्त ग्रामीण जनता की व्यापक अशिक्षा से इन्कार नहीं किया जा सकता। उनमें से केवल ८ प्रतिशत पढ़े लिखे हैं और वह भी प्रायः नगरों में रहते हैं। इसमें इस तथ्य को भी मिला देना चाहिए कि हमारी शिक्षा प्रणाली उद्योगशील मनुष्यों का निर्माण न कर क्लर्कों का निर्माण कर रही है। यहां तक कि हमारे कृषि विद्यालयों ने भी अनेक व्यवहारिक किसान उत्पन्न नहीं किये। हमारी शिक्षा प्रणाली में तत्काल ही एक मौलिक परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है, जिससे वह ऐसे व्यवहारिक व्यक्तियों का निर्माण करे, जो देश के आर्थिक विकास को उच्च स्तर पर पहुंचा दें।

यदि गांव वालों का स्वास्थ्य सुधारा जा सके और उनको ठीक प्रकार की शिक्षा दी जा सके तो उनका दृष्टिकोण बदल जायगा। इस समय उसकी अज्ञानी, अंधविश्वासी, भाग्यवादी और अदूरदर्शी कह कर निन्दा की जाती है। यह कहा जाता है—कि उसमें नया काम उठाने की योग्यता का अभाव है और अपने जीवन-स्तर को ऊपर उठाने की कोई इच्छा नहीं है। यदि ऊंची कीमत मिलने के कारण उसकी आय बढ जाती है तो वह उसको सामाजिक उत्सवों तथा मुकदमेबाजी में बरबाद कर देता है। किन्तु ठीक शिक्षा मिलने से यह सारी कमियां दूर हो सकती हैं। कुछ किया भी गया है, किन्तु स्थायी परिणाम के लिए योजनाबद्ध राष्ट्रव्यापी श्रम करने की आवश्यकता है।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसान पुरातनपंथी है। उससे नये वैज्ञानिक यंत्रों अथवा खाद का प्रयोग कराने के लिए उसके सामने प्रदर्शन करके उसे विश्वास कराना पड़ेगा। अतएव अनुसंधान जो कुछ सहायता दे सकता है, उसे मिलनी चाहिए, और शिक्षा, ट्रेनिग और राज्य की सहायता भी उसको उपलब्ध होनी चाहिए। यदि उसकी व्यक्तिगत तैयारी कुछ नहीं है तो उसकी भूमि और उसके यंत्र भी अच्छे नहीं रह सकते। पहले हमको भूमि की समस्या का अध्ययन करना चाहिए।

३. भारतीय भूमि की समस्या। हम यह देख चुके हैं कि एक आर्थिक भूमि के

आकार का भूमि के रूप से निकट सम्बन्ध है। जहां भूमि उपजाऊ है, एक छोटी भूमि भी एक परिवार का भरणपोषण कर देगी, किन्तु जहां भूमि अच्छी नहीं होती वहां बड़ी भूमि भी खर्चा नहीं चला सकती। भूमि को जड़ों की पकड़ करने के लिए दृढ़ तथा जल के स्वतन्त्र संचार योग्य पर्याप्त मुलायम होना चाहिए। रासायनिक रूप से उसमें आवश्यक क्षारों का संतुलित परिमाण होना चाहिए।

हम भारत में भूमियों के मुख्य प्रकारों के सम्बन्ध में पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि क्या उसकी उपजाऊ शक्ति घट रही है। १८९३ में डाक्टर वोएलकर (Dr. Voelcker) की सम्मति थी कि भूमि की उपजाऊ शक्ति घटने की कोई निश्चित गवाही नहीं मिलती। १९२८ में कृषि के सम्बन्ध में बिठलाए हुए शाही कमीशन ने लिखा था, "हमारे सामने जो प्रयोगात्मक तथ्य उपस्थित हैं, उनसे हमारी इस धारणा की पुष्टि होती है कि जब भूमि में प्रतिवर्ष फ़सल बोई जायगी और जब फ़सल खेत से उठा लेने पर भी उसमें खाद नही दिया जाता तो भूमि की दशा स्थिर हो जाती है। भारत में एक संतुलन स्थापित हो गया है और कृषि की वर्तमान स्थिति में और घटी होने की संभावना नहीं है।"[१] १९३७ में सर जान रसेल (Sir John Russell) ने लिखा था, "मुझे कई अवसरों पर बतलाया गया कि चावल की उपज कम हो रही है, किन्तु इसके अच्छे अंक नहीं मिलते। कौंसिल को उचित है कि वह नमूने की सर्वे (Surveys) लेने का प्रबन्ध करे।"[२] १९३९ में मध्य प्रदेश के कृषि रासायनिक राव बहादुर बाल ने अपनी सम्मति प्रकट की थी कि "भूमि अपने उपजाऊपन की स्थिर दशा में अत्यन्त निम्न स्तर पर पहुंच गई है।" बंगाल बैंकिंग जांच कमेटी भी इसी परिणाम पर आई थी कि बंगाल में भूमि का उपजाऊपन घट रहा था।

इस प्रकार सर्वसाधारण दृष्टिकोण यह है कि निश्चयात्मक तथ्य नहीं मिलते, किन्तु उपलब्ध जांच परिणामों से पता चलता है कि भारतीय भूमियां ह्रास के निम्नतम स्तर पर पहुंच गई हैं। यद्यपि उनसे प्रति वर्ष भारी फ़सलें ली जाती हैं, तथापि उनको खाद के रूप में बहुत कम वापिस किया जाता है।

शक्ति समाप्त होने के अतिरिक्त भूमि को, दराड़ों, हानिप्रद क्षारों के उगने अथवा पानी भर जाने से भी हानि पहुंचती है। भूमि का तल अत्यधिक वर्षा और नदियों की बाढ़ से बढ़ जाता है। भूमि कट जाने की समस्या उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, और पूर्वी पंजाब में उत्पन्न हुई, जहां इस प्रणाली से अनेक गुफ़ाएं भूमि में बन गई। पर्वतों की ओर अधिक वर्षा होने से बम्बई और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में भूमि फट गई। उत्तरप्रदेश में इस प्रकार ८० लाख एकड़ भूमि बरबाद हो गई। पंजाब में

१. Report, p. 76.

२. Russell Report on the work of the Imperial Council of Agricultural Research, p. 24.

अकेले होशियारपुर में ही एक लाख एकड़ भूमि कृषि के लिए बेकार हो गई। या तो भूमि का ऊपरी भाग बह गया अथवा वह बाढ़ के कारण बालू से ढक गई।

भारत में भूमि का फटना भारत के लिए ही नया नहीं है। अमरीका (U. S. A.) में "पौने दो करोड़ एकड़ भूमि—जिस पर कभी खेती की जाती थी—जल भागों द्वारा बरबाद कर दी गई।"[1] अकेले १९४८ में ही भूमि फटने के कारण पांच लाख एकड़ भूमि की हानि उठानी पड़ी। तो भी अमरीका में भूमि-रक्षा प्रणालियों द्वारा उनकी उत्पादन शक्ति बढ़ाई जा रही है। भारत सरकार ने चार वर्ष पूर्व अमरीकन भूमि संरक्षण विशेषज्ञ डाक्टर शुहर्ट (Dr. Shuhart) की सेवाएं प्राप्त करके कुछ वैज्ञानिकों को अमरीका की भूमि रीतियों का अध्ययन करने का काम दिया था। अब वह वैज्ञानिक अमरीका से वापिस आकर राज्य सरकारों को भूमि को फटने से बचाने के लिए उचित योजनाएं बनाने का परामर्श दे रहे हैं।

भूमि कई कारणों से फट सकती है (१) वृक्षों के काट देने से, (२) उसकी हरियाली हटा देने से, जिससे वह भूमि वायु और वर्षा के लिए खुल जाती है (३) पशुओं का अनियन्त्रित रूप में चरना, विशेषकर बकरियों द्वारा। क्योंकि उससे भूमि नंगी हो जाती है। (४) पहाड़ियों पर खेती करने से।

इसके उपचार यह है—वृक्षों का लगाना, सीमा बांधना, किनारे बनाना, भूमि को सुधारना तथा चराई पर नियन्त्रण रखना। पंजाब सरकार ने इस बुराई का प्रबन्ध करने के लिए एक दरार विरोधी विभाग खोला है। वहां एक ऐसा कानून भी है, जिसके अनुसार भूमियों को किसी विशेष ऋतु में चरने के लिए बंद किया जा सकता है। थोड़े थोड़े अंतर पर खाइयां खोदना भी लाभदायक है। इससे पानी का बहाव रुक कर पानी वहीं जज़्ब हो जाता है। इन नालियों में घास और वृक्ष लगाये जा सकते है। पानी का नीचे की ओर अत्यन्त वेग से बहना रोकने के लिए किसान किनारों पर छोटे छोटे बांध बना सकते हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार मानसून के महीनों में भूमि पर खाद का काम देने वाली फली बो देती है, जिससे भूमि के ढके रहने से वह फटने से बच जाय। इस फली से भूमि का उपजाऊपन भी बढ़ता है। पंजाब का जंगलात विभाग पानी से बरबाद हुई भूमि को सुधार रहा है।

४. खादें। अपनी विभिन्न प्रकार की जलवायु तथा भूमियों के कारण भारत कोई भी फ़सल उत्पन्न कर सकता है। किन्तु भूमि की ऊपरी मिट्टी में स्फुट (फास्फोरस), नत्रजन (नाइट्रोजन) तथा चेतना युक्ततत्त्व (Organic Matter) की कमी होती है। जनसंख्या बढ़ रही है और भूमि का उपजाऊपन घट रहा है। अतएव बंजर भूमि का क्षेत्रफल बहुत बढ़ गया है। भूमि में उर्वरापन फिर लाने तथा बंजर भूमि से फिर

---

१. Wadia and Merchant—Our Economic Problem, p. 158.

काम लेने के लिए सभी प्रकार के खादों से काम लेने की बड़ी भारी आवश्यकता है। उनके सम्बन्ध में नीचे विचार किया जाता है।

(क) **पशु-क्षेत्र का खाद**—इसमें गाय भैंस का गोबर तथा मूत्र होता है। आजकल गोमूत्र को बरबाद होने दिया जाता है और गोबर के कण्डे पाथ कर जला लिया जाता है। इसका कारण सदा ही ईंधन की कमी नहीं होती, वरन् एक रिवाज जैसा पड़ गया है। इस रिवाज़ को बन्द करना चाहिए। जहां गोबर को अन्य ईंधन न मिलने से जलाने के काम में लिया जाता है, वहां गांव वालों के लिए अन्य ईंधन का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। सड़क तथा नहर के किनारे तथा गांव के कुछ विशेष संरक्षित प्रदेश में वृक्ष लगाने से ईंधन की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। कपास के डंठल तथा सूखी झाड़ियां भी जलाई जा सकती हैं। गांव वालों को खाद बनाने की शिक्षा देनी चाहिए। इस विषय में पंजाब के गुड़गांवां ज़िले में मिस्टर ब्रेन (Mr. Brayne) ने बड़ा उपयोगी काम किया था। खाद सुरक्षित करने के लिए गड्ढे खोदे गए थे। किन्तु उनका परिणाम केवल अस्थायी हुआ। भारत में कुल बीस करोड़ गाय भैंस हैं। केवल उनके मूत्र से ही तीस लाख टन नत्रजन मिल सकता है। गोबर को लगभग २५′×३॥′×३′ के गड्ढे में जमा करके रखना चाहिए। उसमें घासपात को भी मिलाया जा सकता है, किन्तु उससे स्थायी परिणाम प्राप्त करने के लिए लगातार प्रचार करने की आवश्यकता है।

(ख) **मिलावट का अथवा कम्पोस्ट खाद**—यह खाद सभी प्रकार के कूड़े करकट तथा घास पात को इकट्ठा करके मिलाने से बनता है। चीन में पशुओं के गोबर आदि में वनास्पति तिनके आदि मिलाकर इस प्रकार का बहुत-सा खाद तैयार किया जाता है। मनुष्यों के मल को इसमें मिलाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में खाइयों के पायखाने खोदे जा सकते हैं। गांवों की साढ़े सत्ताईस करोड़ जनसंख्या से इस प्रकार का पांच करोड़ टन उत्तम खाद प्राप्त किया जा सकता है। गांवों में पेशेवर मेहतरों के न होने के कारण वहां की गंदगी भी दूर होगी।

(ग) **विष्टा**—विष्टा को खाद के रूप में काम लेने के लोग अभी तक भी विरोधी हैं। यद्यपि यह विरोध अब क्रमशः बहुत कम होता जा रहा है। विशेषकर ऐसे स्थानों में, जहां यह खाद के रूप में मिल जाता है। विष्टा को बस्ती से कुछ दूरी पर गड्ढे में भिजवाना पड़ता है। केवल म्युनिसिपैलिटियां ही ऐसा कर सकती हैं। किन्तु इसकी बिक्री से आमदनी इसको भेजने के खर्च से कहीं अधिक होगी। बम्बई, मदरास, पंजाब और अन्य राज्यों ने विशेष कानून बना कर म्युनिसिपैलिटियों को यह कार्य करने के लिए विवश किया है। सेवेज (नगर की नालियों की गंदगी) तथा कीचड़ भी खाद के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। भारत के गन्दी नाली वाले नगर ५० करोड़ गैलन तरल गन्दगी तथा दो लाख टन गंदी कीचड़ प्रति दिन दे सकते हैं। इसमें से लगभग आधी सामग्री का उपयोग

आज फ़सलों को पैदा करने में किया जाता है। कम्पोस्ट खाद के उपयोग से खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ सकता है। सरकार ने कम्पोस्ट के उत्पादन का निरीक्षण करने के लिए विशेष अफसर रखे हुए हैं। एक अखिल भारतीय कम्पोस्ट विकास कमेटी भी है।

(घ) **हरे खाद**—भारतीय किसान चने जैसी दालों के फसलों के महत्त्व को जानता है, क्योंकि यह भूमि के उपजाऊपन को बढ़ाते हैं। प्रयोगों से पता चलता है कि सन की फसल से सबसे अच्छी खाद मिलती है। दैंचा, ग्वार, बरसीम तथा मूंगफली आदि,जिनकी पत्तियों को हरे खाद के रूप में जोता जा सकता है, अच्छी खाद मानी जाती है। सरकार इन वस्तुओं के बीज बांट कर इनकी खाद को प्रोत्साहित कर रही है।

(ङ) **खली**—तिलहन के निर्यात से नत्रजन के एक अत्यन्त बहुमूल्य साधन को खो दिया जाता है। यदि देश में ही तेल बनाया जाय तो पशुओं के लिए भोजन तथा खेतों के लिए खाद दोनों के काम आ सकती है। व्यापार के आंकड़ों से पता चलता है कि अब हम तिलहन की अपेक्षा अधिक तेल का निर्यात करते हैं। सरकार को तेल पेरने के उद्योग धन्धे में सहायता देनी चाहिए।

(च) **रासायनिक खाद**—कृषि की उन्नत प्रणाली में नाइट्रेट आफ सोडा (Nitrate of Soda), सल्फ़ेट आफ अमोनिया (Sulphate of Ammonia) आदि से नाइट्रोजन तैयार किया जाता है। नाइट्रोजन वर्षा तथा वर्षा के जल की खाद से भी प्राप्त किया जाता है, किन्तु वह पर्याप्त नहीं होता। अतएव कृत्रिम खाद की मांग बराबर बढ़ती जाती है। यद्यपि वह अभी परिमित है। जो थोड़ा बहुत रासायनिक खाद बनाया जाता है उसे चाय उत्पादक ले लेते हैं। भारत, रासायनिक खाद के परिमाण तथा प्रकार, दोनों में ही दरिद्र है। अतएव उसका आयात किया जाता है। सरकार ने बिहार में धनबाद के पास सिंद्री में रासायनिक खाद का एक बड़ा भारी कारखाना खोला है। यह पूर्ण होने को है और हमको साढे तीन लाख टन अमोनिया सल्फेट देगा। अमोनिया सल्फेट में मिलाने के लिए सुपर-फ़ास्फ़ेट एक अत्यन्त मूल्यवान पदार्थ है। इसका उपयोग खाद का मिश्रण बनाने में किया जाता है। हम प्रतिवर्ष लगभग एक लाख टन खाद बनाने लिए फ़ास्फ़ेट की चट्टान का आयात करते हैं, यह विश्वास किया जाता है कि थोड़ समय में भारत रासायनिक खाद के विषय में आत्मनिर्भर हो जायगा।

(छ) **अन्य साधन**—पश्चिमी समुद्र तटपर खाद के रूप में मछली का उपयोग किया जाता है। यहां मछली बहुत अधिक होती है और उसका खाद्य के रूप में अधिक उपयोग नहीं किया जाता। समुद्री तट के पास समुद्री घास भी बड़े भारी परिमाण में मिल जाती है और वह एक बहुमूल्य खाद है। चावल की भूसी भी उपयोगी होती है। फलों तथा सब्जियों की वृद्धि के लिए हड्डी का आटा बहुत अच्छी खाद होता है। अब इसका खुला निर्यात बन्द कर दिया गया है। कसाई खानों में एकत्रित किये हुए रक्त को सुखाकर उसका चूर्ण बना लिया जाता है। वह भी एक अच्छी खाद होता है। इनके अतिरिक्त

फ़सलों का अदल-बदल कर बोना, मिश्रित फसल तथा बंजर भूमि को पत्तों से भरना भी भूमि के उपजाऊपन की अन्य प्रणालियां हैं। भारत सरकार देश में उत्पादन बढ़ाने के लिए सभी प्रकार के खाद का प्रयोग करने पर विशेष बल दे रही है।

५. कृषि के औज़ार। कृषि कमीशन ने लिखा है कि "भारत में कृषि के औजार सब मिला कर स्थानीय परिस्थिति के अनुसार बिलकुल ठीक हैं। वह सूखे बैलों की योग्यता के अनुरूप, कम खर्च वाले, हल्के, चाहे जहां ले जाने योग्य तथा सुगमता से बन जाने वाले हैं। उनका सबसे बड़ा महत्व इसमें है कि वह सुगमता से मिल जाते हैं।"[1] तो भी वर्तमान ज्ञान के प्रकाश में उनमें सुधार की बहुत बड़ी गुंजायश है। कृषि विभाग ने लोहे के हल, गन्ना पेरने के कोल्हू, पानी फेंकने की छोटी मशीन, पानी उठाने की मशीन, मोटर के दो पहियों वाली गाड़ियां (Barrows), जिसे गांव वाले डनलप कहते हैं, कुदाली, (Hoes), बीज बोने वाला, कुट्टी काटने की मशीन (Fodder Cutters) आदि सुधरे हुए यन्त्रों को जनता में चलाया है। गन्ने के रस को पकाने की सुधरी हुई किस्म की नई भट्टियों से भी काम लिया जा रहा है। भारत में काम आने वाले समस्त औज़ारों की संख्या से तुलना करने पर उपयोग में आये हुए सुधरे हुए औज़ार बहुत कम हैं। १९३७–३८ में कुल तीन करोड़ बीस लाख हलों से काम लिया जा रहा था, जब कि कृषि विभाग की एजेंसियों द्वारा कुल ६,७१६ हल ही बेचे गये थे। शाही कमीशन ने इस मामले में उन्नति की कमी के दो कारण बतलाए हैं— प्रथम, कृषि विभाग कृषि इंजीनियरिंग को गौण कार्य मानते रहे, दूसरे, किसानों का दकियानूसीपन। कमीशन ने प्रस्ताव किया है कि एक कृषि इंजीनियरिंग विभाग (Agricultural Engineering Section) खोला जाय, जिससे प्रथम कमी को दूर किया जा सके; दूसरी कमी को दूर करने के लिए सबसे अधिक प्रचार कार्य किया जाय। छोटे छोटे किसान महंगी मशीनों को मोल नहीं ले सकते और वह सस्ते औज़ार ही मोल ले सकते हैं। इसलिए मशीनों के पुर्ज़ों को बड़े परिमाण में बनाकर, रेल्वे किराये में सुविधा देकर तथा आयात कर में छूट दे कर किसानों को सस्ती मशीनें दी जा सकती हैं। सुधरे हुए प्रकार को अनेक प्रकार नहीं करना चाहिए। "इससे किसान गड़बड़ी में पड़ जाता है।" उद्देश्य यह होना चाहिए कि अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र की परिस्थितियों के अनुकूल थोड़ी तरह के औजारों का विकास किया जाय। यह यंत्र उन छोटे-छोटे खेतों के लिए उपयोगी होंगे जहां खेती बैलों द्वारा की जाती है।

(१) कांस भूमि तथा दलदल भूमि के सुधार, (२) कुछ राज्यों में ज़मींदारी प्रथा के समाप्त कर देने, (३) तथा बहूद्देशीय योजनाओं के आरम्भ करने के परिणाम स्वरूप ऐसी बड़ी बड़ी भूमियाँ बनाना संभव हो सकेगा, जिनपर भारी मशीनों से सहकारिता आधार पर खेती की जा सकेगी। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने भारत को अमरीका से ३७५ भारी ट्रैक्टर

१. Agricultural Commission Report, page 107.

मोल लेने के लिए एक करोड़ डालर का ऋण दिया है। इनमें से अधिकांश ट्रैक्टर आ चुके हैं और वह केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन द्वारा किराये के आधार पर विभिन्न राज्यों को दे दिये गए हैं। सुधरी हुई भूमियों पर सहकारिता कृषि सोसाइटियों की स्थापना की जा रही है। इस प्रकार की कृषि बड़ी-बड़ी भूमियों में ही की जा सकती है।

६. उन्नत बीज। अच्छी किस्म के बीजों के महत्त्व पर ज़ोर देने की खास आवश्यकता नहीं है। यह अनुमान लगाया गया है कि बीजों की सुधरी हुई किस्म से उपज को दस से बीस प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है। दुर्भाग्यवश बीज़ का चुनाव विशेष सावधानी से नहीं किया जाता। अनेक मामलों में बीज के लिए रखे हुए अनाज को बोने का समय आने से पूर्व ही खा कर समाप्त कर दिया जाता है। अथवा वह बेपरवाही से रखने के कारण खराब हो जाता है। तब किसान को अन्य प्रकार का बीज बोना पड़ता है। यदि खाद्य फसल के कुल क्षेत्र में उन्नत किस्म का बीज बोया जाय तो खाद्य में आत्मनिर्भरता की समस्या शीघ्र हल हो जाय।

पिछले वर्षों में कृषि विभाग ने किसानों को उन्नत किस्म का बीज दे कर बहुत अच्छा काम किया है। ऐसी नई-नई किस्मों का निर्माण किया गया है जो रोगों का मुकाबला कर सकें। कुछ संसार भर के सबसे अच्छे गेहूं तथा चावल के बीजों को भारत में पैदा किया गया है। किसान भी उनके मूल्य को खूब समझता है। किन्तु कठिनाई यह है कि वह पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते। समस्या है उनका अधिक उत्पादन करके उनके अधिक विभाजन की। "विभिन्न प्रान्तों में उन्नत बीजों का एकड़ों में क्षेत्रफल १ से १० प्रतिशत तक है। मध्य प्रदेश और मदरास दो ही ऐसे अपवाद हैं जहां प्रतिशत अनुपात २३ प्रतिशत है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि सरकारी फार्मों की संख्या बढ़ाई जाय, जहां मुख्य बीज को अधिक उगाया जा सके। इस उद्देश्य के लिए कई राज्यों ने योजनाएं बनाई हैं। उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बम्बई और बिहार को अपने सुधारे हुए बीज की पूर्ति १९५२ तक लगभग २५० प्रतिशत बढ़ा लेने की आशा है।

एक बार उन्नत कर लेने पर बीजों को मिलावट से बचाना चाहिए। इस विषय में बम्बई और मदरास के कुछ क्षेत्रों में बिनौले के पतन को रोकने के लिए कुछ वर्ष पूर्व कानून बनाये गए थे। रुई ओटने और गांठ बनाने के कारखाने अधिनियम (Cotton Ginning and Pressing Factories Act) १९२५ के अनुसार मिलावट की हुई या गीली रुई का न केवल उस कारखाने का ही पता लग सकता है जिसने उसका बिनौला निकाला अथवा उसकी गांठें बांधीं थी, वरन् उसके असली मालिक कत का पता लगा सकता है।[1]

७. फसल के सामान्य तथा संक्रामक रोगों का नियन्त्रण। अधिक अच्छे बीजों की समस्या से ही पौधों के रोगों के नियंत्रण का प्रश्न भी निकट रूप से सम्बन्धित

---

१. Royal Commission Report, pp. 101-6 and 120.

है। इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि ऐसे बीजों का विकास किया जा सकता है, जो रोगमुक्त हों अथवा जो रोग का मुकाबला कर सकें।

गन्ने के विषय में यह समस्या अत्यन्त गम्भीर है। १९३७ में की हुई सर्वे से पता चला था कि १९३७ में बिहार की गन्ना फ़ैक्ट्रियों को जो गन्ना दिया गया था, उस में से ३७ से ५३ प्रतिशत तक रोगयुक्त था, जब कि १९३६ में दिया हुआ २० से ३५ प्रतिशत तक रोगाक्रांत था। इस से पता चलता है कि रोग फैल रहा है। यह अनुमान लगाया गया है कि कीड़ों, जंगली पशुओं तथा संक्रामक रोगों द्वारा भारतीय फ़सलों के समस्त उत्पादन को १० से २० प्रतिशत तक हानि होती है।[१]

इसके मुख्य उपचार यह है: (१) रोग के एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलने से रोकने के उपाय, (२) रोग को किसी एक स्थान में नियंत्रित करने के उपाय, (३) फ़सलों को संक्रामक रोगों से बचाने के उपाय, और (४) पशुओं से बचाने के उपाय।

(१) प्रथम उपाय के लिए हमको रोगयुक्त पौधों के आयात को बन्द कर देना चाहिए और साथ ही भारत में रोग के प्रसार को रोका जाय। सरकार ने कृषि तथा महामारी अधिनियम (Insects and Pests Act) बनाया हुआ है, जिस में यह व्यवस्था है कि आयात किये हुए पौधों के साथ उनका स्वास्थ्य प्रमाणमात्र भी अवश्य होना चाहिए। कृमि तथा कुकुरमुत्ता जैसी झाड़ियां अपने मूल निवासस्थान में हानि-रहित होती हुई भी विदेशों में विनाशक हो सकती है।"[२] विदेशों से आये हुए पौधों को सुगन्धित करना आवश्यक है। यह कार्य विशेषज्ञों के सुपुर्द किया जा सकता है।

देश के आन्तरिक भागों में रोग फैलने के विषय में कृषि तथा महामारी अधिनियम में इस बात की व्यवस्था की गयी है कि इसके प्रसार को रोकने के लिए अन्तर्प्रान्तीय विधान बनाने चाहिएँ, किंतु इस व्यवस्था से पूरा लाभ नहीं उठाया गया।

(२) दूसरे प्रकार के उपायों में रोग रोकने के कुछ उपाय यह हैं—भूमि की दशा को बदल देना तथा पौधों पर चूर्ण छिड़क कर, उन पर तरल पदार्थ छिड़क कर अथवा उन्हें विभिन्न प्रकार के रासायनिक पदार्थ से धूनी दी जाय।

(३) टिड्डियां तथा टिड्डे फसलों को बहुत हानि पहुंचाते हैं। इनके सन्निकट आक्रमण की सूचना समय पर दे दी जाती है। किसान इस मुसीबत का मुकाबला स्वयं कर लें, इस उद्देश्य से, इस बात की शिक्षा देने के लिए कुछ व्यक्तियों को शिक्षा दी जा रही है।

---

१. भारत सरकार के कृषि सचिवालय द्वारा १९४९ में प्रकाशित दो पर्चे। इनमें एक का नाम "Self Sufficiency in Food" तथा दूसरे का "Protect Food and Seed Grains" है।

२. Nanavati and Anjaria—The Indian Rural Problem, p. 95.

(४) जंगली पशु खड़ी फसल को सदा ही बरबाद करते रहते हैं। इस खतरे का प्रबन्ध करने के लिए बन्दूकों के क्लब बना देने चाहिएँ तथा शस्त्रों के लिए लाइसेंस स्वतन्त्रतापूर्वक दिये जाने चाहिएँ। गोदाम में रखे हुए खाद्य पदार्थों को चूहे तथा घूस नष्ट कर देते हैं, इस का उपाय केवल यह है कि खाद्य रखने के गोदामों में सीमेंट का फर्श हो, उनमें वायु के आवागमन के लिए पर्याप्त रोशनदान हों और उन में डी. डी. टी. (D. D. T.) तथा गामैक्सीन (Gammaxene) नामक रासायनिक द्रव्यों को अच्छी तरह छिड़क दिया जाय। सरकार अब इन मामलों पर ध्यान दे रही है। इस विषय में सहकारिता के आधार पर किये हुए उपाय अच्छे रहेंगे।

८. पशुधन। भूमि के अतिरिक्त कृषि का महत्वपूर्ण साधन किसान के पशु होते हैं। डार्लिग (Darling) का कहना है कि "उन के बिना खेत बिना जुते रह जाते हैं, स्टोर तथा अनाज की खत्तियां खाली पड़ी रहेंगी तथा अन्न और जल का स्वाद आधा हो जायगा, क्योंकि शाकाहारी देश में दूध, मक्खन तथा घी न मिलने से और अधिक बुरी क्या बात होगी?" अपने खेत के अत्यन्त छोटा होने तथा आर्थिक साधन सीमित होने के कारण किसान के लिए यंत्रों से खेती करना व्यावहारिक नही है। अपने खेतों को जोतने के लिए, सिचाई करने के लिए तथा उनकी उपज एवं खाद को उठा कर ले जाने के लिए पशुओं का होना अनिवार्य है। वह केवल दूध का साधन ही नहीं हैं किंतु अपने जीवन काल में दूध और खाद भी देते हैं और मरने पर मांस, खाल, बाल और हड्डियां देते हैं। यह हिसाब लगाया जाता है कि यद्यपि भारतीय पशुओं का आर्थिक नियमों के प्रतिकूल शोषण किया जाता है तो भी उन से प्रतिवर्ष १२६५ करोड़ रुपये की आय होती है। यह रकम भारत की नकद [1] फसल के कुल मूल्य से भी अधिक है। डाक्टर राइट (Dr. Wright) की सम्मति में उनसे १००० करोड़ रुपये की आय प्रतिवर्ष होती है।

भारत में पशुओं का महत्व होते हुए भी कुछ ऐसी प्रतिकूलताएं भी हैं जिन की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रथम बात यह है कि भारत में आर्थिक औचित्य से अधिक संख्या में गाय भैंसों को रखा जाता है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में १९४० के १७ करोड़ ८० लाख गाय-भैंसों की संख्या १९४५ में १७ करोड़ ७० लाख हो गयी, अर्थात् पांच वर्ष में दस लाख गाय भैंस कम हो गयीं, इसी बीच भेड़ें, बकरियाँ तथा अन्य पशुओं में ७० लाख की कमी हो गई अर्थात् ९० लाख ८० हज़ार से ९० लाख १० हज़ार रह गए।[2] गो-संख्या एन. आई. सी. (N.I.C.) के अनुसार १९४८-४९ में १९४५ की अपेक्षा ३ प्रतिशत कम हो गयी।

१. Ward in Economic Problems of Modern India Vol. I., Edited by R. K. Mukerjee, p. 140.
२. Livestock Statistics—Ministry of Agriculture, January, 1950.

मोटे हिसाब से हमारे पास बोई हुई प्रत्येक सौ एकड़ फ़सल के लिए सौ गाय-भैंस हैं, हालैंड में कुल ३८ तथा मिश्र में कुल ३५ हैं। इस प्रकार भारत के पास पशुओं की अत्यधिक और बेहिसाब संख्या है। काम करने योग्य पशुओं की संख्या साढ़े पांच करोड़ से अधिक नहीं है और वही कृषि का काम चलाते हैं। इस प्रकार हम अपनी मानव जनसंख्या के समान पशु जनसंख्या में भी अत्यधिक व्यर्थ का बोझा उठाये हुए हैं। इस के कारण दोनों की ही दशा गिरती जा रही है।

इस देश में पशुओं की अत्यधिक संख्या होने के विभिन्न कारण हैं। हिंदुओं में जीव-हिंसा के विरुद्ध भावना इतनी प्रबल है कि वह पशु की हत्या करने की अपेक्षा उस को भूखों मार देंगे, दूसरे गाय भैंसों की अयोग्यता तथा अधिक मृत्यु संख्या के कारण किसान अपने पास अनेक पशु सुरक्षित रखता है। कृषि पर शाही कमीशन ने 'निम्न कोटि के पशुओं' तथा उनकी फ़ालतू संख्या में निकट सम्बन्ध का अच्छा वर्णन किया है, जिस से इस क्षेत्र के व्यापक होने का पता चलता है। "किसी ज़िले में गाय-भैंस की संख्या बैलों की मांग पर निर्भर करती है और इसी से नियमित होती है। अच्छे पशु पालने के लिए जितनी भी खराब परिस्थितियां होती हैं, किसान उन को उतनी ही अधिक संख्या में रखता है।" भारतीय पशुओं के निम्न कोटि का होने के कारण उनको गलत ढंग से पालना, उनको कम भोजन मिलना और रोग हैं। यह सब कारण एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। अत्यधिक पशु रखने के कारण उन सब को चारा मिलना कठिन हो जाता है, जिससे उनको पेट से कम भोजन दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप उनकी रोग को रोकने की शक्ति कम हो जाती है। अतएव इन तीनों समस्याओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

९. पशुओं की नस्ल बढ़ाना। भारत के पशु चरने के लिए गांव की साधारण कृषि-भूमि तथा फ़सल कटे हुए खेतों में मिलजुल कर झुण्डों में जाते हैं। इस प्रकार गौओं को घटिया किस्म के बैलों से मिलना पड़ता है और उस से नस्ल लगातार घटिया बनती जा रही है। नस्ल सुधारने के लिए गौओं को चुने हुए सांड से ही मिलने देना चाहिए। केवल अच्छी नस्ल की गाय को ही अच्छी नस्ल के सांड से मिलने देना चाहिए। उसका अर्थ यह है कि शेष सभी सांडों को बधिया बना देना चाहिए। इसके साथ ही गांवों को चुने हुए अच्छे सांड भी दिये जाने चाहिएं। पशु चिकित्सा विभाग ने अभी अभी बधिया करने का कार्य आरम्भ किया है। गांवों को सांड देने के विषय में कृषि विभाग अधिक ध्यान दे रहा है। पंजाब के हिसार फ़ार्म में तथा मदरास राज्य के होसूर फ़ार्म में इस विषय में अत्यन्त उपयोगी कार्य किया जा रहा है, जहां उच्च नस्ल के सांडों को तैयार करके सन्तान उत्पादन के लिए सस्ते मूल्य पर दिया जा रहा है।

दिल्ली की कृषि अनुसंधान परिषद् अधिक दूध देने वाली गायों के विकास करने के सम्बन्ध में प्रयोग कर रही है। अच्छा दूध देने वाले पशुओं को पैदा करने के लिए दो प्रणालियों को आजमाया गया है, अधिक दूध देने वाली गौओं के साथ विदेशों से मंगाये

सांडों के साथ उन्हें मिलाना तथा देशी गाय-भैंसों में से चुनाव कर दशा को सुधारना। "अब इस बात को साधारणतया स्वीकार कर लिया गया है कि देशी पशुओं पर प्रयोग करने से अधिक स्थायी परिणाम की आशा की जा रही है। यह बात सिद्ध हो गयी है कि भारतीय पशुओं में से सावधानी से चुनाव करने पर ऐसी गौएं पैदा की जा सकती हैं जो विदेशी पशुओं से प्रतियोगिता करने पर योग्य मात्रा में दूध दे सकें।"[1]

१०. पशुओं को खिलाना। भारतीय पशुओं को पेट भर चारा नहीं मिलता, क्योंकि (१) चारा पैदा करने के लिए पर्याप्त भूमि नहीं मिलती, (२) खिलाने की प्रणाली में चारा बहुत बरबाद होता है, दूध सूख जाने पर गौओं को तथा काम न करने वाले पशुओं को खुला छोड़ दिया जाता है कि वह बंजर भूमि में से जो कुछ मिले चर आया करें। इस समस्या को हल करने के लिए (१) बुरे पशुओं की संख्या कम कर देनी चाहिए, (२) सन्तानोत्पादन पर नियंत्रण लगाना चाहिए, तथा (३) चारा अधिक उत्पन्न किया जाय, तो भी हमारी अधिक खाद्यान्न, पटसन तथा रुई की आवश्यकताओं के कारण यह संभव है कि चारे का उत्पादन अधिक न किया जा सके, तो भी मिस्र की बरसीम नामक घास तथा अन्य अत्यधिक उत्पन्न होने वाली घासों का उत्पादन अपने खेतों में करके चारे को बढ़ाया जा सकता है, उपलब्ध चारे को अस्तबल में नांदों में खिला कर बचाया जा सकता है, घटिया तिनकों की कुट्टी बनाई जा सकती है, घास को सुखा कर गोदाम में रखा जा सकता है, तथा मशीन से उसकी कुट्टी काटी जा सकती है।

११. पशुओं के रोग। भारतीय पशुओं में समय समय पर मुंह तथा पैरों के रोगों के अतिरिक्त अन्य महामारियां भी फैलती रहती हैं। उनका कारण उनकी कम जीवनशक्ति, अस्वास्थ्यकर रहने की जगहें तथा पीने के पानी का गन्दा होना है। इस कार्य के लिए रोग को रोकने तथा उसकी चिकित्सा, दोनों प्रकार के ही कार्य करने होंगे। केन्द्रीय पशु चिकित्सा अनुसंधानशाला में रोग के कारणों, उनके रोकने के उपायों तथा उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में अनुसंधान किया जा रहा है और उसके अच्छे परिणाम निकले हैं, उस के कार्य को बढ़ाने की योजना भी है। सफ़ाई शिक्षा से हो सकती है और प्रचार ग्रामीण उन्नति की साधारण योजना का एक भाग है। इंजेक्शन देकर रोग रोकने के उपायों को भी आजमाया गया है। इसमें दो प्रधान बाधाएं हैं, एक धन की कमी तथा दूसरी गांव वालों का दकियानूसीपन—यद्यपि इसमें अब कुछ कमी होती जा रही है, चिकित्सा की समस्या को हल करने के लिए अनेक स्थानों पर पशुओं के अस्पताल काम कर रहे हैं और भ्रमणशील कार्यकर्ता गांव में जा जा कर चिकित्सा करते हैं, किंतु ऐसे अस्पतालों की संख्या बहुत कम है। अतएव हम यह कह कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत को आज अधिक पशुओं की आवश्यकता नहीं, वरन् अच्छे पशुओं की है।

---

१. Bengal Famine Commission (Final Report), pp. 178-9

नौवाँ अध्याय

कृषि मज़दूर

१. इस समस्या की भारी आवश्यकता। प्रकृति शासन विज्ञान (Physiocracy) के नेता क्वेसने (Quesnay) ने एक बार कहा था, "निर्धन किसान, निर्धन राजा, निर्धन देश।" यह बात भले ही सब देशों के विषय में सत्य न हो, किन्तु भारत के विषय में, जहां ७० प्रतिशत व्यक्ति कृषि में लगे हुए होने पर भी वह अपने देश की आवश्यकता पूर्ण करने योग्य उत्पादन नहीं कर पाते—यह निश्चय से ठीक है।

पहले भारत सरकार औद्योगिक मज़दूरों पर अधिक ध्यान दिया करती थी और कृषि मज़दूर की प्रायः उपेक्षा किया करती थी। बिना भूमि के मज़दूरों की दशा के परिणामस्वरूप उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गई है। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद भारत सरकार की निद्रा भंग हो गई है। वह ग्रामीण भारत में कृषि मज़दूरों की मज़दूरी को नियमित बनाने की भारी आवश्यकता का अनुभव कर रही है। अब कानून तथा अन्य साधनों द्वारा मज़दूरों की दशा को सुधारने का यत्न किया जा रहा है। समस्या वास्तव में अत्यन्त आवश्यक है और इस पर सभी दृष्टिकोणों से विचार किये जाने की आवश्यकता है। आज के ग्रामीण सुधारों की किसी भी योजना में कृषि मज़दूरों की समस्या को छोड़ देना किसी बहते हुए घाव को बिना चिकित्सा के छोड़ देना जैसा होगा। इस विषय की आवश्यकता को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी अनुभव करती है और उसकी किसान सुधार कमेटी की रिपोर्ट में इस विषय पर अच्छी तरह से वाद-विवाद कर उपयोगी सुझाव दिये गए हैं।

यहां अधिकृत रूप से पता लगाया गया है कि आज समस्त भारत में १६ करोड़ मज़दूर हैं। इनमें शिल्पकार, छोटी छोटी भूमि के किसान, अस्थायी काश्तकार और बिना भूमि के कृषि मज़दूर हैं। इनमें कम से कम ६ करोड़ ८० लाख कृषि मजदूर हैं।[1] यह बात चिन्ता की है कि यह संख्या बराबर बढ़ रही है। मदरास के निम्नलिखित अंक उस वृद्धि को प्रगट करते हैं—

	१९०१	१९३२	
अपनी भूमि पर खेती करने वाले	४८४	३९०	प्रति १००० व्यक्तियों में
मज़दूर	३४५	४२९	

---

१. अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का १९४४ का अनुमान।

२. कृषि मज़दूरों के भेद । कृषि मज़दूरों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है (क) खेत में काम करने वाले---जैसे खेत काटने वाले, हल चलाने वाले आदि, (ख) साधारण मज़दूर, जैसे कुंआं खोदने वाले या अन्य छोटे छोटे काम करने वाले और (ग) कला कौशल का काम करने वाले, जैसे राज, बढ़ई, लुहार, आदि। फिर कुछ के पास भूमि के बहुत छोटे छोटे टुकड़े भी हैं। उनकी दशा बिना भूमि के मज़दूरों से भी गई बीती है। अपने जीवन यापन के लिए उनको भी कभी-कभी मिलते रहने वाले छोटे-छोटे काम करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त यह ऐसे किसान हैं, जो अस्थायी रूप से भूमि को किराये पर लेकर जोतते हैं। वह भूमि के मालिक के साथ फ़सल को बांट लेते हैं और 'बटाईदार' कहे जाते हैं। भूमि के लिए प्रतियोगिता के कारण उनको भूमि के लिए अत्यधिक देना पड़ता है। अतएव वे कम मज़दूरी पाने वाले मज़दूरों से अधिक अच्छी दशा में नहीं हैं। उनमें बालक मज़दूरों तथा महिला मज़दूरों का भी अत्यधिक प्रतिशत अनुपात है। यह अनुपात प्रत्येक प्रान्त में भिन्न भिन्न प्रकार का है। पंजाब में यह प्रति १००० में ११५ तथा उड़ीसा में ४११ हैं।

३. पगार की दरें तथा उसके चुकाने की प्रणालियां । कृषि मज़दूरों के विषय में विश्वास योग्य अंक नहीं मिलते। इनकी मज़दूरी नकद में न होकर जिन्स में होने तथा उसके साथ कुछ अतिरिक्त सुविधाएं होने के कारण, जो प्रत्येक स्थान में भिन्न प्रकार की है, उनकी मज़दूरी का नकदी में हिसाब लगाना अत्यन्त कठिन है। इस विषय में डाक्टर आर॰ के॰ मुकर्जी ने अंकों को एकत्रित करने में बहुत अच्छा काम किया है। प्रायः देखने में आया है कि खेतिहर मज़दूरों को उनकी सेवा के लिए जिंस के रूप में मज़दूरी दी जाती है। वह कुछ अन्य देनदारियों के अतिरिक्त, जो परम्परा से निश्चित है, फ़सल का एक भाग पाते हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय मज़दूरियां बढ़ जाने पर भी खेतिहर मज़दूरों को मूल्य बढ़ जाने के कारण अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। जांच करने से यह पता चला है कि जहां मज़दूरी जिंस में दी जाती है, उसकी नकद कीमत का तख़मीना नहीं लिया जा सकता। किन्तु जहाँ नकदी में दी जाती हैं, वहां वह आगामी पृष्ठ पर लिखे प्रकार से दी जाती है।

मज़दूरी देने की अनेक प्रणालियों के मिलने के कारण इन पगारों का हिसाब लगाना अत्यन्त कठिन है। इनमें ठेका मज़दूरी से लेकर दैनिक, मासिक, फ़सल की और यहां तक कि वार्षिक मज़दूरी तक दी जाती है। पेशगी रुपया भी दिया जाता है। कपड़ा, मकान या रहने की जगह तथा जन्म, मृत्यु और विवाह के समय सहायता के रूप में इनको प्रायः ऊपरी आमदनी होती रहती है। अतएव भारत के गांवों में पगार का मूल्य निकालना अत्यन्त कठिन है और उनमें एक मान निश्चित करना कोई सुगम कार्य नहीं होगा।

अप्रैल १९५१ के खेतिहर मज़दूरों का दैनिक पगार

राज्य	खेतिहर मज़दूर			दस्तकारी वाला मज़दूर
	मनुष्य	स्त्री	बच्चा	
	रु.-आ.-पा.	रु.-आ.-पा.	रु.-आ.-पा.	रु.–आ.–पा.
मदरास	१–०–० से १–४–० तक	०–१०–३ से १–६–० तक	०–९–० से १–६–० तक	२–०–० से ३–०–० तक
हिमाचल प्रदेश	१–०–० से १–१२–० तक	१–४–०	०–१०–०	३–०–० से ४–८–० तक
कच्छ	३–०–०	२–०–०	१–०–०	४–०–० से ५–०–० तक
मणिपुर	१–०–०	०–१२–०	०–८–०	२–८–० से ३–०–० तक

श्रम सचिवालय ने मदरास, मैसूर और बिहार के कृषि मज़दूरों की दशा के सम्बन्ध में तीन रिपोर्टें प्रकाशित की हैं। इन मज़दूरों के परिवार समस्त योगफल में से १५ प्रतिशत से लगा कर ३८ प्रतिशत तक हैं। प्रत्येक दशा में उनका खर्च उनकी आय से अधिक हैं। उनकी आय का एक बड़ा भाग भोजन पर खर्च हो जाता है, जो परिमाण और प्रमाण, दोनों की दृष्टि से घटिया होता है। इनमें से अधिकांश ऋणी हैं.।

४. न्यूनतम पगार अधिनियम १९४८। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक राज्य सरकार इस अधिनियम के पास होने के तीन वर्ष के अन्दर-अन्दर अपने-अपने यहां के कृषि मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी तय कर दे। युद्धकालीन वरदान के कारण धनी किसानों को पर्याप्त लाभ हुआ; क्योंकि उनके पास बेचने के लिए कुछ था। किन्तु कृषि मज़दूरों के पास बेचने के लिए कुछ नहीं था। अतएव उनकी दशा सुधरनी तो दूर, कई क्षेत्रों में वह वास्तव में और खराब हो गयी। अतएव सरकार ने विचार किया कि यह आवश्यक है कि जीवन की स्थानीय लागत तथा स्थानीय जीवन-मान का ध्यान रखते हुए कृषि मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी तय कर दी जाय। अतएव १९४९ में लगभग २००० गांवों में कृषि मज़दूरों की दशा का पता लगाने के लिए जांच का कार्य किया गया। यह काम सन्तोषजनक रूप से चल रहा है और न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम के १९५१ में लागू होने के समय तक यह काम समाप्त हो जायगा। किसान सुधार कमेटी (Agrarian Reforms Committee) ने भिन्न भिन्न क्षेत्रों के लिए स्थानीय न्यूनतम मज़दूरी तय करने के लिए पगार बोर्ड (Wages Boards) बनाने का प्रस्ताव किया है। इस प्रकार के बोर्डों में मालिक और मज़दूर दोनों का प्रतिनिधित्व

होगा। उनको किसानों तथा मज़दूरों के जीवनमान का अध्ययन करना चाहिए।

भारत के मज़दूरी के तथ्यों को एकत्रित करने के कार्य की गुरुता के अतिरिक्त उनके निरीक्षण तथा जांच करने की भी समस्या है। कृषि मज़दूर पूर्णतया असंगठित हैं और गांवों में बिखरे हुए हैं। इसलिए इस समस्या को हल करना और भी कठिन है। अतएव कुछ अर्थशास्त्रियों का सुझाव है कि हमारा तात्कालिक कार्य यह है कि कृषि को एक लाभकर व्यवसाय बनाया जाय और श्रमिकों को स्वामियों तथा मनुष्यों के सामूहिक लाभ के लिए संगठित किया जाय न कि न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम को ग्रामीण क्षेत्रों में लागू किया जाय। तो भी सरकार ने कृषि मजदूरों की दशा सुधारने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। यहां यह बात उल्लेख कर देने की है कि कृषि वस्तुओं के मूल्यों को स्थिर किये बिना मज़दूर संगठनों के अस्तित्व के बिना ही मजदूरी तय करने के कानून को लागू करना कठिन पड़ेगा। इस विषय के एक अधिकारी लेखक लूई ई. होवर्ड (Louise E. Howard) की सम्मति है कि "नियमानुसार पिछड़े हुए देशों में कृषि मज़दूरों को समृद्ध बनाने के साधारण उपायों के सम्बन्ध में ही विचार किया जा सकता है।"

यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर कार्यालय ने पुरुष अथवा स्त्री के भेदभाव बिना समान कार्य के लिए समान वेतन दिये जाने पर बल दिया है। उक्त संगठन का ३४वां अधिवेशन, जो जून १९५१ में हुआ था, सदस्य राष्ट्रों से आशा करता है कि "वह ऐसी उपयुक्त संस्था की स्थापना करें, जो कृषि कार्यों तथा तत्सम्बन्धी कार्यों के मजदूरों की न्यूनतम मज़दूरी तय कर दे।"

यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि दिल्ली के लिए कृषि मज़दूरों की मज़दूरी सवा रुपये से लगाकर दो रुपये दैनिक तक निश्चित की गई है।

५. काम के घंटों का नियमन। काम के घंटे स्थान-स्थान पर पृथक्-पृथक ऋतु में और यहां तक कि प्रत्येक फ़सल में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है, और न कृषि-मजदूर को पूरे वर्ष भर काम ही करना पड़ता है। तो भी उसका खेत पर काम करने का दिन बहुत लम्बा होता है। औद्योगिक मज़दूर को यह लाभ है कि उसके काम के घंटे कानून द्वारा निश्चित कर दिये जाते हैं। कृषि मज़दूरों को यह सुविधा देने के लिए कुछ भी नहीं किया गया है। उसके घंटे खेत बोते तथा काटते समय अत्यन्त लम्बे होते हैं। किन्तु काम इतना कठिन नहीं होता। किसान सुधार कमेटी (Agrarian Reforms Committee) का प्रस्ताव है कि एक दिन मनुष्यों के लिए १२ घंटे से और स्त्रियों के लिए १० घंटे से अधिक नहीं बढ़ना चाहिए और यदि वह आठ घंटे से बढें तो उनको अतिरिक्त मज़दूरी दी जानी चाहिए। घंटों के नियम को लागू करना कठिन होगा, किन्तु एक बार बनाए हुए नियम पथ-प्रदर्शन का काम देंगे।

६. किसान दास-प्रथा। डाक्टर मुकर्जी एक प्रकार के भूमि मज़दूर के विषय में कहते हैं, जिस को कभी नकद मजदूरी नही मिलती और जो कभी दासों से अच्छे नही रहते।

बम्बई में कोली लोग, मदरास में पुलेयान, बिहार में काम्या, उड़ीसा में चाकर, मध्यप्रदेश में शलकारी उसी प्रकार के हैं। उनको उनका मालिक व्यावहारिक रूप में मोल ले लेता है। बम्बई के हाली लोग भी इन से कुछ अच्छे नहीं होते। उनको सामान्यत: खाद्यान्न का थोड़ा राशन दिया जाता है। कभी-कभी उनको गाय भैंस के गोबर में से अनाज चुनने की अनुमति दे दी जाती है। वह अन्न को धोकर अपने काम में ले आते हैं और गोबर मालिक के जलाने के काम के लिए छोड़ देते हैं। अन्य मामलों में हाली अपने मालिक का जीवन भर दास रहता है जो उस के लिए एक पत्नी को भी मोल लेकर देता है। इन श्रमिकों में से कुछ बेगार करते हैं। इस बुराई से पंजाब भी खाली नहीं है। राज्यों में, जहां अर्द्ध सामन्त-प्रथा है, यह बुराई और भी बुरे रूप में है। गांव वालों को अपने ज़मींदार को कुछ दिन तक बेगार देनी पड़ती है, नकद नज़राना देना पड़ता है और अपनी मुर्गियों, बकरियों तथा अन्य घरेलू पशुओं का एक भाग मुफ़्त में देना पड़ता है।

७. श्रमिकों का संगठन—एक मात्र उपाय। कुछ राज्यों में ज़मींदारी प्रथा बन्द करने के कानून पास हो चुके हैं। किसानों और मज़दूरों की सहायता करने के लिए कानून बना दिये गए हैं। हमारे विधान में दास प्रथा को एक दंडनीय अपराध ठहरा दिया गया है। अतएव यह आशा की जा सकती है कि कुछ समय बाद बेगार बन्द हो जायगी और बिना भूमि के श्रमिक की स्थिति कुछ अच्छी हो जायगी।

तो भी, इस कार्य को जल्दी करने के लिए कुछ उपाय करना ही होगा। किसान सुधार कमेटी ने प्रस्ताव किया है कि सुयोजनाबद्ध कृषि विधान के साथ-साथ देश भर में श्रमिकों का एक संगठन होना चाहिए। इस संगठन का उद्देश्य यह प्रचार करना होना चाहिए कि "उस विशाल जन संख्या को अर्द्ध मानव के उस स्तर से ऊपर उठाया जाय, जिस में यह कुछ स्थानों में इतना गिर गये हैं कि वह घोंघे, चूहे तथा गोबर से चुने हुए अन्न के दाने खाकर गुज़ारा करते हैं।" अमीर किसानों को मज़दूरों का भविष्य में शोषण न करने दिया जाय। इन दोनों के स्वार्थों की टक्कर को उन सुसंगठित कृषि मज़दूरों के यूनियनों (संघों) द्वारा रोकना चाहिए जो सहकारिता की प्रणाली पर, सहकारिता की भावना में काम करेंगे, अन्यथा संघर्ष अनिवार्य है और उस से शीघ्र या देर में रक्तपात होगा।

८. श्रम संगठनों के मार्ग में बाधाएं। विशाल क्षेत्रों में फैले हुए कृषि मज़दूरों की विशाल संख्या को यूनियनों के रूप में संगठित करना सुगम काम नहीं है। उनका अज्ञान तथा उनकी निरक्षरता इस कठिनाई को और भी बढ़ाती है। उन में से अनेक दलित जातियों के हैं। यद्यपि उनके पुनरुत्थान के लिए बहुत कुछ किया गया है किंतु वह अभी तक समाज के नीच वर्ग में गिने जाते हैं। राजनीतिक कार्यकर्ता अभी तक औद्योगिक क्षेत्रों में ही लगे हुए हैं। इसके अतिरिक्त गांवों में मज़दूरों की मांग कभी-कभी और वह भी मौसम पर ही होती है। वह अधिक कार्य का बहुत थोड़ा समय होता है और उस के बीच

के समय में कोई भी काम नहीं होता। किसान सभाओं ने भी खेतिहर मजदूरों की अभी तक उपेक्षा ही की है। अतएव उनके सम्बन्ध में कोई अंक नहीं मिलते और ना ही कोई सुलझे हुए विचार मिलते हैं।

अतएव इस कठिनाई को सुलझाने के लिए किसान मज़दूर को संगठित करने के साथ-साथ बिना भूमि के मज़दूरों को काम देने के लिए निम्न-प्रकार की योजना अपनानी चाहिए।

१. कृषि मज़दूरों को लगातार काम देने के लिए फ़सलों को अदल बदल करने तथा मिश्रित खेती की प्रणाली को अपनाना चाहिए।

२. काम तथा मज़दूरों को एक साथ लाने के लिए ग्रामीण श्रम नियोजन संगठनों (Rural Labour Exchanges) की स्थापना करनी चाहिए।

३. कृषि से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों—उदाहरणार्थ दुग्ध शालाओं, तेल निकालने के कारखाने, सब्ज़ी तथा फल लगाने तथा टीनों में भरने के कामों को गांवों में खोलना चाहिए।

४. बड़ी-बड़ी घास वाली और ऊसर भूमियों को सुधारने का काम करना चाहिए, जिस से श्रमिकों को स्थिर किया जा सके।

५. महिला श्रमिकों को घरेलू काम के लिए सुरक्षित रखा जाना चाहिए अथवा उनसे कोई हल्का काम लेना चाहिए, जिसके लिए वह विशेष रूप से उपयुक्त हों।

सहकारिता के आधार पर जितना ही बिना भूमि के मजदूरों को उपयोगी कार्यों में अधिकाधिक लगाया जाता रहेगा, उन के जीवन का स्तर ऊंचा होता रहेगा और ऐसा होने पर उनका संगठन करना कुछ कठिन नहीं होगा।

दसवाँ अध्याय

सिंचाई

१. सिंचाई का महत्व। यह हो सकता है कि भूमि, बीज और खाद सभी अच्छे हों, खेती, औज़ार और पशु भी अच्छे हों, किंतु बिना उचित और नियमित पानी मिले खेती अनिश्चित होती है। जहां वर्षा समय पर और पर्याप्त नहीं होती, वहाँ कृत्रिम सिंचाई कृषि कार्यों के लिए अनिवार्य होती है।

भारत में सब मिला कर प्रति वर्ष ४५ इंच वर्षा होती है, किंतु इस में स्थानीय विभिन्नताओं पर ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी राजस्थान में वर्ष भर में कुल १० इंच वर्षा होती है, किंतु उत्तर प्रदेश में पर्वतों के नीचे के इलाकों में १०० इंच तक वर्षा होती है। इस के अतिरिक्त वर्षा ऋतु के द्वारा विषम रूप से विभक्त कर दी जाती है। मदरास के अतिरिक्त शेष भारत में अधिकांश वर्षा जून से लेकर अक्तूबर तक होती है। वर्ष का शेष भाग अत्यन्त सूखा होता है। तीसरे, कभी कभी वर्षा बहुत कम होती है तथा लगभग सूखा पड़ जाता है। इस प्रकार रेलों तथा नहरों के युग से पूर्व "देश में कभी-कभी भयंकर अकाल पड़ते रहते थे और अनेक वर्षों में बड़े भारी इलाकों में जनता को अभाव का सामना करना पड़ता था।"[1]

२. सिंचाई किया जाने वाला क्षेत्र। अविभक्त भारत में समस्त कृषि क्षेत्र २९ करोड़ ८० लाख एकड़ में से ७ करोड़ २० लाख एकड़ सिंचाई वाले क्षेत्र थे, अर्थात् समस्त कृषि क्षेत्र के २४ प्रतिशत भाग में सिंचाई होती थी। विभाजन के बाद भारत के पास २५ करोड़ १० लाख एकड़ कृषि भूमि में से ४ करोड़ ८० लाख एकड़ अर्थात् १९ प्रतिशत सिंचाई क्षेत्र ही रह गया। आज (१९५१ में) ५ करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई की जाती है। इसमें लगभग १८ प्रतिशत में वर्ष में दो-दो फ़सलें की जाती हैं। विभिन्न राज्यों में सिंचाई का महत्व भिन्न भिन्न प्रकार का है, जैसा कि १९४८-४९ की अगले पृष्ठ की तालिका से प्रगट है:—

बंगाल तथा आसाम में सिंचाई के कम अनुपात से चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वहां वर्षा बहुत होती है। किंतु मदरास तथा पंजाब के राज्यों में, जहां वर्षा कम होती है, सिंचाई की अधिक सुविधाओं की आवश्यकता है।

---

१. Sir Bernard Barley in *Economic Problems of Modern India*, op. cit., p. 148, also *Indian Year Book*, 1944-45, p. 288.

१९४८-४९ में सिंचाई के अंक

राज्य	कुल क्षेत्रफल एक लाख	सिंचित क्षेत्र का क्षेत्र-फल एक लाख	प्रतिशत अनुपात
आसाम	६२	११	१८·५
बिहार	२२६	४८·८	२१·६
बम्बई	३४५	१८	५·२
मध्यप्रदेश	३२०	१७	५·४
मदरास	३५८	११२	३१·४
उड़ीसा	७४·५	१७	२२·७
पंजाब	१३३	४६	३४·७
उत्तरप्रदेश	४९२	११९	२४·२
पश्चिमी बंगाल	१३०	२०	१५·४
हैदराबाद	२२५	१५	६·८
जम्मू व काश्मीर	२१३	६	२·१०
मध्यभारत	९७	४	१·३
मैसूर	६६	११·५	१७·५
पेप्सू	४८	२०	४०·४
राजस्थान	९४·५	१५·५	१६·४
सौराष्ट्र	१०	·५	५·३
ट्रावनकोर-कोचीन	३०·५	११·६	३८·२
भूपाल	१६	·२	१·२
हिमाचल प्रदेश	१०·६	१·५	१४·५
विन्ध्य प्रदेश	५	·७	१३·५
समस्त भारत	२७७·४	४९·९	१८·०

३. **सिंचाई कार्यों के भेद**—भारत में सिंचाई कार्यों के तीन मुख्य भेद हैं—(क) कुएं, (ख) तालाब, और (ग) नहरें।

१९५० में कुल साढ़े सत्ताईस करोड़ क्षेत्रफल में से साढ़े पांच करोड़ एकड़ में सिंचाई होती थी। यह क्षेत्र विभिन्न प्रकार के सिंचाई कार्यों में इस प्रकार विभक्त था :—

सिंचित क्षेत्र (१० लाख एकड़ों में)

नहरों द्वारा	तालाबों द्वारा	कुओं द्वारा	अन्य साधनों द्वारा	समस्त क्षेत्रफल
२८	६	१४	७	५५

(क) कुओं द्वारा सिंचाई—ऊपरी भाग के कुएं—भारत में लगभग २५ लाख कुएं हैं और उनमें कुल १०० करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। भारत में पंजाब, उत्तर प्रदेश, मदरास और बम्बई राज्य कुओं की सिंचाई के लिए प्रसिद्ध हैं। कुएं प्रायः व्यक्तिगत होते हैं किंतु सरकार भी तकावी ऋण[1] देकर उनके बनाने में सहायता करती है। साथ ही वह इस प्रकार सुधारी हुई भूमि पर मालगुज़ारी की वृद्धि को अस्थायी रूप से स्थगित कर देती है। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अनुसार १९४४ से लेकर १९४७ तक ७२००० कुएं बनवाये गए। अगले दो वर्षों में ५९००० नये कुएं बनवाये गए। औसत तौर से एक कुआं ५ एकड़ भूमि को सींच सकता है और प्रति कुएं पर एक टन खाद्य का अतिरिक्त उत्पादन होता है। ऊपरी भाग के कुओं में यह सुविधा होती है कि उनको देश के अन्दर उपलब्ध सामग्री से ही बनाया जा सकता है। अतएव कुएं बनाने के लिए सरकार सहायतार्थ रकम तथा ऋण देती है।

नलीदार कुएं या ट्यूब वेल—१९४८ में सरकार ने दो अमरीकन विशेषज्ञों की सेवाएं यह विचार करने के लिए प्राप्त कीं कि फसलों को नलीदार कुओं से एकड़ों के परिमाण के आधार पर सब से अच्छी तरह किस प्रकार जल दिया जा सकता है कि जिस से वह वसन्त ऋतु के जल मिलने में और बिजली के टयूब वेलों से जल मिलने में तथा ऊसर भूमि की वैज्ञानिक कृषि में भी बाधक न बनें।

उन्होंने अपनी रिपोर्ट में कहा कि पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में नलीदार कुओं के विकास के लिए बडी भारी गुंजाइश है। अतएव सरकार ने ६००० नलीदार कुएं बनाने की योजना बनाई। इस मार्ग में सब से बड़ी कठिनाई बिजली की कमी की थी, जिस को उत्पन्न करने के लिए अनेक योजनाएं भारत में चल रही हैं। एक नलीदार कुआं ६० फुट से लेकर ५०० फुट तक गहरा जाता है। उसको विशेष यंत्रों से ही बनाया जा सकता है। वह एक घन्टे में ३३००० गैलन पानी खींचता है और लगभग ५०० एकड़ भूमि को सींच सकता है।

बम्बई तथा ट्रावनकोर-कोचीन में इस सिंचाई कार्य को चलाने की-योजनाएं सहकारिता संस्थाओं द्वारा उठायी गयी है, जिन को सरकार ने ऐसी प्रत्येक योजना के लिए १०,००० रुपया उधार दिया है।

(ख) तालाब—जब कि कुएं व्यक्तियों के ही होते हैं, तालाब प्रायः सदा ही राज्य के होते हैं। पंजाब के बाहर वह लगभग सभी प्रान्तों में मिलते हैं। मदरास में वह सब से

---

१. यह ऋण भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act of 1883) के अनुसार दिये जाते हैं। इस अधिनियम के अनुसार स्वीकृत प्रार्थियों को ६ प्रतिशत ब्याज पर (बम्बई में पांच प्रतिशत) ऋण दिये जाते हैं, इसकी वसूली सरल किश्तों में ७ से ३० वर्ष तक के समय में की जाती है।

अधिक संख्या में ३५००० हैं। वह सभी प्रकार के आकार के होते हैं। वह बड़ी-बड़ी झीलों से लेकर—जो नदी के तल में उस के आरपार बड़े ऊंचे बांध बनाकर तैयार की जाती है—गांव की छोटी तलैया तक के आकार के होते हैं। अनेक तालाब अत्यन्त प्राचीन काल के बने हुए हैं तथा अनेक पट गए हैं। जहां नहर बनाना संभव नहीं होता वहाँ यह बड़े उपयोगी होते हैं, किंतु उनके लगातार साफ़ किये जाते रहने की आवश्यकता है।

सिंचाई की छोटी योजनाएं इतनी व्ययसाध्य नहीं होतीं और उनका फल भी शीघ्र मिलता है। इन में से सहस्रों योजनाएं (तालाबों सहित) देश भर में पूरी की जा चुकी हैं और अनेकों को हाथ में लिया हुआ है। इस उद्देश्य के लिए भारत सरकार व्यय के अलाभकारी भाग में से राज्य सरकार के साथ आधा खर्चा बांट लेती है।

(ग) **नहरें**—वर्तमान समय में सिंचाई का सब से अधिक महत्वपूर्ण रूप है। कुछ थोड़े से अपवाद को छोड़ कर उन सब को सरकार ने ही बनाया है और वही उनका खर्चा चला रही हैं। वह साधारणतया दो प्रकार की होती हैं—बारहमासी तथा बाढ़ की। बारहमासी नहरों से पूरे वर्ष भर जल मिलते रहने का विश्वास रहता है, किंतु बाढ़ की नहरों से केवल बाढ़ के दिनों में ही जल मिलता है। एक तीसरे प्रकार की—बांध की नहरें—भी होती हैं। उनको किसी घाटी के आरपार बांध बनाकर वर्षा के दिनों में बरसाती पानी को एकत्रित करके बनाया जाता है। फिर इस जल से वर्ष के सूखे दिनों में भूमि सींचने का काम लिया जाता है। इस प्रकार की नहरें दक्षिण तथा मध्य भारत में है।

१९२१ से पूर्व नहरों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जाता था :

(१) **उत्पादक कार्य**—जिन से दस साल में लगाई हुई पूंजी पर ब्याज का खर्चा निकालने योग्य आमदनी होती है। ऐसी नहरें उत्तरी भारत और मदरास में अधिक मिलती है।

(२) **कम उत्पादक कार्य**—जिन से सीधे आय नहीं होती किंतु जो अकाल के विरुद्ध बीमे का काम दें। इनका खर्चा प्रायः अकाल सहायता फंड से किया जाता है।

(३) **छोटे कार्य**—इन का सम्बन्ध मिश्रित वर्ग, तालाबों और कुओं से होता है। उनका खर्चा चालू आय में से किया जाता है।

१९२१ के बाद इस वर्गीकरण को समाप्त कर दिया गया। अब सिंचाई कार्यो के दो ही वर्ग हैं, उत्पादक तथा अनुत्पादक।

४. विभाजन से पूर्व सिंचाई। भारत के पास जल के साधन अत्यन्त विस्तीर्ण हैं। एक विश्वस्त साधन से पता चला है कि समुद्र को बह कर जाने वाले जल में से कुल ६ प्रतिशत जल का ही उपयोग सिंचाई के लिए किया जाता है। यद्यपि प्रत्येक स्थान की परिस्थितियां अलग-अलग होती हैं, तो भी यह कहा जा सकता है कि सिंचाई के विकास की संभावना सब कहीं है।

प्राचीन काल में भी, यद्यपि आधुनिक प्रणालियों का उपयोग नहीं किया जाता था, तथापि भारत में बड़ी बड़ी नहरें थीं। पूर्वी जमना नहर, पश्चिमी जमना नहर, गंगा नहर और कावेरी तथा किस्टना डेलटाओं की सभी नहरें प्राचीन नहरें हैं। पंजाब में एक प्राचीन हसली नहर थी। वह सब गत शताब्दी में बेकार हो गयी थीं। उनकी मरम्मत करवा कर उनको उपयोग लायक बनाया गया है। कुछ व्यक्तिगत कम्पनियों ने इस दिशा में कार्य करने का यत्न किया, किंतु वह असफल रहीं और उन्होंने सरकार के लिए मैदान छोड़ दिया। ऋण लिये गए और १८८० से लेकर १९०० तक अत्यन्त विशाल आकार की पांच सिंचाई की नहरें बनाई गयी थीं। इसमें पंजाब में सरहिंद नहर, उत्तर प्रदेश में गंगा की नीची नहर तथा आगरा नहरें तथा उपनिवेश नहरें थीं, जो अब पाकिस्तान में चली गयी हैं। १८७७-७८ के अकाल के बाद देश की अकाल से रक्षा करने के लिए अकाल रक्षा बीमा फंड की आधी रकम सिंचाई को नहरें बनाने में लगा दी गई। इस योजना के आधीन उत्तर प्रदेश में बेतवा नहर, मदरास में ऋषिकुल्या योजना, और नीरा तथा परियार नहर प्रणालियों जैसे महत्वपूर्ण जलाशय बनाये गये। इनको बम्बई राज्य के बांधों द्वारा बनाई हुई झीलों से पानी मिलता था। १९०३ में भारतीय सिंचाई कमीशन के प्रस्तावों के फलस्वरूप अनेक नई योजनाओं को बना कर पूर्ण किया गया, उन में पंजाब की तीन नहरें (जो अब पाकिस्तान में हैं) और बिहार की त्रिवेणी नहरें बनाई गईं।

१९१९ के सुधारों के बाद सिंचाई प्रान्तीय विषय हो गया है और प्रान्तीय सरकारों ने इस में अधिक दिलस्चस्पी ली। उनपर अनुमानित व्यय ५० लाख रुपए से अधिक होने की दशा में भारत सरकार से खर्च की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। रकम उधार ली जा सकती थी और अनेक नई योजनाएं, जैसे पंजाब में सतलुज घाटी और सक्खर बांध, अवध में शारदा नहर योजना और मदरास-कावेरी-मेत्तू योजनाओं को चालू किया गया।

कृषि कमीशन ने प्रस्ताव किया कि कृषि विभाग तथा सिंचाई विभाग में अधिक निकट सम्बन्ध होना चाहिए तथा सिंचाई के सम्बन्ध में शिकायतें सुनने के लिए स्थानीय परामर्श समितियां बनाई जानी चाहिएँ। इसके अतिरिक्त सूचनाओं तथा अनुभव के निर्बाध मिलते रहने तथा अनुसंधान में सहायता करने के लिए सिंचाई के केन्द्रीय ब्यूरो की स्थापना की जानी चाहिए। यह सब कार्य १९३१ में कर लिया गया।

५. विभाजन के बाद सिंचाई। भारत के विभाजन के बाद सरकार ने अन्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए सिंचाई की भारी आवश्यकता को अनुभव किया है। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए अनेक छोटी तथा बड़ी सिंचाई योजनाओं को हाथ में ले लिया गया है। सब से बड़ी बाधा यंत्रों की कमी है। इन सब, एक उद्देश्य वाली तथा बहूद्देश्य योजनाओं की संख्या १७० है। इन सब के पूर्ण हो जाने पर और भी अढ़ाई करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। अभी तो मिलने वाले जल के केवल ६

प्रतिशत भाग का ही नियंत्रण किया जाता है, शेष बरबाद जाता है। और कभी कभी तो वह जान और माल को भारी हानि पहुंचाता है।

मद्रास ने सिंचाई की अत्यन्त विशाल योजना आरम्भ कर दी है। उसने उसको तीन वर्गों में विभाजित किया है: (क) अल्पकालीन योजना—पांच करोड़ रुपये की लागत से ४ लाख एकड़ भूमि को सींचने के लिए है, (ख) मध्य आकार की योजना में ३० करोड़ रुपये की लागत से ५ लाख एकड़ भूमि को सींचा जायगा, (ग) बडी योजना में ७८ करोड़ रुपये की लागत से ३० लाख भूमि में नहरें बनाई जाँयगी। इन योजनाओं में तुंगभद्रा नदी तथा रामपद सागर के बांध भी सम्मिलित हैं।

उत्तर प्रदेश ने भी कुछ अत्यन्त उपयोगी योजनाओं को हाथ में लिया है। वहां बिजली पैदा करने के लिए अनेक नये बांध, बिजली घर तथा नदियां बनाई जाँयगी। इस बिजली से नलीदार कुएं (ट्यूबवैल) चलाये जाँयगे। इनमें पीपरी बांध और बिजली घर अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। रिहृंद नदी के आरपार एक २८० फुट ऊँचा बांध सवा सोलह करोड़ रुपये की लागत से बनाया जायगा। यह ४० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेगा। इससे बाढ़ नियंत्रण, मत्स्यपालन, नौका संचरण तथा आमोद-प्रमोद की सुविधाओं का अतिरिक्त लाभ होगा। नायर नदी पर बनाये जाने वाले नायर बांध से २,३८,००० एकड़ की विशाल भूमि को सींचने के अतिरिक्त इससे दस एकड़ भूमि के सिंचाई साधन अधिक विकसित हो जाँयगे। रामगंगा योजना से बिजली मिलने के अतिरिक्त ८ लाख एकड़ भूमि सींची जायगी। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक योजनाओं की भी मंजूरी दी गई है।

पश्चिमी बंगाल ने दामोदर घाटी बांध योजना को अपने हाथ में लिया हुआ है। इस से किसानों की आय प्रति वर्ष ६ करोड़ रुपये और बढ़ जायगी। इसमें मूराकेही नदी पर एक बांध बनाया जायगा। इस से ६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक छोटी-छोटी योजनाएं भी हाथ में ली गयी हैं।

बिहार में सब से अधिक महत्वपूर्ण योजना कोसी बहूद्देशीय योजना है। इस से सिंचाई, बिजली, नौका संचरण, बाढ़ नियंत्रण, पानी भरी भूमि का सुधार तथा मत्स्यपालन आदि अनेक काम होंगे। इसमें ९० करोड़ रुपये लगेंगे और २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इस से १८ लाख किलोवाट सस्ती बिजली भी मिलेगी। गंडक घाटी योजना में एक नदी पर बांध बना कर सारन ज़िले की ६ लाख एकड़ तथा मुंगेर ज़िले की ५०,००० एकड़ भूमि को सींचा जायगा। बिहार ने बिजली के पम्प लगाकर पानी ऊपर उठाने की अनेक योजनाएं भी अपने हाथ में ले रखी हैं।

बम्बई के पास मेशवा नदी तथा माही नदी योजनाएं तथा वरदला तालाब योजना, गंगापुर बांध योजना, अशोक ताल योजनाएं हैं। इन पर कुल खर्च ३४ करोड़ रुपया बैठेगा और इन से ७,६०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

मध्यप्रदेश चार करोड़ रुपये की लागत से ११ योजनाओं को अपने हाथ में ले रहा है। इन से दो लाख एकड़ चावल भूमि की सिंचाई होगी। नर्बदा-ताप्ती बहूद्देशीय योजना से बाढ़ों पर नियंत्रण होने के अतिरिक्त दस लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

पंजाब गुड़गांवा, हिसार और रोहतक ज़िलों, पेप्सू तथा बीकानेर में ४४ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करना चाहता है। नांगल योजना समाप्त होने को है, इससे भाकरा बांध को बिजली मिलेगी। इस के लिए सड़क तथा रेल के मार्ग बना कर पूर्ण कर लिये गए हैं। नहरों की योजनाओं के अतिरिक्त अनेक नलीदार कुएं भी बनाये जा रहे हैं।

उड़ीसा में महानदी घाटी योजना का विकास किया जायगा। अनेक उद्देश्यों वाली योजनाओं का नियंत्रण केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई तथा नौका संचालन कमीशन (Central Waterways Irrigation and Navigation Commission or C. W. I. N. C.) के हाथ में है। उस के यहां तीन बांध बनाने की योजनाएँ हैं। प्रत्येक बांध की अपनी नहरें तथा बिजली घर होंगे। इन पर ४७ करोड़ ८१ लाख रुपया खर्च आयगा। इसके अतिरिक्त वांध तथा नदी प्रवाह बदलने की अन्य भी कई छोटी छोटी योजनाएं हैं।

इस विषय में भारत में संविलीन राज्य तथा राज्यसंघ भी पीछे नहीं है, हैदराबाद, मैसूर, सौराष्ट्र, ग्वालियर, ट्रावनकोर-कोचीन, मध्य भारत, भोपाल और राजस्थान सभी अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन इस विषय में कर रहे हैं।

५. अनेक उद्देश्य वाली कुछ महत्वपूर्ण नदी योजनाएं। अभी पिछले दिनों तक सिंचाई योजनाओं का एकमात्र उद्देश्य सिंचाई ही था किंतु नई योजनाओं का रुख बदल गया। जल पूरे वर्ष भर धार के रूप में नहीं मिल सकता, अतएव योजनाएं इस आधार पर बनाई जा रही हैं कि वर्षा के जल को वर्षा ऋतु में जमा कर लिया जाया करे। इस प्रकार योजनाओं को बनाने तथा उनमें परस्पर साहाय्य का सम्पादन करने के उद्देश्य से १९४५ में (C. W. I. N. C.) की स्थापना की गयी थी। इसने सरकार की नीति में मौलिक परिवर्तन किया। यह तय कर दिया गया कि जल को एकत्रित करने का उद्देश्य सदा सिंचाई ही नहीं होगा, वरन् उस से बिजली बनाने, नौकासंचरण, बाढ़ नियंत्रण, मलेरिया नियन्त्रण, भूमि विदारण प्रतिबन्ध, पानी भरने को रोकने, मत्स्य पालन तथा आमोद-प्रमोद का कार्य भी लिया जाना चाहिए।

इस नई नीति के कारण अनेक उद्देश्यों वाली कई योजनाओं का निर्माण किया जा रहा है। यहां उन में से कुछ का वर्णन किया जाता है।

(क) दामोदर घाटी योजना—दामोदर नदी बिहार तथा बंगाल में बहती है। इस योजना में अनेक बांध बनाये जाँयगे। भारत में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस पर कुल ७५ करोड़ रुपया खर्च होगा। इसमें से १३ करोड़ रुपये तो उस पर खर्च भी हो गए हैं। ४२ करोड़ १९५६ के अन्त तक खर्च हो चुकेंगे और शेष २० करोड़ पंचवर्षीय

योजना के उत्तरार्द्ध में खर्च किये जाँयगे। सरकार ने इसका प्रबन्ध करने के लिए अमरीका के टी. वी. सी. के नमूने पर एक अर्द्ध स्वतन्त्र कार्यकारी संस्था दामोदर घाटी कारपोरेशन नाम से बनाई है। इस नदी के दोनों किनारों से दो नहरें निकाली जाँयगी, जो ८,६३,००० एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगी। इससे ५ करोड़ रुपये वार्षिक का अतिरिक्त उत्पादन होगा। लगभग २,७४,००० किलोवाट बिजली भी इससे मिलेगी। इसके अतिरिक्त इस नदी का बाढ़ों के कारण प्रति वर्ष किया जाने वाला विनाश भी रुक जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने इस योजना की संभावनाओं की अच्छी तरह जांच करके इसके लिए यंत्र खरीदने को २ करोड़ २० लाख डालर का ऋण भारत सरकार को दिया है। इसका निर्माण ठीक चल रहा है जो १९५४ में पूर्ण हो जायगा। भविष्य में इस क्षेत्र को 'भारत का रूरक्षेत्र' कहा जाया करेगा।

(ख) **महानदी घाटी योजना**—महानदी घाटी योजना में तीन बांध बनाये जाँयगे। एक सम्बलपुर के समीप हीराकुड में, दूसरा उससे १३० मील नीचे टीकरपारा में तथा तीसरा कटक के पास नारज में। इससे कम से कम ११ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। यह दो लाख ६० हज़ार किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगा और सम्बलपुर से समुद्र तक ३०० मील तक नौका संचरण की सुविधाएं देगा। इस प्रकार यह देश की भूगर्भ में दबी हुई खनिज सम्पत्ति का विकास करने में सहायता देगा। साथ ही यह सीमिंट, इस्पात, चीनी तथा रासायनिक द्रव्यों का उत्पादन करने वाले कारखानों को खड़ा करने में सहायता देगा। इससे यह क्षेत्र भारत के सर्वाधिक समृद्ध क्षेत्रों में एक बन जायगा। इस योजना को सबसे अधिक प्राथमिकता दी गई है। इसके १९५४ तक समाप्त होने की आशा है। उसमें कुल व्यय ४८ करोड़ रुपये होगा।

(ग) **भाकरा और नांगल योजनाएं**—विभाजन के कारण पंजाब की समस्त अर्थ-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई। मज़दूर मिलना कठिन हो गया। रुपये का एकदम अभाव हो गया। इस योजना पर जल की अपनी पूर्ति पर प्रभाव पड़ने के भय से पाकिस्तान ने भी इस योजना का विरोध किया था। ऐसी सरकारी कठिनाइयां होते हुए भी इस योजना को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई। इन योजनाओं को पूर्ण किये बिना पंजाब का पुनर्वास नहीं किया जा सकता।

नांगल योजना से भाकरा को बिजली दी जायगी। इसमें सतलुज नदी के आरपार नांगल में भाकरा से ८ मील नीचे बांध बनाया जायगा। यह बांध १,०२९ फुट लम्बा, ४०० फुट चौड़ा होगा। इसका तल नदी तल से ५० फुट नीचे होगा। इस तल के ऊपर १०,००० क्यूसेक (Cusecs) योग्यता की नहरों की रेखाएं दो बिजलीघरों को जाँयगी। यह दोनों बिजलीघर ९८ फुट के झरने से चलेंगे और ८०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेंगे।

भाकरा में भाकरा पर बीच के संकुचित मार्ग के आरपार ६८० फुट ऊंचा एक

बांध बना कर एक ५६ मील लम्बा तालाब बनाया जायगा। इसमें ७४ लाख फुट पानी आ सकेगा अर्थात् इसमें प्रति सैकिंड में ६,६०० क्यूसेक (Cusecs) उन २७० दिनों तक छोड़े जा सकेंगे जो वर्ष का सूखा भाग होता है। इस सिंचाई प्रणाली में २०० मील लम्बी नहर तथा उसकी विभाजक शाखाएं होंगी, जो ४५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगी। इस योजना से चार लाख किलोवाट बिजली बनेगी। इस बांध का नक्शा मिस्टर सेवेज (Mr. Savage) ने तैयार किया है। इस व्यक्ति को इस विषय का एक बड़ा भारी विशेषज्ञ समझा जाता है। इसी ने अमरीका के बौल्डर बांध (Boulder Dam) का भी नक्शा बनाया था। भाकरा बांध का काम तेज़ी से हो रहा है। केन्द्रीय सरकार इसका खर्चा उठा रही है और उसके लिए आवश्यक मशीनें भी आ चुकी हैं। उसमें कुल खर्चा १३३ करोड़ रुपये लगेगा, जिसमें से २१ करोड़ रुपये खर्च भी हो चुके हैं। ७७ करोड़ रुपया १९५६ तक खर्च होगा और शेष बाद में खर्च होगा। इस योजना से प्रतिवर्ष निम्नलिखित उत्पादन होने का अनुमान किया गया है:

खाद्य पदार्थ ११ लाख ३० हज़ार टन, दर ५०० रुपया प्रति टन। कुल मूल्य ५६ करोड़ रुपये। लम्बे रेशे की कपास की ८ लाख गांठें, भाव ४०० रुपये प्रति गांठ, कुल मूल्य ३२ करोड़ रुपये। योग फल ८८ करोड़ रुपये।

इन योजनाओं के पूर्ण होने पर पंजाब की आर्थिक समस्याएं हल हो जाँयगी।

७. सरकार की सिंचाई नीति। भारत अपने जल साधनों के विषय में अत्यन्त भाग्यशाली है, किन्तु अभी तक उनमें से ६ प्रतिशत से अधिक का उपयोग नहीं किया जा सका है। शेष जल बेकार जाता है। बड़े-बड़े क्षेत्रफल वीरान पड़े हैं। अनेक क्षेत्रों में पानी की कमी के कारण फ़सल अच्छी नहीं होती। इसके अतिरिक्त कुल लगाई हुई पन-बिजली की शक्ति पांच लाख किलोवाट से अधिक नहीं है, जबकि उसमें से चार करोड़ किलोवाट बिजली ली जा सकती थी।

ब्रिटिश लोगों ने भारत के उत्पादन साधनों का उपयोग करने का अधिक प्रयत्न नहीं किया। अंत में अब हमारे यहाँ राष्ट्रीय सरकार बन गई, जो सिंचाई तथा पन-बिजली योजनाओं को अत्यधिक प्राथमिकता दे रही है। इन योजनाओं से भारत का प्रति व्यक्ति-अंश उत्पादन बढ़ जायगा, भारत के लाखों निर्धनों का जीवन-स्तर उच्च हो जायगा, अकाल की संभावना दूर हो जायगी और भारत की खाद्यान्न की वर्तमान कमी बचत के रूप में बदल जायगी।

८. प्रथम पंच-वर्षीय योजना। सभी योजनाओं के व्यय का संयुक्त योग-फल ७३४ करोड़ रुपया है। इसमें से १४४ करोड़ रुपया मार्च १९५१ तक खर्च किया जा चुका है। ४५० करोड़ रुपया अगले पांच वर्षों में १९५६ तक खर्च किया जायगा और शेष १४० करोड़ रुपया बाद में खर्चा जायगा। इन योजनाओं से ८८ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। पांचवें वर्ष में ११ लाख किलोवाट बिजली का अतिरिक्त उत्पादन होगा

और अन्त में वह एक करोड़ ६५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगी तथा १९ लाख ३० हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न करेंगी । जो योजनाएं शीघ्र फल दे सकेंगी उनको जल्दी पूर्ण किया जा रहा है। यह समस्त विकास-कार्य राष्ट्रीय आधार पर किया जाना चाहिए । भारत भर में सिंचाई की सुविधाएं नहीं हैं। खाद्य समस्या को अखिल भारतीय आधार पर ही हल किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन योजनाओं और उनके विभिन्न इंजीनियरिंग कार्यों में भारत तथा विदेशों के सर्वोत्तम विशेषज्ञों के मस्तिष्क लगे हुए हैं। अतएव विद्या तथा कलाकौशल के ज्ञान को इनके लिए एकत्रित करना ही होगा। नदियां विभिन्न राज्यों में हो कर बहती हैं। अतएव विकास की योजनाओं का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए और उनसे सर्वोत्तम फल प्राप्त करने के लिए उनका अन्तर्वर्ती पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिए। इसके अतिरिक्त बड़ी-बड़ी योजनाओं में इतने अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है कि जिसको एक राज्य संभवतः नहीं उठा सकता। उसमें केन्द्र से भी सहायता की आवश्यकता पड़ती है । योजना में यह ठीक ही कहा गया है कि यह काम पांच वर्ष से आगे भी चलता रहेगा। इस सम्बन्ध में जनता का सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं होगा। जनता को इन योजनाओं को पूर्ण करने के लिए विशेष त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसके लिए आवश्यक प्रचार कार्य तथा लोगों को समझाना-बुझाना आवश्यक है।

९. सिंचाई के खतरे। बड़ी बड़ी सिंचाई योजनाएं विशुद्ध वरदान ही सिद्ध नहीं हुई हैं। पंजाब (पाकिस्तान) तथा बम्बई के कुछ इलाकों में भूमि में पानी भर जाने तथा रेह बढ़ आने से न केवल भूमि बिगड़ गई है वरन् वह स्थान अस्वास्थ्यकर भी हो गए हैं। इस प्रकार भूमि का बड़ा भारी भाग कृषि के योग्य नहीं रहा। इसका कारण भूमि के अन्दर पानी के स्तर का ऊपर आ जाना है। उसके प्रभाव भूमि पर निम्न प्रकार से देखने में आते हैं: (१) इससे कृषि भूमि में पानी भर जाता है। अत्यधिक पानी भर जाने से झील भी बन जाती है, (२) भूमि की ऊपरी तह में खार जमा हो जाते हैं, जिन्हें थुर या खार भी कहते हैं।

वृजनारायण के अनुसार इस खतरे का निम्नलिखित चरणों में पता हो जाता है—

(१) एक दो वर्ष तक बरानी फ़सलें अत्यधिक अच्छी होती है, (२) तीसरे वर्ष ऐसे प्रभावित क्षेत्रों में कल्लर दिखलाई देने लगता है, जहां बीज नहीं उगता, (३) उत्पादन कम होने लगता है और पानी के क्षेत्र फैलने लगते हैं, (४) नहर के समीप के क्षेत्रों में जंग लगे हुए रंग का पानी भर जाता है, (५) पानी का स्तर भूमि के समीप तक बढ़ जाता है, (६) आबादी के मकान फट-फटकर टूटने लगते हैं, (७) आबादी में एक दुर्गन्ध फैल जाती है और पीने के पानी का स्वाद कच्चा[1] हो जाता है।

1. Brij Narain—Indian Economic Life, p. 383.

जल के भूमि की ऊपरी सतह के अन्दर आ जानेपर भूमि के खाद भी उसके ऊपरी भाग में आ जाते हैं। नहरें इस संकट को दो प्रकार से लाती हैं। वह सिंचाई की नदियों को आपस में काटती हैं और इस प्रकार वर्षा तथा बाढ़ के पानी को भी सहायता मिल जाती है। दूसरे, उनके कारण उनका जल सीधे तब तक बढ़ता चला जाता है, यहां तक कि वह ऊपर के स्तर तक आ जाता है। "यदि कृषि भूमि का ढाल उस बहाव को रोकने या बाहर निकालने लायक ढालू नहीं होता तो पानी का स्तर बढ़ता जाता है। वह भूमि की जज़्ब करने की शक्ति से बराबर सिंचता जाता है और भूमि के सभी क्षार उसकी ऊपरी स्तर पर आकर उसे कृषि योग्य नहीं रहने देते।"

इसके उपचार साधारणतया यह बतलाये गए हैं: (क) पानी को नलीदार कुओं या सिंचाई के अन्य साधनों द्वारा निकाल दिया जाय, (ख) नहरों की तली कंकरीट की बनाई जाय किन्तु इससे विभाजन के साधनों का विकास नहीं होता, (ग) सामने वाली नादियों का खोलना। संभव है इसमें सारी नहर को ही दुबारा बनाना पड़े। (ध) नहरों मे सिंचाई न करा कर कुओं से सिंचाई कराई जाय। इसमें बहुत खर्चा लगता है। यह तभी ठीक रहता है जब खतरा बिल्कुल सामने हो। (ङ) अति सिंचाई न की जाय। नहरों से पानी लेने की वर्तमान प्रथा में सिंचाई आवश्यकता से अधिक हो जाती है। सिंचाई-कर उपयोग किये हुए जल के परिमाण के अनुसार नहीं लगाया जाता, वरन् उत्पन्न की हुई फ़सल पर लगाया जाता है। जल की बिक्री परिमाण के अनुसार करने से किसान पानी का व्यर्थ व्यय नहीं करेंगे।

१०. पानी की दरें। पानी की दरें तय करने के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द लिख दिये जाँय। सरकार अधिकतम जो कुछ ले सकती है, वह उस वास्तविक लाभ पर ले सकती है जो किसान नहर के पानी से प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नहर के पानी के उपयोग के कारण भूमि से होने वाले लाभ के बदले में उसकी समस्त वृद्धि का उपयोग कर लिया जाय। इसमें न्यूनतम का निर्धारण पानी देने के खर्चे पर लगाया जाता है। इसमें पूंजी पर ब्याज तथा नहरों की साज संभाल में होने वाले खर्चे को भी लगा लिया जाता है। कार्य के खर्चे के आधार पर जल-कर वसूल करना अनेक कारणों से उचित नहीं है। इससे नहर के निर्माण का लाभ कुछ लोगों को मिलेगा, जबकि नदी का जल समस्त समाज की सम्पत्ति होता है। नहर के बनाने का खर्चा कुछ तो मालगुज़ारी की बचत से किया जाता है और कुछ उधार ली हुई रकम से किया जाता है, जो साधारण राजस्व की ज़मानत पर लिया जाता है। अतएव कुछ लाभों में जनता का सम्मिलित रूप से भाग होना ही चाहिए। कुछ लोग रेलों का उदाहरण दे कर उनके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले कम लाभ की ओर संकेत करके बतलाते हैं कि नहरें उनकी अपेक्षा अपनी पूंजी पर अधिक लाभ प्राप्त कर रही हैं। किन्तु यह उदाहरण यहां लागू नहीं होता क्योंकि रेलों का लाभ मनुष्यों के किसी एक

भाग्यशाली वर्ग को न होकर समस्त जाति को पहुंचता है। अतएव नहरों को भी सर्व साधारण की आय में अपना भाग देना ही चाहिए। दूसरे शब्दों में पानी की दर का एक भाग कर के रूप में होना चाहिए। कृषि उत्पादनों का मूल्य अत्यधिक बढ़ जाने तथा ज़मींदारों को अत्यधिक लाभ होने के कारण तथा राष्ट्रनिर्माण के कार्यों में अधिक आय की आवश्यकता होने के कारण **आबियाना** की दर में कुछ वृद्धि उचित होगी। इस प्रकार उत्तर प्रदेश सरकार ने आबियाना दर को दो गुना कर दिया है और पंजाब सरकार ने उसे ५० प्रतिशत बढा दिया है। तो भी यह दर इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि एक विशेष वर्ग पर—जिसमें अधिकतर निर्धन[१] हैं, इसका अधिक भार पड़ जाय।

इसकी दर एक राज्य से दूसरे राज्य में तथा एक नहर से दूसरी नहर में भिन्न-भिन्न प्रकार की है। वह उगाई हुई फ़सलों के अनुसार भी विभिन्नता रखती है; जैसा कि नीचे दिया गया है :—

राज्य का नाम	फ़सल का नाम				
	गन्ना	चावल	गेहूं	कपास	दालें
पंजाब	९) से ११) तक	६॥) से ६॥-) तक	४।) से ४।)७ तक	३॥) से ५।) तक	२॥) से ३।)५ तक
मदरास	७॥) से १२) तक	६।) से १०) तक		३=) से १०) तक	३=) से १०) तक
उत्तर प्रदेश	५) से १२) तक	४) से ७॥) तक	३) से ५) तक	२॥) से ५॥) तक	२॥) से ३।) तक

१. इस विषय पर अधिक वाद-विवाद के लिए देखो Report of the Punjab Abiana Committee, (1933), India Taxation Enquiry Committee, 1922.

ग्यारहवां अध्याय ।

कृषि उत्पाद की बिक्री

१. समस्या का रूप । बहुत समय नहीं हुआ, जब भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था स्वावलम्बी थी । जो कुछ पैदा होता था, वह गांव में या उसके आसपास ही खप जाता था । बिक्री की कोई समस्या नहीं थी । किन्तु अब स्थिति बदल गई है । गांव के अतिरिक्त उत्पादन को दूर के बाज़ारों में बेचा जाता है, और इस प्रकार प्राप्त की हुई रकम से विदेशी माल खरीदा जाता है । इस प्रकार किसान की आर्थिक स्थिति उस रकम पर निर्भर करती है, जो वह अपनी बचत के उत्पादन को बेचकर प्राप्त कर सकने में समर्थ होगा । मूल्यों के ऊपर उसका लेशमात्र भी नियंत्रण नहीं है, जो संसार में पूर्ति तथा मांग के व्यापक अंगों द्वारा निश्चित की जाती है । यदि उसके उत्पादन को ठीक हाथ में दिया जाय, उसके तथा उसके उपभोक्ता के बीच के बिचवैयों के लाभ को कम कर दिया जाय तो उसको अपनी बिक्री से कुछ अधिक मिल सकता है । यह तभी हो सकता है. जब किसान के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर दिया जाय । किसान को प्रत्येक स्थान में बाधाएँ हैं । उसके कार्यों का ऋतु-सम्बन्धी तथा बिखरा हुआ रूप और प्रकृति पर उसकी निर्भरता भारतीय किसान की बाधाएं हैं । इसके अतिरिक्त, उसका अज्ञान, पुरातनपंथी, पूंजी का अभाव, यातायात के त्रुटिपूर्ण साधन तथा अन्य अयोग्यताएँ हैं । हम अब विक्रेता के रूप में किसान की इनमें से कुछ बाधाओं और उन्हें दूर करने के उपायों के सम्बन्ध में विचार करेंगे । कृषि कमीशन ने कहा है, "जब तक वह (किसान) व्यक्तिगत रूप से अथवा अन्य उत्पादकों के साथ मिलकर सामूहिक रूप से बिक्री करने की कला का अध्ययन नहीं करेगा, यह अनिवार्य है कि वह उच्च-कोटि के विशेषज्ञों तथा अपना माल मोल लेने वालों के अत्यन्त व्यापक साधनों के मुकाबले प्रतियोगिता में सदा पीछे रहेगा ।"[1]

उसकी सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसको अपने उत्पादन को अपने अनुकूल स्थान में, अनुकूल समय में तथा अनुकूल शर्तो पर बेचना पड़ता है ।

२. अच्छी बिक्री की आवश्यक बातें । उपज को उत्पादक के अधिकतम लाभ के लिए बेचने के लिए कई परिस्थितियां होनी चाहिएं । प्रथम माल की किस्म अच्छी हो और उसमें कोई मिलावट न हो । कृषि वस्तुओं का उत्पादन किसी एक प्रामाणिक रूप में नहीं किया जा सकता, किन्तु उसके माल के विशुद्ध होने का विश्वास इस प्रकार कराया जा सकता है कि प्रामाणिक बीज का उपयोग किया जाय, फ़सल काटने की ठीक

---

१. Report, Agricultural Commission, page 382.

प्रणाली को अपनाया जाय, उत्पादन के क्रमिक स्तर निश्चित तथा प्रामाणित करके तथा उसको गोदामों में अच्छी तरह रखकर।

अच्छी तरह बेचने की **दूसरी** शर्त है बेचने वाले की रुक सकने की सामर्थ्य। यदि वह रकम की तत्काल आवश्यकता के कारण उसको खेत से उठाते ही बेचना चाहेगा तो बेचने के दबाव के कारण मूल्य गिर जायगा। अतएव यह आवश्यक है कि किसान के पास अपनी मालगुज़ारी चुकाने तथा अन्य आवश्यक खर्चों के लिए पर्याप्त रकम पास में हो। यदि वह किसी महाजन के पास जायगा तो यह उपचार रोग से भी खराब सिद्ध होगा।

अच्छी तरह बिक्री करने के लिए **तीसरी** आवश्यकता है संवाहन तथा यातायात के अच्छे साधनों का अस्तित्व। यदि यह न होंगे तो किसान को विवश होकर भ्रमणशील क्रय करने वालों अथवा ग्राम के बनिये को कम कीमत पर अपना माल बेचना पड़ेगा। किसान को बाजार भाव का भी बराबर पता रहना चाहिए और सब से पास के बाज़ार में उसकी आसानी के साथ पहुंच भी होनी चाहिए।

अंत में सुविधाजनक दूरी पर ऐसी मंडियां होनी चाहिएं, जिनको अच्छी तरह पक्षपात-रहित निरीक्षण में चलाया जाता हो। यदि बाज़ार में स्वेच्छाचारिता चलेगी तो किसान उसका विश्वास नहीं करेगा और अपने माल को उससे कुछ कम सुविधाजनक शर्तों पर भी अपने गांव में ही बेचना पसन्द करेगा।

ग्राम की मंडियां विस्तृत समस्या का भाग हैं। किसान निर्धन है, क्योंकि उसके माल बेचने की प्रणाली दोषपूर्ण है। किन्तु प्रणाली के दोषपूर्ण होने का कारण भी किसान की निर्धनता ही है। इस प्रकार ग्रामीण जीवन की समस्याओं पर सब ओर से आक्रमण करने की आवश्यकता है।

३. वर्तमान प्रणाली। (१) गांवों में बिक्री—प्रत्येक वर्ष में बिकने वाली उपज का अनुपात प्रत्येक व्यक्ति तथा स्थान के विषय में भिन्न होता है। खाद्य फ़सलों की अपेक्षा व्यापारिक फ़सलों का 'आधिक्य' अधिक बिकता है। धनी किसान अधिक अनुपात में अंत में बेच सकते हैं। किन्तु वह फ़सल के समय में थोड़ा परिमाण बेचेंगे। निर्धन किसान सरकार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने तथा सरकार का कर्ज़ा चुकाने के लिए अपने निजी खर्च को काट कर भी अपनी पर्याप्त उपज को बेच देता है।

कृषि-उपज का गांव तथा बाज़ार में जो भाग बिकता है, उसके अनुपात के सम्बन्ध में कुछ सूचना उपलब्ध है। यह अनुमान लगाया गया है कि ६० प्रतिशत गेहूं, ३५ प्रतिशत कपास तथा ७० प्रतिशत तिलहन (तेल के बीज) पंजाब के गांवों में ही बिक जाते हैं।[१]

उत्तर प्रदेश में ८० प्रतिशत गेहूं, ४० प्रतिशत कपास तथा ७५ प्रतिशत तिलहन

२. Hussain—Marketing of Agricultural Produce in Northern India, page 96.

गांव में बेच दिया जाता है। बिहार, उड़ीसा और बंगाल में ८५ प्रतिशत तिलहन तथा ९० प्रतिशत पटसन को गांवों में ही बेच दिया जाता है।[1] "किसानों के ऋणग्रस्त होने अथवा अपने छोटे-छोटे खेतों पर अल्प परिमाण में खेती करने के कारण बाजार में उनकी उपज का अनुपात गांव की अपेक्षा कम जाता है।" संवाहन साधनों की अपर्याप्तता के कारण भी बाज़ार में बेचे जाने वाला अनुपात कम होता है।

गांव में उपज का जो भाग खेती न करने वाले उपभोक्ता के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के मध्य श्रेणी वालों को बेचा जाता है, और उन्हीं के द्वारा यह दूरवर्ती उपभोक्ता केंद्रों में पहुंचता है। यह मध्य श्रेणी वाले या तो गांव के बनिये या फेरी वाले व्यापारी[2] होते हैं, जो या तो स्वयं अपने लिए मोल लेते है अथवा किसी छोटे कस्बे के आड़ती के प्रतिनिधि के रूप में, किन्तु जहां किसान की गर्दन महाजन के हाथ में फंसी होती है, वह अपनी उपज को स्वतन्त्रता से नहीं बेच सकता। तब ऋणी को धनी के हाथ उसकी शर्तों पर अपना माल बेचना पड़ता है। प्रत्येक दशा में यह तथ्य है कि यदि किसान अपने माल को अपने ही गांव में बेचता है तो उसे उसको गाड़ी में रखकर बाज़ार ले जाने की अपेक्षा—फिर भले ही वह बाज़ार कितना ही बुरा क्यों न हो—पर्याप्त कम कीमत मिलती है। किन्तु उसे बाज़ार तक ले जाने के लिए गाड़ी तथा अच्छी सड़कों की आवश्यकता है।

(२) **गांव से बाजार को ले जाना**—"संवाहन साधन प्रायः अत्यन्त कम और खराब होते हैं, उनके कारण न केवल ले जाने का खर्चा बढ़ जाता है, वरन् उनके कारण माल बेचने में छोटे छोटे व्यापारी तथा बिचवैयों की संख्या अधिक होती जाती है। वह कृषि उत्पादन को बाजार में सस्ते किराये पर जल्दी लाकर बाजार में बाधा भी उपस्थित करते हैं।[3] यह कठिनाइयां पहाड़ी जिलों में और भी अधिक बढ़ जाती है, जहां किसान अनाज के व्यापारी की दया पर ही निर्भर रहता है, क्योंकि माल की ढुलाई करने योग्य पशुओं की संख्या उसी के पास होती है। कभी-कभी वह २० प्रतिशत मूल्य तो किराये में ही वसूल कर लेता है, चाहे भले ही बाजार १५ मील के अन्दर अन्दर ही हो।[4]

---

१. गांव के बाज़ार दो प्रकार के होते ह, (१) गांवों में कभी-कभी लगने वाली पैंठ, यह या तो सप्ताह में दो बार या पन्द्रह दिन में लगती है, इसमें फेरी वाले गांव की उपज बेचते हैं। (२) बड़े-बड़े मेले, जो कभी-कभी किसी धार्मिक अवसर पर होते है।

२. यह फेरी वाले मध्य श्रेणी वाले विभिन्न राज्यों में विभिन्न नामों से पुकारे जाते है जैसे पंजाब में ब्योपारी और मध्य प्रदेश में बंजारा, आदि।

३. Mukerjee—Economic Problems of Modern India, Vol. I. page 295.

४. Nanavati and Anjaria—Indian Rural Problem, p. 36.

कृषि उत्पादन को मंडी तक बैल गाड़ियों, ऊंट गाड़ियों या जानवरों पर लाद कर ले जाया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रणालियों से काम लिया जाता है। बंगाल में तथा दक्षिण के समुद्री किनारों के मैदानों में नदी यातायात अब भी महत्वपूर्ण बना हुआ है। उत्तरी भारत में गाड़ी तथा लद्दू पशुओं से प्रायः काम लिया जाता है, मोटर ट्रक का भी उपयोग किया जाने लगा है।

(३) **मंडी**—बहुत कम मंडियां संगठित हैं, संगटन पुराने ढंग के है, उनमें चुंगी या बिक्री या हिसाब के लिए कोई विशेष नियम नहीं हैं। वहां स्थायी माल लाने वाले नहीं होते। वह बहुत छोटी मंडी होती है, जहां केवल **आड़तिया** होता है, जो वहां से माल खरीद कर कुछ बड़ी मंडी में बड़े **आड़तिया** के पास भेज देता है, बड़ा आड़तिया प्रायः छोटे आड़तिया की पूंजी से मदद करता है।

जिन स्थानों में मंडी योग्य उत्पादन गेहूं, कपास, गन्ना, तथा पटसन अधिक पैदा होते है, उनके पास संगठित मंडियां बन जाया करती हैं। इस प्रकार के स्थानों में विशेष प्रकार की फ़सलें पैदा होती हैं और मूल्यों का निर्धारण दूर की मंडियों के चालू मूल्य के अनुसार किया जाता है। ऐसा प्रायः वहीं होता है जिन क्षेत्रों में यातायात की सुविधाएं होती हैं, "इन बड़ी-बड़ी मंडियों में थोक आड़तिया दिखलाई देता है और अनाज के सौदों में सहायता करता है। वह गांव के बनिये या व्यापारी को इस शर्त पर पूंजी देता है कि उसकी आसपास की उपज उसके पास फसल के समय नियमित रूप से पहुंचाई जायगी। बड़े-बड़े नगरों के सराफ़ों तथा निर्यात फर्मो के कमीशन एजेंटों का काम भी करता है। इस प्रकार वह किसान तथा जहाजी मोल लेने वालों के बीच में मध्यम श्रेणी की अनिवार्य कड़ी बन जाता है।"[१]

थोक आड़तिये को **पक्का आड़तिया** भी कहते हैं। वह कच्चे आड़तिया से बिल्कुल भिन्न होता है। कच्चा आड़तिया गांव के किसानों, बनियों, तथा व्यापारियों का एजेंट होता है। **पक्का आड़तिया** किसान विक्रेता के साथ कभी भी सीधा सौदा नही करता। **आड़तिये** के अतिरिक्त कुछ बिचवैये और भी होते है, जिन्हें 'दलाल' कहा ज़ाता है।

मंडियों में सौदे प्रायः इस प्रकार होते हैं, "व्यापारी अथवा बेचने वाला अपना माल एक ऐसे आड़तिये या दलाल को सौंप देता है, जो मोल लेने वाले की ओर से काम करता है। दोनों आड़तिये अपने-अपने हाथ एक कपड़े के अन्दर डालते है और एक दूसरे की उंगली को पकड़ने का यत्न करते हैं। सौदा प्रायः आने के विषय में किया जाता है, क्योंकि रुपयों के सौदे के विषय में मूल्य में कोई मतभेद नहीं होता, इस प्रकार कपड़े के अन्दर तब तक सौदा होता रहता है जब तक वह या तो तय न हो जाय अथवा टूट न जाय। उसके पश्चात् तय की हुई कीमत बेचने वाले को बतला दी जाती है।[२]

१. Ibid., op. cit.
२. Hussain—op. cit., p. 103.

कभी-कभी उपज को सब के बीच में नीलाम कर दिया जाता है। कच्चे आड़तिया का स्थान लेने वाली सहकारिता दुकानें मंडियों में बहुत कम हैं। सौदा समाप्त होते ही कच्चा आड़तिया बेचने वाले को मूल्य चुका देता है, यद्यपि उसको मोल लेने वाले पक्के आड़तिये से तुरन्त मूल्य नहो मिलता। उन आड़तियों के द्वारा यह उपज खुदरा व्या-पारियों, मिलों और निर्यातकों तक जाती है।

४. **वर्तमान प्रणाली की त्रुटियां**। भारत में माल बेचने की वर्तमान प्रणाली की मुख्य त्रुटियां यह हैं—(१) उत्पादन की किस्म अच्छा न होना, (२) यातायात की अपर्याप्त सुविधाएं, (३) बिचवैयों की संख्या का बढ़ते जाना, (४) माल को गोदाम में रखने की सुविधाओं का अभाव, (५) बाजार की धोखाधड़ी। अब उन के विषय में विचार कर उन के उपचारों के सम्बन्ध में भी विचार किया जायगा।

(१) **उत्पादन की किस्म अच्छी न होना**—यद्यपि गत कुछ वर्षों में स्थिति में कुछ सुधार हुआ है तथापि भारतीय उत्पादक की विदेशी बाजारों में ख्याति अच्छी नहीं है, उत्पादन की क़िस्म के अच्छा न होने के कारण यह हैं: (क) बेपरवाही से चुने हुए बीज, (ख) प्राकृतिक आपत्तियां, जैसे रोग, महामारियां, सूखा, अति वर्षा आदि (ग) फ़सल काटने का बाबा आदम के जमाने का तरीका,जिस से अनाज में कंकर मिट्टी भर जाती है, (घ) गोदाम ठीक तौर से रखे जाने की सुविधाओं का अभाव, जिस से अनाज वर्षा, धूल तथा चूहों के लिए खुला रह जाता है, (ङ) जानबूझ कर मिलावट करना और पानी छिड़कना, (च) वर्गीकरण का अभाव।

भारत के समस्त क्षेत्रफल के ९० प्रतिशत भाग में अब भी घटिया किस्म का बीज बोया जाता है। रोगों तथा महामारियों की समस्या की ओर भी अभी तक अधिकांश रूप में ध्यान नहीं दिया गया है, फ़सल काटने की प्रणाली प्राचीन काल से ही दोषपूर्ण चली आ रही है। जब तक फसल मशीन से न काटी जायगी,यह प्रणाली ऐसी ही रहेगी। गोदामों की सुविधा बढ़ाने की दिशा में भी अभी बहुत थोड़ा काम किया गया है। किसान ऐसे गोदाम बनाने के लिए अत्यन्त निर्धन हैं जिन पर,सीलन तथा चूहों का बस न चले, किस्म के घटिया होने का कारण कुछ तो बेईमानी है और कुछ निर्यात के स्थिर किये हुए मान का निम्न होना है। अतएव बेचने वाला अच्छी किस्म के माल को घटिया बना कर बेचता है। कपास में मिलावट को रोकने के लिए पग उठाये जा चुके हैं। इस प्रकार के कानून अन्य उत्पादनों के विषय में भी बनाये बिना उन को किस्म को नहीं सुधारा जा सकता। घरेलू उपभोक्ता की रक्षा के लिए मिलावट के विरुद्ध जिन उपायों से काम लिया गया, वह बहुत प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए।

(२) **वर्गीकरण तथा चिह्न बनाना**—१९३७ की कृषि उत्पादन (वर्गीकरण तथा चिह्न बनाना) अधिनियम (Agricultural Produce, Grading and Marking Act of 1937) जब से पास हुआ है, तब से वर्गीकरण तथा

प्रामाणीकरण की दिशा में कुछ निश्चित काम हुआ है। इस अधिनियम के अनुसार विश्वस्त व्यापारियों को लाइसेन्स देकर उनको यह अधिकार दिया जाता है कि वह सरकारी मार्केटिंग कर्मचारियों के निरीक्षण में कृषि उत्पादनों का वर्गीकरण करें। तब ऐसे उत्पादन पर 'आगमार्क' का लेबल लगा कर बाजार में बिकने को भेज दिया जाता है। इस अधिनियम के परिशिष्ट (Schedule) में फलों, अंडों, घी, आटा, तिलहन, वनास्पति तेल, कपास, चावल, लाख आदि को सम्मिलित किया गया है। आगमार्क के अधीन १९४७ में १० करोड़ रुपये के, १९४८ में १२ करोड़ रुपये के तथा १९४९ में १३ करोड़ रुपये के उत्पादन बेचे गए। इनमें तम्बाकू, घी तथा सन को अधिक ख्याति मिली।[1]

(३) **यातायात की सुविधाएँ**—शाही कृषि कमीशन ने लिखा है कि "गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विश्व की इतनी अधिक उन्नति होने पर भी भारत को रेलों तथा सड़कों के विषय में अब भी एक पिछड़ा हुआ देश समझा जाता है।" भारत में प्रति सौ वर्ग मील में कुल २·८ मील रेल लाइन ही है, जबकि ब्रिटेन में २२·७ मील तथा अमरीका में ८·३ मील हैं। इसके अतिरिक्त भारत में माल के किराये की दर भी कृषि उत्पादनों को बाहर भेजे जाने को अनुत्साहित करती है, जिसका इतने बड़े परिमाण के मुकाबिले में कुछ भी मूल्य नहीं समझा जाता। कम किराये, ठण्डे गोदामों की सुविधाओं तथा प्रामाणिक रखनेवालों की प्रणाली को चलाने से मामलों में कुछ सुधार हो सकता है।

भारत अन्य देशों की तुलना में सड़कों के विषय में भी दरिद्र ही है। उसमें प्रति सौ वर्ग मील में कुल २० मील सड़कें हैं, जब कि ब्रिटेन में २०७, जापान में ३९९ तथा अमरीका में १०१ मील सड़कें हैं। कच्ची सड़कें गर्मियों में धूल वाली तथा ऊंची-नीची और बरसात में कीचड़ तथा दलदल से भर जाती हैं। इसलिए यदि गांव वाला अपने उत्पादन को अपने गांव में ही बेचता है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। विनाशक प्रतियोगिता से बचाने के लिए सड़क तथा रेल सर्विस का ठीक ठीक सहयोग होना आवश्यक है। ब्रिटिश राज्य में जल मार्गों की उपेक्षा की जाती थी। जल द्वारा माल ले जाना सस्ता पड़ता है और उसकी संभावनाएं भी अधिक है।

(४) **बिक्री-सम्बन्धी सूचनाएं**—बिक्री के समाचार मिलते रहने का आरम्भ कर दिया गया है। आकाशवाणी के स्टेशनों से कुछ वस्तुओं के बाजार भावों को प्रतिदिन सुनाया जाता है। किन्तु रेडियो सुनने के यंत्र देश में पर्याप्त नहीं हैं। सरकार के मार्केटिंग अफ़सरों को मुख्य बाजारों के मूल्य मालूम करके उन्हें गांव के बाजारों में भेजना चाहिए।

(५) **बिचवैयों की अधिकता**—किसान तथा उपभोक्ता के बीच में बिचवैयों की बड़ी भारी संख्या है। हम देख चुके हैं कि व्यापारी, कच्चा आड़तिया, दलाल,

---

१. The Indian Year Book, 1951, p. 259.

माल को अधिक समय तक रखने के लिए **खत्तियों** तथा **कोठों** की अपेक्षा संग्रह करने के लिए अधिक उत्तम साधन होने चाहिएं। यदि ऊंची जगह पर सीमेंट के गोदाम बनवा कर उनमें अनाज रखा जाय तो बैंकों द्वारा उस पर धन देने की प्रथा अधिक चल पड़ेगी। महत्त्वपूर्ण **मंडियों** में लाइसेंस वाले गोदामों का होना आवश्यक है। इस प्रकार के गोदाम बनाने के लिए सरकार को सहायता करना आवश्यक है। केवल बम्बई, मध्य प्रदेश, ट्रावन्कोर-कोचीन, और मदरास राज्यों के यहां गोदाम बनाने के अधिनियम बन चुके हैं। गाँवों में सहकारिता समितियां अपने सदस्यों के लिए गोदाम बना सकती हैं।

(७) **धोखा-धड़ी के कार्य**—वर्तमान प्रणाली की एक और कमी है । अनेक प्रकार की ऐसी धोखाधड़ी, जिससे किसान-विक्रेता से उसके विक्रय मूल्य के कुछ भागों को ठग लिया जाता है। यह प्रणाली सुसंगठित मंडियों तक में है। इनमें से कुछ कार्य यह हैं (क) **आड़तिया** और **दलाल** बेचने वाले तथा मोल लेने वाले दोनों की ओर से काम करते हैं, (ख) पर्दे के अन्दर मूल्य तय करना, (ग) गलत तोलना और (घ) अनेक प्रकार के शुल्क।

(क) **कुछ लोग बेचने वाले तथा मोल लेने वाले दोनों की ओर से काम करते हैं** और दोनों से अपना कमीशन लेते हैं। इस प्रकार किसान के स्वत्व को बाधा पहुंचती है।

(ख) **पर्दे के अन्दर मूल्य तय करना**—हम देख चुके हैं कि **आड़तिये** लोग किस प्रकार मूल्य तय करते हैं। बेचने वाले को तब तक पता नहीं चलता जबतक मूल्य तय नहीं हो जाता। इससे उसको विश्वास नहीं होता। क्योंकि दोनों आड़तिये एक ही **मंडी** के होते हैं। मूल्य को खुले आम तय करना चाहिए।

(ग) **गलत तोलना**—देश में अनेक प्रकार के बाट तथा नाप प्रचलित हैं। कभी-कभी उसी बाजार में दो प्रकार के बाटों से काम लिया जाता है—एक मोल लेने के लिए, तथा दूसरा बेचने के लिए। बाटों का एक मान निश्चित करने के लिए विभिन्न प्रान्तों में कई अधिनियम पास किये गए हैं। किन्तु यह बुराई तब भी नहीं मिटी। केन्द्रीय विधान मंडल (Central Legislature) ने १९३९ में एक बाटों का मान निर्धारण अधिनियम (Standards of Weight Act) पास किया था, जिससे सभी प्रान्त एक से बाटों तथा नापों से काम ले सकें। इससे बाजार में कुछ अच्छी स्थिति हो गई और उससे उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों को लाभ हुआ, किन्तु जिन क्षेत्रों में यह अधिनियम लागू है, वहां भी अभी बहुत कुछ काम करना बाकी है। बड़े-बड़े बाजारों में जाने आने के मार्ग में तोलने वाले पुल लगा देने चाहियें, जिनके ऊपर से प्रथम माल लदी हुई और बाद में खाली गाड़ी जाया करें और इस प्रकार बाजार की तोल की जांच हो जाया करे। इससे तोल की धोखाधड़ियाँ पकड़ी जाँयगी।

(घ) **बाजार के शुल्क**—भारत में वर्तमान विक्रय प्रणाली की सबसे बड़ी

बुराई है बेचने वाले पर अनेक प्रकार के शुल्कों का लगाया जाना। गेहूं के लिए समस्त प्रति शत शुल्कों की दर अलग अलग है, जैसे—पंजाब में १।≡) २ से लेकर उत्तर प्रदेश में ३।)१ और मध्यप्रदेश में ३।।।)२ तक। इन्हीं प्रांतों में मोल लेने वाला १।।=)।, १=)८ तथा।-) देता है। यह शुल्क ऊंचा है और बेचने वाले को मोल लेने वाले की अपेक्षा सदा अधिक देना पड़ता है।

यह शुल्क कमीशन, पल्लेदारी, तुलाई, इनाम, धर्मादा (मंदिर या गोशाला के लिए) आदि का योगफल होते है। बेचने वाला यदि सहकारिता दुकानों द्वारा बेचे तो वह उनमें से कम से कम आधे शुल्कों को बचा सकता है। बेचने वाले को माल लेने वाले के नौकर, उसके दलाल और उसके दानकार्यो के लिए क्यों देना चाहिये? व्यर्थ के शुल्कों को गैर-कानूनी बनाकर अन्य शुल्कों में एकरूपता उत्पन्न करनी चाहिये। नियमित बाजारों में इस उद्देश्य को प्राप्त करने के यत्न किये गए हैं। किसान को नगर-प्रवेश कर (Octroi duties) या चुगी, मार्ग से अन्त्य कर (Terminal taxes) और मार्ग-कर (Toll tax) भी देने पड़ते हैं। गेहूं रिपोर्ट (Wheat report) के अनुसार यह कभी-कभी समस्त उत्पादन के ४ अथवा ५ प्रतिशत तक होते हैं। अंत में वह बढ़े हुए मूल्यों के रूप में उपभोक्ताओं द्वारा चुकाये जाते है। किन्तु प्रथम बार वह बेचने वाले की जेब से आते हैं, जो उसके ऊपर एक बोझ है। म्युनिसिपैलिटियों को चुकाई जाने वाली चुंगी (Octroi duty) वर्ष भर में डेढ़ करोड़ रुपये से कम नहीं होती।

गेहूं रिपोर्ट में कहा गया है कि मोल लेने वाले पर लगाए हुए शुल्क प्रतियोगिता के बल पर प्रथम बार में ही कम मूल्य चुकाने के द्वारा बेचने वाले के जिम्मे डाल दिये जाते हैं। "किसान को चुंगी कर तथा अन्य करों द्वारा म्युनिसिपैलिटी की सड़कों की साज-संभाल तथा नगर के अन्य खर्चों के लिए देना ही पड़ता है। उसको नगर के बच्चों की शिक्षा तथा पारमार्थिक संस्थाओं को चलाने के खर्चे को भी देना पड़ता है, जबकि उनसे उसको सीधे कोई लाभ नहीं पहुंचता।"

५. **नियमबद्ध मंडियाँ।** किसान को वर्तमान प्रणाली की बुराइयों से बचाने के लिए साधारणतया दो सुधारों का प्रस्ताव किया जाता है। उनमें से एक है, बम्बई के नमूने पर नियमबद्ध मंडियों की स्थापना तथा दूसरा है सहकारिता संस्थाओं द्वारा उनके माल की बिक्री। इन दोनों सुझावों को पहले ही किसी न किसी मात्रा में कार्यरूप में परिणत किया जा चुका है।

नियमबद्ध मण्डी सबसे प्रथम १८९७ में बरार में कपास के लिए खोली गई थी। कृषि कमीशन ने सुझाव दिया था कि इसी प्रकार की मंडियां अन्य क्षेत्रों में भी खोली जाँय। बम्बई ने एक अधिक विस्तृत कानून—बम्बई कृषि उत्पादन मण्डी अधिनियम (Bombay Agricultural Produce Markets Act) बनाया था। हैदराबाद राज्य, मदरास, मध्यप्रदेश, मैसूर तथा पंजाब में भी उसी प्रकार के कानून १९३९

चौदहवाँ अध्याय

अकाल और खाद्य समस्या

१. **भूमिका**। अभी हाल ही की आपत्ति तक, जिसने बंगाल पर दांत गड़ाए थे, सामान्यतः यही कहा जाता था कि "भारत में वर्तमान सदी के आरम्भ से लेकर अकाल" खाद्य-सम्बन्धी अकाल नही हैं, प्रत्युत केवल द्रव्य-अकाल हैं। इस का अर्थ यह है कि यदि लोगों को रोज़गार या दान देकर उन के हाथों में द्रव्य दे दिया जाय, तो भूखों मरने का भय नहीं रहता। यह इसलिए कि खाद्य न केवल भारत के ही, बल्कि विश्व के चारों कोनों से अभाव के क्षेत्रों में यातायात किया जा सकता है। सामान्य समयों में अब भी यह सत्य ही होगा। बंगाल का अकाल युद्ध द्वारा उत्पन्न हुई कतिपय विशेष अवस्थाओं के कारण हुआ था।

भारत में चिरकाल से दुर्भिक्ष होते आये है। हिंदू-काल में दुर्भिक्ष हुए ही होंगे, किंतु उनके विषय में विवरण देने के लिए हमें लेख्य (Records) उपलब्ध नहीं।

मुस्लिम-काल में, देश में अनेक अकाल पड़े, जिनमें से चार का तो भीषण रूप था। पहला अकाल १३४३ में, मुहम्मद तुग़लक के राज्य-काल में हुआ। अकबर के शासनकाल में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा था, जो तीन या चार वर्ष तक देश भर में फैला रहा। शाहजहां के समय में सबसे बड़ा अकाल पड़ा था, जिसका भारतीय इतिहास में जोड़ नहीं। एक और अकाल औरंगज़ेब के समय में हुआ था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में (१७६०-१८५७) बारह अकाल पड़े और चार भीषण दुर्लभताएं हुई। सन् १७७०, १७८४, १८०२ और १८३७ में भीषणतम अकाल पड़े थे। समष्टिरूप में कम्पनी का दृष्टिकोण व्यापारिक विचारों द्वारा निश्चित होता था।

१८५८ में, भारत ताज (Crown) की अधीनता में हो गया। उस तारीख और उस सदी के अन्त तक के मध्य-काल में अनेक दुर्भिक्ष हुए और यही वह समय था, जबकि अकाल से मुक्ति पाने के लिए नीति निर्धारित की गयी थी और उसे पूर्ण किया गया था। इस काल के मुख्य अकाल इस प्रकार पड़े: (१) १८६०—उत्तर-पश्चिम भारत; (२) १८६५—उड़ीसा; (३) १८६८—राजपुताना; (४) १८७८-बिहार; (५) १८७६-७८—दक्षिण भारत; (६) १८९६-९७—बम्बई, मदरास, मध्य प्रदेश, (७) १८९९-१९००—बम्बई, मध्यप्रदेश, बरार, निज़ाम राज्य और मध्य भारत।

२. अकाल—उनके कारण और इलाज। अकाल के प्रकट कारण इस प्रकार हैं: वर्षा का न होना, बाढ़ें, टिड्डियां और पौधों की बीमारियां। भारतीय कृषि को वर्षा में जुआ कहा जाता है। यदि वर्षा बहुत कम हुई अथवा बहुत ज्यादा, तो अकाल फैलने की अवस्थाओं की आशा हो जाती है। जंगलों की अंधाधुन्ध कटाई के फलस्वरूप देश के अनेक भागों में बाढ़ें आई और उनके कारण पैदावार को भारी क्षति पहुंची। इससे बढ कर, पौधों की बीमारियां भी बड़ी भारी आफ़त हैं। १९४७ में मध्य भारत में गेहूं को मुर्चा लगने से सारी फसल ही नष्ट हो गयी थी। जब टिड्डियां हमला बोलती है, तब तो एक भी पौधा अछूता नहीं बचता। इन विपरीत प्राकृतिक अंशों के मुकाबले में, भारतीय किसान अपने को सर्वथा असहाय महसूस करता है।

भारत में अकालों का वास्तविक और आधारमूलक कारण लोगों की आर्थिक रूप में पिछड़ेपन की दशा है। भारत ऐसी गरीबी का शिकार है, जिसकी समूचे विश्व में मिसाल नहीं। हमारे पास, अकाल पड़ने पर न तो सुरक्षित कोष है, और न ही उसे रोकने की हममें शक्ति है। मूलतः खाद्य-अकाल से बढ़कर यह द्रव्य-अकाल है।

इसका इलाज क्या है ?—अकाल के उपचार के लिए उन सब उपायों का उल्लेख किया गया है, जो भारतीय कृषि के पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक है। विशेष रूप से हमें बाढ़ों को रोकने के लिए प्रभावकारी उपाय करने चाहिएं। इससे अधिक, संपूर्ण ग्राम-क्षेत्रों में बड़े-छोटे सिंचाई-कार्यो का जाल-सा बिछा देना चाहिए, ताकि सम्पूर्ण कृषि-क्षेत्र को पानी की पूर्ति का विश्वास हो जाय। यदि मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ उन्नत हो जाती हैं, तो विपरीत मौसम की पहुँच के विरुद्ध कुछ किया जा सकता है। टिड्डियों की महामारी की खोज की जानी चाहिए और उन के सिर उठाने से पूर्व ही उन्हें नष्ट कर देना चाहिए। तिस पर नवीन वैज्ञानिक विश्व में पौधों की बीमारियां और कीड़ों का सफलतापूर्वक उपचार करना कोई कठिन कार्य नहीं होना चाहिए। किंतु, जब तक गरीबी का दैत्य नष्ट नहीं होता, तब तक कोई भी सफलता नहीं हो सकती।

३. अकाल-सहायक नीति का विकास। अकाल-सहायक नीति की दृष्टि से १८६५, १८७६-७८, १८९६-९७ और १८९९-१९०० के अकाल विशेष महत्वपूर्ण थे।

१८६५ के उड़ीसा के अकाल के अवसर पर इस आफ़त का मुकाबला करने के लिए राज्य द्वारा सर्वप्रथम और संगठित चेष्टा की गई थी।[1] किन्तु १८७६-७८ के दक्षिण भारतीय अकाल के बाद ही वह अवसर हुआ कि जब सर रिचर्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में (Great Famine Commission) बृहद् अकाल कमीशन की स्थापना की गई। इसी कमीशन की सिफारिशों के आधार पर बाद में, अकाल-सहायक-

१. Indian Year Book, 1941-42, p. 373.

नीति का निर्माण किया गया। अकाल-सहायता के निम्न सिद्धान्त थे, जिन्हें कमीशन ने उपस्थित किया था :–

(१) स्वस्थ-शरीर वाले लोगों को सहायता के लिए सन्तोषजनक मजदूरी पर सहायता कार्यों में रोज़गार दिया जाना चाहिए और शर्त यह हो कि वह उपयुक्त कार्य को सही-सही करेंगे।

(२) जो लोग काम करने के अयोग्य हों, उन्हें उनके गांवों या दरिद्रालयों (Poor Houses) में मुफ्त सहायता दी जाय।

(३) खाद्य की पूर्ति निजी संस्थाओं पर छोड़ दी जाय, सिवा उस स्थान के कि जहां पूर्ति और मांग में असमानता हो; और

(४) जिन वर्गों के पास भूमि है, उन्हें ऋणों द्वारा सहायता दी जाय और पैदावार नष्ट होने के अनुपात से लगान की छूट दी जाय।

इन सिद्धान्तों के आधार पर प्रान्तीय नियम बनाये गए और १८९६-९७ और १८९९-१९०० के अकालों की परीक्षा की गई तथा अनुभव के अनुसार उनमें संशोधन किया गया।

इस बीच, १८७८ में, सरकार ने सालाना बजट में वार्षिक डेढ़ करोड़ रु. की अकाल-बीमा-अनुदान (Famine Insurance Grant) नियत किया। "इस अनुदान पर पहला खर्चा अकाल-सहायता का था, दूसरा संरक्षित कार्यों का और तीसरा ऋण चुकाने का था।"[1]

१८९६-९७ के अकाल पर अकाल-विधियों को लागू किया गया, सहायता-कार्य में जो सफलता हुई, वह अभूतपूर्व थी। इस अकाल के अनन्तर, सर जेम्स लॉयल की अध्यक्षता में अकाल कमीशन ने परिस्थिति का निरीक्षण किया और जुलाहों तथा पर्वतीय आदिवासी सरीखे विशेष वर्गों को सहायता की सिफारिश की; कमीशन ने परोपकारी कोषों के प्रबन्ध के लिए नियम बनाए और मुफ्त सहायता देने का समर्थन किया। कमीशन ने सहायता कार्यों के विकेन्द्रीकरण के विस्तार का भी समर्थन किया। इस अकाल से लोग अभी स्वस्थ भी नहीं हो पाये थे कि १८९९ में एक और भीषण दुर्भिक्ष पड़ गया, जो १९०० तक जारी रहा।

सर एन्थोनी मैक्डानल्ड की अध्यक्षता में एक और अकाल कमीशन १९०१ में नियत की गयी। कमीशन ने 'नैतिक शक्ति" अथवा लोगों के दिल मजबूत बनाने की महत्ता पर जोर दिया। कमीशन ने निम्न प्रकार की सहायता की सिफारिश की : खतरा टलते ही शीघ्रातिशीघ्र तकावी ऋण दिये जाँय; भूमि लगान की फौरी छूट दी जाय, "विवेकपूर्ण दृढ़ता" की नीति को अपनाया जाय, जिसमें सहायता के लिए विस्तृत योजना

१. Ibid p. 375.

सम्मिलित हो; निरन्तर जागरूकता रखी जाय और गैर-सरकारी सहायता प्राप्त की जाय। कमीशन ने चारे की समस्या को हस्तगत करने की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया, ताकि पशु-धन की रक्षा हो सके। इससे भी आगे, कमीशन ने सिफारिश की कि सहकारिता समितियां शुरू की जाँय और संरक्षित कार्यों के रूप में राज्य-सिंचाई के कार्य का भी विस्तार किया जाय।

अकाल-सहायक नीति की प्रगति के साथ-साथ राज्य ने अकालों के विरुद्ध संरक्षण के भी उपाय किये। पूर्व-कथित, अकाल बीमा सहायता में से संरक्षित रेलों और संरक्षित सिंचाई के कार्यों का भी निर्माण किया गया।

४. सहायता की वर्तमान विधि। अकाल सहायता के ढंग के विषय में भी, जो वर्तमान में है, अब कुछ शब्द कहे जा सकते है। इस समय, अकाल पड़ने पर, उसका सामना करने के लिए सारी योजना सरकार के हाथों में है। अकाल पड़ने की सीमा के 'संकेतों' (Signals) पर कड़ी निगाह रखी जाती है अर्थात् वर्षा के न होने पर, पशुओं के मारे-मारे फिरने पर, खाद्यों की ऊंची कीमतों पर, छोटे-छोटे अपराधों और निजी दान के संकोचन पर। यही नही कि तभी कार्यवाही की जाती है, जब वास्तव में अकाल पड़ ही जाय, प्रत्युत उससे पूर्व ही तैयारियां कर ली जाती है। (क) सामान्य समयों में सरकार को अन्तरिक्ष सम्बन्धी अवस्थाओं और पैदावार की हालत के विषय में निरन्तर सूचना दी जाती है; उपयुक्त सहायता-कार्यो का कार्यक्रम पूर्ण तैयार रहता है; देश को सहायता क्षेत्रो में अंकित कर लिया जाता है; और औज़ारों तथा साधनों का सुरक्षा रूप में संग्रह कर लिया जाता है। (ख) यदि वर्षा न हुई, तो तत्काल ही नीति की घोषणा कर दी जाती है, गैर-सरकारी लोगों को दर्ज किया जाता है, लगानों की छूट दे दी जाती है, और कृषि उद्देश्यों के लिए ऋण दिये जाते हैं। इसके बाद परीक्षण-कार्य खोले जाते हैं, और यदि मजदूर पर्याप्त मात्रा में आकर्षित होते हैं, तो उन्हें विधि-सिद्धांतों के आधार पर सहायता कार्यो मे बदल दिया जाता है। दरिद्रालय खोल दिये जाते है और काम न कर सकने योग्य लोगों को मुफ्त सहायता दी जाती है। (ग) वर्षा आरम्भ होने पर लोग बड़े-बड़े कामों से हटकर अपने गांव के निकट छोटे कामों में आ जाते हैं। किसानों को हल, पशु और बीज खरीदने के लिए उदारतापूर्वक पेशगियां दी जाती हैं। (घ) जब मुख्य पतझड़ की फसल पक जाती है, तो शेष बचे कुछ कामों को धीरे-धीरे बन्द कर दिया जाता है और मुफ्त सहायता के कार्य समाप्त हो जाते है। (ङ) इस सारे समय में चिकित्सा विभाग हैज़ा का मुकाबला करने के लिए तैयार रहता है, क्योंकि हैज़ा और मलेरिया बहुधा अकाल के साथ ही आते हैं, और वर्षा हो जाने से उनका रूप भयंकर हो जाता है।"[१]

हाल ही के बंगाल के अकाल तक इस ढंग पर पूर्ण सफलता के साथ काम हुआ।

---

१. Indian Year Book, 1943-44, pp. 326-27.

हमें बतलाया गया था, "अकाल पुरानी भीषणता के रूप में पड़ने बन्द हो गए हैं।" इसके संभवतः यही कारण थे कि यातायात के साधनों से दुर्लभता के क्षेत्रों में खाद्य भेजे जा सकते थे और सरकार की ऊपर लिखित मशीनरी सहायता-कार्य के लिए तैयार रहती थी। किंतु १९४३ के बंगाल के अकाल में सहायता का यह ढंग असफल रहा।

बंगाल अकाल ने देश में खाद्य स्थिति की गम्भीरता को केवल अंकित-मात्र किया था। वर्तमान स्थिति को, १९४३ की बंगाल की स्थिति का महज विस्तृत रूप ठहराया जा सकता है। अब हम सब से महत्वपूर्ण समस्या—खाद्य समस्या पर विचार करते हैं।

हमारी खाद्य समस्या

५. समस्या की गम्भीरता। केवल १० ही वर्ष पहले कौन सोच सकता था कि हमारी खाद्य स्थिति इतनी भयंकर हो जायगी ? किंतु खाद्य की समस्या ने इस समय देश की अन्य सब समस्याओं को ढक-सा लिया है। वस्तुतः, इसी को भारत की **एकमात्र समस्या** कहा जा सकता है। हम केवल 'जीने भर' को अन्न पा रहे हैं। यदि, केवल अस्थायी रूप में ही, पूर्ति रोक दी जाय, तो भारत भर में बंगाल सरीखा ही अभिनय पुनः हो जाय। यहां तक कि इस से हमारे नव-जात राष्ट्र को भी खतरा है। यदि इसका कठोरतापूर्वक और सामयिक इलाज नहीं होता, तो संभव है, भारत भी चीन का ही मार्ग अपनाये। इसलिए, हमारे राज-नीतिज्ञों और लोगों के लिए यह चुनौती है। वास्तव में यह आश्चर्य की ही बात है कि एक कृषि-प्रधान देश अपने ही लोगों को अन्न खिलाने के योग्य न हो और वह विदेशों की पूर्ति पर ही जीवन-यापन कर रहा हो।

खाद्य-समस्या एक अन्य रूप में भी गम्भीर है। इस के कारण हमारी सारी प्रगति रुकी हुई है, क्योंकि यही नहीं कि भारतीय सरकार केवल इसी समस्या के प्रति नितान्त चिंतित है, प्रत्युत यह समस्या हमारे विदेशी संतुलन को भी हड़प किये जा रही है, कि जिसे देश की आर्थिक प्रगति के लिए आयातों में प्रयुक्त किया जा सकता था।

६. हमारी खाद्य-समस्या का रूप। हमारी खाद्य समस्या के अनेक पहलू हैं, और यदि हमने उसे सफलतापूर्वक हथियाना है, तो यह आवश्यक है कि हम उन सभी पहलुओं को देख जाँय। यह केवल न्यूनता या परिमाण का प्रश्न नहीं; यह गुण विषयक भी है। यही नहीं कि हमारे पास अल्प खाद्य है, प्रत्युत असंतुलित खाद्य भी है। यह प्रबन्ध-विषयक समस्या भी है, अर्थात् देश में खाद्य का जो उत्पादन होता है, उसका न तो उचित वितरण होता है, और न ही उपयोग। हमारी खाद्य समस्या के मूल में आर्थिक प्रश्न है। अब हम इस समस्या के भिन्न अंगों पर विचार करते हैं।

७. खाद्य न्यूनता—परिमाणात्मक अंग। भारत में अनेक लोगों को यह प्रतीति कराना कठिन है कि भारत इतना खाद्य उत्पन्न नहीं करता, जो उसके लोगों के लिए पर्याप्त हो। यदि किसी प्रकार की प्रत्यक्ष न्यूनता है, तो वह उसे किसान की स्वार्थपरता

बतलाते हैं, उसे चोर-बाजार करने वालों की नीचता बतलाते हैं, और उसे सरकार की अयोग्यता के मत्थे मढ़ते हैं। महात्मा गांधी का निश्चित मत था कि भारत में सबके लिए पर्याप्त खाद्य है और नियंत्रणों ने बनावटी न्यूनता को उत्पन्न कर दिया है।

आइये, इस वस्तु-स्थिति पर विचार करें। १८८० की अकाल कमीशन ने सूचना दी थी कि भारत में ५० लाख टन खाद्य-अन्नों का वार्षिक आधिक्य होता है। कुछ समय तक, शायद सिंचाई की उन्नति ने जन-संख्या की वृद्धि और उपलब्ध खाद्य-पूर्ति के बीच एक प्रकार की समता स्थिर कर रखी थी। किन्तु जान पड़ता है कि जनसंख्या ने खाद्य पूर्ति को पछाड़ दिया। मूल्य जांच कमेटी (Prices Enquiry Committee) ने १९१४ में सूचित किया था कि "खाद्य-अन्नों के योग उत्पादन की अपेक्षा आंतरिक खपत के लिए खाद्य-अन्नों की आवश्यकताओं में अधिक अनुपात से वृद्धि हो गई है।" फलस्वरूप मलथूसियन सिद्धान्त लागू होना शुरू हो गया है और जनसंख्या और खाद्य की पूर्ति के बीच संतुलन नहीं रहा। वर्तमान सदी के ३० वर्षों के बाद १९३१ में जनसंख्या का इंडैक्स ११७ था (आधार १९०१), जबकि कृषि क्षेत्रों का इंडैक्स ११६ था। इस प्रकार जनसंख्या ने खाद्य-पूर्ति पर विजय पा ली थी और उसे पीछे छोड़ती जा रही थी। १९३१–४१ के दस वर्षों में परिस्थिति और भी हीन हुई। जहां खाद्य-अन्नों के क्षेत्र में १·५% की वृद्धि हुई, वहां जनसंख्या में १५% की वृद्धि हुई। और अब तो जनसंख्या ने खाद्य-पूर्ति को बहुत ही पीछे छोड़ दिया है। हमारे देश में जनसंख्या में आधिक्य के कारण मृत्यु-अनुपात ऊंचा है, गरीबी छाई हुई है, शारीरिक दुर्बलता है, आयु-अनुपात थोड़ा है, रोगों का चक्र चलता रहता है और अकाल के चिह्न दीख पड़ते हैं।

खाद्य उत्पादन से जनसंख्या बढ़ गई है। भारत खाद्यों के लिए शुद्ध आयात करने वाला बन गया है और प्रतिवर्ष १५ लाख और २० लाख टनों के बीच आयात करता है। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार भारत अपने लोगों के १२% से अधिक को खाद्य नहीं दे सकता। खाद्य की मांग और पूर्ति के बीच भी खाई निरन्तर चौड़ी होती जाती है। १९४८ में आयात २८ लाख टन थीं, १९४९ में ४० लाख टन हुईं, १९५० में ३७ लाख टन हुईं और १९५१ में ५३ लाख टन हुईं। १९५२ में ७० लाख टन की खाई है। यह अनुमान संदिग्ध जान पड़ता है। उत्पादन के अनुमान को निम्न रूप में आंकना अथवा खपत को आधिक्य रूप में आंकने की एक प्रवृत्ति हो गई है।

हाल ही की राजनीतिक घटनाओं ने भारत में खाद्य-समस्या को और भी गंभीर बना दिया है। १९३७ में बर्मा के अलग होने से हम चावल से वंचित हो गए और विभाजन ने हमसे चावल और गेहूं, दोनों ही छीन लिये। एकड़ों की न्यूनता के साथ और उससे भी अधिक सिंचाई क्षेत्रों की न्यूनता से हमें आनुपातिक अधिक जनसंख्या को खिलाने के लिए कहा गया। हमें असली जनसंख्या के ७८% को ६९% चावल उत्पादन और ६६% गेहूं उत्पादन से पालन करना होता है और गेहूं का सिंचित-क्षेत्र केवल ५४% है। इससे

आगे, चूंकि रुई और जूट के क्षेत्र पाकिस्तान को चले गए थे, इसलिए हमें रुई और जूट का भी अधिक उत्पादन करना था। जो बात हमारी परिस्थिति को अधिक गंभीर बनाती है, वह है, घोर अनुपात से हमारी जन-संख्या में वृद्धि होना।

८. **अपर्याप्त पोषण अथवा गुण-विषयक रूप।** जब लोग खाद्य-समस्या के विषय में सोचते हैं तो सामान्यतः वह उसके पारिमाणिक रूप पर विचार करते हैं, किन्तु गुण-विषयक रूप भी कम महत्व का नहीं। भारत में लोगों को केवल अल्प-भोजन ही नहीं मिलता, बल्कि उन्हें पोषण-तत्त्व भी अल्प ही मिलते हैं, क्योंकि उनकी खुराक असंतुलित है और वह पोषण-तत्त्वों के न्यून अंशों से बनी होती है, यद्यपि यह सम्भव है कि खाने की दृष्टि से उन्हें पर्याप्त रूप में मिल जाता है। सर जान मेगा की जांच से प्रकट हुआ है कि भारत में केवल ३०%लोगों का पर्याप्त रूप में परिपोषण होता है, ४१%का दरिद्रता-पूर्वक और २०%का बहुत बुरी अवस्था में परिपोषण होता है। हाल ही की जांचों ने भी भारत में लोगों के अपर्याप्त पोषण के विषय में जोरदार शब्द कहे हैं। पोषण परामर्शदातृ कमेटी (Nutrition Advisory Committee) ने एक सौ आदर्श ग्रामों और शहरी दलों की पड़ताल की थी और उसकी जांच के अनुसार मालूम हुआ कि, "लगभग ३०% परिवार जो कैलरियां (Calories–उष्ण तत्त्व) ग्रहण करते हैं, वह आवश्यकता से अल्प हैं और, यहां तक कि जब खुराक परिमाण में पर्याप्त भी होती है, तो उसका संतुलन भद्दा होता है; उसमें मसालों का आधिक्य होता है और अधिक पोषक-तत्त्वों के "संरक्षण खाद्य" अपर्याप्त होते हैं। दूध, दालें, मांस, मछली, सब्जियां और फल सामान्यतः अपर्याप्त रूप में प्रयुक्त होते हैं।" भारत में प्रति अंश दूध की खपत केवल ७ औंस है, जबकि ग्रेट ब्रिटेन में ३९, डेनमार्क में ४०, न्यज़ीलैंड में ६७, और फिन्लैन्ड में ६३ है।

अपर्याप्त पोषण का अनिवार्य परिणाम मृत्यु-अनुपात का अधिक होना है, विशेषकर बच्चों और शिशु जनने वाली स्त्रियों की मृत्युएं अधिक होती है। इसके अतिरिक्त अपर्याप्त पोषण के फलस्वरूप बेरी-बेरी (जलंधर), रिकैट (बच्चों का रोग) और विभिन्न रक्त-विषयक रोग तथा अन्य अनेक रोग हो जाते हैं, जिनसे बाढ़ रुक जाती है और दुर्बलता बढ़ती है और अन्ततः जीवन अल्प होता है।

९. **प्रशासन रूप।** प्रशासन की अयोग्यता और लचीलेपन से खाद्य-न्यूनता की समस्या अधिक गंभीर हो जाती है। आतंक और व्याकुलता के कारण उत्पादन करनेवाला उत्पाद से जुदा नहीं होना चाहता। नेताओं और सरकारी अफसरों के भय उत्पन्न करने वाले भाषण किसानों को उत्पादनों के साथ चिपके रहने की प्रेरणा करते हैं। अनुचित लाभ का ख्याल दबोच रखने को प्रोत्साहन देता है, क्योंकि किसान को आशा होती है कि कीमतें अभी और भी चढ़ेंगीं। साधारण व्यापार के मार्गों की रुकावट ने आंतरिक खाद्य-भण्डारों को स्थिर रखने की प्रवृत्ति कर दी है। इस प्रकार हमारी खाद्य-समस्या इतनी गंभीर न

होती, बशर्ते कि उसे प्रशासन-दृष्टि से योग्यता, ईमानदारी और रफ्तार के साथ हथियाया गया होता ।

१०. आर्थिक रूप । जैसा कि हम पूर्व ही कह चुके हैं, कि आर्थिक दृष्टि से हमारी खाद्य-समस्या सबसे निचले स्तर पर है । सार-रूप में यह खाद्य-अकाल की अपेक्षा द्रव्य-अकाल है । भारतीय जनसाधारण में पर्याप्त क्रय-शक्ति का अभाव है और इसमें आश्चर्य की भी बात नहीं कि वह आधे भूखे ही रहते हों । खाद्य समस्या का समाधान करते समय भारतीय जन की गरीबी की समस्या हमारे सामने आ जाती है ।

११. हमें क्या करना चाहिए । खाद्य-समस्या के भिन्न रूपों का अध्ययन कर चुकने पर अब हम यह कहने की स्थिति में है कि उसकी पकड़ के लिए हमें क्या करना चाहिए । पहली अवस्था में, खाद्य-न्यूनता को आयात द्वारा पूर्ण करना ही चाहिए और उसके साथ ही, सब सम्भव उपायों से घरेलू उत्पादन को बढ़ाना चाहिए । हमें कृषि की वृद्धि और विस्तार के सब साज़ो-सामान का तब तक पूर्ण उपयोग करते रहना चाहिए, जब तक कि आत्मनिर्भरता न हो जाय । यह आत्म-निर्भरता न्यूनतम राशन तक ही सीमित न होकर, बेहतर पोषण स्तर तक होनी चाहिए । कृषि में क्रांति किये बिना और अपनी धरती के आमूल-सुधार के बिना हम आत्म-निर्भरता के ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकते, जबकि देश की जनसंख्या भी भयंकर गति से बढ़ती जा रही है । खाद्य-उत्पादन में वृद्धि करने के लिए तात्कालिक कार्य छोटे-छोटे सिंचाई-कार्यो को उन्नत करना है । "यह सचाई के साथ कहा जा सकता है कि सिंचाई की समस्या बाहरी वृहत् योजनाओं में से है; किन्तु बड़ी योजनाओं में रुपया फंसेगा और सिंचाई में बाधा होगी ।"[१]

इसके बाद अपर्याप्त पोषण की समस्या है । इसलिए, यही नहीं कि खाद्य-उत्पादन में केवल वृद्धि ही करनी है, बल्कि उसे उन्नत भी करना है, ताकि वह पौष्टिक और पोषक-तत्त्वों से पूर्ण हो । अनाजों के अलावा, हमें सब्ज़ियों और फलों के उत्पादन को अधिक करना चाहिए । हमें अपने पशु-धन का पूरा उपयोग करना चाहिए ताकि हमें अधिक मांस और दूध की वस्तुएं प्राप्त हो सकें । हमें मछली के कारोबार को भी उन्नत करना है और मुर्गी-पालन को संभव सीमा तक प्रोत्साहन देना है । खाद्य-पूर्ति का सम्बन्ध राष्ट्रीय स्वास्थ्य और योग्यता से जोड़ना है । १९४५ की अकाल कमीशन की रिपोर्ट में मि. अफ़ज़ल हुसैन ने अपना मतभेद प्रकट करते हुए कहा है, "खाद्य-नीति का लक्ष्य केवल भूख की तृप्ति ही नहीं होना चाहिए, प्रत्युत पूर्ण स्वास्थ्य ।"

इससे बढ़कर, प्रशासन को भी कसना पड़ेगा । राशनिंग की अवधि को भी बढ़ाना होगा । कीमत-नियन्त्रण-उपायों को प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करना होगा । प्राप्त करने की विधि को योग्य बनाना होगा । यदि हमें अपने सीमित खाद्य-साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग

१. The Eastern Economist, August 12, 1949, p. 233.

करना है, तो चोर-बाजारी का अन्त करना ही होगा और दबाने तथा अनुचित लाभ को घोरतम अपराध ठहराना होगा ।

अन्ततः, हमें अपनी धरती से दरिद्रता को उखाड़ फेंकना चाहिए । संभव है, इसके लिए वर्तमान आर्थिक-नियम में ही मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता हो । ऊंचे ढंग के औद्योगीकरण की आवश्यकता है और कृषि को, जो इस समय केवल जीवन का सहारा है, व्यापारिक समस्या में बदलना ही होगा । और सबसे अधिक, हमें जन-संख्या की उन्नत होती हुई लहर को रोकने के लिए कुछ करना चाहिए और उसे उचित संख्या पर स्थिर कर देना चाहिए ।

१२. अब तक हमने क्या किया है । दिसम्बर १९४२ में खाद्य-विभाग इस उद्देश्य से जारी किया गया कि वह खाद्य-अन्नों की कीमतों, पूर्ति और वितरण पर नियंत्रण करे और शहरी तथा फौजी क्रयों को शृंखलाबद्ध बनाये रहे । इस विभाग को अखिल भारतीय आधार पर खाद्य-उत्पादन के कार्य का भी पीछा करना था । खाद्य-विभाग को प्राप्त करने, यातायात करने और आधिक्य के प्रान्तों से खाद्य-अन्नों को लेकर न्यूनता के प्रान्तों में वितरण करने के प्रबन्ध भी करने होते थे । जुलाई, १९४३ में खाद्य-अन्न नीति कमेटी (Foodgrains Policy Committee) की स्थापना की गई । उसने निम्न सिफारिशें कीं : केन्द्रीय खाद्य-अन्न संरक्षण (Central Foodgrains Reserve) की रचना के लिए निर्यात को रोक दिया जाय, आयात की जाय, खाद्य प्राप्ति के लिए संगठन किया जाय, खाद्य-पैदावार के आवागमन की प्राथमिकता प्राप्त करना, एक लाख या इससे अधिक की जनसंख्या वाले नगरों में राशनिंग जारी करना और अनुचित लाभों के लिए छिपाने वालों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाहियां करना । एक बहुत ही महत्वपूर्ण सिफारिश "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन की थी । सरकार ने सिफारिशों को मान लिया और अपनी खाद्य-नीति का रूप तदनुसार बना लिया ।

सरकार की खाद्य-नीति का अध्ययन दो भागों में हो सकता है : (१) "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन, १९४३–४७; और (२) पंचवर्षीय खाद्य-योजना, १९४७–५२ ।

१३. 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन, १९४३-४७ । 'अधिक अन्न-उपजाओ' आन्दोलन में निम्नलिखित उपाय सन्निहित थे :—

१. खाद्य फसलों के क्षेत्र में कृषि होती हुई बंजर धरती सहित नयी धरती को शामिल करके वृद्धि करना, दोहरी फसल करना और धरती को खाद्येतर फसलों से खाद्य वाली फसलों में बदलना । निम्न उपायों द्वारा अधिक धरती को खेती के लिए बनाने का प्रोत्साहन दिया गया : ब्याज रहित ऋणों से, एक साल के लिए बिना लगान के पट्टों से, मालगुज़ारी में बट्टा देने से, सिंचाई के लिए मुफ्त या रियायती दर पर पानी की पूर्त्ति से, सस्ती दरों पर बीज की पूर्ति से, काश्तकारी कानून में संशोधन के द्वारा ।

२. वर्तमान सिंचाई की नहरों के विस्तार और उन्नति से पानी की पूर्ति में वृद्धि करने और अतिरिक्त कुओं की खुदाई से।

३. खादों के उपयोगों का विस्तार किया गया।

४. बढ़िया किस्म के बीजों की पूर्ति द्वारा वृद्धि की गई।

तदनुसार, राज्यों से कहा गया कि वह नयी धरती के काम को अपनायें, सिंचाई साधनों की मरम्मत करे और उन्हें विस्तृत करें, कुएं खुदवायें, बढ़िया बीजों का उपयोग करें, हरी खादों के उपयोग में वृद्धि करें और इनके अतिरिक्त अन्य उपाय करें कि जिनसे आन्दोलन गतिशील हो सके। इस सम्बन्ध में अन्य जिन उपायों की सिफारिश की गई थी, वह इस प्रकार थे: भारतीय पशु-धन के रिक्तीकरण को रोका जाय, ट्रैक्टरों तथा अन्य कृषि प्रसाधनों की आयात की जाय, किसानों को ईंधन दी जाय, फसल उत्पादन की प्रविधि बनाई जाय, कृषि-योग्य व्यर्थ भूमि को कृषि के लिए अनिवार्य किया जाय, कृषि-विषयक अनुसन्धान की योजनाओं को उन्नत किया जाय, जो खाद्य-उत्पादन की तात्कालिक न्यूनता के लिए खोज का कार्य करें।

इस सम्बन्ध में जो यत्न किये गए, उनके विषय में निम्न तथ्यों से कुछ धारणा बनाई जा सकती है : लगभग ५० लाख टन खली, ४·२ लाख टन सल्फेट आफ अमोनिया (नौसादर), २०·८ लाख टन मिली-जुली खाद और लगभग ९ हज़ार टन (जी. एम.) बीज वितरण किये गए। छोटे-छोटे सिंचाई कार्यों को भी किया गया : ६४ हज़ार कुओं की खुदाई हुई, ५०० ट्यूब वैल (कुएं) बनाये गए, ३ हज़ार तालाब तथा २२००० अन्य साधन तय्यार किये गए। इसके अतिरिक्त तीन लाख टन बीज भी वितरित किये गए।

परिणाम क्या हुए ?—आन्दोलन और ऊंची कीमतों के लिए अधिक उत्पादन की प्रेरणा होते हुए भी कोई उल्लेखनीय परिणाम हस्तगत नहीं हुआ। इन उपायों के विषय में संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि 'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया'। देश की खाद्य स्थिति में किसी प्रकार की ठोस उन्नति के बजाय, हमें मालूम होता है कि वह अधिकाधिक गिरती जा रही है। इस तथ्य के बावजूद भी कि इस अवधि में खाद्य फसलों के लिए ९० लाख एकड़ भूमि में वृद्धि हुई और २५ लाख मन खाद्य-प्राप्ति में भी वृद्धि हुई।

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन क्यों असफल हुआ ? इसके सामने अनेक कठिनाइयां थीं : रुई के क्षेत्र में न्यूनता के कारण बिनौलों में कमी हो गई, जो कि पशुओं का महत्वपूर्ण चारा है। करोड़ों रुपये खर्च करने के बावजूद, अकाल कमीशन के कथनानुसार, सिंचाई क्षेत्र में नाम को भी वृद्धि नहीं हुई, क्योंकि इन विभागों के पास आदमियों की कमी थी, सामान और मशीनों की प्राप्ति में कठिनाइयां थीं और शिक्षित मजदूरों की न्यूनता थी। सिंचाई, हमारी सबसे बड़ी कठिनाई रही है। खाद्य अन्नों के क्षेत्र का २५% ऐसा है, जिसमें सिंचाई का विश्वस्त प्रबन्ध है और ७५% मौसम और भारतीय वर्षाऋतु पर निर्भर करता है। १९४५-४६ में, मदरास में समय पर बरसात न होने से 'अधिक अन्न

उपजाओ' आन्दोलन के अनुसार किया-कराया धरा-धराया रह गया । इसी प्रकार, १९४६—४७ में, गेहूं को कीड़ा लग जाने से मध्यप्रदेश की गेहूं की सम्पूर्ण फसल नष्ट हो गई।

जहां तक उपायों का सम्बन्ध है, उस दिशा में भी बहुत ही थोड़ी प्रगति हुई। धरती पर दबाव के कारण हरी खाद में भी कोई प्रगति नही हुई, केवल छोटे परिमाण में हड्डियों की खाद उपलब्ध है । खाद के स्थान पर खली को पशुओं के चारे में इस्तेमाल किया जा रहा है । सस्ते ईंधन के अभाव में किसान को गोबर जलाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। यह संभव नहीं हो सका कि हम खादों की उतने परिमाण में आयात करें, कि जितने की हमें आवश्यकता है। अंतर्राष्ट्रीय एमर्जेंसी फूड कौंसिल उन्हें देती है, और जितना हमने मांगा था, उसका केवल ५०% हमें मिला । यह एक बड़ी भारी कमी है ।

कृषि-सम्बन्धी औज़ारों को बनाने और बदलने के लिए भी इस्पात और लोहे की पूर्ति में न्यूनता हो गई है । जितने ट्रैक्टरों की हमें आवश्यकता थी, उतनी संख्या की आयात कर सकना सम्भव नहीं हुआ। इसके बाद यातायात सम्बन्धी कठिनाइयां हैं।

इन सबसे बढ़कर 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन केवल ८० लाख एकड़ों पर ही तो है, जबकि खाद्य-अन्नों का उत्पादन १६ करोड़ एकड़ों पर होता है; इस प्रकार यह केवल ५% हुआ। इसलिए वर्तमान अवस्थाओं में विशिष्ट प्राप्ति की आशा व्यर्थ है।

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के फीके परिणामों से हमें शिक्षा मिलती है— भारतीय खाद्य समस्या का अंतिम निराकरण इस आन्दोलन में व्यवहृत उपायों की दिशा में नहीं है । यह आन्दोलन केवल वर्तमान जनसंख्या के लिए वर्तमान कमी की समस्या के विषय में कार्य करता है। इसका रूप केवल इतना ही था कि उससे देश को फौरन ही लाभ हो और वह भीषण भुखमरी से बच जाय। इसके लिए न तो कोई योजना थी और न ही लक्ष्य । अपनी खाद्य समस्या के अंतिम निराकरण के लिए हमें नई खाद्य नीति और निश्चित योजना की आवश्यकता है ।

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन की असफलता के फलरूप, सितम्बर १९४७ में एक और खाद्य-अन्न नीति कमेटी नियत की गई । उसे इस सम्पूर्ण प्रश्न का निरीक्षण करना था और उचित नीति की तजवीज़ करनी थी। ३१ दिसम्बर, १९४७ को कमेटी ने अपनी अंतरिम रिपोर्ट में 'प्रगतिशील अनियंत्रण" की नीति की सिफारिश की थी! जो भी हो, यह नीति बुरी तरह असफल हुई और पुनः-नियंत्रण की नीति को अपनाना पड़ा।

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के विषय में कमेटी की राय थी कि, "जो उपाय किये गए थे, निस्सन्देह, वह सही दिशा में थे, किन्तु ध्येय अत्यधिक छितरे हुए थे, यत्न भी अपर्याप्त ही थे, और अधिकांश क्षेत्रों में उत्साह और गति का अभाव था।" कमेटी की राय थी कि इच्छित परिणामों के लिए मौलिक परिवर्तन और नई उत्पादन नीति की ज़रूरत है।

कमेटी ने भारत में खाद्य-उत्पादन की पंचवर्षीय-योजना की सिफारिश की। उसने यथासम्भव अल्पकाल में, प्रति वर्ष १ करोड़ टन खाद्य-अन्नों की वृद्धि की भी सिफा-

रिश की, ताकि देश निरन्तर अभाव, अकाल और आयातों पर निर्भर न रहे।

१४. पंचवर्षीय खाद्य-योजना, १९४७–४८ से १९५१–५२ तक। १९४७-४८ की खाद्य-अन्न नीति कमेटी की सिफारिश के अनुसार खाद्य-उत्पादन की पंचवर्षीय योजना बनाई गई। पांच वर्ष की समाप्ति पर, खाद्य के उत्पादन में ३० लाख टन की वृद्धि हो जानी है। प्रत्येक राज्य को एक निश्चित अंश सौंपा गया है।

योजना की मुख्य बातें निम्न है: (१) 'अधिक अन्न उपजाओ' के अन्तर्गत पानी निकालने के कुएं, सिंचाई के ट्यूब वैल (कुएं), पानी खीचने के बरमे, तालाब और नहरें, धरती को उन्नत करने के कार्य, जिनमें नालियां बनाना, बांध बनाना और सुधार भी सम्मिलित है; (२) 'अधिक अन्न उपजाओ' के अन्तर्गत खली, हरी खादों, उन्नत बीजों, यांत्रिक प्रसाधनों सहित खादें हैं। सरकार की संशोधित खाद्य नीति के अन्तर्गत 'अधिक अन्न उपजाओ' की जगह एक ऐसा कार्यक्रम बनाना है, जिसके अनुसार खाद्य के उस क्षेत्र में गहरी खेती की जाय कि जहां पानी की पूर्ति का निश्चय हो। ६० लाख एकड़ भूमि को सुधारने का प्रस्ताव किया गया है, जिससे २० लाख टन अतिरिक्त खाद्य की प्राप्ति की आशा है। सरकार ने यह भी निश्चय किया है कि गैर-अनाज खाद्य फसलों अर्थात् केलों, शकरकंदी और पपाया की अधिक प्राप्ति और उन्नति के लिए प्रोत्साहन दिया जाय। सहयोग के लिए जमींदारों और किसानों के संघ स्थापित करने की तजवीज़ की गई है, ताकि जनतंत्र के तत्त्व को लागू किया जा सके। इस योजना पर २८२ करोड़ रु० खर्च होगा।

१५. योजना की सफलताएं। सभी राज्यों में खाद्य उत्पादन को युद्ध-स्तर पर किया जा रहा है। सभी दिशाओं में गंभीरतापूर्वक प्रयत्न हो रहे हैं। लाखों कुएं खोदे जा रहे है और छोटे-छोटे सिचाई के काम हो रहे है और पूर्ण किये जा चुके हैं। लाखों एकड़ अर्थहीन भूमि का सुधार किया जा रहा है, हजारों टन बढ़िया बीजों और खादों का वितरण किया जा रहा है। ट्रैक्टरों द्वारा कृषि विस्तार किया जा रहा है। मैसूर में ४३ हजार एकड़ को दोहरी फसल का कर दिया गया है। उड़ीसा में अर्थहीन धरती को सुधारने के लिए २५ रु० प्रति एकड़ देने को कहा गया है। सौराष्ट्र में संयुक्त कृषि और बेहतर कृषि समितियों का संगठन हो रहा है। मदरास में लैंड कॉलोनाइज़ेशन सोसायटी बनाई गई है, जिसने उस भूमि पर कृषि-कार्य आरम्भ किया है, जिसे सरकार ने सुरक्षित जंगल-क्षेत्रों से मुक्त किया है। संयुक्त प्रांत ने तकावी ऋणों की सहायता से संबन्धित नियमों को सरल कर दिया है और अधिक अन्न उत्पादन में मुकाबिलों का संगठन किया है। इसके फलरूप ५८ मन १३ सेर प्रति एकड़ की प्राप्ति की गई है, जबकि भारत में प्रति एकड़ केवल ८ मन की औसत है। हम क्या प्राप्त कर सकते हैं, यह उस विषय में एक प्रकार का संकेत है। पंजाब में ६ हजार एकड़ से अधिक अर्थहीन भूमि को सुधारा गया है और ५ हजार से अधिक भूमि पर यांत्रिक-कृषि हो रही है। अन्य उपायों के अन्तर्गत फसलों की रक्षा के लिए बन्दूकें जारी करना और ग्राम तथा शहरी

क्षेत्रों में संयुक्त उत्पादन को प्रोत्साहन देना है ।

अप्रैल, १९५१ में, मि०के.एम. मुन्शी ने पार्लियामेंट के सदस्यों को एक सर्कुलर-पत्र भेजा था, जिसमें 'अधिक अन्न उपजाओ' के यत्नों के विषय में संक्षिप्त अंकन किया था। जनसंख्या में वृद्धि के कारण अन्नों के लिए नियत प्रति अंश क्षेत्र में, जबसे विभाजन हुआ है, १०%की न्यूनता हो गई है, हालांकि अन्न उत्पादन के क्षेत्रों में ३५ लाख एकड़ की वृद्धि हुई है । बंजर भूमि के क्षेत्र में १ करोड़ ९ लाख एकड़ की वृद्धि हो गई और उसके कारण हैं; शरणार्थी आन्दोलन, पंजाब और हैदराबाद की अशांत स्थिति और जमींदारी हटाये जाने के भय से भूमि को पकड़े रहने की इच्छा ।

१९४९–५० और १९५०–५१ के लिए खाद्य-उत्पादन के जो लक्ष्य नियत किये गये थे, वह न्यूनतम ८·१ लाख और १४ लाख टन तक क्रमशः प्राप्त किये जा चुके हैं। उनमें उतार-चढ़ाव के लिए १५% का सीमान्त रखा गया था। १९५१–५२ का लक्ष्य १४ लाख टन का था। १९५०–५१ के दोनों वर्षों में प्राकृतिक आपदाओं के कारण भारत के खाद्य-उत्पादन की गति में बाधा हुई। १९५१ का मौसम विशेष रूप से प्रतिकूल था। पश्चिमी भारत की लम्बी पंक्ति में वर्षा की न्यूनता थी, मदरास में मौनसून देर करके आई, आसाम में बाढ़ें आई और बंगाल, संयुक्तप्रांत और मध्य प्रदेश में सूखा रहा। दिसम्बर, १९५१ में मि० देशमुख ने कलकत्ता के एसोसिएटेड चैबर्ज आव् कामर्स (व्यापार मंडल) को बतलाया था कि अधिक अन्न उपजाओ से जो लाभ हुए थे, उनसे तीन गुना अधिक हानियां प्राकृतिक आपदाओं के कारण हुई और संकोच के साथ इन दो वर्षों का अनुमान ९० लाख टन किया जा सकता है । इस प्रकार १९५२ की आशा भी फीकी थी। एक करोड़ टन वार्षिक की आवश्यकता के विपरीत ३० लाख टन प्राप्ति नियत की गई और इस तरह ७० लाख टन की खाई रह गई । आत्म-निर्भरता का ध्येय पहले की तरह ही अब भी बहुत दूर है। १९५०-५१ में खाद्य आयात २१ लाख टन की हुई और १९५१–५२ में ५० लाख टन आयात की आशा है ।

भारतीय खाद्य-समस्या के विषय में मि० जयरामदास दौलतराम, भूतपूर्व खाद्य मंत्री का कहना है, "जब तक हम यह नहीं मान लेते कि इस देश में सिंचाई की केवल बड़ी-बड़ी योजनाएं ही पूर्ति का कार्य नहीं करतीं, अथवा जब तक हजारों-लाखों ट्यूब वैल पानी की असीम-पूर्ति नहीं करते, और जब तक लाखों एकड़ नई भूमि पर कृषि नहीं होने लगती, तब तक बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को १-२ वर्ष में पूर्ण करना संभव नहीं, क्योंकि जनसंख्या ४०लाख प्रतिवर्ष बढ़ रही है।" १९५१ की जन-गणना के अनुसार प्रति अंश कृषि का क्षेत्र ०·७७ एकड़ है। पाकिस्तान और जापान में ०·६८ एकड़ और ०·२१ एकड़ क्रमशः हैं। ब्राज़ील में प्रति अंश ७·५९ एकड़, रूस में ४·३८ एकड़, अमरीका में ७·४३ एकड़ और चीन में १·५ एकड़ हैं। इस दबाव को आर्थिक प्रगतियों की विधियों से दूर करना चाहिए और खाद्य-आत्म-निर्भरता की दिशा में प्रति एकड़ में से अधिकाधिक प्राप्ति करनी चाहिए।

पन्द्रहवाँ अध्याय

राज्य का कृषि से सम्बन्ध

१. **भूमिका** । भारत जैसे कृषि-देश में, जहां का किसान आर्थिक रूप में दरिद्र और मानसिक रूप में पिछड़ा हुआ है, कृषि-प्रगति का कर्त्तव्य राज्यों के कन्धों पर गिर जाता है । भारतीय कृषि के विषय में जो कार्य राज्य को करने होते हैं, उनके विषय में हम पहले ही विचार कर चुके हैं । ऊपर कहे गए आधार-मूलक कृत्यों को छोड़कर, राज्य ने सिंचाई के बड़े-बड़े कार्यों का निर्माण किया है; सड़कों और रेलों का जाल बिछाया है; वह कृषि की उन्नति के लिए उधार देती है (चाहे सीमित स्तर पर ही); वह सहकारिता आन्दोलन को चलाती है और वह उसका नियंत्रण और देखरेख करती है; और उसने साहूकार और ज़मींदार की लूट से किसान की रक्षा के लिए अनेक कानून बनाये हैं । इस के अतिरिक्त, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और पशुओं की चिकित्सा के विभागों द्वारा वह किसान और उसकी चल संपत्ति की रक्षा करती है, और स्वास्थ्य-सम्बन्धी उन्नति करती है । पशुओं के लिए, सरकार ने पशुओं की नसल बढ़ाने के लिए क्षेत्रों की स्थापना की है और उनका प्रबन्ध करती है । शिक्षा-विभाग भी ग्राम-क्षेत्रों में अक्षर-ज्ञान फैलाने के लिए छोटा-मोटा कार्य करता है । तिस पर भी, राज्य की कतिपय ऐसी कार्यवाहियां हैं, जिनपर अभी विचार करना बाकी रहता है ।

(क) **कृषि की विधियों में उन्नति करने के सम्बन्ध में कार्य-कलाप**—उनके विषय में मुख्यतः प्रान्तीय कृषि विभाग कार्य करते हैं और केन्द्रीय सरकार की संस्थाएं उन्हें बहुमूल्य सहायता प्रदान करती है । इनमें निम्न सम्मिलित हैं : (१) रोगों, औज़ारों, खादों और बीजों से सम्बन्धित कृषि अनुसन्धान; (२) कृषि विषयक शिक्षा, जिसका उद्देश्य, कृषि अनुसन्धान के लिए कार्यकर्त्ता, कृषि विभागों के लिए अधिकारी और क्रियात्मक किसान पैदा करना है; और (३) प्रचार द्वारा अनुसन्धान, बीजों तथा औज़ारों आदि के वितरण से प्राप्त परिणामों को लोक-प्रिय बनाना ।

(ख) **ग्राम-पुनर्निर्माण**—इस कार्यकलाप में सरकारी और ग़ैर-सरकारी, दोनों यत्नों के लिए विस्तृत क्षेत्र है । इसका उद्देश्य ग्राम-जीवन के भौतिक, मानसिक और नैतिक स्तर को उन्नत करना है । यह उपयुक्त साधनों द्वारा ग्रामीण तक उन लाभों के क्रियात्मक रूपों को लाता है, कि जो सरकार के विभिन्न व लाभदायक विभागों से उसे प्राप्त हो सकते है ।

(ग) **अकाल सहायक नीति**—इसका उद्देश्य फसल न होने, अभाव, या समय पर

वर्षा न होने अथवा अन्य किसी कारण से फसल की बर्बादी से उत्पन्न हुए कष्टों में ग्राम-वर्गों को सहायता देना है।

(घ) **मालगुजारी की नीति**—इसका सम्बन्ध मुख्यतः इससे नहीं कि राज्य कृषि को क्या देता है, प्रत्युत इससे है कि राज्य उससे क्या मांग करता है। किन्तु कृषि-विषयक संकट के समय, इसका रूप सहायता का भी हो सकता है। राज्य मालगुज़ारी में न्यूनता कर सकता है, उसे स्थगित कर सकता है, अथवा लौटा सकता है।

२. **कृषिनीति** । कृषि के प्रति चिरकाल तक भारत सरकार की नीति उदासीनता और उपेक्षा की रही है। १९ वीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में, भारत में भीषण अकालों के कारण, सरकार को भारतीय कृषि की बुराइयों के विषय में परीक्षण करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। १८८०, १८९०, और १९०१ की अकाल कमीशनों और १९०३ की सिंचाई कमीशन ने भारत में कृषि की उन्नति के विषय में रचनात्मक तजवीज़ें उपस्थित कीं। किन्तु सरकार की नीति मुख्यतः ऊपरी बातों तक ही सीमित थी अर्थात् मालगुज़ारी में छूट, अकालों में सहायता, तकावी ऋणों का देना आदि। १८८९ में शाही कृषि समिति (Royal Agricultural Society) के डा० ने. ए. वोयलकर की रिपोर्ट ने भारतीय कृषि की समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया और साथ ही उन उपायों की तजवीज़ भी की कि जिनके द्वारा उनका हल हो सकता था।

वर्तमान सदी के आरम्भ में, जान पड़ता था कि सरकार ने अपनी उदासीनता की वृत्ति का परित्याग कर दिया था और वह सक्रिय कार्य करने को उद्यत थी, जिसके प्रमाण में उसने १९०४ की सहकारिता विधि (Co-operative Act) को स्वीकार किया। १९०५ में कृषि के केन्द्रीय और प्रान्तीय विभागों की स्थापना की, और १९०६ में अखिल भारतीय कृषि-सेवा के लिए (All India Agricultural Service) विधान बनाया। १९१९ से, जबसे कृषि राज्य का विषय बन गया, केन्द्रीय सरकार ने अपने कार्यकलापों को राज्य सरकारों के कार्यों का "निरीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण" करने तक सीमित कर लिया।

१९३७ में, प्रान्तीय स्वायत्त शासन (Provincial Autonomy) के प्रादुर्भाव से, मंत्रियों ने पर्याप्त उत्साह उत्पन्न किया, किन्तु अधिकांश प्रान्तों में मंत्री-मंडल अल्पकाल तक ही रह सके और उन्होंने अपना ध्यान काश्तकारी सुधार और ऋणी किसानों की सुरक्षा जैसी समस्याओं तक ही सीमित रखा, और कृषि कार्यवाहियों की उन्नति के लिए कोई खास कार्य न हुआ। सारांश यह कि कृषि-क्षेत्र में सरकार के कार्य-कलापों से कोई खास भाव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि कृषि की उन्नति के लिए सरकार के व्यय का कुल योग, भारत में कृषि की जाने वाली भूमि के क्षेत्र और उसमें लगी जन-संख्या को दृष्टि में रखते हुए, बहुत ही थोड़ा है। द्वितीय विश्व-युद्ध ने कृषि की समस्या को सर्वोपरि उपस्थित कर दिया। भारत की विदेशी खाद्य-अन्नों पर दयनीय निर्भरता ने हमारी

सरकार में अभूतपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न की और उस आपत्ति का सामना करने के लिए निश्चित कार्य किये जा रहे हैं। खाद्य-उत्पादन ने सर्वोच्च प्राथमिकता ग्रहण कर ली है, और प्रायः सभी राज्यों में "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन के लिए होनेवाले कार्यों के अतिरिक्त बड़े-बड़े विकराल सिंचाई साधनों का निर्माण हो रहा है। हमारी समस्या कृषि को आर्थिक घाटे के बदले आधिक्य में बदलने की है और इस प्रकार इस प्राचीन और महत्वपूर्ण उद्योग का पुनर्निर्माण करना है। आवश्यकता से मुक्ति की प्रतीक्षा की जा सकती है,किन्तु क्षुधा से मुक्ति की प्रतीक्षा नहीं हो सकती। कृषि-नीति के विषय में एक नवीन अध्याय आरम्भ करने की आवश्यकता है, जिसमें केन्द्रीय सरकार को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सक्रिय कार्य करना चाहिए।

दोनों युद्धों के बीच, किसान के लिए विशेष महत्वपूर्ण घटना कृषि के विषय में शाही कमीशन की स्थापना थी। इसलिए, इस कमीशन के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है।

३. कृषि पर शाही कमीशन। १९२६ में एक शाही कमीशन नियत की गई, जिसे ब्रिटिश भारत की वर्तमान कृषि अवस्थाओं और ग्राम सम्बन्धी आर्थिक दशा का निरीक्षण करना था और रिपोर्ट करनी थी। इसके अलावा, कमीशन को कृषि की उन्नति के लिए और ग्रामों की जनसंख्या के हित और मुख्य साधनों के लिए सिफारिशें करनी थीं।

कमीशन ने १९२८ में एक विस्तृत रिपोर्ट जारी की। कमीशन ने जो सिफारिशें की थीं, उनका क्षेत्र बहुत विस्तृत था और उनमें अनेक इस प्रकार के विषय सम्मिलित थे: भू-संपत्ति के टुकड़े और सब-डिवीजन (उप-विभाग), चल संपत्ति, सिंचाई, मार्केटिंग, सहकारिता, ग्रामशिक्षा और ग्राम पुनर्वास के विषय में उन्नति। सामान्यतः, यह कहना चाहिए कि सिफारिशों का उद्देश्य कृषि उत्पादन के सम्पूर्ण क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक योग्यता उत्पन्न करना था। किसान के लिए कृषि को अधिक लाभदायक व्यापार बनाने के निमित्त, कमीशन ने किसान के दृष्टिकोण को अधिक विस्तृत करने की आवश्यकता और कृषि-प्रगति को प्रोत्साहन के लिए सरकार द्वारा प्रेरणा की महत्ता पर ज़ोर दिया। उनकी तजवीज़ों में आधारमूलक एक तजवीज़ यह थी: "ग्राम समस्या के विभिन्न अंगों को समष्टि रूप में एक ही साथ अपनाना चाहिए।" शाही कमीशन की बहुत ही महत्वपूर्ण सिफारिश, कृषि अनुसन्धान की शाही कौंसिल (Imperial Council of Agricultural Research) के निर्माण के विषय में थी।

४. राज्य कृषि विभागों के कृत्य।[1] कृषि को उन्नत करने का कार्य मुख्यतः

---

१. विभिन्न प्रान्तों में हुए कार्य का विस्तृत अध्ययन करने के लिए रिज़र्व बैंक आव इंडिया द्वारा प्रकाशित State Aid to Agriculturists in India, पढ़ें।

राज्य सरकारों का है, केन्द्रीय सरकार तो केवल श्रृंखला-बद्ध करने का साधन-मात्र है और वह राज्य सरकारों को आवश्यक प्रोत्साहन देती है, उनका संचालन और निर्देशन करती है।

कृषि के राज्य विभागों के मुख्य कृत्यों में निम्न की देख-रेख और नियंत्रण भी सन्निहित हैं, (क) कृषि विषयक शिक्षा, (ख) कृषि विषयक अनुसंधान, (ग) प्रदर्शन और प्रचार, (घ) कौशल विषयक प्रगतियां और (ङ) उन्नत बीजों, औज़ारों, बनावटी खादों आदि का वितरण।

अब हम इन पर विस्तृत विचार करते हैं।

५. **कृषि विषयक शिक्षा।** कृषि में विभिन्न स्तरों पर शिक्षा दी जाती है। प्रारम्भिक रूप में, प्राकृतिक अध्ययन द्वारा कृषि के एकांगी दृष्टिकोण से शिक्षा दी जाती है। बम्बई में, कृषि-विषयक मिडिल स्कूल खोले गए हैं, जिनमें कृषि सम्बन्धी क्रियात्मक शिक्षा दी जाती है और शिक्षार्थियों से आशा की जाती है कि पाठ्यक्रम को समाप्त कर वह अपनी ज़मीनों पर कार्य करेंगे। पंजाब सरीखे कुछ राज्यों में वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों और हाईस्कूलों में कृषि को एक विषय के रूप में पढाया जाता है। कृषि में एफ. एस.-सी. करने की भी गुंजायश रखी गयी है। वैज्ञानिक कृषि में उच्च-पाठ्यक्रम के लिए पूना, कोयम्बटोर, नागपुर और कानपुर में कृषि कालेज भी हैं। लायलपुर कालेज (पश्चिमी पंजाब) के मुकाबले में लुधियाना (पंजाब) में भी कालेज शुरू किया गया है। कृषि में पोस्ट ग्रेजूएट की शिक्षा के लिए इंडियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली में शिक्षा दी जाती है। इन कालेजों ने कृषि विभागों में प्रशासन कार्यों के लिए स्टाफ (कार्यकर) दिये हैं, किन्तु नवीन किसान तो उन्होंने इना-गिना ही पैदा किया है।

एग्रीकल्चरल कालेजों में, सैद्धान्तिक और क्रियात्मक, दोनों ही प्रकार की शिक्षा दी जाती है। वह कृषि समस्याओं के विषय में अनुसन्धान भी करते हैं। यह अनुसन्धान या तो स्वतन्त्रतापूर्वक होते हैं अथवा, किसी विषय की निखिल भारतीय महत्ता होने पर, इंडियन कौंसिल ऑव् एग्रीकल्चरल रिसर्च के निर्देशन में किये जाते हैं। इन अनुसन्धानों का सम्बन्ध अधिक प्राप्ति की दृष्टि से बीजों की किस्मों और फसल के रोगों तथा सूखे के विषय में और बेहतर खादों तथा औज़ारों के विषय में होता है। इसके बाद, इन अनुसन्धानों के परिणाम का कालेज से सम्बन्धित क्षेत्र में प्रयोग किया जाता है।

६. **कृषि विषयक अनुसन्धान।** शाही कमीशन की सिफारिश के अनुसार, १९२९ में इम्पीरियल (अब भारतीय) कौंसिल ऑव् एग्रीकल्चरल रिसर्च की स्थापना की गई थी। इसका उद्देश्य "सम्पूर्ण भारत में कृषि अनुसन्धान को उन्नत करना, निर्देशन करना और श्रृंखला-बद्ध करना, और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों और विदेशों में कृषि अनुसन्धान के साथ संपर्क करना था।" यह वैज्ञानिक सूचना के लिए क्लियरिंग हाऊस के रूप में कार्य करती। यह कौंसिल दो संस्थाओं द्वारा कार्य करती है: (अ) एक प्रबंधक

संस्था, जो कोष आदि तथा अन्य प्रश्नों का प्रबन्ध करती है, और (आ) एक परामर्शदातृ संस्था, जो अनुसन्धान के प्रस्तावों का परीक्षण करती है और प्रबन्धक संस्था के समक्ष उपस्थित करती है।

कौंसिल, स्वीकृत आधार पर अनुसन्धान के लिए कृषि के राज्य-विभागों और विश्व-विद्यालयों को निश्चित उद्देश्य के लिए सहायता प्रदान करती है। सामान्यतः, कौंसिल सीधे जांच का कार्य नहीं करती, किन्तु दो मामलों में उसने सीधे नियंत्रण का कार्य किया है। वह यह है: उत्पादन का मूल्य, विशेष कर कपास और गन्ने का और (२) कृषि विषयक प्रयोगों का सैनिक दृष्टि से नियंत्रण। कौंसिल की अनेक योजनाओं पर विभिन्न संस्थाओं ने कार्य किया। रसल-रिपोर्ट के शब्दों में, "बहुत विस्तृत क्षेत्र पर प्रारम्भिक कार्य किया जा चुका है।" रिपोर्ट ने सिफारिश की थी कि "अब वह समय आगया है, जबकि कौंसिल के कार्य-कलापों पर पुनरुदय की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। वर्तमान समय की बड़ी आवश्यकता "अधिक ज्ञान प्राप्ति की अपेक्षा वर्तमान ज्ञान से अनुसन्धान शाला में प्रयोग न करके, किसानों के खेतों में काम करने की है।"

रसल रिपोर्ट की सिफारिशों के अनुसार, कृषि अनुसन्धान की कौंसिल ने वर्त-मान में उपयुक्त होने वाले प्रदर्शन और प्रचार के परीक्षण का कार्य आरम्भ किया है। कौंसिल ने एक योजना उपस्थित की है, जो "योजना रीति" कहलाती है, जिसका उद्देश्य परीक्षित उन्नतियों के सम्पूर्ण दल को, एक ही साथ लागू करना है, और यह भी देखना है कि उन सबका संयुक्त प्रभाव किसान और भूमि पर क्या होता है। किसान स्वयं इन प्रग-तियों के आधार पर, सरकारी अधिकारियों की देख-रेख में, कार्य करेगा।

कौंसिल की ओर से, अनुसन्धान के परिणामों को विस्तार देने के लिए एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है।

कौंसिल ने ग्राम-जीवन को उन्नत करने के लिए और भारतीय कृषि तथा पशु-पालन को अधिक लाभदायक बनाने के लिए अर्थपूर्ण कार्य किया है। इसने श्रृंखलाबद्ध अनु-संधान का संगठन किया और ऐसी ग्रामयोजनाएं चालू कीं, जिनका सम्बन्ध कृषि और पशुपालन के सभी महत्वपूर्ण अंगों से था। क्षेत्रीय कमेटियां बनाई गई हैं, जो क्षेत्रीय समस्याओं के प्रति ध्यान आकर्षित करेंगी।

लगभग १·२५ करोड़ रुपये खर्च करके यह गत २० वर्षों में उन्नत किस्म के चावलों, गेहूं तथा अन्य अन्नों के उत्पादन का कारण बनी है, और उनके द्वारा लगभग २९ करोड़ रुपये की प्राप्ति हुई है। चावल की सिंदूरी किस्म में परिवर्तन कर देने से चावलों में जंगली घास की बुराई से सफलतापूर्वक पिंड छुड़ाया गया है और उसके फलरूप, मध्य प्रदेश के अकेले छत्तीसगढ़ डिवीजन में २० लाख मन धान की पैदावार हुई। ऐसी किस्म का गेहूं तैयार किया गया है, जिसे कीड़ा न लग सके। गेहूं के कीड़े ने बहुत बड़े क्षेत्रों को उजाड़ दिया है और वार्षिक हानि का अनुमान ६ करोड़ रुपये किया जाता है। जहां तक

छोटे अनाजों का सम्बन्ध है, ज्वार में २० प्रतिशत और बाजरा में ३० प्रतिशत अधिक प्राप्ति की गई है। मक्की के विषय में भी कार्य आरम्भ कर दिया गया है। दालों में ऐसी किस्में तैयार की गई हैं, जो मुरझा न सकें और चने की चुनी हुई क़िस्मों से स्थानीय किस्म की अपेक्षा १० से ३० प्रतिशत अधिक प्राप्ति हुई है। कई राज्यों में फलों के उत्पादन की योजनाएं भी चालू की गई हैं। प्राणिक और निष्प्राणिक खादों, क्षेत्रीय खाद, पशुओं के गोबर, हरी खाद और तिलहनों से भिन्न फसलों के ५ हजार प्रयोगों की जांच की गई है। संयुक्त प्रांत और काश्मीर में नौसादर से प्राप्ति में ७० प्रतिशत की वृद्धि हुई है; खली द्वारा अधिकतम वृद्धि हुई है अर्थात् ११० से १९० प्रतिशत; हरी खाद की भारी लागत से (६० से ८० पौंड नाइट्रोजन) कतिपय मामलों में १०० प्रतिशत वृद्धि हस्तगत हुई है।

पशु-पालन के सभी अंगों से आपूर्ण १०० से अधिक योजनाएं प्रगति कर रही हैं। मुख्य ज़ोर रोगों के नियंत्रण पर दिया जा रहा है, और उनमें भी रिंडर पैस्ट (एक प्रकार का गाय-बैलों का रोग) पर मुख्यतः मुक्ति के उपायों का उदारतापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है। सब राज्यों में रोगों की जांच के लिए अधिकारी नियत किये गए हैं। यह प्रमाणित किया गया है कि विपरीत जलवायु की अपेक्षा असंतुलित खुराक पशुओं के लिए अति हानिकारक है।

पशुओं की नसल बढ़ाने के अनुसन्धान के फलरूप उन्नत किस्म के नर-पशुओं का उत्पादन हुआ है। भेड़ों की नसल में अनुसन्धान करने के फलरूप बढ़िया ऊन का उत्पादन हुआ है। मुर्गी-नसल बढ़ाने के अनुसन्धान से प्रकट हुआ है कि पश्चिमी पक्षियों को जल-वायु के अनुकूल बनाया जा सकता है और स्थानीय पक्षियों की क्रास-ब्रीडिंग (भिन्न प्रकार के नर-मादा से उत्पन्न प्राणी) से उत्पादन और प्राप्ति में वृद्धि हो सकती है।

दुग्धालय के अनुसन्धान के फलरूप घरेलू दस्तकारी के रूप में शर्करा बनाई जा सकती है और दूध की जमी हुई सब्ज़ी का उत्पादन हो सकता है। चूने के प्रयोग से घी के खट्टेपन को नष्ट करने और वनास्पति द्वारा घी की मिलावट को जान लेने के उपाय खोज लिये गए हैं। घी को तपाने के लिए सरल-सा ग्रामीण बर्तन बनाया गया है।

शहद की मक्खियों के बारे में अनुसन्धान किया गया है और देसी मक्खियों की किस्म का ज्ञान हासिल किया गया है, उनके पालन और जंगली दशा के विषय में भी खोज की गई है, ताकि ग्रामीणों को मक्खियों को पालने के उन्नत उपाय सिखाये जा सकें।

चमड़े और खालों को साफ़ करने के सस्ते तरीकों की खोज की गई है।

मिश्रित खेती और सूखी खेती के सफल प्रयोग किये गए हैं। इससे कृषि आंकड़े और पैदावार की भविष्य-वाणियों के तरीके में उन्नति हुई है।

जब यह सब कहा जा चुका है तो यह मानना पड़ता है, कि कृषि अनुसन्धान की सफलताएं बहुत ही निराशाजनक रही हैं। रसल रिपोर्ट का कहना है, "इस तथ्य को

दृष्टि में रखते हुए कि भारतीय प्रयोगशालाएं इतने वर्षों से काम कर रही हैं, तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि उन्होंने इतना थोड़ा कार्य किया और वह भी केवल इसी रूप में है कि जैसे कृषि-विज्ञान के लिए लिखी गई पोथी के लिए एक निबन्ध।"[१] प्रयोगशाला खेत के साथ जीवित और प्राणिक सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रही है। जबतक "ज्ञान का स्रोत नहर का रूप धारण करके खेतों और क्षेत्रों को उपजाऊ नहीं बनाता", तब तक इसके अनुसन्धान का कोई लाभ नहीं। दूसरी बात यह है कि अनुसन्धान एकाकी ढंग से किये जा रहे हैं और उनमें बहुत थोड़ी श्रृंखला है। "जिस प्रकार हमारी कृषि है, वैसा ही हमारा कृषि-अनुसन्धान है, 'खंड-खंड' ही विष के समान रहा है।"[२] एक अन्य दोष यह है कि कृषि अनुसन्धान के आर्थिक रूप की ओर थोड़ा ध्यान दिया जा रहा है। जबतक प्रस्तावित उपाय फ़ायदेमन्द नहीं होंगे और उन्हें लागू करना किसान के उपायों के अंतर्गत नहीं होगा, तब तक इस अनुसन्धान से कोई खास लाभ नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त टैक्निकल विशेषज्ञ और अर्थशास्त्री के बीच निकटतम सम्पर्क की भी आवश्यकता है। उदाहरण के रूप में खाद्य पैदावार की जांच मानवी खुराक के विशेषज्ञ की सलाह से की जानी चाहिए।

७. प्रगति कमीशन। रसल रिपोर्ट ने सिफारिश की थी कि एक प्रगति कमीशन बनाई जाय, जो कौंसिल के साथ संयुक्त की जा सकती है। कमीशन बड़े स्तर की उन्नति की योजना बनाये और ग्रामों के जीवनमान को उन्नत करने के तरीकों की तजवीज़ करे। उसे निम्न समस्याओं के विषय में कार्य करना चाहिए :—

(क) मिट्टी की अदल-बदल, मिट्टी की क्षीणता से न्यूनता और हानि, मिट्टी की काट-छांट, क्षार, और सोडा।

(ख) फसल का उत्पादन, विशेष रूप से फसल पर फसल योजनाओं का संगठन, नकदी, खाद्य और चारे का संतुलन, पशु-पालन और कृषि की एकरूपता, चरागाह की उन्नति, मार्केटिंग और अन्य आर्थिक जांचों के परिणाम पर कार्यवाही।

(ग) व्यापारिक महत्व की खोजों का उपयोग। कमीशन को चाहिए कि वह क्षेत्र और प्रयोगशाला के बीच की खाई को पाटे, और काम लेने वाली व्यापारिक संस्था को सूचना और परामर्श दे।

(घ) स्वीकृत फसलों और पेड़ों की किस्मों के बीजों का मिश्रीकरण और वितरण।

(ङ) ग्राम-सड़कों में उन्नति।

८. प्रदर्शन और प्रचार। अनुसन्धान करने के बाद उस परिणाम का क्षेत्र

---

१. Russel Report, p. 6.

२. Nanavati & Anjaria—The Indian Rural Problem, p. 101.

अथवा स्वतः किसान की भूमि पर प्रदर्शन करना होता है। जिन अवस्थाओं में किसान रहता है, उनमें उस उपाय का सफल प्रदर्शन करने के बाद, यह आवश्यक है कि नये ढंग के विषय में ज़ोर-शोर के साथ प्रचार किया जाय। सरकारी क्षेत्रों में उन्नत बीज भारी परिमाण में पैदा किये जाते हैं अथवा निजी उत्पादक से खरीदे जाते हैं। उसी प्रकार नवीन प्रणाली के औज़ार सरकार की देखरेख में बनाये जाते हैं। इसके बाद, सुविधाजनक स्थानों पर सरकारी डिपुओं, अथवा स्टोरों (भंडारों) द्वारा किसानों के लिए बीजों, औज़ारों, और खादों की पूर्ति के प्रबन्ध किये जाते हैं। किसानों तक पहुंचाने के लिए सहकारिता समितियों का भी उपयोग किया जाता है। विभाग द्वारा किसान-सप्ताह और मेले संगठित किये जाते हैं और कृषि विभाग के सहायक गांव-गाव में दौरा करके विज्ञान का सन्देश पहुंचाते हैं।

९. **टैक्निकल प्रगतियां।** भारतीय कृषि को सरकारी मार्गो द्वारा जो टैक्निकल प्रगतियां प्राप्त हुई हैं, वह इस प्रकार हैं: उन्नत किस्मों को चालू करना, रोगों पर नियंत्रण, सिंचाई, मिट्टी की कांट-छांट की रोक, अच्छे और उन्नत औज़ार, फसल का बेहतर क्रम, चारे की फसलों का अधिक उपयोग, ताकि क्षेत्र को अधिकाधिक खाद मिल सके। जितने कुल क्षेत्र में गन्ना बोया जाता है और जितने कुल के आधे में जूट बोया जाता है, उसमें ८० प्रतिशत उन्नत बीज का उपयोग होता है। व्यापारिक या नकद फसलों के विषय में बिक्री के सिद्धान्त को दृष्टि में रखा जाता है और खाद्य फसलों के बारे में पोषण मूल्य के सिद्धान्त को निगाह में रखा जाता है। एक खुराक विशेषज्ञ को नियत किया गया है, जो कुन्नूर की खुराक प्रयोगशाला और दिल्ली की कृषि-अनुसंधान शालाओं के बीच संपर्क-अधिकारी का काम करता है। यह आवश्यक है कि फलों और सब्ज़ियों की पैदावार की ओर अधिक ध्यान दिया जाय, विशेषकर, ऐसी सस्ती वस्तुओं का उत्पादन किया जाय, जो ग्रामवासियों की जेब के अनुकूल हों। फल सुरक्षित रखने और मुरब्बे-चटनियों के सहायक उद्योगों को भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

विनाशकारी कीड़ों को रोकने की दिशा में भी बहुत-सा काम किया गया है। इस उद्देश्य के लिए खेती के समय या मिट्टी की अवस्थाओं में परिवर्तन किया जा सकता है, प्रतिरोधी किस्मों को चालू किया जा सकता है अथवा कीड़ों को रासायनिक औषधियों द्वारा नष्ट किया जा सकता है। भारत में कीड़ों वाले पौधों की आयात के विरुद्ध और स्थानीय कीड़ों को नष्ट करने के उपायों के लिए कानून पास हो चुके हैं। अभी तक इस बुराई की पकड़ नहीं हो सकी। सर जॉन रसल ने तजवीज़ की थी कि केन्द्रीय सरकार इन कीड़ों को नष्ट करने और रोकने की कार्यवाही करे।

जहां तक सिंचाई का सम्बन्ध है, पानी की बाधाओं के विरुद्ध सावधानी रखी गई है। जैसा कि रसल रिपोर्ट का कहना है, "प्रत्येक सिंचाई की वृद्धि योजना के पीछे कोई न कोई समस्या अटकी पड़ी है।" कृषि विभाग, जंगल विभाग के सहयोग से मिट्टी की कांट-छांट की भीषण समस्या का हल करने की चेष्टा कर रहा है। यह कांट-छांट केवल अधिक

वर्षा के क्षेत्रों में ही नहीं होती, प्रत्युत सूखे क्षेत्रों में भी होती है। बेहतर खादों और कृषिसार मुहय्या करने की भी चेष्टाएं की जा रही हैं। सिंद्री में सरकार का कृषि-सार का निजी कारखाना है। इस सम्बन्ध में भारत की आवश्यकता का अनुमान ३ लाख ५० हज़ार टन अंकित किया गया है। नये औज़ारों की रूप-रेखा बनाई जा रही है। उन्नत हल के चलन में पर्याप्त प्रगति हुई है।

१०. सफल परिणाम। कृषि उन्नति के विषय में प्रांतीय कृषि विभागों और कौंसिल ने लाभदायक कार्य किया है।

इस काम का सम्बन्ध फसल की बेहतर किस्मों को चालू करने, हल चलाने और खाद डालने के उन्नत उपायों, कटाई और संग्रह करने के बेहतर उपायों, टिड्डियों के लिए उपायों, उत्पादन सम्बन्धी कार्यवाहियों, और संरक्षित सेरा के प्रयोग, और पशुओं की उन्नति, मिट्टी और खादों को उन्नत करने के प्रबन्धों से है।

जो भी हो, सबसे महत्वपूर्ण काम भिन्न फसलों के लिए उन्नत किस्म के बीजों से सम्बन्धित है। हाल ही के उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि उन्नत किस्म की फसलों का क्षेत्र, जो पहले ब्रिटिश भारत के नाम से ख्यात था, बोये जाने वाले क्षेत्र के कुल-योग का १० प्रतिशत है। किन्तु एकाकी फसलों के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से अनुपात में अन्तर है, सबसे ऊंचा अनुपात गन्ने और जूट का है।

यद्यपि बहुत प्रभावपूर्ण उन्नति की गई है, तथापि समस्या की पोर को ही केवल छुआ जा सका है। क्योंकि हम देख चुके है कि कृषि-क्षेत्र का केवल $\frac{1}{10}$ ही उन्नत किस्म की कृषि के उपयोग में है। भारत सरकार का कृषि-सम्बन्धी प्रति अंश का व्यय एक आना छः पाई होता है। राज्यों का प्रतिअंश का औसत व्यय साढ़े ९ आने है किन्तु यह अमरीका में कृषि पर व्यय होने वाले प्रति अंश के ७७ रु० और कैनेडा में खर्च होने वाले २० रुपये की तुलना में कुछ भी नहीं। इसमें कोई आश्चर्य की भी बात नहीं कि प्रगति बहुत मंथरगति से हो रही है।" छोटी-छोटी भू-संपत्तियों, भारतीय किसान की गरीबी और अज्ञानता, और भारत में मौसम की भिन्नताओं को दृष्टि में रखते हुए, परिणामों को शीघ्र प्राप्त करना भी संभव नहीं।[1] "कृषि की आधारमूलक अवस्थाओं में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। भू-संपत्ति की प्रणाली और कृषि की नीति में मौलिक परिवर्तन हुए बिना असली प्रगति संभव नहीं। इसके अतिरिक्त भारतीय कृषि तब तक नवीन नहीं बनाई जा सकती, जबतक गाँवों के अतिरिक्त श्रम को निर्माणकारी उद्योगों में नहीं लगाया जाता।"[2] हम इस दृष्टिकोण से पूर्णतया सहमत हैं।

राज्य सरकारों के उपायों के विषय में रिज़र्व बैंक के परीक्षण का कहना है, "राज्य

---

१. Gadgil—Industrial Evolution in India, page 237.
२. Brij Narain—India Before the Crisis, p. 141.

सरकारों ने सब संभव उपायों से भारतीय कृषि की दुर्दशा की चिकित्सा करन के लिए अपनी उत्कट चिन्ता द्वारा उस धारणा को प्रमाणित तो कर दिया है, किन्तु जो उपाय किये गए, उनका थोड़ा या अधिक रूप अन्वेषण तक ही सीमित था।"

११. ग्राम पुनर्वास। ग्रामपुनर्वास क्या है ? ग्राम पुनर्वास अथवा ग्राम उद्धार, जैसा कि अक्सर कहा जाता है, भारतीय ग्रामजीवन के पुनर्वास के लिए एक आंदोलन है। इस आन्दोलन के भौतिक, मानसिक और नैतिक अंश हैं। भौतिकरूप में, इसके द्वारा कृषक-वर्ग के स्वास्थ्य को उन्नत करना है, और उनके जीवन-मान को ऊंचा उठाना है। पहला कार्य सफ़ाई के प्रति प्रोत्साहन उत्पन्न करने और चिकित्सा सहायता द्वारा पूर्ण हो सकता है। दूसरा कार्य पूर्ण करने के लिए कृषि की बेहतर रीतियों, अर्थ और मार्केटिंग को लोकप्रिय बनाना होगा। जहां तक मानसिक अथवा बौद्धिक अंश का सम्बन्ध है, लड़के-लड़कियों और वयस्कों के लिए शिक्षा सुविधाएं दी गई हैं।

रेडियो, सिनेमेटोग्राफ, और यात्रा दलों द्वारा भाषणों और प्रदर्शनों से भी जानकारी और शिक्षा दी जाती है। जो भी हो, नैतिक अंश सर्वोपरि अधार-मूल्क है। वह ग्रामीण की इच्छा-शक्ति को सजग करेगा ताकि वह अपने व्यक्तित्व के मूल्य को पहचाने। इसका उद्देश्य उसमें आत्मोन्नति और आत्मनियंत्रण की इच्छा उत्पन्न करना है; और वह इसकी पूर्ति चाहे व्यक्तिगत रूप में करे अथवा सामूहिक रूप में। वास्तविक ध्येय तो यह है कि उसके आत्मज्ञान के मार्ग में जो बाधाएं है, उनसे उसे मुक्त किया जाय। इसके द्वारा उसे सदियों के आधारहीन भयों, मिथ्याडंबरों और हीन-भावों से मुक्त करना है। सारांश, यह कि उसके जीवन के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करना है।

आन्दोलन का श्रीगणेश—सरकार के भिन्न विभाग—कृषि, सहकारिता, सिंचाई, जंगल, पशु-चिकित्सालय, शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा—अपने-अपने ढंग से और अपनी-अपनी सीमा के अन्तर्गत ग्रामों की सहायता करने में लगे हुए है। जो भी हो, यह देखा गया है कि इन विभागों के अधिकारी ग्रामीण को किसी प्रकार की उन्नति के लिए प्रेरणा प्रदान नहीं कर सके। अनेक संस्थाओं ने उसे गड़बड़ा दिया है और उनके नुस्खों ने, जो कभी-कभी एक-दूसरे के विपरीत होते हैं, उनमें विश्वास उत्पन्न नहीं किया। उसे अपनी समस्या को भी अपनी आंखों देखने योग्य नहीं बनाया गया। उसने उनके साथ बहुत दूर की सरकार के प्रतिनिधियों जैसा व्यवहार किया, अर्थात् उनका स्वागत किया, उनकी खातिरदारी की और आदरपूर्वक उन्हें बिदा किया। यह ठीक वही बात हो रही थी कि कई रसोइये सालन ही बिगाड़ेंगे।

पहले तो, बहुत ही अनमने होकर यह माना गया, किन्तु भारी मन्दी के अवसर पर निश्चित रूप से मान लिया गया कि यदि पर्याप्त और चिरस्थायी परिणाम प्राप्त करने हैं, तो ग्राम सम्बन्धी गरीबी, अज्ञानता, अशिक्षा, गंदगी, बीमारी, आदि सब समस्याओं को एक ही समस्या मानकर एक ही समय सुधारना होगा। १९२८ में, शाही

कमीशन ने पहले ही इस विषय में अपना विचार उपस्थित किया था, "यदि सदियों की खुमारी पर विजय प्राप्त करनी है, तो राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने सब साधनों को ग्राम-उद्धार में लगाए और ऐसे सब विभाग, जिनका ग्राम-जनसंख्या और ग्राम-जीवन से सम्पर्क होता हो, उनके उद्धार के लिए संयुक्त श्रम करें।"[१]

१२. पंजाब में ग्राम पुनर्वास। इस बात का श्रेय एफ. एल. ब्रेन, आई. सी. एस. को है कि जिन्होंने ग्राम सुधार आन्दोलन को संगठित रूप में आरम्भ किया। उन्होंने अपने पहले प्रयोग जिला गुड़गांव (पंजाब) में किये थे, जबकि वह वहां के डिप्टी कमिश्नर थे। उन्होंने प्रत्येक गांव में एक ग्राम पथ-दर्शक नियत किया था। यह पथ-दर्शक भिन्न विभागों के विशेषज्ञों और ग्रामवासियों के बीच सम्बन्ध बनाये रहता था और विशेषज्ञों की सम्मतियों को ग्रामवासियों तक पहुंचाता था। इस योजना से आशातीत सफलता नहीं कि मि० डार्लिंग ने कहा था[२] कि ग्राम पथ-दर्शकों को "जल्दी में चुन लिया गया था," वह "पर्याप्त रूप में शिक्षित नहीं थे" और उनकी "देख-रेख का प्रबन्ध नहीं था।" अपनी नितांत युवावस्था के कारण, वह ग्रामीणों को किसी प्रकार प्रभावित नही कर सके।

इसके अतिरिक्त, स्थानीय अवस्थाओं के सविस्तार अध्ययन की ओर भी उचित ध्यान नहीं दिया गया। निःसन्देह, बहुत जोरों का; किन्तु अधकचरा आन्दोलन था, और उसमें असली शिक्षा बहुत ही कम थी। इस प्रकार, स्थायी महत्व का बहुत ही कम लाभ हुआ।

महान् मंदी के दिनों में ग्राम पुनर्वास आन्दोलन ने बहुत लोक-प्रियता प्राप्त की। इस उद्देश्य के लिए पंजाब में मि० ब्रेन की सेवाओं का उपयोग किया गया और वह अक्तूबर १९३३ में, ग्राम पुनर्वास के कमिश्नर नियत किये गए। १९३५-३६ में, भारत सरकार ने प्रान्तों में वितरण करने के लिए एक करोड़ रु० की सहायता की घोषणा की, जो ग्राम क्षेत्रों की उन्नति और आर्थिक प्रगति की योजनाओं पर व्यय किया जाना था। भिन्न प्रान्तों में, ग्राम-उद्धार आन्दोलन को इससे पर्याप्त शक्ति प्राप्त हुई। जो भी हो, मि० ब्रेन की अध्यक्षता में यह आन्दोलन पंजाब में बहुत जोरों के साथ चला।

मि० ब्रेन ने जो कार्यक्रम बनाया था, उसका लक्ष्य निम्न क्रियात्मक कार्यवाहियों के लिए था :—

(अ) स्वास्थ्य :

(१) अधिकार दिया गया कि सब प्रकार का कूड़ा-कचरा गड्ढों में डाला जाय

---

१. Report, op. cit., p. 86.
२. M. L. Darling—Rusticus Loquitur, pp. 121-28 and 155-59.

और ग्राम के प्रत्येक सेहन और मकान को शुद्ध और साफ रखा जाय और उनकी सफाई की जाय; चाहे वह मकान हो, दफ्तर हो, स्कूल हो, मंदिर हो, अस्तबल हो या आवास हो।

(२) व्यक्ति और वस्त्रों की सफाई, विशेषकर बच्चों की, और सफाई तथा शुद्धता की शिक्षा देना और अभ्यास करना।

(३) प्रत्येक रहने वाले कमरे में दो रोशनदान रखना।

(४) संपूर्ण ग्राम में टीके लगाना और पुनः लगवाना।

(५) मलेरिया को रोकने के लिए जोहड़, नाली, छेद, गड्ढे किसी मकान, सेहन, या गांव अथवा किसी सरकारी काम के आसपास पानी के जमाव में मच्छरों की वृद्धि असंभव बनाई जाय। ऐसे पानी के सब स्थान, जो धोने और पीने के उपयोग के नहीं, या तो पूर दिये जाँय, अथवा उनमें तेल डाला जाय।

(६) शिक्षित दाइयों का प्रबन्ध करना।

(आ) कृषि कार्य :

(१) अच्छे बीज, विशेष रूप से गेहूं, कपास और गन्ने के लिए।

(२) धरती की ओर अधिक ध्यान देने के लिए निम्न बातों पर कार्य किया जाय : उन्नत औजारों तथा उपायों का प्रयोग किया जाय, धरती की अधिक खुदाई और गोड़ाई हो, नई और अधिक लाभदायक किस्म की फस्लों को बोया जाय, कपास को पंक्तियों में बोया जाय, पौधों के रोगों और कीड़ों की रोकथाम की जाय, पहाड़ी और असमान प्रदेश में खेतों की मेढ़ें बनाना तथा उन्हें समतल बनाना।

(३) पशुओं की नसल को उन्नत करने के लिए अच्छी किस्म का सांड खरीदने और रखने के लिए ग्रामीणों में रुचि उत्पन्न करना।

(४) पशु-रोगों की रोकथाम के लिए मेलों तथा अन्य गांवों से आनेवाले पशुओं को जुदा रखना।

(इ) मिश्रित :

(१) बच्चों के कानों को छेदने की रीति का त्याग और बच्चों को सोने या चांदी के आभूषण पहनाने के चलन की रोकथाम।

(२) मितव्ययता, बचत और सब प्रकार के अनावश्यक और अनुत्पादक खर्चे की काट-छांट करना, विशेषकर मुकदमेबाजी और आपसी झगड़ों, सामाजिक उत्सवों, आभूषणों तथा मद्यपान से संबंधित व्ययों में।

(३) खाली वक्त का उपयोग करने के लिए, और बच्चों तथा वयस्कों की स्वास्थ्य उन्नति के लिए खेलों एवं स्वास्थ्य-प्रद मनोरंजनों का आयोजन।

(४) कन्या-शिक्षा; इसे नगर और ग्राम में समान रूप से सब प्रकार की प्रसन्नता और उन्नति का मूल माना जाय।

इन ध्येयों की प्राप्ति के लिए निम्न साधनों का निश्चय किया गया :—

(१) जो कुछ किया जाना है, उसकी जानकारी के लिए सुसंगठित प्रचार का आयोजन।

(२) अच्छे स्कूल हों, खेल के मैदानों और बागों का प्रबन्ध हो, अच्छे खेलों और शारीरिक व्यायाम की शिक्षा हो, सफाई के अभ्यास पर और स्वास्थ्य-ज्ञान की शिक्षा पर बल दिया जाय।

(३) सहकारिता तथा अन्य प्रकार की संस्थाओं का आयोजन हो, ताकि उनके द्वारा लोगों को अपने हित के लिए संयुक्त रूप में मिलकर काम करने का उपयोग किया जा सके।

वस्तुतः, इन्हीं आधारों पर कार्य किया गया और भिन्न शीर्षकों के अधीन नानाविध सफलता प्राप्त हुई। किन्तु यह आन्दोलन स्वेच्छापूर्वक नहीं था। मि. ब्रेन ने स्वीकार किया था, "यह कार्य क्रियात्मक रूप में पूर्णतया सरकारी प्रेरणा, दबाव, अनुरोध और यहां तक कि आदेश द्वारा हो रहा है।" यदि सरकार के विशेष यत्न बन्द कर दिये जाँय, तो सारी प्रगति रुक जायगी और पूर्वतः प्राप्त परिणाम भी नष्ट हो जाँयगे।

इसी प्रकार ब्रेन ने पुनः कहा है, "स्थायी और नियमित देखरेख से संपन्न ग्राम-संगठनों की प्राप्ति के लिए, और स्वेच्छाप्राप्ति तथा स्थायित्व की सहायता के लिए, यह आवश्यक है कि इस काम को सामान्य ग्रामजीवन का अंग बनाया जाना चाहिए।" सहकारिता समिति, ग्राम-पंचायत और बड़े जमींदारों को ग्राम की जनता के दिलों में उनकी अवस्था को उन्नत करने की इच्छा उत्पन्न करनी चाहिए। जबतक वह इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तबतक चिर-स्थायी उन्नति नहीं हो सकती।

१४. अन्य राज्यों में ग्राम-पुनर्वास। अन्य राज्यों की सरकारों ने भी उन्हीं आधारों पर कार्य किया। प्रत्येक के विषय में कुछ शब्द नीचे लिखे जाते हैं :—

(१) **उत्तर प्रदेश**—उत्तर प्रदेश में कांग्रेस सरकार ने ग्राम पुनर्वास के लिए एक विशेष अफसर नियत किया। एक प्रान्तीय ग्राम सुधार बोर्ड (Provincial Rural Development Board) बनाया गया, और राष्ट्रीय निर्माण विभागों के अधिकारी उसके सदस्य बने। जिला-ग्राम-सुधार समितियों द्वारा कार्यक्रम का संचालन होता है। प्रत्येक ग्राम-पुनर्वास की एक इकाई में १५ ग्राम सम्मिलित किये गए हैं। यह काम बेहतर जीवनयापन संस्था और बेहतर कृषि-कार्य समितियों और पंचायतों द्वारा किया जाता है। उनके मुख्य कामों में उन्नत बीजों और औजारों का वितरण, पशुओं की नस्ल को उन्नत करना, घरेलू दस्तकारियों को उन्नत करना, ग्राम की सफाई और पानी की पूर्ति में उन्नति करना और अच्छे पंचायत-घरों का निर्माण करना है।

संयुक्त प्रान्त की योजना का विशेष कार्य फैजाबाद विमन्ज़ वैलफेयर ट्रेनिंग कैम्प (नारी सुधार-शिक्षा-शिविर) में स्त्री-कार्यकर्त्ताओं की शिक्षा-विषयक है। उन्हें गर्ल-गाइडिंग (स्काऊट विषयक), सुधार कार्य, दस्तकारियों, बच्चों की देखभाल करने की शिक्षा दी जाती है। निर्वाचित अध्यापिकाओं को इस शिविर में शिक्षा प्राप्ति के लिए भेजा जाता है। शिक्षित होने के बाद, यह अध्यापिकाएं ग्राम समितियों में सुधारकार्य का संगठन करती हैं।

(२) **बम्बई**—बम्बई में, ग्राम पुनर्वास विभाग को पहले सहकारिता विभाग के साथ जोड़ा गया था, किन्तु बाद में दोनों विभागों को अलग कर दिया गया। ग्राम-उन्नति के कार्य को आर्थिक रूप में ज़िला कलैक्टर के अधीन कर दिया गया। प्रचार-कार्य का भार कृषि और सहकारिता विभागों को सौंपा गया। ग्राम-उन्नति का एक प्रान्तीय बोर्ड निर्देशन और परामर्श के लिए बनाया गया। कुछ गैरसरकारी मनोनीत सदस्यों के अलावा, इसके निम्न सदस्य थे : सहकारिता समितियों का रजिस्ट्रार, डाईरेक्टर ऑव् इंडस्ट्रीज़ (उद्योग), ग्राम उन्नति और कृषि-मंत्री, अध्यक्ष के रूप में। बोर्ड के कार्य को सुविधा प्रदान करने के लिए चार कमेटियां बनाई गईं। (अ) कृषि और चल-संपत्ति की कमेटी; (ब) शिक्षा और प्रचार कमेटी; (स) घरेलू दस्तकारियों की कमेटी; (द) पिछड़े क्षेत्रों के लिए एक कमेटी। ज़िला ग्राम-सुधार बोर्ड उन्हें सहायता देने के लिए बनाये गए। उन्नति के कार्य के लिए निम्न मुख्य संस्थाएं थीं : ताल्लुका सुधार समितियां, बेहतर कृषि-कार्य की समितियां और अन्य सहकारिता समितियां। उनके कार्य में निम्न बातें समाविष्ट हैं : उन्नत प्रणाली के बीजों और औज़ारों का सस्ती दरों पर वितरण, पशुओं की नसल में प्रगति; सूखे कृषिकार्य की रीतियों का विस्तार; घरेलू दस्तकारियों को उन्नत करना; सफाई की उन्नति करना; चिकित्सा-सहायता की पूर्ति; और पिछड़े क्षेत्रों तथा कबीलों की देखभाल करना।

(३) **पश्चिमी बंगाल**—ग्रामपुनर्वास के डाइरेक्टर के अधीन ग्राम-सुधार का एक अलग विभाग है। यूनियन बोर्डों, ग्राम-उद्धार समितियों और सुखकर जीवनयापन समितियों द्वारा कार्य का संचालन होता है। इस कार्य में निम्न कार्य सम्मिलित हैं: काटने योग्य जंगलों को काटना; सड़कों की मरम्मत; नालियां बनाना; कुनीन का वितरण, पानी की काई को साफ करना; बीजों का वितरण और ट्यूबवैलों (कुओं) की खुदाई। मुख्यतः ग्राम सुधार का उद्देश्य जीवन की अवस्थाओं को उन्नत करना, खुराक के मान को ऊपर करना; मनोरंजन प्रदान करना और घरेलू दस्तकारियों को उन्नत करना है।

(४) **मदरास**—मदरास में ज़िला बोर्ड ग्राम-सुधार के कार्यों की देख-भाल करते हैं। ग्राम की पंचायत द्वारा यह कार्य होता है। मुख्य कार्यों में सफाई को उन्नत करने, याता-यात और पानी की पूर्ति सम्मिलित है। एक महत्वपूर्ण कार्य ग्रामीण डिस्पैंसरियों को सहा-

यता देना है। अन्य कार्य अच्छे बीजों और औज़ारों का वितरण और ग्रामों में गोदामों के निर्माण हैं।

(५) **अन्य राज्य**—अन्य राज्यों में बिहार और आसाम का नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। बिहार में, १९३८ में ग्राम-उन्नति विभाग की स्थापना की गयी थी। प्रत्येक डिवीज़न में चार आदर्श केन्द्र बनाए गए थे, जिनमें २० से ३० ग्राम शामिल थे। उन केन्द्रों में ग्राम उन्नति का तीव्रगति से कार्य होता है। इन केन्द्रों में संगठन-कर्त्ताओं को इस बात की शिक्षा दी जाती है कि वह नये केन्द्रों में कार्य आरम्भ करें। राष्ट्रनिर्माण विभागों के मुख्य अधिकारियों का एक प्रान्तीय-ग्राम-सुधार सलाहकार बोर्ड है, जो संयोजक संस्था का काम करता है।

कोचीन, मैसूर, हैदराबाद, बड़ौदा और काश्मीर जैसे अन्य राज्यों में भी उन्हीं दिशाओं में कार्य हो रहा है।

१४. कार्य करने की प्रतिनिधि संस्थाएं। सरकारी भिन्न राज्यों में ग्राम-पुनर्वास संगठन और गति-विधियां समान पंक्तियों का अनुसरण करते हैं। एक नियंत्रण संस्था है, जो अलग विभाग या विभाग के एक अंश द्वारा निर्मित की गई है। राष्ट्र-निर्माण के मुख्य अधिकारियों का एक सलाहकार बोर्ड है। देख-रेख करने वाली प्रतिनिधि संस्थाएं हैं, जो स्थानीय-प्रशासन सम्बन्धी सुविधा के अनुसार ज़िला बोर्डों, यूनियन बोर्डों अथवा ताल्लुका बोर्डों द्वारा निर्मित की जा सकती हैं। असल काम सहकारिता की भिन्न प्रणालियों द्वारा किया जाता है; जैसे बेहतर कृषि-कार्य समितियां और बेहतर जीवन-यापन समितियां। कुछ अवस्थाओं में ग्राम-पंचायतें इस कार्य के लिए महत्वपूर्ण संस्था का रूप धारण कर रही हैं। अधिकांशतः, धन सरकार द्वारा दिया जाता है, और कुछ दशाओं में पंचायतें भी देती हैं।

गैर-सरकारी संस्थाएं—कतिपय गैर-सरकारी एजेंसियों द्वारा भी बहुत लाभदायक काम हो रहा है। इनमें महत्वपूर्ण निम्न है : अखिल भारतीय चर्खा संघ, अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग समिति, लोक-सेवक मंडल (Servants of India Society) और ईसाई मिशन। अन्य संस्थाओं में निम्न उल्लेखनीय हैं: गो-सेवा संघ, श्रीनिकेतन, बोलपुर (बंगाल), आदर्श सेवा संघ, सर डेविड हैमिल्टन का गोसावा (बंगाल) में कार्य, और राज्यों में भिन्न किसान सभाएं। यह संगठन कार्य के एक अंग में विशिष्टता प्राप्त किये हैं। उदाहरण के लिए, ईसाई मिशन शिक्षा-उन्नति का कार्य करते हैं और श्री निकेतन के कार्य का उद्देश्य ग्रामों का सुन्दर रूप बनाना है। इसके अतिरिक्त, ऐसी संस्थाएं हैं, जो आदिवासियों और दलित-वर्ग के लिए कार्य करती हैं—जैसे, भील सेवा मंडल, डंग सेवा मंडल, और हरिजन सेवा संघ। इन संस्थाओं ने प्रशंसनीय कार्य किया है, यद्यपि कुछेक मामलों में उनके कार्य-कलापों में राजनीतिक झलक दृष्टिगत होती थी।

१५. परिणाम। ग्राम पुनर्वास से सम्बन्धित भिन्न संगठनों, अच्छे बीज की

पूर्ति, उन्नत औज़ारों की पूर्त्ति, पशुओं की नसलों को उन्नत करने, घरेलू दस्तकारियों को प्रोत्साहन देने, सफाई को उन्नत करने और प्रायमरी शिक्षा को प्रोत्साहन देने के सम्बन्ध में प्रशंसनीय रचनात्मक कार्य कर रहे है। उनकी रिपोर्टों को पढ़ने से अच्छा प्रभाव होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कतिपय दिशाओं और कतिपय क्षेत्रों में बहुत अच्छा कार्य हुआ किन्तु इस कार्य से ग्राम की अवस्थाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ और नाही ग्रामीण के दष्टिकोण में कोई परिवर्तन हुआ है। इस अल्प सफलता के अनेक कारण है।

पहली बात यह है कि भारत एक बहुत बड़ा देश है, जिसमें शारीरिक और सामाजिक, अनेक प्रकार की विविधताएं हैं। संकीर्णता और रूढ़िवाद की शक्तियां इतनी बलवान है कि उन्हें अल्पकाल में जीत लेना आसान नहीं।

दूसरी बात यह कि, कार्य-विधियों के विषय में उचित योजना नहीं बनाई गई और न ही उन्हें शृंखला-बद्ध रखा गया। इस आन्दोलन के पहले दर्जे में समस्याओं की जांच और सविस्तर परिमाण का अनुमान होना चाहिए था, और दूसरे दर्जे में एक अखिल-भारतीय संगठन का निर्माण होना चाहिए था, जो आन्दोलन को गति प्रदान करता। विभिन्न क्षेत्रों के अनुभव को सब के हित के लिए संग्रहित किया जाना चाहिए था। प्रांतीय कार्य को प्रांतीय संस्थाओं के नियंत्रण और देख-रेख में जारी रहने देना चाहिये था। किन्तु केन्द्र को प्रोत्साहन, शृंखला और धन देने के लिए अधिक भाग लेना चाहिए था।

तीसरी बात यह है कि प्ररणा ऊपर की ओर से हुई और स्वतः लोगों की ओर से नहीं। ग्राम-नेताओं की शिक्षा के प्रति अधिक ध्यान देना चाहिये था। ग्राम-संस्थाओं–पंचायत, सहकारिता समिति और स्कूल—को अधिक सक्रिय कार्य सौंपा जाना चाहिए था। विशेषरूप से पंचायत को ज़िला बोर्ड सरीखी उच्च-संस्था की देखरेख में ग्राम का असली प्रबन्धक बनाना चाहिए था।

अंततः, ग्राम पुनर्वास आन्दोलन ने कुछ आधार-मूलक समस्याओं को अछूता ही छोड़ दिया है। उदाहरणतया, भूमि-पट्टा की समस्या, काश्तकारी कानून, भूमि सुधार, भू-संपत्तियों की चकबन्दी, सहकारिता आधार पर कृषि-कार्य को प्रोत्साहन देना, इत्यादि–जब तक इन समस्याओं का उचित निराकरण नहीं होता, तबतक ग्राम-जीवन में न तो लाभदायक परिवर्तन हो सकते है और न ही जीवन-मान को उच्च किया जा सकता है।

सोलहवाँ अध्याय

मालगुज़ारी की नीति

१. भूमिका। प्राचीनतम काल से राज्य की आय के रूप में भूमिकर या मालगुज़ारी अब तक चला आता है। जो भी हो, प्रस्तुत नवीन काल में, मालगुज़ारी निर्धारण की रीतियों, आंकने की विधियों, और उसे संग्रह करने के तरीकों के विषय में विधान सभाओं, समाचार-पत्रों और सभा-स्थलों से समय-समय पर आक्रमण हुए हैं। इस अध्याय में, पहले हम भारत में मालगुज़ारी की प्रचलित रीतियों का विवरण देंगे, और उसके बाद सरकार की नीति के सैद्धांतिक आधार का परीक्षण करेंगे और अंत में, उन भिन्न सुधारों का मूल्यांकन करेंगे, जिन्हें अधिक न्यायसंगत बनाने के लिए प्रस्तावित किया गया है।

२. मालगुज़ारी की रीतियां। भारत में प्रचलित मालगुज़ारी की रीतियों को दो दृष्टिकोणों से विभाजित किया जा सकता है :

(अ) क्या भूमिकर सदैव के लिए एक ही बार नियत कर दिया गया है अथवा उसमें समयांतर संशोधन होता है। पहले को चिरस्थायी (भू-प्रबन्ध इस्तमरारी बन्दोबस्त—Permanent Settlement) कहा जाता है और दूसरे को अस्थायी भूप्रबन्ध (Temporary Settlement)। इस अवस्था में २० से ४० वर्ष की अवधि में संशोधन किया जाता है।

(ब) वर्गीकरण के दूसरे आधार में भूमिकर के भुगतान का उत्तरदायित्व होता है। इस आधार पर हमारे यहां भूमिकर की तीन रीतियां हैं :

(१) **ज़मींदारी विधि**—इस विधि के अनुसार भूमिकर के भुगतान का उत्तरदायित्व ज़मींदार अथवा भूमि के उस स्वामी पर है, जो असली किसान से राशि वसूल करता है। यह बंगाल और उत्तर प्रदेश में अधिकतम प्रचलित है।

(२) **रय्यतवारी-विधि**—इसके अनुसार प्रत्येक भूमिधारी भूमिकर के भुगतान के लिए व्यक्तिगत रूप में उत्तरदायी है। यह बम्बई और मदरास में प्रचलित है।

(३) **महालवारी-विधि**—इसके अधीन साहसी संस्थाओं के ग्राम-समाजों के सदस्य संयुक्त रूप में और खंडित रूप में भूमिकर भुगतान के लिए ज़िम्मेदार हैं। यह रीति पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों में प्रचलित है।

संपूर्ण क्षेत्र का २५%ज़मींदारी पट्टा के अधीन चिरस्थायी भू-प्रबन्ध के अनुसार बसा हुआ है और ३९%ज़मींदारी और महालवारी पट्टा के अस्थायी भू-प्रबन्ध के अनुसार

और रय्यतवारी पट्टा कुल क्षेत्र के ३६%पर है ।[1]

३. चिरस्थायी भू-प्रबन्ध। सरकार को दातव्य भूमिकर के सरकारी निर्धारण को "भू-प्रबन्ध" की व्याख्या का रूप दिया जा सकता है । सबसे पहले पूरी या अधूरी माप, वर्गीकरण और भूमि की कीमत और सब सम्बन्धित व्यक्तियों के अधिकारों की जांच कर ली जाती है ।[2] यह क्रिया कर-विषयक और कानूनी, दोनों ही प्रकार की है । जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, एक भू-प्रबन्ध स्थायी भी हो सकता है अथवा अस्थायी भी ।

१७९३ में, बंगाल में स्थायी भू-प्रबन्ध लागू किया गया था । ज़मींदारों से सदैव के लिए नकद मालगुज़ारी लेना नियत किया गया । जमींदारों द्वारा वसूल किये लगान का १०/११ की दर नियत की गई और १/११ असली खेतिहरों के हिस्से के रूप में छोड़ दिया जाता । उत्पादन की उन्नत कीमतों और सुरक्षा में वृद्धि के कारण भूमि की कीमत धीरे-धीरे बढ़ गई, और उसके फलरूप ज़मींदारों की आय पर्याप्त रूप में बढ़ गई। १९०० में, सरकारी तौर पर अनुमान किया गया था कि स्थायी प्रबन्ध के अधीन क्षेत्रों की सरकार को दी जाने वाली मालगुजारी ४ करोड़ रु. से कुछ कम थी, जब कि उसी क्षेत्र की किरायों की आय लगभग साढ़े सोलह करोड़ रुपये थी ।[3]

१७९५ में, स्थायी भू-प्रबन्ध बनारस में लागू किया गया और साथ ही मदरास प्रांत के उत्तरीय भाग में भी लागू हुआ । इस विधि को विस्तार देने के लिए एक बार आन्दोलन भी हुआ था । किन्तु १८८३ में, ऐसी तजवीज़ों को अन्त में रद्द कर दिया गया था । बंगाल मालगुज़ारी कमीशन (१९३८–४०) ने उसे हटाने की सिफ़ारिश की थी ।

स्थायी भू-प्रबन्ध का निम्न कारणों से समर्थन किया जाता है:—

(क) आर्थिक दृष्टिकोण से राज्य के लिए यह नियत और स्थिर आय का विश्वस्त साधन था ।

(ख) यह सोचा गया था कि ज़मींदारों को राजभक्त-वर्ग बनाने से भारत में राजनीतिक स्थिरता में सहायता मिलेगी । (किन्तु अस्थायी प्रबन्ध वाला क्षेत्र भी राजनीतिक स्थायित्व का उपभोग करता था ।)

(ग) यह भी कहा जाता है कि इस विधि से किसानों की खुशहाली बढ़ी और वह साधन-सम्पन्न और साहसी बने । (किन्तु अन्य स्थानों की तरह ही बंगाल में भी अकालों का दौर था । किसानों और जनता के कोष की कीमत पर केवल ज़मींदारों ने ही ऐश्वर्य किया ।)

---

१. Nanavati and Anjaria—The Indian Rural Problem, p. 50

२. Ibid, p. 98.

३. Government Resolution on Land Revenue Policy, 1902, p. 82.

स्थायी भू-प्रबन्ध लोगों के लिए तभी लाभदायक हो सकता है. जबकि खेती करने वालों और राज्य के बीच के सब बिचौले हटा दिये जांय, ताकि किराये की भावी वृद्धि के हितों का उपभोग वह असल आदमी कर सके, जो हल को स्वयं जोतता है।

४. स्थायी भू-प्रबन्ध को हटाने का प्रश्न। बंगाल मालगुज़ारी कमीशन के बहुमत ने स्थायी भू-प्रबन्ध को निम्न आधारों पर हटाने का समर्थन किया था :—

(क) इसके कारण भूमि की कीमत में वृद्धि के अंश के लिए सरकार वंचित हो जाती है। भूमि के मूल्य में वृद्धि का कारण जनसंख्या में वृद्धि और कृषि-कार्य का विस्तार है।

(ख) इससे सरकार को खनिजों और मछली व्यापार से आय में हानि होती है।

(ग) इसके कारण सरकार ग्राम-अवस्थाओं के सही ज्ञान से वंचित रह जाती है, किन्तु रय्यतवारी विधि में सरकार को संपर्क की सुविधाएं हैं।

(घ) यह ऐसा लोह-द्वार है, जिसने सब वर्गो के साहसिक कार्य और प्रारंभ करने की भावना को बन्द कर दिया है।

(ङ) इसके कारण जमींदार के पिट्ठुओं की एक बड़ी भारी संख्या बढ़ी, जिन्होंने असल किसान और जमींदार के बीच अपने अनेक हितों की रचना कर ली थी।

संक्षेप में, स्थायी भू-प्रबन्ध के परिणामस्वरूप सामन्तशाही की बुराइयों का चलन हुआ और असली किसान का आर्थिक शोषण हुआ।

कमीशन ने इस विधि की जगह रय्यतवारी विधि जारी करने का समर्थन किया और साथ ही यह भी कहा कि वर्तमान समय की अवस्थाओं के लिए यह उपयुक्त नहीं। नीति यह होनी चाहिए कि असल किसान सीधे सरकार की अधीनता में काश्तकार के रूप में पहुंच जाय।[1] आशा की जाती है कि कमीशन की सिफारिशें समयान्तर में लागू की जायंगी।

यह समझ लेना आवश्यक है कि स्थायी भू-प्रबन्ध के विरुद्ध यह आपत्ति नही कि वह स्थायी है। यह नहीं मानना चाहिये कि उसे अस्थायी कर देने से राम-राज्य हो जायगा, अन्यथा अस्थायी प्रबन्ध के अधीनस्थ किसानों को तो बहुत ही खुशहाली में होना चाहिए था। असली प्रश्न तो भूमि की काश्तकारी के आधारों से सम्बन्धित हैं, अर्थात् भिन्न सम्बन्धित दलों के अधिकारों के विषय में। जब तक इन अधिकारों का नियमानुसार निराकरण नहीं होता, तब तक भूमि का सही उपयोग सम्भव नही। इसके अतिरिक्त, न तो हमारे किसान सम्पन्न हो सकते हैं और न ही हमें कर लगाने की न्यायपूर्ण विधि प्राप्त हो सकती है।

तो फिर भू-प्रबन्ध की क्या अवधि होनी चाहिए ?—जहां तक भू-प्रबन्ध की अवधि

---

१. Bengal Land Revenue Commission Report, Vol. I. p. 43.

का प्रश्न है, ३० से ४० वर्ष की अवधि युक्ति-संगत जान पड़ती है। जो क्षेत्र अभी उन्नत नहीं हुए, वहां अल्प-अवधि का प्रबंध होना चाहिए, ताकि परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार राज्य अपने अधिकार का यथाशीघ्र उपयोग कर सके। तीस वर्ष का प्रबन्ध एक पीढ़ी के लिए राज्य की मांग के विषय में अनिश्चितता को दूर करता है।

५. अस्थायी भू-प्रबन्ध। अस्थायी भू-प्रबन्ध समान चलन के नहीं होते। यहां निम्न कारणों से अन्तर उत्पन्न होते हैं (१) उन व्यक्तियों में अन्तर कि जिन से रकम संग्रहित की जाती है, (२) प्रबन्ध की अवधि में अन्तर, (३) कीमत गिनने की विधि में अन्तर, अर्थात् (अ) "शुद्ध संपत्ति" का निर्णय करने के लिए, और (ब) सरकार द्वारा ली जाने वाली संपत्ति का अनुपात।

(१) उस संस्था के विषय में, कि जो व्यय चुकाती है, निश्चय करने का अंश भूमि की काश्तकारी की विधि है, कि जो हमारे यहां तीन प्रकार की हैं :

१. ज़मींदारी प्रबन्ध, २. महालवारी प्रबन्ध और ३. रय्यतवारी प्रबन्ध।

(२) जहां तक प्रबन्धों की अवधि का प्रश्न है, मध्य-प्रदेश में २० से ३० वर्षो की भिन्न अवधियां हैं, बरार में २५ से ३० वर्ष, मदरास में ३० वर्ष, उत्तर प्रदेश और पंजाब में यह अवधि ४० वर्ष है।

(३) जहां तक "शुद्ध संपत्ति" के अंतर का प्रश्न है, पंजाब सरकार "शुद्ध संपत्ति" का २५% लेती है; बंगाल के अस्थायी प्रबन्ध वाले क्षेत्रों में ७० प्रतिशत तक है और बम्बई में ३५% है।

अब हम प्रबन्ध की तीनों विधियों के अधीन निर्धारण के विषय में अध्ययन करेंगे : जमींदारी, महालवारी और रय्यतवारी।

६. ज़मींदारी प्रबन्ध। बंगाल का स्थायी प्रबन्ध भी ज़मीदारी विधि है, और उस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। यहां हम बंगाल के जमींदारों के साथ उस प्रबन्ध के विषय में विचार करेंगे, जो अस्थायी प्रबन्ध के अधीन हैं और साथ ही अवध के ताल्लुकेदारों के साथ प्रबन्ध के विषय में भी चर्चा करेंगे।

सामान्य प्रबन्ध कार्यों के विषय में चर्चा की जा चुकी है, अर्थात् भू-संपत्तियों की रेखा खींची जाती है, भूमि का माप होता है, भूसंपत्तियों में भिन्न दलों के अधिकारों को दर्ज किया जाता है, और राज्य को दी जाने वाली मालगुजारी का निर्धारण किया जाता है। प्रबन्धक अधिकारी (Settlement Officer) भूमि के लगान की कीमत निश्चित करता है। चूंकि बंगाल में भूमि के स्वामी प्रायः बीच-बिचौले लोग हैं, इसलिए राज्य किराये के मूल्य के अंश के रूप में ७०% तक ले लेता है। अवध के ताल्लुकेदारों की स्थिति भी कमज़ोर है और प्रबन्ध प्रत्यक्षतः उनके अधीनस्थ ग्राम-समाजों के साथ है। उन्हें कुछ अधिक देने के लिए कहा जाता है, ताकि ताल्लुकेदारों को सरकारी कोष से १०% तक ताल्लुकेदारी भत्ता दिया जा सके।

७. **महालवारी प्रबन्ध।** इस ढंग का प्रबन्ध पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में है। भूमि का स्वामित्व ग्राम-समाजों या साझी हिस्सेदार समितियों का होता है। यह अवध (उत्तर प्रदेश) और बंगाल में आच्छादित ज़मींदारी प्रबन्ध की प्रचलित ज़मींदारी के भिन्न संयुक्त ज़मींदारी का रूप है।

सब भूमियों का नाप किया जाता है, भू-सम्पत्तियों की सीमा-रेखाएं खींची जाती हैं, विशिष्ट जायदाद में दिलचस्पी रखने वाले सब दलों के अधिकारों को पूरी-पूरी तरह दर्ज किया जाता है। इस भूमि को उत्पादन की स्थिति के अनुसार वृत्तों में बांट दिया जाता है।

शुद्ध संपत्ति—किराया सम्पत्ति, शुद्ध सम्पत्ति कही जाती है। प्रत्यक जायदाद का निर्धारण किया जाता है। इस निर्धारण में निम्न प्रश्न सम्मिलित होते हैं: ज़मींदार जो नकद किराया प्राप्त करता है, और भूमि का स्वामी होने के नाते, जो लाभ वह प्राप्त करता है, उनका द्रव्य रूप में मूल्य, अर्थात् चराई के अधिकार, चारा, फल, सब्ज़ियां आदि। यदि भूमि को मुफ्त किराए पर दिया जाता है, अथवा, मालिक स्वयं भूमि पर खेती करता है, अथवा नकद के बदले किराया जिन्स के रूप में अदा किया जाता है, तो उस समय यह मालूम करने की चेष्टा की जाती है कि यदि जायदाद को नकद किराये पर दिया होता, तो किराया क्या होता। ज़मींदार का किराया "शुद्ध-सम्पत्ति" कहलाता है।

'शुद्ध-सम्पत्ति' और किराया, दोनों समान नहीं हैं, किंतु सामान्यतः अस्थायी कृषक, जो सम्पूर्ण और युक्तियुक्त किराया चुकाता है, उसी को शुद्ध-सम्पत्ति के लिए लगभग संतोषप्रद मान लिया जाता है। इसलिए, क्रियात्मक रूप में किराये के आधार पर निर्धारण होता है। १९३८ की पंजाब मालगुज़ारी कमेटी के शब्दों में, "ज़मीन के एक खंड से सामान्यतः जितना किराया प्राप्त हो सकने की आशा की जाती है, उसमें से किराया प्राप्त करने में हुई सब लागतों को घटा करके, जो शेष रह जाता है, वह उस भूखंड की शुद्ध-सम्पत्ति का प्रतिनिधित्व करता है।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शुद्ध सम्पत्ति और सामान्य किरायों में से लागत घटाना, दोनों पर्यायवाची हैं, और जैसी कि व्याख्या भी की गयी है, उन्हें जमींदार की शुद्ध-सम्पत्ति कहा जा सकता है।

राज्य की मालगुज़ारी की मांग 'शुद्ध-संपत्ति' के अंश के रूप में नियत है। पहले, सरकार ने शुद्ध-संपत्ति का ८०% लगाया था, किंतु बाद में, सहारनपुर नियमों (१८५५) के अनुसार यह न्यून करके, ५०% कर दिया गया था, और इस समय यह और भी कम हो गया है, और कतिपय राज्यों में २५% है।

पहली स्थिति में, मालगुज़ारी संपूर्ण गांव के लिए नियत की जाती है और उस के बाद व्यक्तिगत अधि-संपत्ति (Holdings) के अनुसार विभाजित कर दी जाती है। गांव के सांझी हिस्सेदारों को संयुक्त रूप में और अलग-अलग रूप में उत्तरदायी

ठहराया जाता है। एक पुराना-साझी हिस्सेदार, जिसे पंजाब में लम्बरदार कहा जाता है, मालगुजारी संग्रहित करने की ज़िम्मेदारी लेता है, और प्रतिनिधि रूप में सरकारी कोष में जमा करता है। ग्राम-समाज का एक वर्ग अथवा एक साझी-हिस्सेदार भी व्यक्तिगत रूप में, नियत सीमा से उस पार जुदा निर्धारण पर ज़ोर दे सकता है। इस जुदा निर्धारण को "पूर्ण विभाजन" कहा जाता है। महालवारी क्षेत्रों में प्रबन्ध-कार्यों का यही सामान्य तरीका है, हां, जहां-तहां प्रान्तीयता के कारण कुछ अन्तर अवश्य हैं। यह प्रवन्ध स्वतः आंशिक कानूनी और आंशिक कर-विषयक हैं।

उतर प्रदेश में, प्रबन्ध के अवसर पर जो असल नकद किराया दिया जाता है, वही आधार माना जाता है। उत्तर प्रदेश में नकद किराये का नियम है। इसलिए प्रत्येक वृत्त में से नकद किराया लेने में कोई कठिनाई नहीं होती और यही तरीका अधि-संपत्तियों पर भी लागू किया जाता है, कि जिन पर स्वतः मालिक कृषि-कार्य करते हैं। सरकार इन किरायों या 'शुद्ध-संपत्ति' के निश्चित शतांश को लेती है।

पंजाब में, बहुधा लगान जिन्स रूप में दिये जाते हैं और फलस्वरूप नकद लगान निश्चित किया जाना होता है। आदर्श अधिसंपत्तियों के किरायों के आधार पर उचित दर निश्चित कर ली जाती है। यदि एक वृत्त में, आदर्श अधिसंपत्ति पर नकद किराये के आधार पर कृषि हो रही है, तो यह दर वृत्त की सब अधिसंपत्तियों पर लागू कर दी जाती है। यदि नकद किराये की कोई मिसाल ही न हो, और जैसा कि सामान्यतः होता है, तो ज़मींदार द्वारा प्राप्त जिन्स रूप में किरायों का द्रव्य मूल्य निश्चित कर लिया जाता है, और उसका आधार प्रति एकड़ प्राप्ति की औसत और औसत कीमतें होती हैं। यह वृत्त के लिए प्रबन्ध का ढंग है। इस के बाद वह विभिन्न अधिसंपत्तियों पर बांट दिया जाता है। सिद्धांत रूप में भुगतान की संयुक्त ज़िम्मेदारी है, किंतु क्रियात्मक रूप में प्रत्येक साझी-हिस्सेदार की मालगुज़ारी अलग-अलग वसूल की जा सकती है। पंजाब मालगुज़ारी संशोधन एक्ट, १९२९, (Punjab Land Revenue Amendment Act) के अनुसार सरकार 'शुद्ध-संपत्ति' का २५% मालगुज़ारी के रूप में लेती है।

सरकने वाले स्तर का ढंग—१९३५ में, ज़िला लायलपुर के पुनर्प्रबन्ध के अवसर पर पंजाब में निर्धारण का एक नया सिद्धांत बनाया गया था। यह सरकने वाले स्तर की रीति (Sliding Scale System) के नाम से प्रचलित है। १९३० में कृषि की कीमतों में गिरावट के कारण इसकी आवश्यकता हुई। इस प्रणाली का उद्देश्य यह था, "गत २० या तीस वर्षों के औसत स्तर के अनुसार कीमतों की वृद्धि की संभावना को दृष्टि में रखते हुए सरकार को पर्याप्त ऊंची मांग के योग्य बनाना, और इस बीच ऐसी मांग को प्रत्येक फसल के अवसर पर चालू कीमत के अनुसार सही कर लेना।"[१] पुरानी प्रणाली के

१. Ibid, p. 30.

अनुसार, प्रबन्ध के संपूर्ण काल में प्रामाणित दरों में परिवर्तन नहीं हुआ। निःसंदेह, फसल की स्थिति के अनुसार छूट या सहायता दी जा सकती थी। नई विधि के अनुसार लगान की दर, जो अन्तिम रूप में एक विशिष्ट (मुरब्बे—Square) के लिए घोषित हुई थी, अधिकतम रूप में थी, कि जिसे सरकार ४० वर्ष की अवधि में ले सकती है। किंतु सरकार इस अधिकतम दर को तब तक नहीं लेगी जब तक कीमतों का सामान्य स्तर कम-से-कम अदल-बदल की कीमतों तक ऊंचा नही हो जाता। यदि किसी वर्ष में सामान्य कीमत-स्तर उक्त कीमतों से बढ़ जाता है, तो लगान देने वालों को आधिक्य का पूर्ण लाभ दिया जायगा। किंतु, यदि किसी वर्ष में सामान्य कीमतों का स्तर गिर जाता है, तो लगान की दरों में अन्तर के अनुपात से आगामी वर्ष में छूट दी जायगी।

इस प्रकार, जहां सरकार, "नियत अधिकतम दरों में वृद्धि न करने के लिए बाध्य थी," वहां उसे, "लगान देने वाले को कीमतों की गिरावट का भी पूर्ण लाभ देना था, भले ही वह कितना ही बड़ा हो।"

सरकने वाली स्तर-प्रणाली के सब से प्रबल आलोचक स्व. प्रो. वृजनारायण थे। उन्होंने इस के विरुद्ध दो आपत्तियां उठायीं: (१) इस प्रणाली में कृषि की लागतों का हिसाब नहीं लगाया जाता; और (२) इसका आधार वास्तविकता पर न हो कर सैद्धांतिक अथवा कागज़ी शुद्ध-संपत्ति पर है।

प्रो. वृजनारायण ने लिखा था, "जब कीमतें बुरी तरह गिरती हैं और लागतें अल्प रूप में, तो यह संभव है कि शद्ध-संपत्ति संपूर्णतः लोप ही हो जाय। किंतु सरकने-वाली स्तर प्रणाली की धारणा है कि ज़मीदार को हमेशा ही 'शुद्ध-संपत्ति' का उपयोग होता है, बशर्ते कि कीमतों की गिरावट १०० प्रतिशत न हो।"[१]

फलस्वरूप, प्रो० वृजनारायण सिफारिश करते हैं, कि, "'शुद्ध-संपत्ति' में न्यूनता के अनुसार छूट की स्वीकृति दी जानी चाहिए, न कि अदल-बदल की कीमतों और असली कीमतों के अन्तर के अनुसार।"[२]

पंजाब मालगुज़ारी कमेटी ने प्रणाली के इस दोष को मान लिया था। उसने यह स्वीकार किया था कि गिरी हुई कीमतों की अवधि में मालिक-किसान की सम्पूर्ण आय की गिरावट के अनुपात से किसी प्रकार की छूट देना उसकी शुद्ध आय की गिरावट के अनुपात के बराबर नहीं होगी। कमेटी ने यह भी कहा था कि, "किंतु जब कीमतें पुनः बढ़नी शुरू होती हैं, तो विपरीत ढंग उपस्थित हो जाता है और उस समय में, यह अनुमान किया जा सकता है, कि दोनों प्रवृत्तियां एक दूसरे को तटस्थ कर देती हैं।"[३]

---

१. India Before and Since the Crisis, Vol. II. p. 611.
२. Ibid, p. 617.
३. Report, op. cit., p. 51.

हाल ही की कीमतों की भीषण वृद्धि ने, जान पड़ता है कि कमेटी के इस विचार को स्पष्ट कर दिया है ।

मध्य प्रदेश में, ऐसे मालगुज़ार हैं, जो वास्तविक रूप में मालगुज़ारी देने वाले 'किसान' थे, किंतु जिन्हें अंग्रेज़ों ने स्वामित्व के अधिकारों से संपन्न कर दिया था; इस प्रकार असली मालिकों को किरायेदारों की स्थिति में न्यून कर दिया गया था। कदाचित् यह नाममात्र के ज़मींदार तब तक के मालिकों का शोषण करेंगे और उन नाम के जमींदारों ने दूसरों को जो किराये देने होंगे, वह भी नियत किये जाने होंगे । किराये नियत करने के लिए भूमि के वर्गीकरण की बहुत विस्तृत प्रणाली को अपनाया जाता है । खेती के शुद्ध-लाभ की औसत पर 'भूमि की इकाई' का मूल्य निर्भर करता है कि जिस के लिए उपजाऊपन और स्थिति दोनों को ही दृष्टि में रखा जाता है ।

८. रय्यतवारी प्रणाली। (अ) **मदरास**—मालगुज़ारी का निर्धारण सामान्यतः निम्न बातें कर चुकने पर होता है : गांव की नपत की जाती है, अधिकारों को दर्ज किया जाता है, उत्पादन की समता के अनुसार भूमि का वर्गीकरण कर-लिया जाता है, इत्यादि। उत्पादन-क्षमता का अनुमान इस प्रकार लगाया जाता है : एक साधारण फसल की उत्पत्ति को लिया जाता है और पूर्व के २० दुर्भिक्ष-रहित वर्षो की औसत कीमत के आधार पर उस फसल की प्राप्ति का द्रव्य-मूल्य मालूम कर लिया जाता है। संपूर्ण उत्पादन में से शुद्ध-उत्पाद निश्चित करने के लिए अनिवार्य खर्चों को घटा दिया जाता है । मौसम के परिवर्तनों, अनुत्पादक क्षेत्रों, व्यापारियों के लाभों, बाजार से दूरी आदि के लिए भी गुंजायश कर दी जाती है । इस प्रकार शुद्ध-उत्पाद पर ५०% मालगुज़ारी की मांग नियत कर दी जाती है। जो भी हो, वास्तविक रूप में लिया बहुत ही कम जाता है, ५०% का नियम तो सर्वोत्तम भूमि पर लागू होता है। गांवों की परिस्थिति के कारण कतिपय बातों का समाधान किया जाता है कि जिन्हें सिंचाई की उपलब्ध सुविधाओं की दृष्टि से दलों में बांट दिया जाता है। यही कारण है कि समान भूमि होने पर भी भिन्न दरें वसूल की जाती हैं। प्रत्येक तीस वर्षों में मालगुज़ारी का प्रबन्ध होता है किन्तु, जब तक कीमतों में उन्नति न हो जाय अथवा सरकार रेल-निर्माण सरीखे सुधार नहीं करती, तब तक वृद्धि करने की आज्ञा नहीं। अधिकतम १८$\frac{३}{४}$% तक की वृद्धि करने की आज्ञा है ।

(ब) **बम्बई**—मालगुज़ारी निर्धारण के लिए यहां भी वही कार्य किये जाते हैं : सीमाओं की रेखाएं खींची जाती हैं, भूमि का वर्गीकरण और संख्याओं की नपत की जाती है । भूमि का प्रथम वर्ग निम्न अंशों के आधार पर है : आकार, जलवायु, वर्षा, कृषि का मान, श्रम-पूर्त्ति और पगार, पूर्व के ३० वर्षों में कृषि-क्षेत्र की भिन्नताएं, कीमतें, फसल से प्राप्ति, कृषि के व्यय, किराये के दाम इत्यादि । यह 'अन्नेवारी' वर्ग के नाम से मशहूर है। प्रमाणित भूमि को 'सोलह-आना' भूमि कहा जाता है। निर्धारण की प्रमाणित दर इस प्रकार की भूमि के आधार पर नियत की जाती है, किन्तु प्रमाणित दर सम्बन्धित

भूमि के पूर्व पांच वर्षों के औसत किराये से ३५% से अधिक नहीं होगी। प्रत्येक अधिसंपत्ति का निर्धारण उसके वर्ग पर निर्भर करता है। यदि यह 'बारह-आना' भूमि हुई, तो इस पर जो दर लागू होगी, वह प्रमाणित दर की तीन-चौथाई होगी।

बम्बई की मालगुज़ारी प्रणाली पहले प्रयोग रूप में थी, प्रबन्ध अधिकारी की इच्छा पर ही बहुत-कुछ निर्भर करता था। किन्तु अब अधिकतम निर्धारण के आधार के लिए कानूनी रूप में किराये की कीमत, नियत कर दी गई है।

बम्बई मालगुज़ारी विधि (१९३९) (Bombay Land Revenue Code, 1939) मालगुजारी की प्रणाली मे भिन्न है। इसके द्वारा सरकार को अत्यावश्यक अधिकार दे दिये गए हैं। अर्थात् मालगुजारी की मांग को किसी भी वर्ष में कृषि-कीमतों में परिवर्तन के आधार पर बदला जा सकता है।

पुनर्प्रबन्ध के समय, मालगुज़ारी में वृद्धि की जा सकती है, किन्तु सम्पूर्ण दल के लिए अधिकतम २५% तक और एक गांव या नपित संख्या की दशा में ५०% तक। जो उन्नतियां स्वतः किसान करता है, उन्हें वृद्धि का आधार नहीं ठहराया जा सकता।

९. निर्धारण के आधार। ऊपरलिखित मालगुज़ारी प्रणालियों के गतिशील अंकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्धारण का आधार किराया है, चाहे इसे 'शुद्ध-संपत्ति' अथवा 'शुद्ध उत्पाद' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, निर्धारण अधिकारी इस आधार पर विचार करता है कि ज़मींदार को असामी से क्या प्राप्त होता है अथवा उसे उस दशा में क्या प्राप्त होता है, जबकि उसने भूमि को खेती के लिए किसी दूसरे को दिया होता। खेती के खर्चों अथवा कृषि के लाभों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। यह बहुत ही अन्याय है। भारत में—वह देश, जिसकी भूमि पर बढ़ती हुई जन-संख्या का दबाव हो, जहां रोज़गार के साधन सीमित हों और जहां लोगों की भारी बहुसंख्या को जीविका-उपार्जन के लिए भूमि की ओर ही झुकना पड़ता है—किराये स्वभावतः ऊंचे होंगे। यदि असामी जीविका-उपार्जन की अपेक्षा कृषि को व्यापारिक प्रश्न के रूप में करते, तो जो-कुछ वह देने योग्य हो सकते, उसकी अपेक्षा वह कहीं अधिक और ऊंचे हैं। इसलिए, किराये को मालगुज़ारी का आधार बनाना न्याय नहीं।

जब कृषि की कीमतें गिरती हैं, (जैसी कि '३० के वर्षों में गिरी थीं) तो किसान को निश्चित हानि होती है। यहां तक कि उसकी आय किसान-परिवार के काम करने वाले सदस्यों की पगारें भी पूरी नहीं कर सकतीं। इस प्रकार उन्हें ज़मींदार के लाभ के लिए अपने को दास बनाना पड़ता है। प्रो० बृजनारायण के कथनानुसार, ज़मींदार के हिस्से में लूट का बहुत-बड़ा अंश होता है, और "सरकार की मालगुज़ारी इस लूट का एक अंश है।"

पंजाब लैंड रैविन्यू कमेटी (१९३८) ने यह प्रमाणित करने के लिए आंकड़े उपस्थित किये थे कि केवल मंदी के दिनों में 'शुद्ध सम्पत्ति' का हिसाब लगाने की वर्तमान

प्रणाली स्वामी-किसानों के लाभ के लिए उपयोगी सिद्ध हुई थी। प्रो० बृजनारायण ने इन आंकड़ों के लिए चुनौती दी थी और कहा था कि वह "बनाये गये" हैं और वैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए अर्थहीन हैं, अर्थात् वयस्क कार्यकर्ता की पगार १२० रु. वार्षिक के आधार पर आंकी गई थी जो कि हास्यास्पद है। प्रो० बृजनारायण ने पगार के लिए युक्तियुक्त अंक लेकर प्रमाणित कर दिया था कि ज़मींदार की शुद्ध-सम्पत्ति स्वामी-किसान की 'शुद्ध-संपत्ति' की अपेक्षा अधिक है। संपूर्ण प्रश्न ली गई पगार की ली गई दरों में अटकता है। पंजाब कमेटी शुद्ध-सम्पत्ति की व्याख्या में परिवर्तन करने को तय्यार नहीं थी और वह वर्तमान प्रणाली को जारी रखने के पक्ष में थी।

यह विवाद अधिकांशतः अब शास्त्रीय विषय हो गया है, क्योंकि कीमतों की असाधारण उन्नति ने संपूर्ण परिस्थिति में परिवर्तन कर दिया है और स्वामी-किसान की भुगतान की क्षमता में वृद्धि कर दी है। पंजाब कमेटी ने २५%की छूट की जो सिफारिश की थी, उससे मालिक-किसान की शुद्ध सम्पत्ति के अप्रत्यक्ष अनुमान से उत्पन्न हुई असमानता की (यदि कोई हुई तो) पूर्ति हो सकती है। मंदी में, रियायतों, निलम्बनों और अस्थायी सहायता के अतिरिक्त, पंजाब के नवीन प्रबन्धित क्षेत्रों में लागू की गई सरकने वाली स्तर-प्रणाली छोटे जमींदारों के मालगुज़ारी के बोझे को पर्याप्त रूप में हल्का कर देगी। बम्बई में भी इसी प्रकार की सुविधा प्रदान की गई है।

जब सब-कुछ कहा जा चुका है, तो वस्तुस्थिति शेष रह जाती है कि 'शुद्ध सम्पत्ति' जमींदार की शुद्ध सम्पत्ति है और इनका कृषि की लागतों से अथवा कृषि के शुद्ध-लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं। तब निर्धारण का ठीक-ठीक आधार यह होगा कि खेती में से उत्पन्न हुए लाभ, जैसा कि आयकर में होता है।

१०. मालगुज़ारी का अनुपात। क्या मालगुज़ारी का बोझा अत्यधिक है? सरकारी नीति के परिपोषकों की युक्ति है कि यह बोझा भारी नहीं है। ऐतिहासिक रूप में हिन्दू अथवा मुस्लिम शासकों के काल की अपेक्षा इस समय पर्याप्त रूप में कम है। इस प्रकार मनु ने संपूर्ण उत्पाद का १/१२ से १/१६ तक आदेश किया था और "युद्ध अथवा अन्य सार्वजनिक संकट में" एक-चौथाई तक लिया था।[1] अकबर के काल में यह अंश अधिक था। पंजाब में सिक्खों ने उससे भी अधिक लिया था। फल-स्वरूप, सिक्ख-काल में संपूर्ण उत्पाद की २/५ से १/३ तक की भिन्न मांग थीं। अंग्रेज़ों ने शुद्ध-सम्पत्ति की १/२ अधिकतम मांग नियत की थी, यद्यपि, वास्तव में यह किराये के ३०% से कम होती है। सम्पूर्ण उत्पाद की दृष्टि से आंकने पर १९३६–३९ में समाप्त होने वाले तीन वर्षों में जो औसत वसूली हुई, वह केवल ६·७ प्रतिशत थी। पंजाब लगान कमेटी (१९३०) का कहना है कि, "यदि हमें पूर्व- मंदी के तीन

---

१. Taxation Enquiry Committee Report, (1924-1925) p. 39.

वर्षों को लेना होता, तो अनुपात सम्भवतः ५ प्रतिशत की अपेक्षा न्यून होता। इसकी तुलना में, सौ वर्ष पूर्व, सिक्खों ने ३३ से ४० प्रतिशत लिया था।"[१]

१९३६–३९ में समाप्त होने वाले तीन वर्षों में, पंजाब में कृषि-किये प्रति एकड़ की औसत मालगुज़ारी १ रु. ९आ. २ पा. आई थी।

भारत के कुछ महत्वपूर्ण प्रांतों में १९३९ की जन-संख्या के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति और खेती-किये प्रति एकड़ की मालगुज़ारी का अनुपात निम्न आंकड़ों में दिया जाता है :[२]

१९३९ में मालगुज़ारी का अनुपात

प्रांत	प्रति कृषि-किये एकड़ पर	जनसंख्या के प्रति व्यक्ति पर
	रु.–आ.–पा.	रु.–आ.–पा.
बंगाल :		
स्थायी प्रबन्ध	१– ४–०	०–१२–०
अस्थायी प्रबन्ध	३– ४–०	०–११–०
अवध :		
स्थायी प्रबन्ध	१– ६–०	१–१५–०
अस्थायी प्रबन्ध	१–१५–०	१– ९–०
पंजाब :	१–१५–०	
बम्बई :		
रय्यतवारी	१–११–०	१–१५–०
मदरास :		
रय्यतवारी	२– ८–०	१–१५–०
ज़मींदारी	१– ६–०	०–१४–०

इस प्रकार वर्तमान प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि (१) प्रति एकड़ और जनसंख्या के प्रति व्यक्ति पर मालगुज़ारी का बोझा बहुत ही कम है और भूतकाल की तुलना में तो यह न के बराबर है; (२) यह कहा जाता है कि यदि इस बोझे को भी हटा दिया जाय तो वह किराया वसूल करने वालों के पास चला जायगा, और असल किसान को इससे लाभ नही होगा;[३] (३) यह कहा जाता है कि अंग्रेजी शासन-काल में किसान की खुशहाली में वृद्धि हुई, जबकि टैक्स कम कर दिया गया था, और अन्ततः (४) मालगुज़ारी टैक्स

१. Report, p. 11.
२. Taken from Wadia & Merchant: Our Economic Problem, p. 246.
३. Anstey, op. cit., p. 377

नहीं प्रत्युत किराया है, क्योंकि उत्पादन के मूल्य में इसका प्रवेश नहीं और इस तरह वह किसान की खुशाहाली को प्रभावित नही करता ।

मालगुज़ारी किराया है या टैक्स है, यह प्रश्न विवादास्पद है, इसके विषय में हम आगे विचार करेंगे । जहां तक इस वाद के समर्थन में दी गई अन्य युक्तियों का सम्बन्ध है कि भारतीय किसान पर मालगुज़ारी का गंभीर बोझा नही है, निम्न उत्तर दिया जा सकता है :—

१. हिन्दू और मुस्लिम शासकों के काल में मालगुज़ारी नियत थी और जिन्सरूप में संग्रहित की जाती थी ; इसलिए उसका बोझा करदाता की देने की क्षमता में भिन्नता पैदा करना था । वर्तमान में, यद्यपि छूट और निलंबन स्वीकार किये जाते हैं तथापि दी जाने वाली राशि नकद में नियत है, जब कीमतें न्यून हों, तो इससे बहुत ही कठिनाई होती है । संग्रहित करने की राशि और ढंग भारतीय शासकों की अपेक्षा अत्यधिक कठोर है ।

२. ब्रिटिश-काल में दस्तकारियों के अभाव और जन-संख्या में वृद्धि के कारण भूमि पर पर्याप्त रूप में दबाव बढ़ा । यहां तक कि जब भारतीय शासक सम्पूर्ण उत्पाद का बड़ा अंश ले चुकते थे, तो प्रति परिवार के लिए एक बड़ा अंश बच जाता था । उस शेष से वह अपनी परम्परागत सुविधाओं से गुजर-बसर कर सकते थे । वर्तमान में प्रति परिवार के लिए बहुत थोड़ी भूमि है और फलस्वरूप कुल उत्पाद इतना ही हो पाता है कि जिस से वह वर्ष भर गुज़र कर सके । इस पूर्ति में से थोड़ा-सा अंश ले लेने पर भी, परिवार के लिए यह असहनीय बोझा हो सकता है ।

३. अगर हम इसी समस्या को मान लें कि सैकड़ों वर्ष पहले बोझे की अपेक्षा वर्तमान का बोझा हल्का है, तो अन्यायपूर्ण होने की दशा में, वर्तमान बोझा न्याय नही ठहराया जा सकता । हमें १६वी सदी के न्याय के मानों को लागू नहीं करना चाहिए जबकि हम २०वी सदी में रह रहे है । हमें मालगुज़ारी का अनुपात उसके गुणों के आधार पर टैक्स लगाने के नवीन-सिद्धांतों के अनुसार आंकना चाहिए ।

४. यह कहना कि इस प्रणाली को हटा देने से उसका लाभ किराया प्राप्त करने वालों को चला जायगा, यह युक्ति-युक्त नहीं । अनक मालगुज़ारी देने वाले किसान-मालिक है; किसी प्रकार की छूट अथवा समाप्ति से उन्हें प्रत्यक्षतः और तत्काल लाभ होगा । जहां तक सम्बन्ध बड़े ज़मीदारों से है (यदि उन्हें निरन्तर रहना है, तो) तो यह बोझा अत्यधिक भारी होने की अपेक्षा अत्यधिक हल्का है । उन्हें मालगुज़ारी के रूप में नहीं प्रत्युत कृषि-आयों के रूप में अधिक राशि देनी चाहिए ।

५. जहां तक किसानों की खुशहाली में वृद्धि का सम्बन्ध है, यह निश्चित तथ्य नहीं । इस विषय पर भिन्न मत है कि औसत किसानों को आज के दिन अधिक अन्न, वस्त्र और स्वास्थ्यलाभ है या सदियों पहले अधिक था । अगर, उसकी गरीबी में न्यूनता हो गई है, (हम खुशहाली तो कह ही नहीं सकते) तो यह कोई न्याय नहीं कि उस पर ऐसा बोझा

लादा जाय कि जो उसकी आर्थिक क्षमता के अनुकूल न हो। ऐसे ही वर्गों को लीजिये, कि जो ब्रिटिश राज्य में वास्तव में ही खुशहाल हुए थे, तो क्या उन्होंने उसी अनुपात से अपना अंश चुकाया ?

६. किसान-कृषक को सहायता देने से क्यों इंकार किया जाता है, इसका असल कारण यह है कि यदि आर्थिक-स्थिति-रहित अधिसंपत्तियों को मालगुज़ारी से निकाल दिया जाता है, तो सरकार की अर्थव्यवस्था पर भीषण प्रहार होगा।

मालगुज़ारी का कोई भी रूप हो, वह देनेवालों की टैक्स की क्षमता के अनुरूप होना चाहिए, और उसे टैक्स की विख्यात रीतियों के अनुसार ही लगाया जाना चाहिए। सबसे महत्वपूर्ण रीति, अर्थात् "साम्य" की संतुष्टि की जायगी बशर्ते कि अर्थ-व्यवस्थाहीन अधिसंपत्तियों को मालगुज़ारी में से निकाला जाना है और प्रगति का सिद्धान्त लागू किया जाना है। इसके अतिरिक्त, इसे मौसमी अवस्थाओं और कीमतों में परिवर्तन के अनुसार मेल बैठाने के लिए भी लोचदार बनाना चाहिए।

११. **टैक्स या किराया।** मालगुज़ारी टैक्स है या किराया, यह एक पुराना विवाद है और नीति के मामलों में इसका कोई क्रियात्मक आधार नहीं। बेडन पावेल ने इसे लाभहीन "वाग्युद्ध" कहा है। इतने पर भी यदि हम मान लें कि भारत में राज्य की व्यापक ज़मींदारी है और फलस्वरूप मालगुजारी किराया है, तो लोगों के हित से संबंधित किये बिना यह आरोप लगाना न्याय नही। एक ज़मींदार भी, यदि वह जागरूक है, अर्थ-व्यवस्थाहीन अधिसंपत्तियों को किराये से मुक्त कर सकता है। जब वह ज़मींदार भी राज्य है, तो उसका मुख्य दृष्टिकोण प्रजा का हित होना चाहिए, (किसी प्रकार के सैद्धांतिक अधिकारों को थोपे बिना)। यदि छोटे अधिसंपत्ति वाले को सहायता चाहिए, तो उसे मिलनी ही चाहिए, भले ही वह, जो भगतान कर रहा है, वह मालगुज़ारी रूप में सिद्धान्ततः टैक्स अथवा किराया माना जाता है।

मालगुज़ारी किराया है या टैक्स, यह इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करेगा : "भूमि का मालिक कौन है ?" यदि राज्य मालिक है तो यह किराया होगा; और यदि लोग स्वामी होंगे तो वह टैक्स। यह प्रमाणित करने के लिए बहुत थोड़े उदाहरण हैं कि भारत में राज्य ही ज़मींदार है। भारत में राज्य इतिहास के आधार पर भूमि के स्वामित्व का दावा नहीं कर सकता। विल्सन के कथनानुसार, "सत्ता के स्वामित्व का अधिकार हिन्दुओं की संस्थाओं अथवा प्राचीन नियमों द्वारा प्राप्त नहीं होता और न ही नवीन हिन्दू वकील उसे विशिष्ट अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व के साथ अनुरूप में स्वीकार करता है।" जहां तक मुस्लिम कानून का सम्बन्ध है, हमारे पास कर्नल गैल्लोवे के अधिकारपूर्ण शब्द हैं : "जहां तक सम्भव हो सकता है, भूमि किसान की संपत्ति थी। जब तक वह अपने करों का भुगतान करता था, तब तक उसे अशान्त करने के लिए, न तो कानून ने कोई अधिकार दिया था, और न ही उसे हटाने के लिए नीति में कोई आदेश था।......

भारतीय किसान का अधिकार स्वत्वाधिकार है, और हस्तांतरण का भी।...तो फिर किस दशा में, अंग्रेज़ ज़मींदार के मुकाबिले में उसका जायदाद के स्वामित्व का अधिकार हीन है ?

यहां तक कि आधुनिक काल में भी, भारत में राज्य ने भूमि के स्वामित्व के अधिकार का दावा नहीं किया। जैसा कि बेडन पावेल ने ज़मीदारी भू-खंड के विषय में उल्लेख किया है, सरकार ने निश्चित रूप से यह कहा है कि भूमि के स्वामित्व के अधिकार "भूमिधारियों में निहित घोषित हो चुके हैं।" रय्यतवारी ज़िलों में रिक्त और व्यर्थ भूमि पर राज्य का "विशिष्ट अधिकार" है। किन्तु किसान को निकालने का उसे अधिकार नहीं, "सिवा मालगुज़ारी का भुगतान न करने के फलरूप अपराध के कारण।" "फलतः", वह निर्णय करते हैं, "भारत के अधिकांश भाग पर सरकार का "स्वीकृत स्वामित्व" विद्यमान नहीं है और अन्य भागों पर केवल बहुत ही विशष दशा में है।"[१]

इस दायित्व में टैक्स और साथ ही किराये के अंश भी सम्मिलित हैं। चूंकि राज्य द्वारा यह अनिवार्य कर लगाना और समयांतर संग्रहित करना है, इसलिए यह टैक्स से मिलता-जुलता है। किन्तु चूंकि प्रायः[२] सभी भूमियों को यह भुगतान करना होता है, और इसम प्रगति का कोई तत्त्व नहीं, और कुछ प्रांतों में कृषि-आयों के टैक्स से यह अतिरिक्त है, तो कोई इसे किराया भी समझ सकता है। "सम्भवतः यह कहना इसका निकटतम रूप होगा," वेरा एन्स्टे उल्लेख करता है, "कि यह किराये पर टैक्स है और चूंकि भारत में असल कृषकों का एक बड़ा अनुपात "भू-स्वामियों" के रूप में है, इसलिए, इसमें संदेह नहीं कि सरकार उस एक आय को मालगुज़ारी के रूप में प्राप्त कर रही है, जो अन्यथा उनकी जेबों में चली गई होती।"[३]

किन्तु, चाहे यह किराया है, अथवा टैक्स है, यह एक दायित्व है, जो सरकार द्वारा लगाया जाता है और फलरूप इसे किसानों को "भुगतान करने की कार्य-शक्ति" सही बैठा लेना चाहिए और इसे टैक्स लगाने की ख्यात रीतियों के अनुरूप पाबंद कर लेना चाहिए।

१२. क्या भारतीय मालगुज़ारी टैक्स लगाने की रीतियों को सन्तुष्ट करती है ? टैक्स लगाने की प्रख्यात रीतियां निम्न है: साम्यता, निश्चितता, अर्थ-प्रबन्ध और सुविधा, नमनशीलता, उत्पादन शक्ति, और सरलता। मालगुज़ारी की अवस्था में भुगतान की राशि निश्चित होती है, किन्तु निर्धारण का आधार स्पष्टतया व्यक्त नहीं किया गया। इस प्रकार इसमें 'सरलता' का अभाव है और 'निश्चितता' की रीति को केवल आंशिक रूप में संतुष्ट किया गया है। 'सुविधा' को संतुष्ट करता है, क्योंकि मालगुज़ारी किश्तों में संग्रहित की जाती है और फसल काटने के अवसर पर मालगुज़ारी संग्रहित करने वाले कर्मचारीवर्ग का बहुत बड़ा वेतन-बिल होता है, किन्तु इसे संग्रहित करने की

१. Quoted by V. Anstey, op. cit., p. 376.
२. Some Lands are revenue free-grants.
३. V. Anstey, op. cit., p. 376.

लागत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह कर्मचारी अन्य प्रशासन कार्यों को भी करते हैं। इसलिए "अर्थ-व्यवस्था" रीति को भी भंग किया हुआ नहीं माना जा सकता। "उत्पादन-शक्ति" की रीति भी सतुष्ट हो जाती है, क्योंकि इस टैक्स की प्राप्त राशि बहुत बड़ी होती है और राज्य-सरकारों की मुख्य आय है। जो भी हो, इसमें "नमनशीलता का अभाव है, क्योंकि यह दीर्घकाल के लिए नियत की जाती है, जैसा कि बंगाल में है, अथवा ३०-४० वर्षो के लिए। बम्बई और पंजाब में सरकने वाली स्तर-प्रणाली द्वारा मालगुज़ारी की नमनशीलता से जुदा हुआ गया है। सबसे महत्वपूर्ण रीति, अर्थात् साम्य है। वस्तुतः इसे भंग किया गया है, क्योंकि अर्थव्यवस्थाहीन अधिसंपत्तियों को भी मालगुज़ारी देनी पड़ती है। इसलिए, मालगुज़ारी साररूप में असमान और दबाव डालने वाली है।

१३. क्या मालगुज़ारी रिकार्डो की दृष्टि में किराया है? रिकार्डो के अनुसार, किराया लागत से ऊपर आधिक्य है। किन्तु भारत में अधिकांश भू-सम्पत्तियां अर्थ-व्यवस्था रहित हैं और उनमें आधिक्य शेष नहीं रहता। इस प्रकार की दशाओं में मालगुज़ारी जीविका के साधनों को खा जाती है। आधिक्य की बात तो दूर की रही, न्यूनतम लागतें भी भूमि की आय में से नहीं निकाली जा सकतीं। यदि किसानों को परिवार के उन सदस्यों की पगारें देनी पड़ें कि जो खेत में काम करते हैं, और उन्हें कृषि की लागत में जोड़ा जाय, तो कृषि-कार्य, सामान्य समयों में भी, अधिकांश मामलों में हानिकारक सिद्ध होगा।

दूसरे सीमांत पर बड़े जमींदार हैं, जिन पर मालगुज़ारी का बहुत ही हल्का बोझ है। उनकी स्थिति में यह अर्थ-व्यवस्था के किराये से भी बहुत थोड़ा है। इन दोनों सीमाओं के बीच मालगुज़ारी रिकार्डो-वाद के किराये से टकरा सकती है किन्तु यह घटनावश ही होगा, निश्चित कारण के रूप में नहीं। वास्तविक रूप में, हमारी मालगुज़ारी और रिकार्डो-वाद किराये के बीच कोई अनिवार्य संबंध नहीं जान पड़ता।

१४. मालगुज़ारी सुधार के मार्ग। भारतीय मालगुज़ारी-प्रणाली के विशेषज्ञों और राजनीतिज्ञों, दोनों ने ही कड़ी आलोचना की है। यह मुख्यतः इस सूत्र पर आधारित है: "पुराना टैक्स, टैक्स नहीं है।" वर्तमान प्रणाली के विषय में निम्न आपत्तियां हैं:

क. बहुसंख्या पर यह बोझ दबाव के रूप में है।

ख. यह साम्यता की रीति को भंग करती है, क्योंकि इसमें न्यूनतम छूट नहीं और न ही प्रगति है।

ग. निर्धारण का आधार अन्यायपूर्ण और अस्पष्ट है।

घ. इस प्रणाली में नमनशीलता का अभाव है, क्योंकि या तो मालगुज़ारी स्थायी नियत कर दी जाती है, अथवा ३०-४० वर्षों के दीर्घकाल के लिए।

ङ. संग्रहित करने में कठोरता की जाती है।

जहां तक वर्तमान प्रणाली को सुधारने का प्रश्न है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, यह कहना कि मालगुज़ारी टैक्स है या किराया, इससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं। वर्तमान प्रणाली को उन्नत करने की विभिन्न तजवीज़ें की गई हैं: (१) छोटी भू-सम्पत्तियों के स्वामियों को सहायता, (२) बड़ी मालगुज़ारी देने वालों और अन्य रूपों में टैक्स देने वालों के बीच टैक्स लगाने के बोझे का अधिक साम्यतापूर्वक वितरण।

सुधार के लिए निम्न प्रस्ताव उपस्थित किये जा सकते हैं:

१. स्थायी प्रबन्ध को हटा दिया जाय। इस विषय पर हम विचार चुके हैं और हमने उसका समर्थन किया है।

२. कुछ की तजवीज़ है कि मौजूदा जैसी मालगुज़ारी हटा दी जाय और उसकी जगह कृषि से प्राप्त आयों पर आयकर लगाया जाय।

३. कुछ अन्य मालगुज़ारी में आयकर के सिद्धांत को लागू करना चाहते हैं, अर्थात् छोटी भू-सम्पत्तियों को मुक्त किया जाय और बड़े भू-स्वामियों पर प्रामाणित दर लगाई जाय।

४. अन्ततः, कुछ लेखकों ने उन दोनों को व्यक्त किया है, जो शुद्ध-सम्पत्ति गणना के विषय में हैं, विशेष कर पंजाब में, और वह चाहते हैं कि इस अनुमान को अधिक वैज्ञानिक रूप दिया जाय।

१५. छोटे भू-स्वामियों को सहायता। एक विचारधारा की तजवीज़ है कि मालगुज़ारी को आमूल हटा दिया जाय। मालगुज़ारी को हटाने का मुख्य उद्देश्य छोटे भू-स्वामियों को भुगतान के इस बोझे से मुक्त करना है। किसी निर्णय पर पहुंचने से पहले इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों पर सावधानी के साथ विचार कर लेना चाहिये। वह यह हैं:

(१) राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक आधारों पर क्या यह उचित और न्याय-संगत होगा कि छोटे-भूस्वामियों को राज्य की मालगुज़ारी में प्रत्यक्ष भाग लेने से पूर्णतया मुक्त कर दिया जाय।

(२) यदि उसे यह सहायता दे दी जाय, तो वह कहां तक अपने जीवन-मान को उन्नत करेगा अथवा उत्पादन के उपायों को?

(३) सरकार की आर्थिक हानि की क्या सीमा होगी? क्या यह हानि वैकल्पिक साधनों से पूरी की जा सकेगी? यदि नहीं, तो सार्वजनिक हित के इस सरकारी खर्च में कटौती करने के संभावित परिणाम क्या होंगे?

आइए, इन पर हम विचार करें।

(१) मालगुज़ारी निर्धारण और संग्रह से इस बात की आवश्यकता हुई कि भूमि, उसके उत्पादन और संपत्ति अधिकारों आदि के रिकार्ड (लेख्यपत्र) रखे जांय, और यह लेख्यपत्र प्रबन्धक और अर्थशास्त्री के लिए बहुमूल्य हैं। किन्तु यह केवल आकस्मिक लाभ हैं। इस प्रणाली को अधिक सैद्धांतिक आधारों पर प्रामाणित करना चाहिए।

पंजाब मालगुज़ारी कमेटी ने नैतिक और सामाजिक अंग की ओर ध्यान आकर्षित किया था। भू-स्वामी, विशेषकर पंजाब में, विशिष्ट सुविधाओं का उपयोग करता है[1] और राज्य द्वारा उसे रक्षा प्रदान की जाती है। फलस्वरूप, उसे भू-स्वामी होने के कारण राज्य-कोष में कुछ अंश देना चाहिए। एक गवाह[2] का कहना था कि छोटा-भू-स्वामी मालगुज़ारी से मुक्ति नहीं चाहता, क्योंकि मालगुज़ारी देने से उसका अस्तित्व बढ़ता है, मान, और इज़्ज़त बढ़ती है। यह बहुत सन्देहपूर्ण जान पड़ता है। छोटे भू-स्वामी छूट के विचार पर तो उछल पड़ेंगे। जहां तक सम्बन्ध "सुविधाओं" का है, ऐसे वर्ग को राज्य की इस रक्षा का अर्थ यह है कि उससे भी अधिक सुविधा-संपन्न वर्ग उसका अधिक शोषण कर सके, और इसलिए उस वर्ग पर टैक्स लगाने की न्याय्यता के लिए उन सुविधाओं को उपस्थित नहीं किया जा सकता, जबकि इस बोझ को सहन करने की उनमें योग्यता भी नहीं और जबकि अन्य वर्गों पर भी उसी परिमाण में टैक्स नहीं लगाया जाता। इसलिए, छोटे भू-स्वामियों से जो मालगुज़ारी ली जाती है, वह अर्थ-व्यवस्था, राजनीतिक अथवा नैतिक आधारों पर युक्तिसंगत नहीं।

ऊपर लिखे नं. २ के सम्बन्ध में, मिसेज़ एंस्टे का कहना है कि अतीत के अनुभव से परीक्षण करने पर, यह जान पड़ता है कि परिवर्द्धित आय का एक अंश उत्सवों के बढ़े हुए खर्चों पर फैल जायगा और जीवन-मान को उन्नत करने अथवा कृषि-प्रणालियों में उन्नति करने के बजाय, उस अंश का शेष जन-संख्या की वृद्धि हड़प जायगी।[3] यह पुनः एक निराधार-सी-युक्ति है। क्या सरकार अन्य वर्गों पर टैक्स लगाते समय यह सोचती है कि यदि टैक्स घटाया अथवा बढ़ाया जायगा, तो इस प्रकार बचा हुआ द्रव्य खर्च हो

१. "इन किसानों की भूमि रुपये की डिगरी के बदले बेची नहीं जा सकती अथवा गैर-काश्तकार को २० वर्ष से अधिक के लिए बंधक नहीं की जा सकती। मालिया अधिकारी के हस्तक्षेप बिना दीवानी अदालत भू-स्वामी को बेदखल नहीं कर सकती और अपने तथा अपने परिवार के पालन के लिए पर्याप्त भूमि रखने का उसे अधिकार है। उसका हल, पशु, औज़ार और बीजों की कुर्की नहीं हो सकती। यदि उसपर दावा किया गया है, तो यदि ब्याज कानूनी सीमा से अधिक है, तो वह कम किया जा सकता है। दावे को साबित करने का भार साहूकार पर है, और उसके विरुद्ध मूलधन के दोगुने से अधिक डिगरी नहीं हो सकती। जब वह मर जाता है, तो उसकी पैतृक सम्पत्ति भुगतान की ज़िम्मेदार नहीं। अन्त में, १९३४ के एक्ट के अनुसार समझौता बोर्ड बन गए हैं, जो ऋणों का निपटारा करेंगे।" Report, p. 74.

२. Written Memorandum by Sir G. de Montmorency, Report, p. 167.

३. Anstey, op. cit., p. 377.

जायगा ? निश्चय ही, सामाजिक समारोह दीन किसानों के लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने कि अन्य उच्च-वर्गों के विभिन्न मनोरंजन और सामाजिक व्यय महत्वपूर्ण हैं। नि:सन्देह, इन दीन वर्गों को ऐसे उपायों का आदेश करना चाहिए कि वह अपनी छोटी आयों से किस प्रकार अधिकाधिक लाभ उठा सकते हैं। ऐसा उन्हें शिक्षा सुविधाओं द्वारा किया जाना चाहिए, न कि उनकी अल्प आयों को टैक्स रूप में छीन कर।

३. अंततः, हम अर्थ-व्यवस्था के विचार पर आते हैं। यदि मालगुज़ारी समाप्त कर दी जाती है, और सामान्य छूट की सीमा के साथ कृषि आयों पर आयकर लगाया जाता है, तो सरकार की आय में भयंकर न्यूनता होगी। यहां तक कि बड़े ज़मींदारों से भी आयकर का दातव्य मालगुज़ारी दातव्य की अपेक्षा बहुत कम होगा। पूर्व स्थिति में, उनकी भूमि की शुद्ध आय में से यह लगभग २५% है, किन्तु औसत आयकर की दर इससे बहुत कम होगी। यहां तक कि बड़े ज़मींदारों को दातव्य की मुक्ति दिये बिना छोटे-भू-स्वामियों की छूट से भी सरकारी आय में बड़ी भारी छांटी हो जायगी। पंजाब कमेटी का अनुमान था कि यदि उन्हें, जो ५०० रु. से कम भुगतान करते हैं, छूट दे दी जाय, तो कुल "मालगुज़ारी के ४$\frac{3}{4}$ करोड़ रु. में से ३० से ४० लाख रुपये की कमी हो जायगी।"[१] यदि २५० रु. तक की आयों को भी छूट दे दी जाय, तो कमेटी ने २$\frac{3}{4}$ करोड़ रु. से भी अधिक की हानि का अनुमान किया था। मालगुज़ारी की दृष्टि से यदि १० रु. वार्षिक या इससे कम देने वालों को भी छूट दे दी जाय, तो सरकार की आय में ७८·६ लाख रु. तक की हानि हो जाती है। इस प्रकार जहां १० रु. वार्षिक से छोटे भू-स्वामियों की आर्थिक-स्थिति में कोई प्रत्यक्ष परिवर्तन नहीं होगा, तहां सरकार की अर्थ-व्यवस्था में इसके कारण घोर अंतर उपस्थित हो जायगा और फलरूप तब तक सरकार लाभदायक कार्यकलापों में छांटी करती रहेगी, जब तक कि अन्य कुछ साधनों से इस अन्तर की पूर्ति नहीं हो जाती। पंजाब कमेटी के शब्दों के अनुसार, "भारत जैसे दीन देश में, मालगुज़ारी की राशि, जो उच्च-वर्गों से प्राप्त की जा सकती है, बहुत बड़ी नहीं है, और 'धनियों को दोहने' की प्रख्यात सामान्य विधि का, जो इंग्लैंड जैसे संपन्न देश में पर्याप्त रूप से लाभकर है, भारत में केवल सीमित ही क्षेत्र है। यदि किसी पर्याप्त राशि को प्राप्त ही करना है, तो यह संपूर्ण समाज पर कर रूप में फैलाये बिना, और एक छोटी राशि यथासंभव अनेक लोगों पर लगाये बिना सरलतापूर्वक नहीं हो सकती।"[२]

हम इस दृष्टिकोण से सहमत होने के लिए विवश हैं। जो भी हो, हम पंजाब कमेटी की उस सिफारिश का समर्थन करते हैं, जिसमें उसने स्वामी-कृषक को सामान्य दर पर निर्धारण के बाद दातव्य में २५% की न्यूनता की सिफारिश[३] की थी।

---

१. Report, p. 72. २. Report, p. 73. ३. Report, p. 64.

सत्रहवाँ अध्याय

भारतीय उद्योग

१. भारतीय उद्योगों का अनुदर्शन। भारत का औद्योगिक अतीत वर्तमान में हमारे लिए विशेष रूप से उत्साहप्रद है। जबकि शेष विश्व अभी अर्द्धसभ्य-दशा में था, तब संसार के व्यापार और उद्योग में भारत की उच्चतम स्थिति थी। "जिस काल में योरोप के पश्चिम में, जो नवीन औद्योगिक प्रणाली का जन्म-स्थान है, असभ्य जातियों का अधिवास था, उस समय भारत अपने शासकों की संपत्ति और अपने कारीगरों की कलापूर्ण चातुरी के लिए विख्यात था।"[1] एडवर्ड थार्नटन ने भी उसी भावुकता में उल्लेख किया है "उस काल से पूर्व, जबकि पिरामिडों (मिस्र की ममियों) ने नाईल की घाटी को आंका ही था, जब ग्रीस और इटली योरोपीय सभ्यता के वह दूध पीते शिशु, केवल जंगलों के अधिवासी के रूप में पोषित होते थे, उस समय भारत संपत्ति और ऐश्वर्य का भंडार था।"[2] "ईसा से दो हज़ार वर्ष पूर्व की मिस्र देश की ममियाँ बढ़िया किस्म की भारतीय मलमल में लिपटी हुई पायी गई हैं।"[3] तेरहवीं सदी के पूर्व-भाग में, जब मार्को पोलो ने भारत की यात्रा की, तो उसने कहा था कि भारत एशिया के मुख्य बाज़ारों के रूप में अपनी पुरानी ख्याति को स्थिर बनाये हुए है। इस प्रकार के उल्लेख सरलतापूर्वक घड़े जा सकते हैं, किन्तु इस बात की आवश्यकता नही। यह सर्वमान्य है कि भारत ने अपने अतीत में जो औद्योगिक उन्नति की थी, उसका जाज्वल्यमान रूप प्रकट किया जा सकता है।

२. भारतीय उद्योगों का पतन। किन्तु भारत ने जो स्पर्द्धापूर्ण स्थिति बना ली थी, वह सदैव के लिए स्थिर रहने वाली नहीं थी। हमारी इस गर्व-पूर्ण निर्माण को विध्वंस करने के लिए कुछ अंशों ने षड्यंत्र किया।

(१) **पुरानी भारतीय अदालतों का अंत**—भारतीय उद्योग देसी न्यायालयों की देख-रेख में फूलते-फलते थे। ब्रिटिश सत्ता के एकीकारण और केन्द्रीयकरण से उनका लोप हो गया। स्वाभाविक ही था कि जब उनके संरक्षक ही लोप हो गए, तो यह उद्योग जीवित नहीं रह सकते थे।

(२) **विपरीत पश्चिमी प्रभाव**—पश्चिमी रंग पर शिक्षित हुआ नया शिष्ट

---

१. Report of the Indian Industrial Commission,'18, p.1.
२. Thornton, Edward—History of British Empire in India 1841. Vol. I. p. 3.
३. Ranade—Essay on Indian Economics, p. 171.

समाज पुरातन भारतीय गौरव का धुंधला स्थानापन्न था। जैसा कि डा० एन्स्टे का कहना है, "भारत के धनी वर्ग ने योरोपीय फैशन को अपनाना शुरू कर दिया और या तो वह आयात की हुई वस्तुओं को खरीदते अथवा उन सस्ते देसी उत्पादनों से ही संतुष्ट हो जाते कि जो योरोपियनों को बेचे जाते थे। यदि इन्हीं को वह पहले अपने ही यहां से लेते, तो निश्चय ही नाक-भौं सिकोड़ते।" हर बात में पश्चिमी ढंग को अपनाने की एक लहर-सी पैदा हो गई थी।

(३) **घर में और भारत में ब्रिटिश-नीति**—अपने निजी उद्योगों को उन्नत करने और उन्हें विदेशी प्रतिद्वंद्विता से सुरक्षित रखने की इच्छा के फलस्वरूप, ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारतीय वस्त्र पर प्रायः प्रतिरोधी कर लगा दिये थे। १७०० और १८२९ के बीच रंगीन छींटें पूर्णतया रोक दी गई थीं, और कतिपय अन्य किस्मों पर ३० से ८० प्रतिशत तक कर देना होता था। आर. सी. दत्त १७-३-१७६९ के एक पत्र का उल्लेख करते हैं, जो भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों को डाईरेक्टर ने लिखा था। उन्होंने अधिकारियों को आदेश दिया था कि वह रेशम के उत्पादन को प्रोत्साहन दें और रेशमी वस्त्र के निर्माण को निरुत्साहित करें और जुलाहों को कम्पनी के कारखानों में काम करने के लिए बाध्य करें। प्रो० होरेस विल्सन लिखते हैं, "यदि इस प्रकार के प्रतिरोधी कर और बन्धन विद्यमान न होते, तो पैसले और माँचैस्टर की मिलों का जन्मते ही गला घुंट जाता और उन्हें वाष्प की शक्ति से भी चलाना कठिन हो सकता था।" फिर आगे कहते हैं, "विदेशी निर्माता ने दबोच रखने के लिए राजनीतिक अन्यायपूर्ण शस्त्र का प्रयोग किया और अंततः एक प्रतिद्वंद्वी का गला घोंट दिया कि जिसका समानता की शर्तों पर वह मुकाबला नहीं कर सकता था।"

भारत की सहायक सरकार ने होम गवर्नमेंट की ईमानदारी के साथ हां-में-हां मिला दी। अंग्रेज़ी वस्तुओं को भारत में सस्ते दामों में झोंकने का प्रत्येक यत्न किया गया और भारतीय निर्माताओं को निरुत्साहित करने और दबाने की हर चेष्टा की गई।

(४) **मशीन-बनी वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता**—मशीन की बनी वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि वह कठिनाई-रहित थीं और यातायात तथा वहनीयता के साधनों की प्रगति से अधिक प्रभावशाली बन गई थीं। पुरानी दस्तकारियां, जिनमें एक वस्तु को बनाने के लिए कारीगर असाधारण लम्बा समय लेता था, भले ही वह सुन्दर एवं कलापूर्ण होती थीं, स्वभावतः ही उस औद्योगिक क्रान्ति के समक्ष नहीं टिकती थीं, जो विदेशों में हो चुकी थी।

वर्तमान परिस्थिति यह है कि कुछ-एक प्राचीन उद्योगों को जीवित किया गया है और अनेक नवीन महान् उद्योगों को भी उन्नत किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में हम घरेलू उद्योगों के विषय में चर्चा करेंगे और आगामी तथा उसके बाद के अध्याय में नवीन वृहद् उद्योगों तथा उनकी समस्याओं के विषय में चर्चा करेंगे।

घरेलू दस्तकारियाँ

३. नवीन औद्योगिक निर्माण में लघु-स्तर उद्योगों का अंश। अतीत में, विश्व-उद्योगों में भारत का प्रमुखतम स्थान था। पुराने भारतीय उद्योग अधिकांश लघु-स्तर पर थे और "घरेलू" वर्ग में उनका स्थान आता है। हमने यह भी देख लिया है कि कुछ-एक विपरीत स्थितियों के कारण, भारतीय उद्योगों का, जो किसी समय बहुत फूली-फली दशा में थे, पतन हो गया।

किन्तु यह सोचना भूल है कि वृहद्-स्तर का उद्योग लघु-स्तर के उद्योग का संपूर्ण विनाश कर सकता है। जैसा कि प्रिंस क्रापॉटकिन का कहना है कि "उद्योग के विषय में अर्थशास्त्रियों का केवल कृत्रिम और पोथी-ज्ञान आधी सदी तक इस बात को प्रमाणित करने की चेष्टा किये बिना ही इस नियम पर (लघु-उद्योगों के लोप होने की अनिवार्यता) स्थिर रहने दे सकता है। छोटे व्यापार नष्ट नहीं किये जाते और न ही नष्ट किये जा सकते हैं: (Proteus) रुद्र की भांति वह सदैव अपने रूप को बदलते रहते हैं।"[१] लघु-स्तर उत्पादन के अपने ही निजी लाभ होते हैं।

हाल ही के समय में, लघु-स्तर उद्योगों को नये अनुकूल अंशों द्वारा विशेष सहायता प्रदान की गई है, अर्थात् सस्ती बिजली की प्रगति, जो छोटे अंशों में दी जा सकती है; धनी वर्गों में कलापूर्ण और ऐश्वर्य की वस्तुओं के लिए रुचि की वृद्धि; सहकारिता आन्दोलन की उत्पत्ति; और टैकनीकल (कलाकौशल विषयक) ज्ञान का विस्तार। इस प्रकार वृहद्-स्तर उद्योगों के साथ-साथ लघु-स्तर उद्योगों की सफलता भी हमें दिखाई पड़ती है। वह लघु-उद्योग प्रतिद्वंद्वी होने की उपेक्षा वृहद्-उद्योगों के पूरक के रूप में हैं।

यहां तक कि पुराने देशों में भी, जो बड़े-बड़े व्यापार की पुरातन भूमियां हैं, लघु-स्तर उद्योगों का निश्चित और महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस में, ९९ प्रतिशत से अधिक औद्योगिक व्यवसायों में, प्रत्येक में १०० से कम कार्यकर्त्ता नियोजित हैं। जर्मनी में, संपूर्ण जनसंख्या का १२·६ प्रतिशत दस्तकारियों से अपनी आजीविका उपार्जन करता है। बरमिंघम जैसे वृहद् औद्योगिक नगर में, कम-से-कम ५० प्रतिशत लघु-स्तर औद्योगिक व्यवसाय हैं, और उनमें ५० से भी कम कार्यकर्त्ता कार्य करते हैं।[२] जापान में, औद्योगिक जनसंख्या का ५३ प्रतिशत ऐसे छोटे व्यवसायों से जीविका उपार्जन करता है, जिनमें ५ से भी कम कार्यकर्त्ता नियोजित है।[३] बैल्जियम, हालैंड और स्विट्ज़रलैण्ड में अनेक

---

१. १९१२ में औद्योगिक कांफ्रस में सहस्रबुद्धि द्वारा पढ़े गए एक लेख्य से अंकित।

२. Radha Kamal Mukerjee—Economic Problems of India, 1941, pp. 20-25.

३. Hubbard—Eastern Industrialisation and its Effect on the West, 1933, p. 114.

छोटी-छोटी वस्तुएँ लघु-स्तर पर निर्मित की जाती हैं। अमरीका में, यह अनुमान किया गया है कि अमरीका के व्यापारिक व्यवसायों में ९२·५ प्रतिशत लघु-व्यवसाय हैं, जिनमें देश का ४५ प्रतिशत श्रम नियोजित है, और वह संपूर्ण व्यवसाय के ३४ प्रतिशत का प्रबन्ध करते हैं।[1] प्रायः प्रत्येक देश में लघु-स्तर उद्योग जीवित हैं, और वह अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

४. भारत में लघु-स्तर उद्योग के पुनर्जीवन के कारण। औद्योगीकरण की उन्नत दशाओं में पहुंचे हुए देशों में से भी जब वृहद्-स्तर के उद्योग लघु-स्तर के उद्योगों का विनाश करने योग्य नहीं हो सके, तो भारत में घरेलू उद्योगों की दृढ़ता के विषय में समझ लेना कोई कठिन बात नही। घर और बाहर प्रतिद्वंद्विता के होनेपर भी, भारत में घरेलू दस्तकारियों ने अपने को ज्यों-त्यों जीवित रखा है। घरेल उद्योगों को पुनर्जीवित करने के लिए संक्षेप में निम्न हेतु बताये जा सकते हैं :

१. घरेलू दस्तकार की निश्चलता और घर पर रहने की आदतों ने उसे पुरानी लकीर का फकीर बनाये रखा है। इसके साथ ही वैकल्पिक कार्यो के अभाव में दस्तकार अपने पैतृक व्यवसाय को न तो त्यागने योग्य बना और न ही उसमें ऐसी इच्छा उत्पन्न हो सकी।

२. जाति-पांति की प्रणाली भी इस बात के लिए ज़िम्मेदार है कि उसे जाति-गत व्यवसाय से ही चिपके रहना पड़ा, हालांकिं, उनमें से प्राप्ति का अंश जाता रहा था।

३. अपने ही मकान में, अपने परिवार के प्रिय सदस्यों की सहायता से अपनी इच्छा के आधार पर कार्य करने का एक निजी आकर्षण होता है। वह वातावरण बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण होता है, और उसे ऐसा लगता है कि वह अपने व्यवसाय का विशेषज्ञ है। यहां तक कि स्वाधीनता का स्वरूप-मात्र भी, उस अवस्था में तो विशेष रूप से त्यागने योग्य नहीं, जबकि एक कौशल की पृष्ठ-भूमि में चिरकालीन सम्मानपूर्ण परम्पराएं हों।

४. हमारी जनसंख्या के ६५ प्रतिशत का व्यवसाय कृषि है और उसे मौसम के दिनों में ही रोजगार मिल पाता है, और फलस्वरूप वर्ष में तीन या चार मास के लिए किसानों को बेकार रहना होता है। अनेक ऐसे पूरक उद्योग हैं, जिन्हें कृषि के साथ जोड़ा जा सकता है। इसलिए वह निरंतर "धनुष में दूसरी प्रत्यंचा" के समान चले आ रहे हैं।

५. अब भी भारत में ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या है, जो कलापूर्ण कार्य के लिए मूल्य देने को तैयार हैं और उसके ग्राहक हैं। उनके संरक्षण ने अनेक पुरानी दस्तकारियों को पतन से बचा लिया है।

६. कतिपय ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनकी मांग स्थानीय है, अल्प है, अथवा अत्यधिक

---

१. Indian Fiscal Commission (1949-50), Report, p. 101.

सीमित है, और इसलिए; उनका मशीन से उत्पादन नही हो सकता। उनका घरेलू उद्योग में ही निर्माण किया जा सकता है।

७. घरेलू दस्तकार में यह योग्यता है कि वह भिन्न ग्राहको की भिन्न रुचियों के लिए अनेक ढंगों को चालू कर सकता है, और उन्हीं के कारण वह स्थिर रहा और उन्होंने उसे मृत्यु से बचा लिया। बाज़ार की निकटता उसे अपने ग्राहकों की आवश्यकताओं का अध्ययन करने की सुविधा प्रदान करती है, और उसके कारण वह इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि उन्हें कौन-सी बात सर्वाधिक संतुष्ट करेगी।

८. गांव का एकाकीपन अभी पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ और अनेक ग्रामीण दस्त-कारियां अब भी ऐसी है, जिनका मुकाबला मशीन की बनी वस्तुएँ नही कर सकतीं।

९. कुछ कलाकारों ने अपने को नई अवस्थाओं के अनुकूल बना लिया है और उन्होंने अपनी दस्तकारी को नये पदार्थों अथवा नये औज़ारों का लाभ उठाकर बचा लिया है। जुलाहे ने मिल के बने सूत और वेगपूर्ण शटल (सूत की नाली) को, रंगरेज ने बनावटी रंगों को, दर्जी ने सिलाई की मशीन को, ठठेरे ने पीतल और तांबे की चादरों को और लोहार ने मशीनों के बने लोहे को अपना लिया है।

१०. हाल ही के दिनों में भारतीय रुचि में भी कुछ परिवर्तन हो गया जान पड़ता है, और हाथ की बनी वस्तुओं का फिर से पोषण होने लगा। भारतीय भावना अब "भारतीय वस्तु को खरीदो" आन्दोलन के पक्ष में हो गई है और उसे बल-प्रदान करने लगी है, और फलस्वरूप, घरेलू दस्तकारियों में स्वाभाविक रूप में लाभ प्राप्त हुआ है। महात्मा गांधी ने अनेक छोटी-मोटी दस्तकारियों को अपना शक्तिपूर्ण समर्थन प्रदान किया था।

११. हाल ही के वर्षों में, केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने भी घरेलू उद्योगों को पनपाने के लिए उदारतापूर्वक अनुदान किये है।

यही कुछ अंश है, जिनके कारण भारत में घरेलू दस्तकारियों की आश्चर्यजनक उपयोगिता प्रकट हो जाती है। जैसा कि १९४९-५० की फिस्कल कमीशन का कहना है, "यदि सामाजिक मूल्य के इन भिन्न तत्त्वों को दृष्टिगत किया जाय, तो घरेलू अथवा लघु-स्तर के उद्योगों और वृहद्-स्तर के उद्योगों के बीच, उत्पादन की लागत के अंश की जो खाई है, वह पर्याप्त रूप में न्यून की जा सकेगी। (लागत के अंश—मकान बनाना, सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुएं, सामाजिक सुरक्षा की लागत, परम्परागत जीवन की प्रणाली में परिवर्तन की लागत)। उत्पादन की निजी लागत की दृष्टि से भी यह कहा जा सकता है कि कला-सम्बन्धी प्रगतियाँ की नवीन प्रवृत्तियाँ घरेलू और लघु-स्तर उद्योगों की कतिपय किस्मों के पक्ष में प्रबल होती जा रही है।" परिणामस्वरूप, नये युग में घरेलू दस्तकारियों की सापेक्ष स्थिति कला-विषयक प्रगतियों से दृढ़ता प्राप्त करती जा रही है।

५. घरेलू उद्योगों की वर्तमान स्थिति। भारत में सब घरेलू उद्योगों की समान दशा नहीं है। उनकी वर्तमान अवस्था प्रत्येक के साथ होने वाली मशीनी वस्तुओं

की प्रतिद्वंद्विता के आधार पर भिन्न-भिन्न हैं। कुछ दस्तकारियाँ तो संपूर्णतया मर ही गई हैं। उदाहरण के लिए, ढाका की मलमल का तो नाम-निशान ही नही मिल सकता। कुछ अन्य ऐसी हैं, जो मृतप्राय दशा में हैं, अर्थात् हाथ-कताई और अभी कुछ अन्य हैं, जैसे बुनने के हाथ के कर्घे कि जो हाल ही के वर्षो में पुनः सांस लेने लगे हैं।

भारत अब भी एक ऐसा देश है, जिसके लघु-स्तर उत्पादन में से उसकी जन-संख्या का बहुत बड़ा भाग आजीविका प्राप्त करता है। निःसन्देह, सम्पूर्ण खुर्दा-व्यापार लघु-स्तर का व्यापार है। कृषि-कार्य लघु-स्तर पर होता है। इसके अतिरिक्त, असंख्य औद्योगिक कलाएं और दस्तकारियां हैं, जो देश में लाखों लोगों को रोज़गार देती हैं—इस विषय में डा० राधाकमल मुकर्जी का अनुमान है कि यह संख्या १ करोड़ ४० लाख से कम नहीं।[1] केवल कर्घों पर ही ५० लाख आदमी बुनाई का काम करते हैं अर्थात् यह संख्या सब संगठित उद्योगों में नियोजित संख्या के समान है।[2] इसके अलावा समस्त देश में असंख्य छोटे-छोटे कारखाने और दुकानें हैं, और अकेले कलकत्ता में अनुमानतः उनकी संख्या १०००० से कम नहीं।[3]

प्रो० राधाकमल मुकर्जी ने घरेलू दस्तकारियों की एक बहुत लम्बी सूची दी है, जो अब भी देश के भिन्न भागों में कार्यान्वित है।[4] उनमें से कुछेक को हम यहां देते हैं: बनारस, इलाहाबाद और जौनपुर के ज़िलों में अनेक गांवों में टोकरी बनाना, मलाबार और दक्षिण तथा पूर्वी बंगाल में रस्से बटना, चटाई बनाना, पंखियां बनाना; आसाम में रेशम के कीड़ों का पालना; मेरठ, बदायूं, मिर्ज़ापुर (उ० प्र०), बोल्पुर (बंगाल), चेन्नापटन (मैसूर) और कोंडापल्ले (मद्रास) में लाख और खिलौने बनाना; अमृतसर, मिर्ज़ापुर और बनारस में दरियां बनाना; मुर्शिदाबाद, मालदा, मदुरा और भागलपुर में रेशम बुनना; मिर्जापुर (उ० प्र०) और नदिया (बंगाल) में कलापूर्ण मिट्टी की मूत्तियां बनाना; तिन्नेवल्ली (मदरास) में लुंगियां और साड़ियां बनाना; फतहपुर और फरीदाबाद (उ० प्र०) में कांच की चूड़ियों का काम। डा० मुकर्जी उल्लेख करते हैं, "प्रत्येक ज़िले के एक या अधिक गांवों में सूती कपड़ा और रेशम की बुनाई होती है, लकड़ी का काम होता है, सोने, चांदी, तांबे, द्विधातु, बांस, बेंत, पीठ और चमड़े का ऊंचे स्तर पर कलापूर्ण काम होता है। सारे देश भर में कर्घो पर कताई

---

१. Economic Problems of Modern India, 1941, p. 20.
२. Ibid, p. 25.
३. Harold Butler—Problems of Industry in the East, 1938, p. 13.
४. *Vide* Economic Problems of Modern India, 1941. pp. 14–21.

और बुनाई का काम होता है। साबुन-साजी का भी बहुत विस्तार के साथ काम किया जाता है।

अब हम कुछेक महत्वपूर्ण घरेलू उद्योगों पर विचार कर सकते हैं।

६. सूती कर्घों का उद्योग। हम यह पहले ही पढ़ चुके है कि भूतकाल में सूती वस्त्र का निर्माण करने में भारत को कितनी असाधारण योग्यता प्राप्त थी। कहा जाता है कि १८४६ में डा० टेलर ने एक नमूने का परीक्षण किया था, जिसका एक पौंड तार २५० मील तक का था। यह तार वर्तमान स्तर के अनुसार ५२४५ काऊंट का होता है। यह एक कारीगरी है, जिसे नवीन युग की मशीनें कर दिखाने में अभी तक असफल हैं। किन्तु यह स्थिति तो पूर्णतया नष्ट हो चुकी है।

जो भी हो, यह कहना भूल है कि कर्घा उद्योग अधूरी दशा में है अथवा इसका कोई महत्व नहीं। भारतीय टैरिफ़ बोर्ड, १९३२ (भारतीय परियात संघ) (रिपोर्ट, पृ. १५७) के अनुसार कर्घा उद्योग में लगभग १ करोड़ आदमी लगे हुए थे—इससे अधिक संख्या केवल कृषि की ही है। उसी परियात संघ ने अनुमान किया था कि देश में कर्घों की संख्या अढ़ाई लाख है। केवल बिहार के एक केन्द्र में १$\frac{3}{4}$ लाख रु० की खादी बनती है। फरवरी १९४० में, सेवासंघ की ओर से मलीकंड में एक प्रदर्शिनी की गई थी, जिसमें ढाका की मलमल का एक टुकड़ा दिखाया गया था, जो ११ गज लम्बा था, किन्तु उसका वजन १० तोले था। कर्घे द्वारा सूत की खपत और कपड़े का उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। १९०० में २२ करोड़ पौंड से ८८ करोड़ गज और १९३८ में ४७ करोड़ ९० लाख पौण्ड से १९२ करोड़ गज से कुछ कम बना। गत २० वर्षों में जो प्रगति हुई है, वह विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार कर्घों का उद्योग न तो मरा ही है, और न ही गिर रहा है, और न ही किसी भी दशा में महत्वहीन है। जो भी हो, हाल ही में उसके कुल उत्पादन में ह्रास हुआ है। १९४९ में उद्योग और पूर्ति सचिवालय ने १२० करोड़ गज का अनुमान किया था।

हैंडलूमों (कर्घों) ने एक विशेष प्रकार का कपड़ा बनाया था, जो वृहद् उत्पादन के योग्य नहीं है। इससे भी अधिक, अनेक लोग हाथ के बने वस्त्रों को मिल के बने वस्त्र की अपेक्षा अच्छा मानते हैं, क्योंकि इसे गरमियों में शीतल, जाड़ों में गरम और पसीने को सोखने वाला समझा जाता है। हैंडलूम उद्योग को पुनर्जीवित करने के लिए निम्न बातें भी जिम्मेदार हैं: जुलाहे के सस्ते और सरल साधन; जुलाहे की निश्चलता और संकीर्णता; अपने ही घर में अपनी ही इच्छा से अपने प्रिय-जनों के सहयोग से काम करना; बाजार की निकटता।

भारतीय कांग्रेस और महात्मा गांधी ने अखिल भारतीय चर्खा-संघ के कार्य-कलापों द्वारा विशेष रूप से, इस उद्योग को पुनर्जीवन प्रदान करने में सहायता प्रदान की है। सरकार भी इस दिशा में पीछे नहीं रही। १९३४ में, पंचवर्षीय योजना का आरम्भ किया गया था। केन्द्रीय सरकार ने इस उद्योग की उन्नति के लिए प्रांतीय सरकारों को ५ लाख

रु० वार्षिक देना किया था। जून १९५० में, भारत सरकार ने हैंडलूमों के उत्पादन के निमित्त कतिपय किस्मों को सुरक्षित रखने की घोषणा की थी।

निःसन्देह, इस दिशा में बहुत उपयोगी काम हुआ किन्तु भारतीय जुलाहे की संकीर्णता और निश्चलता के कारण 'सहज पके सो मीठा होय' वाली कहावत चरितार्थ हुई। इस उद्योग का बिखरा हुआ रूप, और जुलाहे की अज्ञानता और गरीबी सब प्रकार की प्रगति के मार्ग में बाधा रहे; और बिखरे रूप के कारण प्रभावकारी संगठन में भी बाधा हुई। पूंजी की सहायता से फैक्ट्री आधार पर जुलाहों का संगठन किसी सीमा तक उनकी कठिनाइयों को दूर कर सकता है। मिल के बने वस्त्र पर उत्पाद-कर के साथ संरक्षण कर की अनुक्रमिक वृद्धि लागू की जा सकती है और उसके द्वारा प्राप्त आय को हैंडलूम उद्योग की सहायता में लगाया जा सकता है। यदि उद्योग को सहायता देने के सब सम्भव उपाय किये जाँय और पुनर्जीवन प्रदान करने का ढंग जारी रखा जाय, तो हैंडलूम उद्योग को हमारे आर्थिक जीवन में सम्मानपूर्ण स्थान-प्राप्ति का विश्वास हो सकता है।

युद्धोत्तर-काल में हैंडलूम उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, अर्थात् मिल-उत्पादन में न्यूनता के कारण सूत की पूर्ति में कमी हुई। भारत पाकिस्तान की तनातनी, जिससे पाकिस्तान का निर्यात प्रभावित हुआ, और बर्मा तथा राजनीतिक संकटों के कारण अन्य सुदूरपूर्व देशों के बाजारों की क्षति हुई। इन अंशों के कारण उत्पादन में भारी गिरावट हुई और बाजार में माल रुक गया। १९४७ में केन्द्रीय अनुदान बंद हो जाने से प्रांतीय सरकारों ने उद्योग की सहायता में न्यूनता कर दी और मद्य-निषेध की नीति के कारण प्रान्तीय सरकारों की आयों पर प्रभाव हुआ। १९४९ में हैंडलूम उद्योग पर बड़ा भारी संकट आया। इस उद्योग को सहायता देने की दृष्टि से भारत सरकार ने हैंडलूम के वस्त्र को निर्यात-कर की छूट दे दी। विदेशों को निर्यात करने की एक योजना बनाई गई। सरकार ने अपनी आवश्यकताओं का एक-तिहाई हैंडलूम से खरीदना चाहा। किरायों में विशेष रियायतें की गई। समस्या का मर्म यह है कि आवश्यक किस्म के सूत की नियमित पूर्ति हो। इस उद्देश्य के लिए देश के तकुओं के एक निश्चित अनुपात को हैंडलूम के लिए सुरक्षित कर देना चाहिए।

७. **रेशम उद्योग**। भूतकाल में रेशम का उद्योग भारत में बहुत-ही बढ़ा-चढ़ा था। भारतीय निर्मित रेशमी वस्त्र की विदेशी बाजारों में बहुत मांग थी। किन्तु जिन कारणों ने हैंडलूम के सूती उद्योग को प्रभावित किया था, उन्होंने भारतीय रेशम उद्योग को भी क्षति पहुंचाई। बनावटी रेशम का आविर्भाव उसके कफन में एक और कील साबित हुआ।

फलतः, भारतीय रेशम उद्योग की स्थिति ईर्षा-रहित है। भारतीय रेशम घरेलू बाजार तक में हीन-दृष्टि से देखा जाता है। इसके तह करने की रीति इतनी खराब है कि

घरेलू जुलाहा भी चीन और जापान के तह किये को उपयोग में लाना बेहतर समझता है। भारतीय रेशम भद्दे रूप में निर्यात किया जाता है, ताकि रीलिंग (तह करना और पालिश करना) विदेश में किया जा सके। इस उद्योग के महत्वपूर्ण केन्द्र काश्मीर, मैसूर और बंगाल हैं और रेशम बुनने के लिए निम्न नगरों के नाम उल्लेखनीय हैं : मुर्शिदाबाद, तंजोर, बनारस, सूरत, अमृतसर और मदुरा।

हाल ही के वर्षों में गिरते हुए रेशम उद्योग ने सरकार और देशभक्त भारतीयों का ध्यान आकर्षित किया है, जिन्होंने घरेलू-बनी वस्तुओं को संरक्षण प्रदान करने की प्रवृत्ति का अधिकाधिक प्रदर्शन किया है। १९३५ में, सरकार ने इंपीरियल सेरी-कल्चर कमेटी (शाही रेशम-उद्योग समिति) का निर्माण किया। इसका उद्देश्य रोग-रहित बीजों का उत्पादन और रेशमी-कीड़ों में से रोगों को दूर करना था। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार ने १९३५ में इस उद्योग की सहायता के लिए ५ वर्ष तक एक लाख रु० वार्षिक अनुदान भी स्वीकार किया था। रेशम पर ऊंचा आयात-कर और १९३४ में संरक्षण की स्वीकृति भी इस उद्योग को सहायता पहुंचा रही है।

सरकार ने एक केन्द्रीय रेशम बोर्ड भी बनाया है, जो कच्चे रेशम के उद्योग को उन्नत करेगा। इसके मुख्य कार्य-कलाप यह हैं : वैज्ञानिक और कला-कौशल सम्बन्धी अनुसन्धान; शहतूत की खेती को उन्नत करना; स्वस्थ रेशमी कीड़ों का पालन और वितरण; टैकनीकल सलाह देना; रेशम के बाज़ार को उन्नत करना; आंकड़ों को संग्रहित करना; और उद्योग की उन्नति के लिए सरकार को परामर्श देना।

८. ऊनी उद्योग। ऊन की बनी हुई महत्वपूर्ण वस्तुएं शाल, कालीन, कम्बल, पट्टू और पशमीने हैं। एक समय था, जब कि ऊन-उद्योग की यह सब शाखाएं बहुत उन्नत थीं, किन्तु नवीन समय के वातावरणों के कारण यह उद्योग निरन्तर फूलता-फलता न रह सका।

कोई समय था, जब काश्मीर के शाल बहुत मशहूर थे और उनसे भारी-भरकम कीमत वसूल होती थी। भारतीय नरेश-वाद के क्षय से भयंकर संकोचन हुआ, घरेलू मांग का तो लगभग सफाया ही हो गया किन्तु योरोपियनों की मांग ने इस उद्योग के पतन को किसी सीमा तक बचा लिया। जो भी हो, योरोपियनों की मांग स्पष्टतः सस्ती किस्म के लिए थी, और, फलतः घटिया शालों के लिए। इस से घटिया किस्म का माल तय्यार होने लगा। गत सदी के सन् ३० के आरम्भ में, काश्मीर में भीषण अकाल पड़ने के कारण इस उद्योग को भारी धक्का लगा। १८७१ में फ्रांस और प्रशिया के युद्ध ने योरोपीय मांग को रोक दिया और (इंग्लैंड में) पैसले में शालों के निर्माण ने उद्योग की स्थिति को और भी क्षीण कर दिया। काश्मीरी पशमीनों—हाथ के बुने शाल—की आज भी बहुत ख्याति है, और स्वतः काश्मीर की घाटी के बाजार में भी उसकी महत्ता है। ऊनी धागों से कढ़े हुए आकर्षक डिजाईनों के नमदे अमरीका जैसे दूर देशों में भी जाते हैं।

कालीन उद्योग ने मुग़ल बादशाहों के संरक्षण में उन्नति की थी। किन्तु इसकी भी मुगल राज्य जसी ही दशा हुई। विदेशी बाजारों के संकेत से रासायनिक रंगों और भड़कीले डीजाइनों के कारण भारतीय कालीन उद्योग में से कला और सजीवता का लोप हो गया है। फल-स्वरूप, घरेलू दस्तकारी के रूप में कालीन उद्योग क्रियात्मक रूप में मर चुका है। और इन दिनों अधिकांश कालीन फैक्ट्रियों और जेलों में बनते हैं। अमृतसर (पंजाब) कालीन उद्योग का महत्वपूर्ण केन्द्र है। इस उद्योग के अन्य केन्द्र हैं : बीकानेर, मिर्जापुर, एल्लोर और आगरा।

कंबल-उद्योग का आशापूर्ण भविष्य है। कम्बलों के लिए जो ऊन काम में आती है, वह देश के सभी भागों में प्राप्य है। इसके अलावा इसके लिए घरेलू बाज़ार भी बहुत बड़ा है। क्रियात्मक रूप में इस दिशा में विदेशी प्रतिद्वंद्विता भी नहीं। थोड़ी-सी सावधानी और ध्यान देने से इस उद्योग की सहज ही उन्नति की जा सकती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण कम्बलों की बहुत बड़ी मांग हुई थी और उससे कम्बलों के उद्योग को प्रोत्साहन मिला था।

९. हाथ-बने कागज का उद्योग। भारतीयों में हाथ के बने कागज की कला का सदियों से चलन है। भारत में प्राचीनतम कागज़ पर जो पांडुलिपी मिली हैं, वह तेरहवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश की हैं।[1] काश्मीर अकबर के काल से कागज़ के लिए प्रख्यात था। अहमदाबाद में भी, कागज़ बनाने का व्यापार फूलता-फलता था और १८४८ में, ८०० आदमी और लड़के नित्य कागज़ बनाने के काम में नियोजित किय जाते थे।[2] केवल एक पीढ़ी पीछे की बात है कि मुसलमानों का एक वर्ग, जिसे काज़ी कहा जाता है, हुगली, हावड़ा, और मुर्शिदाबाद (बंगाल) के ज़िलों में इस उद्योग में लगा हुआ था।

इस समय में भी देश के अनेक भागों में और भारत भर की जेलों में हाथ से कागज़ बनाया जाता है। देश के ऐसे मुख्य भाग यह हैं : काशमीर, हैदराबाद, संयुक्तप्रांत, मध्य-प्रदेश, बंबई और मदरास।

इस लाभपूर्ण और प्राचीन कला को पुनः जीवित करने के लिए सक्रिय यत्न किये जा रहे हैं। अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ ने बंगाल-बिहार, उड़ीसा, बंबई तथा अन्य स्थानों में वांस, कागज़ की रद्दी, जूट की रद्दी तथा अन्य वस्तुओं से कागज़ बनाना शुरू किया है। बनारस विश्व-विद्यालय ने भी हाथ के बने कागज का उत्पादन आरम्भ कर दिया है। उत्तर प्रदेश की सरकार की प्रेरणा से देहरादून की जंगल अनुसन्धानशाला प्रयोग कर रही है कि इस घरेलू उद्योग को कैसे उन्नत किया जा सकता है, और इसके साधनों में

---

१. Indian Munitions Hand-book, 1919, p. 246.

२. Kirk—A Monograph on Paper Making, Bombay Presidency, 1902, p. 2.

क्योंकर प्रगति हो सकती है। यदि कागज की मिलें गूदे की पूर्ति करती रहें, तो इससे इस प्राचीन उद्योग को उन्नत करने की सुविधा हो सकती है।

इस घरेलू उद्योग के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र है। योरोप और अमरीका में भी हाथ-बने कागज की बहुत मांग है, चीन और जापान में हाथ-बना कागज बहुत बड़े परिमाण में बनता है। इंग्लैंड में भी बहुमूल्य लेखनों का कागज़ और ड्राईंग के कागज़ हाथ के बनते हैं। किन्तु यदि इस घरेलू उद्योग को भारत में अपना उचित स्थान लेना है तो इस पुराने उद्योग को आमूल सुधारने की आवश्यकता है। इसमें नई रीतियां जारी की जांय और सहकारिता के आधार पर इसका संगठन हो, ताकि अर्थ-व्यवस्था तथा बाजार सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना किया जा सके।

१०. घरेलू उद्योगों की बुराइयां और उनके उपचार। भारतीय घरेलू उद्योगों का अध्ययन यह प्रकट करता है कि वह सुखद स्थिति में नहीं हैं। कुछेक उनमें से समाप्त हो चुके हैं, कुछ अन्य मृतप्राय हैं, और, कुछ और पानी पर तिरने के समान संघर्ष कर रहे हैं।

घरेलू दस्तकारियों के सामने जो कठिनाइयां हैं, उनमें से कुछेक निम्न हैं :

(क) अर्थ-व्यवस्था की सुविधाओं का अभाव और कारीगरों का ऋणी होना।

(ख) संगठित बाजारों की अनुपस्थिति, जो कारीगरों को पूर्णतया बिचवैयों की दया पर छोड़ देती है।

(ग) अयोग्य प्रणालियां और उत्पादन की ऊंची लागत, जिससे लाभ का अंश नाममात्र रह जाता है।

(घ) निरक्षरता, अज्ञानता और कारीगर की संकीर्णता के कारण अयोग्य मानवता का अंश।

हमारे घरेलू उद्योगों को पुनः जीवित करने के लिए यह आवश्यक है कि इन दो दोषों को दूर करने के विषय में सोची-समझी हुई योजना बनाई जाय। इस दिशा में निम्न उपायों का संकेत किया जा सकता है :

१. शिक्षा का विस्तार, सामान्य और कला-कौशल सम्बन्धी, किया जाय, ताकि कारीगरों में से अज्ञानता और संकीर्णता दूर हो।

२. कारीगर की अर्थ-व्यवस्था और सामाजिक उद्धार के लिए एक गंभीर आन्दोलन किया जाय।

३. उसे उधार-पट्टे की प्रणाली पर अधिक योग्य और बेहतर औजार दिये जांय और साथ ही उचित दरों और सरल शर्तों पर आवश्यक गुणों वाले कच्चे पदार्थ भी दिये जांय।

४. नये और आकर्षक डिज़ाइन उसके ध्यान में लाते रहना चाहिए और उसके

मार्ग-दर्शन के लिए जगह-जगह जाने-आने वालों को भेजते रहना चाहिए, और उन्हें आवश्यक प्रदर्शन देने चाहियें।

५. औद्योगिक प्रदर्शनियां की जांय ताकि घरेलू दस्तकारियों के उत्पादनों को आवश्यक प्रचार मिल सके, और उत्पादक और उपभोक्ता के बीच की खाई पूर्ण हो सके।

६. संग्रहालय तथा मार्केटिंग के डिपो खोले जाँय, ताकि कारीगर को मार्केटिंग के कठिन कार्य से मुक्ति मिले और वह केवल उत्पादन-कार्य में ही अपनी शक्ति लगाये।

७. मार्केटिंग और अर्थ-व्यवस्था और कारीगर की सहायता सम्बन्धी सब समस्याओं का निराकरण सहकारिता में निहित जान पड़ता है, और इससे उसकी आर्थिक, नैतिक और शिक्षा-विषयक प्रगति होगी। सहकारिता उसे आर्थिक, और मार्केटिंग की सहायता देने के अतिरिक्त उसमें आत्म-विश्वास और आत्म-नियंत्रण की भावना भरेगी।

८. अनुसन्धान के प्रयोगों द्वारा हमें उसकी योग्यता को इतना ऊंचा बनाये रहना चाहिए कि वह अपने को सदैव मशीन से आगे ही देखे, पीछे नहीं, क्योंकि इस समय तो वह नितांत हीन-अवस्था में है।

९. घरेलू दस्तकारियों को शिल्प संघों में संगठित किया जा सकता है। इस प्रकार के संघ काश्मीर में बन ही चुके हैं।

१०. १९३४ में उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा स्थापित कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सरकार की सहायता से मार्केटिंग और अर्थ-व्यवस्था की कंपनियां बननी चाहिएं, ताकि कारीगरों को यह सुविधाएं दी जा सकें।

११. एक बहुत ही आवश्यक कार्य यह जान पड़ता है कि घरेलू उद्योगों का नवीन वृहद्-स्तर उद्योगों के साथ गठबन्धन किया जाय। वर्तमान में, दस्तकारी एकाकी है। घर और बाहर से उसे सदैव प्रतिद्वंद्विता का खतरा बना रहता है। उद्योग की भिन्न कड़ियों को श्रृंखलाबद्ध करने की नितांत आवश्यकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कच्चे पदार्थों का छोटे और माध्यमिक स्तर पर कार्य किया जा सकता है और उसके बाद शहरी औद्योगिक क्षेत्रों में उन्हें अध-बनी दशा में लाना चाहिए। यह आवश्यक है कि वृहद्-स्तर और लघुस्तर उद्योगों के बीच के संघर्ष के क्षेत्र को तंग किया जाय और सहयोग के क्षेत्र को विस्तार दिया जाय।

सरकार ने लघु-उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए योरोप में विशेष यत्न किये। आस्ट्रिया की सरकार ने छोटी दस्तकारियों को उन्नत करने के लिए बहुत धन खर्च किया। सैक्सोनी के घड़ी बनाने के उद्योग का, और बवेरिया के पैंसिल-उद्योग का पोषण राज्य कर रहा था। हालैंड ने कपड़े की हाथ-छपाई के उद्योग को उन्नत किया था। इसी प्रकार के यत्न जर्मनी और इटली में हो रहे थे। जापान की सरकार हमेशा से ही छोटे उद्योगों पर

विशेष ध्यान दे रही थी।[1] १९३५ से, भारत में भी, केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें घरेलू उद्योगों पर विशेष ध्यान दे रही हैं। घरेलू उद्योगों को पुनर्जीवित करने और उन्नत करने के लिए धन खर्च कर रही हैं। किन्तु इस प्रकार के यत्न देश भर में बिखरे हुए घरेलू उद्योगों की आवश्यकताओं के तुल्य नहीं हैं। इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि हमारे घरेलू उद्योगों पर लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या आश्रित है, और इस प्रकार के उद्योगों से जिन आर्थिक लाभों की आशा की जाती है, और उन वस्तुओं का कला की दृष्टि से जो मूल्य होता है, एक विशिष्ट यत्न करने की आवश्यकता जान पड़ती है।

भारत में छोटे उद्योगों को उन्नत करने की अवस्थाएं विशेषरूप से अनुकूल हैं। बड़े कारखानों के लिए बड़ी पूजी चाहिए, और उसका हमारे यहां अभाव है; बड़े कारखाने श्रम की बचत के उपायों का उपयोग करते हैं, किन्तु हमारे यहां तो बहुत बड़ी जनसंख्या है, जो रोज़ी की प्रतीक्षा में बैठी है। भारत में छोटी और बिखरी हुई भू-संपत्तियां हमारी ग्राम जन-संख्या को पूरे समय के लिए काम नहीं देतीं।

भारत सरकार ने १९४८ में जो घरेलू उद्योग बोर्ड स्थापित किया था, उसका १९५० में पुनः निर्माण किया गया। इस बोर्ड के निम्न कार्य हैं: (क) केन्द्रीय सरकार की ओर से राज्य के अनुदानों सहित उन कोषों का लेन-देन करना, जो घरेलू उद्योगों की प्रगति के लिए उपलब्ध हैं, (ख) घरेलू उद्योगों से सम्बन्धित योजनाओं की देखभाल करना, उन्हें चलाना और उन्हें प्रारम्भ करना; (ग) घरेलू उद्योगों से सम्बन्धित योजनाओं को बनाने और चलाने के लिए भिन्न राज्यों को परामर्श देना और सहायता करना; और (घ) घरेलू उद्योगों के विषय में राज्य सरकारों के कार्य-कलापों को शृंखलाबद्ध करने में सहायक होना।

बोर्ड ने निम्न तात्कालिक कार्यक्रम का निर्णय किया: (१) वर्तमान घरेलू उद्योगों का शीघ्रातिशीघ्र पर्यालोकन किया जाय, जिसमें निम्न अंशों की जानकारी भी हो: उत्पादन और बिक्री के रूप और विधियाँ; शिक्षण विषयक सुविधाएं; स्थानीय उत्पादन और सहकारिता-यत्न से ग्राम-जन-संख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति की सीमा; और ग्रामीण-बेरोज़गारी की सीमा; (२) लघु-स्तर उद्योगों के लिए उन्नत मशीनों के उपयोग के लिए श्रम को शिक्षित करने की व्यवस्था; (३) सहकारिता आधार पर घरेलू उद्योगों की प्रगति के विषय में प्रोत्साहन देना; और (४) भारत तथा विदेशों में घरेलू उद्योगों के उत्पादनों के लिए बाज़ार की व्यवस्था करना।

उन ग्राम-उद्योगों की सहायता करने का निर्णय किया गया, जिन्हें वृहद्-स्तर व्यवसायों की प्रतिद्वंद्विता से क्षति होती है, अर्थात चमड़ा रंगाई और चमड़े की दस्तकारी,

---

१. १९१२ में हुई औद्योगिक कांफ्रेंस में डा० रा. क. मुकर्जी द्वारा पढ़े लेख्य के अनुसार।

उन्नीसवाँ अध्याय

वृहद्-स्तर उद्योग (२)

१ शीशा उद्योग। भारत में शीशे का उद्योग बहुत पुराना है। विश्वास किया जाता है कि यह ईसा से सदियों पहले विद्यमान था। एल्फ्रैड चैटर्टन का कथन है कि भारतीय शीशा उद्योग १६वीं सदी में स्थापित उद्योग के रूप में था। किंतु, इस पुराने उद्योग की मुख्य रूप-रेखा आदि प्रणालियां, गंदा सामान और भद्दा उत्पादन था।

अन्य अनेक भारतीय उद्योगों की भांति, भारतीय शीशा उद्योग के भी भाग हैं: (१) देसी और (२) नवीन। इस उद्योग की देसी दिशा मुख्यत: चूड़ियां बनाने के संबंध में है, और देश भर में यह फैला हुआ है, विशेषरूप से उत्तर प्रदेश, बंबई और मदरास में। किंतु इस घरेलू उद्योग का असली घर गंगा की वादी है, जहां कुशल कारीगरी, कोयले और शोरे की बहुतायत है, और वहां यह एटा, फतहपुर और फीरोजाबाद में केंद्रीभूत हो गया है। बेलगांव, दक्षिण में एक अन्य केंद्र है। फीरोजाबाद में लगभग १०० नियमित चूड़ियां बनाने के कारखाने हैं। किंतु नये फैशनों के कारण और शीशे के कारखानों में बनने वाली बेहतर चूड़ियां, विशेष रूप से जापान की रेशमी चूड़ियों की प्रतिद्वंद्विता, इस उद्योग को पतन की ओर ढकेल रही हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध इस शिशु-उद्योग के लिए वरदान साबित हुआ था। युद्ध-काल से पूर्व कारखानों की ३ की संख्या में वृद्धि हुई और १९१८ में यह संख्या २० हो गई। युद्ध के उपरान्त यह उद्योग चल सकने के योग्य हो गया था। दोनों युद्धों के बीच उत्पादन में २५० प्रतिशत की वृद्धि हुई। आयात की कीमत गिर गई। जो भी हो, फीरोजाबाद से बाहर की छोटी-छोटी दस्तकारियां मरणासन्न दशा की ओर बढ़ रही थीं। द्वितीय विश्व-युद्ध ने विदेशी प्रतिद्वंद्विता का नाश करके इसके पतन को रोक लिया।

नवीन शीशा उद्योग—नवीन शीशा उद्योग १८९० के वर्षों के बीच स्थापित हुआ था। पहले की महान् कोशिशें मुख्यत: इन कारणों से असफल हुई: अनुभवशील प्रबंधकों का अभाव; कुशल कारीगरी का अभाव; स्थान विषयक गलत चुनाव, जहां न तो पर्याप्त पूर्ति हो पाती थी और न ही आवश्यक माल मिल पाता था; अर्थ-व्यवस्था की कठिनाइयां। किंतु जैसे-तैसे उद्योग साँस लेता रहा और उसी बीच प्रथम विश्व-युद्ध उसकी रक्षा के लिए आ पहुंचा। जो भी हो, युद्ध के उपरान्त, विदेशी प्रतिद्वंद्विता के पुनर्जन्म से यह उद्योग पुन: कठिनाई में पड़ गया। १९३२ में टैरिफ बोर्ड ने १० वर्ष के लिए संरक्षण की सिफारिश की, किंतु सरकार ने इस आधार पर संरक्षण अस्वीकार कर दिया कि देसी कच्चे माल की

पर्याप्त पूर्त्ति का अभाव है और उद्योग को सोडाएश की आयात पर आश्रित रहना पड़ता है। इस निर्णय से बहुत निराशा छा गई।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस उद्योग की बहुत सहायता की। रक्षा-विभाग की आवश्यकताओं के कारण अनेक नयी-नयी वस्तुएं बनने लगीं। सरकारी टैकनालोजिस्ट ने उन नये प्रयोगों को तैयार किया और उद्योग को नियमित उत्पादन के लिए उन्हें सौंप दिया। टैक्नालोजिस्ट के निर्देशन में भट्टियों को उन्नत किया गया और शीशे की शक्ल बनाने वाली, साफ करने वाली और चित्रकारी करने वाली मशीनें लगाई गई।

नये साधनों और मशीनों की फैक्ट्रियां गाजियाबाद, बनारस और फीरोजाबाद में स्थापित की गई। फीरोजाबाद में घरेलू उद्योग के लिए एक गैस बनाने का कारखाना खोला गया। आधारमूलक टैकनीकल (कला विषयक) उन्नति की गई। अनेक नई लाइनें जारी की गई अर्थात् शीशे की गोलीदार बोतलें, माईक्रोस्कोप के लिए शीशे की स्लाइडें, जहाजों पर उपयोग के वृत्ताकार शीशे, हल्के रंगों के शीशे, इत्यादि। भारतीय शीशे के कारखाने इस समय निम्न वस्तुएं निर्माण कर रहे हैं: लैंपों की चिमनियां, ग्लोब, पानी पीने के गिलास, पानी के जार, फूलदान, बोतलें, शीशे की चादरें, बिजली के बल्ब, वाष्प-यंत्र, अस्पतालों की वस्तुएं, इत्यादि। विदेशी आयातों की शीघ्रातिशीघ्र जगह ली जा रही है।

भारतीय शीशा उद्योग के वार्षिक उत्पादन का मूल्य २०० लाख रु० आंका गया था और यहां लगभग १०० कारखाने हैं, जो घरेलू आवश्यकताओं के ५० प्रतिशत की पूर्त्ति कर रहे हैं। शीशे के अधिकांश कारखाने छोटे हैं, और कुछेक बड़े भी हैं, अर्थात् इलाहाबाद ग्लास वर्क्स, नैनी, उ० प्र० ग्लास वर्क्स, बहजोई, ओगले ग्लास वर्क्स, औंध (बंबई प्रांत) पैसाफंड ग्लास वर्क्स तेलेगांव (पूना के निकट)। इस उद्योग के मुख्य केंद्र ५ राज्यों में हैं: उत्तर प्रदेश, बंगाल, बंबई, मध्य प्रदेश और पंजाब।

भारत में शीशे के उद्योग का भविष्य उज्ज्वल होना चाहिए। चूड़ियों तथा अन्य शीशे की वस्तुओं के लिए भारतीय बाज़ार बहुत विस्तृत है। इस समय शिक्षित कार्यकर्त्ता भी उपलब्ध हो सकते हैं। बिजली से सस्ती ताकत मिल सकती है। मुख्य कच्चे माल भी पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध हैं, केवल सोडाएश आयात करना होगा। भारत के भिन्न भागों में उपयुक्त रेत जहाँ-तहाँ बिखरी हुई है और उसकी पूर्ति हो सकती है।

युद्धोत्तर प्रगतियां[१]—युद्धोत्तर प्रगतियों के लिए ध्येय नियत कर लिया गया है: शीशे की चादरों के लिए ४ करोड़ २० लाख वर्ग फुट (वर्तमान २ करोड़ वर्ग फुट के विरुद्ध); शीशे के खोल २ करोड़ ५० लाख नग (वर्तमान १ करोड़ ४० लाख के विरुद्ध); चश्मों और वैज्ञानिक प्रसाधनों के लिए असीमित क्षेत्र, क्योंकि वर्तमान उत्पादन न होने के बराबर है।

१. The Eastern Economist, Jan. 10, 1947, p. 121.

किंतु यदि इस उद्योग को युक्तिसंगत उन्नति करनी है, तो इसे वर्तमान अवरोधों से पिंड छुड़ाना होगा । इसे अपना अभिनवकरण करना होगा और आवश्यक सुधार करने होंगे । इसके उत्पादन घटिया दर्जे के होते हैं, उनमें सफाई का अभाव है और बहुधा भद्दे होते हैं । प्रकार के विषय में बहुत कम ध्यान दिया जाता है । उत्पादन के विषय में वैज्ञानिक नियंत्रण नहीं है । मार्केटिंग संगठन का नाम भी नहीं । योग्यता के स्तर को ऊंचा करने के लिए प्रत्येक प्रयत्न किया जाना चाहिए । अब कलकत्ता में सेंट्रल ग्लास एंड सेरामिक रिसर्च इंस्टीट्यूट स्थापित की गई है, जिसने कार्य आरंभ कर दिया है । हमें वैज्ञानिक प्रणालियों को चालू करने की ओर ध्यान देना चाहिए । इस संस्था के निम्न कार्य-कलाप हैं : परीक्षण करना; कच्चे मालों और पूर्ण वस्तुओं का वर्गीकरण और प्रामाणीकरण; कच्चे माल की नाप-जोख और चिह्नित करना; भट्टियों संबंधी वर्तमान कृत्यों में प्रगति करना; धातु पर पानी चढ़ाने की क्रिया; दलों का संगठन करना और सूचना संग्रहित करना और देना । यदि उद्योग और इंस्टीट्यूट के मध्य में सुदृढ़ सम्पर्क बना रहता है, तो उद्योग की प्रगति के लिए यह शुभ-शगुन है ।

यद्यपि उद्योग के लिए यह आवश्यक है कि वह निजी व्यवसाय को ठीक-ठाक करे, तथापि सरकारी सहायता समान रूप में अनिवार्य है । संरक्षण के लिए उचित भरोसा अवश्य होना चाहिए । सरकार को चाहिए कि वह विदेशी विशेषज्ञों की सेवाएं भी प्राप्त करे । अभिनवकरण, संगठन और वैज्ञानिक उन्नति अत्यावश्यक है ।

१९५० में, २५८,००० टनों की स्थापित क्षमता के विरुद्ध शीशे और शीशे के सामान का उत्पादन १०७,००० टन हुआ था । प्रथम पंच-वर्षीय योजना का विचार है कि १९५५-५६ तक स्थापित क्षमता ३०३,००० टन हो जायगी और अनुमानित उत्पादन २१८,००० टन होगा ।

२. सीमेंट उद्योग । भारतीय सीमिंट उद्योग का अध्ययन दोनों दृष्टियों—उसकी स्वाभाविक प्रगति और असाधारण संगठन—से आकर्षक है । यह एक ऐसा उद्योग है, जिसका पूर्व इतिहास नहीं है । यद्यपि आयु की दृष्टि से छोटा है, तथापि यह पूर्णतया वयस्क हो चुका है । १९१४-१६ में, ८५ हज़ार टनों के निर्माण की क्षमता से इसने १९२४ में—१० वर्ष से कम समय में ५८१,००० टनों की वृद्धि की क्षमता प्राप्त कर ली अर्थात् ५८३·५ प्रतिशत की वृद्धि । १९१४ में भारतीय कारखाने घरेलू मांग के केवल ६ प्रतिशत को संतुष्ट करते थे, जबकि १९३७ में आनुक्रमिक अंक ९७ प्रतिशत था । भारत में कुछ ही उद्योग, संभवतः खांड को छोड़कर, इतनी तीव्र गति का रिकार्ड रखते हैं ।

सीमिंट का पहला कारखाना, जिसके आरंभ करने का श्रेय साऊथ इंडस्ट्रियल्स लि० मदरास को है, १९०४ में चालू हुआ था । किंतु इसकी प्रणालियों में कार्य-कुशलता का अभाव था, इसलिए बाद में उसे बंद करना पड़ा । इस उद्योग की असली आधारशिला १९१२-१३

में रखी गई, जबकि तीन कारखाने एक साथ स्थापित हुए थे। अभी उन्होंने कार्य आरंभ ही किया था कि प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया और सरकार ने उत्पादन पर अधिकार कर लिया। इन कंपनियों की सफलता के फलस्वरूप सात और कारखानों की स्थापना हुई और विद्यमान कारखानों ने १९१९ और १९२२ के बीच अपनी क्षमता को दोगुना कर लिया।

युद्ध-काल में उत्पादन-क्षमता में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन का आधिक्य हुआ और गल-घोंटू प्रतिद्वंद्विता जारी हो गई, जिसके कारण अधिकांश व्यवसायों को क्षति हुई। अपनी कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए १९२४ में इसने संरक्षण के लिए आवेदन किया। किंतु टैरिफ़ बोर्ड ने संरक्षण के लिए इस आधार पर सिफारिश करने से इंकार कर दिया कि इस उद्योग के दुर्भाग्य का कारण उत्पादन का आधिक्य और आंतरिक प्रतिद्वंद्विता है।

बोर्ड ने परामर्श दिया कि उद्योग में निकटतर सहयोग होना चाहिये, जो तत्काल स्वीकार कर लिया गया। १९२७ में, कंक्रीट एसोसियेशन आव् इंडिया बनाई गई, जिस का कार्य प्रचार करना और सीमिंट के उपयोग के लिए जनता को शिक्षित करना था। इससे आगे का कदम, १९३० में सीमिंट मार्केटिग कम्पनी का निर्माण था। इस कंपनी ने विक्रय प्रबन्धों का केन्द्रीकरण किया और भिन्न कारखानों के उत्पादन के लिए कोटे नियत किये। किन्तु इस प्रणाली में दोष था और कई-एक कारखानों को क्षमता से निम्न स्तर पर काम करना होता था और यहां तक कि जो न्यूनतम रूप में अयोग्य थे, उन्हें भी कोटा दिया गया। फलतः १९३६ में एसोशिएटिड सीमेंट कं० लिमिटेड, (ए. सी. सी. A. C. C.) के नाम से सम्मिश्रीकरण किया गया। दालमिया ग्रुप (दल) के साथ भी समझौता हो गया और संयुक्त विक्रय संगठन की स्थापना की गई। इस प्रकार भारत में सीमेंट उद्योग का सुदृढ़ संगठन हुआ––उत्पादन और विभाजन, दोनों ही दिशाओं में। सीमेंट उद्योग ने अपना अभिनवकरण करके अन्य भारतीय उद्योगों के लिए सर्वोत्तम मार्ग-प्रदर्शन किया है।

कुछेक सीमेंट के कारखानों की स्थान-स्थिति पूर्णतया अनुकूल नहीं है। कच्चे माल की समीपता मौजूद है। किन्तु कारखाने कोयले के क्षेत्रों से बहुत दूर है। सबसे निकट कारखाना दो सौ मील की दूरी पर है और कई कारखाने एक हज़ार मील से भी अधिक की दूरी पर हैं। वर्तमान में यह उद्योग तीन प्रान्तों में केन्द्रीभूत है—बिहार ५९८,००० टनों, मद्रास ३६०,००० टनों और मध्य प्रदेश २५०,००० टनों का उत्पादन कर रहा है।

अभी भी सीमेंट के लिए भारतीय बाज़ार को अधिक उन्नत करने की गुंजाइश है। संपूर्ण भारत में सीमेंट की जितनी खपत होती है, उससे अधिक तो अकेला लंदन ही करता है। 'अभी कुछ ही वर्षों पहले सीमेंट का उपयोग इंजीनियरिंग निर्माण की भारी-भरकम मदों तक सीमित था, किन्तु कंक्रीट एसोसियेशन को धन्यवाद देना चाहिये कि

जिसके प्रचार के फलस्वरूप सीमेंट अधिक नाजुक और प्रतिदिन के उपयोग के कामों में आने लगा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में सीमेंट की मांग एकाएक बढ़ गई और इससे उद्योग को बहुत प्रेरणा मिली। नागरिक खपत पर प्रतिबन्ध लगाने पड़े। १९४१-४२ में उत्पादन भी चोटी तक पहुंच गया था। युद्ध की समाप्ति के बाद उत्पादन गिरना शुरू हुआ।

उत्पादन में गिरावट के कारणो के लिए निम्न बातें ज़िम्मेदार थीं : मज़दूरों की अशांति, राजनीतिक अवस्थाओं की अस्थिरता; कोयले की चिंताजनक और अल्प पूर्ति; यातायात की कठिनाइयां; और युद्ध के दबाव के कारण मशीनों और कारखानों की टूट-फूट और घिसाई।

१९५१ में, भारत संघ में सीमेंट के उत्पादन का अनुमान लगभग ३० लाख टन था। प्रथम पंचवर्षीय योजना का विचार है कि १९५५-५६ तक स्थापित क्षमता ५१·४ लाख टन की होगी और अनुमानित उत्पादन ४६·३ लाख टन हो जायगा।

३. दियासलाई उद्योग। भारतीय दियासलाई का उद्योग अभी हाल ही में पैदा हुआ है। १९२२ तक केवल एक सफल कारखाना था, जो अहमदाबाद में, १८९५ में गुजरात इस्लाम मैच फैक्टरी के नाम से स्थापित हुआ था। अन्य सब कारखाने, जो युद्ध-पूर्व के काल में शुरू हुए थे, अर्थ-व्यवस्था की कठिनाइयों, या प्रबन्ध की अनुभवहीनता और अज्ञानता अथवा गलत जगह चुन लेने के कारण बन्द करने पड़े।

१९२२ में, दियासलाई के आयात-कर में १॥) प्रति गुर्स की वृद्धि कर दी गई, जिसके कारण भारतीय उद्योग को ठोस संरक्षण प्राप्त हुआ और उसके आश्रय में अनेक कारखाने स्थापित किए गये। १९२८ और १९३८ के बीच कारखानों की संख्या तीन गुना से भी अधिक हो गई।

१९२७ में दियासलाई उद्योग ने अपनी स्थिति को कठिनाई में देखा और संरक्षण के लिए आवेदन किया किन्तु टैरिफ़ बोर्ड ने १९२८ में केवल इसी सहायता की सिफारिश की कि राजस्व-कर को संरक्षण में बदल दिया जाय, जिससे उद्योग को चलते रहने का विश्वास हो गया। जो भी हो, भारत में काम करने वाले स्विडिश संघ की विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता के विरुद्ध भारतीय फर्मों के रोने-धोने के प्रति सहानुभूतिपूर्ण विचार नहीं किया गया।

भारतीय दियासलाई उद्योग को बहुत बड़ा घरेलू बाज़ार होने का लाभ है। अनुमानतः १ करोड़ ७० लाख गुर्स वार्षिक की खपत होती है। और सस्ता एवं योग्य श्रम भी पर्याप्त परिमाण में प्राप्य है। साथ ही इस उद्योग ने गतिशील उन्नति की है। बहुत दिन की बात नहीं, जब कि हम आयात की हुई दियासलाइयों पर निर्भर रहते थे। किन्तु,

इस समय हम क्रियात्मक रूप में आत्मनिर्भर हैं । १९५० में, दियासलाई का उत्पादन २ करोड़ ६० लाख गुर्स हुआ था । प्रथम पंचवर्षीय योजना का विचार है कि १९५५-५६ तक संपूर्ण स्थापित क्षमता ७,६६,००० केसों की होगी और अनुमानित उत्पादन ६,९०,००० केसों का हो जायगा ।

किन्तु भारतीय दियासलाई उद्योग की विक्षिप्तता का एक कारण शक्तिपूर्ण स्विडिश संघ का आधिपत्य है। वर्तमान में यह वैस्टर्न इंडिया मैच कम्पनी के नाम से ख्यात है और विश्व-बाज़ार के ७०% पर इसका अधिकार है। भारतीय दियासलाई उद्योग की उन्नति अधिकांशतः इस विदेशी फर्म की उन्नति है। १९४८ में, कंपनी की ५ इकाइयों के उत्पादन की क्षमता १ करोड़ ८० लाख थी जबकि अन्य कंपनियों की २०० इकाइयों का संपूर्ण उत्पादन ७ करोड़ ९० लाख गुर्स था। इसने पहले ही अनेक अनुचित उपायों द्वारा बहुत-से भारतीय व्यवसायों को हथिया लिया है। बोर्ड में रुपये की पूंजी के साथ कुछेक बनावटी भारतीय डाइरैक्टरों को लेकर इस का हाल का पुनर्निर्माण इसकी वास्तविकता को छिपा नहीं सकता ।

४. चाय का उद्योग । विश्व में चाय का महानतम निर्याता होने के कारण भारत की स्थिति स्पर्द्धा करने योग्य है। चाय के लिए विश्व भर की मांग में से ४०% से अधिक भारत पूर्ति करता है ।

चिरकाल तक योरोपीय बाज़ारों में चीनी चाय को उच्चतम स्थान प्राप्त था । यह १८२० की बात है, जब कि आसाम में देसी चाय की खोज हुई। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने १८३५ में प्रयोग के लिए एक बाग शुरू किया। तबसे लेकर इस उद्योग ने तीव्रता के साथ उन्नति की। चीनी-चाय धीरे-धीरे योरोपीय बाजारों से निकाल दी गई । १८९६-९७ और १९३८-३९ के बीच चीन के निर्यात में ९०% की न्यूनता हुई और भारत की निर्यातों में १३२% की वृद्धि हुई। गत सदी में भारत की चाय के उत्पादन में ३००% की वृद्धि हुई ।

चाय की खेती नितान्त जल-वायु की अवस्थाओं पर निर्भर करती है। चाय के बाग आसाम, बंगाल, बिहार, दक्षिण भारत और उत्तर भारत में पाये जाते हैं। किन्तु पश्चिमी बंगाल और आसाम में अधिकांशतः वह केन्द्रीभूत है । भारत संघ में ७ लाख ३० हजार एकड़ों के चाय के संपूर्ण क्षेत्र में से लगभग ७३% आसाम और दो पश्चिमी बंगाल के ज़िलों में हैं और २०% दक्षिण भारत में समझा जाता है। १९५० में, उत्पादन उच्चतम अंक तक पहुंच गया था अर्थात् ६५ करोड़ ८० लाख पौंड।

प्रान्त-प्रान्त में प्रति एकड़ के हिसाब चाय की प्राप्ति में भिन्नता है, आसाम में प्रति एकड़ ७२८ पौंड उच्चतम है और गढ़वाल में ४४ पौंड न्यूनतम है। कहा जाता है कि कांगड़ा में चाय की खेती का मान बहुत ही क्षीण स्थिति में है। यह तजवीज़ की गई है कि पंजाब

सरकार को कांगड़ा में चाय उत्पन्न करने वालों के लिए समय-समय पर वैज्ञानिक परामर्श-दाता की सेवाएं मुहय्या करनी चाहिएं।

१९३० के वर्षों की महान् मंदी ने चाय उद्योग को भारी धक्का पहुंचाया। कीमतों में भीषण गिरावट हुई और १९३२-३३ का वर्ष सबसे ज़्यादा बुरा था। उद्योग को संपूर्ण विनाश से बचाने के लिए १९३३ में विश्व के मुख्य चाय-उत्पादक देशों के बीच पांच वर्ष के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ। १९३८ में वह दोबारा हुआ और इस समय भी वह चालू है, यद्यपि उसका उपयोग इस समय अनावश्यक-सा हो गया है। समझौते के अधीन प्रति वर्ष साथी देशों के लिए निर्यात के कोटे नियत किये जाते थे।

चाय उद्योग की समस्याओं का मूल स्वतः भारत में मिल जायगा। औसत भारतीय के पक्षपात और गरीबी के कारण भारत में चाय की बहुत थोड़ी खपत है। किंतु भारत की लाखों-करोड़ों की जन-संख्या प्रायः सीमाहीन बाज़ार की द्योतक है। इंडियन टी मार्केट एक्सपैन्शन बोर्ड। (भारतीय चाय प्रचारक समिति) बहुत जोरों के साथ चाय का आन्दोलन कर रही है। यह दोहरे पक्षपात के विरुद्ध लड़ने की चेष्टा कर रहा है— (१) चाय-पान के विरुद्ध कच्चे डाक्टरों और वैद्यों की राय; (२) कि चाय उन बागों से आती है, जहां भारतीयों के साथ दासों से भी गया-बीता व्यवहार किया जाता है। भारत में चाय की वर्तमान खपत का अनुमान १५ करोड़ पौंड के आसपास किया गया है। गत १० वर्षों में यह लगभग दो गुना हो गई है। चाय की खपत में वृद्धि करने वाले यह अंश कहे जा सकते हैं: कारखानों में चाय की दुकानों की स्थापना; सार्वजनिक स्थानों और मनोरंजन के स्थानों में चाय की दुकानों की उत्पत्ति; और साथ ही काफी (कहवा) की अल्प-पूर्ति।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने चाय-उद्योग को अस्थिर कर दिया; समुद्र-पार के बाज़ार जाते रहे, कीमतों में घटा-बढ़ी हो गई और निर्यात के कोटों का पुनः चलन हो गया। किन्तु जापान ने युद्ध में प्रवेश किया तो फार्मोसा, चीन, जापान और डच ईस्ट इंडीज़ जैसे महत्वपूर्ण पूर्ति के साधन बन्द हो गए। फलस्वरूप, भारतीय चाय की मांग में वृद्धि हुई। युद्ध के दबाव और थकावट ने अमरीका, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया और मध्यपूर्व के देशों से चाय की मांग में वृद्धि उत्पन्न की। संपूर्ण युद्ध-काल में भारतीय-चाय उद्योग समृद्धि प्राप्त करता रहा।

चाय उद्योग के लिए सबसे बड़ी सिरदर्दी का कारण दुनिया के उत्पादन-आधिक्य हो जाने का भय है। लागतें बहुत चढ़ गई हैं। इसलिये जब उपभोक्ता के सामने चुनाव की स्थिति होगी, तो भारतीय चाय की ऊंची लागत विश्व-बाज़ार की प्रतिद्वन्द्विता में संभवतः नहीं टिक सकेगी। आगामी चार या पांच वर्षों में जापान, फार्मोसा, चीन, लंका और इंडोनेशिया के साथ गहरी प्रतिद्वन्द्विता की आशा की जाती है। पहले दो तो सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हैं। इसलिये हमें लागतें कम करनी चाहिएं और किस्म तथा पैकिंग को

उन्नत करना चाहिए। अंतिम विश्लेषण के रूप में, भारतीय चाय का भविष्य गुण और कीमत के आधार पर ही निश्चित होगा।

५. तंबाकू का उद्योग। तंबाकू के लिए भारत पुर्तगालों का ऋणी है कि जिन्होंने १६-वीं सदी के आरम्भ में इसे यहां चालू किया था। भारत में तंबाकू उद्योग का महत्व इसी बात से आंका जा सकता है कि इस फसल की सालाना पैदावार की कीमत अनुमानतः १८ करोड़ रुपये है। विश्व में तंबाकू पैदा करने वालों में अमरीका के बाद भारत का ही दूसरा स्थान है।

भारत में तंबाकू पांच क्षेत्रों में उत्पन्न किया जाता है: (१) उत्तरी बंगाल का क्षेत्र, जहां सिगार, चुरट, हुक्का और खाने की पत्ती का तंबाकू पैदा होता है; (२) मदरास में गुंटूर का क्षेत्र, जहां वर्जिनिया सिग्रेट और पाईप का तंबाकू होता है; (३) उत्तरी बिहार का क्षेत्र, जहां खाने की पत्ती और सिग्रेट का तंबाकू होता है; (४) बम्बई और बड़ौदा में गुजरात का क्षेत्र, जहां मुख्यतः बीड़ियों के लिए तंबाकू होता है; वर्जिनिया तंबाकू की भी कोशिश की जा रही है; और (५) बम्बई के बेलगांव और सूरत के ज़िलों का निपानी क्षेत्र और कुछ आस-पास के राज्य। किन्तु तंबाकू पैदा करने वाले इन विशिष्ट क्षेत्रों को छोड़कर देश के सब भागों में स्थानीय खपत के लिए बहुत बड़े परिमाण में तंबाकू पैदा किया जाता है। भारत में पैदा हुआ तंबाकू आंशिक रूप में भारत में निर्मित होता है और आंशिक निर्यात किया जाता है। इंडियन लीफ टुबैको डिवैलपमैंट कंपनी सबसे बड़ी क्रेता है और संपूर्ण फसल के आधे से अधिक को वह खरीद लेती है। गत २५ वर्षों में तम्बाकू के निर्माण के लिए बहुत-से कारखाने स्थापित किये गए हैं। सिगारों और चुरटों के लिए मदरास को विशेषता प्राप्त है; बीड़ियां प्रायः सभी मुख्य नगरों में बनाई जाती हैं, किन्तु पूना, जब्बलपुर और नागपुर मुख्य केन्द्र हैं। मध्य प्रदेश में यह घरेलू उद्योग बहुत समृद्धिपूर्ण है; लगभग ५० हज़ार व्यक्तियों को इससे रोज़गार मिलता है। हुक्के का तंबाकू प्रायः सभी स्थानों पर बनाया जाता है किन्तु रामपुर, गोरखपुर, लखनऊ और दिल्ली इसके लिए विशेष मशहूर हैं। दिल्ली और संयुक्त प्रान्त में खाने की पत्ती का तंबाकू विशेषता-प्राप्त है और मदरास और मैसूर में सुंघनी। किन्तु प्रामाणीकरण के अभाव में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार का तंबाकू बनता है।

भारत में उत्पन्न होने वाले तंबाकू की किस्म को उन्नत करने के लिए हाल ही के वर्षों में सबल चेष्टाएं की गई हैं। बढ़िया किस्म को उगाने की संभावनाओं की खोज की जा रही है। १९३६ में इंपीरियल (अब भारतीय) कौंसिल आव एग्रीकल्चरल रिसर्च ने गुंटूर में तंबाकू के लिए एक सब-स्टेशन (उप-गृह) स्थापित किया था। अनेक राज्यों ने अपने यहां निजी अनुसंधान के स्थान स्थापित किये हैं। इंडियन लीफ टुबैको कंपनी ने भी भारतीय तंबाकू को उन्नत करने के लिए बहुत यत्न किया है। मैसूर टुबैको कंपनी ने

मैसूर में वर्जिनिया तंबाकू की खेती को बढ़ा दिया है।

भारत में तंबाकू की बिक्री की दिशा में भी यत्न किया गया है। एक इंडियन टुबैको एसोसियेशन बनाई गई है, जो उत्पादकों, व्यापारियों और निर्माताओं का प्रतिनिधित्व करती है। इसका काम बिक्री से पूर्व प्रामाणीकरण और तय्यारी करने में सहायता देना है। मदरास कर्मशियल क्रॉप मार्केटिंग एक्ट, १९३९ (मद्रास व्यापारिक फसल क्रय विधेयक, १९३९) तंबाकू के क्रय को नियमित करने के लिए बनाया गया था।

६. लाख का उद्योग। भारत प्रति वर्ष ४९ से ५० लाख टन लाख पैदा करता है। इसका मुख्य उपयोग फर्नीचर के पालिश करने में होता है। यह ग्रामोफोन के रिकार्डों, सोने और चांदी के ज़ेवरों में रिक्त स्थान की पूर्ति करने, लकड़ी के खिलौनों को जोड़ने और पैन-होल्डरों (कलमों) के उपयोग में भी आता है। इन सब उद्देश्यों के लिए भारत में संपूर्ण उत्पादन की ३ प्रतिशत की खपत होती है और शेष का निर्यात किया जाता है। अमरीका इसका सबसे बड़ा ग्राहक है। ग्रामोफोन रिकार्डों के उद्योग के जन्म ने लाख-उद्योग की प्रगति को गतिशील बना दिया है। इस उद्योग में लाख के विश्व-उत्पादन का ४०% खप जाता है। भारत में, ग्रामोफोन रिकार्डों में प्रति वर्ष ३०० टन के लगभग की खपत हो जाती है।

ग्रामोफोन रिकार्डों के अतिरिक्त, विदेशों में फ्रांसीसी पालिश, फर्श के वार्निश, बिजली और सीमेंटों के वार्निश, पहियों के दांते बनाने; चमड़ा पालिश करने, कागज़ को पूर्ण करने इत्यादि निर्माण के कार्यों में इसका उपयोग किया जाता है। इससे पता चलता है कि लाख-उद्योग की प्रगति के लिए कितना विस्तृत क्षेत्र विद्यमान है। इस बहुमूल्य पदार्थ का पूर्ण उपयोग करने में हम अभी बहुत दूर हैं। बिहार में नाभकुम स्थित इंडियन लाख रिसर्च इंस्टीट्यूट (भारतीय लाख अनुसंधानशाला) लाख के नये-नये प्रयोगों को सिखलाने और इसकी खेती को उन्नत करने की दिशा में बहुत हितकर कार्य कर रही है।

७. सिनेमा उद्योग। हमारे शिशु उद्योगों में फिल्म उद्योग एक है। १९३९ में इसने अपनी रजत-जयंती मनाई थी। किन्तु इसने तीव्र वेग के साथ उन्नति की है और इस समय भारतीय उद्योगों में इसका आठवां स्थान है। इसके द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय राज्य-कोष को १·२१ करोड़ रुपया प्राप्त होता है और लगभग ४० लाख रुपया वार्षिक मनोरंजन टैक्स से प्राप्त होता है। इसलिए, भारत में फिल्म उद्योग के महत्व के विषय में कोई भी संदेह नहीं रह जाता। हॉलीवुड के बाद, दुनिया में भारत सबसे बड़ा फिल्म-निर्माता है।

पहली भारतीय फिल्म "हरिश्चन्द्र" १९१३ में बनाई गई थी। बोलने वाली फिल्मों के निर्माण से इस उद्योग की उन्नति को प्रोत्साहन मिला। इस समय लगभग १५० कम्पनियां फिल्म-निर्माण का कार्य कर रही हैं। अधिक महत्वपूर्ण केंद्र बम्बई, कलकत्ता,

मदरास और पूना हैं। किंतु, देश में निर्मित होने वाली संपूर्ण संख्या का दो-तिहाई अंश बम्बई में निर्मित होता है, इस लिए वह "भारत का हॉलीवुड" कहलाने का अधिकारी है। १९५१ की फिल्म जांच कमेटी के अनुसार ३२५०सिनेमा घर हैं और ६० स्टूडियो हैं। इस उद्योग में ३२ करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है और वार्षिक आय लगभग २० करोड़ रुपये की है।

किंतु अभी तक हमने अपने कार्य-कलापों को फिल्मों के उत्पादन और वितरण तक ही सीमित रखा हुआ है। कच्चे फिल्मों तथा सिनेमा सम्बन्धी प्रसाधनों के लिए हम पूर्णतया विदेशों पर ही आश्रित हैं। भारत में फिल्मों की बढ़ती हुई मांग से भारत में एक अनुकूल क्षेत्र को जन्म मिलता है और उसका उपयोग करने के लिए भारतीय औद्योगिकों को कच्चे फिल्मों तथा सिनेमा प्रसाधनों के निर्माण के कार्य को उठाना चाहिए।

जनवरी, १९४६ में नेशनल स्टूडियोज़ की छठी साधारण बैठक की अध्यक्षता के समय मि. जे. के. शेराफ़ ने इस उद्योग को एक चेतावनी दी थी। उनके कथनानुसार, "हमारे स्टूडियो बहुत छोटे हैं, अविवेकपूर्ण निर्माण है, जो व्यक्तिगत सनक और भावनाओं से शासित होता है।"

फिल्म जांच कमेटी के शब्दों में "जहां बुद्धि और कला का संगम होता है, वहां आज की फिल्म का प्रदर्शन नितान्त क्षीण है, क्योंकि उसकी कथा-वस्तु पुराने ढर्रे तथा घिसे-पिटे ढंग की है।" फिल्म निर्माता अपनी योग्यता और उच्च-श्रम का प्रदर्शन करने के लिए सच्चे अर्थों में कलापूर्ण फिल्में बाज़ार में दे सकते हैं। कमेटी ने अखिल भारतीय फिल्म कौंसिल बनाने की सिफारिश की थी, जो "मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक" के रूप में कार्य करेगी। और साथ ही फिल्म फाइनेंस कार्पोरेशन की स्थापना की भी सिफारिश की थी, जिस की आरम्भिक पूंजी एक करोड़ रु. हो।

नियमित उत्पादन और व्यर्थ की प्रतिद्वंद्विता को नष्ट करने के लिए उद्योग का उचित संगठन होना चाहिए।

सिनेमा उद्योग की आपत्ति है कि निरन्तर बढ़ने वाले टैक्सों के कारण यह पंगु होता जा रहा है। कहा जाता है कि इस की आयों का ६०% टैक्सों के रूप में चला जाता है। यह बुद्धिमानी की बात नहीं कि अंडे देने वाली मुर्गी का पेट ही चीर डाला जाय। फिल्म जांच कमेटी ने सिफारिश की थी कि संपूर्ण आय का २०% समान परियात मनोरंजन के टैक्स के रूप में लगाया जाना चाहिए।

८. रेयन का उद्योग। यद्यपि भारत में रेयन का उद्योग अभी शिशु दशा में ही है, तथापि इसने तीव्र गति से उन्नति की है और इसने हमारे देश में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। वस्त्र उद्योगों में सूती वस्त्र उद्योग के बाद इसका महत्व है।

भारत में कच्चे रेशम की खपत का अनुमान ४० लाख पौंड किया गया है, जिस में से ५०% की घरेलू उत्पादन से पूर्ति हो जाती है। सरकार ने उत्पादन को बढ़ाने के लिए योजनाएं बनाई हैं। एक सैंट्रल सिल्क बोर्ड उद्योग को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए और पथ-प्रदर्शन के लिए बनाया गया है।

काश्मीर की अस्थिर अवस्थाओं ने रेशमी वस्त्रों के उत्पादन में बाधा डाल दी है।

इस उद्योग को १९३४ में पहले संरक्षण मिला था। इसके बाद पुनः टैरिफ़ बोर्ड की सिफारिश पर तीन वर्ष के लिए १९४९ में आयात-कर को लगभग तीन गुणा कर दिया गया। उद्योग द्वारा संरक्षण के स्तर की अपर्याप्तता के विषय में आपत्ति करने पर टैरिफ़ बोर्ड को पुनः १९५१ में जांच करने के लिए कहा गया। यह स्पष्ट है कि यह उद्योग केवल संरक्षण पर ही जीवित नहीं रह सकता। इसे न केवल आयातों की ही प्रतिद्वंद्विता का सामना करना होता है, प्रत्युत कृत्रिम रेशम का भी। केवल पुनः संगठन करने के आधार पर ही यह उद्योग सुदृढ़ हो सकता है।

१०. ऊन का निर्माण। ऊन की घरेलू दस्तकारी को छोड़ कर, जिस के विषय में हम चर्चा कर चुके हैं, भारत में ऊनी मिलों (कारखानों) का उद्योग भी किसी सीमा तक उन्नति कर रहा है।

पहली ऊनी मिल १८७६ में कानपुर में स्थापित हुई थी। अगले दस वर्षों में कुछ और मिलें स्थापित हुईं, जिन में सब से महत्वपूर्ण धारीवाल एजर्टन वूलन मिल्ज़ है। प्रथम विश्व-युद्ध ने इस उद्योग को कुछ प्रेरणा दी। १९१९ और १९२१ के बीच बम्बई में तीन मिलें स्थापित हुईं। कठोर प्रतिद्वंद्विता के फलस्वरूप १९२४ में कुछ मिलों का दिवाला निकल गया। १९३० के वर्षों में ऊन का उद्योग मन्दी की पकड़ में आ गया। किंतु सरकार को १९३४ में टैरिफ़ बोर्ड की संरक्षण के लिए सिफारिश को स्वीकार करने के सिवा अ[illegible]रा न रहा। इस के सिवा, घरेलू ऊन के उद्योग को ५ लाख रुपये का अनुदान स्वी[illegible] गया, जो पांच वर्षों में फैला कर दिया जाना था।

ऊनी नि[illegible]त वस्तुओं में फलैनल, सर्ज व ट्वीड, ब्रॉड क्लाथ, कंबल और नमदे भी निहित है। यह मिलें अधिकतर भारतीय ऊन का उपयोग करती हैं और केवल बढ़िया कपड़ों के लिए उन्हें आस्ट्रेलिया की ऊन पर निर्भर रहना पड़ता है। बम्बई, कानपुर, धारीवाल (पंजाब), और बंगलौर इस उद्योग के मुख्य केंद्र हैं।

भारतीय जल-वायु ऊनी वस्त्र की अपेक्षा सूती के लिए अधिक उपयुक्त होने के कारण, ऊनी उद्योग के लिए विस्तार की अधिक संभावनाएं नहीं हैं। किंतु कच्ची और निर्मित ऊन की अधिक आयातों को दृष्टि में रखते हुए इस उद्योग के विस्तार के लिए अभी बहुत बड़ा क्षेत्र है। निःसंदेह, भारतीय ऊन घटिया है, किंतु बढ़िया ऊन भी आयात की जा सकती है। अनेक अन्य देशों ने भी अपने ऊनी उद्योग को आयातों से उन्नत किया

है और कोई कारण नहीं जान पड़ता कि भारत में भी और अधिक प्रगति क्यों नहीं की जा सकती। वर्तमान में हमारी मिलें हमारी मांग के एक अंश की ही पूर्ति करती है।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने ऊन के उद्योग को बहुत साहस प्रदान किया। भारत में ऊनी मिलों ने भारतीय सेना की बढ़ती हुई वस्त्र-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अपनी अधिकतम क्षमता के साथ काम किया। १९५० में, ऊनी वस्तुओं का उत्पादन १८०·५ लाख पौंड था। इस उद्योग के सामने बढ़िया काऊंटों के उत्पादन में वृद्धि करने के विषय में यह समस्या है कि उसके पास ऊन के लिए लट्टुओं की कमी है और वह एकमात्र आस्ट्रेलिया से आयात किये जाते हैं।

११. नमक उद्योग। नमक भारत के अनेक भागों में बनाया जा सकता है। केवल बंगाल, बिहार, उड़ीसा में इसे बनाना कठिन है, क्योंकि वहां का जलवायु नमी वाला है और गंगा का समुद्र में निरन्तर बहने वाला पानी वाष्प द्वारा नमक बनाना कठिन कर देता है।

भारत में नमक के दो स्रोत हैं: (१) नमक वाला पानी राजपूताना में सांभर झील से; और (२) बम्बई और मदरास में समुद्री नमक के कारखाने।

नमक उद्योग को १९३० में संरक्षण दिया गया था। १९३१ तक नमककर जारी रहा। हमारे यहां जो साधन उपलब्ध हैं, उन से भारत नमक के विषय में सहज ही आत्मनिर्भर हो सकता है।

१९३३ में गांधी इरविन समझौते ने अपनी निजी आवश्यकता के लिए व्यक्ति को नमक बनाने का अधिकार दिया था। १९४७ में इस समझौते में संशोधन किया गया, जिस में नमक के लिए व्यक्तिगत आवश्यकताओं के इस अधिकार की शर्त को स्पष्टतः व्यक्त किया गया था।

हाल ही के वर्षों में, जहां तक सम्बन्ध नमक की पूर्ति, कीमत और [illegible] से है, अवस्था बहुत ही असंतोषजनक रही है। विभाजन के कारण तो नमक के सम्ब[illegible]की स्थिति और भी क्षीण हो गयी है। पंजाब की नमक की पहाड़ियों और खेवड़ा क[illegible]नों की हानि से भारत को २५ लाख मन नमक की क्षति हुई है।

हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम वर्तमान स्थिति का अवलोकन करें और कुछ ही वर्षों में आत्म-निर्भरता के आदर्श को पूर्ण करने की दिशा में कार्य करें। हमारी प्रति अंश की खपत १२·६ पौंड है, जबकि विश्व की औसत २३ पौंड है। भविष्य की अपनी आवश्यकताओं का अनुमान करते समय हमें मानवी खपत, पशुओं की आवश्यकताओं और उद्योगों की ज़रूरतों की वृद्धि को दृष्टि में रखना चाहिए। हमारे उद्योग में पुनर्निर्माण और अधिक उन्नति की आवश्यकता है। समुद्र में से नमक बनाने के लिए अधिक उदारतापूर्वक लाइसेंस दिये जाने चाहिएँ। पहाड़ी नमक के नये साधनों की खोज की जानी चाहिए। भारत सरकार ने डिवैलपमेंट कमेटी उत्पादन में वृद्धि करने के लिए स्थापित की थी। १९४६-४२

के काल में ४८० से ६३५ लाख मन का विभिन्न रूप में उत्पादन होता रहा। १९५० में यह ७१३ लाख मन हो गया और १९५१ में अनुमान किया गया है कि ७२७ लाख मन हो जायगा। यह संभव है कि ७३२ मन का चिह्नित अंक पार हो जायगा। भारत ने आत्म-निर्भरता प्राप्त कर ली है। और जनवरी १९५२ में ४·७ लाख मन की जापान को निर्यात की गई। आशा की जाती है कि दक्षिणी तट के कारखाने १९५२ में अपने उत्पादन में ४०% की वृद्धि करेंगे। प्रथम पंच-वर्षीय योजना का विचार है कि ३०,७५,००० टनों की उत्पत्ति हो जायगी।

§२. कुछ अन्य उद्योग। **इंजीनियरिंग उद्योग**—भारत में इंजीनियरिंग उद्योग का गत सदी के अर्द्ध में आविर्भाव हुआ था। किंतु यह मुख्यतः रेलों की मरम्मत के सम्बन्ध तक ही सीमित रहा है। नवीन वृहद्-स्तर के उद्योगों की प्रगति के साथ वर्कशाप (कारखाने) बनीं। हाल ही में टाटा आयरन एंड स्टील कम्पनी ने इंजीनियरिंग की अनेक दिशाओं में कार्य करना आरम्भ किया है और इस उद्योग को उन्नत किया है। फलरूप वर्तमान में कई किस्मों के टूल (औज़ार) और उपकरण भारत में बनने लगे हैं। किंतु इतने पर भी आज तक इंजीनियरिंग उद्योग मरम्मत तक ही सीमित है। अब भी हम पूर्णतया आयात की हुई मशीनों पर आश्रित हैं, जो औसतन १६ करोड़ रुपये वार्षिक की आती हैं। इन मशीनों की कीमत के साथ यातायात, बीमा तथा अन्य दातव्यों को भी जोड़ा जा सकता है। इस सब का तात्पर्य यह है कि भारतीय व्यवसायी को पर्याप्त रूप से प्रारम्भिक बाधा होती है। पूंजी की ऊंची लागत, योग्य श्रम का अभाव और आन्तरिक प्रतिद्वंद्विता, कुछेक कठिनाइयां हैं, जिन से इंजीनियरिंग उद्योग को सामना करना पड़ता है। इंजीनियरिंग उद्योग निम्न मुख्य औद्योगिक केन्द्रों में केंद्रीभूत है: बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद और मदरास आदि।

एल्यूमीनियम उद्योग[1]—एल्यूमीनियम उद्योग नवीनतम उद्योगों में से एक है। यह १९-वीं सदी के अन्त की ही बात है, जबकि बिजली से पालिश करने की प्रणाली की खोज हो जाने पर एल्यूमीनियम व्यापारिक उपयोग के लिए संभव हो सका। वर्तमान में यह उद्योग दृढ़तापूर्वक भारत में जम गया है और इसे मूल-उद्योग घोषित किया गया है। राष्ट्रीय रक्षा की दृष्टि से इस के महत्व के प्रति उपेक्षा नहीं की जा सकती। बिजली के कार्यों में हल्का होने के कारण इसका अधिक उपयोग होता है। इसलिये यह उद्योग हमारी बहु-मुखी योजनाओं में बहुत सहायक सिद्ध होगा। नान-फैरिस (लोहा रहित) मैटल इंडस्ट्रीज़ पैनल ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है, "आने वाला युग हल्की धातुओं का युग होगा और एल्यूमीनियम उद्योग की लगभग सभी दिशाओं में अपना महत्वपूर्ण योग प्रदान

---

१. See article by K. C. Mahindra in Commerce of Dec. 1949.

करेगा। एल्यूमीनियम को सामान्य उद्देश्य की धातु कहा जा सकता है। यह यातायात उद्योगों, संप्रेषण कार्यों, खाद्य और रसायन उद्योगों, मकान बनाने और रसोई में बासनों के रूप में इस्तेमाल होता है। महत्व की दृष्टि से एल्यूमीनियम उद्योग लोहे और इस्पात के उद्योग से दूसरे दर्जे पर है।

भारत में बाक्साईट (Bauxite) के विस्तृत कोष है और देखा गया है कि व्यापारिक दृष्टि से उन से काम लिया जा सकता है। भारत में बिजली की संभावनाएं भी बहुत हैं; इस उद्योग के लिए सस्ती बिजली एक अन्य मुख्य आवश्यकता है। फलस्वरूप, भारत में इस उद्योग की उन्नति के लिए अनुकूल अवस्थाएं विद्यमान हैं, किंतु भारतीय बाक्साईट में कतिपय रासायनिक विचित्रताएं है, जिन के कारण अमरीका या योरोप की अपेक्षा भारत में उत्पादन की अधिक लागत पड़ती है। भारत में बिजली की दर कैनेडा की अपेक्षा दस गुना अधिक है। यह भी इस तथ्य के कारण है कि भारत में बिजली की कीमतें ऊंची है। इसे दृष्टि में रखते हुए, यह उद्योग उचित संरक्षण के बिना उन्नति नहीं कर सकता। भारत में यह उद्योग उल्टी दिशा से आरम्भ हुआ है। सिलियों के उत्पादन से पूर्व बासनों का निर्माण हुआ है। इस उद्योग को संरक्षण दिया जाना है, वह इस प्रकार निर्धारित होना चाहिए कि सिलियों के उत्पादन को प्रोत्साहन मिल सके। केवल तभी भारतीय एल्यूमीनियम उद्योग की निश्चित् नींव पड़ सकेगी।

मई १९४९ से सरकार भारत में एल्यूमीनियम के एकमात्र निर्माताओं, इंडियन एल्यूमीनियम कंपनी और एल्यूमीनियम कार्पोरेशन आव् इंडिया को तीन वर्ष के लिए उनके उत्पादनों की विक्रय कीमत और वैसी ही आयात की हुई वस्तुओं के बीच के अन्तर द्वारा और आयात उत्पादनों पर अतिरिक्त विशिष्ट कर लगा कर सहायता दे रही है। यह सहायता मई १९५२ तक जारी रहनी है। उस सहायता को दृष्टि में रखते हुए कि जो इस उद्योग को विदेशों में मिलती है, भारतीय उद्योग को मिलने वाली सहायता अपर्याप्त घोषित की जानी चाहिए। सरकार ने टैरिफ बोर्ड की यह सिफारिश स्वीकार कर ली है कि चतुर्थ योजना के अधीन अमरीका से टैकनीकल परामर्श और सहायता प्राप्त करनी चाहिए और इस उद्योग के लिए महायंत्र और मशीनों की आयात को प्राथमिकता दी जाय। सरकार इस उद्योग को बिजली की पूर्ति में सहायता प्रदान करके ठोस मदद कर सकती है, क्योंकि बिजली की लागत अटकल रूप में संपूर्ण का ४०%होती है।

अप्रैल, १९५१ में राष्ट्रीय योजना कमीशन (नेशनल प्लानिंग कमीशन) ने वर्तमान इकाइयों को ५ हज़ार टन तक प्रत्येक को बढ़ा देने और हीराकुड क्षेत्र में १५ हज़ार टन की नई इकाई स्थापित करने तथा १९५५–५६ तक संपूर्ण उत्पादन को २५ हज़ार तक प्रति वर्ष कर देने की समस्या पर उद्योग के साथ विचार किया। वर्तमान में दो प्रमुख कारखानों की सम्मिलित उत्पादन-क्षमता ४ हज़ार टन है। १९५० में उन्होंने ३५३६ टन का उत्पादन किया था, जब कि हमारी वार्षिक आवश्यकताएं १५ हज़ार टन प्रति वर्ष की हैं।

रंग-रोगन का उद्योग—रंग-रोगन बनाने वाला पहला कारखाना १९०२ में कलकत्ता के पास खोला गया था। यह पहला ही साहस बहुत सफल रहा। प्रथम विश्व-युद्ध के कारण इस उद्योग को प्रेरणा मिली। तब से लेकर यह क्रमशः उन्नति करता जा रहा है, यद्यपि उल्लेखनीय कोई बात नहीं। रंग-रोगन बनाने के लिए जो भी वस्तुएं दरकार होती हैं, भारत में वह सब पैदा होती हैं, जैसे, तारपीन, अलसी का तेल, लाल जिस्त, सुहागा आदि। गत कुछ वर्षों में रंग-रोगनों का सराहनीय उत्पादन बढ़ गया है।

साबुन का उद्योग—इस उद्योग का यह उल्लेखनीय उदाहरण है कि इसने सरकार से संरक्षण अथवा किसी प्रकार की सहायता प्राप्त किये बिना ही उन्नति की है। भारत में साबुन-निर्माण की परिस्थितियां सर्वथा अनुकूल हैं। हमारे देश में वनास्पति तेल बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न किये जाते हैं और उनकी पूर्ति में और भी वृद्धि हो सकती है। केवल कास्टिक सोडे की आयात करनी होती है। इसके लिए बहुत बड़ा घरेलू बाज़ार है, सस्ता श्रम है, टैक्स का अनुपात न्यून है और विदेशी साबुन पर आयात-कर लगा हुआ है—यह सब अंश इस भारतीय उद्योग के लिए अनुकूल है।

नवीन प्रणाली के अनुसार साबुन का पहला कारखाना एन. डब्ल्यू. सोप कंपनी ने १८७९ में खोला था। स्वदेशी आन्दोलन के कारण बंगाल में कई कारखाने खोले गए थे, जिनमें उल्लेखनीय यह हैं : बुलबुल सोप कंपनी, नेशनल सोप वर्क्स, ओरियंटल सोप वर्क्स। प्रथम युद्ध आरम्भ होने के अवसर पर साबुन का उत्पादन २० हज़ार टन था। युद्ध ने इसे विस्तार दिया। १९३५ और १९४४ के बीच उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, जो १ लाख २० हज़ार तक चली गई थी।

सब प्रकार के साबुन और बहुत ही बढ़िया किस्म के साबुन भी बनाये जा रहे हैं। सम्पूर्ण उत्पादन में से नहाने का साबुन ८०% है। समूचे देश में साबुन बनाने के छोटे-छोटे कारखाने हैं, जो संपूर्ण उत्पादन में से २५% की पूर्ति करते हैं। मोदी सोप मैन्यूफैक्चरिंग कंपनी, टाटा कैमीकल कंपनी, गाडरेज और लिवर ब्रदर्स आदि कई बड़ी-बड़ी कंपनियां वृहद् परिमाण में बढ़िया किस्म के साबुन बना रही हैं। यह आवश्यक है कि इनके साथ ही डब्बे और बैरल (ढोल) बनाने के उप-उद्योग भी जारी किये जांय। भारतीय साबुन उद्योग ने अभी तक चर्बियों का बहुत ही थोड़ी मात्रा में उपयोग किया है, जबकि विदेश के साबुन उद्योग में यह साबुन के लिए महत्वपूर्ण पदार्थ माना जाता है।

इसलिए, साबुन उद्योग का भविष्य सर्वथा उज्ज्वल जान पड़ता है। निश्चय ही साबुन का उपयोग करने की आदत में शहरी-विस्तार, शिक्षा-विस्तार, प्रचार, व्यक्तिगत स्वास्थ्य के लिए चेतना और जीवन-मान में उन्नति के कारण वृद्धि होकर रहेगी। १९५५–५६ तक स्थापित क्षमता की आशा २ लाख ८८ हज़ार टन तक जाने की है; और उत्पादन २ लाख ७० हज़ार टन तक हो जायगा। आन्तरिक वार्षिक खपत १ लाख २५ हज़ार टन तक आंकी गई है। इस उद्योग की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि

घरेलू खपत को बढ़ाया जाय और विदेशों में भेजने के मार्ग निकाले जांय। इस उद्देश्य के लिए उत्पादन की लागत को पर्याप्त कम करना चाहिए। यह समझते हुए कि साबुन की खुर्दा कीमत में से वनास्पति तेल की लागत ६५% होती है, तो गोले और पाम के तेलों पर से आयात-कर घटाने या हटाने से इस उद्योग की लागतों में न्यूनता करने के लिए पर्याप्त सहायता हो जायगी। इससे आगे, अभिनवकरण, अनुसन्धान और उन्नत उपाय इस उद्योग को सुदृढ़ करने के लिए अनिवार्य हैं।

वनास्पति उद्योग—हाल ही के वर्षों में वनास्पति उद्योग बहुत बढ़ गया है, और कुछ लोगों का मत है कि इसका भयानक रूप में विस्तार हुआ है। इस समय महान खाद्य-उद्योगों में इसका स्थान दूसरा है, जिसमें २३ करोड रुपये की पूंजी लगी हुई है। वनास्पति उत्पादन करने वाली यहां ४० फैक्ट्रियां हैं, और इनके द्वारा प्रत्यक्षतः १५ हज़ार श्रमिकों को रोज़गार मिलता है, और कई हज़ार को अप्रत्यक्ष रूप में उप-उद्योगों से रोज़गार मिलता हैं।

१९५० में वनास्पति उद्योग की ओर जनता का ध्यान इतना आकर्षित हुआ कि जितना पहले कभी नही हुआ था, क्योंकि पार्लियामेंट में वनास्पति पर रोक लगाने के लिए कई बिल (कानून) पेश किये गए थे। पक्ष और विपक्ष की युक्तियों के कारण जनता असमंजस में पड गई। यदि इस जिन्स के बारे में कोई निर्णय किया जायगा, तो खुराक-संबंधी पोषक तत्त्वों, आर्थिक तथा नैतिक दृष्टिकोणों को अनिवार्यतः समक्ष रखना ही होगा।

सबसे महत्वपूर्ण विचार वनास्पति के खुराक विषयक मूल्य का है। इज़्ज़तनगर (आईज़ेटनगर) में एक प्रयोग द्वारा पता चला है कि चूहों की खुराक में ५% वनास्पति ने उन्हें तीसरी पीढ़ी में अन्धा कर दिया। जो भी हो, इस निर्णय के बारे में डा० गिल्डर जैसे अधिकारी व्यक्तियों ने चुनौती दी और कहा कि यह अंधता बंगाली क्षीण खुराक के कारण हुई और वनास्पति के कारण नहीं। सबसे ताज़ा निर्णय वनास्पति अनुसन्धान निर्माण समिति (वनास्पति रिसर्च प्लानिंग कमेटी) का है, जिसमें बताया गया है कि चार भिन्न केन्द्रों में प्रयोग करने पर मालूम हुआ है कि वनास्पति के पिघलने का तापमान ३७° सैंटीग्रेट है और यह मूंगफली के तेल के मुकाबिले में किसी प्रकार हानिकारक नहीं है। जो भी हो, यह केवल एक विपरीत निर्णय है। इससे केवल इतना ही पता चलता है कि वायुरूप तत्त्व के मिश्रण से तेल का खुराक विषयक मूल्य उन्नत नहीं हो जाता। तो फिर देश १२ करोड़ रुपये वार्षिक वायुतत्त्व मिश्रण पर क्यों खर्च करता जा रहा है? यह समझा जा सकता है कि इसके रंग, गंध और बनाने-ठनाने के लिए यह कीमत चुकाई जाती है। विशेषज्ञों द्वारा परस्पर-विरोधी सम्मतियों को दृष्टि में रखते हुए, वनास्पति के खुराक विषयक मूल्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता; इसे संदिग्ध ही समझा जा सकता है।

वनास्पति के विषय में असली कष्ट यह है कि सामान्य आदमी असली घी और इसमें भेद नहीं कर सकता। और इसके फलस्वरूप मिलावट की बुराई पैदा होती है, जो इन दिनों प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। ढंग यह होना चाहिए कि जो वनास्पति चाहते हैं, वह वनास्पति ले सकें, किन्तु जो असली घी चाहते हैं, उन्हें वनास्पति की मिलावट के बिना असली घी मिल सके। इस उद्देश्य के लिए रंग डालना आवश्यक जान पड़ता है। किन्तु रंग ऐसा होना चाहिए कि जो आंखों को भा सके, स्वास्थ्य के लिए हानिकर न हो, और उसके फीके पड़ने का भय न हो। भारतीय दुग्धशाला अनुसंधान संसद (इंडियन डेरी रिसर्च इंस्टीट्यूट) ने मालूम किया है कि रतनजोत की जड़ के रस से वनास्पति घी को यदि रंगा जाय, तो उससे बहुत संतोषजनक परिणाम हो सकता है।

वनास्पति पर प्रतिबन्ध लगाने से लगी हुई पूजी नष्ट हो जायगी और इस उद्योग में लगे लोगों का रोजगार जाता रहेगा। संभवतः हानि-पूर्ति का प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। फलतः इसके कानूनी अंग को भी देख लेना चाहिए।

वनास्पति के विषय में नैतिकता का भी एक अंग विचारणीय है, मिलावट की प्रवृत्ति होने के कारण इससे व्यापारिक नैतिकता का भी पतन हुआ है।

१३. औद्योगिक प्रगति का अवलोकन। हमने भारत के औद्योगिक क्षेत्र का विस्तृत और विभिन्न रूपों में अवलोकन किया है। हमने भिन्न भारतीय उद्योगों के मूलोत्पादन और प्रगति की खोज की है और उनमें से प्रत्येक के समक्ष उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विचार किया है। इस औद्योगिक प्रगति का माप-दंड क्या है?

कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों को देखते हुए हमें मालूम होता है कि जूट और चाय का उत्पादन घरेलू मांग की अपेक्षा सामान्यतः बढ़ गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भिक अवसर पर भारत निम्न उद्योगों में क्रियात्मक रूप से स्वतः संतुष्ट हो गया था : खांड, सीमेंट, कपड़ा, लोहा और इस्पात, काग़ज़ और दियासलाई। विश्व के दस महान् औद्योगिक देशों में भारत ने भी स्थान प्राप्त कर लिया है। इससे उच्चतम स्थिति का ज्ञान होता है। इससे भी बढ़कर, द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में उद्योगों ने गुण-विषयक और परिमाण विषयक प्रगति में भी वृद्धि की। विद्यमान उद्योगों का विस्तार हुआ और कई नये उद्योगों की स्थापना हुई।

किन्तु इसके कारण वास्तविक स्थिति के प्रति हमें आंखें नहीं मूंद लेनी चाहिएं। निश्चय ही, अभी भी हम औद्योगिक रूप में पिछड़े हुए हैं। अन्य देशों के साथ तुलना करते हुए और अपने मानव-श्रम तथा सामान के प्रसाधनों को दृष्टि में रखते हुए हमारी औद्योगिक प्रगति तुच्छ-सी घोषित की जानी चाहिए। भारत की इस्पात की प्रति अंश खपत ८ पौंड प्रति वर्ष है, जबकि इस के विपरीत अमरीका में ८६० पौंड, इंग्लैंड में ५२० पौंड और आस्ट्रेलिया में ४७० पौंड है। गंधक के तेज़ाब की खपत भारत में प्रति अंश अमरीका

की अपेक्षा ४०० गुना न्यून है और सोडे की १०० गुना न्यून। बड़ी मुश्किल से भारत की कर्मकर जनसंख्या का २% वृहद्-स्तर उद्योग में लगा हुआ है।[1]

किन्तु हमारी प्रगति केवल यही नहीं कि धीमी थी, प्रत्युत यह असमान भी थी। परिपूरक होने की अपेक्षा यह प्रतिद्वंद्वितापूर्ण रही है। हमारे औद्योगिक लकीर के फकीर बने : प्रारम्भ करने के बजाय उन्होंने नकल की। जैसे ही किसी नये उद्योग की स्थापना का पता चलता है, तैसे ही अंधाधुंध खाई को पाटने की भगदड़ हो जाती है; और जब तक वह उद्योग पारिश्रमिक देना बन्द ही नहीं कर देता, तब तक कारखाने पर कारखाना खुलता चला जाता है। यही नही कि उसी दिशा को ही ग्रहण कर लिया जाता है, प्रत्युत औद्योगिक तब तक उसी स्थान की ओर कारखाने खोलने के लिए दौड़े जाते हैं, जब तक कि वह उद्योग बुरी तरह केन्द्रीभूत और असंतुलित नहीं हो जाता। उसकी स्थान विषयक स्थिति भी प्रतिकूल हो जाती है। इसके अतिरिक्त बाज़ार की दृष्टि से भी, जैसा कि खांड के विषय में हुआ, अथवा पदार्थों के विषय में, जैसा कि रुई के विषय में हुआ अथवा बिजली के स्रोत के विषय में, जैसा कि सीमेंट उद्योग के विषय में हुआ, विपरीत दशा हो जाती है। भारत में प्रायः सभी मुख्य उद्योगों के इतिहास के विषय में यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

इसके अलावा, हमारे औद्योगिक स्वरूप की आधारशिला भी दृढ़ता से कोसों दूर हैं। हमें पूर्णतया विदेशों की मशीनों, मशीनों के औज़ारों, मिलों के सामान, पुर्ज़ों और अनेक आवश्यक पदार्थों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना होता है। यहां तक कि बहुधा कुशल-कारीगरों को भी बाहर से मंगाना पड़ता है।

'मूल' अथवा आधार-मूलक उद्योगों की प्रगति, जो नियमतः, अन्य उद्योगों की प्रगति से पूर्व होनी ही चाहिए, अभी तक तुलनात्मक दृष्टि से प्रगतिहीन स्थिति में है। रासायनिक और धातुमिश्रण के उद्योगों के विषय में अभी तक किसी प्रकार की उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। अभी तक अधिकांशतः हम उन्हीं उद्योगों में अटके हुए है, जो योरोप में गत सदी में उन्नत हो चुके थे। जब हम आकार, विभिन्नता और गुण की दृष्टि से आयातों के साथ तुलना करते हैं, तो हमारे औद्योगिक उत्पादनों के ढेर उनके सामने तुच्छ जान पड़ते हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि वह नितांत प्रारम्भिक दशा के है। इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचने के लिए बाध्य होते है कि भारत की औद्योगिक प्रगति देश के आकार, उस की वृहद् जन-संख्या और उसके विस्तृत एवं भिन्न प्राकृतिक साधनों के साथ मेल नहीं खाती।

किन्तु हमारे उद्योगों की धीमी और असन्तोषपूर्ण प्रगति के कारण क्या हैं ? इस

---

१. Report of the Fiscal Commission 1949-50, Vol. I., p. 33.

प्रश्न का कोई सरल और प्रत्यक्ष उत्तर नहीं है। हमारे सामाजिक निर्माण का भी इससे कुछ सम्बन्ध और हमारे राजनीतिक स्वरूप का उसके साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध है। हमारी निरक्षरता, अज्ञानता और सबसे बढ़कर गरीबी भी इस दोष की भागीदार है। स्वतन्त्र व्यापारिक नीति की सुविधाओं के कारण विदेशी प्रतिद्वंद्विता ने हमारे अनेक आशापूर्ण उद्योगों का गला घोंट दिया। रेल की सहानुभूतिहीन दरों की नीति ने उन्हें शिष्ट परीक्षण से वंचित रखा। इंडिया आफिस की मार्फत स्टोर के क्रय की नीति ने उन्हें आगमशुल्क से वंचित रखा। विनिमय की नीति ने बहुधा भारतीय उद्योगों को गहरी चोट पहुंचाई। चतुर-व्यक्तियों, कुशल-कारीगरों और विशेषज्ञों का अभाव तथा तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय मज़दूर की अयोग्यता भी हमारे उद्योगों की बेढंगी गति के लिए उत्तरदायी है। कतिपय निर्मित वस्तुओं की आयात कर सकने की सुविधा और साथ ही उनकी न्यून लागत के कारण भारतीय उद्योगी उन दिशाओं को अपनाने से वंचित रहे। महान् यत्नों की असफलता से भारतीय पूंजी डर कर लोप हो गई और उसके लोप हो जाने के कारण अ-खोजे क्षेत्रों को भी छोड़ देना पड़ा। पूंजी-संगठन के अन्य विरोधी अंश यह है: छोटे किसान मालिकों की विद्यमानता और संपत्ति के विशाल संचय का अभाव। इससे बढ़कर भारत के धनी लोगों में उद्योग की अपेक्षा व्यापार के प्रति अत्यधिक आकर्षण है, जो तात्कालिक लाभ देता है और जिसमें स्थायी ज़िम्मेदारियां कम हैं। यहां तक कि बैंक भी उद्योग की अपेक्षा व्यापार को अर्थ देना अधिक पसंद करते हैं। अन्य कारण संवाहन और यातायात की असंतोषजनक उन्नति तथा सस्ती इंजन शक्ति का अभाव हैं। यह कुछ-एक कारण है, जिनके सामूहिक प्रभाव से भारत की औद्योगिक प्रगति में क्षीणता हुई है।

१४. औद्योगिक उत्पादन की समस्या। आज देश के समक्ष जो अति महत्वपूर्ण समस्याएं हैं, उनमें औद्योगिक उत्पादन की भी एक समस्या है। हाल ही में, उत्पादन-स्तर बहुत ही संकुचित हो गया है। युद्ध के काल में औद्योगिक उत्पादन चोटी पर पहुंच गया था: १९४३–४४ में कपड़ा ४८७१ मिलियन गज़; खांड १·२७ मिलियन टन और इस्पात के टुकड़े १·३७ मिलियन टन। १९४१–४२ में जूट की वस्तुएं १·२६ मिलियन टन, कागज १·८७ हंडरवेट, सीमेंट २·२२ मिलियन टन और कोयला २९·५ मिलियन टन की चोटी के स्तर तक पहुंच चुके थे। जब से युद्ध समाप्त हुआ है, उत्पादन गिरता जा रहा है। १९४७–४८ में मिल का कपड़ा ३,८०० मिलियन गज़, १·०५ मिलियन टन जूट की वस्तुएं, ०·९५ मिलियन टन मिलों की खांड, १·२५ हंडरवेट कागज़, १३·५ मिलियन टन सीमेंट और ०·९० मिलियन टन इस्पात के टुकड़ों के उत्पादन का अनुमान लगाया गया था। उत्पादन में हाल ही की गिरावट के निम्न मुख्य कारण कहे जा सकते हैं:—

(क) पुरानी घिसी-पिटी मशीनों की जगह नये यंत्र और नई मशीनें प्राप्त करने

में कठिनाई।

(ख) श्रमिकों में अनुपस्थित रहने का चलन और अपने रोज़गार की अवस्थाओं को उन्नत करने के लिए हड़तालों का शस्त्र अपनाने में वृद्धि। १९४६ में इस प्रकार के १ करोड़ २० लाख मानव-दिनों की हानि हुई जबकि १९४३ में २५ लाख मानव-दिनों की क्षति हुई थी। औद्योगिक सन्धि का प्रस्ताव पालन करने की अपेक्षा भंग अधिक किया गया।

(ग) यातायात की अत्यधिकता महानतम बाधा थी। या तो कच्चे पदार्थों की समय पर और पर्याप्त परिमाण में प्राप्ति के विषय में अथवा पूर्ण वस्तुओं की बिक्री के विषय में अनेक कठिनाइयां थीं। स्टाक संचित हो गए थे और उत्पादन धीमा हो गया था।

(घ) राजनीतिक प्रगतियां भी उत्पादन को रोकने में कम ज़िम्मेदार नहीं हैं। राजनीतिक मामलों के अंतिम निर्णय के विषय में पहले तो अनिश्चितता थी और जब १५ अगस्त १९४७ को अंतिम निर्णय हो गया तो उससे संपूर्ण समाज की अर्थ-व्यवस्था ही गड़बड़ा गई। पंजाब, दिल्ली और पश्चिम बंगाल में अभी तक कई कारखानों पर सील (मुहर) लगी हैं।

(ङ) मार्शल योजना ने भारत उत्पादन साहसों में बाधा उत्पन्न की, क्योंकि अमरीका ने अपने बड़े-बड़े सामान योरोप भेजने शुरू कर दिये थे। इसके साथ ही, हमें मालूम होता है कि देश अर्द्ध-युद्ध-काल की अर्थ-व्यवस्था में बदल रहा है।

(च) १९४७–४८ के लियाकत अली बजट ने भी उद्योग पर अनावश्यक बोझ डाला। यद्यपि १९४८–४९ और उससे भी अधिक १९४९–५० के बजट ने ठोस सुविधा प्रदान की थी, तथापि औद्योगिक क्षेत्रों में यह धारणा विद्यमान थी कि टैक्स के स्तर का बोझा अब भी इतना भारी है कि जो भारतीय उद्योग के लिए असहनीय हैं। कैपीटल गेन्स टैक्स (पूंजी लाभ-कर) के कारण पुनर्निर्माण और पुनः-स्थापना के लिए कोषों में कटौती होकर ही रहेगी।

(छ) सरकार द्वारा औद्योगिक निश्चित-नीति के अभाव ने भी औद्योगिकों को कुंद कर दिया। उद्योग के राष्ट्रीयकरण के नारे ने भी, जो इन दिनों बहुधा सुनाई देता है, भावी पूंजीपतियों को भयभीत कर दिया है।

उत्पादन में न्यूनता होने के अन्य कारणों के विषय में हम कह सकते है कि मोटे कपड़े, खांड, कागज़ और इस्पात जैसी कुछेक जिन्सों की नियंत्रित कीमतें निश्चित करते समय उत्पादन की बढ़ी हुई लागतों को दृष्टि में नहीं रखा गया। इससे उत्पादकों को कभी-कभी हानि हुई। उत्पादन को जारी रखने अथवा वृद्धि करने के लिए कोई प्रलोभन नहीं था। एक अन्य कारण, १ अगस्त १९४६ से कार्य के घंटों में कमी करने का था अर्थात् साप्ताहिक ५४ घंटों की अपेक्षा ४६ कर दिये गए।

अक्तूबर १९४८ में, सरकार ने उत्पादन को बढ़ाने के लिए अनेक रियायतों की

घोषणा की थी, जिनमें यह भी सम्मिलित थीं:—

१. तीन वर्ष के बीच उत्पादन आरंभ करने वाले नये उद्योगों को ५ वर्ष के लिए लगी पूंजी पर ६% की सीमा तक के लाभों पर से आय-कर की छूट दी गई ।

२. जो कारखाने तीन शिफ्ट चला रहे हैं और जिनके नये मकान, नये यंत्र और नई मशीनें हैं, उन्हें वर्तमान दर से दो-गुना अवमूल्यन मंजूर किया गया ।

३. यंत्रों और मशीनों पर आगमशुल्क आधा कर दिया गया और कतिपय कच्चे पदार्थों पर से या तो आयात कर हटा दिया गया अथवा कम कर दिया गया ।

१९४८ के उत्पादन के आंकड़े कुछ आशाप्रद थे और जान पड़ता था कि दिशा बदल गई है । पिछले वर्ष की तुलना में, कपड़े, सीमेंट, खांड, कैमिकलों (रसायनों), खादों, साइकिलों, मोटर की बैटरियों, हल्के इंजीनियरिंग के सामानों और अन्य मिश्रित उद्योगों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत अधिक थी । डा. श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने २४ जनवरी १९४८ को उद्योगों की केन्द्रीय परामर्शदातृ समिति के अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए आह्लादकारी संदेश दिया था कि, "यदि १९४७ में औद्योगिक उत्पादन युद्ध-पूर्व के स्तर से ५% नीचे चला गया था, तो १९४८ में यह युद्ध-पूर्व के स्तर से लगभग १५% ऊपर उठ गया है ।"

उद्योगों की केन्द्रीय परामर्शदातृ समिति (नवम्बर १९४९) की स्थायी समिति के प्रस्ताव-अनुसार यह निर्णय किया गया कि कार्यकारी दलों को ६ मास के अन्दर-अन्दर निम्न बातों पर सिफारिशें करने के लिए नियत किया जाय : (क) उत्पादन में वृद्धि करने के लिए आवश्यक उपाय; (ख) उत्पादन की लागतों को कम करने के उपाय; (ग) उत्पादनों में गुण-विषयक उन्नति करने के उपाय; (घ) उद्योगों के संगठन, प्रबन्ध और श्रम की योग्यता को उन्नत करने के उपाय; (ङ) उद्योग के अभिनवकरण के उपाय; (च) जिन्सों की क्रय के बेहतर उपाय । अनिवार्य उद्योगों के उत्पादन के लक्ष्य नियत किये गए । इन उपायों का फल निकल रहा है और सभी दिशाओं में उत्पादन बढ़ रहा है ।

१९५० में भारतीय व्यापार मंडल के संघ ने "Impediments in the way of Increasing Production" (उत्पादन की वृद्धि के मार्ग में बाधाएं) नाम से एक स्मार-पत्र उपस्थित किया था । उसने बाधाओं की लंबी सूची दी है, जिसमें यह भी सम्मिलित है, कष्ट-कर नियन्त्रण, लाभ-रहित कीमतें, श्रम की उत्पादन-शक्ति में ह्रास, ऋण-संबंधी पर्याप्त सुविधाओं का अभाव, महत्वपूर्ण कच्चे पदार्थों की न्यूनता, देश के आर्थिक जीवन में निजी साहस के विषय में अनिश्चितता का स्वरूप, वर्तमान टैक्स का स्वरूप, सामाजिक कानूनों की अपेक्षाकृत तीव्र-गति । किन्तु संघ ने यह उल्लेख नहीं किया कि औद्योगिकों में प्रारंभ करने और साहस करने का अभाव भी एक महत्वपूर्ण कारण है । हमें इस अवसर पर दूसरों के ज़िम्मे दोष मढ़ने की आदत छोड़ देनी चाहिए । औद्योगिकों ने औद्योगिक

शांति के लिए उचित वातावरण बनाने की दिशा में कुछ भी नहीं किया। श्रम को न्याय प्रदान करने के लिए सामाजिक कानूनों की आवश्यकता है, और औद्योगिक शांति स्थिर रखने के लिए उन्हें प्रलोभन दिया जाना चाहिए। नियन्त्रण को दोष देने से कोई लाभ नहीं। जब तक न्यूनता विद्यमान है, नियन्त्रण नहीं हटाये जा सकते। व्यापार और उद्योग की सहायता के लिए सरकार से जो भी संभव है, कर रही है। गत तीन वर्षों में टैक्स के स्वरूप को विस्तृत रूप में उदार बना दिया गया है। औद्योगिकों को सहायता-हीन दृष्टिकोण के अलावा उत्पादन को न्यून बनाये रहने के असली कारणों में मशीनों की अप्राप्यता, शिक्षित व्यक्तियों का अभाव, वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए थोड़ी गुंजाइश और मध्यम-वर्ग की बचत करने की पंगु दशा है। सबसे महान आवश्यकता इस बात की है कि युद्ध-काल के आधिक्य द्रव्य को सट्टेबाज़ी और अपराशीकरण (Hoarding) से बदल कर औद्योगिक कामों में लगाया जाना चाहिए।

औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से १९५१ का वर्ष बहुत अनुकूल था और गतवर्ष की अपेक्षा इसमें ६% की वृद्धि हुई थी, यद्यपि १९४८-४९ का चोटी का उत्पादन अभी अछूता ही रह गया था। इस परिणाम के लिए अनुकूल अंशों का उल्लेख करते समय यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में उन्नति हो गई थी और कच्चे पदार्थों की प्राप्ति में यातायात की सुविधाओं से स्थिरता उत्पन्न हो गई थी (यद्यपि पूर्ति अभी अपर्याप्त ही थी), श्रम विषयक झगड़ों का अभाव हो गया था और पाकिस्तान के विनिमय दर को स्वीकार कर लेने से भारत में जूट के परिचलन की सुविधाएं हो गई थीं। जो भी हो, यह उल्लेखनीय है कि १२½% जूट के करघे अब भी बन्द पड़े थे और जूट की खपत युद्ध-पूर्व के स्तर से तीन-चौथाई थी। रुई के कपड़े का उत्पादन भी बंबई में ⅓ बिजली की कटौती से रुक गया था। औद्योगिक उत्पादन अब भी स्थापित क्षमता से नीचे था और इससे प्रकट होता था कि जो कुछ प्राप्त किया जा सकता है, उसकी अपेक्षा कम प्राप्ति हुई।

१५. हमारे औद्योगिक स्वरूप का आदर्श।[1] किसी देश के औद्योगिक स्वरूप के आदर्श को निश्चित करने वाले कुछ अंश हैं। अति महत्वपूर्ण अंश यह है: प्राकृतिक प्रसाधन और पूंजी की प्राप्यता, व्यवसायी की योग्यता, प्रबंध विषयक तथा कृत्य विषयक चतुराई और कला-कौशल ज्ञान जैसे 'अस्थिर' अंश है। राज्य की नीति भी औद्योगिक आदर्श की रूपरेखा को प्रभावित करने में कम नहीं कही जा सकती। इन अंशों ने भारत के वर्तमान औद्योगिक स्वरूप को पूर्णतया प्रभावित किया है और भविष्य की रूप-रेखा के विषय में भी यह निश्चय करेंगे।

लोहे और इस्पात के उद्योग की प्रगति के लिए भारत में प्राकृतिक वातावरण विशेष रूप से अनुकूल है। इसलिए स्वभावतः यह आशा की जा सकती है कि जो उद्योग

---

१. Fiscal Commission Report, 1950-51, Ch. IX.

लोहे और इस्पात के उद्योग की जिन्सों के उपयोग और खपत पर निर्भर करते है, उनकी उन्नति के लिए संतोषप्रद सुविधाएं विद्यमान हैं। इस भारी उद्योग का क्षेत्र भी हल्के-फुल्के उद्योगों के लिए आकर्षण का विषय होना चाहिए।

इनके अतिरिक्त भारत जन-संख्या के विषय में भी दोषपूर्ण है। इस लिए भारत को उन उद्योगों को उन्नत करने का भी लाभ प्राप्त है, जहां भारी उद्योगों के मुकाबिले में श्रम की लागतें ऊंची है। गहरी पूजी के उद्योगों की अपेक्षा गहरे श्रम के उद्योगों को उन्नत करना आसान है। यही कारण है कि अभी तक हम भारी उद्योगों को उन्नत करने के योग्य नहीं हो सके।

हमारे औद्योगिक स्वरूप का यह आदर्श भारत में उपलब्ध अस्थिर अंशों का भी समर्थन करता है। भारत में पूजी का अभाव है और विदेशी पूजी के आने की भी बहुत आशा नहीं। भारत जैसे दरिद्र देश में घरेलू बचतों की अनिवार्यता से भी पूजी का बहुत बड़ा संचय नहीं हो सकता। बहुत ऊंचे औद्योगिक देशों से कला-कौशल विषयक ज्ञान प्राप्त कर लेना भी कठिन है, क्योंकि सामान्यतः उसके साथ विदेशी पूंजी भी आ जाती है। यह केवल विदेशों से, सरकारी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय साधनों द्वारा प्राप्त हो सकती है, जैसे कि प्रेसीडेंट ट्रूमैन का चतुर्थ-योजना कार्यक्रम है। केवल प्रबंध विषयक और कार्य-चतुराई थोड़े काल में उन्नत की जा सकती है। इस प्रकार हम यह आशा नहीं कर सकते कि हम उन चंचल अंशों को इतना उन्नत कर लेंगे कि हम गहरे-श्रम उद्योगों के विपरीत गहरी पूंजी के उद्योगों की स्थापना करने योग्य हो जाँय। फलस्वरूप, वर्तमान स्थिति और भविष्य की आशाओं को दृष्टि में रखते हुए, भारत में वृहद् स्तर के उद्योगों का आदर्श अल्प-चतुर और हल्के उद्योगों का होगा; अनन्तर अधिक चतुर और हल्के उद्योगों का, और उससे भी बाद में अल्प-चतुर और भारी उद्योगों का होगा। यदि हम अपने साधनों की पूर्ण उपयोगिता चाहते हैं तो अधिक चतुर और भारी उद्योगों की प्रगति की पर्याप्त काल तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

किन्तु राष्ट्रीय सुरक्षा के कारणों से सरकार भारी उद्योगों को उन्नत करने का विशिष्ट यत्न कर सकती है। १९४८ की औद्योगिक नीति के वक्तव्य से सुरक्षा-उद्योगों की प्रगति का प्रकटीकरण हो जाता है अर्थात् अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, हवाई जहाजों का निर्माण आदि; भारी मूल उद्योग, अर्थात् लोहा और इस्पात का उद्योग; यातायात के साधनों का निर्माण; हल्के आधारमूलक उद्योग अर्थात् कैमिकल (रासायनिक) उद्योग; और अनिवार्य खपत की वस्तुओं के उद्योग अर्थात् खांड, सीमेंट, कपड़ा आदि। जो भी हो, अपने सीमित साधनों और उनकी उन्नत-हीन स्थिति को दृष्टि में रखते हुए इस आदर्श को केवल धीरे-धीरे ही स्वीकार किया जा सकता है।

अपने साधनों की संतुलित स्थापना प्राप्ति के लिए हमें सार्वजनिक और निजी दिशाओं में प्राथमिकता के आधार पर कार्य करना चाहिए। इसके लिए राष्ट्रीय योजना

बनाना अनिवार्य है। सार्वजनिक दिशा में जो उद्योग उन्नत होंगे, उनका क्रम संभवतः इस प्रकार होगा : प्रथम, अनिवार्य रक्षा उद्योग; द्वितीय, प्राकृतिक साधनों की उन्नति जैसे पानी से बिजली; तृतीय सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग; और चतुर्थ, वृहद् मूल और आधारमूलक उद्योग। निजी दिशा में यह क्रम संभव है : प्रथम, वर्तमान उद्योगों की स्थापित क्षमता से अधिकतम उत्पादन में वृद्धि करना; द्वितीय, प्रभावकारी मांग की सीमा तक वर्तमान उद्योगों का विस्तार करना; तृतीय, वर्तमान उद्योगों के पूरक उद्योगों (दोनों दिशाओं में); चतुर्थ, अन्य संबंधित उद्योग, जो बाहरी अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र की वृद्धि करते हों और पंचम, ऐसे उद्योग, जो आंतरिक और बाहरी बड़े बाज़ार के लिए हों।

इच्छित आदर्श प्राप्त करने के लिए उद्योगों की स्थान-विषयक और लघु-स्तर तथा वृहद्-स्तर के उद्योगों के पारस्परिक संबंधों की समस्या को बहुत सावधानी के साथ हस्तगत करना होगा। फिस्कल कमीशन ने निष्कर्ष उपस्थित किया है, "वृहद्-स्तर उद्योग के आदर्श की जो हमारी कल्पना है, वह अमरीका और इंग्लैंड तथा भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के मुकाबले में आधी है।"

१६. औद्योगिक योजनाएं बनाना। अर्थ-व्यवस्था की प्रगति की सभी योजनाओं में औद्योगिक योजनाएं स्वभावतः मुख्य स्थान ले लेती हैं। यहां तक कि बंबई योजना पर यह दोषारोपण हुआ था कि कृषि की अपेक्षा औद्योगिक प्रगति के प्रति पक्षपात किया गया है। १९५१ की योजना कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट में भारत की औद्योगिक उन्नति की समस्या के प्रति अधिक ध्यान दिया है। वर्तमान औद्योगिक स्वरूप, युद्ध और युद्धोत्तर की औद्योगिक प्रगतियों और औद्योगिक संगठनों तथा प्रबंधों का सरसरी अवलोकन करते हुए कमीशन ने कुछेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं।

योजना कमीशन ने औद्योगिक योजना के ध्येयों के साथ ही औद्योगिक स्वरूप की त्रुटियों को भी प्रत्यक्ष रूप में सामने ला दिया है। तदनुसार, कमीशन ने ऐसे नये उद्योगों अथवा औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की सिफारिश की है, जो माध्यमिक वस्तुओं और मशीनों का निर्माण कर सकें, युद्ध और युद्धोत्तर काल में स्थापित किये गए व्यवसायों को पुनः संगठित एवं शृंखलाबद्ध किया जाय और उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो। इस संबन्ध में उनकी मुख्य सिफारिशें यह हैं :—

(क) कृषि उन्नति और सिंचाई के विस्तार और बिजली विषयक योजनाओं की औद्योगिक जिन्सों की मांगों की पूर्ति की जानी चाहिए।

(ख) अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं की उत्पत्ति निश्चित लक्ष्य तक हो जानी चाहिए और इसके लिए उद्योग की वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग किया जाय।

(ग) जो उद्योग कच्चा लोहा, इस्पात, भारी रसायन आदि का उत्पादन करते हैं और जो देश की सामान्य आर्थिक प्रगति के लिए आधारमूलक महत्व रखते हैं, उनकी क्षमता को विस्तार दिया जाना चाहिए; और

(घ) विद्यमान औद्योगिक स्वरूप की त्रुटियों और हीनताओं को दूर किया जाना चाहिए।

देश की आवश्यकताओं और साथ ही उपलब्ध साधनों को दृष्टि में रखते हुए कमीशन ने औद्योगिक प्रगति के प्रश्नों को निम्न क्रन से प्राथमिकता देने की सिफारिश की है :

(१) उत्पाद वस्तुओं के उद्योगों में विद्यमान क्षमता की पूर्ण उपयोगिता; जैसे, जूट और उपभोक्ता वस्तुओं जैसे सूती कपड़ा, खांड और साबुन की क्षमता का पूर्ण उपयोग किया जाय।

(२) इस्पात, सीमेंट, खादों, भारी रसायनों, मशीनों के औज़ारों आदि जैसे उत्पाद वस्तुओं के उद्योगों की उत्पादन-शक्ति की क्षमता को विस्तृत किया जाय। और,

(३) औद्योगिक इकाइयों की पूर्ति, कि जिन पर पूंजी का एक भाग पूर्वत: खर्च किया जा चुका है।

चूकि प्रसाधनों का जो समूह सरकार के हाथ में है, वह कृषि, सिंचाई और शक्ति के लिए सुरक्षित रखा गया है, इसलिए उद्योगों की प्रगति को योजना के ध्येयों की प्राप्ति के लिए अनिवार्यत: राज्य के सर्व-नियन्त्रण की शर्त पर अधिकांशत: निजी साहसिक कार्य की ज़िम्मेदारी का रूप दे दिया गया है। उद्देश्य यह है कि दोनों दिशाएं मिल-जुल कर काम करें और निजी-भाग योजना के नियन्त्रण में रहे और योजना-अधिकारी द्वारा उपस्थित किये गए ध्येयों को स्वीकार करे। कमीशन ने १९५५-५६ तक मुख्य उद्योगों द्वारा प्राप्ति के लिए उत्पादन के लक्ष्य और स्थापित-क्षमता नियत कर दी थी।[1] इन लक्ष्यों को पदार्थों की उपलब्धता, पूंजी, पूंजी प्रसाधनों और बाज़ार की खपत की क्षमता का सावधानी के साथ परीक्षण करने के बाद नियत किया गया था। आशा की जाती है कि वस्तुओं के बहाव की वृद्धि होने से कतिपय दिशाओं की मांग के दबाव में कमी हो जायगी और यहां तक कि निर्यात के लिए भी गुंजायश रह जायगी। भिन्न इंजीनियरिंग उद्योगों की प्रगति के कार्यक्रम का सार बतलाते हुए श्री जी. एल. मेहता, सदस्य इंडियन इंजीनियरिंग एसोसिएशन ने जनवरी १९५२ में कहा था, "यदि कार्यक्रम पूर्ण कर लिया गया और विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति पूर्ण कर ली गई, तो हम इंजनों, साइकिलों, बैटरियों, सिलाई की मशीनों, हरीकेनों, लैंपों और कई औज़ारों और जिन्सों में आत्म-निर्भर हो जायंगे। एक जहाज़ी मरम्मत का कारखाना स्थापित किया जा सकेगा; कृषि विषयक सामान और मशीनें तथा बिजली संबंधी कतिपय साधनों का उत्पादन किया जायगा; एल्यूमीनियम की उत्पत्ति को विस्तार दे दिया जायगा और लोहे तथा इस्पात के उत्पादन में वृद्धि की जायगी, जिससे बाद के पांच वर्षों के समय में, एक नये इस्पात के उद्योग का आविर्भाव हो जाय।

१. These targets have been mentioned in the account given of each Industry.

निजी दिशा में साहसिक कार्यो के अतिरिक्त, राज्य के साहसिक व्यवसाय भी होंगे, जो भले ही संख्या में कम होंगे, किन्तु आर्थिक महत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण होंगे। इनमें निम्न उल्लेखनीय है : सिंद्री फर्टेलाइज़र फैक्ट्री, चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, ड्राई कोर केबल फैक्ट्री और मशीनी औज़ारों, टेलीफोन प्रसाधनों, गणित विषयक सामान आदि बनाने के लिए भी विभिन्न साहसिक कार्य होंगे। राज्य सरकारों के अधीन साहसिक कार्यों में उल्लेखनीय यह है : मध्य प्रदेश में न्यूज़ प्रिंट (अखबार का कागज़) बनाने वाला कारखाना और मैसूर में गैस विषयक खादों का कारखाना। यद्यपि पंच-वर्षीय योजना के अनुसार राज्य के साहसिक कार्यो का क्षेत्र सीमित है, तथापि राज्य का नियंत्रण पर्याप्त रूप में विस्तृत है। निजी साहसिक कार्यों का अभिनवकरण करने की आवश्यकता है। योजना कमीशन के शब्दों में, "उद्योग को न केवल सामाजिक और आर्थिक नीति के ध्येयों को ही स्वीकार करना होगा, प्रत्युत श्रम, पूंजी लगाने वाले और उपभोक्ता के प्रति निजी ज़िम्मेदारियों को भी मानना होगा। निजी उद्योग को राष्ट्रीय योजना की स्कीम के अन्तर्गत अपने को जमाना होगा और जनता को संतुष्ट करते हुए सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी और राष्ट्रीय प्रसाधनों को विपरीत दिशा से हटाते हुए शोषण और बेईमानी को भी दूर करना होगा।"

उत्पादन-शक्ति, योग्यता और प्रबंध के स्तरों में क्रमिक प्रगति के लिए कमीशन ने प्रत्येक मुख्य उद्योग के लिए डिवैलपमैंट कौंसिल्स (प्रगतिशील संसद) बनाने की सिफारिश की, जिसमें उद्योग, श्रम और कला-कौशल विषयक प्रबंध के प्रतिनिधि हों। सरकार को परामर्श देने के अतिरिक्त इन कौंसिलों के यह कार्य-कलाप होंगे: (१) स्थापित क्षमता की पूर्ण उपयोगिता प्राप्त करने के लिए उत्पादन के लक्ष्य की सिफारिश करना; (२) बर्बादी को हटाने के लिए, अधिकतम उत्पादन प्राप्ति के लिए, प्रकार को उन्नत करने और लागत को कम करने की दृष्टि से योग्यता के सिद्धान्तों अथवा आदर्शों की तजवीज़ करना; (३) उद्योग के कार्य-चालन को उन्नत करने के लिए उपाय बताना, विशेष रूप से अयोग्य अंशों के विषय में; (४) वितरण और विक्रय प्रणालियां बनाने में सहायता देना कि जिससे उपभोक्ता को संतोष हो। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि उद्योग सब संबंधित लोगों के संयुक्त यत्नों और आंतरिक नियंत्रण द्वारा व्यवस्थित होंगें। इससे बाहर का कच्चा हस्तक्षेप और रोष उत्पन्न करने वाला नियन्त्रण जाता रहेगा। लक्ष्य को पूर्ण करने की ज़िम्मेदारी स्वतः उद्योग पर डाल दी गई है।

विस्तार करने के कार्यक्रम की मूल लागत का अनुमान १२५ करोड़ रुपए किया गया है, जिसमें से, आशा की जाती है कि स्वतः उद्योग पूंजी के बाज़ार में से ८०-९० करोड़ रुपया पैदा करने की स्थिति में होगा। और १०-१५ करोड़ रुपए के लिए आशा की जाती है कि इंडस्ट्रियल फाइनैंस कार्पोरेशन (औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था समिति) दे सकेगी। सरकार को भी जहाज़ बनाने और इस्पात के कारखानों जैसे बड़े-बड़े व्यवसायों में

सहायता करनी होगी, विशेष रूप से ऐसे व्यवसायों में, जो चिरकाल तक कोई लाभ नहीं दे सकेंगे।

सार रूप में औद्योगिक विस्तार की योजना क्रियात्मक और वास्तविक जान पड़ती है। इसमें संदेह नहीं कि सब संबंधित लोगों की सदिच्छा और सहयोग से नियत लक्ष्य निर्धारित अवधि में प्राप्त हो जांयगे। यह औद्योगिक योजना १९४८ में आरंभ किये गए न्यू इंडस्ट्रियल पालिसी (नवीन औद्योगिक नीति) के अनुरूप है। इंडस्ट्रीज़ डिवैलपमैंट एण्ड रैगूलेशन—उन्नति और नियन्त्रण बिल (औद्योगिक विधान) योजना बनाने का साधन है। किन्तु कमीशन एक ऐसी संस्था बनाना चाहती है, जिसमें आरंभ करने वाला, व्यवसायी और कला-कौशल का ज्ञाता तथा प्रवीण श्रम, सबका साझा संघ हो। यह स्वीकार कर लिया गया है कि उद्योग के अंश केवल नियोजक और प्रबंध विभाग नहीं, प्रत्युत उसमें कला-कौशल के ज्ञाताओं तथा श्रम का भी सम्मिलिन है।

बीसवां अध्याय

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था और प्रबन्ध

१. भूमिका। अर्थ-व्यवस्था उद्योग की जीवन-शक्ति है। औद्योगिक यंत्र के पहियों को चिकनाहट देने के लिए पर्याप्त अर्थ-व्यवस्था नितांत आवश्यक है, जिससे उसके सरलतापूर्वक चलने का भरोसा बना रहे अथवा बन्द होने से उसे रोका जा सके। भारत में उद्योगों की धीमी प्रगति के अति महत्त्वपूर्ण कारणों में से एक कारग पर्याप्त और सामयिक अर्थ-व्यवस्था का अभाव है।

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की समस्या का अध्ययन (क) लघु-स्तर और मध्यम आकार के उद्योगों; और (ख) वृहद्-स्तर अथवा संगठित उद्योगों के सम्बन्ध में किया जा सकता है।

२. लघु और मध्यम आकार के उद्योगों की अर्थ-व्यवस्था। ग्राम-क्षेत्रों में औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था, छोटे उत्पादक को अर्थ की आवश्यकता, कच्चे पदार्थ क्रय करने, उत्पादन के खर्चों को पूरा करने और अन्त में वस्तुओं के उत्सर्जन (Disposal) के लिए होती है।

ग्राम-क्षेत्रों में, पूजी सर्वथा अव्यवस्थित है और वस्तु-स्थिति यह है कि अधिक पूंजी भी उपलब्ध नहीं। खर्च रूपी विशाल मरुस्थल में गांव का साहूकार बचत रूपी एक जल-डमरू-मध्य है। छोटा उत्पादक गरीब होता है और वह अच्छी जमानत देने के भी अयोग्य है, इसलिए साहूकार का कोष अत्यधिक दरों के सिवा उसकी ओर नहीं बढ़ता। "ऋणी की अज्ञानता और असहाय दशा का प्रत्येक लाभ उठा लिया जाता है"[१]। इससे भी बढ़कर, ग्राम-क्षेत्रों में, भूमि में या ज़ेवरों में रुपया लगाने के पक्ष में अधिक उत्साह है अथवा द्रव्य रुका पड़ा रहता है। सहकारिता बैंक अपने कार्य-कलापों को चल कृषि-विषयक अर्थ-व्यवस्था तक सीमित रखते है और वह स्थानीय औद्योगिक साहसिक कार्य के लिए द्रव्य देना बुराई समझते है। फलतः, स्थानीय-उद्योग कोष के अभाव में क्रियात्मक रूप में भूखों मरते हैं अथवा उन्हें अकारण ऊंचे दर देने होते हैं।

शहरी केन्द्रों में औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था—शहरों में पूंजी बेहतर ढंग से संगठित होती है। प्रायः प्रत्येक नगर में या तो किसी न किसी बैंक की शाखा होती है अथवा संयुक्त पूंजी बैक होता है। हाल ही के वर्षों में स्थिति पर्याप्त रूप से उन्नत हो गई है, क्योंकि बहुत-से नये बैंक जारी हो गए हैं। किन्तु शहरी क्षेत्रों में घरेलू कारीगरों और मध्यम आकार

---

१. Report of the Bombay Banking Enquiry Committee, 1931, p. 136.

के उद्योगों, जैसे आटे की मिलों, चावल की मिलों, छापेखानों, दियासलाई के छोटे कारखानों, बनियान-जुराबों के कारखानों, साबुन, खेलों के सामान के कारखानों, लोहे और पीतल की ढलाई के कारखानों, इत्यादि के लिए भी अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकताएं हैं, क्योंकि उनके कार्य का स्तर बड़ा है ।

घरेलू कारीगर को आर्थिक सहायता देने के लिए, साधारण साहूकार को छोड़कर, मध्यम-वर्ग के कुछ लोग तय्यार हो गए हैं । महाजन नकद उधार देता है, और यदि वह कच्चे पदार्थ का व्यापारी भी है, तो वह उसे भी उधार में देता है । महाजन कलाकार की दरिद्रता और एकाकीपन का पूर्ण लाभ उठाता है और इस सुविधा के लिए ऊंची कीमत वसूल करता है । पंजाब बैंकिंग एन्क्वायरी कमेटी (पंजाब साहूकारा जांच समिति) के अनुसार जुलाहों को १२½% से लेकर ३७% तक अदा करना होता था । निश्चय ही यह दर किसी भी उद्योग के लिए इतनी अधिक है कि वह उसे सहन नहीं कर सकता ।

मध्यम-आकार के उद्योगों की दशा भी अच्छी नहीं । यद्यपि उन्हें ठोस आदमी आरम्भ करते है तथापि, उन्हें भी, बहुधा सहायता की आवश्यकता होती है । देसी साहूकार, जो व्यक्तिगत ज़मानत पर उधार देते हैं, ९ से १५% तक की ऊंची दरें वसूल करते है । संयुक्त पूजी बैक स्थिर पूंजी के विरुद्ध ऋण देते हैं । वह संपत्ति और मशीनों के अनुमानित मूल्य का २० से ३०% तक देते है और गोदाम के माल के विरुद्ध ७०% तक । जिन शर्तों पर बैंक रुपया देते हैं, वह कष्टकर और असुविधाजनक समझी जाती हैं । "इसमें सन्देह नहीं कि छोटा व्यवसायी........बैंकों और उचित दरों पर अर्थ-व्यवस्था के अभाव में बुरी तरह अवरुद्ध है ।"[1]

आर्थिक सहायता का एक अन्य साधन राज्य है । सभी राज्यों में (The State Aid to Industries Acts) राज्य-सहायता उद्योग विधेय कार्य कर रहे हैं । किन्तु राज्य के ऋणों का सुखद अनुभव नहीं रहा, क्योंकि ऐसे ऋणों की बड़ी संख्या अप्राप्य हो गई और उसे रद्द करना पड़ा । सरकारी ऋग अपनी लम्बी-चौड़ी वैधता के कारण विपरीत प्रचार के हेतु बनते हैं । वह व्यवसायी, जो अपनी साख के लिए उत्साही होते हैं, सरकारी अधिकारियों के जांच के नपैने से दूर रहना चाहते हैं । न ही सरकारी अधिकारी औद्योगिक समस्या और पक्ष-विशेष की साख की महत्ता को आंकने के योग्य होते हैं । १९३३ में पांचवी औद्योगिक कांफ्रेंस इस निर्णय पर पहुंची थी कि यह ऋण किसी सराहनीय सीमा तक उन्नति की प्रेरणा करने में सफल नहीं हुए ।[2] फलतः, राज्य की प्रत्यक्ष सहायता की योजना का कोई महत्व नहीं जान पड़ता ।

---

१. Report of the Industrial Commission, 1918, p. 178.

२. Bulletins cf Indian Industries and Labour, No. 50, p. 12.

३. वृहद्-स्तर उद्योगों की आर्थिक-सहायता। वृहद्-स्तर उद्योगों को रोके रहने या पूंजी व्यय के लिए कोषों की आवश्यकता होती है, अर्थात्, भूमि क्रय के लिए, कारखाने का भवन बनाने के लिए, मशीनें आदि लगाने के लिए और यदि व्यवसाय चल रहा हो तो विस्तार के लिए और अदला-बदली के लिए। इसके अतिरिक्त, कच्चे पदार्थों के क्रय के लिए, गोदाम सम्बन्धी माल के लिए, उत्पादन और बिक्री-प्रबन्धों के आरंभिक अन्य खर्चों के लिए और उद्योग की दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए भी कोषों की आवश्यकता होती है। इसे कार्यकारी पूंजी कहा जाता है।

उन्हें क्योंकर आर्थिक सहायता दी जाय—बैंकिंग (महाजनी) के विदेशी विशेषज्ञ डा० जीडल्स (Dr. Jeidels) की राय थी (केन्द्रीय साहूकारा जांच समिति द्वारा परामर्श लेने पर) कि यही नहीं कि केवल रोकने के लिए ही, प्रत्युत सामान्य कार्यकारी पूंजी भी फर्म को अपनी प्रारम्भिक पूंजी में से हस्तगत करनी चाहिए।[1] किन्तु इस दृष्टि पर कठोरतापूर्वक जमे रहना तो अनेक व्यवसायों के जन्म तक को ही रोक देगा, क्योंकि भारत में ऐसा कम ही होता है कि एक औद्योगिक व्यवसाय इन दोनों उद्देश्यों के लिए इतनी पर्याप्त पूजी का प्रबन्ध कर पाए। उस देश में कि जहां पूंजी लगाने के लिए व्याकुलता और निरुत्साह की भावना प्रबल है और जहां पूंजी को एक अथवा अन्य रूप में दबाये रहने की भावना सर्वमान्य है, उससे यह आशा करना अर्थहीन है कि एक कंपनी स्थिर, चलित और कार्यकारी पूंजी की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त कोषों का प्रबन्ध करने योग्य हो सकेगी। १९३८ में कपड़े की मिलों में संपूर्ण पूजीगत आवश्यकताओं के लिए कंपनी की निजी पूंजी में से जो अनुपात रखा गया था, वह इस प्रकार था : बंबई में ३८ प्रतिशत, अहमदाबाद में २५ प्रतिशत और शोलापुर में १३ प्रतिशत।[2]

केन्द्रीय साहूकारा जांच समिति का मत था कि जिन औद्योगिक व्यवसायों ने रोक के लिए पर्याप्त प्रारम्भिक पूंजी संग्रहित कर ली है, वह अपनी संपूर्ण कार्यकारी पूंजी के लिए और साथ ही अस्थायी रूप से विस्तार के लिए आवश्यक कोषों के निमित्त व्यापारिक बैंकों पर निर्भर रह सकते हैं।[3] स्पष्टतः, इससे व्यापारिक बैंकों पर बहुत बोझा पड़ेगा। सुदृढ़ सिद्धान्त तो यह जान पड़ता है कि व्यवसाय रोक और कार्यकारी पूंजी के लिए संपूर्ण प्रारम्भिक पूंजी उत्पन्न कर ले, क्योंकि इन दोनों भेदों की स्थायी रूप से रोक बनी

१. Dr. Jeidels—Memorandum on Industrial Finance Report of the Indian Central Banking Enquiry Committee, 1931. Vol. IV. p. 146.

२. Report of the Textile Labour Enquiry Committee, 1938, p. 51

३. Ibid, Vol. I, pp. 275, 298-99.

रहेगी। और इससे भिन्न कार्यकारी पूंजी की आवश्यकता होने पर वह बैंको की पूर्ति पर निर्भर रह सकता है ।

किन्तु भारत में इस दृढ़ सिद्धान्त को पालन करने की अपेक्षा भंग अधिक किया गया है, और पूंजी लगाने वाले के लिए, उद्योग के लिए और स्वत: प्रवर्त्तकों के लिए उसके भीषण परिणाम हुए हैं। ऐसे थोड़े उदाहरण नही है, जबकि आरम्भ के थोड़े समय बाद ही औद्योगिक व्यवसायों ने अपने को आर्थिक कठिनाइयों में पड़े देखा है। एक बार सरकार को टाटा आइरन एंड स्टील कम्पनी को छुटकारा देने के लिए ५० लाख रुपये का ऋण देना पड़ा था। इंडियन वायर एंड स्टील प्राडक्ट्स जमशेदपुर, पूजी की कमी के कारण उत्पत्ति में वृद्धि करने में असफल रह गया था और १९२४ में बिहार और उड़ीसा की सरकार को पांच लाख रुपये का ऋण स्वीकार करना पड़ा था। भारतीय औद्योगिक व्यवसायों का न्यून-पूंजीकरण बहुत ही कष्टप्रद है ।

उन्हें वास्तव में कैसे आर्थिक सहायता दी जाती है : (१) हिस्सों और ऋण पत्रों से—हमारे उद्योग अपनी पूंजी के अधिकांश हिस्सों को सामान्य हिस्सों के रूप में चालू करते हैं और हाल ही के वर्षो में उन्हें निम्न अवमूल्यन पर जारी करने की प्रवृत्ति हो गई है। भारतीय पूंजी लगाने वालों में ऋण-पत्रों की लोकप्रियता नहीं जान पड़ती और कम्पनियां भी, साख नष्ट हो जाने के डर से जारी करने में संकोच करती हैं। भारत में ऋण-पत्रों (Debentures) के लिए बाज़ार के सीमित होने के निम्न विभिन्न कारण हैं : काननी और स्टाम्प विषयक भारी दातव्य (Charges) और अन्तर्लिखित बट्टा (Under-writing Commission), परिवर्तन करने की बड़ी फीस, सीमित लाभ, पूजी विस्तार की आशा का अभाव, उद्योगों में लगी पूंजियों की बहुधा असफलताएं, बीमा कंपनियों का डूबने वाले कामों में पूजी लगाना, इत्यादि। फलस्वरूप, कंपनियां अपनी सामान्य आवश्यकताओं के लिए उचित परिमाण में पूंजी उत्पन्न नहीं कर पातीं ।

(२) **मैनेजिंग एजेंट्स**—भारतीय जनता सरकारी ज़मानतों (Government Securities) और म्युन्सीपल अथवा ट्रस्ट के ऋणों में पूंजी लगाना बेहतर समझती है। इस प्रकार चुकता पूंजी बहुधा रोध (Block) की राशि तक को पूर्ण नहीं कर पाती। इससे कंपनी की अर्थ-व्यवस्था चिन्ताजनक हो जाती है और मैनेजिंग एजेंटों तथा अन्य अर्थ-व्यवस्थापकों की दया पर उन्हें छोड़ दिया जाता है। मैनेजिंग एजेंट्स अधिकांश हिस्सों को क्रय कर लेते है, विस्तार के लिए द्रव्य अगाऊ कर देते हैं और कष्ट के समयों पर व्यवसाय की सहायता के लिए भी हाथ बटाते हैं। हमारे उद्योगों में मैनेजिंग एजेंट जो कार्य करते है, उनके उस रूप का परीक्षण हम आगे करेंगे ।

(३) **अमानतें**—कोषों के लिए एक अन्य स्रोत भी है अर्थात् जनता की अमानतें जमा करना। यह रीति विशेष रूप से अहमदाबाद में प्रचलित है। किन्तु अमानतों

को "मौसमी-मित्र" (Fair-weather friends) कहा जाता है और तनिक-सी विपरीत दशा होते ही उनके भाग जाने की संभावना होती है। इसके अतिरिक्त, इन अल्प-कालिक अमानतों में से व्यय की योजनाओं की अर्थ-व्यवस्था करना सारहीन भी है।

(४) **नकद साख**—नकद साख की प्रणाली के आधार पर अल्प-कालिक ऋण स्टाकों की ज़मानत पर व्यापारिक बैंकों से प्राप्त किये जा सकते हैं और कुछ दशाओं में, मैनेजिंग एजेंटों की अतिरिक्त ज़मानत के साथ भी। किन्तु नकद साख प्रणाली मंदी के दिनों में असफल हो जाती है, क्योंकि, या तो वह राशियां वापिस मांग ली जाती हैं कि जो बिक्री के लिए बाध्य करके मंदी को बढ़ाती है, अथवा मिल-मालिकों को ज़मानत में वृद्धि करने के लिए कहा जाता है, कि जो सदैव कर सकना, आसान नहीं होता।

४. हमारे बैंक और उद्योग। केन्द्रीय साहूकार जांच समिति के समक्ष उद्योगों को हमारे बैंकों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता के विषय में विरोधी-मत प्रकट किये गए थे। सार-रूप में यह जान पड़ता है कि हमारे बैंक बहुत ही रूखे और पुरानी लकीर के आधार पर कार्य कर रहे हैं और उद्योग के लिए उनका कोई अधिक उपयोग नहीं हो पाता। उनकी व्यक्तिगत ज़मानत पर अथवा बिना भार के रोध (Block) की ज़मानत पर द्रव्य अगाऊ करने की अनिच्छा और उनका ऐसी ज़मानत पर अड़े रहना, जिसमें स्पष्ट पृष्ट-पोषण हो और सुविधापूर्वक वसूली हो सके, उद्योग उनकी उपयोगिता से वंचित रह जाता है। रोधों (Stocks) को रहन रखने में, जिन पर वह सामान्यतः ज़ोर देते हैं, स्पष्टतः बैंक का अधिकार हो जाता है, जिसके फलरूप उस पक्ष की साख को हानि पहुंचती है, और इस प्रकार बैंक द्वारा प्राप्त बहुत ही सीमित सुविधा का उपयोग भी वह नहीं कर पाते। "भारत में उद्योग को बैंक के साथ आदर्श सिद्धान्तों पर चलना है।"[१]

हमारे द्रव्य के बाज़ार का एक भी ऐसा सदस्य नहीं, जिसने उद्योग को सहायता देने का लक्ष्य बनाया हो। इंपीरियल बैंक पहले से ही सामान्य व्यापारिक साहूकारा के कारोबार से परिपूर्ण है और ऐसे अनेक अन्य संयुक्त-पूंजी बैंक भी नहीं हैं, जो अनुभव और आर्थिक बल से उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के योग्य हों। विदेशी विनिमय बैंक अपने ही क्षेत्रों में व्यस्त हैं और भारतीय उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं है। देसी बैंकों को व्यापार और सामान्य साहूकारे में अर्थ लगाना अत्य-धिक लाभकर जान पड़ता है और वह उद्योग की ओर नहीं झुकते। इसके अतिरिक्त, उनके साधन इतने क्षीण हैं कि वे उद्योग के लिए कोई ठोस सहायक भी नहीं हो सकते। सहकारिता बैंक कृषि की सहायता के लिए नियत हैं। इस प्रकार, "औद्योगिक सम्बन्ध

१. Indian Central Banking Committee (Minority Report) 1931, Vol. I, Part II, p. 333.

बनाने वाली कोई भी साहूकारा संस्था नहीं है।"[१]

हमारे बैंक बहुधा अपने कोषों को सरकारी जमानतों में लगाते हैं और अपने गोदामों में वाणिज्य-वस्तुओं को रखकर द्रव्य अगाऊ करते हैं अथवा यदि ग्राहक के पास ही रखा गया हो, तो अन्य कानूनी कृत्य पूर्ण किये जाते हैं। उद्योग, जो आर्थिक रूप में भूखों मर रहा है, इन चलनों को पसन्द नहीं करता। केन्द्रीय साहूकारा जांच समिति के समक्ष मारवाड़ी व्यापार मंडल ने उल्लेख किया था, "संयुक्त-पूंजी बैंकों ने जो सहायता दी है, उसकी संपूर्ण राशि उपेक्षणीय परिमाण में है।"[२] श्री मनु सूबेदार ने माईनारिटी रिपोर्ट में उद्योग के प्रति बैंकों के व्यवहार की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है, "बैंकों ने अल्प-कालिक पूजी लगाने के सिद्धान्त पर अड़े रहने में अति करके उद्योग और स्वतः अपना अहित किया है।"[३] हाल ही के वर्षों में कोई उन्नति नहीं हुई। फिस्कल कमीशन (१९४९–५०) को इस निर्णय पर पहुंचना पड़ा था कि व्यापारिक बैंकों ने वर्तमान में साख-विषयक जो सुविधाएं दे रखी हैं, वह उनकी प्रगति की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त हैं।[४]

बैंकों की अपनी निजी कठिनाइयां हैं। उन्हें अमानतें जमा करनेवालों के लिए अधिकतम अस्थिरता की अवस्था स्थिर रखनी होती है। एक औद्योगिक फर्म की विश्वसनीयता का निश्चय करने के लिए उनमें आवश्यक ज्ञान और साधनों का अभाव होता है। स्वतः व्यवसायी भी अपनी सही-सही दशा को पूरी तरह प्रकट कर देने के लिए तय्यार नहीं होते। किन्तु इतना सब कुछ कहने पर भी वस्तु-स्थिति वही रह जाती है कि बैंकों ने हमारे उद्योगों की प्रगति के प्रति उपेक्षा की भावना रखी है और उनमें सहानुभूति का अभाव रहा है। हमारे बैंकों को उद्योगों के विषय में 'अछूता-रहने' की प्रवृत्ति को तिलांजलि दे देनी चाहिए।

५. औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के लिए प्रस्ताव। औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के उक्त परीक्षण से प्रकट होता है कि हमारे उद्योगों को बैंकों से बहुत थोड़ी सहायता मिल रही है और हमारे यहां हाल ही के वर्षों में स्थापित इंग्लैंड जैसी सहायता देने वाली विशेष प्रकार की कोई संस्थाएं भी नहीं हैं। हमारे उद्योगों के सम्बन्ध में, या तो पर्याप्त आर्थिक सहायता नहीं पहुंच रही अथवा निषेधात्मक कीमतों पर उन्हें सहायता दी जाती है।

---

१. Dr. Jeidles—Memorandum on Industrial Finance, Report of the Indian Central Banking Enquiry Committee, 1931, Vol. IV, p. 148.

२. Ibid. Vol., p. 560.

३. Vide Report, p. 327.

४. Fiscal Commission Report, 1949-50, p. 249.

किन्तु यह इसलिए नही कि भारत में सन्तोषप्रद पूजी विद्यमान नहीं। यद्यपि यह मानी हुई बात है कि भारत दरिद्र है तथापि उसके उद्योगों की आवश्यकताएं भी बहुत बड़ी नहीं हैं। तथ्य यह है कि औसत भारतीय विनियोजक को विश्वस्त और विशिष्ट राय देने वाला भी कोई नहीं और उस विनियोजक से तो यह आशा करना कठिन है कि वह अपने विनियोजन की सुरक्षा और लाभ का भली प्रकार परीक्षण कर सके। प्रति वर्ष इतनी कंपनियों की असफलता उसे भयभीत कर देती है। औद्योगिक कमीशन के शब्दों में, "उद्योगों के लिए पूंजी उत्पन्न करने की कठिनाई, यहां तक कि भारत में भी, द्रव्य की अपर्याप्तता अथवा असंचितता की रीति के मुख्य कारण नहीं, प्रत्युत उस राय के कारण होती है कि जो उसके अधिपति उनके समक्ष रखी गई औद्योगिक समस्या के विषय में रखते हैं।"

भारत में औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की त्रुटियों को पूर्ण करने के लिए निम्न प्रस्ताव उपस्थित किये जा सकते है : (१) बड़े व्यापारिक बैंकों को उद्योगों के प्रति सहानुभूति की भावना उन्नत करनी चाहिए और उनके साथ निकट और निरन्तर संपर्क बनाये रहना चाहिए, ताकि वह अपनी सुरक्षा को बनाये रहकर उन्हें सामयिक और पर्याप्त सहायता प्रदान कर सकें। डा० जीडल्स के शब्दों में, "भारत में पूंजी का बाज़ार पर्याप्त बड़ा जान पड़ता है और औद्योगिक अर्थ-सहायता के क्षेत्र में बैंकों के कार्यकलापों के लिए स्थान दिया जा सकता है।"[१] यह बैंक कम-से-कम विशेष प्रकार की संस्थाएं बनाने में सहायक हो सकते है, जैसे कि इंग्लैंड में मध्यस्थ का कार्य करने वाली संस्थाएं हैं। वह संस्थाएं एक ओर उद्योग और विनियोजक के बीच और दूसरी ओर, वर्तमान औद्योगिक फर्मों को आर्थिक परामर्शदाता के रूप में मध्यस्थ होती हैं। उन्हें विषयों को अन्तर्लिखित करने का प्रबन्ध करना चाहिए और अस्थायी अर्थ प्रदान करना चाहिए और यहां तक कि इस विषय की प्रत्याशा में दीर्घ-कालिक साख भी। उन्हें वर्तमान उद्योगों को पुनः संगठित करने और अभिनवकरण तथा नये व्यवसायों की स्थापना में सहयोग देना चाहिए।

(२) हमारे यहां बहुत बड़ी अंश पूंजी के औद्योगिक बैंक होने चाहिएं और औद्योगिक अर्थ-सहायता के कारोबार में विशिष्टता के लिए उन्हें दीर्घ-कालिक अमानतें प्राप्त करनी चाहिएं। संभव है, अंश पूंजी में से एक भाग लेकर सरकार भी सहायता करे अथवा बैंकों द्वारा दी गई पेशगियों पर न्यूनतम लाभांश के संरक्षण द्वारा सहायता करे।

(३) छोटे विनियोजक की सहायता के लिए, जो उपस्थित की गई विभिन्न ज़मानतों के बीच भेद-भाव नहीं कर सकता, हमें ऐसे विनियोजक ट्रस्ट स्थापित करने चाहिएं, जो हिस्से रखते हों अथवा हिस्सों में कारोबार करते हों, ताकि वह छोटे विनियोजक को ज़मानतों का "सुगंधिपूर्ण पैकिट" खरीदने का अवसर प्रदान कर सकें, और इस प्रकार उसके विनियोजन को नानाविध रूप दें और खतरे का अधिक विस्तार कर दें।

---

१. Vide Report, p. 179.

(४) पूंजी की बिखरी हुई और छोटी राशियों को संचित करने के लिए विशेष प्रकार की बैंकिंग संस्थाएं शुरू की जा सकती हैं। उन्हें छोटी अमानत वालों को बेहतर शर्तें और सुविधाएं देकर उनकी आवश्यकताओं की व्यवस्था करनी चाहिए।

हमारे उद्योग अर्थ-व्यवस्था के अभाव में बहुधा क्षीण हो जाते हैं, जबकि पूंजी की बड़ी राशियां बिखरी पड़ी रहती हैं। जिन राशियों का संग्रह हो जाता है, वह अत्यधिक कीमत के बिना उन्हें उपलब्ध नहीं होतीं। यदि ऊपरलिखित प्रस्तावों पर कार्य किया जाय, तो यह आशा की जा सकती है कि देश की औद्योगिक प्रगति की राह में से एक बहुत बड़ी बाधा हट जायगी।

६. **औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था समिति।** द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर भारत में औद्योगिक प्रगति के लिए बहुत लालसा थी। किन्तु राजनीतिक अस्थिरता विद्यमान थी। विभाजन के कारण बहुत ही अस्थिर अवस्था हो गई थी और फलरूप कई बैंक असफल हुए। किन्तु उद्योग को घिसी-पिटी मशीनों को बदलने और अभिनवकरण के लिए पूंजी की बेहद आवश्यकता थी। दूसरी ओर, पूंजी के बाज़ार की उदासीन स्थिति थी। फलस्वरूप, ऐसी संस्था की बहुत आवश्यकता थी, जो उद्योग के लिए प्राप्ति और विस्तार में सहायक होती। १ जुलाई, १९४८ को (Industrial Finance Corporation Act) औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था कार्पोरेशन एक्ट लागू किया गया। एक्ट की धारा के अनुसार इसका ध्येय यह है कि ऐसे उद्योगों की पूंजी विषयक आवश्यकताओं को मध्यकालिक और दीर्घ-कालिक साख के रूप में प्रदान किया जाय कि जो व्यापारिक बैंकों के सामान्य कार्य-कलापों से बाहर है। उसकी अंश पूंजी ५ करोड़ रुपए की है और केन्द्रीय सरकार, रीज़र्व बैंक, परिगणित बैंकों, बीमा की कंपनियों, विनियोजन ट्रस्ट और इसी प्रकार की अन्य अर्थ-संस्थाओं ने संयुक्त रूप में इसके हिस्से लिये हुए हैं। इसकी हिस्सेदार संस्थाएं हैं, निजी रूप में व्यक्ति नहीं।

कार्पोरेशन के हिस्सों को केन्द्रीय सरकार का संरक्षण प्राप्त है और सरकार ने मूलधन को लौटाने तथा २½% तक का अधिकतम लाभांश देने की प्रतिज्ञा की हुई है।

कार्पोरेशन को प्रतिरक्षा पत्र (Bonds) और ऋण-पत्र जारी करने का अधिकार दिया गया है, जिसकी राशि प्रासंगिक देनदारियों को मिलाकर चुकता पूंजी के चार गुना से अधिक नहीं होगी। केन्द्रीय सरकार इस प्रकार के प्रतिरक्षापत्रों और ऋण-पत्रों के मूलधन का पुनः भुगतान करने और २½% अधिकतम ब्याज देने के विषय में प्रतिज्ञाबद्ध है।

कार्पोरेशन जनता से अमानतें प्राप्त कर सकता है, जिनका भुगतान दस वर्ष की अवधि से पहले नहीं होगा।

कार्पोरेशन को निर्माण करने वाले व्यवसायों या उन व्यवसायों को, जो बिजली

का उत्पादन अथवा पूर्ति करेंगे, दीर्घ-कालिक ऋण देने का अधिकार दिया गया है, जो पच्चीस वर्ष के अन्दर-अन्दर लौटाना होगा। कार्पोरेशन को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह धारा के अनुसार किन्हीं ऋण-पत्रों और हिस्सों के विषय को अन्तर्लिखित करे, जिससे कार्पोरेशन प्राप्त किये हुए हिस्सों अथवा ऋण-पत्रों को सात वर्ष के अंदर-अंदर अपनी अन्तर्लिखित देनदारी को पूर्ण करने के लिए उन्हें प्राप्त कर सके। इन ऋणों पर कार्पोरेशन ५½ प्रतिशत की दर से ब्याज लेती है और नियमित भुगतान करने पर आधा वापिस मिल जाता है।

राज्य के औद्योगिक व्यवसायों को इस क्षेत्र से बाहर रखा गया है। कार्पोरेशन केवल निजी औद्योगिक साहसिक कार्यों को, हिस्सेदार बनने के बिना अर्थ-सहायता प्रदान करती है। यह पब्लिक लिमिटिड कम्पनियों अथवा सहकारिता समितियों को भी ऋण दे सकती है किन्तु प्राइवेट लिमिटिड कम्पनियों अथवा हिस्सेदारियों को नहीं। इसके कार्यकलाप व्यापारिक बैंकों की प्रतिद्वंद्विता के नहीं, प्रत्युत पूरक के हैं, क्योंकि बैंक उस रूप और समय का अनुदान नहीं कर सकते कि जो कार्पोरेशन कर सकती है। कार्पोरेशन सैनिक और राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों को विशेष महत्व प्रदान करती है। लघु और मध्य-स्तर के उद्योगों को अर्थ-सहायता देने का मुख्यतः संबंध राज्य-अर्थ-कार्पोरेशनों का है, जो अनेक राज्यों में बन चुकी हैं अथवा बनने जा रही हैं।

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था कार्पोरेशन हमारे उद्योगों के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है। भारत में ऋण देने वाली संस्थाओं के अभाव में कार्पोरेशन औद्योगिक साहस के आर्थिक पहलू की जांच कर सकती है और बता सकती है कि वह सुदृढ़ है अथवा नहीं। वह संस्थापकों को बहुमूल्य परामर्श दे सकती है और उनकी योजनाओं को उन्नत करने में सहायक हो सकती है तथा भिन्न दिशाओं में उनका पथ-प्रदर्शन भी कर सकती है और आर्थिक आधार की दृष्टि से उन्हें दृढ़ बना सकती है। भारतीय उद्योग को पुनः संगठन और युद्ध के कारण घिसी-पिटी मशीनों को बदलने के लिए वृहद् कोषों की आवश्यकता है। इस दिशा में भी कार्पोरेशन ठोस सहायता प्रदान कर सकती है।

कार्पोरेशन को यह विश्वास कर लेना चाहिए कि जो कोष उसने दिये है, उनका यथासंभव उपयोग हो रहा है या नहीं। उसे उन व्यवसायों पर निरन्तर दृष्टि रखनी होगी कि जिन्हें उसने सुविधाएं दी हुई हैं। यह निरीक्षण उन फर्मों के लिए बहुत लाभकर प्रमाणित होगा और उन्हें अनेक अड़चनों पर विजय पाने के योग्य बनाएगा। यह सभी जानते हैं कि भारत में कला-कौशल के विशेषज्ञों की बहुत कमी है। कार्पोरेशन प्राप्त तजवीज़ों का विशेषज्ञों द्वारा निरीक्षण करती है और इस प्रकार बहुमूल्य सहायता प्रदान करती है। इसके विशेषज्ञ के परामर्श से जिन्स की गुण-विषयक उन्नति की जा सकती है और इस प्रकार भारतीय उद्योग की तुलनात्मक स्थिति सुदृढ़ बन जाती है। कार्पोरेशन ने वस्त्र परामर्शदातृ कमेटी बना ली है, जो वस्त्र-निर्माण की योजनाओं का परीक्षण करेगी।

जब कार्पोरेशन अपने पूर्ण रूप में उन्नत हो जायगी, तो उसकी धारणा १३० करोड़ रु० तक ऋण देने की ठोस पूंजी कर लेने की है। किन्तु उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस समय इसके कोष अपर्याप्त हैं और केन्द्रीय सरकार को औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का भार सहन करना पड़ता है। यह तजवीज़ की गई है कि अनिवार्य उपाय के रूप में रिज़र्व बैंक के पास परिगणित बैंकों के, जो अतिरिक्त शेष सामान्यतः जमा होते हैं, उनमें से भारतीय उद्योग की सहायता के लिए २० करोड़ रुपये तक को इस दिशा में बदल देना चाहिए। इतनी ही राशि सरकार भी दे सकती है और इस प्रकार उसे औद्योगिक प्रगति कोष (Industrial Development Fund) में सहायक होना चाहिए।

जनवरी १९५२ तक कार्पोरेशन ने २३३ प्राप्त हुए आवेदन-पत्रों में से ७५ प्रस्तावों को सहायता की स्वीकृति दी है और अनुदान स्वीकृति की कुल राशि ११·५ करोड़ रुपये है। उन आवेदनों को रद्द कर दिया गया है, जो कानून की धाराओं को पूर्ण नहीं करते थे। कार्पोरेशन के अध्यक्ष का कहना है कि कार्पोरेशन में रुपये की कमी नहीं थी और कोई भी आवेदन-पत्र रुपये की आवश्यकता के कारण अस्वीकार नहीं किया गया। कार्पोरेशन की द्वितीय वार्षिक रिपोर्ट ने बहुत ही दिलचस्प अंश प्रकट किया है। उसने हमारे औद्योगिक ढांचे के अनेक दोषों का उल्लेख किया है और ऐसे दोष सार्वजनिक व्यवसायों की अपेक्षा निजी उद्योगों में अधिक स्पष्ट थे। इस प्रकार, भारत के निजी औद्योगिक व्यवसायी राज्य-स्वामित्व के व्यवसायों का परीक्षण नही कर सकते, क्योंकि वह अभ्यस्त नहीं।

७. विदेशी पूंजी की समस्या। भारत में औद्योगिक प्रगति का एक और पहलू है, जिस पर विशेष ध्यान देना चाहिए, और वह है विदेशी पूंजी का प्रभुत्व। रिज़र्व बैंक आव् इंडिया ने हाल के परीक्षण में भारत में जून १९४८ तक संपूर्ण विदेशी पूंजी का अनुमान ५९६ करोड़ रुपये बताया है, जिसमें से इंग्लैड के ३७६ करोड़ रुपये हैं, अमरीका के ३० करोड़ रु०, पाकिस्तान के २१ करोड़ रु०, और कैनेडा के ९ करोड़ रुपये हैं।

विदेशी पूंजी के लाभ—उपयोग करने वाले देश को विदेशी पूंजी से पर्याप्त लाभ होते हैं। जब देशी पूंजी की कमी होती है, तो देश की आर्थिक प्रगतियों का संचय करने के लिए उसे मुक्त भी नहीं किया जा सकता। सब उपनिवेशों, अमरीका और जापान ने अपने प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के लिए विदेशों से पूजी ऋण ली थी। विदेशी पूंजी निःसंदेह, देश की राष्ट्रीय संपत्ति को बढ़ाती है। भले ही लाभ बाहर जाते हैं, किन्तु पगारों का भी महत्वपूर्ण लाभ होता ही है। विदेशी पूंजी के उपयोग के फलरूप उस संपत्ति की रचना हो जाती है, जो पूंजी और ब्याज के भुगतान से भी अधिक हो जा सकती है। विदेशी पूंजी से बनी रेलें और नहरें, विदेशी पूंजी का भुगतान करने के बाद राष्ट्रीय आय का स्थायी स्रोत बन कर रहेंगी। फलस्वरूप, विदेशी पूजी आर्थिक समृद्धि उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण साधन हो सकती है।

विदेशी पूंजीवादी आरंभिक दशा में सामान्यतः हानियां उठाते हैं और देश को यह लाभ के समान है। बाद में, देशी पूंजी स्थापित दिशाओं का लाभ उठा सकती है और आगे बढ़ सकती है। हमने देखा है कि भारत में शीशा और लोहा और इस्पात के उद्योग प्रारंभिक अवस्थाओं में किस प्रकार असफल हुए और उनकी हानियां विदेशी व्यवसायों को हुई।

इससे भी बढ़कर एक अन्य लाभ कला-कौशल विषयक ज्ञान को देश में लाने का है। विदेशी पूंजीवादी योग्य संगठन की स्थापना करता है और नवीन कला को जारी करता है। यदि धीरे-धीरे यह प्राप्त कर ली जाय और देश के साहसिक व्यवसायों को सौंपी जाय, तो निःसंदेह, बहुत लाभ होगा। किन्तु यह बहुत बड़ी 'यदि' है। यदि विदेशी पूंजीवादी व्यापार के भेद को छिपा कर रखता है, तो देश को कोई ठोस लाभ नहीं होगा।

विदेशी पूंजी के दोष—विदेशी पूंजी के उपयोग के साथ सामान्यतः कुछ बुराइयां भी जुड़ी होती हैं। सबसे बड़ी बुराई राजनीतिक चलन की है। कहा जाता है कि "व्यापार के पीछे-पीछे झंडा चलता है।" जो देश विदेशी पूजी का उपयोग करता है, वह शीघ्र ही विदेशी प्रभुत्व में चला जाता है। अनेक राजनीतिक पेचीदगिया उत्पन्न हो जाती हैं। मिस्र और चीन ने इस प्रकार के प्रभुत्व से हानि सहन की है। भारत में भी स्वार्थी हितों की रचना की गई थी। जिस देश में वह कार्य करते थे, उन्होंने स्वतः उसके साथ संपर्क नहीं बनाया था, और जैसे ही भारत को राजनीतिक अधिकार की स्वीकृति का अवसर हुआ, तैसे ही वह एकाएक भयभीत हो गए।

एक अन्य त्रुटि यह है कि देश के प्राकृतिक साधनों का विदेशों के हित के लिए शोषण हो सकता है और संबंधित देश को उससे चिरकाल तक हानि बनी रह सकती है। कुछ लोग उस समय तक प्रतीक्षा करना बेहतर समझेंगे जब तक कि देशी साहसिक व्यवसायी और पूंजी आगे नही आ जाते और उस समय तक देश के प्रसाधनों को उन्नत नहीं होने देंगे।

विदेशी नियन्त्रण के साथ विदेशी पूजी 'मूल' उद्योगों और राष्ट्रीय रक्षा से संबंधित उद्योगों के मामलों में खतरनाक होती है। संभव है,इससे देश की स्वाधीनता को भी खतरा हो जाय। संभव है, आर्थिक प्रगति के लिए यह सौदा बहुत ही महंगा साबित हो।

रिज़र्व बैंक के हाल ही के परीक्षण ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है कि विदेशी विनियोजन में विदेशी स्वामित्व निहित होता है। विदेशी व्यवसायों में ऊंचे और महत्वपूर्ण स्थान वह अपने नागरिकों के लिए सुरक्षित कर देते हैं और भारतीयों को बेकार के ठाली काम सौंप देते हैं। शिक्षाधीनों को शिक्षा नहीं दी जाती और कला-कौशल तथा विधियों को छिपा कर रखा जाता है। ऐसी अवस्था में विदेशी पूंजीं के उपयोग से देश को कम लाभ होता है और उसे हीन स्थिति को सहन करना पड़ता है।

किन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि यह आपत्तियां विदेशी नियन्त्रण के विरुद्ध

हैं और विदेशी पूंजी के नहीं। विदेशी प्रबन्ध और विदेशी नियन्त्रण के बिना विदेशी पूंजी का स्वागत किया जा सकता है और वह देश के आर्थिक हित के अनुकूल हो सकती है। इसलिए यदि विदेशी पूंजी का उचित संरक्षणों के साथ उपयोग किया जाय, तो कोई हानि नहीं हो सकती और इसके विपरीत बहुत हित हो सकता है।

८. नई नीति। ६ अप्रैल १९४८ को प्रकाशित किये प्रस्ताव में सरकार ने विदेशी पूंजी में भाग लेने के विषय में अपनी नीति की घोषणा की है। यह कहा गया है कि नियम रूप में, व्यवसाय के नियंत्रण और स्वामित्व में अधिकांश भाग भारतीयों के हाथ में होगा। पूंजी की भारी आवश्यकता को महसूस करते हुए अब सरकार सीमित अवधि के लिए नियंत्रण के साथ विदेशी पूंजी को लेने के लिए तैयार हो गई है।

वर्तमान में स्थिति यह है कि घरेलू बचतों और हमारी वृहद् आवश्यकताओं के बीच बहुत बड़ी खाई है। हमारे स्टर्लिंग संतुलनों को सीमित क्षेत्र तक डालरों में बदला जा सकता है। इसलिए विदेशी पूंजी की अत्यधिक आवश्यकता है, क्योंकि टैक्निकल ज्ञान केवल विदेशी ऋणों के साथ प्राप्त किया जा सकता है। हमें जीवन-मान को उन्नत करने के लिए देश की आर्थिक प्रगतियों को विस्तृत करना चाहिए। आधार-मूलक उद्योगों का निर्माण किया जाना है। अब हमें अंग्रेजों की सहायता के बिना अपनी रक्षा को भी देखना है। हमें जहाज़ और जहाजों के आश्रय-स्थल बनाने चाहिएं। हमें हवाई शक्ति का निर्माण करना चाहिए और बारूद बनाने के कारखानों का निर्माण करना चाहिए। हमें अपनी निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या को भोजन देना है और उस उद्देश्य के लिए व्यर्थ-भूमि का सुधार करना है और बहु-गुणी उद्देश्यों वाली योजनाओं को यथासंभव अल्प काल में पूर्ण करना है। इस सब के लिए पूंजी की आवश्यकता है, जिसका हमारे यहां दुःखद अभाव है। विदेशी पूंजी का केवल इसीलिए स्वागत नहीं होगा कि वह हमारी क्षीण पूंजी प्रसाधनों की पूरक होगी प्रत्युत इस लिये कि वह अपने साथ औद्योगिक 'क्यों-कैसे' ज्ञान को, कुशल-कारीगरों को और व्यापारिक अनुभव और संगठन को साथ लेकर आएगी कि जिस का हमारे यहां अभाव है।

१९५१ में रिज़र्व बैंक ने भारत की विदेशी देनदारियों और सम्पत्तियों की गणना की थी और फलरूप तीन निष्कर्ष निकाले थे, (१) गैर-सरकारी दिशा में विदेशी पूंजी का आगम केवल मात्र इंग्लैंड से हो सकता है, (२) सरकारी तौर पर विदेशी पूंजी अमरीका से आ सकती है; (३) भारत को दक्षिण-पूर्व एशिया में अपने विनियोजनों को पुनः जारी करने के लिए उचित योजना बनानी चाहिए। अप्रैल, १९४९ में, प्रधान मन्त्री ने विधान सभा में अपनी नीति का विवरण देते हुए विदेशी पूंजीपतियों की सब शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा की थी। इस नीति के मुख्य अंग इस प्रकार हैं:—

(अ) सामान्य औद्योगिक नीति को लागू करने में विदेशी और भारतीय व्यवसायों के बीच कोई भेद-भाव नहीं किया जायगा।

(ब) विदेशी विनिमय की स्थिति के अनुकूल लाभों को भेजने और पूंजी को निकालने की उचित सुविधाएं दी जाँयगी, और

(स) राष्ट्रीयकरण की दिशा में उचित और समान क्षतिपूर्ति की जायगी।

विदेशी पूंजी के लिए अत्यधिक उपयोगी क्षेत्र निम्न हैं, (१) सार्वजनिक योजनाएं, जिन में विदेशी सामग्री और टैक्निकल ज्ञान की आवश्यकता है, (२) नये औद्योगिक कार्य, जिन में देसी साहस आगे नहीं बढ़ रहा हैं; (३) जहां घरेलू उत्पादन घरेलू मांग के लिए संतोषप्रद नहीं और देसी उद्योग पर्याप्त रूप में तीव्रगति से विस्तार नहीं कर रहा। संयुक्त व्यवसायों की रीति का भी समर्थन हो सकता है, जिसमें विदेशी औद्योगिक और भारतीय व्यापारी परस्पर मिलें। किंतु इस प्रकार के सांझे कारोबार के संधि-पत्रों को सरकार की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य होना चाहिए और उन्हें राष्ट्रीय पूंजी के पर्याप्त अंश का भरोसा देना चाहिए, भारतीयों को शिक्षा की सुविधाएं देनी चाहिएं और भारतीय सहयोगियों को अधिकृत प्रणालियों की गुप्तता बनानी चाहिए।

पूंजी की समता के अतिरिक्त, अमरीका के (International Bank for Reconstruction & Development) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं प्रगतिकारी बैंक तथा (Export Import Bank) आयात-निर्यात बैंक जैसी सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं से नियत ब्याज पर पूजी प्राप्त हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने इस समय तक कृषि और बिजली की योजनाओं को पूर्ण करने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की है। उसे यह भी निवेदन करना चाहिए कि वह उच्च प्राथमिकता की विशिष्ट औद्योगिक योजनाओं को, जिन के लिए वृहद् पूजी की आवश्यकता है, चलाने के लिए सहायता दे।

९. पूंजी का निर्माण[१]। भारतीय पूजी बाज़ार हाल ही में कोषों की कमी के कारण संकटग्रस्त हुआ था। कहा जाता है कि भारतीय पूंजी ने हड़ताल कर दी है। १९४७ से इस समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया है, १९१९ और १९३८ के बीच राष्ट्रीय आय का ७% विनियोजन दर थी और बचतों की दर, जो ९% से ११·७% तक असमान रूप में थी, पूजी विनियोजन की दर को स्थिर रखने के लिए पर्याप्त थी। किंतु एक अनुमान के अनुसार, १९४६-४७ और १९४७-४८ के वर्ष बुरी-बचतों के थे और १९४८-४९ में बचत की दर १·४ प्रतिशत तक अल्प थी। जो भी हो, यह समस्या नई नहीं है। भारतीय औद्योगिक कमीशन (१९१६-१८) ने उल्लेख किया था, "भारतीय विनियोजक नये व्यवसायों में अपने द्रव्य का ख़तरा उठाने में संकोच करता है; ....सिवा उनके कि जो उन उद्योगों से सम्बन्धित हों कि जो पहले से ही स्थापित हो चुके थे और जिन्होंने विस्तृत अनुभव

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़िये: Fiscal Commission Report, 1949-50, p. 198.

प्राप्त कर लिया था।" पर्याप्त पूँजी की उपलब्धता का अभाव अभी जारी है और फलरूप देश का औद्योगीकरण रुका हुआ है।

पूँजी-निर्माण की लम्बी विधि है और इस के तीन चरण हैं:

(१) बचत के लिए प्रेरणा करना, जो बचत करने की इच्छा और बचत करने की शक्ति पर निर्भर करती है;

(२) बचतों को संचित करना और ऐसा स्रोत बनाना कि जिससे विनियोजन योग्य कोषों में उन्हें बदला जा सके, जो साहूकारा रीति की योग्यता पर निर्भर करता है; और

(३) वृहद् वस्तुओं की प्राप्ति, जो साहसिक व्यवसायियों पर निर्भर करता है।

पूंजी निर्माण की इस रीति में विद्यमान बाधाओं का उल्लेख किया जा सकता है कि (१) बचतों का एक भाग गाड़ा जा सकता है अथवा निर्यात किया जा सकता है, और इसलिए विनियोजन के लिए उपलब्ध नहीं है। इससे आगे, विनियोजन के लिए उपलब्ध कुछ बचतों का स्वतः स्वामी बहुमूल्य वस्तुएं खरीदने में उपयोग कर लेते हैं और इस प्रकार वह पुनः उन्हीं के व्यापार में घुलमिल जाता है। संभवतः, कोषों के संचय होने और बहुमूल्य वस्तुओं की प्राप्ति के बीच में समय की प्रत्याशा भी हो कि जो पूँजी का उचित निर्माणकाल होता है।

ऐसे अनेक अंश हैं, जिन्होंने कहा जाता है कि भारत में हाल ही के वर्षों में पूंजी निर्माण के विरुद्ध कार्य किया है। कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण का भय विनियोजक को औद्योगिक साहसिक कार्य से रोकने के लिए उत्तरदायी है। प्रतिकार के बिना राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध, १९४८ के औद्योगिक नीतिविवरण को और भारतीय विधान की धारा (३१) को दृष्टि में रखते हुए, इस दिशा में कोई भय नहीं होना चाहिए। यह केवल स्वार्थी प्रचार है, जो भारतीय विनियोजक को दूर रख रहा है।

(२) टैक्स-प्रणाली का उच्च-स्तर भी विनियोजन को निरुत्साह करने वाला बताया जाता है। १९४७-४८ का लियाकत-बजट पूंजी-निर्माण के लिए पहला आघात था। रिज़र्व बैंक की रिपोर्ट के शब्दों में, "इस विषय में अब कोई संदेह नहीं रहा कि गत बजट की कठोरता स्वतः अपने उद्देश्य को नष्ट कर रही है, और उत्पादन उद्देश्यों के लिए पूंजी-निर्माण में बाधा बन रही है।"

बाद के अर्थ-मन्त्री ने इस बुराई को सही करने की चेष्टा की है। भावी औद्योगिकों को अनेक बट्टे और रियायतें दी गई हैं। वर्तमान में जो प्रलोभन दिये गए हैं, उन्हें पर्याप्त समझना चाहिए। वास्तव में यह प्रलोभन आकर्षक प्रमाणित नहीं हुए। "ईस्टर्न इकोनॉमिस्ट" के बम्बई स्थित संवाददाता के अनुसार, "इन रियायतों में कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं है और विनियोजक की मानसिक प्रवृत्ति को प्रभावित करने के लिए उन्हें समय लगेगा और....समयान्तर उसे पूंजी के बाजार में ला पायेंगे।....जहां तक चालू औद्योगिक नामों का सम्बन्ध है, टैक्स विषयक रियायतें कम या अधिक तटस्थ हैं।"

(३) हुंडी विनिमय में सट्टेबाजी के कार्य-कलाप पूंजी-निर्माण के मार्ग में बाधक हो गए हैं। हुंडी-विनिमय का उचित कार्य अस्थिरता प्रदान करता है और विनियोजन-योग्य कोषों की मुक्त गति को प्रोत्साहन देता है। किंतु उसकी जगह, कीमतों के विस्तार में जुए-बाज़ी का आविर्भाव हो गया है। १९४६ से हुंडी विनिमय के अंकों में भारी गिरावट, से निश्चय ही विनियोजन कार्य पर बुरा प्रभाव हुआ है। सट्टेबाजों के कार्यो ने सच्चे विनियोजकों को रोक दिया है। ऐसी अवस्थाओं को उत्पन्न करना अत्यावश्यक है कि जो शुद्ध विनियोजनों को प्रोत्साहन दें।

(४) कुछ मैनेजिंग एजेंटों की बुरी रीतियों ने भी पूंजी निर्माण में अवरोध उत्पन्न किया है। मैनेजिंग एजेंट असंदिग्ध रूप में कम्पनियां बनाते हैं और उसके बाद उन्हें तोड़ देते हैं और उस विधि में अपने को धनी बना लेते है। अजान विनियोजक नष्ट होते हैं और इस के कारण अन्य विनियोजक भी खिसक जाते है।

(५) संपत्ति-विभाजन में भी अन्तर बताया जाता है। ऐसे वर्गो के हाथ में आय चली जा रही है कि जिन की बचाने और विनियोजन करने की आदत नहीं है। यह वर्ग अर्थात् मध्यम-वर्ग, जिन की यह आदत है, मुद्रा-स्फीति के कारण नष्ट हो गए हैं। उनकी बचाने की शक्ति लोप हो चुकी है।

(६) युद्धोत्तर के वर्षो में पूंजी सम्बन्धी विषयों के नियंत्रण ने इस रूप में कार्य किया है कि कोष लाभकर विनियोजन की दिशा में गतिशील नही हुए।

इन अंशों का उचित समाधान करने की आवश्यकता है और पूजी निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न किया जाना चाहिए। औद्योगीकरण को विस्तार देने का केवल-मात्र यही एक उपाय है, क्योंकि हमारी सरकार के बहुत यत्न करने पर भी विदेशी पूंजी, विशेष रूप से नही आ सक रही।

वर्तमान कीमतों के अनुसार पूंजी विषयक खर्च की हमारी न्यूनतम आवश्यकताएं ३३० करोड़ रुपये आंकी गई हैं, जिस में से उद्योग और कृषि का भाग क्रमशः १२५ करोड़ रुपये और ९२ करोड़ रुपये है। औद्योगिक प्रगति के प्रारम्भिक वर्षो में जापान अपनी वार्षिक आय का ५० प्रतिशत बचाता था। इसका अर्थ अत्यधिक आत्म-संयम था। मि. लूई अपने (Principles of Planning) 'योजना के सिद्धांत' में कहते हैं कि राष्ट्रीय आय का १५ से २० प्रतिशत सुरक्षापूर्वक संपूर्ण विनियोजन में उपयोग किया जा सकता है। इसलिए, भारत को अपनी औद्योगिक प्रगति में वृद्धि करने के लिए अधिक बचाना चाहिए और अधिक विनियोजन करना चाहिए।

१०. मैनेजिंग एजेंसी की रीति। भारतीय उद्योगों के प्रबन्ध का एक विलक्षण अंग मैनेजिंग एजेंसी रीति का व्यापक चलन हैं। सामान्यतः मैनेजिंग एजेंसी एक हिस्सेदारी होती है और कभी-कभी संयुक्त पूंजी फर्म होती है, जो व्यवसाय को जारी करने के लिए बनाई जाती है और अंततः, जिसे प्रबन्ध-भार हस्तगत कर लेना होता है। भारत में यह

संयुक्त पूंजी संगठन का एक विचित्र उपकरण है, जो मूल रूप में अपने स्वरूप और कार्य को बदल लेता है।

इस रीति की विद्यमानता का कारण भारत में पाई जाने वाली विलक्षण आर्थिक अवेस्थाओं में निहित है, विशेषरूप से प्रबन्ध-विषयक योग्यता और आर्थिक सुविधाओं की उपलब्धि। भारत में औद्योगिक साहसिक कार्यो को मैनेजिंग एजेंटों के हाथों में फेंक देने के विषय में निम्न कुछेक प्रबल कारण हैं: भारतीय पूंजी की अल्पता और फलस्वरूप विनियोजक जनता से अपर्याप्त राशियां प्राप्त करना, संयुक्त पूंजी बैंकों की चिर-बाद प्रगति; विशेष प्रकार की अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी संस्थाएं, जैसे ऋण देने वाली संस्थाएं, योग्य संचालक समिति का अभाव और व्यापारिक बैंकों की पेशगियों के विषय में रीतियां, आदि।

जिन फर्मों का मैनेजिंग एजेंट प्रबन्ध करते हैं, उनकी ओर से सामान और मशीनों का क्रय, पूर्ण वस्तुओं का विक्रय और महायंत्र, इमारतों के बीमे का प्रबन्ध तथा व्यापार में लगी पूंजी के प्रबन्ध के अलावा, उनके तीन मुख्य काम होते हैं: (१) प्रारम्भ करना; (२) फर्म के कार्य को नियमित रूप से चलाना; (३) अर्थ-व्यवस्था करना। मैनेजिंग एजेंट फर्म का निर्माण करने के लिए प्रारम्भिक योजनाओं के कार्य करते हैं और उसे अपने पांवों पर खड़ा कर देते हैं। वह दिन-प्रति-दिन का कारोबार चलाते हैं। फर्म में उनका आर्थिक-स्वार्थ पर्याप्त रूप में होता है। वे मुख्य हिस्सेदार होते हैं और कंपनियों को स्वयं ठोस राशियां ऋण देने के अतिरिक्त वह बैंकों से अर्थ-व्यवस्था के प्रबन्ध करते है कि जहां उनकी व्यक्तिगत प्रत्याभूति प्रायः अनिवार्य होती है। यह भी उनकी ख्याति और साख ही होती है, जो कुछ धनी लोगों को अपना द्रव्य मिल में अमानत रखने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। बम्बई काटन (सूती) मिलों द्वारा प्राप्त और अप्राप्त संपूर्ण ऋणों तथा मैनेजिंग एजेंटों की पेशगियों की कुल राशियाँ ७६ प्रतिशत के लगभग हैं।[१] अहमदाबाद में उन के २५ से ५० प्रतिशत तक के हिस्से हैं और अमानतों में उनका २० प्रतिशत का हिस्सा है।[२] संक्षेप में, मैनेजिंग एजेंट संस्थापक, अर्थ-व्यवस्था करने वाला, प्रबन्धक और प्रतिनिधि—सब-कुछ एक में है।

उनके पारिश्रमिक का यह रूप होता है: नियत मासिक भत्ता, जिस से क्लर्कों तथा कार्यालय का संचालन व्यय पूर्ण किया जाना होता है, साथ में नियत न्यूनतम कमीशन और इन के अतिरिक्त लाभों का प्रतिशत अंश। लाभों पर कमिशन से हिस्सेदारों और मैनेजिंग एजेंटों के स्वार्थों में पारस्परिक निकट संपर्क हो जाता है।

---

१. Report of the Textile Labour Enquiry Committee, 1938, p. 53.

२. Report of Ahmedabad Millowners' Association, 1935, p. 138.

११. मैनेजिंग एजेंसी रीति की आलोचना। मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली का समय-समय पर गम्भीर परीक्षण हुआ है, विशेष रूप से यह परीक्षण १९३६ में इंडियन कम्पनीज़ (अमैंडमैंट—संशोधन) एक्ट स्वीकार होने के समय हुआ था।[1] प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं : बुरा और अच्छा।

बुराइयां—इस रीति की अनेक बुराइयों में यह कहा जा सकता है कि मैनेजिंग एजेंटों के मुकाबिले में हिस्सेदारों का स्वार्थ गौण हो जाता है, धोखाधड़ी और शोषण की गुंजायश होती है, एक ही मैनेजिंग एजेंसी के अधीन भिन्न फर्मों के स्वार्थों में खींचातानी होने के अवसर होते हैं।

इस रीति ने स्वतन्त्र और योग्य डाइरैक्टरों की उत्पत्ति में बाधा डाली है। डाइरैक्टर केवल मैनेजिंग एजेंटों की कठपुतलियाँ होते हैं। १९२५ में, बम्बई काटन मिलों के १७५ डाइरैक्टरों में से ९५ मैनेजिंग एजेंसी के डाइरैक्टर थे।[2] मैनेजिंग डाइरैक्टर निर्णय करते हैं और डाइरैक्टर उन निर्णयों पर हस्ताक्षर कर देते हैं। मि. जे. ए. वाडिया ने, जो १३ काटन मिलों के डाइरेक्टर हैं, १९२७ में टैरिफ़ बोर्ड के सामने बयान दिया था, कि यदि डाइरैक्टर सक्रिय भाग लें, तो उन्हें डाइरैक्टरी से हाथ धो लेना होगा।

उद्योग और बैंकिंग प्रणाली के बीच स्थिर सम्बन्धों की प्रगति के विषय में भी बाधा उत्पन्न हुई है, क्योंकि बैंक मैनेजिंग एजेंटों की गारंटी पर ऋण देते हैं और फ़र्म की वास्तविक शक्ति पर नहीं।

इस रीति के विरुद्ध एक अन्य हेतु यह है कि इन एजेंसियों के अधीन अनेक फर्में होती हैं। बिहार और उड़ीसा बैंकिंग जांच कमेटी के शब्दों में, "उन के कार्य-कलापों की विस्तृत और धुआंधार अग्नि में उन के पास अनेक लौह-शिरायें हैं, उनका दृष्टिकोण बहुत विशाल और उन के कार्यों का केंद्र उस से भी अधिक बड़ा है और उन के आर्थिक

१. विस्तृत चर्चा के लिये पढ़ें, Reports of the Indian Industrial Commission, 1918, pp. 12-13, Indian Cotton Textile Tariff Board, 1927, Vol. I pp. 85-92 & 152, Vol. II., & Evidence of Bombay, Baroda & Ahmedabad Mill Owners' Association, Vol. IV, Indian Central Banking Enquiry Committee (Majority) Report, pp. 245-50 and (Minority) Report pp. 330-32, and Report of Indian Tariff Board on Cotton Industry, 1932, Ch. IV.

२. Rutnagar—Bombay Industries : Cotton Mills, 1927 p. 253.

मापदंड बहुत बड़े हैं।" कलकत्ता की एंड्र्यू यूल एंड कम्पनी, मिसाल के तौर पर, ५४ फर्मों का प्रबन्ध करती है।

अविवेकी एजेंटों ने अनेक प्रकार से इस रीति का दुरुपयोग किया है, जैसे नियम-विरुद्ध और गुप्त कमिशनें प्राप्त करना, गबन करना, जानबूझ कर हिस्सों की कीमतों को चढ़ा देना और उसके बाद उच्च शिखिर पर बाज़ार को बेचने के लिए बाध्य करना, कंपनी के स्वार्थों की उपेक्षा करना, और सैकड़ों उपायों से अज्ञानी और अस्थिर विनियोजक का शोषण करना। सितम्बर १९५१ में इंडियन कम्पनीज़ अमैंडमैंट एक्ट की बहस का उत्तर देते समय अर्थमन्त्री श्री देश मुख ने कहा था, कि उन के पास लगभग एक सौ ऐसे मामले हैं, जो मैनेजिंग एजेंटों के कुप्रबन्धों के भिन्न कृत्यों के ठोस उदाहरण हैं। इन कुप्रबन्धों का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि कम्पनी के नियमित उद्देश्यों से असम्बन्धित ध्येयों के लिए ज़मानत के बिना निजी पार्टियों (फर्मों या व्यक्तियों) को ऋण दिये जाते हैं; अन्य व्यवसायों में विनियोजन के लिए ऋण-पत्र जारी किये जाते हैं; चलित हिसाब पर मैनेजिंग एजेंटों को ऋणों का अनुदान होता है; हिस्सों का अन्तर्परिवर्तन किया जाता है, मैनेजिंग एजेंटों अथवा सहयोगी संगठन को प्रतिनिधि रूप में विवेकशून्य शर्तों पर नियत किया जाता है, आदि।

इसके अलावा, मैनेजिंग एजेंट आरम्भ करने और साहसिक कार्य करने के लिए निन्दनीय क्षीणता का प्रदर्शन करते हैं। प्रबन्ध करने के तरीके अत्यधिक संकीर्ण हैं। प्रबन्ध-चातुर्य की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्व दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि बहुत थोड़े प्रमुख मैनेजिंग एजेंट होते हैं, जो पूंजी बाजार पर प्रभुत्व जमा पाते हैं। जो केवल चुकता पूंजी के १० प्रतिशत के स्वामी होते हैं, वह अपने को सारे का मालिक समझते हैं।

योजना कमीशन के शब्दों में, "कच्चे पदार्थों को क्रय करने, पूर्ण जिन्सों की बिक्री करने और आर्थिक लेन-देन के अन्तर्परिवर्तन के विषय में अधिकारों के विशाल दुरुपयोगों के उदाहरण प्रकाश में आये हैं। सब से बढ़ कर, मैनेजिंग एजेंसी की कई फ़र्में कारखानों का प्रबन्ध, क्रय और विक्रय संगठन, परिगणना का तरीका आदि के विषय में अपनी प्रशासन प्रणाली में प्रगति करने में असफल रही हैं, और यह अंश औद्योगिक योग्यता के लिए अनिवार्य हैं।[1]

लाभ—किंतु कतिपय लाभ भी हैं, जो मैनेजिंग एजेंसी रीति के पक्ष में कहे जा सकते हैं। अच्छे मैनेजिंग एजेंटों ने, जिन्होंने सद्-व्यवहार और ईमानदारी के लिए अपनी ख्याति की साहसपूर्वक रक्षा की है, और एक व्यवसाय का प्रबन्ध करने की योग्यता के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता, इस रीति को उच्चतम लाभ प्राप्त करने योग्य बनाया है। विशिष्टरूप में उन्होंने अपने अधीन विभिन्न व्यवसायों में संगठन के लाभ को

---

१. Planning Commission Report, 1951. p. 147.

उपलब्ध किया है। आन्तरिक और बाहरी, अनेक प्रकार की बचतों को स्वीकार किया गया है, क्योंकि एक एजेंसी अनेक व्यवसायों की ओर से वस्तुओं का विक्रय करती है और पदार्थों, मशीनों तथा मिल स्टोरों का क्रय करती है, और वही कार्यालय उसका प्रबन्ध भी करता है। इससे विभिन्न व्यवसायों में आर्थिक सहयोग की प्राप्ति भी संभव हुई है, क्योंकि एक व्यवसाय के आधिक्य कोषों को उस दूसरे को ऋण रूप में दिया जा सकता है कि जिसे आवश्यकता हो।

मैनेजिंग एजेंसी रीति हिस्सेदारी के लाभों को संयुक्त पूंजी संगठनों के साथ मिला देती है। अन्त में हम औद्योगिक कमीशन के इस विचार से सहमत हो सकते हैं कि व्यक्तिगत मैनेजिंग डाइरैक्टर के अधीन असाधारण कम्पनी के प्रबन्ध की अपेक्षा इस रीति की सफलताओं की बहुत बड़ी सूची है। इस के साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि यह रीति बहुत महंगी है और भारतीय उद्योग इसे सहन नहीं कर सकता। जैसे ही व्यवसाय भली प्रकार स्थापित हो जाता है और भय की अवधि समाप्त हो जाती है तो मैनेजिंग एजेंटों के पारिश्रमिक का स्तर निम्न किया जा सकता है।

यह आवश्यक है कि मैनेजिंग एजेंटों को अपने में ज़िम्मेदारी की भावना पैदा करनी चाहिए, उनमें सार्वजनिक हित का भाव होना चाहिए और जिस फ़र्म का वह प्रबन्ध करते हैं, उसके प्रति विव्रेकपूर्ण हित होना चाहिए और उन्हे शीघ्र धनी बनने के उपायों को तिलांजलि दे देना चाहिए। उन्हें औद्योगिक प्रगति की नई दिशाओं की खोज करनी चाहिए और नये व्यवसायों का मार्ग-दर्शक बनना चाहिए। जो कोई संकीर्ण है और नये साहसिक कार्यो का निर्माण करने में क्षीण हैं, उनके लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

इंडियन कम्पनीज अमैंडमैंट एक्ट (१९३६) के कारण, जिसे भारतीय हिस्सेदारों का अधिकार-पत्र कहा जाता है, अनेक प्रकार की उन्नति हुई हैं। उनकी अवधि २० वर्ष नियत कर दी गयी है, किंतु वह दोबारा नई हो सकती है। उन्हें इस से पूर्वभी, किसी अपराध अथवा दिवालिया हो जाने की दिशा में हटाया जा सकता है। उनका पारिश्रमिक न्यूनतम की शर्त के अनुसार शुद्ध लाभों के प्रतिशत के रूप में नियत कर दिया गया है, यद्यपि शर्तें हिस्सेदारों द्वारा अदली-बदली जा सकती हैं। एक कम्पनी के कोषों का दूसरी कम्पनी में उपयोग नहीं हो सकता, और मैनेजिंग एजेंट स्वतः अपनी ओर से कोई प्रतिद्वंद्वी व्यापार नहीं कर सकेंगे। चलित हिसाब के सिवा उन्हें ऋणों की मनाही कर दी गयी है। डाइरैक्टरों के बोर्ड में उनके मनोनीत सदस्यों की एक तिहाई संख्या नियत की गयी है।

निःसंदेह, यह बहुत बड़ी प्रगति है। किंतु मैनेजिंग एजेंट अब भी अनेक तत्सम व्यवसायों की ओर से कार्य कर सकता है और उनके स्वार्थ अनेकों में नहीं टकराएंगे। अन्य कम्पनी की वस्तुओं को खरीदने वाले के रूप में और दूसरी कम्पनी को बेचने वाले के रूप में, वह अब भी कानून विरुद्ध लाभ कर सकते हैं।

श्री जे. जे. कापड़िया, मन्त्री, बम्बई शेयर होल्डर्स एसोसियेशन के कथनानुसार,

"हाल ही के वर्षों में प्रबन्ध अधिकारों को, हिस्सों की बहुत बड़ी संख्या के साथ, कृत्रिम कीमतों में बेच दिया गया है। मैनेजिंग एजेंसी रीति के अनेक आपत्तिजनक कृत्यों को प्रकाश में लाया गया है। हिस्सेदारों के स्वार्थों की चिन्ता किये बिना प्रबन्ध अधिकारों में नियमित व्यापार होता रहा है। क्षति-पूर्ति के रूप में बड़ी-बड़ी राशियों को समान करने के लिए कानूनी धोखे के उपायों को ग्रहण किया गया है। नये मैनेजिंग एजेंटों ने सब संभव उपायों से अपने को समृद्धिशाली बनाने की चेष्टा की है। हाल ही के वर्षों में मैनेजिंग एजेंसी रीति की बुराइयां लाभों की अपेक्षा अधिक मुख्य रही हैं। प्रबन्ध में विश्वास के अभाव ने पूंजी निर्माण के कार्य में घोर बाधा डाली है। इस रीति को शुद्ध करने के लिए (कम्पनी ला) कम्पनी विधेयक का अधिक संशोधन किया जा रहा है। वर्तमान कानून में ठोस संशोधन की तजवीज़ों के लिए कम्पनी ला कमेटी कार्य कर रही है। इस बीच, सितम्बर १९५१ में इंडियन कम्पनीज़ एक्ट का संशोधन इस उद्देश्य से किया गया था कि मैनेजिंग एजेंसी के अधिकारों के लेन-देन के व्यवहार को और समाज विरोधी उद्देश्यों के लिए सु-स्थापित कम्पनियों के प्रबन्ध को हस्तगत करने की दृष्टि से हिस्सों को खुले बाजार में कठिन परि-स्थिति में धकेलने से रोका जाय। अर्थ-मन्त्री ने इसे "अन्तरिम प्रथम-सहायता-उपाय" का नाम दिया था। केन्द्रीय सरकार की पूर्व-स्वीकृति के बिना मैनेजिंग एजेंसी की अवधि और व्यक्तियों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

१२. राज्य और उद्योग। भारत में उद्योगों के प्रति राज्य की नीति का संक्षेप में परीक्षण करना अनुचित न होगा। हम पहले ही देख चुके हैं कि भूतकाल में भारतीय नरेशों ने उद्योगों को उन्नत करने के लिए अपने को सक्रिय रूप में दिलचस्प कर लिया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी भी, आरम्भ में, व्यापारिक उद्देश्यों से चली थी, उसने विस्तार किया और उसने कई निर्माणों को उन्नत करने के लिए प्रोत्साहन दिया था। किंतु इंग्लैंड के दबाव के कारण उन्हें नीति में परिवर्तन करना पड़ा और उन्होंने कच्चे पदार्थों की उत्पत्ति और निर्यात में अधिक दिलचस्पी लेनी आरम्भ कर दी और कभी-कभी भारत में वस्तुओं के निर्माण के लिए भी उन्होंने निरुत्साह उत्पन्न किया।

भारतीय सरकार और व्यक्तिगत शासक हस्तक्षेप न करने के सिद्धांत में बुरी तरह जकड़े हुए जान पड़ते थे। "उद्योग को नियमित रूप से चलाना घातक था, उसकी सहायता करना निरर्थक था, और उसमें भाग लेना सार्वजनिक द्रव्य को नष्ट करना था।" मुख्यतः प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ होने तक यह नीति चालू थी।

किंतु किन्हीं प्रान्तीय सरकारों ने, जिनमें मदरास सरकार उल्लेखनीय है, निजी प्रेरणा से किंचित् अग्रगामी नीति को अपनाया था। मदरास सरकार के नियुक्ति-काल में सर अल्फ्रैड चटर्टन ने एल्यूमीनियम और चमड़ा रंगाई-बनाई के उद्योगों में सक्रिय दिल-चस्पी ली थी। किंतु लार्ड मार्ले ने १९१० के सूचना-पत्र में इन कार्य-कलापों पर ठंडा पानी छिड़क दिया था और इस उत्साह की उष्णता को पर्याप्त रूप में शान्त कर दिया था।

करने की स्वीकृति होगी। राज्य के साहसिक कार्यो का प्रबन्ध सामान्यतः जनता के सहयोग से होगा। इस नीति के आधार पर सरकार पांच बड़ी योजनाओं को हाथ में लेगी, जिन पर २०० से ३०० करोड़ रुपये तक लागत आयगी, अर्थात् मशीनों के औज़ारों का कारखाना, तारें बनाने का एक कारखाना,एक रेडियो यंत्र और रेडर बनाने का कारखाना, एक इस्पात का कारखाना और एक औद्योगिक मशीनें निर्माण करने वाला कारखाना। इस दिशा में (१९५१) के अन्त तक सरकार २७·४५ करोड़ रुपये लगा चुकी है, जिसमें से १६·५० करोड़ रुपये सिंद्री खाद कारखाने और ७·८७ करोड़ रुपये चित्तरंजन इंजन बनाने के कारखाने में लगे हैं।

३. राज्य के नियमों और नियंत्रण की शर्त के साथ—नमक, मोटरें और ट्रैक्टर, बिजली इंजीनियरिंग, मशीनों के औज़ार, भारी रसायन और खादें और औषधि-निर्माण, बिजली-रसायन उद्योग, लोह-इतर धातुएं, रबड़-निर्माण, विद्युत् और औद्योगिक मद्यसार, सूती और ऊनी वस्त्र-व्यवसाय, सीमिंट, खांड, कागज़, अखबारी कागज़, हवाई और समुद्री यातायात, खनिज और सुरक्षा से सम्बन्धित उद्योग।

४. राज्य के सामान्य नियंत्रण की शर्त के साथ निजी व्यवसाय का क्षेत्र : नीति के विवरण में इस श्रेणी के उद्योगों का उल्लेख नहीं किया गया था।

(स) विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में, स्वामित्व और प्रबल नियंत्रण की मुख्य दिलचस्पी, नियमतः, भारतीय हाथों में रहेगी, किंतु विशिष्ट विषयों का निपटारा करने की शक्ति ली जा सकेगी। जो भी हो, सभी विषयों में इस बात पर बल दिया जायगा कि योग्य भारतीयों को इस उद्देश्य से शिक्षित किया जाय ताकि वह अन्त में विदेशी विशेषज्ञों का स्थान ग्रहण कर सकें।

(द) घरेलू और लघु-स्तर के उद्योगों के विषय में, सरकार की मान्यता है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उनका बहुत महत्वपूर्ण अंश है, और उस के लिए सरकार चाहती है कि व्यक्तिगत,ग्राम, अथवा सहकारिता व्यवसाय किये जायें और विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के साधनों को उपस्थित करती है। यह उद्योग स्थानीय साधनों की बेहतर उपयोगिता के लिए और अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं की भिन्न किस्मों में स्थानीय आत्म-निर्भरता प्राप्ति के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इन उद्योगों की उन्नति प्रान्तीय क्षेत्र में आती है, किंतु केन्द्रीय सरकार इस बात की जांच करने की ज़िम्मेदारी लेगी कि कैसे और क्यों कर यह उद्योग वृहद्-स्तर के उद्योगों के साथ शृंखला-बद्ध और संगठित किये जा सकते हैं अर्थात् वस्त्र मिल व्यवसाय को प्रतिद्वंद्वी बनाने की अपेक्षा हैंडलूम उद्योग का पूरक क्यों कर बनाया जा सकता है।

(इ) औद्योगिक इमारतों को उन्नत करने के लिए दस लाख श्रमिकों के लिए मकान बनाने की दस-वर्षीय योजना तैयार की गयी है और उस पर कार्य किया जा रहा है।

(फ) सरकार की आयात-निर्यात-कर नीति अनुचित विदेशी प्रतिद्वंद्विता को

रोकने और उपभोक्ता पर अन्यायपूर्ण बोझा डाले बिना भारत के साधनों के उपयोग को उन्नत करने के लिए बनाई जायगी।

(ज) टैक्स-प्रणाली का निरीक्षण किया जायगा और जहां आवश्यक होगा, सुधार किया जायगा, ताकि बचत और विनियोजन उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जा सके और जन-संख्या के अल्प-वर्ग के हाथों में सम्पत्ति को अकारण केन्द्रीभूत होने से रोका जाय।

अक्तूबर १९४८ में, उद्योग के लिए सरकार ने इन रियायतों की घोषणा की: (१) अवमूल्यन रियायतों को उदार बना दिया गया; (२) नये उद्योगों को पूंजी पर ६ प्रतिशत की सीमा तक के लाभों पर ५ वर्ष के लिए छूट दे दी गयी; (३) यंत्रों और मशीनों पर आयात-कर में १० से ५ प्रतिशत की कमी की गई; (४) वस्त्र पर से निर्यात-कर में २५ से १० प्रतिशत की कमी की गयी और (५) औद्योगिक कच्चे पदार्थों पर से आयातकर हटा दिया गया।

यह मान लिया गया है कि राज्य को औद्योगिक उन्नति में प्रगतिशील भाग लेना चाहिए किंतु मुख्य ध्येयों को प्राप्त करने की योग्यता निजी व्यवसाय के उत्तरदायित्व की तात्कालिक सीमा और परिधियों का निश्चय करेगी। वर्तमान में, संभव है, सरकार के साधन इस प्रकार विस्तृत रूपमें उद्योग में अग्रगामी होने की स्वीकृति न दें कि जितनी होनी चाहिए। इस स्थिति का उपचार करने के लिए, अन्य उपायों के अतिरिक्त, सरकार एक संस्था बनाने का विचार कर रही है, जिसमें व्यापारिक उपायों और प्रबन्ध में योग्यता-प्राप्त व्यक्ति होंगे। इस बीच, राज्य, जहां पहले से कार्य हो रहा है और विद्यमान चालू इकाइयों को हस्तगत करने की अपेक्षा अन्य क्षेत्रों में नई उत्पादन की इकाइयों को केन्द्रीभूत बनाने में अपने कार्य-कलापों का विस्तार करेगा। उचित निर्देशन और नियंत्रण से निजी व्यवसाय बहुमूल्य कार्य कर पायेगा।

जान पड़ता है कि सरकार ने मध्य-मार्ग को अपनाया है। नई नीति दोनों मतों की उपेक्षा करती है: दाएं पक्ष का मत, जो यह कहता है कि राज्य को निजी व्यवसाय में कदापि हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और बायें पक्ष का मत, जो शत प्रतिशत समष्टिवाद में विश्वास करता है और निजी लाभ-प्राप्ति के रूप को नैतिक-पतन मानता है। सरकार भारत में नियंत्रित अथवा मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करने की इच्छुक है।

औद्योगिकों ने सरकार की औद्योगिक नीति की कड़ी आलोचना की है। भारतीय व्यापार मंडलों के संघ (Federation of Indian Chambers of Commerce) के प्रधान श्री महरोत्रा ने कहा था कि दस वर्ष की छूट की अवधि बहुत थोड़ी है। प्रत्यक्षतः, राष्ट्रीयकरण अभी कोसों दूर की बात है। स्व. सर अर्देशर दलाल ने कहा था, "राष्ट्रीयकरण, लाभांशों की सीमितता, लाभों में हिस्सेदारी और १० वर्ष के बाद पूंजी के विस्तार के भय से पूंजी लगाने वाले खिसक गये हैं।"

प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों ने बारम्बार विश्वास दिलाया है कि राष्ट्रीयकरण के भय निराधार हैं।

औद्योगिक नीति के विवरण और मन्त्रियों के बारम्बार विश्वास दिलाने पर भी उचित वातावरण की रचना नहीं हो सकी। आर्थिक मोर्चे की स्थिति निरन्तर गिरती जा रही है। १९५० में, आर्थिक कांफ्रेंस में अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए डा. राओ ने सरकार की नीति का सारांश प्रकट करते हुए कहा था, "सरकार की औद्योगिक नीति ने उतार-चढ़ाव का रूप धारण कर लिया है, बायीं दिशा में वह राष्ट्रीयकरण, लाभों में हिस्सेदारी, श्रमिकों का भाग लेना और औद्योगिक योजनाओं का वचन देती है, और इसके बाद दाईं ओर राष्ट्रीयकरण के क्षेत्र को बारम्बार सीमित बतलाती है और उस के बाद, यहां तक कि जो राष्ट्रीयकरण से बच गया था, उसमें उच्च आयों की टैक्स प्रणाली में रियायतों द्वारा और सहनशीलता में वृद्धि द्वारा, शायद, टैक्स-बचाऊ लाभों के प्रति असहाय दृष्टिकोण के कारण.....यह नीति न तो उद्योग के कर्णधारों, न धन लगाने वालों, न औद्योगिक मज़दूरों और न ही सामान्य जनता को संतुष्ट करती है।..........(यह) उस प्रेरणा और शक्ति को प्रदान करने में असफल रही है कि जो उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि के लिए आवश्यक थी।"

१४. उद्योग कानून, १९५१ (प्रगति और विधि) The Industries (Development Regulation) Act 1951। उद्योग को सुदृढ़ व्यवस्था में लाने के लिए सरकार ने अक्तूबर १९५१ में उद्योग प्रगति और नियंत्रण कानून (Industries Development Control Act) स्वीकार किया। इस के द्वारा सरकार को विस्तृत अधिकार दिये गए हैं, जिन के अधीन यह किसी भी उद्योग को हस्तगत कर सकती है अथवा नया शुरू कर सकती है, इस के साथ ही निजी साहसिक कार्य को केन्द्र की नीति विधि के अनुसार उद्योगों की प्रगति के लिए भी संभव बनाया गया है। इस के अधीन वर्तमान साहसिक कार्यो की रजिस्ट्री कराई जाय और नयों के लिए लाइसैंस लिये जाँय। लाइसैंस में निम्न बातों की शर्तें लगाई जा सकती हैं:—स्थान विषयक आकार के विषय में न्यूनतम स्तर, साधन और कला कौशल के विषय में। कानून के अधीन बनाये जाने वाले नियमों के अनुसार सरकार उद्योगों को निम्न बातों पर आचरण करने के लिए कह सकती है:—प्रगति को विस्तार देने के लिए, उत्पादन को विधिपूर्वक करने के लिए, विशिष्ट कच्चे पदार्थों के उपयोग के लिए, उत्पादन का परिमाण नियत कर सकती है, ऐसी रीतियों पर रोक लगाना, जिन से उत्पादन में न्यूनता की संभावना हो, निश्चित रूप में हिसाब-किताब रखना, परिणाम उपस्थित करना, इत्यादि। यह कानून सरकार को अधिकार देता है कि वह किसी भी औद्योगिक व्यवसाय के मामलों की जांच आरम्भ कर सकती है, जिस में या तो उत्पादन में ह्रास हो अथवा गुणविषयक गिरावट हो अथवा बुरा प्रबन्ध हो अथवा जब राष्ट्रीय साधनों की क्षति होती हो।

कानून में एक धारा रखी गयी है, जिस के अधीन ३० आदमियों की केन्द्रीय परामर्शदातृ समिति बनायी जायगी। इस में भिन्न आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व होगा और यह सरकार को उद्योगों के नियंत्रण और विधियों के विषय में परामर्श देगी। योजना कमीशन की सिफारिशों के आधार पर प्रत्येक महत्वपूर्ण उद्योग के लिए प्रगतिकारी समिति (Development Council) बनाई जायगी, जिसमें प्रबन्ध, श्रम और कुशल-कारीगरों (टैक्नीशियन) का प्रतिनिधित्व होगा, ताकि उद्योग की कार्य-कुशलता में प्रगति हो सके। इस के अधीन औद्योगिक उत्पादन पर उपकर लगाने का भी अधिकार दिया गया है, जो औद्योगिक अनुसंधान और कला-कौशल की शिक्षा में व्यय किया जायगा। सरकार किसी भी उद्योग से यह मांग कर सकती है कि वह कुशल-कारीगरों और श्रम को योग्यता-प्रदान के लिए सुविधाएं दे। इस कानून के अधीन किसी भी नियंत्रित उद्योग के विषय में सूचना अथवा आंकड़ों के लिए कहा जा सकता है।

डा. एस. पी. मुकर्जी ने देश के औद्योगिक विधानों में इस कानून को सीमा-चिह्न के नाम से उल्लेख किया था। उन्होंने कहा था कि देश में औद्योगिक प्रगति के लिए योजना के श्रीगणेश में यह रेखा चिह्न है। जो भी हो, व्यापारिक समाज ने इस कानून का स्वागत नहीं किया। भारतीय व्यापार मंडल ने इस की इन शब्दों में आलोचना की थी, "असामयिक और शीघ्रतापूर्वक बनाया गया।" इस में संदेह नहीं कि राज्य के नियंत्रण में दीर्घ-सूत्रता होती है, गति और कल्पना का अभाव होता है, किंतु, क्या भारत में औद्योगिकों की कार्य-कारिता इससे अच्छी है? जिस प्रकार मि. मारीसन ने अपने दल की कान्फ्रेंस में भाषण देते हुए कहा, "हम निजी साहसिक कार्यों को यह अनुभव कराना चाहते हैं कि उनका संभव औचित्य केवल यही है कि वह योग्य हैं, अर्थ-व्यवस्थित और वास्तव में साहसिक कार्यकर्त्ता हैं और कि वह वास्तव में ही समान भलाई के लिए कार्य करते हैं।......... निजी साहसिक कार्य,जो समाज-विरोधी आचरण करते हैं, शीघ्र ही निकाल फैंके जाँयगे।" भारतीय व्यापारी समाज के समाज-विरोधी आचरण के विषय में भारतीय जनमत परिचित हो चुका है। उनकी चेष्टा वस्तुओं के अधिक उत्पादन की नहीं, प्रत्युत अधिक-लाभों की है। उद्योग के योग्य प्रबन्ध और अपनी ईमानदारी से ही वह कानून को व्यर्थ बना सकते हैं। उन्हें ऊंची कीमतों के लिए खुले हाथों और समाज पर बेरोज़गारी लादने की स्वीकृति नहीं दी जा सकती।

यह सच है कि वर्तमान में भारत सरकार अपने को असहाय अनुभव करती है, क्योंकि उसके पास उद्योग का प्रबन्ध करने वाला योग्यता- प्त मंडल नहीं है। किंतु केवल रूस ही नहीं, यहाँ तक कि ग्रेट ब्रिटेन ने भी दिखा दिया है कि ऐसे जन-सेवकों की खोज करना कठिन नहीं, जो व्यापारिक प्रबन्ध की सफलता को भी प्रमाणित कर देंगे। जैसा

कि टॉसिग का कहना है, "जब कि जनरल जन्मजात होते हैं, कैपटन और कर्नल बनाये जा सकते है।"

जनता आशा करती है कि सरकार की आर्थिक नीति का यह परिणाम होना चाहिए कि भारत में न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था हो, जिसके अधीन जन-साधारण को सस्ता भोजन मिले और जीवन की अन्य अनिवार्यताएं अल्प मूल्य पर मिलें, मज़दूर को जीवन के लिए पगार और व्यवसायी को उसका सामान्य लाभ प्राप्त हो। इस नीति को हमारे मानव और प्राकृतिक साधनों का पूर्ण नियोजन का भी विश्वास दिलाना चाहिए ताकि व्यक्ति और राष्ट्र, दोनों ही समृद्धि को प्राप्त हों।

१५. उद्योग के विषय में राज्य सरकारों के काम। प्रत्येक राज्य में "उद्योगों का विभाग" है, जिसका कार्य राज्य में औद्योगिक प्रगति को उन्नत करना है। यह विभाग कला कौशल संबंधी योग्यता की शिक्षा प्रदान करते हैं और केवल विद्यमान उद्योगों से संबंधित औद्योगिक अनुसंधान ही नहीं करते प्रत्युत उनके विषय में भी, कि जिनको जन्म दिया जा सकता है। अधिकारी अवस्थाओं में यह आर्थिक सहायता भी प्रदान करते हैं। वह बिक्री-संबंधी संगठन को भी उन्नत करने का प्रयत्न करते हैं, और औद्योगिक सूचना के लिए सूचना विभाग का भी काम करते हैं। राज्य की आर्थिक अवस्थाओं को उन्नत करने की अपनी चेष्टाओं में वह अन्य लाभप्रद विभागों को आवश्यक सहयोग प्रदान करते है। उनके निम्न मुख्य कार्य हैं :—

१. औद्योगिक शिक्षा—भारत में शिक्षा की प्रणाली अत्यधिक साहित्यिक और शास्त्रीय है और वास्तविक जीवन के साथ इसका कोई संबंध नहीं बैठता। भारतीय औद्योगिक कमीशन ने सिफारिश की थी : दस्तकारी स्कूल स्थापित किये जाँय, कारखानों में प्रधान कर्मचारियों को योग्यता की शिक्षा दी जाय, और कुछ दशाओं में दस्तकारी स्कूलों के साथ वर्कशाप भी जुड़ी हों, उन नियोजकों को आर्थिक सहायता भी दी जाय, जो अपने कर्मचारियों को शिक्षा प्रदान करते हैं; और औद्योगिक दृष्टिकोण के साथ कारीगरों के लिए प्रायमरी स्कूल आरंभ किये जाँय। १९३६ में, इंग्लैंड से दो शिक्षा विशेषज्ञ, मि. एवट और मि. वुड भारत आये थे। उन्होंने निरीक्षण कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओं की शिक्षा पर ज़ोर दिया था : उन्होंने यह भी सिफारिश की थी कि एक ओर व्यापार और उद्योग, और दूसरी ओर शिक्षा-संस्थाओं के बीच सहयोग होना चाहिए। १९३७ में, वर्धा शिक्षा कांफ्रेंस ने डा. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई थी, जिसने शिल्प द्वारा बेसिक शिक्षा देने की सिफारिश की थी और इस प्रकार हमारी अत्यधिक शास्त्रीय शिक्षा के चरित्र में सुधार करने की चेष्टा की गई।

वर्तमान में, प्रत्येक राज्य में दस्तकारी संस्थाएं स्थापित हो चुकी हैं; जैसे लुधियाना (पंजाब) में हौज़री इंस्टीट्यूट, भागलपुर (बिहार) में सिल्क इंस्टीट्यूट; और गुलजारी बाग में घरेलू दस्तकारियों की संस्था। पंजाब में प्रत्येक जिले, अथवा औद्योगिक केन्द्र में

एक दस्तकारी स्कूल है, जहां दस्तकारी की शिक्षा के अतिरिक्त विशिष्ट दस्तकारी में, जो उस क्षेत्र में महत्व रखती है, विशेष शिक्षा दी जाती है। टाटा आइरन एंड स्टील कंपनी, जमशेदपुर जैसी बड़ी औद्योगिक फर्मों ने अपने निजी दस्तकारी स्कूल खोल दिये हैं।

किन्तु भारत में दस्तकारी शिक्षा की जो सुविधाएं हैं, उन्हें न तो परिमाण में और न ही प्रमाण रूप में पर्याप्त कहा जा सकता है। उद्योग की आवश्यकताओं और जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उसके बीच पारस्परिक संबंध बहुत थोड़ा है। जो लोग कारखाने के काम में निपुण हैं, उनमें शिक्षा का अभाव है और जो नौजवान दस्तकारी संस्थाओं में शिक्षित होते हैं, वह जब कारखानों में प्रवेश करते हैं, तो उन्हें कुछ मालूम नहीं होता। हमें टैक्नीकल स्कूलों की आवश्यकता है, जहां साधारण कार्यकर्ता शिक्षित किया जाय, जहां मुख्य कार्यकर्त्ता की शिक्षा के लिए उच्च टैक्नीकल शिक्षा का प्रबंध हो, और हमें व्यापारिक कालेजों की आवश्यकता है, जिनमें मैनेजरों को शिक्षा दी जा सके।

२. **औद्योगिक अनुसंधान**—भारतीय उद्योगों की प्रगति के लिए अनुसंधान के महत्व के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। हमने इस दिशा में द्विमुखी चेष्टाएं की हैं। प्रत्येक मुख्य उद्योग में जुदा अनुसंधान संगठन है। सब राज्यों के उद्योग विभागों ने भी अनुसंधान शालाएं स्थापित की हुई हैं। पंचम उद्योग कांफ्रेंस के विचारों के फलरूप १९३५ में औद्योगिक अनुसंधान ब्यूरो नाम से एक केन्द्रीय संस्था बनी थी। उसके साथ औद्योगिक अनुसंधान कौंसिल के नाम से एक सलाहकार समिति भी बनाई गई थी। यह संस्था औद्योगिक सूचना प्रदान करती है, अनुसंधान के कार्य में उद्योगों को सहयोग देती है और उद्योगों को लाभपूर्ण सूचना देने के लिए एक पत्रिका प्रकाशित करती है। गत युद्ध की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए भारत के सब औद्योगिक प्रसाधनों की तात्कालिक प्रगति की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। इसके फलरूप एक नई संस्था की नियुक्ति हुई थी, अर्थात् वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान का बोर्ड, जिसके साथ भारतीय प्रमुख उद्योगों के प्रतिनिधियों का सहयोग था। इसने बहुत-सा हितकर कार्य किया है और निर्माण विषयक कई नई धाराओं की तजवीज़ें कीं अर्थात् रासायनिक तेल, आदि। किन्तु औद्योगिक अनुसंधान पर हमारा इतना कम व्यय है कि उससे उद्योग की आवश्यकताएं पर्याप्त रूप में पूर्ण नहीं हो सकतीं। अमरीका में केवल निजी औद्योगिक अनुसंधान पर ३० करोड़ डालर खर्च होते हैं। अमरीका में अनुसंधान का संपूर्ण व्यय संपूर्ण राष्ट्रीय आय का १/६ बताया जाता है।

३. **औद्योगिक समाचार**—केन्द्रीय सरकार के अधीन व्यापारिक समाचार और आंकड़ों के विभाग के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य के उद्योग विभाग में समाचार की एक शाखा है, जो औद्योगिक समाचारों और सूचनाओं का संग्रह करती है। यदि कोई किसी उद्योग को शुरू करना चाहता है, तो उसे इस संगठन से मदद लेनी चाहिए। किन्तु, यदि यह किसी उपयोग का हो सकता है, तो सूचना संपूर्ण और वर्तमान तक होनी चाहिए। केवल विशेषज्ञों

की संस्था, जो निरन्तर कार्य करती रहे, इस प्रकार की सूचना दे सकती है। सामान्यतः औद्योगिकों का विचार है कि यह विभाग निश्चित उद्योग के लिए साधन संपन्न नहीं है।

४. आर्थिक तथा अन्य सहायता—(State Aid to Industries Acts) उद्योग को राज्य सहायता के कानून सब राज्यों में लागू है और ऋणों अथवा सहायता रूप में आर्थिक योग दिया जाता है। किन्तु इन उपायों से इच्छित परिणाम प्राप्त नहीं होते। डिपुओं और प्रदर्शिनियों की उपयोगिता से इंकारी नहीं हुआ जा सकता किन्तु उद्योगों की आवश्यकता के लिए यही सब कुछ नहीं है।

१६. राज्य अर्थ-व्यवस्था के कार्पोरेशन। दिसम्बर १९५१ में पालियामेंट में राज्य अर्थ-व्यवस्था कार्पोरेशन स्थापित करने के लिए एक कानून उपस्थित किया गया था। इसका उद्देश्य मध्य और लघु स्तर के उद्योगों को सहायता देना था। बिल के अधीन कार्पोरेशन् के साथ निजी पूंजी का साहचर्य हो सकता है। जनता के लिए अधिकतम हिस्सों की संख्या २५% नियत की गई है। शेष ७५% राज्य सरकारों, रिज़र्व बैंक, परिगणित बैंकों, बीमा कंपनियों, विनियोग ट्रस्टों, सहकारिता बैंकों तथा अन्य आर्थिक संगठनों द्वारा लिये जाँयगे। इसके द्वारा आवश्यक आर्थिक शृंखला संगठन की प्राप्ति हो जाती है। संपूर्ण हिस्सा पूंजी दो करोड रुपये से अधिक नहीं होगी। कार्पोरेशन रिज़र्व बैंक के परामर्श से प्रतिज्ञा-पत्रों और ऋण-पत्रों की बिक्री करके पूंजी को बढ़ा सकेगा। कार्पोरेशन को जनता की अमानतें स्वीकार करने का अधिकार होगा, जिनका भुगतान ५ वर्ष से पहले नहीं होगा और यह अमानतें कार्पोरेशन की चुकता पूंजी से अधिक नहीं होंगी। मूलधन को लौटाने और लाभांशों के दर की न्यूनतम प्रतिज्ञा की गई है। लाभों के वितरण पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। कार्पोरेशन दीर्घ-कालिक पेशगियां देगी और ऋण स्वीकार करेगी, जो २५ वर्षों के अन्तर्गत लौटाये जा सकेंगे। जो भी हो, यह भरोसा देना आवश्यक है कि यह कोष मुख्यतः छोटे उत्पादकों के हित के लिए उपयोग में लाये जाँयगे। यदि घरेलू दस्तकारियों को सहकारिता आधार पर संगठित किया जाय, तो यह आसानी से किया जा सकता है।

निःसंदेह, राज्य के विभाग बहुत लाभपूर्ण काम कर रहे हैं, किन्तु वह पर्याप्त नहीं हैं। उन्होंने अपने को केवल घरेलू दस्तकारियों की सहायता करने तक सीमित कर रखा है। उन्हें किन्हीं अवरोधों के कारण भी कष्ट होता है, जैसे रेल की दरों, मुद्रा, और विनिमय विषयक नीतियां और आयात-निर्यात कर तो उनके अधिकार से बाहर हैं। इन विषयों के संबंध में कोई भी विपरीत निर्णय राज्य सरकारों के सब यत्नों को रद्द कर सकता है।

केन्द्रीय सरकार भी, हाल ही के वर्षों में, भारतीय उद्योगों, विशेषकर घरेलू उद्योगों की प्रगति की ओर निरंतर अधिकाधिक ध्यान दे रही है। हम पहले ही देख चुके हैं कि १९३५ से कैसे वह हैंडलूम, रेशम और ऊनी घरेलू दस्तकारियों की प्रगति के लिए प्रति वर्ष आवर्त्तक (Recurring) अनुदान कर रही है। उसके औद्योगिक अनुसंधान

के अंशदान की भी हम चर्चा कर चुके हैं। निम्न की स्थापना से संबंधित अन्य उपाय भी उसने किये : भारतीय खांड कमेटी, भारतीय रूई कमेटी, भारतीय जूट कमेटी, कोयला प्रामाणिकरण समिति, रूई यातायात विधेयक की स्वीकृति, भारतीय चाय संवर्द्धन विधेय, श्रम कानून, रेल के किरायों में न्यूनता आदि।

भारत में राज्य का उचित रूप—राज्य को भारत में सक्रिय नीति का अनुकरण करना चाहिए और उदासीनता को तिलांजलि देनी चाहिए। अनेक भागों में हमारा औद्योगिक ढांचा दोषपूर्ण है। राज्य को ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करनी चाहिएं, जो उद्योग के विस्तार के लिए पर्याप्त रूप में सहायक हों, ताकि देश के आर्थिक प्रसाधनों का उत्तम उपयोग किया जा सके। सरकार के पास ऐसे व्यक्तियों का मंडल होना चाहिए, जो देश में उपलब्ध उत्तम औद्योगिक ज्ञान और अनुभव का प्रतिनिधित्व करने वाला हो, ताकि वह औद्योगिक व्यवसायों के लिए योग्य परामर्शदाता के रूप में कार्य कर सके। हमें ऐसा कर्म-कर-मंडल बनाना चाहिए, जो शीघ्रतापूर्वक, प्रभावपूर्ण ढंग से किन्तु सहानुभूति के रूप में कार्य कर सके। भारत में लोग परंपरा वश अपने कार्यकलापों के लिए सरकार के पथ-दर्शन और निर्देशन की ओर सदैव देखते हैं। हमारे देश की औद्योगिक उन्नति के लिए भिन्न उपायों को गतिशील करने के लिए हमारी सरकार चालक का कार्य करती है। जब तक सरकार नेतृत्व ग्रहण नहीं करेगी, और विदेशी प्रतिद्वन्द्विता के संकेत से औद्योगिक साहसिक कार्यों को सुरक्षित रखने के उचित क्षेत्र का भरोसा नहीं देगी, तब तक औद्योगिक भविष्य में विश्वास की भावना का आविर्भाव नहीं होगा। सरकार को वह औद्योगिक प्रगति शीघ्रगामी करने के लिए अनिवार्य परिस्थितियां उत्पन्न करनी चाहिएं, कि जिनके हम योग्य है, और जिनकी हमें घोर आवश्यकता है।

इक्कीसवाँ अध्याय

औद्योगिक श्रम

१. भारत में औद्योगिक श्रम का बढ़ता हुआ महत्त्व । भारत में पगार-उपार्जन करने वाले वर्ग का बहुत मंद उत्कर्ष हुआ है । कृषि की प्रभुता और भूमि के प्रति स्नेह, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली की विद्यमानता, और सफल औद्योगिक आचरण का अभाव—यह कुछेक कारण है, जिन्होंने भारत में औद्योगिक श्रम के उत्कर्ष में बाधा उत्पन्न की है । उपनिवेशों और खेती के लिए भारतीय श्रम की मांग ने कुछ श्रम-समस्याओं को उत्पन्न ज़रूर किया है, किन्तु यह प्रथम विश्व-युद्ध के बाद की बात है, जब कि भारतीय श्रम अपनी शक्ति और अपने अधिकारों के लिए सजग हुआ । अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रभाव ने भी इसी दिशा में उसे गतिशील किया । श्रम के विषय में शाही कमीशन की स्थापना और १९३७ में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के निर्माण ने, जिनका निश्चित दृष्टिकोण श्रम-सुधार था, हाल ही के वर्षों में श्रम के प्रति दिलचस्पी पैदा कर दी हैं । वर्तमान में भारतीय मजदूर अपने अधिकारों के लिए पूर्णतया जागरूक है और अब वह एक सुसंगठित शक्ति है ।

✓ **२. भारत में श्रम-योग्यता ।** आर्थिक जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति, उद्योग में भी मानव-अंश बहुत महत्वपूर्ण है । अत्यधिक सीमा तक, औद्योगिक उन्नति औद्योगिक श्रम की योग्यता पर निर्भर करती है । इस दिशा में भारत सुखद स्थिति में नहीं जान पड़ता । उत्पत्ति अथवा मशीन की प्रति इकाई में नियोजित संख्या को दृष्टि में रखकर भारतीय श्रम की सापेक्ष अयोग्यता को प्रकट करने के लिए कुछ लोगों ने यत्न किये हैं । यह उल्लेख किया गया है कि जापान में एक कारीगर २४० तकुओं की देखभाल करता है, इंग्लैंड में ५४० से ६०० तक, और अमरीका में ११२० , किन्तु भारत में केवल १८० । पुनः भारत में एक जुलाहा, कहा जाता है, दो लूमों पर काम करता है, इंग्लैंड में ४ से ६ तक, और अमरीका में ९ तक । औद्योगिक कमीशन के सामने सम्मति देते हुए सर अलैक्जेंडर मैक्राबर्ट ने कहा था कि अंग्रेज मज़दूर भारतीय मज़दूर की अपेक्षा ३·५ अथवा यहां तक कि चार गुना अधिक योग्य है । सर क्लीमैंट सिंपसन की परिगणना के अनुसार भारत में सूत की कताई और बुनाई की मिल के २·६६ मजदूर लंकाशायर के एक कारीगर के बराबर हैं ।

किन्तु इस प्रकार के विवरणों से भारतीय-श्रम की हीन दशा का कोई आभास नहीं होता । भारत में मशीन की प्रति इकाई पर अधिक कार्यकर्त्ता लगाये जाते हैं, क्योंकि श्रम सस्ता है और मशीनें महंगी । प्रति कार्यकर्त्ता की अल्प उत्पत्ति के बहुधा यह कारण होते

हैं : बुरा सामान, पुराने ढर्रे की मशीन, भद्दा नियन्त्रण और दोषपूर्ण प्रबन्ध। इसलिए, हम भारतीय श्रम की सापेक्ष योग्यता अथवा अयोग्यता के गणित संबंधी प्रयोजन को मान्यता नहीं दे सकते। किन्तु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि सब अंशों की छूट दे देने के बावजूद भी, यह वास्तविकता रह जाती है कि भारतीय मज़दूर अंग्रेज़ अथवा जापानी मज़दूर की तुलना में कम योग्य है। फलतः भारत में जहां पगार कम है, तहां श्रम महंगा है।

३. **अल्प योग्यता के कारण।** भारतीय मज़दूर की निम्नतर योग्यता के लिए अनेक अंश उत्तरदायी हैं, जिनमें से अधिकांश के लिए उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। क्षीण करने वाली भारतीय जल वायु, दुर्बल शरीर, निरक्षरता और टैक्नीकल शिक्षा का अभाव और नियन्त्रणहीन चरित्र को छोड़कर निम्न मुख्य अंश है, जो भारतीय कारखाने के श्रमिक की योग्यता को अल्पतर बनाते हैं :—

(१) **प्रवास का रूप**—पश्चिम के समान, जहां कारखानों की जनसंख्या स्थायी है, भारतीय मज़दूर अधिकांशतः ग्रामों के प्रवासी हैं। वह अभाव और अनेक सामाजिक अयोग्यताओं, अथवा ग्रामीण नैतिक-विधि के विरुद्ध अपराधों के लिए हुए जुर्मानों अथवा साहूकार से पिंड छुड़ाने के लिए ग्रामों को छोड़ते हैं। यह भी हो सकता है कि वह भूमि अथवा अन्य संपत्ति क्रय करने के लिए अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत करने की दृष्टि से ग्राम छोड़ते हों। भूमि पर अधिक दबाव, ग्राम दस्तकारियों का पतन, और नगरों में अच्छे अवसरों के कारण लोग ग्रामों को छोड़ कर कारखानों के क्षेत्रों में आते हैं।

किन्तु वह गांवों से स्थायी रूप से अपना संबंध विच्छेद नहीं कर लेते, क्योंकि, श्रम कमीशन के शब्दों में, धकेलने की शक्ति केवल एक ही छोर से आती है, अर्थात् गांव के छोर से। "उन्हें ढकेला जाता है और वह नगर की ओर खिचते नहीं।" नगर का अजीब-सा वातावरण, उसकी सफ़ाई की अवस्थाएं, जीवन का उच्च व्यय और संपूर्ण परिवार के लिए रोज़गार का अभाव उन्हें अपने परिवारों को ग्रामों में छोड़ने के लिए बाध्य करता है, जिनमें जल्दी अथवा देरी में उनके लौटने की इच्छा होती है।

यह प्रवासी रूप उनकी कार्यक्षमता को भी प्रभावित करता है। श्रमिक कृत्रिम शहरी-जीवन के अनुकूल नहीं हो पाता। अजीब-से वातावरण में उसका दम घुटने लगता है और वह अस्वस्थता और रोगों का शिकार बन जाता है। उसकी श्रांत देह और व्याकुल मन शराब और जुए में भीषण राहत अनुभव करते हैं। नियन्त्रण, कारखानों में घंटों काम करना, कि जिसका वह अभ्यस्त नहीं होता, गृह-विषयक उदासी और मानसिक दबाव—यह सब बातें उसकी योग्यता, और काम में उसकी दिलचस्पी पर विपरीत प्रभाव डालती हैं।

जो भी हो, इसी स्थिति का दूसरा पहलू भी है। ग्रामीण स्वस्थ शरीर के साथ कारखाने में आता है, और ग्रामीण तथा शहरी मिश्रण उसके दृष्टिकोण को विस्तृत

करता है। समयांतर गांव में जाने से उसे अच्छा और सस्ता अवकाश प्राप्त होता है, जिससे उसके स्वास्थ्य में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वह गांव में ज्ञान-विस्तार का साधन बनता है, और इस प्रकार वह अपने गांव के लोगों में मानसिक जाग्रति करता है और उनके दृष्टिकोण को उदार बनाता है। अस्वस्थता, हड़तालों और तालाबंदियों, वृद्धावस्था और ज़च्चा की दशा में गांव सुरक्षित और सुखद आश्रय प्रदान करते हैं। श्रम-कमीशन के अनुसार, इन सब कारणों से ग्राम के साथ संबंध बनाये रहना उसके लिए बहुमूल्य संपत्ति का रूप है। इसलिए, सार रूप में, भारतीय-श्रम का प्रवास का स्वरूप उसकी सापेक्ष अयोग्यता का कारण नही।

(२) **न्यून पगारें**—पोषक खुराक, उचित आवास की व्यवस्था और अन्य सुविधाओं पर ही मज़दूरी की योग्यता निर्भर करती है। किन्तु भारत में इतनी कम पगारें है कि यह सब बातें पूरी नही हो पातीं। भारत में श्रमिक को जो तुच्छ-सी रकम मिलती है, उससे यह आशा नही की जा सकती कि वह अपनी संपूर्ण शक्ति उसमें लगायगा, और इस प्रकार उसकी योग्यता में अनिवार्यतः न्यूनता होगी।

(३) **जीवन का निम्न-स्तर**—अल्प पगारों के ही कारण यह होता है कि भारतीय श्रमिक के जीवन का स्तर बहुत ही निम्न होगा। अपर्याप्त और असंतुलित खुराक, रहने के लिए गंदी-सी झोंपड़ी, शरीर को ढकने के लिए चिथड़े और अपूर्ण वस्त्र, स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा और मनोरंजन का सर्वथा अभाव उसके स्वास्थ्य और उसकी क्षमता को निश्चित प्रभावित करेंगे। यहां तक कि जेल के कैदियों से भी भारतीय श्रमिक की खुराक की तुलना नही की जा सकती। भारतीय मज़दूर की आय का बड़ा भाग ऋण, और घर आने-जाने के खर्चो में नष्ट हो जाता है और एक भाग जुए और शराबखोरी में समाप्त हो जाता है। इस प्रकार की तुच्छ-सी आय के द्वारा मज़दूर से यह आशा करना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है कि वह अपने जीवन-मान को उचित रूप में स्थिर रख सकेगा। उसकी कार्यक्षमता में अल्पता का होना, आश्चर्य का विषय नहीं।

(४) **लंबे घंटे और कारखाने की थकाने वाली अवस्थाएं**—एक श्रमिक, जिसे तपती गर्मियों अथवा घोर जाड़ों में तंग जगह के अन्दर प्रति दिन १० घंटे काम करना होता हो, जहां न तो अच्छी हवा-रोशनी होती है और न ही प्रबंधकों में सहानुभूति का अंश होता है, वहां अपना सर्वस्व क्योंकर लगा सकता है। यदि वह लाचारी में आराम और सुस्ताने के लिए इधर-उधर खोज करता है, जबकि उसकी उसे बेहद जरूरत होती है, तो उसे टाल-मटोल करने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उसके ग्राम के वातावरण के साथ कारखाने के वातावरण की तुलना नहीं हो सकती। स्वभावतः ही उसकी कार्य-क्षमता को आघात पहुंचेगा।

(५) **असंतोषप्रद मकान**—औद्योगिक अयोग्यता का एक अन्य कारण वह व्याकुल स्थिति है कि जिस में श्रमिकों को आवास दिया जाता है। श्रमिक-वर्ग की बस्ती का

प्रकट रूप यह होता है—अपर्याप्त स्थान, कमरे में अंधेरा और घुटी हवा और चारों ओर फैला हुआ कूड़ा-कचरा। जान पड़ता है कि अकेला कमरा देने का नियम है और उनमें से अधिकांश आदमी के रहने योग्य नहीं होते। कहा जाता है कि वह "जाड़ों में ठंडे, गर्मियों में गरम और बरसात में सीलन वाले" होते हैं।

कलकत्ते में अनेक जूट मिलें और बंबई में सूती-वस्त्र की मिलें अपने कार्य-कर्ताओं को पर्याप्त रूप में क्वार्टर देती हैं। किन्तु अधिकांश वस्त्र-श्रमिक अब भी असंतोषप्रद मकानों में रहते हैं। अन्य उद्योगों में अवस्थाएं कुछ अच्छी हैं। अधिकांश खांड की मिलों के कार्यकर्त्ताओं को मिलों के क्वार्टर में खुले वातावरण में रखा जाता है। झरिया और बिहार की कोयले की कारखानों के श्रमिकों को स्वीकृत आकार के शुद्ध क्वार्टर दिये जाते हैं। टाटा द्वारा जमशेदपुर में और एंप्रैस मिल द्वारा नागपुर में मज़दूरों की रिहायश का बहुत ही अच्छा प्रबन्ध है। टाटा ने श्रमिकों के लिए उद्यान नगर बनाया है और एंप्रैस मिल ने आदर्श गाव की स्थापना की है, जिसमें सब प्रकार की सुविधाएं दी गई है। दोनों ही अवस्थाओं में कार्यकर्त्ताओं को अपने मकान बनाने के लिए उदारतापूर्ण ऋण दिये जाते हैं, जिन्हें आसान किश्तों में लौटाया जा सकता है। इससे अधिक, कलकत्ता, बंबई, मदरास और कानपुर की नगरपालिकाओं ने सफ़ाई के कार्यक्रमों की ज़िम्मेदारी ले रखी है। बंबई सरकार ६२५ चौल (आवास गृह) बनाने का भीमकाय कार्य कर रही हैं, जिसमें ५० हज़ार किरायेदार रह सकेंगे। अनेक राज्य सरकारें गंदी गलियों को साफ़ करने के लिए मकान बनाने की योजनाओं पर विचार कर रही हैं। योजना कमीशन ने औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों के लिए प्रति वर्ष २५ हज़ार मकान बनाने की सिफारिश की है।

किन्तु मकान बनाने की समस्या बहुत बड़ी है, और सरलतापूर्वक और शीघ्रता-से इसके हल की आशा नहीं की जा सकती। प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में स्वास्थ्य विभाग की सूचनाओं में अब भी श्रमिक बस्तियों में कूड़े-कचरे, गंदगी और तंगी का दुखद उल्लेख होता है। इन अवस्थाओं में भारतीय श्रमिक में निम्न-स्तर की योग्यता होना स्वाभाविक ही है।

(६) **अनुपस्थित रहना**—भारतीय कारखानों में श्रमिकों की बहुत अलटा-पलटी होती है। यह देखा गया है एक एक मज़दूर एक मास में २·३ दिन का और वर्ष भर में ३·७ सप्ताहों का अवकाश ले लेता है। इसके कारण नियोजकों को व्यवसाय पर अति-रिक्त लागत से सुरक्षित श्रम अनिवार्यतः रखना पड़ता है।

(७) **ऋणग्रस्तता**—ऋणी होने के कारण मज़दूर की मानसिक दशा पर विपरीत प्रभाव होता है और उससे उसकी कार्यक्षमता में कमी होती है। ब्याज की सामान्य दर ७५ से १५०% तक की होती है। इसलिए, एक बार ऋणी हो जाने पर मज़दूर के लिए उससे छुटकारा पाना असंभव हो जाता है। मदरास में जांच करने पर पता चला था

कि आठ सौ में से तेरह को छोड़कर बाकी सब ६ मास की औसत पगारों के ऋणी थे।[१]

भारतीय श्रम की सापेक्ष अयोग्यता के लिए जो अन्य अंश जिम्मेदार हैं, वह इस प्रकार हैः—दोषपूर्ण और अनुभवहीन प्रबन्ध; रद्दी मशीनों और सामानों का उपयोग; और क्षीण श्रम संगठन। डा. वेरा एन्स्टे के शब्दों में, "जब यह मान लिया गया कि वह श्रमिक, जो इस प्रकार के असुविधापूर्ण, अस्वस्थकर और प्राण-नाशक वातावरण में रहने के लिए विवश होता है, जो निरक्षर, पुरातन पंथी और अशिक्षित है, क्या उससे आशा की जा सकती है—उसकी मानसिक योग्यताओं को संपूर्णतः देखे बिना ही—कि किसी भी पगार पर, भले ही वह कम हो, वह अपनी सेवाओं को वास्तविक रूप में सस्ता कर सकेगा ?"[२]

हाल ही के वर्षों में श्रमिकों के अंकित ह्रास के विषय में शिकायतें की गई हैं। टाटा आइरन एंड स्टील कंपनी के चेयरमैन ने १९४९ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में उल्लेख किया है कि प्रति श्रमिक की इस्पात की औसत उत्पत्ति १९३९-४० में २४·३६ टनों से १९४८-४९ में १६·३० टन की रह गई है। उन्होंने शिकायत की है कि कुछ विभागों में अधिकांश आदमी अपनी क्षमता के $\frac{1}{3}$ से लेकर $\frac{1}{2}$ तक काम कर रहे हैं। इस हाल ही के ह्रास के यह कारण हैं, (अ) विद्यमान ठेका-पगार की कठोरता, (ब) श्रम-आन्दोलन का बढ़ता हुआ ज़ोर और नियोजकों का श्रम के ऊपर क्षीणतर नियन्त्रण, (स) उच्च पगारों के फलरूप आराम की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, (द) प्रबन्धकों के पुराने तरीकों से श्रम का असंतोष, (ह) मजदूर-क्षेत्रों में प्रभावपूर्ण यत्नों द्वारा श्रम को कम करने की अपेक्षा "कार्य में हिस्से" की बढ़ती हुई भावना, और (फ) श्रम के लिए अधिक दबाव और कठोर नियन्त्रण के प्रति मजदूरों का विरोध।

योग्यता को उन्नत करने के लिए यह आवश्यक है कि मजदूर-सुधार के ठोस कार्यक्रम को अपनाया जाय। साधारण शिक्षा और टैक्नीकल शिक्षा अधिक प्रदान करने से, उचित स्तर तक पगारों के बढ़ाने से, कार्य के घंटों को कम करने से, रहने के बेहतर मकान देने से और कार्य की अवस्थाओं को अधिक उन्नत करने से श्रमिकों की कार्य-क्षमता पर निश्चित रूप से अनुकूल प्रभाव होकर रहेगा। किन्तु, सबसे बढ़कर, हमारे दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन की अत्यावश्यकता है। जब तक श्रमिकों में अरक्षा का भाव है और उसमें बेकारी का भय विद्यमान है, और जबतक वह महसूस करता है कि वह दूसरों के लिए काम कर रहा है, तब तक उसकी कार्य-क्षमता को संभव

---

१. Shiva Rao—The Industrial Worker in India, 1939, pp. 133-35.

२. Vera Anstey—Economic Development of India, 1936, p. 230.

लक्ष्य तक ऊंचा नहीं किया जा सकता, और वह कम-से-कम काम करेगा और अधिक-से-अधिक अपने काम में से लेना चाहेगा। दूसरी ओर उसे यह महसूस कराना चाहिए कि उसके कार्य से एक सामाजिक उद्देश्य पूर्ण होता है और उसे अरक्षा और बेकारी के भय से पूर्ण-रक्षा का वचन दिया जाना चाहिए। केवल इसी आधार पर श्रमिक की सच्ची नैतिकता को उन्नत किया जा सकता है।

४. मज़दूर सुधार का कार्य। "मज़दूर-सुधार" स्वतः सिद्ध वाक्य है। एशियाई देशों की कांफ्रेंस के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन की योजना के अन्तर्गत मजदूर-सुधारों की निम्न बातें निहित हैं: सुविधाओं और सुख-साधनों की क्षेत्र अथवा क्षेत्रों में स्थापना करना; इस बात की ज़िम्मेदारी लेना कि जिससे नियोजित व्यक्ति स्वास्थ्यकर और सुखकर वातावरणों में अपना कार्य करने योग्य हों; और अच्छे स्वास्थ्य और ऊँची नैतिकता के लिए सुख-साधनों को उपलब्ध करना। जून १९३७ में अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संगठन ने एक प्रस्ताव में इन सेवाओं को भी सम्मिलित किया था: पर्याप्त विश्रांति गृह, श्रांति और मनोरंजन की सुविधाएं, सफाई और चिकित्सा की सुविधाएं, काम पर जाने और आने के संवाहन के प्रबन्ध, और अपने घरों से दूर नियोजित श्रमिकों को आवास देना। यह स्वीकार किया गया है कि मज़दूर-सुधार का कार्य न केवल मानवीय आधारों पर ही किया जाना है, प्रत्युत आर्थिक कारणों से भी किया जाना है। इस प्रकार के कार्य का मज़दूर की कार्य-क्षमता पर निश्चित प्रभाव होता है।

भूतकाल में नवीनयुग के कुछ नियोजकों, व्हाई. एम. सी. ए. जैसी धार्मिक संस्थाओं, और बंबई सामाजिक सेवा संघ, भारत सेवक समिति, सेवा सदन सोसायटी आदि सामाजिक संस्थाओं ने मज़दूर-सुधार के कार्य को उन्नत करने में दिलचस्पी ली थी। मज़दूर-संगठन भी इस दिशा में बहुत दिलचस्पी ले रहा है।

हाल ही में, केन्द्रीय और राज्य सरकारें भी मज़दूर-सुधार के कार्य में संक्रिय भाग ले रही हैं। प्रवृत्ति यह है कि मजदूर-सुधार की अनेक मदों को फैक्ट्री एक्ट में डाल दिया जाय ताकि नियोजकों के सामने उसे केवल पूर्ण करने का ही मार्ग रह जाय। यह केवल द्वितीय विश्व-युद्ध की बात है, जब कि केन्द्रीय सरकार ने मज़दूर-सुधार के कार्य की ओर ध्यान दिया था। शस्त्र और बारूद के कारखानों में मज़दूर-सुधार की योजनाएं चालू की गई थीं। इनका उद्देश्य यह था कि श्रमिकों की नैतिकता को स्थिर रखा जाय। सरकारी ज़िम्मेदारियों में मज़दूर-सुधार कोषों का निर्माण किया जाय। १९४८-४९ में सरकार ने इन कोषों में एक लाख रु० की स्वीकृति से इस दिशा में अपना सहयोग प्रदान किया था।

मज़दूर-सुधार से संबंधित असली काम राज्य सरकारों द्वारा हो रहा है। बंबई सरकार ने मज़दूर-सुधार के डिप्टी कमिश्नर के अधीन भिन्न तरीकों के लगभग ५० सुधार-केन्द्रों की स्थापना कर रखी है। इस सर्वोत्तम उपाय में, भीतरी और बाहरी खेलों, क्रीड़ाओं तथा अन्य कार्य-कलापों की सुविधाएं देने के अतिरिक्त, एक मैदान है, जि-

व्याख्यान देने का मंच है और अभिनय-प्रदर्शन के लिए एक रंगमंच है। इन केन्द्रों में व्यायाम-शाला है और आदमी तथा स्त्रियों के लिए जुदा-जुदा फुव्वारा-स्नान का प्रबंध हैं। बच्चों के लिए भी आवश्यक साधनों के साथ खेलने के मैदान है। सुधार-केन्द्रों के अनेक और भिन्न कार्य-कलापों में कुछेक का यहां उल्लेख किया जा सकता है : सिनेमा प्रदर्शनों से मनोरंजन; जादू की लालटैन द्वारा भाषण; प्रदर्शिनियां, भीतरी खेल, बाहरी खेल, व्यायाम शालाएं, बच्चों के लिए खेल-मैदान, चिकित्सा-सहायता, वाचनालय, पुस्तकालय, पढ़ने के प्रबन्ध; औरतों और बच्चों के लिए विशेष प्रकार के कार्य, जैसे शिशु विद्यालय, सिलाई की श्रेणियां, भोज-समारोह, क्रीड़ा प्रतिद्वंद्विता आदि। मज़दूर-सुधार के कार्यकर्त्ताओं को शिक्षा देने के लिए एक विद्यालय भी शुरू किया गया है और उसमें उन्हें व्यापार संघों तथा नागरिकता की शिक्षा दी जायगी ताकि मज़दूर नेता मज़दूर के स्तर से उन्नत हो सकें। भिन्न औद्योगिक नगरों में साक्षरता सुधार समितियां स्थापित की गई हैं। वाचनालय और चलते-फिरते पुस्तकालयों की भी स्थापना की गई है।

अन्य राज्य सरकारें भी तत्सम आधारों पर कार्य कर रही हैं। बिहार सरकार ने दो मज़दूर-सुधार केन्द्र स्थापित किये हैं। एक कटिहार में और दूसरा जमशेदपुर में। राज्य में स्त्री मज़दूरों की देख-भाल करने के लिए एक स्त्री-सुधार अफ़सर नियत की गई है। मध्य प्रदेश की सरकार ने मज़दूर कार्यालय के साथ मज़दूर-सुधार विभाग स्थापित करने का निश्चय किया है ताकि मज़दूर-सुधार के कार्यालयों को संगठित और श्रृंखलाबद्ध किया जा सके। उत्तर प्रदेश में प्रायः सभी महत्वपूर्ण औद्योगिक नगरों में मज़दूर-सुधार केन्द्र स्थापित किये गए हैं। सामान्य मज़दूर सुधार के कार्यक्रमों के अतिरिक्त केन्द्र, संगीत मंडलियों का प्रबन्ध करते हैं, बच्चों और जच्चों के हितों के प्रबन्ध करते हैं, जिसमें रोगी और दुर्बल बच्चों और गर्भवती जननियों को मुफ़्त दूध देना सम्मिलित है, और चर्खा कातने की श्रेणियों का भी प्रबन्ध करते है। पश्चिमी बंगाल में भी सुधार केन्द्र स्थापित किये गए हैं, जिनके मुख्य उद्देश्य यह हैं: (अ) व्यापार संघों और मज़दूर समस्याओं के विषय में शिक्षा देना, (ब) वयस्कों और बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा के लिए सुविधाएं देना, (स) मनोरंजन के साधनों को जुटाना। चिकित्सा-सहायता के लिए खंडकाल डाक्टरों को नियत किया गया है। मदरास, हैदराबाद, ट्रावनकोर-कोचीन, मध्य भारत और सौराष्ट्र ने भी— सुधार-केन्द्र स्थापित किये हैं और इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त राशियों की मंजूरी दी है।

नई रोशनी के नियोजक भी स्वतः प्रेरणा से श्रमिक-सुधार की दिशा में यथासंभव कार्य कर रहे हैं। वह मानते हैं कि संतुष्ट श्रम-शक्ति एक बहुमूल्य संपत्ति है। फैक्ट्री कानून के अधीन नियोजक की यह ज़िम्मेदारी है कि वह खानों में चाय पानालयों, बच्चों की सुरक्षा ... नथा स्नानागारों का प्रबन्ध करे। नियोजित राज्य-बीमा की योजना लागू होने ...चिकित्सा-सहायता की ज़िम्मेदारी से मुक्ति मिल जायगी। ...में सभी वस्त्र-मिलों में अस्पताल जारी हैं। बच्चों की रक्षा के

साधन प्रदान किये गए हैं। अनाज के लिए सस्ती दुकानें है और चाय पानालय बने हुए हैं और कुछ मिलों ने भोजनालय जारी किये हुए है, जहां सस्ता खाना मिलता है। १९४८-४९ में, ५३ मिलों ने सहकारिता समितियां स्थापित की हुई थीं; जिनकी सदस्यता की संख्या ७६ हज़ार थी। लगभग ४० मिलें काम से मुक्ति (रिटायर) के समय अपने मज़दूरों को उपहार प्रदान करती थीं।

अहमदाबाद की मिलों में सामान्यतः अस्पतालों में एक प्रमाणित डाक्टर होता है। कई मिलें अपने श्रमिकों के बच्चों के लिए दूध, मछली का तेल, फल आदि बांटती हैं। कुछ मिलों ने अपने श्रमिकों के बच्चों के लिए किंडर गार्टन या मांटेसरी शिक्षा का प्रबन्ध कर रखा है।

विशेष उल्लेखनीय मज़दूर-सुधार का कार्य नागपुर की एंप्रैस मिल द्वारा हो रहा है। उसके यहां चिकित्सा के बहुत ही संतोषजनक प्रबन्ध हैं। औरतों और मर्दो के लिए जुदा-जुदा अस्पताल है। उसके श्रमिकों में सहकारिता-आन्दोलन बहुत ही लोकप्रिय है। १९४७-४८ में लगभग ६ हज़ार सदस्य थे और उन्होंने लगभग ६ लाख रुपये के ऋण लिये हुए थे। वह "एंप्रैस मिल्स पत्रिका" के नाम से हिंदी और मराठी में एक बुलेटिन भी प्रकाशित करती है और वह मज़दूरों में मुफ्त बांटी जाती है। इस पत्रिका में स्वास्थ्य, सफाई तथा अन्य हितकर लेख प्रकाशित होते हैं।

दिल्ली क्लाथ और जनरल मिल्स ने एक (एंप्लाईज बैनिफिट फंड ट्रस्ट) नियोजितों के हित के लिए कोष स्थापित किया हुआ है, जिसके प्रबन्ध में मज़दूरों का भी दखल है। वितरित लाभांशों की राशि का एक नियत प्रतिशत प्रतिवर्ष इस कोष में जमा किया जाता है और साथ ही न लिये गए पगारों तथा जुर्मानों को भी उसमें जमा कर दिया जाता है। यह ट्रस्ट स्वतः ही स्वास्थ्य बीमा की योजना, सहायता और वृद्धावस्था में पैंशन की योजनाओं, प्राविडेंट फंडों और कन्या विवाह के अवसर पर सहायता की योजनाओं का प्रबन्ध करता है। मज़दूरों को अनिवार्यताओं के समय अर्थात् लम्बी बीमारी, विशिष्ट उपचारों, दाहकर्म आदि के लिए विशेष आर्थिक सहायता दी जाती है। मिल का एक नियोजितों का बैंक भी है, जिसके ४ हज़ार से अधिक अमानतें जमा करने वाले हैं, ३० सितम्बर १९४९ को इन अमानतों की कुल राशि १३ लाख रुपये थी। मिल ने एक जीवन-बीमा कम्पनी भी अपनी चालू की हुई है, जिसमें मज़दूरों के सस्ती दरों पर बीमे किये जाते हैं। एक बढ़िया अस्पताल भी है, जिसमें ५० खाटें हैं, एक्स-रे का प्रबन्ध है, दांत ठीक करने की कुर्सी है, तथा वैज्ञानिक किरण-यंत्रों के प्रबन्ध हैं। मज़दूरों के बच्चों को ट्रस्ट की ओर से मुफ़्त शिक्षा दी जाती है। एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित होता है।

मदरास की बकिंघम और कर्नाटक मिलों में होने वाला कार्य भी उल्लेखनीय है। उनके यहां बढ़िया अस्पताल हैं और उन्होंने कई लेडी डाक्टर और हैल्थ विज़ीटर (प्रमाणित दाइयां) रखी हुई हैं। औरतों के लिए विशेष श्रेणियां जारी की हुई हैं, जिनमें

सफाई, शिशु पालन, खाद्य का मूल्य और रोगों से बचने के उपायों पर शिक्षा दी जाती है। औरतों के लिए सिलाई की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। मज़दूरों की लड़कियों को घरेलू विज्ञान, हाईजीन, सामान्य विज्ञान और दस्तकारियों की शिक्षा दी जाती है। मिल की ओर से एक सहकारिता समिति भी है। बंगलौर वूलन एंड कॉटन एंड सिल्क मिल्स तथा मदुरा मिल्स कम्पनी, मदरास भी इसी प्रकार के कार्य कर रही हैं।

नियोजकों के संगठनों में भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन ने मज़दूर-सुधार के कार्य की प्रत्यक्षतः ज़िम्मेदारी ली है। उसने अनेक सुधार केंद्र स्थापित किये हुए हैं, जिन में सुधार कार्यक्रम के सामान्य कार्यक्रमों के अनुसार कार्य होता है। यह अन्तर्मिल टूर्नामेंट का प्रबन्ध करती है। प्रत्येक केंद्र संगीत श्रेणियों और अभिनय समितियों का संगठन करता है। वाचनालय में समाचार-पत्रों तथा रेडियो का प्रबन्ध है। स्त्री-सुधार की भी एक संस्था है। छूत की बीमारियों के विरुद्ध टीके लगाने का नियमित प्रबन्ध है। इंजीनियरिंग उद्योग विषयक बड़ी फर्मों ने सुधार कार्य-कलापों की जिम्मेदारी ली है। इस प्रकार का कार्य कागज़ उद्योग, सीमेंट उद्योग, खानों तथा अन्य उद्योगों में हो रहा है। चाय तथा अन्य पौधों के उत्पादक भी इस दिशा में बहुत कुछ कार्य कर रहे हैं। उन के यहां उद्यान, अस्पताल और डिस्पैंसरी हैं। बच्चों और औरतों की विशेष देखभाल की जाती है।

रेलवे क्षेत्रों में भी अस्पतालों, डिस्पैंसरियों, एक्स-रे और टीके लगाने के विभाग हैं। उन्होंने अपने मजदूरों के बच्चों की शिक्षा के प्रबन्ध कर रखे हैं। सस्ती और अच्छी खुराक के लिए कैंटीन जारी किये हुए हैं। उनकी अनाज की दूकानें कर्मचारियों के जीवन-मान की लागत को ऊंचा होने से रोकती हैं।

मज़दूर संगठनों के सुधार-कार्यों में वस्त्र-श्रम एसोसियेशन, अहमदाबाद का कार्य विशेष रूप से प्रशंसनीय है।

५. टैकनीकल (कला-कौशल) शिक्षा। मज़दूर योग्यता को उन्नत करने के उपायों में से एक उपाय मजदूरों को टैकनीकल शिक्षा देने का है। इस दिशा में भारतीय मज़दूर की अच्छी स्थिति नहीं है। वह टैकनीकल शिक्षा द्वारा प्राप्त चतुराई की अपेक्षा आन्तरिक चतुराई पर अधिक निर्भर रहता है। टैकनीकल शिक्षा की विद्यमान सुविधाएँ न होने के बराबर हैं। राज्यों के औद्योगिक विभागों के दस्तकारी स्कूल हैं और विशेष ढंग की कुछ टैकनीकल संस्थाएं हैं। इस के अतिरिक्त, श्रम मंत्रालय ने तीन योजनाओं को चालू किया हुआ है। (१) भूतपूर्व सैनिकों के लिए टैकनीकल, व्यावसायिक और उम्मीदवारों को शिक्षित करने की योजनाएं; (२) पाकिस्तान से विस्थापित लोगों के लिए इसी प्रकार की योजनाएं; (३) सरकारी ट्रेनिंग शिविरों के लिए निर्देशकों की शिक्षा की योजनाएं। उम्मीदवारी योजनाओं में इंजीनियरिंग और भवन-व्यापारों तथा निजी उद्योगों से सम्बन्धित कारखानों में छोटे उद्योगों के लिए शिक्षा दी जाती है। जनवरी १९५० तक २५ हज़ार से अधिक शिक्षार्थी इन केंद्रों से शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं।

कहा जाता है कि शिक्षा पूर्णतया क्रियात्मक और योग्यतापूर्ण दी जाती है। भारत सरकार के कार्य सचिवालय तथा शिक्षा सचिवालय की क्रियात्मक शिक्षा की भिन्न योजनाएं हैं।

इन सब में एक उल्लेखनीय त्रुटि भी है। मुख्य कार्यकर्त्ताओं की शिक्षा की सुविधाएं नितान्त सीमित हैं और हमें मुख्य कार्यकर्त्ताओं के लिए विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। इस प्रकार के आदमियों की उच्च-शिक्षा के लिए उद्योगों और राज्यों के बीच सहयोग अनिवार्य है। राज्यों की सहायता से उद्योगों को पारस्परिक सहयोग से विशिष्ट टैकनीकल संस्थाओं की स्थापना करनी चाहिए। भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन ने कलकत्ता में टैक्नोलोजीकल इंस्टीट्यूट की स्थापना की है। अन्य उद्योगों को भी उसका अनुसरण करना चाहिए। हिजली (पश्चिमी बंगाल में) टैक्नोलोजी की उच्च-शिक्षा के लिए स्थापित की गई संस्था इस दिशा में सही कार्य है। इसके अनन्तर और भी अनेक बननी चाहिएं। यह संस्था अमरीका में टैक्नोलोजी की मैसाशूज़िस्टों की संस्था के आधार पर बनाई गई है।

६. श्रमिक कानून। नवीन औद्योगिक प्रणाली से पूर्व नियोजक किसी कानून की बाधा के बिना अपने मज़दूरों से मनचाहा काम लिया करते थे। फल यह होता था कि काम करने के घंटे बेहद लम्बे होते थे। श्रम का, विशेषकर औरतों और बच्चों का शोषण किया जाता था। कारखानों की अवस्थाएं अमानवी और असहनीय थीं। कारखाने में काम करते हुए चोट खाने पर, जो रक्षा-साधनों के बिना मशीनों के कारण लगती थी, मज़दूरों को कोई एवज़ाना नहीं मिलता था।

फैक्ट्री एक्ट (१८८१)—मज़दूरों की दयनीय दशाओं ने भारत के सार्वजनिक नेताओं के दिलों में सहानुभूति को जाग्रत किया। लंकाशायर के निर्माताओं ने भी भारत में फैक्ट्री कानून लागू करने के लिए दबाव डाला। क्योंकि उनका विचार था कि इस कानून के अभाव में भारतीय निर्माता लाभ में रहता है। १८७५ में, एक फैक्ट्री कमीशन नियत की गयी जिस के फलरूप फरवरी १८८१ में प्रथम फैक्ट्री एक्ट स्वीकार हुआ। इस एक्ट के अधीन बच्चों को सीमित रक्षा दी गयी। किंतु वयस्कों को यातना सहते रहना पड़ा। सात वर्ष की आयु से कम के बच्चों को नौकर नहीं रखा जा सकता था और उनके लिए काम के ९ घंटे नियत किये गए। इस एक्ट में प्रतिमास में ४ छुट्टियां तथा कार्यकाल में श्रांति के लिए समय रखने की गुंजायश थी। खतरनाक मशीनों पर रक्षा के लिए न तो रोक लगाने का आदेश था और न ही दुर्घटना की सूचना जारी करने की व्यवस्था थी। फैक्ट्री के उचित निरीक्षण के अभाव में यह एक्ट सर्वथा मृतक-पत्र के रूप में था।

फैक्ट्री एक्ट (१८९१)—स्वभावतः १८८१ के एक्ट ने न तो मज़दूरों को संतुष्ट किया था और न ही उन से सहानुभूति रखने वालों को। वयस्क मजदूरों को सूर्योदय से सूर्यास्त तक काम करना होता था, यहां तक कि रविवार को भी, और छुट्टी के दिनों में मशीनों की सफ़ाई की जाती थी। उन्हें खाने तक के लिए कोई समय नहीं दिया जाता था। १८९० में एक दूसरा फैक्ट्री कमीशन नियुक्त किया गया, और उस की सिफ़ारिश पर,

दूसरा फैक्ट्री एक्ट १८९१ में स्वीकार हुआ। इस एक्ट के अनुसार बच्चों को नियोजित करने के लिए न्यूनतम आयु ९ वर्ष नियत की गयी और ९ से १४ वर्ष तक की आयु वालों के लिए काम के सात घंटे कर दिये गए। कोई भी औरत ८ बजे रात से लेकर प्रातः ५ बजे के बीच काम नहीं कर सकती थी और उन के लिए काम के अधिकतम ११ घंटे नियत किये गए, जिस में १॥ घंटे का अन्तर दिया जाता था। अन्य धाराओं में आध घंटे का प्रतिदिन अनिवार्य अवकाश और सप्ताह में एक दिन की छुट्टी रखी गयी थी। यह एक्ट उन फैक्ट्रियों पर लागू होता था, जिनमें पचास मजदूर काम करते हों, जब कि पहले एक्ट में एक सौ की संख्या थी, और प्रान्तीय सरकारों को अधिकार दिया गया था कि वह घोषणा-पत्र द्वारा २० मजदूरों वाले कारखाने पर भी उसे लागू कर सकती हैं।

फैक्ट्री एक्ट (१९११)—आगामी बीस बरसों में फैक्ट्री विधान की दिशा में कोई अग्रगामी कार्य नहीं हुआ। १९०६ में, फ़्रियर स्मिथ कमेटी और १९०७ में, एक फैक्ट्री कमीशन ने कार्यकारी अवस्थाओं की जांच की और उन्होंने पूर्व-फैक्ट्री कानूनों को हटाने की सिफारिश की। इसके फलस्वरूप १९११ में एक फैक्ट्री एक्ट स्वीकार किया गया। इस की मुख्य धाराएं यह थीं:—आदमियों के लिए अधिकतम १२ घंटे और बच्चों के लिए ६ घंटे, सुरक्षा और स्वास्थ्य के लिए नियम बनाये गए और निरीक्षणों को प्रभावशाली बनाने के लिए कानून को भंग करने वालों को जुर्माना करने का अधिकार दिया गया।

फैक्ट्री एक्ट (१९२२)—प्रथम विश्व-युद्ध ने मजदूरों में जागरूकता पैदा कर दी थी और उन्हें अपने महत्व और संगठन का ज्ञान हो गया था। कार्य के घंटों में कमी करने की मांग पर जोर दिया जा रहा था। फलतः, १९२२ में फैक्ट्री एक्ट में संशोधन हुआ।

यह एक्ट उन फैक्ट्रियों पर लागू हुआ, जिन में २० मज़दूर काम करते थे, १२ वर्ष से कम के बच्चों को काम पर लगाने की रोक लगा दी गई, १२ और १५ वर्ष की आयु के बीच के बच्चों के लिए ६ घंटे का दिन नियत किया गया, और ४ घंटे के काम के बाद १॥ घंटे का विश्राम नियत किया गया। इसके द्वारा वयस्क मज़दूरों के लिए ६० घंटे प्रति सप्ताह और ११ प्रतिदिन के नियत किये गए। औरतों को शाम को सात बजे से प्रातः ५-३० के बीच काम करने की मनाही थी। इसमें विश्राम की छुट्टी और एक सप्ताह में एक दिन की छुट्टी के विषय में अनिवार्यता की धारा रखी गयी थी। इस के अतिरिक्त स्वास्थ्य, और रक्षा तथा मज़दूरों के स्वास्थ्य के हित में कृत्रिम उपायों पर नियंत्रण की धाराएं भी रखी गयी थीं।

१९२३, १९२६ और १९३१ के कानूनों द्वारा छोटे-मोटे संशोधन किये गए।

फैक्ट्री एक्ट (१९३४)—फैक्ट्री कानूनों की कार्यकारिता ने अपनी त्रुटियों को प्रकट कर दिया था और मजदूर नेताओं तथा समाज सुधारकों ने आन्दोलन किया कि भारत में फैक्ट्री कानूनों को उन्नति-प्राप्त देशों के समान बनाया जाना चाहिए। १९२९ में, श्रम के विषय में शाही कमीशन को नियत किया गया था। कमीशन ने भारत की विभिन्न

श्रम-विषयक समस्याओं की विस्तृत जांच की। उस की सिफारिशों के फलस्वरूप वैधानिक उपायों का एक समूह उत्पन्न हुआ। १९३४ के भारतीय फैक्ट्री एक्ट द्वारा फैक्ट्री विधान में सुधार किया गया। इस एक्ट के अनुसार १२ और १५ वर्ष की आयु के बीच के बच्चे पांच घंटे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं कर सकते थे और १२ तथा १७ वर्ष की अ-वयस्क आयु के बीच के मज़दूरों को योग्यता का प्रमाण-पत्र लेना होता था। वयस्क मज़दूरों के लिए काम के घंटों की संख्या प्रतिदिन दस अथवा ५४ घंटे प्रति सप्ताह नियत की गयी थी। सप्ताह में एक दिन की छुट्टी और ६ घंटे निरन्तर काम करने के बाद श्रांति की भी धारा रखी गयी थी। मौसमी कारखानों को ११ घंटे प्रतिदिन अथवा ६० घंटे प्रति सप्ताह की मंजूरी दी गयी थी। मज़दूरों के आराम के लिए कारखानों को ठंडक के उपाय करने के लिए कहा जा सकता था। उन्हें पानी की पर्याप्त पूर्ति का प्रबन्ध करना होता था, आराम के लिए आश्रय देना होता था, बच्चों और औरतों के लिए उपयुक्त कमरों का प्रबन्ध करना होता था और प्रथम चिकित्सा का पूर्ण सामान रखना होता था। एक्ट द्वारा ओवरटाईम (अतिरिक्त समय) को भी सीमित किया गया था और उस के लिए अतिरिक्त भुगतान का आदेश किया गया था। उसमें फैक्ट्री के ढांचे की सुरक्षा की भी धारा रखी गयी थी। छूट देने के विषय में प्रान्तीय सरकारों के अधिकारों पर भी सीमाएं लगायी गयीं थीं। मार्च १९४६ में एक संशोधन एक्ट पास किया गया था, जिसमें काम के घंटों की संख्या कम कर के मौसमी के लिए ५४ और बारहमासियों के लिए ३८ कर दी गयी थी।

फैक्ट्री एक्ट (१९४८)—१९४८ में फैक्ट्री एक्ट की स्वीकृति से १९३४ के फैक्ट्री एक्ट में विस्तृत संशोधन कर दिया गया। १९३४ के एक्ट ने अनेक महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार राज्य-सरकारों को दे दिया था। सब प्रकार की न्यूनतम आवश्यकताएं, विशेष रूप से स्वास्थ्य, और सुरक्षा से सम्बन्धित, अब स्वत: एक्ट में सम्मिलित कर दी गयी हैं। कानून में यह भी गुंजायश की गयी है कि नई फैक्ट्रियों की दशा में प्रति मज़दूर को काम करने के लिए ५००० क्यूबिक फुट जगह मिलनी चाहिए और पीने के पानी और भोजन के लिए कमरे तथा मज़दूर की शारीरिक सुविधा के प्रबन्ध होने चाहिएँ। जिस कारखाने में २५० या अधिक मज़दूर काम करते हों, वहां एक कैंटीन होनी चाहिए।

फैक्ट्रियों को रजिस्ट्री करवाने तथा लाइसैंस प्राप्ति की अनिवार्यता की धारा रखी गयी है। किसी फैक्ट्री को निर्माण करने और बढ़ाने के विषय में पूर्व-स्वीकृति लेनी होती है।

ओवरटाईम की दैनिक और तिमाही सीमाएं नियत कर दी गई हैं और वार्षिक छुट्टी की सवेतन सीमा १० दिन प्रतिवर्ष की अपेक्षा वयस्क के लिए प्रत्येक २० दिन पर एक दिन की और बच्चे की दशा में प्रत्येक १८ दिनों पर एक दिन की कर दी गई है। मौसमी और बारहमासी फैक्ट्रियों के अन्तर को हटा दिया गया है। सप्ताह में अधिकतम

घंटों की संख्या ४८ कर दी गई है। जिस फैक्ट्री में में ५०० या अधिक मज़दूर हों, उसे एक मज़दूर-सुधार अफसर की भी नियुक्ति करनी होगी।

चौदहवां साल पूरा किये बिना कोई बच्चा फैक्ट्री में नौकर नहीं हो सकता था। १४ और १५ के बीच की आयु वाले बच्चे समझे जाते थे। बच्चों के काम के घंटे ४॥ कर दिये गए थे और वार्षिक डाक्टरी जांच होती थी।

एक्ट को भंग करने की दशा में मज़दूरों पर भी जुर्माने रखे गए थे। जाने-बूझे मशीनों को खराब करने पर उन्हें कैद किया जा सकता था। उगालदान के सिवा अन्यत्र थूकने पर जुर्माना किया जा सकता था। बिजली से चलने वाले कारखानों में १० मज़दूरों के होने पर और अन्यथा २० की दशा में यह कानून लागू होता था। राज्य सरकारें इन शर्तों के बिना भी किसी फैक्ट्री पर उसे लागू कर सकती हैं।

७. खानों के लिए वैधानिक उपाय। खानों के लिए अलग कानून बनाये गए थे। १९०१ में पहला कानून पास हुआ था और इस में केवल सुरक्षा और निरीक्षण की धाराएं थीं, किंतु काम के घंटों का कोई उल्लेख न था। १९२३ के एक्ट ने भूमि के ऊपर काम करने वालों के लिए ६० घंटे और नीचे वालों के लिए ५४ घंटे प्रति सप्ताह नियत किये थे। प्रतिदिन के घंटों का इसमें भी जिक्र नहीं था और १९२८ के एक्ट ने अधिकतम १२ घंटे नियत कर दिये।

१९३१ में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर कान्फ्रेंस के स्वीकृत प्रारूप कन्वेंशन और श्रम कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप १९३५ में भारतीय खनिज (संशोधन) कानून स्वीकार हुआ। इस के अनुसार कोई भी व्यक्ति खानों में सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नहीं कर सकता। भूमि के ऊपर के मज़दूरों के लिए साप्ताहिक ५४ घंटे अथवा १० दिन, और नीचे वालों के लिए ९ घंटे प्रतिदिन नियत किये गए। इस में सात दिन से अधिक गैरहाज़िरी विषयक दुर्घटनाओं का उल्लेख करने को कहा गया है। औरतें धरती के नीचे काम नहीं कर सकतीं।

दिसम्बर १९४९ के खनिज कानून ने पूर्व के वैधानिक उपायों में आमूल सुधार कर दिये हैं। इस कानून के अधीन भूमि पर अथवा भूमि के नीचे के मज़दूरों के लिए ४८ घंटे नियत किये गए हैं और कोई भी मज़दूर भूमि के ऊपर ९ घंटे प्रतिदिन और नीचे ८ घंटे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं कर सकता। भूमि के ऊपर के मज़दूरों को डचोढ़ा और नीचे के मज़दूरों को दोगुना (उनकी सामान्य दर के हिसाब से) ओवरटाईम नियत किया गया है। भूमि के तल में प्रथम चिकित्सा उपलब्ध की जायगी। सफाई और सुरक्षा के निश्चित प्रबन्ध किये जाँयगे। किसी रोग के फैलने की दशा में मालिक या मैनेजर को तत्काल सूचना देनी होगी। युवा-लड़कों को योग्यता का प्रमाण-पत्र जारी करने और प्रमाणित सर्जन नियत करने की धारा भी रखी गई है।

अगस्त १९४८ में कोयले की खानों के मज़दूरों को प्राविडेंट फंड देने का कानून पास किया गया। मज़दूरों के वेतन के आधार पर एक आना रुपया मालिक को देना होगा और उतना ही मज़दूर को वेतन में से कटाना होगा।

८. **श्रम-विषयक अन्य कानून**। ऊपर लिखित कानूनों के अतिरिक्त श्रम विषयक अन्य अनेक कानून हैं, जिन में से नीचे लिखे उल्लेखनीय हैं:—

पगारों के भुगतान का एक्ट, १९३६—यद्यपि यह रेलों तथा अन्य फैक्ट्रियों पर लागू होता है तथापि यह ट्रामों, पत्थरों की खानों, भीतरी जहाज़ों और चाय-बागों आदि पर भी लागू हो सकता है। अधिकतम अवधि एक मास रखी गयी है। एक हज़ार से कम मज़दूरों वाले कारखानों को पिछली पगार के आखिरी दिन के बाद सातवें दिन की समाप्ति से पहले पगारें देनी होंगी और १००० से अधिक वालों को दसवें दिन से पहले। नौकरी की समाप्ति की दशा में दूसरे दिन की समाप्ति से पूर्व सारा शुल्क चुका देना होगा। मज़दूरों की पगारों में निम्न कारणों से कटौती की जा सकती है: वस्तुओं की क्षति अथवा हानि के लिए हुआ जुर्माना। रहने की जगह का किराया; पेशगियों की वसूली, आय-कर, प्राविडैंट फंड के लिए कटौती, डाकखाने का बीमा, सहकारिता के दातव्य, अदालत की किसी आज्ञा से। निर्माण काल में किसी सामान की हानि के कारण कटौती की आज्ञा नहीं। एक रुपये पीछे दो पैसे से अधिक जुर्माना नहीं किया जा सकता और जुर्मानों की राशियों को मज़दूरों के हितों में ही खर्च करना होता है।

मज़दूरों का हर्जाना एक्ट—मृत्यु की दुर्घटना के कारण संघातक दुर्घटना एक्ट १८८५ (Fatal Accidents Act) के अधीन १९२३ तक एक मालिक के विरुद्ध मुकदमा चलाया जा सकता था। किंतु वह कानून मृत-पत्र के रूप में था। १९३३ में पहला हर्जाना एक्ट पास हुआ। इस के अधीन काम करते हुए और काम करने के समय में दुर्घटना के कारण मज़दूर को हर्जाना मिल सकता है। १९२३, १९२९, १९३१ और १९३३ में इस एक्ट में संशोधन हुए। घातक दुर्घटना के कारण हर्जाने की राशि मासिक पगार की औसत पर निर्भर करती है और चोट लगने की दशा में मासिक पगार और चोट की किस्म के आधार पर हर्जाना मिलता है। १० रुपये से कम पाने वालों को मृत्यु की दशा में ५०० रु. हर्जाना मिलता है, स्थायी अयोग्यता के कारण ७०० रु. और अस्थायी अयोग्यता की दशा में प्रतिमास ड्योढ़ी पगार मिलती है। जब मासिक पगार ५० और ६० के बीच हो तो क्रमशः १८००, २५२० और १५ रु. मासिक मिलते हैं। २०० से अधिक कमाने वालों को ४०००, ५००० और ३० रु. (मासिक) हर्जाना मिलता है। छोटों की मृत्यु की दशा में २०० रु., स्थायी अयोग्यता की दशा में १२ सौ रुपये और अस्थायी अयोग्यता में प्रतिमास आधी पगार। आश्रितों के हितों की रक्षा के लिए घातक दुर्घटनाओं की सूचना कमिश्नर को दी जाती है और हर्जाने की रकम उस के यहां जमा कर दी जाती है। मालिक के हर्जाने की रकम न जमा कराने पर वारिसों को तदनुसार सूचना दे दी जाती है।

जच्चालाभ बैधानिक उपाय—१९२४ में श्री एन. एम. जोशी ने जच्चा लाभ कानून उपस्थित किया था, जिसे भारतीय विधान सभा ने रद्द कर दिया था। ५साल के बाद बम्बई सरकार ने जच्चा लाभ कानून पास कर दिया, और१९३५ में उसमें संशोधन हुआ। इस प्रकार के कानून वर्तमान में सभी राज्यों में लागू हैं और वह चाय-बागों तथा खानों पर भी लागू है। इन कानूनों के अनुसार निश्चित अवधि से पहले और शिशु-जन्म के बाद तक के लिए अनिवार्य रूप में विश्राम और नकदी का लाभ देना होता है, और उसका परिमाण नियोजित की ६ से १२ मास की सेवाओं के अनुपात से किया जाता है। इस नकदी लाभ के काल में वह अन्यत्र नौकरी नहीं कर सकती।

बागीचों के श्रमिकों के कानून—१९०१ में आसाम मजदूर और प्रवासी एक्ट स्वीकार हुआ। इसके द्वारा आसाम में मज़दूरों को भर्ती किया जाता था और उन्हें नौकरी के प्रतिज्ञा-पत्र भरने होते थे और ठेका पूरा न करने की दशा में मज़दूर दंड का भागी होता था। इस से एक प्रकार की दास-प्रथा का आभास होता था और आत्म-सम्मान रखने वाले भारतीयों के लिए यह कांटे की तरह खटकता था। १९१५ में प्रतिज्ञा-पत्र का सिद्धांत वापिस ले लिया गया और १९२७ में ठेका भंग करने के दंड भी समाप्त हो गए। श्रम पर शाही कमीशन की सिफारिशों के अनुसार १९३२ में चाय ज़िला प्रवासी कानून (Tea District Emigrant Labour Act) पास किया गया। इस का उद्देश्य चाय-बागों में प्रवास करने वालों के हितों की रक्षा करना था। प्रवासियों को, इस कानून के अधीन, तीन वर्ष की नौकरी के बाद मालिक के खर्च पर अथवा एक ही वर्ष में, बशर्ते कि वह काम उस के योग्य साबित न हुआ हो,अथवा किसी अन्य संतोषजनक कारण से वापिस लौटने का अधिकार था। १६ वर्ष से कम के बच्चों को संरक्षक के साथ के बिना और ब्याहता औरतों को बिना पति के भरती नहीं किया जा सकता था। १९५१ के बागीचा श्रम एक्ट द्वारा मज़दूरों को पीने के पानी, चिकित्सा, शिक्षा, कैंटीन और बच्चों के लिए कोठरी देने की सुविधाएं दी गयीं। इस के अनुसार काम के घंटे और साप्ताहिक छुट्टियां भी नियत की गयीं।

९· **नियोजितों का राज्य बीमा।** १९४८ में भारतीय पार्लियामेंट ने नियोजितों का राज्य-बीमा कानून पास किया और १९५१ में संशोधन हुआ। यह कानून उन कारखानों पर लागू हुआ था, जिनमें २० या अधिक व्यक्ति काम करते हों और जिनमें बिजली का उपयोग होता हो। इन कारखानों को बीमारी जच्चा, अयोग्यता और आश्रितों के लाभ मजदूरों को देने होते हैं। सरकार को औद्योगिक, व्यापारिक, कृषिविषयक तथा अन्य व्यवसायों पर भी इसे लागू करने का अधिकार दिया गया है। इस कानून से २५ लाख श्रमिक प्रभावित होंगे, यद्यपि शुरू में इसे दिल्ली और कानपुर में ही लागू किया गया है और उस से केवल डेढ़ लाख मजदूर प्रभावित होते हैं। जिन नियोजितों का पारिश्रमिक ४०० रु. है, वह उस से प्रभावित नहीं होते।

इस योजना के अधीन रोग का लाभ लेने के लिए मज़दूर को कम-से-कम ६ मास तक उसमें अंश-दान करना होगा, तभी वह अगले ६ मासों में उसका लाभ ले सकेगा। मजदूरों के अंशदान की न्यूनतम संख्या १२ नियत की गई है। यह अंशदान केवल काम करने के दिनों का ही नहीं होगा, प्रत्युत स्वीकृत छुट्टियों तथा हड़तालों तथा तालाबन्दियों के सप्ताहों में भी देना होगा। नियोजित का अंश-दान उसकी प्राप्य पगार में से सापेक्ष अवधि के अनु-सार लिया जा सकेगा।

जच्चा-लाभों के लिए भी अंशदान की संख्या १२ ही है। एक रु. तक प्रतिदिन कमाने वालों को अंशदान की छूट है। एक से डेढ़ रु. कमाने वालों को २ आने प्रतिसप्ताह देने होंगे। इस से बड़ी पगारों को लिए चार आने से सवा रु. प्रति सप्ताह देना होगा। जच्चा लाभ १२ आने प्रतिदिन की दर से अथवा रोगी-लाभ की दर से, जो भी दोनों में अधिक हो, दिया जायगा। १२ सप्ताह तक यह प्रतिदिन दिया जायगा, जो जनन-काल से ६ सप्ताह से पूर्व चालू नहीं हो सकता।

नियोजित काल में चोट के कारण अयोग्यों को पेंशन के रूप में लाभ दिये जाँयगे और इसी प्रकार मृतक के आश्रित को भी पेंशन दी जायगी। स्थायी अयोग्य मज़दूरों को उनकी साप्ताहिक पगार की ७/१२ की दर से पेंशन दी जायगी।

डाक्टरी चिकित्सा के विषय में धारा रखी गयी है कि यदि राज्य सरकार अथवा कार्पोरेशन के पास अतिरिक्त धन होगा तो वह बीमा हुए मजदूरों के अतिरिक्त उन के परिवारों की चिकित्सा का भी प्रबन्ध करेगी। रोगी-लाभ की अधिकतम अवधि वर्ष में आठ सप्ताह रखी गयी है और साप्ताहिक लाभ मज़दूर के उपार्जन का ७/१२ अंश के लगभग होगा। किंतु अवस्था सुधरने पर कार्पोरेशन को लाभ की अवधि बढ़ाने के अधिकार का उपयोग करने के लिए कहा जा सकता है।

आशा की जाती है कि राज्य सरकारें चिकित्सा और देखभाल की लागतों का एक तिहाई भाग दे सकेंगी। आशा की जाती है कि इस प्रकार प्रति मज़दूर के पीछे ६ रु. खर्च आयगा जब कि इस समय ६ आना है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ५ वर्षों के लिए प्रबन्धविषयक खर्चों का २/३ अंश अनुदान रूप में देगी।

इस योजना का प्रबन्ध एक कार्पोरेशन करेगी, जिसका नाम एंप्लाईज़ स्टेट इंशुरेंस कार्पोरेशन (नियोजित राज्य बीमा कार्पोरेशन) होगा। इस के अध्यक्ष श्रम-सचिव और उपाध्यक्ष स्वास्थ्य सचिव होंगे। नियोजित और नियोजकों के कार्पोरेशन में ५-५ सदस्य होंगे।

इस एक्ट के अधीन दिल्ली और कानपुर में अग्रणी योजना चालू करने के समय नियोजकों ने इस आधार पर विरोध किया कि उन्हें हानि होगी। तदनुसार सितम्बर १९५१ में एक्ट में संशोधन हुआ और सम्पूर्ण देश के नियोजकों पर लागू करने का प्रस्ताव किया गया। २७ जनवरी, १९५२ को यह कानून लागू कर दिया गया। कानपुर और दिल्ली के नियोजक अपनी पगारों के सम्पूर्ण योग का १¼% देंगे और अन्यत्र के नियोजक ¾% देंगे।

१०. अनिवार्य प्राविडेंट फंड । १९५१ में, एक घोषणा द्वारा कतिपय विशिष्ट औद्योगिक व्यवसायों में अनिवार्य प्राविडेंट फड लागू किया गया । प्रत्येक नियोजक को प्रत्येक नौकर की पगार और महंगाई भत्ते की दातव्य राशि का ६१/४% देना होगा और इसी प्रकार का अंशदान नियोजित द्वारा होगा । किंतु कोष के प्रबन्ध की दिशा में केवल नियोजक को ही अंशदान करना होगा ।

११. कानूनी न्यूनतम पगार । कभी-कभी यह युक्तियां दी जाती हैं कि पगारों की वृद्धि शराब पीने तथा अन्य बुराइयों में खर्च हो जायगी अथवा मज़दूर पहले से ज़्यादा अनुपस्थित रहेगा अथवा जनसंख्या की वृद्धि उस वृद्धि को शून्य कर देगी । इस के अतिरिक्त ऊँची पगारें देश के उद्योगों के लिए असह्य होंगी और वह विदेशी प्रतिद्वंद्विता का मुकाबला नहीं कर सकेंगी । यह तर्क तनिक-सी जांच का सामना नहीं कर सकते । निःसंदेह, एका-एक अधिक उपार्जनों के फलस्वरूप कुछ व्यर्थ के खर्च होंगे । किंतु यदि यह वृद्धि स्थिर रखी गयी और धीरे-धीरे यदि यह होती रही तो ऐसी बुराइयां स्वतः मिट जायँगी । इस से जीवन का मान ऊपर होगा और उसे बनाये रहने के लिए जनसंख्या को भी स्थिर रखेगा । जन-संख्या और पगारों की दुहाई देकर उसे नष्ट नहीं किया जा सकता । यह कहना कि पगारों की वृद्धि से अनुपस्थितता बढ़ेगी, यह तो मज़दूर की मानसिक स्थिति को ग़लत समझना है । जहां तक सम्बन्ध उद्योग की सहने की क्षमता का है, उस के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि उनकी सहने की शक्ति मजदूरों का शोषण करके ही रह सकती है, तो अच्छा है कि वह बन्द ही हो जाँय । मज़दूर के क्षीण कंधों पर उद्योग को खड़ा करना अमानवी है और राष्ट्रीय हितों के विपरीत है । पगारों की वृद्धि की सभी आपत्तियों का सफ़ाया हो जाना चाहिए ।

सभी प्रगतिशील देशों में मान लिया गया है कि जीवन का निम्नतम मान बनाये रहना अत्यावश्यक है । इस प्रकार न्यूनतम पगार नियत करने की दिशा में प्रबन्ध हो गये हैं, विशेषकर रक्त-पसीना एक कर देने वाले उद्योगों के लिए कि जहां के मज़दूर अत्यधिक असहाय दशा में हैं । १९२८ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कांफ्रेंस ने इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकार किया था । श्रम पर शाही कमीशन ने भी भारत में न्यूनतम पगारें नियत करने के प्रबन्धों के विषय में सिफारिश की थीं ।

न्यूनतम पगार कानून (१९४८)—चिरकाल से इस सुधार की प्रतीक्षा थी । १९४८ में न्यूनतम पगार कानून पास हुआ और उसके अनुसार कतिपय चुने हुए उद्योगों और व्यापारों में न्यूनतम पगारें नियत कर दी गई । यह इस प्रकार के व्यापार हैं, जिनमें मज़दूरों का शोषण किया जाता है, इनमें चाय बागीचे, चावल की मिलें अथवा तेल की मिलें, चमड़ा रंगाई-बनाई के कारखाने, मोटर यातायात, सड़कें बनाना, और भवन निर्माण के कार्य भी सम्मिलित हैं । इस कानून का उद्देश्य ऐसे मज़दूरों को निम्नतम जीवन-उपार्जन प्राप्ति कराने का है कि जहां मज़दूर संगठनों की व्यवस्था नहीं और जहां

वह सौदा कर सकने में शक्तिहीन हैं। इस कानून की इच्छा उन आदमी, और औरतों, बच्चों और युवकों की रक्षा करने की है, जो घरों और कारखानों में काम करते हैं । उचित संगठन के अभाव में क्लर्कों तक को भी इस में सम्मिलित कर लिया गया है।

जो भी हो, इस कानून का क्षेत्र बहुत सीमित है। इस में बान बनाने, बान के टाट बनाने वालों, फर्नीचर बनाने वालों, मिट्टी के बासन बनाने वालों, चूड़ियां बनाने वालों को छोड़ दिया है। इन उद्योगों के मज़दूरों को अल्प पगारें दी जाती है और यह काम भी गाढ़े पसीने के हैं। जूट, रुई बेलने और गांठें बांधने, रेशम निर्माण, और कोयले की खानों की दशा भी अच्छी नहीं, किंतु इस एक्ट में उनका भी ज़िक्र नहीं किया गया। फिर भी, सरकार को अधिकार दिया गया है कि वह तीन मास की सूचना देकर उद्योगों की सूची में वृद्धि कर सकेगी। उद्योगों की सूची बनाने की अपेक्षा यह अच्छा होता कि इसे सभी असंगठित और अव्यवस्थित मजदूरों पर लागू कर दिया जाता।

दूसरे वर्ग में कृषि के मज़दूरों को रखा गया है। नियोजकों और नियोजितों, दोनों की अज्ञानता और पगारें देने में एकरूपता के अभाव और नियोजन के विचित्र स्वरूप के कारण न्यूनतम पगार का वैधानिक उपाय कठिन-सा जान पड़ता है। योजना कमीशन की विशेषज्ञ कमेटी ने सिफ़ारिश की है कि ग्रामीण क्षेत्रों में न्यूनतम पगार योजना को सीमित क्षेत्र तक रखा जाना चाहिए अर्थात् अल्पतम पगारों के क्षेत्र तक ही ।

इस कानून में अन्य भीषण त्रुटि यह है कि जिस उद्योग में कम से कम १००० मज़दूर नहीं होंगे वहां राज्य सरकार न्यूनतम पगार नियत नहीं कर सकेगी। भिन्न राज्यों में ऐसे अनेक उद्योग हैं, जिन में १००० से कम आदमी काम करते है। इस प्रकार अनेक लघुस्तर के और अव्यवस्थित उद्योगों को छोड़ दिया गया है।

न्यूनतम पगार नियत करने वाली मशीनरी की कानून में संतोषजनक व्यवस्था नहीं की गयी। इस के लिए एक स्थायी समिति होनी चाहिए थी अथवा प्रत्येक उद्योग की एक कमेटी होती, जो पगारें नियत करने तथा निरीक्षण का कार्य करती रहती। एक्ट में सरकार को अधिकार दिया गया है कि वह इस कमेटी में नियोजकों और नियोजितों के समान प्रतिनिधि मनोनीत कर सकती है। किंतु सही प्रतिनिधित्व के लिए सम्बन्धित दलों को अपनी सिफारिशें भेजने का अधिकार होना चाहिए।

इस एक्ट में न्यूनतम पगार की व्यवस्था नहीं की गयी है। कोचीन प्रदेश में जिस कानून का प्रस्ताव पास किया गया है उसमें इस की इस प्रकार व्याख्या की गई है, "जिस पगार से ३ बच्चों, पत्नी और स्वतः नियोजित का औसत स्वास्थ्य, बल और योग्यता बनी रहे तथा उन्हें उचित मान की सुख सुविधाएं प्राप्त हो सकें और जो नियोजितों की प्रचलित जीवन अवस्थाओं से मेल खाता हो..................।" इस एक्ट में केवल इतना ही कहा गया है कि राज्य द्वारा नियत की गयी न्यूनतम पगार में मूल दर और भत्ता सम्मिलित हो सकता है। अनेक राज्यों में १९४८ के न्यूनतम पगार एक्ट के अधीन

कार्य हो रहा है। पश्चिमी बंगाल में आटे की मिलों, सड़कें बनाना, भवन निर्माण, तम्बाकू निर्माण, सार्वजनिक मोटर यातायात, और सिन्कोना बागों में न्यूनतम पगारें नियत कर दी गई है। उत्तर प्रदेश में नगरपालिकाओं के नियोजितों की न्यूनतम पगारें नियत कर दी गई हैं और उड़ीसा में कृषि कार्यों के लिए भी।

१२. **न्यायपूर्ण पगारें**। सरकार और श्रम-प्रतिनिधि कुछ समय से न्यायपूर्ण पगारें नियत करने के प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। १९४७ में औद्योगिक संधि कान्फ्रेंस के फलस्वरूप इस प्रश्न की जांच करने के लिए न्यायपूर्ण पगार कमेटी नियत की गयी थी। कमेटी की सिफारिशों के आधार पर जून १९५० में मन्त्रिमंडल ने (फेयर वेजिज़ बिल) न्यायपूर्ण पगार कानून को अन्तिम रूप दिया। १९५१ तक वह स्थगित रहा। इस प्रस्तावित कानून में व्याख्या की गयी थी, "न्यूनतम पगार की अपेक्षा कुछ अधिक किंतु जीवन की पगार की अपेक्षा कुछ कम।" न्यूनतम पगार का अर्थ यह है कि श्रमिक की योग्यता को बनाये रहने के लिए केवल जीने भर को देना। और जीवन की पगार के अर्थ हैं कि केवल जीने के अतिरिक्त, कुछ तो स्वास्थ्य को बनाये रहना और युक्तिपूर्ण ढंग से जीवन का शिष्ट मान बनाये रहना। न्यायपूर्ण पगार कुछ-कुछ दोनों के बीच की है।

न्यायपूर्ण पगार का स्तर नियत करना निम्न बातों पर निर्भर करता है: राष्ट्रीय आय, उद्योग की उत्पादन शक्ति, पगारों की चालू दर और श्रम की कार्यक्षमता। न्यायपूर्ण पगारों का निश्चय करने के लिए कानून में एक बोर्ड बनाने के लिए कहा गया है। इस उद्देश्य के लिए बोर्ड इन बातों को दृष्टि में रखेगा: कार्य के लिए आवश्यक कार्य-कुशलता, कार्य के कारण दबाव और थकावट का परिमाण, श्रमिक की शिक्षा और अनुभव, उत्तर-दायित्व की सीमा, कार्य करने के लिए शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएं, कार्य विषयक अड़चनें और कार्य में खतरे की सीमा। बोर्ड को पूंजी पर उचित लाभ, प्रबन्धकों को पारिश्रमिक, सुरक्षित और अवमूल्यन कोषों के लिए उचित राशि देने की ओर भी ध्यान देना चाहिए ताकि उद्योग का आर्थिक आधार स्थिर बना रह सके। न्यायपूर्ण पगार नियत करने में इन बातों को सम्मिलित किया जा सकता है: पगार की आधारमूलक दर और उचित दर पर जीवन की लागत का भत्ता।

जो भी हो, पगार नीति में यह बात दृष्टि में रखना परमावश्यक है कि जहां तक संभव हो, अधिक-से-अधिक रोज़गार का प्रबन्ध हो। ऐसा करने से अधिकतम संख्या को अधिकतम प्रसन्नता होगी। न्यायपूर्ण पगार मानवता का ही लक्ष्य नहीं प्रत्युत आर्थिक अनिवार्यता भी है। किंतु इसका विश्वास दिलाना भी आवश्यक है कि इस से समाज की आय पर विपरीत प्रभाव नहीं होगा। इस के साथ ही, यदि पूर्ण रोज़गार के लक्ष्य को स्वीकार कर लिया जाना है, तो यह आवश्यक है कि सुदृढ़ पगार नीति के साथ तटकर, मुद्रा विषयक और मूल्य विषयक नीतियां मेल खायें।

एकाएक वर्तमान में पगारें बढ़ाने से देश की आर्थिक स्थिरता को धक्का लगेगा।

१५. झगड़ों की रोक और समझौते के लिए वैधानिक उपाय। १९२९ में पुनः आम हड़ताल हुई, जो ६ मास तक रही। औद्योगिक झगड़ों की दृष्टि से १९२८ और १९२९ के वर्ष बहुत बुरे थे। इन अकेले दोनों वर्षों में चार करोड़ ३८ लाख कार्यकारी दिनों की क्षति हुई जब कि आगामी सात वर्षों में ४ करोड़ ७४ लाख कार्यकारी दिनों की क्षति हुई थी। १९३० और १९३३ के बीच मज़दूर मुहासरे पर सापेक्ष शांति रही। विस्तृत बेकारी और महान् मंदी के कारण मज़दूर हड़तालें करने के लिए पर्याप्त रूप में शक्ति-संपन्न नहीं थे।

१९३९–४८ के दस वर्षों में औद्योगिक संघर्षों के विभिन्न अंगों का निम्न तालिका से आभास हो जाता है :—

वर्ष	संघर्षों की संख्या	मज़दूरों की प्रभावित संख्या	मानव-दिनों की क्षति की संख्या	संघर्षों के कारण					सफल संघर्ष
				पगारें	बोनस	व्यक्तियों	छुट्टी और घंटे	अन्य	
१९३९	४०६	४०९,१८९	४,९९२,७९५	२३२	२	७४	१२	८६	६३
१९४०	३२२	४५२,५३९	७,५७७,२८१	२०२	९	५४	१०	४७	८६
१९४१	३५९	२९१,०५४	३,३३०,५०३	२१८	९	५५	१५	६२	७५
१९४२	६९४	७७२,६५३	५,७७९,९६५	३५९	७९	६३	७	१८६	११७
१९४३	७१६	५२५,०८८	२,३४२,२८७	३४२	५५	५३	१४	२५२	१३८
१९४४	६५८	५५०,०१५	३,४४७,३०६	३७२	५०	८२	३५	११८	११९
१९४५	८२०	७४७,५३०	४,०५४,४९९	३५६	११०	१४५	५६	१४७	१३४
१९४६	१६२९	१,९६१,९४८	१२,७१७,७६२	६०४	७९	२८०	१३०	५३४	२७८
१९४७	१८११	१,८४०,७८४	१६,५६२,६६६	५७४	१९५	३४९	९४	५८२	३१०
१९४८	१२५९	१,०५९,१२०	७,८३७,१७३	३८३	११२	३६३	११०	२७९	२३४
१९४९	९२०	६८५,४५७	६,६००,५९५	२७७	५२	२१७	८४	२३५	११२
१९५०	८१४	—	१२,८०६,७०४	—	—	—	—	—	—

व्यापारिक संघर्ष कानून (१९२९)—औद्योगिक संघर्षों का निपटारा करने के लिए १९२९ में व्यापार संघर्ष कानून स्वीकार हुआ। इस एक्ट के अधीन रेलों अथवा केन्द्रीय सरकार के अधीन विभागों में झगड़ा अथवा झगड़े की संभावना को भारत सरकार द्वारा नियत समझौता बोर्ड अथवा जांच की अदालत में उपस्थित किया जा सकता था और प्रान्तीय सरकारों द्वारा उस दशा में, जबकि वह विभाग उनके अधीन आते हों। जांच की अदालत का निर्माण एक स्वतन्त्र अध्यक्ष तथा अन्य स्वतन्त्र व्यक्तियों अथवा केवल एक स्वतन्त्र व्यक्ति द्वारा होना था। समझौता बोर्ड का निर्माण एक स्वतन्त्र अध्यक्ष और दोनों दलों के दो अथवा चार उनके द्वारा मनोनीत समान प्रतिनिधियों की सदस्यता द्वारा

होना था। बोर्ड झगड़े का निपटारा करने की चेष्टा करता था। जो भी हो, इन संस्थाओं का निर्णय दोनों दलों के लिए बाध्य नहीं था।

सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं, डाक और तार, रेल, ट्रामवे अथवा पानी और बिजली की पूर्ति के उत्तरदायित्वों के संबंध में, विशेष धाराएं रखी गई थीं। इन सेवाओं के कार्यकर्त्ताओं के लिए १४ दिन का नोटिस दिये बिना हड़ताल करना दण्डनीय अपराध ठहराया गया था। इस कानून के अधीन संघर्ष का समझौता कराने के लिए समझौता अधिकारी नियत करने की धारा रखी गई थी। जिन हड़तालों और तालाबंदियों से समाज को सामान्यतः घोर कठिनाई में पड़ना होता था, उन्हें कानून विरुद्ध करार दिया गया था।

बंबई व्यापारिक संघर्ष समझौता कानून (१९३४)—बम्बई श्रम-विभाग की जांच के फलरूप १९३४ में बंबई व्यापारिक संघर्ष समझौता कानून पास किया गया। इसके अधीन वस्त्र व्यवसाय की मिलों में एक श्रम अधिकारी (Labour Officer) नियत करने का आदेश था, जिसका कार्य मज़दूरों के कष्टों का प्रतिनिधित्व करना था और उन का समाधान करना था। एक श्रम कमिश्नर की नियुक्ति की भी धारा थी, जिसे श्रम-अधिकारी के असफल हो जाने की दशा में मुख्य समझौता कराने वाले का कार्य करना होता था।

किन्तु प्रान्तीय स्वायत्तशासन की स्थापना से औद्योगिक संघर्षों की बाढ़-सी आ गई। लोकप्रिय मंत्रिमंडलों के आने से मज़दूरों को आशा हो गई कि उनके सारे संकट दूर हो जाँयगे, चाहे वह वास्तविक है अथवा काल्पनिक। १९३७-३८ के तीन वर्षों में ११८४ संघर्ष हुए जब कि १९३० तक सात वर्षों में १०३९ हुए थे।

बंबई औद्योगिक संघर्ष कानून (१९३८)—१९३८ में बंबई औद्योगिक संघर्ष कानून लागू किया गया। इस एक्ट के अधीन हड़तालें और तालाबंदियां तब तक कानून-विरुद्ध समझी जातीं, जब तक समझौता और मध्यस्थता के संपूर्ण साधनों का उपयोग न कर लिया गया हो। संघर्ष होने से पहले समझौते की चेष्टा की जानी चाहिए, उसके बाद नहीं। इस कानून में एक औद्योगिक अदालत की स्थापना की धारा रखी गई है, जिसका अध्यक्ष हाई कोर्ट का एक जज होगा। यह अदालत संघर्ष से संबंधित मामलों की मध्यस्थता करती है और इस कानून की कार्यकारिता से उत्पन्न हुई अपीलों के विषय में अंतिम फैसले देती है और समझौतों तथा निर्णयों का समाधान करती है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरंभ होने के बाद अनेक हड़तालें हुईं। मज़दूरों ने युद्ध के असाधारण लाभों में हिस्से की मांग की। युद्ध-विषयक यत्न प्रभावित न हों, इसके लिए हड़तालों और तालाबंदियों को रोकने के लिए कोई साधन-निर्माण की अनिवार्यता अनुभव की गई। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए, जनवरी १९४२ में नियम ८१–ए. के भारत-रक्षा नियमों को लागू किया गया। इस नियम के अधीन केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों को हड़तालें और तालाबंदियाँ रोकने की आज्ञा जारी करने का अधिकार दियाँ

गया। नियोजकों को नियोजितों से संबंधित कतिपय अवस्थाओं का पालन करने के लिए कहा गया और संघर्षो के विषय में समझौता अथवा निराकरण के लिए सरकार को सूचना देने का आदेश किया गया।

औद्योगिक संघर्ष (१९४७)—अगला चरण १९४७ में औद्योगिक संघर्ष कानून स्वीकार करना था। इसमें संघर्षो का निपटारा करने के अनेक उपाय दिये गए थे। प्रांतीय सरकारों द्वारा समझौता अधिकारी नियत करने की धारा थी। समझौता अधिकारी के असफल रहने की दशा में समझौता बोर्ड नियत करने की धारा थी, जिसके लिए एक स्वतंत्र अध्यक्ष और दो या चार सदस्य नियत किये जा सकते थे। एक जांच अदालत भी नियत की जा सकती थी, जिसे नियत समय के अंदर संघर्ष विषयक आवश्यक तथ्यों का संग्रह करना होता था; इस कानून में मध्यस्थता का सिद्धान्त अनिवार्य था। एक राज्य सरकार संघर्ष को ट्रिब्यूनल को सौंप सकती थी और उसके निर्णय को आंशिक अथवा संपूर्ण रूप में लागू कर सकती थी। समझौता अथवा मामलों की विचाराधीन जांच के समय हड़ताल या तालाबंदी की मनाही थी। सब आधारमूलक और अनिवार्य उद्योगों में हड़ताल करने के विषय में कड़ी पाबंदियां थीं। कानून विरुद्ध हड़तालों के लिए कड़े दंड नियत थे। राजनीतिक और सहानुभूति में की गई हड़तालों की भी मनाही थी। इस कानून के अनुसार औद्योगिक व्यवसायों में १०० या अधिक व्यक्तियों की कमेटियाँ बनानी होती थीं, जिनका काम प्रबंध और नौकरों के बीच के मत-भेदों को दूर करना था।

१९४८ का वर्ष औद्योगिक संबंधों के विषय में बहुत ही घटनापूर्ण रहा। इससे पूर्व कभी भी मज़दूरों की अवस्थाओं को सुधारने की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया। श्रम और पूंजी के पारस्परिक संबंधों को सुदृढ बनाने के लिए निश्चित् उपाय किये गए। दिल्ली में १५ दिसंबर १९४७ को केन्द्रीय सरकार की अध्यक्षता में नियोजकों और नियोजितों के प्रतिनिधियों के बीच एक औद्योगिक संधि समझौता हुआ। इस संधि को ३ वर्ष तक श्रम और पूंजी को पालन करने के लिए कहा गया। मई, १९४८ में इसे लागू करने के लिए राज्य-श्रम-सचिवों की कांफ्रेंस हुई। इस कांफ्रेंस में निश्चय किया गया कि केन्द्र और राज्यों में त्रिखंडी परामर्श कमेटियां बनाई जाँय और संपूर्ण संधि-यंत्र की धुरी के रूप में केन्द्रीय परामर्श कमेटी उनके साथ हो। न्यायपूर्ण पगारों और पूंजी पर उचित लाभ का निश्चय करने के लिए विशेषज्ञ कमेटी बनाने का निर्णय किया गया। १० वर्ष में १० लाख मकान बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार के निर्णय को क्रियात्मक रूप देने के लिए एक भवन-निर्माण बोर्ड बनाया गया। श्रम सचिवालय की ओर से स्थापित ट्रेनिंग केन्द्रों और रोज़गार दिलाने के दफ़्तरों को स्थायी बना दिया गया।

पूंजी पर उचित लाभों की विशेषज्ञ कमेटी ने सिफारिश की कि आय-कर के आधार पर अवमूल्यन की स्वीकृति के बाद और उसके बाद शुद्ध लाभ के १०% को सुरक्षा कोष में रखकर नियोजित पूंजी पर ६ प्रतिशत को पूंजी का उचित लाभ समझना

चाहिए (अर्थात् व्यापारिक उद्देश्य के लिए सब सुरक्षा कोषों सहित चुकता पूंजी)। इसके आधिक्य में से ५० प्रतिशत को श्रम में बांटना चाहिए और ५० प्रतिशत लाभांशों की वृद्धि में जाना चाहिए।

औद्योगिक संधि प्रस्ताव के अनुसार भिन्न राज्यों में कार्यकारी कमेटियां स्थापित की गई। इसके फलरूप पूंजी और श्रम के संबंधों में ठोस उन्नति हुई। फलस्वरूप मानव-दिनों की क्षति में न्यूनता हो गई : १९४७—१,३८०,०००; १९४८—६५३,०००; १९४९—५४१,०००। १९४९ में संघर्षों की संख्या ९२० थी, जबकि १९४८ में १२५९ थी। १९५० में संघर्षों की संख्या ८१४ थी।

१६. मज़दूर संबंध कानून, १९५१। जान पड़ता है कि १९४७ का औद्योगिक संघर्ष कानून औद्योगिक संबंधों को उन्नत करने में सफल नहीं हुआ। फलतः इस दिशा में दृढ़तर वैधानिक उपाय करने का निश्चय किया गया और सब राज्यों में श्रम-विषयक कानूनों के सिद्धान्तों की समानता को दृष्टि में रखा गया। इन लक्ष्यों के फलरूप १९५१ में औद्योगिक संबंध कानून पास हुआ। अन्य बातों के अतिरिक्त कानून में निम्न अधिकारी बनाने की धारा रखी गई : रजिस्ट्री करने वाले अधिकारी, कार्यकारी कमेटियां, समझौता अधिकारी, जांच की कमीशनें, और महंतशाही की अदालतें। कुछ क्षेत्रों में संदेह प्रकट किया गया है कि दीवानी अदालतों के मुकाबले में ऐसी मिली-जुली अदालतों को बनाने का क्या गुण था। प्रायः दीवानी अदालतों में निर्णय के लिए बहुत लंबा समय लग जाता है और कानून में साहसी वकीलों को अवसर देने की धारा तो रखी ही गई है।

औद्योगिक अदालत के निर्णय को संबंधित सरकार रद्द भी कर सकती है और उसमें सुधार भी कर सकती है। संभव है, यहां राजनीति का प्रवेश हो जाय। इस प्रकार सरकार का हस्तक्षेप इन अदालतों के सम्मान को निम्न कर देगा।

कानून-विरुद्ध हड़तालों अथवा तालाबंदियों को उकसाना भी फौजदारी अपराध ठहराया गया है। इससे संभव है, समाचार-पत्रों और सदिच्छा रखने वाले बाहरी लोगों को कष्ट में पड़ना हो। नियोजक और नियोजितों द्वारा कानून की धाराओं को भंग करने पर दण्ड नियत किये गए हैं। जो कर्मचारी कानून-विरुद्ध हड़ताल में भाग लेगा उसकी पगार, छुट्टियां, बोनस और नियोजक द्वारा उसके प्राविडेंट फंड में अंश-दान ज़ब्त कर लिया जायगा। कानून-विरुद्ध तालाबंदी की दशा में नियोजक को सामान्य नियोजन के लाभों का दोहरा अधिकार होगा।

यदि ट्रेड यूनियन समझौते की शर्तों का पालन करने में असफल रहती है, तो उसकी स्वीकृति वापिस ले ली जायगी। निरन्तर काम में लगे हुए किसी भी कर्मचारी को अपने स्पष्टीकरण का अवसर दिये बिना बर्खास्त नहीं किया जा सकता, किन्तु अतिरिक्त कर्मचारियों को एक मास का नोटिस देकर हटाया जा सकता है। जिस दशा में नियोजक

निर्णय को लागू करने में असफल रहेगा, उस हालत में सरकार को अधिकार दिया गया है कि वह सब प्रकार के वचनों और हानि और लाभों पर भी नियन्त्रण करे।

यद्यपि कानून मज़दूर के हड़ताल के अधिकार को मानता है तथापि उसका उद्देश्य यह है कि संघर्ष के विषय में विचाराधीन काल में कानून-विरुद्ध हड़तालों और तालाबंदियों को रोका जा सके। सहानुभूति में हड़तालें करना और धीरे काम करो की नीति को कानून-विरुद्ध ठहराया गया है। सार्वजनिक उपयोगिता में भी हड़ताल को कानून-विरुद्ध करार दिया गया है और सार्वजनिक उपयोगिता की बहुत विस्तृत व्याख्या की गई है। इस प्रकार हड़ताल के अधिकार को बहुत सीमित रखा गया है और इसी के कारण ट्रेड यूनियनें इसे मान्य नहीं समझतीं।

मज़दूरों को हड़ताल के काल के लिए औसत वेतन का ३/४ लेने का अधिकार होगा बशर्तेकि हड़ताल कानून-विरुद्ध न हो। यह धारा मज़दूरों के लिए नितान्त अनुकूल है। इस कानून में दोनों दलों को समझौता और वार्तालाप के लिए लंबी छूट दी गई है। सामूहिक सौदेबाज़ी को प्रोत्साहन देने के लिए "प्रामाणिक सौदा प्रतिनिधि" की स्थापना की धारा रखी गई है किन्तु सामूहिक सौदेबाज़ी असफल होने पर मध्यस्थता स्वीकार करनी ही होगी। वर्तमान में जुर्मानों आदि की जगह कानून भंग करने की दशा में कैद-जैसे घोर दंडों का विधान किया गया है।

प्रामाणिक छांटी की दशा में कानून की धारा के अनुसार आधे महीने की पगार और प्रत्येक वर्ष के लिए महंगाई भत्ते की दर से पारितोषण दिया जायगा। यह धाराएं सुखकर हैं और श्रम तथा पूंजी के पारस्परिक संबंधों को उन्नत कर पाएंगी, किन्तु कुछेक दोष भी हैं। जैसे मालिक को छांटी की खुली छूट दे दी गई है। इस अधिकार को सीमित करना चाहिए था। इस कानून के अनुसार चपड़ासियों को हड़ताल का अधिकार नहीं दिया गया। यह १९४८ के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रस्ताव के विपरीत है। उसमें केवल फौज और पुलिस को इस अधिकार से वंचित रखा गया था। कानून की धारा २ (१९) में कहा गया है कि बर्खास्त करने के सही कारण को श्रम का झगड़ा नहीं माना जायगा। किंतु ठीक और ग़लत का निर्णय कौन करेगा? इसी प्रकार कानून में कहा गया है कि अतिरिक्त श्रम की छांटी की जा सकती है। किन्तु कौन इस वात का निर्णय करेगा कि वास्तव में कितना श्रम अतिरिक्त था।

यूनियनों के संघ के लिए १५ प्रतिशत की और यूनियन के लिए "प्रामाणिक प्रतिनिधि" बनने को ३०% की सदस्यता बहुत ऊंची प्रतिशत है। कानून का कहना है कि 'धीरे-काम करो' कानून विरुद्ध है। मज़दूरों का कथन है कि हम पर संदेह किया गया है और वह विरोध में कहते हैं कि वह कम देश-भक्त नहीं हैं। कानून में बोनस की भी व्याख्या नहीं की गई और नियोजक उसे पगार रूप में नहीं समझते।

मज़दूरों के संगठन इस आधार पर इस कानून का विरोध करते हैं कि अनिवार्य

मध्यस्थता के सिद्धान्त से हड़ताल का अधिकार छीन लिया गया है। मजदूरों को इस बात पर भी एतराज़ है कि मालिक को छांटी और बर्खास्तगी का अधिकार दिया गया है। दूसरी ओर मालिक इस आधार पर विरोध करते हैं कि इसके अधीन हड़ताल के काल में मज़दूरों को भत्ता देना होगा और उस बीच उद्योगों पर सरकार का नियन्त्रण रहेगा। वह स्थायी आज्ञा विषयक धारा की भी आलोचना करते हैं। इस प्रकार दोनों ही पक्ष कानून का विरोध करते है। इसका यह भी अर्थ है कि कानून ने प्रतिरोधी दलों के बीच संतुलन रखने की चेष्टा की है।

किन्तु निःसंदेह, वर्तमान वैधानिक उपायों की अपेक्षा इस कानून में कई दिशाओं में प्रगति भी हुई है। यह ठीक ही है कि सार्वजनिक उपयोगिता की कलह के समय उसे अदालती निर्णय को सौंपना चाहिए। श्रम अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील की धारा भी सही बात है। संघर्ष का निपटारा करने के विषय में जो प्रणाली निर्धारित की गई है, वह पारस्परिक संबंधों को उन्नत करने की दिशा में निश्चित प्रयास है। किसी भी मूल्य पर औद्योगिक शांति को बनाये रहना चाहिए। योजना कमीशन के शब्दों में "एक आर्थिक व्यवस्था में, जो योजित उत्पादन और वितरण के लिए संगठित की गई हो और जिसका उद्देश्य सामाजिक न्याय और जनता का हित हो, हड़तालों और तालेबंदियों को कोई स्थान नहीं।"

१७. भारत में मजदूर संगठन (ट्रेड यूनियन) आन्दोलन। १९१४-१८ की लड़ाई की समाप्ति तक भारतीय श्रम असंगठित दशा में था। १८७५ में, मि. सोराबजी शापुरजी बंगाली ने मज़दूरों की दुर्दशा की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था। किंतु मज़दूरों को संगठित करने का पहला महत्वपूर्ण चरण प्रथम फैक्ट्री एक्ट के संशोधन के लिए आंदोलन के रूप में मि० लोकखंडे ने उठाया था। १८९० में, उन्होंने पहले मज़दूर संगठन की आधार-शिला रखी थी अर्थात् बम्बई मिल मज़दूर सभा। किंतु इस संगठन का काम सरकार को केवल स्मारक-पत्र देना भर था। उपरांत १८९७ में भारत और बर्मा के रेल कर्मचारियों की मिश्रित सभा बनी। वर्तमान सदी के आरंभ में बने संगठनों में निम्न का नाम उल्लेखनीय है: छापाखाना यूनियन, कलकत्ता, १९०५; बंबई डाक यूनियन, १९०७; और कामगर हितवर्द्धक सभा, १९१०। अंतिम सभा मज़दूरों के हित का समर्थन करने वाले समाज-सुधारकों की थी। यह सभा उनके लिए थी, किन्तु उनकी नहीं थी।

प्रथम विश्व-युद्ध के कारण जन-साधारण में जागृति हुई। युद्ध के कारण पूंजीपतियों को मालामाल होते देखकर मजदूर ने अपना हिस्सा भी चाहा, विशेष रूप से इस कारण कि जीवन के व्यय का स्तर बहुत ऊंचा हो गया था। उपनिवेशों में भारतीय श्रम के साथ भेदभाव, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का जन्म और रूस में क्रांति भी कुछ ऐसे अंश थे, जिन्होंने भारतीय श्रम आंदोलन को गतिशील बनाया। चारों ओर नई लहर उत्पन्न हो गई थी; नये भाव और नये विचारों के साथ। "सामाजिक जागृति, राजनीतिक आंदोलन और

क्रांतिकारी विचारों के साथ मज़दूर-वर्ग पुरानी सामाजिक बुराइयों और नई आर्थिक अयोग्यताओं में और अधिक रहने के लिए तैयार नहीं था।"[1]

पहली औद्योगिक यूनियन बनाने का श्रेय मि० वाडिया को है, जिन्होंने १९१८ में, चूलाई (मदरास) में कपड़े के मज़दूरों को संगठित किया और आगामी वर्ष यूनियनों की संख्या चार हो गई, जिनकी २० हज़ार सदस्यता थी। अन्य औद्योगिक केन्द्रों ने भी अनुकरण किया और स्थानीय मज़दूरों के संगठन बनाये गए। १९१९ और १९२३ के बीच दर्जनों यूनियनें बन गई। महात्मा गांधी ने १९२० में अहमदाबाद में कातने वालों की यूनियन और जुलाहों की यूनियन बनाई।

यह प्रारम्भिक यूनियनें केवल हड़ताल कमेटियां थीं और उनकी मांगें पूरी होते ही वह लोप हो जाती थीं। वह हड़ताल की सूचना नहीं देती थीं। अपने कष्टों को भी कभी-कभी जता नहीं पाती थीं और अक्सर निरर्थक मांगें कर बैठती थीं। इसके अतिरिक्त इन संगठनों का पारस्परिक संबंध भी नहीं था। शीघ्र ही संगठन का आंदोलन आरंभ हुआ। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के लिए वार्षिक प्रतिनिधियों के चुनाव ने इस आंदोलन को गतिशील किया। स्थानीय यूनियनों का संगठन हुआ और उपरांत प्रांतीय संघों का निर्माण हुआ। पहली आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस—सब यूनियनों का राष्ट्रीय संघ—१९२० में हुई।

ट्रेड यूनियन एक्ट (१९२६)—१९२० में, बकिंघम मिल के सर्वविदित मामले में मदरास हाई कोर्ट ने मज़दूरों को हड़ताल के लिए उकसाने के कारण मदरास मज़दूर संघ के विरुद्ध निरोधाज्ञा जारी की थी। ५ वर्ष के सतत यत्नों के बाद नेता इंडियन ट्रेड यूनियन एक्ट, १९२६ पास करा सके। इस एक्ट में यूनियन की रजिस्ट्री के संबंध में कई शर्तें हैं। उदाहरण के लिए, प्रबंध कमेटी के ५० प्रतिशत सदस्यों को यूनियन के अधीन इकाई अथवा इकाइयों में नियोजित होना चाहिए। इस शर्त के साथ सात अथवा अधिक सदस्य रजिस्ट्री के लिए आवेदन कर सकते हैं। १५ वर्ष से कम आयु का व्यक्ति सदस्य नहीं बन सकता। रजिस्ट्री की हुई यूनियनों को राजनीतिक उद्देश्यों के लिए अपने कोष उपयोग में लाने की इजाज़त नहीं। जिन उद्देश्यों के लिए यूनियन के कोष खर्च हो सकते हैं, उन्हें दर्ज किया गया है। उन्हें हिसाब-किताब का निरीक्षण किया हुआ विवरण, नियमों की एक प्रति और पदाधिकारियों तथा प्रबंध कमेटी के सदस्यों की सूची देनी होगी। उन्हें अपनी किताबों का भी परीक्षण कराना होगा। किंतु एक्ट के द्वारा रजिस्ट्री हुई यूनियनों को कुछ लाभ भी हैं। श्रम-संघर्ष से संबंधित उनके कार्यकलापों के लिए उनपर दीवानी अथवा फौजदारी रूप में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

१९४८ में ट्रेड यूनियन एक्ट में संशोधन हुआ। इस संशोधन के अनुसार श्रम अदालत के आदर्श पर नियोजक को अनिवार्य रूप में ट्रेड यूनियन को मान्यता देनी होगी। शुरू-

१. Dass R.N.—Labour Movement in India, 1923, p.25.

शुरू में यूनियनें अपनी रजिस्ट्री कराने में बहुत ढीली थीं। क्योंकि बंकिंघम मिल के बाद कोई मुकदमा ही नहीं हुआ था और हिसाब किताब के विवरण तथा अन्य सूचनाएं देने से भी यूनियनें बचना चाहती थीं। किन्तु थोड़े ही समय बाद यूनियनें रजिस्ट्री कराने का आंदोलन शुरू होगया।

१९२८-२९ में, ट्रेड यूनियनों पर कम्युनिस्टों और वाम-पक्षी नेताओं का अधिकार था। किंतु इन उग्रगामी दलों के कार्य-कलापों के कारण ३१ बड़े-बड़े नेताओं की गिर-फ़्तारियां हुई। मेरठ षड्यंत्र केस के नाम से वह मुकदमा चला। १९२९ में जांच की अदालत की सूचना के फलरूप, जिसने गिरनी कामगार यूनियन को हिंसा और अशांति के लिए एकमात्र उत्तरदायी ठहराया था, भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन बदनाम हो गया। १९२९ में, नागपुर में आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के दसवें अधिवेशन पर जब उग्र-गामी दल ने अधिकार कर लिया, तो नरम दल वालों ने श्री एन. एम. जोशी की अध्यक्षता में आल इंडिया ट्रेड यूनियन फैडरेशन का निर्माण किया। १९३१ में एक बार पुनः फूट पैदा हुई, जबकि वाम-पक्षी नेताओं, देशपांडे और रणदिवे ने आल इंडिया रैड ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनाई।

यद्यपि १९३१ में, ट्रेड यूनियन में समझौते की चेष्टाएं आरंभ हुई थीं तथापि १९३८ मं, वी. पी. गिरि के (मदरास सरकार के उस समय के श्रम-मंत्री) यत्नों से वह खाई पटी और १९४० में अस्थायी समझौते को अंतिम रूप दिया गया।

युद्ध छिड़ जाने पर युद्ध-यत्नों के विषय में कुछ मत-भेद हो गया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने तटस्थ रहने का निश्चय किया था। किंतु 'रायवादी' (श्री एम. एन. राय की अध्यक्षता में) पूर्ण सहयोग देने के पक्ष में थे और उन्होंने ट्रेड यूनियन फैडरेशन नाम से अपना संगठन बना लिया था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस से बाहर एक अन्य महत्त्वपूर्ण दल हिंदुस्तान मज़दूर सेवा संघ है। इसका उद्देश्य महात्मा गांधी के सिद्धांतों के आधार पर मज़दूरों का संगठन करना है।

मज़दूरों में बढ़ती हुई कम्युनिस्ट भावना को रोकने के लिए कांग्रेस नेताओं की अध्यक्षता में आल इंडिया नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनाई गई है। इस नई संस्था का उद्देश्य काम को रोके बिना मज़दूरों के कष्टों को दूर करना है, अर्थात् समझौता उपाय से, और उसमें असफल होने पर मध्यस्थता और अदालत द्वारा यह संस्था ऐसे उपाय ग्रहण करना चाहती है, जो शांतिपूर्ण हों और सत्य के अनुकूल हों।

एक पीढ़ी से भी कम समय में ट्रेड यूनियन आंदोलन ने भारत में उल्लेखनीय उन्नति की है। १९२७-२८ में केवल २९ रजिस्ट्री की हुई यूनियनें थीं, जबकि १९४७-४८ में यूनियन सदस्यों की संख्या २६६६ हो गई। १९२७ में केवल ८ यूनियनें अपने हिसाब किताब के कागज़ भेजती थीं और उनकी सदस्यता की संख्या १००,६१९ थी, जबकि १९४७-४८ में १६२८ यूनियनें अपने हिसाब दाखिल करती थीं; जिनकी सदस्यता १६६२, २९९ थी। थोड़े ही देशों में इतनी तीव्र गति से प्रगति हुई है। यह आंदोलन बहुत फैल गया

है और ट्रेड यूनियन के विचार की जड़ें सुदृढ़ हो गई हैं। यह यूनियनें अब केवल हड़ताल कमेटियां नहीं। अब तो इनका स्थायी रूप बन गया है। इनका प्रभाव और सम्मान भी बहुत है। इन्होंने मजदूरों की अवस्थाओं को सुधारने की दिशा में बहुत काम किया है। पश्चिम के किसी भी श्रम-संगठन के लिए श्री एन. एम. जोशी और श्री गुलज़ारीलाल नंदा जैसे श्रम-नेता सम्मान के कारण होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कांफ्रेंस, समाचार पत्रों, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन—सभी ने भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन को बल-प्रदान किया है।

निम्न तालिका से भारत में ट्रेड यूनियनों के उत्कर्ष का पता चल जाता है :—

रजिस्ट्री की गई ट्रेड यूनियनें और उनकी सदस्यता[1]

वर्ष	रजिस्ट्री हुई ट्रेड यूनियनों की संख्या	यूनियनों की संख्या, जो हिसाब भेजती हैं	कालम ३ में दी गई यूनियनों के सदस्यों की संख्या		
			आदमी	औरतें	योग
१	२	३	४	५	६
१९२७-२८	२९	२८	९९,४५१	१,१६८	१००,६१९
१९३२-३३	१७०	१४७	२३२,२७९	५,०९०	२३७,३६९
१९३७-३८	४२०	३४३	३७५,४०९	१४,७०३	३९०,११२
१९३८-३९	५६२	३९४	३८८,२१४	१०,९४५	३९९,१५९
१९३९	६६७	४५०	४९२,५२६	१८,६१२	५११,१३८
१९४४-४५	८६५	५७३	८५३,०७३	३६,३१५	८८९,३८८
१९४५-४६[2]	१,०८७	५८५	८२५,४६१	३८,५७०	८६४,०३१
१९४६-४७[3]	१,७२५	९९८	१,२६७,१६४	६४,७९८	१,३३१,९६२
१९४७-४८[3]	२,६६६	१,६२८	१,५६०,६३०	१०२,२९९	१,६६२,९२९

किंतु हमारा श्रम-आंदोलन अभी उतना उन्नत नहीं हो पाया, जितना पश्चिम में बहुत पहले हो चुका था। भारत में ट्रेड यूनियनों की सदस्यता की संख्या औद्योगिक शक्ति की संपूर्ण संख्या का केवल एक लघुअंश है। अधिकांश नेता बाहरी है—वकील हैं अथवा अन्य राजनीतिज्ञ आदि। इसके कोष अभी इतने थोड़े हैं कि हड़ताल के दिनों में उनसे मज़दूरों

१. Indian Labour Year Book 1948-49. p. 128.

२. १९४५-४६, १९४६-४७ और १९४७-४८ में पंजाब के अंक सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि अपूर्ण थे।

३. १९४५-४६ के अंक अविभाजित भारत से संबंधित हैं और १९४६-४७ और १९४७-४८ के अंक भारतीय उपनिवेश में राज्यों से संबंधित हैं।

की सहायता नहीं की जा सकती। बहुत थोड़ी यूनियनें हैं, जिनके पास बेकारी, बीमारी और वृद्धावस्था के लाभ हैं। अनेक यूनियनें सुधार-कार्य भी नहीं करतीं, उनकी "पारस्परिक-सहायता" की दिशा सर्वथा प्रगतिहीन दशा में है। वह उच्च-मान की मांगों और कष्ट-निवारणों के ऊपरी कार्यों में ही लगी रहती हैं।

भारत के ट्रेड यूनियन आंदोलन के मार्ग में कतिपय बाधाएं हैं: (१) श्रमिक अपढ़, अज्ञानी और प्रवासी हैं, उद्योग में उनकी स्थायी दिलचस्पी नहीं। (२) वह नियंत्रण में नहीं रहना चाहते और चंदा देने के अयोग्य हैं अथवा लापरवाह हैं। (३) श्रम संघ के निर्माण में भाषा, धर्म, और ज़ाति तथा सामाजिक रीति-रिवाज घोर बाधक हैं। (४) उनके अल्प-पगार उन्हें दबाये रहते हैं। (५) काम के लंबे घंटे यूनियन में दिलचस्पी लेने की शक्ति नहीं रहने देते। जिन दलित अवस्थाओं में हमारा श्रम है, यूनियन-राजनीति में भाग लेने की उससे आशा नहीं की जा सकती। (६) नियोजकों का विरोध एक अन्य बाधा है। (७) यदा-कदा अवसर-वादी नेता आ जाते हैं और वह अपना उल्लू सीधा करते हैं। प्रायः वह आपस में लड़ते रहते हैं; और श्रम का निरन्तर शोषण होता रहता है।

यदि आंदोलन को सुदृढ़ बनाना है तो श्रम-वर्ग में से ही नेता उत्पन्न होने चाहिएं। आशा की जाती है कि यदि मज़दूर पढ़-लिखकर फैक्ट्रियों में भरती होंगे, तो यह संभव हो सकेगा। इसके अतिरिक्त मज़दूरों के प्रति नियोजकों का अधिक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिए। उन्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि सुदृढ़ ट्रेड यूनियन हड़तालों के विरुद्ध बीमा का रूप है। दूसरी ओर श्रम को भारतीय अर्थ-व्यवस्था के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझना चाहिए। योजना-निर्माण कमीशन का कहना है कि मज़दूर इस तथ्य को भली प्रकार नहीं समझते कि प्रगति-हीन अर्थ-व्यवस्था उनका निर्माण नहीं कर सकती। उनकी अवस्था उत्पादन-शक्ति के उच्च-स्तर को बनाये रहने से सुधर सकती है। यदि श्रम अधिक नियमितता, नियंत्रण और सावधानी के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करे, तो अर्थ-व्यवस्था में यह उनका सत्य अंश-दान होगा।[1]

ट्रेड यूनियन कानून (Bill) १९५१—इसके द्वारा नियोजकों को अनिवार्य रूप में प्रामाणित सौदा करने वाले प्रतिनिधियों के साथ सामूहिक निपटारा करना होगा। यह नियोजक पर प्रतिबंध लगाता है कि वह मज़दूरों के यूनियनों को संगठित करने के अधिकारों में हस्तक्षेप न करे। यूनियन-कार्य-कलापों के कारण नियोजक अपने कर्मचारियों में भेद-भाव नहीं कर सकता। इसके द्वारा ट्रेड यूनियनों की स्वीकृति और रजिस्ट्री का अधिकार दिया गया है।

---

१. Planning Commission Report, 1951, p. 181.

पच्चीसवाँ अध्याय

भारत का व्यापार

भारत का व्यापार चार मुख्य भागों में बांटा जा सकता है : (अ) आंतरिक या अन्तर्देशीय, (ब) तटवर्त्ती, (स) पर-राष्ट्र या विदेशी, और (ड) देश में आये हुए विदेशी माल का पुनर्निर्यात।

अ. अन्तर्देशीय व्यापार

१. भारत के लिए आन्तरिक व्यापार की महत्ता। जब से योरोप में उत्पादन के तरीकों में क्रांति हुई है तब से विश्व-व्यापार में वृहद् उन्नति हो गई है। औद्योगिक क्रांति मूलतः ग्रेट ब्रिटेन में हुई और उसके बाद योरोप के अन्य देशों में फैल गई। इस प्रकार एशिया और अमरीका के कच्चे माल और खाद्य-सामग्री की आयात होती, और उनके विनिमय में उन्हें निर्मित वस्तुओं का निर्यात किया जाता। इससे योरोपीय देशों के जीवन और अर्थ का स्तर शीघ्र ही उन्नत हो गया, किन्तु मुख्यतः जिन्सों (द्रव्यों) की उत्पत्ति करने वाले ऊष्ण देश पिछड़ गए, यद्यपि सामूहिक दशा में उन्होंने भी यत्किंचित् प्रगति की।

बहुत बड़ी सीमा तक वही पारस्परिक अंतर निर्भरता आज भी विद्यमान है। इंग्लैण्ड सरीखे देश कच्चे माल की आयात करते है, और अपनी मशीनों तथा कुशल कारीगरों के साथ उनसे वस्तु-निर्माण करते हैं, और एक भारी लाभ के साथ पुनः उनका निर्यात कर देते है। फलतः विदेशी व्यापार उनकी संपन्नता का मुख्य आधार है; यही नहीं, इसी पर तो उनकी विद्यमानता भी निर्भर करती है। समुद्र-पार से कच्चे माल और खाद्य-सामग्री के बिना, यही नहीं कि वे अपनी महत्वपूर्ण स्थिति को ही खो बैठेंगे, बल्कि संभव है, भूखों मरने लगें। इस प्रकार उनकी यह क्रिया एक प्रकार की अस्वाभाविक बचत है।

किन्तु भारत का प्रश्न इससे भिन्न है। उसका विदेशी व्यापार की अपेक्षा आन्तरिक व्यापार कहीं अधिक है। यहा तक कि यदि हम भीतरी राज्यों में वस्तुओं के परिचलन को न भी गिनें, तो हमें पता चलता है कि उसका आंतरिक व्यापार समुद्री व्यापार की अपेक्षा दस गुना अधिक है। "भारत-भूमि का इतना बड़ा विस्तृत क्षेत्र है, इसकी जनसंख्या इतनी बडी है और इसके निजी सीमान्तों में इतने प्रकार के उत्पादन हैं कि वह आत्म-निर्भरता के आदर्श के लिए सहज ही कार्य करने का साहस कर सकता है।" भारत की वृहद् जनसंख्या है और इसलिए, अपने-आप में यह एक विशाल मंडी भी है। इसके स्वाभाविक साधन विस्तृत एवं अनेक हैं। इस कारण यह आशा करना युक्ति-संगत जान पड़ता है कि

यातायात के साधनों में उन्नति होने और औद्योगिक प्रगति के साथ, भारत का आंतरिक व्यापार क्रमशः एक ठोस रूप धारण कर लेगा।

दुर्भाग्यवश, भारत के आंतरिक व्यापार की ओर उतना ध्यान नही दिया गया, जितना विदेशी व्यापार के लिए। अंग्रेज़ी सरकार विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देने में अधिक दिलचस्पी रखती थी। रेल की दरें और नीति भी भारत के खर्चे पर विदेशी व्यापार का ही समर्थन करती थी। दूसरी अवस्था यह थी कि, अभी हाल ही तक, भारत ऋणी देश था और उसे ३० करोड़ रुपये वार्षिक के अनुकूल संतुलन की आवश्यकता थी।

हाल ही में भारतीय अर्थशास्त्रियों का ध्यान आंतरिक व्यापार की ओर आकर्षित किया गया है। प्रो० के० टी० शाह ने प्रदेशीय इकाइयों के बीच राष्ट्रीय योजना के आधार पर समस्त देश में नवीन यंत्रों द्वारा उत्पादन और विभाजन के सम्बन्ध में बहुत ज़ोर दिया है।[१] प्रो० नायडू का कहना है कि "भारत जैसा महान् देश, अपनी विभिन्न क्षमताओं से अपने आंतरिक व्यापार को उन्नत करने का साहस कर सकता है और विदेशी व्यापार को निश्चित रूप मे निम्न स्थान दे सकता है।"[२] प्रो० रमास्वामी खाद्य, कच्चे माल और 'क्षेत्रीय-ढंग' के आधार पर निर्माण के कार्य का समर्थन करते हैं।[३] प्रो. सेन का कथन है कि "स्थानीय निर्माताओं के लिए भारत घरेलू मंडी है, जो, यदि उचित रूप में उन्नत की जाय, तो हमारी विदेशी मंडियों की निर्भरता को क्षीण कर देगी।"[४]

भारत के आंतरिक व्यापार के आकार और रूप को सही तौर पर नापने के लिए आंकड़े उपलव्ध नही हैं। बैंकों के भुगतानों के अंकों से भी, जैसा कि अन्य देशों में वह करते हैं, हमें विश्वस्त सूचना नही मिलती कि जिससे आंतरिक व्यापार की सीमा अथवा राशि का पता लग जाय। न ही रेल के आंकड़े ही किसी रूप में विश्वस्त हैं। क्योंकि रेलों द्वारा सामान ढोना भी व्यापार की प्रचलित अवस्थाओं और भूमि यातायात की स्पर्धा पर अधिकांशतः निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त, हमें आंतरिक व्यापार की कुल राशि के उस अनुपात का भी पता नही, जो बैलगाड़ियों-सहित माल लाने-लेजाने वाली कम्पनियों के विल-मुकाविल रेलवे को वहन करना पड़ता है। फलतः, हमारे आंतरिक व्यापार के अनुमानों का आधार तो केवल अटकल ही है। एन. पी. सी. की व्यापारिक सब-कमेटी का निर्णय था कि "यह अटकल लगा लेना पर्याप्त होगा कि हमारा आंतरिक व्यापार ७,००० करोड़ रुपयों से कम नही। इन आंकड़ों की हमारे विदेशी व्यापार के आकार के साथ तुलना हो सकती है, जो ५०० करोड़ रुपयों का है।" यह अनुमान १९४० में किया गया

---

१. के. टी. शाह—"प्रिसीपल्ज़ आफ प्लानिंग" पृ० ९१-९२।

२. "इंडस्ट्रियल प्रोब्लम्स आव् इंडिया" पी. सी. जैन द्वारा संपादित, पृ० १२३।

३. रमास्वामी—"इकोनामिक प्रोब्लम्ज आव् इंडिया"।

४. सेन—"इकोनामिक्स रीकन्स्ट्रक्शन आव् इंडिया, पृ. ३६४"।

था। तब से लेकर कीमतों में अभिवृद्धि के झुकाव, आर्थिक प्रतिबन्धों और अन्य असाधारण अंगों के प्रभाव के कारण भी आंतरिक व्यापार की कुल राशि में भारी परिवर्तन हुआ ही होगा, किन्तु वस्तुस्थिति की सामान्य रूप-रेखा ज्यों की त्यों रह जाती है। उसका निर्णय हम सहज ही निम्न कसौटियों द्वारा कर सकते है; विशाल जनसख्या की खपत करने की शक्ति, कृषि-उत्पादन का सर्वोत्तम भौगोलिक विभाजन, वन-उत्पादन, इस विस्तृत देश के खनिज उत्पादन और सम्बन्धित उद्योग, इसका विचित्र तिकोन आकार और उच्चतम पर्वतों एवं गहरे समुद्रों द्वारा इसका घिरा होना, इसका वृहद् आंतरिक व्यापार और भावी संभावनाओं का विस्तार ।

आंतरिक व्यापार के परिमाण के कुछ संकेत भारत में रेलों की कुल आय और यातायात द्वारा उपस्थित किये गए है। यह देखा गया है कि जहां एक ओर १९४६ में भारत और पाकिस्तान की नंबर १ रेलवे पर ५२ लाख वैगनें भरी गई थीं, तहां दूसरी ओर १९५० में केवल भारत में ही ६२·६ लाख वैगन भरी गई, जो लगभग २१ प्रतिशत अधिक हैं। यह वृद्धि रेलों के विभाजन के बावजूद भी हुई, जिसके फलरूप उसी अवधि में २६५६ करोड़ ८० लाख से लेकर २५०० करोड़ टन मीलों की न्यूनता हो गई है। इसके साथ ही रेल-यातायात की कुल आय में वृद्धि हुई अर्थात् १९४६ में २१५ करोड़ रुपयों की अपेक्षा १९५० में २६० करोड़ रुपये हो गई।[1]

रेल और नदियों द्वारा भारत के व्यापार से हमें पता चलता है कि १९३८-३९ में लगभग ९०० करोड़ रुपये की लागत का सामान भारत के २२ व्यापार-केन्द्रों के बीच आया-गया। युद्ध-कालीन वर्षो में किसी भी सीमा तक औद्योगीकरण की ओर पग बढ़ाया गया। युद्धोत्तर वर्षो में, रेलों और सडकों के निर्माण की विशाल योजनाए उपस्थित की गई हैं। जैसे ही, वह सक्रिय होंगी और ज्योंही इंजनों और वैगनों की स्थिति में सुधार होगा, त्योंही, निश्चित् रूप से भारत के आंतरिक व्यापार में एकाएक वृद्धि होने लगेगी। इसके अतिरिक्त अब वर्तमान भारत पूर्व के भारत से भिन्न है। विभाजन से पूर्व भारत में ५५२ राजाओं द्वारा शासित रियासतें थी। १२,२१,००० वर्गमील के क्षेत्र में से ४ लाख वर्गमील क्षेत्र पर उनका विस्तार था। हैदराबाद, काश्मीर और मैसूर उनसे अलग है। उनमें से अधिकांश की अपनी चुंगियों की सीमायें थीं, जिनसे सामान के स्वतन्त्र परिचलन पर प्रतिबन्ध लगे हुए थे। अब वह सब भारत में सम्मिलित कर ली गई हैं और बड़े-बड़े आर्थिक केन्द्रों के साथ मिला दी गई हैं। निश्चय ही इस कदम से आंतरिक व्यापार इतनी ऊंचाई तक जा सकेगा कि जिसकी कभी आशा ही नही की गई थी।

२. आंतरिक व्यापार का भविष्य। यद्यपि संपूर्ण आंकड़े तो उपलब्ध नहीं, तथापि भारत के आंतरिक व्यापार की बढ़ती हुई महत्ता के विषय में प्रायः सही धारणा

---

१. स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट आव् इंडिया।

बनाई जा सकती है। यातायात के साधनों और उद्योगों की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ आंतरिक-व्यापार में शीघ्र ही उन्नति होकर रहेगी। सुरक्षा और औद्योगीकरण की वर्तमान नीति से आयात में न्यूनता होगी और देश के आंतरिक व्यापार में वृद्धि। फलरूप, व्यापार के लिए अनुकूल संतुलन की आवश्यकता अब नष्ट हो चुकी है। भारत ने अपना संपूर्ण स्टर्लिंग ऋण चुका दिया है। इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में उसने करोड़ों स्टर्लिंग की कमाई भी कर ली है। यद्यपि उसने एक बहुत बड़ी राशि खर्च कर डाली है, तथापि अभी भी उसके पास ५०० करोड़ रुपये से अधिक का स्टर्लिंग है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि देश में कच्चे माल का अधिक प्रयोग होगा और विदेशों से मुख्य वस्तुओं का अधिक क्रय हो सकेगा।

ब. तटवर्त्ती व्यापार

३. **महत्ता।** महाद्वीपों में भारत एक कठहार के रूप में है। उसकी भौगोलिक अवस्था और २ हज़ार मील से अधिक लम्बा तट महान् विदेशी व्यापार और सामुद्रीय अवस्था के महत्व को प्रकट करता है। अधिकार के नाते उसके पास व्यापारिक जहाज़ों का विशाल बेड़ा और व्यापारिक संवाहन की विशालता होनी चाहिए थी। किंतु ब्रिटेन के राजनीतिक प्रभुत्व में होने के कारण उसके समुद्री व्यापार पर अंग्रेज़ी जहाज़ों का प्रभुत्व था। १९३९ में, भारत के पास कुल डेढ़ लाख टन के जहाज़ थे, जो विश्व की जहाज़ी शक्ति की तुलना में कठिनाई से २ प्रतिशत था। उसके जहाज़ अपने तटवर्त्ती व्यापार का २५ प्रतिशत अंश संवाहन करते थे। मि० एस० एन० हाजी तथा अन्यों ने कई बार सरकार से प्रार्थना की कि तटवर्त्ती व्यापार को भारतीय हितों के लिए सुरक्षित किया जाय, किन्तु उनके यत्न हमेशा असफल रहे। निश्चित मूल्यों के संघर्ष और अवध्यात्मक छूट के तरीके के कारण भारतीय जहाज़ी कम्पनियां ब्रिटिश और विदेशी मुकाबिले के विरुद्ध अधिक प्रगति करने योग्य नहीं थीं। अंत में द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण सरकार को बलवान भारतीय नौ-सेना एवं वृहद् व्यापारिक जहाज़ों के निर्माण की तात्कालिक आवश्यकता के लिए मान्यता प्रदान करनी ही पड़ी।

बंदरगाहें—यद्यपि भारत का २ हज़ार मील लम्बा तट है तथापि उसकी अच्छी बन्दरगाहें तो बहुत ही थोड़ी हैं। पश्चिमी तट की बन्दरगाहें वर्ष में ३ से ४ मास तक वर्षाऋतु के कारण यातायात के लिए बन्द हो जाती है। कच्छ और कैंबे की खाड़ियां और बम्बई की बन्दरगाह विशिष्ट हैं। पूर्वी तट लहरी भाग है। मदरास और विज़गापटम ही केवल यहां की दो ऐसी बन्दरगाहें हैं, जो अस्वाभाविक तो है, किन्तु सभी ऋतुओं में जहाज़ों को आश्रय देने के लिए सुरक्षित कही जा सकती हैं। कलकत्ता समुद्र से काफी अन्तर पर है और इसके अलावा हुगली के रेतीले टीलों के कारण उसमें अनेक बाधाएं है, जिन्हें निरंतर खोदते रहना होता है।

बन्दरगाहों की कमी को पूरा करने के लिए, विशेषकर कराची की क्षति के बाद, भारत सरकार कुछ नई बन्दरगाहें बनाने का यत्न कर रही है। तदनुसार सरकार ने कांदला, ओखा और मगलोर को चुना है। कांदला की खाड़ी कच्छ की खाड़ी के पूर्वी अंत पर स्थित है और ३० फुट से अधिक की गहराई वाले पानी की बन्दरगाह के लिए स्वाभाविक आश्रयस्थल है। इसके द्वारा कराची के अभाव की पूर्ति हो सकेगी और दिल्ली से यह स्थान केवल ६५६ मील के अन्तर पर है। ओखा काठियावाड़-प्रायद्वीप के अंतिम छोर पर स्थित है। वर्ष की सभी ऋतुओं में यह स्थान बड़े-बड़े जहाज़ों तक के लिए उपयुक्त है। विजगापटम एक मुख्य बंदरगाह है, जिसका भविष्य उज्जवल है। यह मदरास और कलकत्ता के मध्य में स्थित है और यहां से मध्यप्रांत के उत्पादनों का निर्यात होता है। इन दिनों यह स्थान जहाज़ों के निर्माण का केन्द्र बन गया है। इसके जहाज़ी कारखानों में लगभग दस-दस हज़ार टन वाले जहाज़ बन रहे हैं। कुछेक तो समुद्र में चल भी रहे हैं।

जहाज़-निर्माण—१९३९ में, भारत के पास केवल ३० जहाज़ थे, जो सपष्ट रूप में डेढ़ लाख टन के लगभग के थे। भारत के आकार, तट की लम्बाई और सैनिक स्थिति की तुलना में यह अवस्था बहुत ही शोचनीय थी। सरकार ने इस दिशा में भारत की कमज़ोरी को जान लिया है और वह इस अवस्था को सुधारने के यत्नों में लगी हुई है। प्राईवेट (निजी) कम्पनियां अभी इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त पूंजी पैदा नहीं कर सकतीं। फलस्वरूप, सरकार ने जहाज़ बनाने वाली तीन कार्पोरेशनों की स्थापना का निर्णय किया है। प्रत्येक की पूजी दस करोड़ रुपया होगी और वह समुद्र पार के व्यापार में हिस्सा ले सकेंगी, और जो आवश्यकता होने पर ५१ प्रतिशत या इससे अधिक पूंजी को प्राप्त कर सकेंगी।

(Shipping Policy Committee) **जहाज़-निर्माण नीति**-विधायक समिति ने अपने सामने समष्टि रूप में २० लाख टन के जहाज़ निर्माण करने का लक्ष्य रखा है। १९५० के अंत तक टन-परिमाण को दो गुना करके ३·८ लाख टन कर दिया गया था। भारतीय प्रतियोगिता को नष्ट करने के लिए विदेशी कम्पनियों ने, जो निश्चित-मूल्यों का आंदोलन खड़ा किया था, उसके विरुद्ध भी सरकार ने सहायता देने का वचन दिया है। अब भारत स्वतन्त्र है, इसलिए यह अनिवार्य हो गया है कि वह अपने व्यापारिक बेड़े की उन्नति करे। शांतिकाल में तो इसके द्वारा सामान आ-जा सकेगा और युद्ध-काल में नौ-सेना के लिए इसका सुरक्षित रूप होगा। वर्तमान में भारतीय तट पर ७१ जहाज़ हैं, जो समष्टि रूप में दो लाख टन के हैं किन्तु इनमें से आधे से अधिक २० बरस की आयु से अधिक के हैं और उन्हें यथाशीघ्र बदलना होगा।

स. विदेशी व्यापार

४. **ऐतिहासिक अवलोकन। हिन्दू-काल में व्यापार**—ईसा की शताब्दि से कुछ हज़ार वर्ष पूर्व, भारत के व्यापारिक सम्बन्ध ईजिप्ट, रोम, अरेबिया, चीन और प्रशांत

द्वीपों के साथ थे। भारत से बढ़िया सूती कपड़े और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं, तथा धातु की बनी छोटी-छोटी वस्तुओं और इत्रों का निर्यात होता था। बदले में भारत खनिजों, पान लगी तलवारें, अरबी घोड़ों और फ़ारस की शराबों तथा सोने की आयात करता था। साथ ही लंका से मोतियों और चीनी रेशम में भी भारत व्यापार करता था।

मुस्लिम-काल में व्यापार—मुस्लिम-काल में, विशेषतः मुग़ल राज्य में उत्तर-पश्चिमी काफ़िलों के मार्गों को काबुल और कंधार की राह से खूब इस्तेमाल किया जाता था और सुदूरपूर्व और लाल समुद्र से आने वाले व्यापारियों के लिए मलाबार का तट संगम का स्थान था। इन समयों में भी भारतीय व्यापार का पहले जैसा ही रूप रहा और आयात मुख्यतः ऐश्वर्यशाली वस्तुओं की ही होती, "क्योंकि जनता अपनी ग़रीबी के कारण उन्हें खरीद नहीं सकती थी।"[1] डच्च और पुर्तगाली आलेखों से पता चलता है कि भारतीय व्यापार का चारित्रिक रूप अब भी वैसा ही था, जैसा कि ढाका की बारीक मलमल के निर्यात के समय था और जो योरोप में गंजेटिका के नाम से ख्यात थी। इंग्लैण्ड भी हमारा एक ग्राहक था और वहां की शिष्ट महिलाएं भारत के बने सुन्दर वस्त्रों को पहनना विशेष पसन्द करती थीं। भारत साहूकारा देश था; उसका व्यापार का संतुलन और चुकता की राशियां, दोनों ही उसके अनुकूल थी। उसकी विदेशी वस्तुओं की आयात अपने निर्यात से कम थी, और सोने तथा चांदी की आयात से अंतर पूरा होता था।[2]

प्रारम्भिक ब्रिटिश-काल—ईस्ट इंडिया कम्पनी के आरंभिक काल में कम्पनी ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया और उसने भारत के रेशमी और सुन्दर वस्त्रों को इंग्लैण्ड भेजा, किन्तु जैसे-जैसे १८ वी शताब्दी बढ़ती गई, तैसे-तैसे भारतीय शिल्प पर इंग्लैण्ड में या तो भारी करों द्वारा प्रतिबन्ध लगने लगे अथवा उन पर पूर्णतः रोक लगा दी गई। ज्यों-ज्यों औद्योगिक क्रांति लम्बे-लम्बे डग भरने लगी, त्यों-त्यों भारत कच्चा माल देने वाला और निर्मातों की मंडी का रूप धारण करने लगा। इस प्रकार भारतीय व्यापार का रूप आमूल बदल गया और वह उन वस्तुओं की आयात करने लगा, जिन की पहले वह निर्यात करता था।

नवीन-युग का आरम्भ, १८६४-१९१४—१८६९ में स्वेज़ नहर का खुलना, भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास में सर्वोच्च घटना है। इसके द्वारा भारत और इंग्लैण्ड की दूरी में ५ हज़ार मील से भी अधिक की कमी हो गई, और पहले जितना समय लगता था, उससे आधा समय लगने लगा। इंग्लैंड तथा अन्य देशों के साथ व्यापार को भारत में रेलें जारी करने और मुख्य बन्दरगाहों को तटवर्त्ती नगरों से मिला देने से भी अतिरिक्त परिपुष्टि मिली।

---

१. मोरलेंड—"फ्रॉम अकबर टु औररंगज़ेब"

२. बी. नारायण—"इंडिया बिफोर एंड सिंस दि क्राईसिस," वा० I.

इसी बीच भारत एक देश बन चुका था, बाहर और भीतर शांति थी। चुंगी विषयक प्रतिबन्ध, जो आंतरिक व्यापार के बाधक थे, प्रायः नष्ट हो चुके थे। उसी काल में इंग्लैंड ने अपना औद्योगीकरण कर लिया था, और वह स्वतन्त्र व्यापार के आधार पर कार्य कर रहा था। भारत को उसका अनुसरण करना था। इन सब कारणों से भारत का विदेशी व्यापार बढ़ गया और फलरूप आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। १८६४-६९ तक के पांच वर्षों में ८९ करोड़ रु. से लेकर १८९९-१९०४ में २१० करोड़ रुपये तक की कुल व्यापार में वृद्धि हो गई और उससे भी आगे १९०९-१४ तक के काल में ३७६ करोड़ रुपये का व्यापार हो गया।

प्रथम विश्व-युद्ध के समय (१९१४-१९१९)—इस काल में भारत की आयात और निर्यात, दोनों में ही भारी अंतर हुआ, जो निम्न तालिका में दर्शाया गया है:—

तालिका १

रुपयों की संख्या करोड़ों में (१९१३-१४ की कीमतों के आधार पर गणना किया गया)[1]

	आयात	निर्यात	योग
१९१३-१४	१८३	२४४	४२७
१९१८-१९	६३	१६०	२२३

पता चलता है कि निर्यात की अपेक्षा आयात बहुत ही नीचे आ गई और कुल योग में यह गिरावट लगभग ५० प्रतिशत ही हुई। निर्मित वस्तुओं के निर्यात का अनुपात १९१३-१४ के कुल व्यापार के २२ प्रतिशत से उन्नत होकर १९१८-१९ में ३६ प्रतिशत हो गया। यदि भारत मशीनों का निर्माण करने योग्य होता अथवा मशीनों की आयात कर पाता, तो वह इस अवसर का उपयोग करके अपना औद्योगीकरण कर लेता जैसा कि जापान ने किया था।

व्यापार की गिरावट के प्रमुख कारण यह थे :—

(क) शत्रु-देशों के साथ व्यापार संपूर्णतः बन्द हो गया था; दूसरी ओर तटस्थ देशों के साथ व्यापार पर कड़ी पाबन्दियाँ थीं।

(ख) लड़ाके देशों में विशाल क्षेत्रों के विनाश ने उनकी क्रयशक्ति को न्यून कर दिया था।

(ग) कुछ देशों में मुद्रास्फीति का प्रभाव उनके व्यापार पर भी हुआ था।

(घ) जहाजों में माल रखने के स्थानों का अभाव, किरायों में वृद्धि और बीमों की राशियों ने व्यापार को भारी धक्का पहुंचाया।

---

१. पी. सी. जैन की इंडस्ट्रियल प्रोब्लैम्ज़ आव् इंडिया पृ० १२७ से ली गई तालिका।

युद्धोत्तर-काल में (१९१९-२९)—लड़ाई समाप्त होते ही व्यापार में एकाएक उन्नति हुई। भारतीय वस्तुओं की बहुत मांग थी। किन्तु भारत में रेल-यातायात की कठिनाइयां और रुपये की विनिमय दर ऊंची होने के कारण, हमारे निर्यात और भी अधिक होते। सदा की तरह, इस उन्नत दशा के अनंतर मंदी आई, जबकि हमारा व्यापारिक-सन्तुलन १९२० से १९२२ तक विपरीत हो गया। १९२१-२२ के बाद भारतीय व्यापार धीरे-धीरे संभलने लगा और यह क्रम सामान्य अवस्था प्राप्त होने तक जारी रहा। निम्न तालिका में यह तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं :—

तालिका २

रुपयों की गणना करोड़ों में (इसमें पुनर्निर्यात भी सम्मिलित है किन्तु सरकारी गोदाम सम्मिलित नहीं)

वर्ष	आयात	निर्यात	योग	शेष
१९१९-२०	२२२	३३६	५५८	+११४
१९२०-२१	३४७	२६७	६१४	—८०
१९२१-२२	२८२	२४८	५३०	—३४
१९२२-२३	२४६	३१६	५६२	+७०
१९२९-३०	२४९	३१८	५६७	+६९

भारत अब भी निर्मित वस्तुओं की आयात करता था, किन्तु आयात-पत्र में उसके योग की महत्ता पहले की अपेक्षा कम थी। इसका मुख्य कारण तो स्वदेशी आन्दोलन और सुरक्षा के फलरूप प्रगतिशील औद्योगीकरण था, हालांकि उसका रूप अचल था। इसके साथ ही, सरकार भी यथावसर मिलने पर अपने लिए भारत में माल खरीद लेती थी।

"वृहद् मंदी" का काल (१९२९-३३)—न्यूयार्क में वाल स्ट्रीट के व्यापार-भंग ने, "जो उसके इतिहास में महानतम है," कीमतों की गिरावट का श्रीगणेश किया और जिसका अंत विश्वभर में एक अनहोनी मंदी के रूप में हुआ। मंदी के इस तात्कालिक कारण की पृष्ट-भूमि में अन्य गम्भीर कारण भी थे। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण कारण दुनिया में सोने का दुर्विभाजन था। ६० प्रतिशत से अधिक सोना अमरीका और फ्रांस के पास था। अन्य देशों की रक्षित निधियां रिक्त हो चुकी थीं और उन्हें अपनी करेंसी (मुद्रा) की संख्या को भी कम करना पड़ा था, जिसके फलरूप और अधिक कीमतें गिरीं। इस मंदी का एक अन्य कारण कृषि में यांत्रिक साधनों का प्रयोग था और उसके फलस्वरूप कच्चे माल का अतिरिक्त उत्पादन और निर्माण हुआ। दक्षिण अमरीका और भारत में राजनीतिक संघर्षों ने कीमतों की गिरावट पर और दबाव डाला।

इस मंदी ने सर्वत्र ही राष्ट्रीय भावना की लहर को वेग प्रदान किया, जिसके फलरूप आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी प्रतिरोधों का जन्म हुआ, क़ोटा (नियत अंश)

निश्चित हुए और दोतरफा संधियां की गई, जिसके कारण विश्व-व्यापार में अधिक न्यूनता हुई। एक शिलिंग ६ पेंस की दर से रुपये की उस समय की ऊंची कीमत ने, जबकि दूसरे देश अपनी मुद्रा को कम कर रहे थे, भारतीय निर्यात को निरुत्साहित किया। इसके कारण इंडो-जैपिनीज़ ट्रेड कन्वैन्शन की समाप्ति हुई। जापान ने भारतीय कपास का बहिष्कार कर दिया। इससे कष्ट में अधिक वृद्धि हुई। कच्चे माल और कृषि उत्पादनों की अपेक्षा निर्माण की हुई वस्तुओं की कीमतें अधिक गिर गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत के निर्यात की अपेक्षा उसकी आयात अधिक सिकुड़ गई। आयात और निर्यात के बीच की खाई को पूरा करने के लिए भारत को १९३० और १९३८ के बीच ३५० करोड़ रुपये की राशि से अधिक का सोना निर्यात करना पड़ा। यदि इस सोने की निर्यात न होती तो विदेशों में भारत की साख संभवतः नष्ट हो जाती, क्योकि उसे "घरेलू व्ययों" को भी अभी देना था। १९३३-३४ में प्रकाश की झलक हुई, जिससे पता चला था कि भारतीय निर्यात ने अपना रुख मोड़ा है और वह सही दिशा की ओर अग्रसर हो गया है।

स्वास्थ्य-लाभ का काल—तीव्र आर्थिक राष्ट्रीयता, उच्च यातायात-कर विषयक प्रतिरोधों और दोतरफा संधियों की सीमाओं के बावजूद भी १९३४ के उपरान्त क्रमशः पुनः सुधार होने जा रहा था। मुख्यतः इसके निम्न कारण थे: (१) अमरीका में रीकवरी प्लान (पुनः सुधार योजना) की स्वीकृति, (२) रबड़ सरीखे कच्चे मामान के उत्पादन पर अवरोध और नियंत्रण, (३) विश्वभर में युद्ध के भावी खतरे के लिए शस्त्रीकरण पर व्यय। कैनेडा में, १९३२ में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों ने, जो ओटावा संधि (Ottawa Pact) की थी, उससे भारत के व्यापार को मदद मिली। इस बात का समर्थन हो चुका है कि "इंग्लैण्ड के साथ इस समझौते के अभाव की दशा में, यहीं नही कि भारत केवल इस अतिरिक्त व्यापार से ही वंचित रह जाता, प्रत्युत इससे भी बढ़कर, साम्राज्य के अन्य देशों के असमान और सुविधा-संपन्न मुकाबिले के फलरूप इंग्लैड जाने वाले भारतीय निर्यात को अधिक हानि सहन करनी होती।"[१] १९३४ में इंडो-जैपिनीज व्यापार समझौता हुआ था और जापान के साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्धों में उन्नति हुई थी। धीरे-धीरे कच्चे माल की कीमतों में उन्नति हुई, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत के निर्यात की कीमत में वृद्धि हुई। १९३६-३७ तक व्यापार में भी उन्नति होती रही, किंतु १९३७-३८ में पुनः एक धक्का-सा लगा, जो "अल्पकालीन विराम" (Recession) के नाम से ख्यात है और वह १९३८-३९ तक ही रहा जबकि शस्त्रीकरण की दौड़ जारी थी और उसके परिणामस्वरूप विश्वभर में अत्यधिक व्ययों के कारण कीमतों में वृद्धि हुई और व्यापार में उन्नति। तत्पश्चात् युद्ध की आशंकाओं के बादल अधिक गहरे हुए और उनके कारण व्यापारिक कार्यवाही में अवरोध उत्पन्न हुआ। इस सारे समय में जापान चीन

---

१. वी. के. मदान—"इंडिया एंड इम्पीरियल प्रेफरैसिज़," पृ० १९०।

के साथ लड़ने में व्यस्त था और उसकी भारतीय कपास की मांग लोप हो गई थी, फलतः गये वर्ष की अपेक्षा १९३७-३८ में भारतीय निर्यात में न्यूनता आ गई। किसानों की क्रय-शक्ति में ह्रास होने से उनकी आयात की वस्तुओं की मांग में भी कमी हो गई।

५. द्वितीय विश्व-युद्ध काल में व्यापार। १९३९ में युद्ध की घोषणा से, भारतीय व्यापार का चित्र ही बदल गया। कीमतों में वृद्धि होने लगी, क्योंकि भारतीय वस्तुओं की मांग बढ़ गई थी। भारतीय निर्यात १९३९-४० में चढ़ गया; और यद्यपि युद्ध के कारण भारत से कई मंडियां छिन गई थीं, तथापि १९४१-४२ में उसका कुल निर्यात उन्नत हो गया था। यहां यह बता दिया जाय कि इन वर्षों के व्यापारिक अंकों में अनेक न्यूनताएं थीं। उदाहरण के लिए, उनमें न तो ब्रिटिश सरकार के क्रयों का समावेश है, न ही अमरीका द्वारा उधार-पट्टे अथवा पारस्परिक सहयोग (Reciprocal Aid) के आधार पर दिये सामान को गिनती में लिया गया है। इसके अतिरिक्त इन अंकों में रेलों और देशी रियासतों के क्रय अंकों को भी शामिल नहीं किया गया।

तालिका ३

भारत का विदेशी व्यापार, जिसमें पुर्ननिर्यात भी सम्मिलित है—
(रुपये करोड़ों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	योग
१९४०-४१	१५७	१८७	३४४
१९४१-४२	१७३	२३७	४१०
१९४२-४३	११०	१८७	२८७
१९४३-४४	११८	१९९	३१७
१९४४-४५	२०४	२१०	४१४

इन त्रुटियों के होने पर भी, जैसे-तैसे, व्यापार के ऊपर लिखित आंकड़े हमें निम्न निर्णय पर पहुंचाते हैं :—

(१) भारतीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाये गए, जो १९४२-४३ में कड़े हो गए,

जबकि भारत का कुल व्यापार न्यूनतम था। (Trade Controllers) व्यापार-नियंत्रक नियत किये गए और कोई भी निजी व्यापार पूर्व-स्वीकृति प्राप्त किये बिना नहीं हो सकता था। प्राथमिकता का तरीका बनाया गया और व्यापारियों को बहुत छान-बीन के बाद लाईसैंस (आज्ञा-पत्र) दिये जाते थे। तटस्थ देशों की उन फर्मों के नामों को "काली सूची" में दर्ज कर दिया गया था, जिनके द्वारा शत्रु-देशों को खबरें पहुंच जाने का भय था और उनके साथ व्यवहार करने पर भी रोक लगा दी गई थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, छानबीन और प्रतिबन्ध अधिकाधिक कड़े होते गए।

(२) **ज्यों-ज्यों युद्ध में प्रगति होती गई, भारत के हाथ से अनेक अच्छी मंडियां निकलती गईं**—युद्ध के प्रथम वर्ष में फ्रांस और इटली जैसी महाद्वीपीय मंडियां या तो ह्रास अथवा शत्रु-अधिकार के कारण इससे छिन गई। १९४१ में, जब जापान मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में शामिल हुआ, तो उसकी भारत-स्थित संपत्ति को जब्त कर लिया गया। आगामी वर्ष में, जबकि बर्मा में युद्ध हो रहा था, हमारे लिए सुदूर-पूर्व की मंडियां भी बन्द हो गईं। इन क्षतियों के बावजूद भी भारत को उतनी हानि नहीं हुई, क्योंकि उसे मध्यपूर्व में नई मंडियां मिल गई और उसने मित्र-राष्ट्रों के लिए अपने निर्यात का विस्तार कर लिया।

(३) १९४२-४३ में अल्पकालिक विराम का तीसरा कारण था, **जहाज़ों में अत्यधिक स्थानाभाव**। व्यापारिक सूचियों की कठोरतापूर्वक जांच होती थी और सब अनावश्यक वस्तुओं को काट दिया जाता था। जहाज़ों में उपलब्ध स्थान को अधिकतर सिपाहियों और युद्ध-सामग्री की यातायात के उपयोग में लाया जाता था। उच्चतम किराए और बीमे की दरें भी सामुद्रिक व्यापार के लिए बाधारूप बनीं।

(४) चूंकि युद्ध लम्बा हो गया था, इस कारण इंग्लैण्ड और अमरीका के स्टाक चुक गये और उनकी पूर्ति नहीं हो सकती थी। उस काल में यही दो देश थे, जो भारत को निर्माण की हुई वस्तुएँ दे सकते थे। इससे आयात की गिरावट को मदद मिली। जो भारत को चाहिए था, वह उपलब्ध नही था। कच्चे माल को युद्ध की सामग्री बनाने के काम में लाया जा रहा था।

(५) **युद्ध-काल में भारत के निर्यात ने अपने आयात की अपेक्षा बृहद् उछाल का दिग्दर्शन कराया**—विदेशी व्यापार के विरुद्ध जो विपरीत अंश कार्य कर रहे थे, उनसे निर्यात की अपेक्षा आयात में अधिक संकुचन पैदा हुआ। युद्ध के अंतिम वर्ष में आयात में वृद्धि का कारण जहाज़ों में उपलब्ध स्थानों का आधिक्य था। शत्रु पनडुब्बियों की कार्य-वाही में होने वाली कमी व्यापारिक-लाभों में चित्रित हो रही थी। आयात में सबसे अधिक बृद्धि खनिज-तेलों में हुई थी, जिनकी मुख्य खपत थल और नभ सेना द्वारा होती थी।

६. **युद्धोत्तर वर्षों में व्यापार ।** निम्न तालिका युद्धोत्तर वर्षों में भारत के व्यापार के दृष्टिकोण को उपस्थित करती है :—

(रुपये करोड़ों में)

वर्ष	वायु और समुद्र द्वारा			पाकिस्तान, ईरान और अफग़ानिस्तान के साथ भूमि द्वारा		
	निर्यात+ पुर्नर्निर्यात	आयात	शेष	निर्यात	आयात	शेष
१९३८	१६९	१५७	+१२			
१९४८[१]	४२६	४९६	—७०	३०	९७	—६७
१९४९[१]	४३९	६३०	—१९१	३६	४१	—५
१९५०	५४३	५०५	+३८	१६	३८	—२२
१९५१	४१०	३५८	+५२	८	२६	—१८

१. यह मालूम हुआ कि भारत के विदेशी व्यापार ने, जैसे-जैसे युद्ध पृष्ट-भूमि में होता गया, मूल्य और विस्तार, दोनों ही दृष्टियों से उच्चतर स्तर को प्राप्त किया ।

२. भारत सरकार द्वारा नियंत्रण लगाने अथवा उन्हें क्षीण करने से विदेशी व्यापार पर प्रभाव हुआ ।

३. देश के व्यापारिक शेष में घाटा बढ़ रहा था, विशेषकर अमरीका सरीखे कठोर करेंसी वाले देशो के साथ । यह खाद्य-सामग्री, कपास सरीखे औद्योगिक कच्चे माल, और रद्दी हुई मशीनों की जगह नई लाने के लिए भारी भरकम सामान, और जल-विद्युत यंत्रों तथा अनेक बहुमुखी धंधों की आयात के कारण हुआ ।

४. निर्यात पर नियंत्रण धीरे-धीरे कम हुए, किन्तु परिमाणात्मक सीमा हमेशा ही जारी रही । विदेशी क्षेत्र की घोषणा कर देने से पाकिस्तान द्वारा नियंत्रण अनिवार्य थे । डालर तथा अन्य कठोर करेंसियों की प्राप्ति में कठिनाइयों के कारण तरल करैंसी के देशों की अपेक्षा उक्त प्रकार के देशों में निर्यात के लिए अधिक उदारता से लाईसैंस दिये गए ।

५. सितम्बर १९४९ में भारतीय करैंसी में अन्य स्टर्लिंग देशों की समानता के लिये ३०·५ प्रतिशत मूल्य की कमी की गयी ताकि कठोर करैंसी के देशों के साथ निर्यात को प्रोत्साहन मिल सके और आयात में निरुत्साह । समष्टि रूप से इसका उद्देश्य व्यापारिक घाटे को न्यून करना था । इस उपाय और आयात पर कड़े नियंत्रण से नवम्बर १९४९ से, और आगे की ओर व्यापारिक घाटा अतिरिक्त लाभों के रूप में बदल गया ।

६. १९५१ के पिछले आधे वर्ष में व्यापार के प्रयोगात्मक अंशों से पता चलता है कि भारत का व्यापारिक संतुलन पुनः प्रतिकूल हो गया था । इस प्रकार सम्पूर्ण वर्ष में निर्यात व्यापार ७६३ करोड़ रुपये का हुआ और आयात ८५० करोड़ रुपये का, जिस से

८७ करोड़ रुपये का घाटा हुआ। यह घाटा मुख्यतः कठोर करेंसी क्षेत्र—अमरीका और कैनेडा तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के पाकिस्तान के साथ हुआ।

७. युद्धकालीन वर्षों में निर्यात को विस्तृत करने के यत्न। युद्धकाल में भारत के हाथों से अनेक मंडियां निकल गयीं। उसकी कपास, तिलहन, खालें, जो अक्सर जापान, फ्रांस और जर्मनी को भेजे जाते थे, बहुत बड़ी संख्या में बिना बिके पड़े थे। सरकार ने बाज़ार में आधिक्य को रोकने के लिए नकदी फसल की जगह खाद्यान्नों को पैदा करने के लिए भरसक कोशिश की। वस्तुस्थिति यह थी कि बर्मा के चावलों की आयात के स्थान पर जो खाई उत्पन्न हो गयी थी, उसे पूरा करना था। इसके अतिरिक्त, भारतीय खाद्य सामग्री की लंका, ईरान और मध्यपूर्व की मित्र-राष्ट्र सेनाओं को भोजन देने के लिए आवश्यकता थी। इस प्रकार एक ओर, खाद्य अन्नों की कीमतों में न्यूनता होने का खतरा थोड़ा था, और दूसरी ओर घाटे के प्रान्तों में भारी अकाल पड़ा हुआ था। फलस्वरूप सरकार भोजन की स्थिति को उन्नत करने के लिए प्रत्येक उपाय को उपयोग में लाई। आर्थिक सहायता के वचन दिये गए, बशर्ते कि नई भूमि को खाद्य-अन्नों के लिए जोता जाय, तो कुछ वर्षों के लिए भूमि-कर छोड़ा जायगा, और सस्ते दामों पर बढ़िया किस्म का बीज दिया जायगा। इन सब यत्नों के बावजूद खाद्य-अन्नों की कीमत बढ़ती ही गयी और उन्हें नियंत्रित करने की सब कोशिशें असफल रही।

सरकार ने व्यापारिक फसलों की खेती करने को भी निरुत्साहित करने की चेष्टा की। सरकार ने सट्टा और रुई तथा पटसन के भावी वचनों को कानून-विरुद्ध ठहरा दिया। उसने मित्र-राष्ट्रों की ओर से वस्त्र-व्यवसाय को खरीद लिया और मध्य-पूर्व में वस्त्र का निर्यात भी किया। इस प्रकार मिलों में कपास की खपत में वृद्धि के लिए प्रोत्साहन दिया गया। इन सब के अतिरिक्त, हमारे उत्पादों के लिए नई मंडियां खोजने की चेष्टाएं की गयीं। १९४० में, भारत सरकार के आर्थिक परामर्श दाता डा. टी. ई. ग्रेगोरी और सर डेविडमीक का एक शिष्ट मंडल अमरीका भेजा गया। उन्होंने १९४१ में सूचना दी कि अमरीका कपास, तिलहन तथा अन्य कच्चे मालों के लिए भारत की खोई हुई महाद्वीपीय मंडियों के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकता। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि अमरीका औद्योगिक देश होने के साथ ही कृषि देश भी है। उसे भारतीय कपास की आवश्यकता नहीं थी और वह आवश्यकतानुसार सब प्रकार के तिलहन की आयात अर्जन्टाईना से करता था। जो भी हो, उसे भारतीय अभ्रक, रबड़ और काले रंग के खनिज पदार्थों की आवश्यकता थी। रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि धातुओं की चित्रकारी की हुई वस्तुओं, कसीदाकारी की वस्तुओं, ग़लीचों और दरियों के लिए अमरीका में मंडी मिल सकती है। काश्मीर और बनारसी माल की वहां मांग है। इस प्रकार की मंडी का कोई स्थिर रूप तो हो नहीं सकता था और इस के लिए अत्यधिक श्रम की भी आवश्यकता थी।

भाग्य से, भारत को मध्यपूर्व में लाभदायक मंडियां मिल गयीं। टर्की, ईरान, ईराक,

अरेबिया और ईजिप्ट की मंडियों को पाकर उसे संतोष हुआ। इन्हें न केवल भारत की चाय और कच्चा माल ही चाहिए था प्रत्युत उसका बना कपड़ा भी उन्हें दरकार था। कैनेडा और आस्ट्रेलिया ने भी उसकी कुछ चीज़ों की खपत की। १९४० में (Export Advisory Council) निर्यात परामर्शदातृ समिति इस उद्देश्य से नियत की गयी कि वह भारत से निर्यात के उपायों को प्रोत्साहन देने के लिए प्रस्ताव करे। विदेशों के साथ व्यापारिक शृंखला जोड़ने के लिए अफगानिस्तान, कैनेडा, अर्जन्टाईना, आस्ट्रेलिया, ईजिप्ट, केनिया, नेटाल, लन्दन और न्यूयार्क में ट्रेड कामिश्नर नियत किये गए। इसके फलस्वरूप विदेशों में भारतीय निर्यात भीषण क्षति से सुरक्षित रहा।

यह अनुभव किया गया कि भारतीय निर्यात को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए व्यापारिक-विज्ञों को संगठित करने की आवश्यकता है। भारत में बम्बई, कलकत्ता, मदरास, और दिल्ली सरीखे महत्वपूर्ण नगरों में व्यापार-मंडल (Chambers of Commerce) हैं। उन्हें प्रचलित आर्थिक, व्यापारिक और औद्योगिक प्रश्नों पर भारतीय-मत को शिक्षित करने के लिए उत्साहित किया गया ताकि निर्यात करने वालों की सम्पूर्णता एवं स्थिरता को उन्नत किया जा सके। व्यापार, यातायात, खानों और बिजली और कृषि विभागों ने लाभदायक आंकड़े देने शुरू कर दिये। ट्रेड कमिश्नरों के साथ निकट सम्बन्ध बनाये गए और विदेशों में भारतीय वस्तुओं को विज्ञापित करने के यत्न किये गए।

८. भारतीय व्यापार के विचित्र रूप (१) युद्ध-पूर्व के वर्षों में—भारत के युद्ध-पूर्व विदेशी व्यापार के निम्न मुख्य रूप थे :—

(अ) प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व आयात और निर्यात दोनों में ही इंग्लैंड की विशिष्ट स्थिति थी। १९१४ से पूर्व भारत की कुल आयात में से ६३% वह देता था। यह अंक क्रमशः उस समय तक घटता गया जब कि १९३८-३९ में वह ३०% पर आ पहुंचा, किंतु इतने पर भी वह अभी पर्याप्त बड़ा था। भारत की आयात में इंग्लैड की विशिष्टता इस कारण थी कि दुनिया में यह सब से पहला देश था, जिसने अपना औद्योगीकरण किया था। इसके अतिरिक्त एक सदी से अधिक काल तक वह भारत पर शासन भी करता रहा था। इस प्रकार वह भारत में अपना माल बेचने की प्रमुख स्थिति में था।

१९०९-१४ तक भारतीय निर्यात में इंग्लैंड का आयात की तरह बहुत बड़ा हिस्सा नही था, कुल योग में से केवल २५% था। यह प्रतिशत १९३८-३९ में उन्नत होकर ३४ हो गया। इंग्लैंड ने भारतीय रेलों, कारखानों और बाग-बगीचों में रुपये की बड़ी-बड़ी राशियां लगायीं। इन से वह बड़े-बड़े लाभाँश प्राप्त करता। इस से बढ़कर, अंग्रेज़ी जहाज़ों, बैंकों और बीमा कम्पनियों ने "अदृष्ट सेवाएं" कीं। इन तथा अन्य सेवाओं के लिए भारत को एक बड़ी भारी कीमत देनी होती थी। यह था एक कारण, जिसने भारत के निर्यात में इंग्लैंड का भाग स्थिर बनाये रखा।

जब अन्य देशों ने अपना औद्योगीकरण कर लिया, तो उन्होंने भारत के साथ सीधे रूप में व्यापारिक शृङ्खला जोड़नी शुरू कर दी। फलरूप, भारत के व्यापार में ब्रिटेन का भाग कम होना शुरू हो गया और जापान, जर्मनी और अमरीका ने उसका आंशिक स्थान ले लिया।

निम्न तालिका इस स्थिति को स्पष्ट करती है :—

भारत के व्यापार में इंग्लैड का भाग (रुपये लाखों में)

	१९०९-१४ की औसत		१९१४-१९ की औसत		१९३८-३९	
	मूल्य	प्रतिशत	मूल्य	प्रतिशत	मूल्य	प्रतिशत
निर्यात	५६,३०	२५·१	६९,६२	३१·१	५८,२५	३४·३
आयात	९१,५८	६२·८	८३,५६	५६·५	४६,४९	३०·५

(ब) निर्माण की हुई वस्तुओं में कपड़ा, चमड़े की वस्तुएं, शीशे का सामान, घड़ियां और क्लाक, खिलौने, मोटरकारें, साईकिल, सिलाई की मशीनें, स्टेशनरी और ऐसी ही अनेक वस्तुओं की आयात की गई थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, भारत ने इन में से कुछेक वस्तुओं के निर्माण के लिए कारखाने स्थापित किये। फलस्वरूप उन वस्तुओं की आयात में न्यूनता हुई, किंतु दूसरी ओर उनके कच्चे माल की आयात में वृद्धि हुई।

भारत के आयात व्यापार की बनावट (आयातों का प्रतिशत)

	१९२०-२१	१९३८-३९	१९३९-४०
१. खाद्य, पेय और तंबाकू	११	१६	२२
२. कच्चा माल	५	२२	२२
३. निर्मित वस्तुएं	८४	६२	५६

यह पता चलता है कि १९२०-२१ तक में भी, निर्मित वस्तुओं का इतना आधिक्य था कि हमारी कुल आयात का वह ८४% था। उस समय तक भारतीय तटकर विषयक नीति का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश हितों की सहायता करना था। प्रथम विश्व-युद्ध के समय, यह अनुभव किया गया कि इस नीति का रूप बदलने की आवश्यकता है। तदनुसार १९२१ में तटकर सम्बन्धी कमीशन (Fiscal Commission) नियत की गयी। इसके परिणामस्वरूप कुछेक उद्योगों को सुरक्षा मिली। नाममात्र होने पर भी, इस से इस्पात और खांड के उद्यागों को उन्नति करने में सहायता पहुँची। यह प्रगति भारत के विशाल साधनों के मुकाबिले में कोई महत्व नहीं रखती थी, और ऐसा होने पर भी यह वास्तविकता की अपेक्षा दिखावा अधिक थी। क्योंकि आयात-निर्यात कर की दीवारों

के पीछे विदेशी हितों ने भारत में अपने-आप को स्थापित कर लिया था। उदाहरण के लिए, दियासलाई की आयात गिर गयी थी, किंतु इस गिरावट का कारण भारत में स्वीडन कारखाने की स्थापना था। इसी प्रकार साबुन की आयात में गिरावट का कारण लिवर ब्रदर्स का भारत में आ जाना था। अन्य क्षेत्रों में, अर्थात् वस्त्र-व्यवसाय, इस्पात और खांड में भारतीय साहस ने उन्नति की थी। नीचे दी गई तालिका से प्रकट होता है कि किस प्रकार युद्ध-अन्तर्काल में कुछ निर्मित वस्तुओं की आयात में प्रगतिशील न्यूनता हुई।

कुछ निर्मित वस्तुओं की आयात (रुपये लाखों में)

	१९२०-२१	१९३२-३३	१९३८-३९
सूती वस्त्र	८३,७८	१३,३७	१४,१५
लोहा और इस्पात	३१,२९	५,५०	६,६६
खांड	१८,५०	४,२३	२४
दियासलाई	१,६७	१	—
सीमेंट	१,३९	२९	५

(स) इन वर्षों में भारत के व्यापार का एक अन्य विचित्र रूप अपने निर्यात में प्रमुख जिंसों की अधिकता का था। प्रथम विश्व-युद्ध से पहले भारत के ७०% निर्यात में खाद्य सामग्री और कच्चे माल का समावेश था। युद्ध-काल में, निर्मित वस्तुओं के निर्यात में कुछ वृद्धि हुई, किंतु अनन्तर काल में यह स्थिर नहीं रह सकी। उदाहरणार्थ, १९२०-२१ में, खाद्य-सामग्री और कच्चे माल की निर्यात ६४% थी, दूसरी ओर निर्मित वस्तुएं कुल योग की ३४% थी, और १९३९-४० में भी लगभग वही प्रतिशत था। इस से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि भारत अपने कच्चे माल का यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकता था और १९३९ तक उसके निर्यात का विस्तार कच्चा माल ही था। निम्न तालिका इस स्थिति को स्पष्ट करती है:—

भारत के विदेशी व्यापार का रूप (निर्यात की प्रतिशत)

	१९२०-२१	१९३८-३९	१९३९-४०
खाद्य, पेय और तंबाकू	२८	२३	२०
कच्चा माल	३५	४५	४३
निर्मित वस्तुएं	३६	३०	३८

(द) और आगे, यह देखा जाता है कि जहां भारत की आयात में अनेक प्रकार की वस्तुओं का समावेश था, तहां, उसके निर्यात की संख्या बहुत थोड़ी थी। उसके निर्यात की मुख्य वस्तुएं थीं: कच्चा पटसन, कपास, चाय, तिलहन, खालें और पटसन तथा सूती कपड़ा; दूसरी ओर आयात में सब प्रकार की अनगिनित निर्मित वस्तुओं का समावेश था।

(ई) इन वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार के उल्लेखनीय रूपों में उसके व्यापार

का अनुकूल संतुलन एक था । इस के कारण सरकार के लिए सुदृढ़ विनिमय दर को स्थिर रखने में आसानी हुई और वह सब विदेशी ज़िम्मेदारियों को पूरा करने में समर्थ रहीं। केवल कुछेक विशिष्ट वर्षों में ही भारत का प्रतिकूल संतुलन रहा था । सामान्यतः आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक थी। १९३१ में शुरू होने वाले मन्दी के वर्षो में यह संतुलन धीरे-धीरे कम अनुकूल होने लगे, और भारत को विदेशी माल के निर्यात के घाटे की पूर्ति करने के लिए सोने का निर्यात करना पड़ा ।

भारत को प्रतिवर्ष ३० से ५० करोड़ रुपये के बीच "घरेलू व्ययों" को भी पूरा करना पड़ता था। १९३१ में और उस से आगे भी व्यापारिक संतुलन इतना अनुकूल नहीं था कि जिससे भारत समुद्र-पार की अपनी जिम्मेदारियों को पूरा कर सकता, फलतः, सोने का निष्कासन शुरू हुआ और १९३९ तक जारी रहा, जबकि पुनः अनुकूलता उत्पन्न हो गयी। इन वर्षो में भारत ने ३६२ करोड़ रुपये की लागत का सोना निर्यात किया। भारत के लोगों द्वारा, जो १९२९ के बाद कीमतों में असाधारण गिरावट के कारण संकट में थे, सोने की इस बिक्री से भारत के विदेशी व्यापार को मुक्ति मिली और उसने "घरेलू व्ययों" तथा समुद्र-पार की अन्य जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए सरकार को रुपया दिया ।

परिणाम—युद्ध-अन्तर्काल में सभी देशों के अर्थशास्त्री आयात को तिरछी नज़रों से देखते थे। सामान्यतः व्यापार को लाभांश प्राप्त करने के लिए एक साधन रूप में प्रयोग किया जाता था। यहां तक कि इंग्लैड ने भी, जो स्वतन्त्र व्यापारी देश था, ऐसा ही किया। भारत को "घरेलू व्ययों" के रूप में जो चुकाना पड़ता था, उसमें यहां के अंग्रेज़ अफसरों और सिपाहियों के वेतन शामिल थे, और उसके साथ ही व्यापार के अनुकूल संतुलन द्वारा ब्रिटिश पूजी का ब्याज और लाभ भी उसमें सम्मिलित था। इन वर्षों में विदेशी व्यापार की यंत्ररचना ने भारत की औद्योगिक प्रगति में रुकावट डालने का काम किया। अधिकतया प्रमुख जिन्सों की निर्यात की गयी और भोक्ता वस्तुओं की आयात की गयी । इस समय दूसरे देशों ने आयात-निर्यात-कर का आत्म-निर्भरता के उद्देश्य से प्रयोग किया। यह सोचा गया कि एक देश को यथासंभव कम आयात करनी चाहिए ।

२. युद्ध के वर्ष (१९३९-४५) । युद्ध की घोषणा के बाद एकाएक दुनिया भर में व्यापार में महान् उन्नति हुई। प्रत्येक देश ने उन वस्तुओं की आयात करनी चाही, जिनका वहां अभाव था और उसका विचार था कि यदि उसे लड़ना पड़ा, तो वह उनका उपयोग कर पायेगा। फलतः, भारतीय कच्चे माल की मांग बढ़ गयी। जो भी हो, जब महाद्वीपीय देशों पर जर्मनी का अधिकार हो गया तो भारत की अनेक मंडियां जाती रहीं, जिसके फलरूप उस के विदेशी व्यापार में एक गहरी सिकुड़न हो गयी । जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा ने अवस्थाओं को और भी जटिल कर दिया। धीरे-धीरे जैसे-जैसे

मित्रराष्ट्रों की सेनाएं विजयी होती गयी, भारत की चाय, कपास और पटसन निर्मित वस्तुओं की निर्यात में उन्नति होती गयी ।

(१) **व्यापार की रचना**—एक देश के व्यापार की रचना में होने वाले परिवर्तन आकर्षक अध्ययन का रूप धारण कर लेते हैं। इन परिवर्तनों में इस देश की आर्थिक कार्यवाही का बदलता हुआ रूप प्रतिबिम्बित होता है। हम देखते है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में भारत के निर्यात में प्रत्यक्ष परिवर्तन हुआ। (क) अब भी जूट निर्मित वस्तुओं को ही गौरव का स्थान प्राप्त था, जिस की निर्यात, १९४२-४३ में ३६ करोड़ रुपये, १९४३-४४ में ४९ करोड़ रुपये और १९४४-४५ में ६० करोड़ रुपये की थी। (ख) सूती वस्त्र व्यवसाय के निर्यात में भी तीव्र गति से उन्नति हुई थी, जो युद्ध-पूर्वकाल में ६ करोड़ से उन्नत होकर १९४२-४३ में ४६ करोड़ रु० हो गयी थी, और ३८ करोड़ रु० १९४४-४५ में थी। इस एका-एक वृद्धि का कारण जापान का धुरी-शक्तियों से सम्मिलन था। इससे भारत को मध्यपूर्व और अफरीका में जापान की फूली-फली मंडियों को अधिकृत करने का अवसर मिल गया। (स) यूरोप और अमरीका में चाय की भी बहुत मांग थी और १९४४-४५ में चाय की निर्यात ३८ करोड़ रुपये बढ़ गयी, (घ) युद्ध-पूर्व वर्षों में फ्रांस और इंग्लैंड आदि देशों को भारत मुख्यतः मूंगफली देता था, जिसकी औसत निर्यात ९ लाख टन से अधिक प्रति-वर्ष होती थी। युद्ध-काल में भारत ने स्वतः ही अपने तेल-उद्योग को उन्नत किया और इस प्रकार इस दिशा में विदेशी निर्भरता से अधिकांशतः अपने को मुक्त कर लिया; दूसरी ओर, सरकार ने मूगफली के तेल का व्यापार निर्मित करने का यत्न किया। (ङ) १९४३-४४ और १९४४-४५ में भारत के निर्यात की कुल राशि क्रमशः २१० करोड़ रुपये और २२७ करोड़ रु. थी, जिस में से निर्मित वस्तुओं की राशि १०६ करोड़ रुपये और ११६ करोड़ रु. थी। भारत के निर्यात और आयात में कच्चा माल, खाद्य सामग्री, और निर्मित वस्तुएं विस्तारपूर्वक प्रकट करती हैं कि युद्ध-काल के वर्षो में भारत के व्यापार में कैसा आदर्श परिवर्तन हुआ था। पृ० ४७५ की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है।

(२) **व्यापार की दिशा**—इन वर्षों में, भारत ने अधिकांशतः अपना व्यापार साम्राज्य देशों में फैलाया। उसने आस्ट्रेलिया, कैनेडा, ईजिप्ट, ईराक और मध्य-पूर्व के स्टर्लिंग क्षेत्र देशों के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। भारत ने इन सब देशों के साथ व्यापार का अनुकूल संतुलन बना लिया था, केवल बहरीन्स और ईरान देश ही ऐसे थे जिन्होंने १९४३-४४, और १९४४-४५ में क्रमशः ३१ करोड़ रुपये और ५३ करोड़ रुपये की कीमत के खनिज तेल (पैट्रोल आदि) दिये थे और बदले में बहुत कम कीमत की वस्तुओं की आयात की थी।

एक अन्य प्रमुख आकर्षक पहलू यह है कि भारत ने अमरीका के साथ बहुत बड़ा व्यापार बना लिया है। १९४४-४५ में इंग्लैंड के साथ १०२ करोड़ रुपये की तुलना में यह ९५ करोड़ रुपये तक आ गया था।

ब्रिटिश भारत का समुद्री व्यापार (रुपये करोड़ों में)

		१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५
आयात	खाद्यसामग्री	२४	२८	८	७	१९
	कच्चा माल	४२	५०	५२	.६४	११७
	निर्मित वस्तुएं	७०	९४	४९	४५	६५
	मिश्रित	२	२	१	२	२
	योग	१३८	१७४	११०	११८	२०३
निर्यात	खाद्य सामग्री (चाय सहित)	४२	६०	४९	४८	५०
	कच्चा माल	६८	७३	४५	५४	५८
	निर्मित वस्तुएं	८६	११५	९८	१०६	११६
	मिश्रित	२	४	३	२	३
	योग	१९८	२५२	१९५	२१०	२२७

(३) **व्यापारिक संतुलन**—भारतीय आयात सापेक्षित रूप में निम्न स्तर पर रहे (१९३३ से ४४ तक), इसका प्रमुख कारण यह था कि विदेशी आवश्यकता की वस्तुओं को दे सकने के अयोग्य थे। जो भी हो, भारतीय निर्यातों ने जहाज़ों में स्थानाभाव होने पर भी अच्छा उत्कर्ष किया। इस प्रकार संतुलन भारत के पक्ष में अधिक हुआ।

व्यापारिक संतुलन (रु० करोड़ों में)

वर्ष	संतुलन	वर्ष	संतुलन
१९३८-३९	+१७·५	१९४२-४३	+८४
१९४०-४१	+४२	१९४३-४४	+९२
१९४१-४२	+८०	१९४४-४५	+४२

३. युद्धोत्तर के वर्ष। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय में युद्ध-अन्तर्काल में जो विपरीत दृष्टिकोण ग्रहण किया गया था, अब उसकी आवश्यकता नहीं थी। व्यापारिक योजना बनाना एक अनिवार्यता हो गई है। आज भारत को बड़े पैमाने पर मशीनें और यंत्रों की आयात के लिए विदेशी वित्त की आवश्यकता है। उसे व्यापार के अनुकूल संतुलन की भी आवश्यकता है, ताकि वह उन्नति के उद्देश्य से अपनी आयात के लिए चुकाने योग्य हो सके। जिस समय हम युद्धोत्तर वर्षों में व्यापार के अंकों को देखते है, तो हमें विचित्र व्यापारिक आलेखन दृष्टिगत होते हैं। वह निम्न प्रकार हैं:—

(१) भारत के विभाजन ने भारत के व्यापारिक राशि में वृद्धि की है। निर्यात और आयात दोनों की कीमतों में वृद्धि प्रकट होती है। इसका मुख्य कारण दुनियां में जहाज़ी अवस्थाओं का पुनः सुधरना और भारी कृषि मशीनों, जल-विद्युत यंत्रों, औद्योगिक

यंत्रों और कपास, जूट और खाद्य अन्नों की महत्ती आवश्यकता है । इस प्रकार, १९४८, १९४९ और १९५० व्यापार के कुल योग की राशि क्रमशः ९२३ करोड़ रुपये, १०७० करोड़ रुपए और १०४८ करोड़ रुपये थी ।

(२) भारत के व्यापार का संतुलन, विशेषकर डालर और कठोर करैंसी वाले देशों के साथ प्रतिकूल हो गया ।

व्यापार का संतुलन (रु० करोड़ों में)

	योग		स्टर्लिंग देश		स्टर्लिंग-हीन देश	
	१९४८	१९४९	१९४८	१९४९	१९४८	१९४९
निर्यात	४२८	४२५	२२२	२३८	२०६	१८७
आयात	४७०	६२२	२३०	२८९	२४०	३३२·५
शेष	–४२	–१९७	–८	–५१	–३४	–१४५·५

इस प्रकार, भारत के व्यापार की मुख्य समस्या कठोर करैंसी क्षेत्रों में निर्यात में वृद्धि करना था। १९४८ में उसकी अमरीका को निर्यात ७८ करोड़ रुपये थी और आयात १०८ करोड़ रुपये। इस प्रकार ३० करोड़ रुपये का घाटा था। १९४९ में यह घाटा बढ़ कर ३३ करोड़ रुपये हो गया, क्योंकि अमरीका से आयात १०० करोड़ रुपये थी और निर्यात ६७ करोड़ रुपये। फलरूप, भिन्न देशों के लिए निर्दिष्ट कोटे नियत करने पड़े और डालर देशों को सरल ढंग से लाइसैंस देकर उनके निर्यात को विस्तार दिया गया । मि. श्रीराम की अध्यक्षता में (Export Advisory Council) निर्यात परामर्शदातृ समिति ने १९४९ के आरम्भ में तजवीज़ की थी कि हमें अपने सौंदर्य और ऐतिहासिक स्थलों में विशेष सुख-सुविधाओं द्वारा यात्रियों के आने-जाने को प्रोत्साहन प्रदान करके और उस देश में चाय के निर्यात को प्रोत्साहन देकर डालर लाभ करना चाहिए। समिति की राय थी कि पीतल की वस्तुओं और कलाकृतियों को अमरीका और कैनेडा में निर्यात के लिए खुले लाइसेंस मिलने चाहिएं । इसके अतिरिक्त उसने एक विभाग की तजवीज़ की थी, जो भारतीय घरेलू दस्तकारियों को उन्नत करने के लिए रचनात्मक कार्यक्रम बनाये और उनके उत्पादों की निर्यात करे। चूंकि व्यापार का संतुलन अब भी गिरता जा रहा था, इस लिए सितम्बर १९४९ में, डालर को दृष्टि में रखते हुए, स्टर्लिंग के मूल्य में कमी की गयी और उस के साथ ही रुपये में भी। उसी के साथ ही डालर देशों से आयात पर और भी कठोर नियंत्रण लगाये गए। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का व्यापार संतुलन नवम्बर १९४९ से उन्नत होना शुरू हुआ और १९५० के व्यापारिक आंकड़ों में अनुकूल संतुलन दीख पड़ा।

	निर्यात कुल	आयात	शेष रु.
१९५०	५४३	५०५	+३८ करोड़
१९५१ (पहले ६ मास में)	४१०	३५८	+५२ करोड़

(२) कच्चे मालों की आयात में वृद्धि हो रही है, विशेष कर ईजिप्ट और पूर्वीय अफरीका से कच्ची कपास की। आयात की हुई कपास मुख्यत: लम्बे अथवा मध्यम तार की है। जब पाकिस्तान भारत का भाग था, तब भारत को इतनी कच्ची कपास विदेशों से मंगाने की आवश्यकता नही थी। जब से विभाजन हो गया है, अवस्थाएं बदल गयी है और हमें बहुत-सी कपास तथा अन्य कच्चे माल मंगाने पड़ते हैं।

भारत में आयात

(रु० करोड़ों में)

वर्ष	खाद्य सामग्री	कच्चे माल	निर्मित वस्तुएं	मिश्रित
१९४५	२२	१२८	८८	३
१९४९	१२४	१५९	३३४	५
१९५०	८७	१७८	२३१	२ ५
१९५१ (पहले ६ मास)	८३	११३	१५९	२

(३) अब हमें बहुत बड़े परिमाण में कच्चे पटसन की भी आयात करनी होती है। अगस्त १९४७ में कच्चे पटसन के कुल क्षेत्र में से ७३ प्रतिशत पाकिस्तान को गया और भारत के हिस्से २७ प्रतिशत रह गया। इसके फलस्वरूप, भारत को पाकिस्तान से कच्चे पटसन की लगभग ५० लाख गांठों की आयात करनी पड़ती है। इस कच्चे पटसन की भारतीय मिलों में वस्तुएं बनाई जाती है और उनका निर्यात किया जाता है। पाकिस्तान से कपास और जूट के आयात की कठिनाइयों के कारण, सरकार ने कपास और जूट की पैदावार को बढ़ाने का फैसला किया। निम्न आंकड़ों से सरकार के यत्नों का परिणाम स्पष्ट हो जाता है :—

वर्ष	कपास की गांठें (लाखों में)	जूट की गांठें (लाखों में)
१९४९	१७·७	३१
१९५०	२६·३	३३
१९५१	२९·३	४६ (अनुमानित)

(४) भारत बड़ी भयंकर स्थिति में है, क्योंकि उसे खाद्यान्नों की वृहद् आयात करनी पड़ती है। १९४८ में, ११० करोड़ रु० की कीमत के तीस लाख टन खाद्य अन्नों की लगभग दुनिया भर के निम्न देशों से आयात करनी पड़ी थी : अर्जन्टाइना, अमरीका, कैनेडा, इटली, टर्की, रूस, आस्ट्रेलिया, स्याम और बर्मा। १९४९ में १५० करोड़

रुपये की कीमत के ३·७ लाख टन की आयात की गई। १९५० के लिए लक्ष्य १·५ मिलियन टनों का था किन्तु उसे २·१६ टन तक बढ़ाना पड़ा। १९५१ में जिस खाई को पूरा करना था, वह अपेक्षाकृत बड़ी थी और आयात ५·५ मिलियन टन नियत की गई है; १९५२ तो और भी अधिक कठिन समझा जाता है। प्रति एकड़ में अधिक उत्पादन के लिए गम्भीरतापूर्वक यत्न किये जा रहे हैं और उसके साथ ही बड़े-बड़े ट्रैक्टरों से, जिनकी आई. बी. आर. डी. (अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्वास विभाग) से लिये ऋण द्वारा आयात की गई है, नयी भूमि को खेतीबाड़ी के लिए तैयार किया जा रहा है। १९५६ के अन्त तक आत्म-निर्भरता का लक्ष्य रखा गया है।

(५) भारत में औद्योगीकरण धीरे-धीरे बल पकड़ रहा है और अनेक प्रकार की तथा पर्याप्त परिमाण में निर्मित वस्तुओं का निर्यात हो रहा है। इस दिशा में रुपए के मूल्य में न्यूनता का होना और सरकारी सहायता की तत्परता सहायक हुई है। निम्न तालिका से इस प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण हो जाता है :—

भारतीय वस्तुओं का निर्यात (रु० करोड़ों में)

	खाद्य सामग्री	कच्चे माल	निर्मित वस्तुएं	मिश्रित
१९४५	५३	५७	१०४	५
१९४९	११४	९३	२१६	२
१९५०	१२२	१०५	२९३	२
जनवरी से जून '५१	६७	९५	२१३	१·५

(६) अन्त में, युद्ध-पूर्व के वर्षों के साथ तुलना करते हुए, भारत के व्यापार में पर्याप्त परिवर्तन दीख पड़ता है। अब भी इंग्लैण्ड हमारे निर्यात और आयात में महत्वपूर्ण स्थिति रखता है, किन्तु अमरीका उसे पकड़ने जा रहा है। आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान, कैनेडा, बर्मा और ईजिप्ट का भी भारत के व्यापार मान-चित्र में महत्वपूर्ण स्थान है। मध्यपूर्व देशों के साथ भी व्यापारिक बंधनों की बहुत बड़ी आशाएं हैं। इन देशों के साथ भारत ने अभी हाल ही नये सम्बन्ध बनाये भी है। सुदूर-पूर्व के देशों के साथ भारतीय व्यापारिक सम्बन्धों का भविष्य भी उज्ज्वल दीख पड़ता है।

यह उल्लेखनीय है कि साम्राज्य-इतर देशों के साथ हमारा कुल आयात और निर्यात धीरे-धीरे बढ़ रहा है। निम्न तालिका से यह स्पष्ट है :—

साम्राज्य-इतर देशों के साथ व्यापार (रु० करोड़ों में)

निर्यात

वर्ष	कामन्वैल्थ	विदेश	स्टर्लिंग	स्टर्लिंग-हीन
१९३८	७५	८७	८४	८८
१९४६	१३४	१४४	१३६	१४२
१९४९	२३१	१९५	२३८	१८८
१९५०	२७३	२५०	२९३	२३०

आयात

वर्ष	कामन्वैल्थ	विदेश	स्टर्लिंग	स्टर्लिंग-हीन
१९३८	६५	८८	८६	६७
१९४६	१४८	११७	१४२	१२३
१९४९	२८८	३४२	२९३	३३७
१९५०	२३२	२६९	२३१	२७०

९. **देशों के साथ भारत के व्यापार की दिशा।** व्यापार की दिशा से तात्पर्य उन देशों से है, जिनके साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध हैं और उनसे वह सामान बेचता या उन्हें खरीदता है। जहां तक भारत के व्यापार का सम्बन्ध है, हम आसानी के साथ दुनिया को कामन्वैल्थ देशों और विदेशों में बांट सकते हैं। यह देखा गया है कि कामन-वैल्थ देशों को भारत का निर्यात क्रमशः उन्नत हो रहा है । द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर कामन्वैल्थ देशों और विदेशों के बीच ऐसी प्रवृत्ति देखी गई, जो समान रूप में विभाजित थी।

	कामन्वैल्थ		विदेश	
वर्ष	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात
१९३८-३९	९१	९१	६४	७९
१९४९-५०	२५९	२५९	३०१	२२६
१९५०-५१	२४४	२९६	३२१	२९०

कामन्वैल्थ देशों से १९०९-१४ तक हमारी आयात ७० प्रतिशत तक बढ़ी हुई थी। तब से लेकर वह भी गिरती ही आ रही है; जबकि १९५०-५१ में वह केवल ४७ प्रतिशत रह गई और ५७ प्रतिशत अन्य विदेशों से खरीदने के लिए रह गया। इस प्रकार इस समय भारत अपनी बहुमूल्य वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिकांशतः इंग्लैण्ड की अपेक्षा अमरीका, ज़ेकोस्लोवाकिया और बैल्जियम पर और खाद्य-अन्नों के लिए बर्मा, अर्जेन्टाईना, स्याम, कैनेडा, आस्ट्रेलिया और पाकिस्तान पर निर्भर कर रहा है।

कुछ अलग-अलग देशों के साथ भारत के व्यापार का अध्ययन भी मनोरंजक है।

१. **भारत और इंग्लैंड।** भारत के व्यापार के चित्र में इंग्लैण्ड हमेशा ही प्रमुख देश के रूप में रहा है। भारत के निर्यात की सूची में उसका नाम सदा सबसे ऊपर रहा है। युद्धोत्तर के वर्षों में भी उसी का नाम सबसे ऊपर है।

आयात की दिशा में इंग्लैण्ड पिछड़ता जा रहा है। १९१४ से पूर्व ६३ प्रतिशत से द्वितीय विश्व-युद्ध में वह २५ प्रतिशत रह गई। युद्धोत्तर वर्षों में उसने ३० प्रतिशत के लगभग पहुंचकर अपनी स्थिति को संभाला। इसका स्पष्ट कारण यह था कि पूर्व निश्चयानुसार जितने स्टर्लिंग की भारत को स्वीकृति थी, उसमें से सम्पत्ति और

उपयोगिता के रूप में उसका इंग्लैण्ड में जमा संतुलन था। निम्न तालिका से भारत के व्यापार में इंग्लैण्ड की स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

भारत के व्यापार में इंग्लैंड का भाग

अवधि	आयात प्रतिशत	निर्यात प्रतिशत
१९०९-१० से १९१३-१४ (औसत)	६२·८	२५·१
१९३८-३९	३०·५	३४·३
१९४५-४६	२५·३	२८·२
१९४९-५०	२६·६	२५·७
१९५०-५१	२१·७	२२·०

यद्यपि भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन के भाग में प्रतिशत की दृष्टि से गिरावट है, किन्तु सम्पूर्ण राशि गिरावट को प्रकट नही करती। इंग्लैण्ड से भारत में आयात १९५०-५१ के सिवा निरन्तर प्रगति प्रकट करती है और इस अपवाद का कारण आयात पर नियंत्रण था। अब यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इंग्लैण्ड हमारी वस्तुओं के मुख्य खरीददार और मुख्य-पूर्तिकर्त्ता के रूप मे अपनी स्थिति को फिर से सही कर रहा है। मशीनें, मिलों की वस्तुएं और मशीनों के कल-पुर्जे भारत में इंग्लैण्ड की निर्यात के वृहद् अंश है। वह भारत को गाड़ियां, रसायन, औषधिया और रंग भी देता है। बदले में, भारत जूट की वस्तुएं, चाय, खालें, गोंद, राल और तिलहन भेजता है।

इंग्लैण्ड के साथ भारत का व्यापारिक संतुलन प्रायः अनुकूल रहा है, किन्तु १९५० में केवल एक करोड़ के आधिक्य के विरुद्ध १९५१ के वर्ष में भारत के पक्ष में ५२ करोड़ रु० की असाधारण वृद्धि हुई।

२. भारत और अमरीका। गत विश्व-युद्ध से पहले अमरीका भारत की मंडी में गहराई मे पैठ नहीं सका था। उसने १९३८-३९ में भारत की आवश्यकताओं में से ६ प्रतिशत से अधिक की पूर्ति नही की थी। युद्ध-काल के वर्षों में भारत के निर्यात का केवल लगभग १० प्रतिशत गिनते हुए, अमरीका ने भारत के आयात के चिट्ठे में अपनी स्थिति को बहुत उन्नत कर लिया है। पृष्ठ ४८१ की तालिका से अमरीका में भारत के व्यापार की वर्तमान स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

अभी भी इंग्लैण्ड के साथ निकट व्यापारिक संबंध है, किन्तु युद्धोत्तर वर्षों में अमरीका द्वितीय स्थान पर निकट होने जा रहा है। अमरीका की मन्डियों में कच्चे पटसन, पटसन का कपड़ा, भेड़ और बकरी की खाल, लाख, काजू और चंदन की लकड़ी की खपत है। वह नारियल की जटाओं के टाट, नारियल की छाल आदि की आवश्यकताएं भी भारत से ही पूर्ण करता है। भारतीय चाय, रेंडी के बीजों और मसालों की अमरीका की मंडी में खपत है। जूट और जूट की निर्मित वस्तुओं की अमरीका को जाने वाली भारतीय निर्यात की सबसे

व्यापार का रूप	१९४९-५०		१९५०-५१	
	रु० करोड़ों में	कुल व्यापार का प्रतिशत	रु० करोड़ों में	कुल का प्रतिशत
निर्यात	८१·५	१७	१११·७	१७
आयात	८८	१५·७	११६	२०·५

महत्वपूर्ण अकेली मद है, और वह कुल निर्यात का ५० प्रतिशत है। अमरीका बकरी और मेमनों को खालों के लिए भारत का प्रमुख ग्राहक है और युद्ध से पूर्व वह ३५ से ४० प्रतिशत ले रहा था। १९५० में अमरीका ने ७ करोड़ रुपये की चाय खरीदी थी, जो चाय के भारतीय निर्यात का १० प्रतिशत है। उसी वर्ष में ६ करोड़ रु० की खाजा-मेवों की अमरीका को निर्यात की गई थी। अब अमरीका मशीनी कल-पुर्जों, खनिज मशीनों और टाईप राईटरों का प्रधान पूर्तिकर्त्ता बन गया है। वह गैस के इंजिनों, ट्रैक्टरों और तेल निकालने तथा शोधक मशीनों को भी भेज रहा है। भारत को एक अन्य बहुमूल्य अमरीकी निर्यात की मद में मोटरकारें, ट्रक, बसें, तोपों के ढांचे और मशीनों के पुर्जे भी सम्मिलित हैं। अमरीका हमें लम्बे तार वाली कच्ची कपास भी भारी तादाद में भेजा करता था, किंतु अब उसका अधिकांश ईजिप्ट, सूडान और केनिया से आ रहा है। १९५० में, अमरीका से औषधियों, रसायनों और दवाइयों की ५ करोड़ रु० की आयात हुई थी। अमरीकी साबुन-तेल की वस्तुएं भी भारत में लोकप्रिय हैं। भारत की सिगरेट बनाने की तम्बाकू की ९० प्रतिशत आवश्यकता की पूर्ति अमरीका करता है। १९५० में इस जिन्स की आयात की कीमत २·३ करोड़ रुपए थी। युद्ध-काल में एक अन्य उल्लेखनीय वृद्धि खाद्य सामग्रियों, विशेषकर सूखे दूध और जमी हुई शराबों में हुई।

१९३८ से १९४५ तक, उधार-पट्टे के व्यापार का विशाल विस्तार हुआ। यह व्यापार २४०० मिलियन डालर की कीमत से कम नहीं था। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि यह उस कीमत से दोगुना था, जो १९०० से १९३८ तक हमने अमरीका से आयात की थी।

अमरीका के साथ भारत के व्यापार का संतुलन हमेशा ही अनुकूल रहा है। युद्ध के उपरांत, यह अनुकूल संतुलन प्रतिकूल में बदल गया। १९४८ में यह प्रतिकूल संतुलन ३५ करोड़ रु० का हो गया और १९४९ में ३१ करोड़ रु० का, जिसमें २ करोड़ रु० की १९५० में अतिरिक्त वृद्धि हुई। भारत की अनेक समस्याओं में एक यह है कि अमरीका के साथ

व्यापार के इस घाटे को कैसे पूरा किया जाय। भारत को इस घाटे की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निधि (International Monetary Fund) में से ९२ मिलियन डालर लेने पड़े थे। भारत ने कठोर करैंसी क्षेत्रों में अपना व्यापार फैलाने की कोशिश की। यह क्षेत्र मशीनों, मशीनी कल-पुर्जों और यंत्रों सम्बन्धी भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की स्थिति में है। इसी कारण से, उसने सितम्बर, १९४८ में अन्य स्टर्लिंग देशों के साथ अपने रुपये के मूल्य में कमी की थी और इस प्रकार १९५० में भारत अमरीका के साथ व्यापार की अपनी खाई को पूरा करने में सफल हुआ था। १९५१ के पहले ६ मासों में कुल व्यापार का संतुलन केवल एक करोड़ रुपये द्वारा भारत के अनुकूल था।

अमरीका के साथ भारत का व्यापार क्यों बढ़ना चाहिए, इसका सुदृढ़ कारण भारत की औद्योगीकरण की इच्छा है। भारत को बहुमूल्य वस्तुओं और शिल्पी सहायता की आवश्यकता है। अमरीका उनकी पूर्ति कर सकने की स्थिति में है। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए कोलम्बो योजना (Colombo Plan) को लागू किया गया है। एक बार जैसे ही भारत अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाद्य उत्पन्न कर सका, तो अमरीका के साथ उसके व्यापार का संतुलन स्वतः ही बराबर हो जायगा। भारत भी इस बात के लिए चिन्तित है कि वह अमरीका को पूंजी लगाने के लिए आमंत्रित करे। इस दिशा में अभी तक आशापूर्ण प्रत्युत्तर नहीं मिल सका, क्योंकि अमरीकी अपनी पूजी की सुरक्षा और उसे अपनी इच्छानुसार लौटा लेने के अधिकार के विषय में शंकित दिखाई पड़ते हैं। इसके अलावा, दक्षिण अमरीका में उनकी अधिक लाभदायक मंडी है।

१९५०-५१ में अमरीका के साथ व्यापार (रु० करोड़ों में)

आयात		निर्यात	
जिन्सें	कीमत	जिन्सें	कीमत
कच्ची कपास	४०·६	चाय	८
धातुएं और कच्ची धातु	६·५	मसाले	१४·४
मशीनें	१४·७	खाजा मेवे	७
मोटर-गाड़ियां	७·७	अभ्रक	७
रसायन आदि	६·४	काले धातु	३·४
खनिज तेल	५·३	लाख (चपड़ा)	४·८
तम्बाकू, कच्चा	२·४	खालें, कच्ची और पक्की	८·२
खाद	४·१	जूट के पदार्थ	३०·०
मिश्रित	२८·१	मिश्रित	३०·६
योग	११५·८	योग	११३·४

३. भारत और आस्ट्रेलिया । १९३९ से पहले आस्ट्रेलिया किसानों और सोने की खुदाई करने वालों का देश था । उसकी निर्यातों में सोना, गेंहू, मांस, ऊन, फल और दुग्ध-वस्तुएं सम्मिलित थीं । वह प्रधानतः निर्मित वस्तुओं के लिए इंग्लैण्ड पर निर्भर करता था। युद्ध के छिड़ने ने अत्यावश्यक वस्तुओं के निर्माण को गति प्रदान की । इस प्रेरणा ने औद्योगीकरण की दिशा में तीव्र गति को जन्म दिया। यह उल्लेखनीय गति इस कारण संभव हुई थी कि कच्चा माल पर्याप्त रूप में विद्यमान था, और सस्ती मज़दूरी और शक्ति तत्काल ही चातुर्यपूर्ण व्यवसायों को ग्रहण करने योग्य हो गई ।

इसके फलस्वरूप, आस्ट्रेलिया अब एक औद्योगिक देश है, जिसका भविष्य उज्ज्वल है । वह टैकनीकल परामर्श और बहुमूल्य-साधनों की पूर्ति कर सकता है । इस प्रकार वह भारत को खाद्य और कच्ची ऊन बनाने की मशीनें तथा कागज़, प्लास्टिक, प्लाई वुड और चमड़े की वस्तुएं निर्मित करने की मशीनें दे सकता है। वह कृषि सम्वन्धी और सड़कें बनाने वाली मशीनों का निर्यात करने योग्य भी है, और इनकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है। रंग-रोगन बनाने वाली मशीनें भी वहां उपलब्ध हैं ।

बदले में भारत के पास तिलहनों, चमड़ा, बकरी की खालों, आंवला, अभ्रक, मसालों और जूट की निर्मित वस्तुओं के लिए आस्ट्रेलिया में मंडी है । भारत वहां कपड़ा भी वेच सकता है, क्योंकि जापान अब भी मैदान से बाहर है। आस्ट्रेलिया स्थित भारत के व्यापार कमिश्नर का कहना है कि भारत आस्ट्रेलिया को सूती कपड़ा देने की स्थिति में नहीं रह सकेगा, क्योंकि इंग्लैण्ड और अमरीका निकट भविष्य में इस दिशा में उसकी प्रतिद्वंद्विता करेंगे ।

भारत और आस्ट्रेलिया के बीच की व्यापारिक स्थिति निम्न तालिका से स्पस्ट हो जाती है :—

भारत और आस्ट्रेलिया के बीच व्यापार (रु० करोड़ों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	योग	संतुलन
१९३८	२	३	५	+१
१९४९	२३·७	२४·५	४८	+१
१९५०	४१	२८	६९	−१३

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि न्यूज़ीलैण्ड दुग्ध-उत्पादनों और डिब्बे के मांस को भारी परिमाण में देने की स्थिति में है। वास्तव में ही, यह अत्यावश्यक वस्तुएं है, क्योंकि भारत में दुग्ध निर्मित वस्तुओं की अपूर्ण पूर्ति है । बदले में, भारत जूट उत्पादनों, दरियों और कुछ औद्योगिक उत्पादनों की पूर्ति कर सकता है ।

४. भारत और कैनेडा । दोनों देश मुख्यतः कृषि-प्रधान हैं । दोनों ही औद्योगिक प्रगति में उन्नति कर रहे हैं, किंतु पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता में नहीं पड़ते । इसलिए,

भविष्य में, दोनों के बीच व्यापारिक विस्तार का पर्याप्त क्षेत्र है। भारत से कैनेडा के लिए निर्यात की निम्न मुख्य मदें हैं :—चाय, जूट निर्मित वस्तुएं, बकरी-भेड़ों की खालें, सुपारियां,तेल,मसूर,दालें, मसाले, दरियां, नमदे और पीतल के बर्तन। जबसे जापान हटा है, तब से भारत कैनेडा को कुछ सूती वस्त्रों की भी पूर्ति कर रहा है। कैनेडा स्थित व्यापार कमिश्नर का कहना है कि भारत के लिए इस अवसर को स्थिर रखने का मौका है।

बदले में, कैनेडा गेंहू, क्रीम निकालने की मशीनें, मक्खन बनाने की मशीनें, लकड़ी और धातु का काम करने की मशीनें, कृषि-यंत्र और बिजली बनाने तथा रूपांतरित करने वाले यंत्रों की निर्यात कर रहा है।

युद्ध-पूर्व के दिनों में भारत के व्यापार का सतुलन अनुकूल रहा करता था। युद्ध के दिनों में वह प्रतिकूल हो गया। यह अवस्था युद्धोत्तर-काल में स्थिर रही, क्योंकि कैनेडा कठोर करंसी वाला देश है। मुद्रा-अवमूल्यन (Devaluation) और व्यापार पर नियंत्रणों ने भारत की मदद की और १९५० में संतुलन पुनः अनुकूल हो गया। भारत और कैनेडा के बीच समष्टि रूप में व्यापार उन्नति कर रहा है। यह स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

कैनेडा के साथ व्यापार (रु० करोड़ों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार का योग	संतुलन
१९३८	·७	२	३	+१
१९४९	१४	९	२३	—५
१९५०	१०·६	१२·८	२३·४	+२

५. भारत और मध्यपूर्व। भारत और मध्यपूर्व के देशों में सदियों से व्यापार हो रहा है किन्तु गत युद्ध में यह अधिक महत्वपूर्ण हो गया, क्योंकि इन देशों को योरोप और जापान से अपनी सामान्य पूर्त्ति भी नहीं हो सक रही थी और उन्हें भारत की ओर ताकना हो गया था। भारत अपेक्षाकृत अच्छा व्यापार करता, किन्तु यातायात के अपर्याप्त साधनों के कारण वह न कर सका। यह देश कृषि-प्रधान है—खेतीबाड़ी, भेड़ों और घोड़ों का पालन उनका मुख्य व्यवसाय है। तेल-स्रोतों की विशाल प्रगति के कारण विश्व-व्यापार में उनका महत्व हो गया है। भारत इस क्षेत्र में से कच्ची कपास और खनिज तेल (पैट्रोल) की आयात करता था और बदले में सूती और पटसन की वस्तुओं, इस्पात, चाय और मसालों का निर्यात करता था, किन्तु द्विमुखी मान्यताओं और ऊपरी कमियों के कारण वह उनकी पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं कर सकता था।

ईजिप्ट, टर्की और सूडान हमारी पटसन निर्मित वस्तुओं के प्रधान खरीददार हैं। गत युद्ध-काल में और उसके उपरांत मध्यपूर्व में सूती कपड़े की भारतीय निर्यात विशेष महत्व बनाए रही है। १९३८-३९ में लगभग ३१ लाख रुपये से यह निर्यात बढ़कर १९४२-४३ में १० करोड़ रुपये से अधिक की हो गई। तब से लेकर सूती कपड़े, सूत और गुंडी की

निर्यात बढ़ी जा रही है। निःसंदेह यह देश इंग्लैण्ड या कैनेडा जितनी चाय नही खरीदते, किन्तु यह मंडी उपेक्षा करने योग्य नही, क्योंकि वर्षभर मे ३ करोड़ रु० की चाय की इनमें खपत है। इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। भारतीय तम्बाकू को अधिक लोक-प्रिय बनाया जा सकता है, बशर्ते कि उचित ढंग से इसे पैक (बांधना) किया जाय और इस के दर्जे बनाये जाँय। हमारे निर्यात की कीमत की अपेक्षा ईजिप्ट, सूडान और केनिया से हमारी आयात की कीमत कहीं अधिक है। उदाहरण के लिए, १९४९ में हमने ७१ करोड़ रु० की वस्तुओं की आयात की और बदले में इन अफ्रीकी देशों को केवल ३२ करोड़ रु० की वस्तुओं की निर्यात कर सके।

युद्ध से पूर्व भारत मुख्यतः अपने खनिज तेलों को बर्मा (४८ प्रतिशत) बहरीन (११ प्रतिशत), जावा (१३ प्रतिशत) और अमरीका (२ प्रतिशत) से खरीदता था। जब इंडीज़ और बर्मा पर जापान का अधिकार हो गया, तो भारत को खनिज तेलों के लिए ईरान और बहरीन पर निर्भर रहना पड़ा। इन सब देशों के साथ भारत के व्यापार का संतुलन, विशेषकर ईजिप्ट से, जहां वह कच्ची कपास और चावल की आयात करता है, और ईरान, जहां से वह तेल लेता है, प्रतिकूल है। निम्न तालिका से यह सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है:—

कुछ मध्यपूर्व देशों के साथ व्यापार (रुपये लाखों में)

देश	१९३८-१९३९			१९४९-५०			१९५०-५१		
	निर्यात +	आयात —	संतुलन	निर्यात +	आयात —	संतुलन	निर्यात +	आयात —	संतुलन
ईजिप्ट	१,२६	२,२१	—९५	७,९४	३९,४३	—३१,४९	५,८५	३२,८७	—२७,०२
ईरान	८५	३,५७	—२७२	४,८२	३२,४८	—२७,६६	५,९८	३६,८१	—३०,८३
केनिया	६०	५,४०	-४,८०	६,००	१५,१२	—९,१२	२,७६	१३,९२	—११,१६

६. भारत और पाकिस्तान। विभाजन के बाद का वर्ष महान उत्पात का था। विशाल रूप में सांप्रदायिक अशांति हो गई और जनसंख्या का समष्टि रूप में निष्कासन हुआ। फलरूप व्यापार शांतिपूर्वक न हो सका और उस काल का अनुमान नहीं किया जा सकता। मई १९४८ में भारत और पाकिस्तान के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ, जिसमें दोनों के बीच विनिमय के लिए बहुत-सी जिन्सों का उल्लेख किया गया था। दोनों रुपयों की कीमत समान रखी जानी थी और विनिमय पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध

नहीं होने थे। इस काल का पूरा विवरण प्राप्य है। भारत ने निम्न जिन्सों की आयात और निर्यात की :—

(रुपये करोड़ों में)

निर्यात (आय)		आयात (भुगतान)	
सूती कपड़ा और सूत	१७·५	कच्ची जूट	८०·२
जूट निर्मित वस्तुएं	६·८	कच्ची कपास	१७·३
कोयला	६·५	अन्य (खालें, कपास का बीज, सुपारी, सीमेंट, नमक और फल)	१९·६
अलसी का तेल	६·८		
तम्बाकू	४·९		
कृत्रिम रेशम	४·८	कृत्यक	·३
अन्य (रसायन, औषधियां, इस्पात आदि)	३५·८		
कृत्यक (पानी और बिजली)	·५		
योग	८३·६		
घाटा	३३·८		
योग	११७·४	योग	११७·४

ऊपर की तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में भारत को ३४ करोड़ रु० का घाटा था। कोयला और अलसी का तेल, दो ऐसी जिन्सें थीं, जिनकी पाकिस्तान ने स्वीकृत सीमा के अनुसार आयात की थी। दूसरी ओर, पाकिस्तान ने आयात-निर्यात सम्बन्धी इतने भारी कर लगा दिये थे कि भारत को भी बदले में वैसे ही कर लगाने पर बाध्य होना पड़ा। पाकिस्तान ने भारतीय वस्त्र पर आयात कर लगाया और उपरांत उसका बहिष्कार कर दिया। इसके साथ ही भारत ने पाकिस्तान को ऐसी वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया, जिनकी निर्यात वह डालर देशों को कर सकता था। भारत से पाकिस्तान को पूंजी-परिचलन द्वारा चालू हिसाब में घाटा बढ़ा, क्योंकि व्यापारी बैंकों को पाकिस्तान के नये बैंक की शर्तों को पूरा करने के लिए पाकिस्तान को १४ करोड़ रु० के लगभग भेजना पड़ा था।

दोनों देशों के बीच व्यापारिक समझौता जून १९४९ में पुनः नया किया गया, जिसके द्वारा भारत को व्यापार की अपेक्षाकृत छोटी राशि और थोड़ा घाटा प्राप्त हुआ। दोनों देशों के बीच कठिनाइयां उत्पन्न हुईं और समझौता पूर्ण न हुआ। उसके बाद, सितम्बर १९४९ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ। पाकिस्तान ने अपने रुपये की कीमत में परिवर्तन न करने का निर्णय किया। इससे भारतीय रुपये के मुकाबिले में सब पाकिस्तानी वस्तुओं की कीमत बढ़ी और दूसरी ओर पाकिस्तानी रुपये के मुकाबले में भारतीय वस्तुएं सस्ती

हुई। भारत को लाचार होकर पाकिस्तान को निर्यात की वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा और साथ ही पाकिस्तान की वस्तुओं को खरीदने के लिए इंकार करना पड़ा। इस काल में भारत को ३५·४ करोड़ रुपये का भुगतान करना पड़ा, जबकि उसकी आय केवल २६·२ करोड़ रु० थी।

किन्तु नेहरू-लियाकत समझौते के फलरूप, दोनों देशों के बीच थोड़ी अवधि का व्यापारिक समझौता हुआ। समझौते के अनुसार व्यापार भारतीय रुपये में होना था, और उसके लिए पाकिस्तान को जुदा हिसाब रखना था। समझौते में शर्त थी कि भारत को कच्चे जूट की आठ लाख गांठें मिलेंगी और बदले में भारत सरकार ने जूट निर्मित वस्तुओं, इस्पात की वस्तुएं, सूती वस्त्र और सरसों का तेल आदि पाकिस्तान को देना था।

७. भारत और सुदूर-पूर्व के देश। इन देशों के साथ भारत के हमेशा ही व्यवहार रहे हैं। इस व्यापार का कुल योग सराहना-योग्य रहा है, किन्तु जापान, बर्मा और लंका को छोड़कर व्यक्तिगत देशों के साथ अधिक नहीं हुआ। आगामी पृष्ठ पर दिये १९३८-३९ के आंकड़े, जो युद्ध-पूर्व वर्ष के हैं, इन देशों के व्यापार का स्पष्टीकरण करते हैं।

अन्य देशों को छोड़ कर केवल लंका के साथ ही हमारा व्यापारिक संतुलन अनुकूल है, जो विचारणीय है। बर्मा के साथ भारत का व्यापार हमेशा ही प्रतिकूल रहा है। १९३७-३८ में यह हमारे विपरीत १५ करोड़ रुपये था, १९३८-३९ में १४ करोड़ रु०, १९३९-४० में १८ करोड़ रुपये, १९४०-४१ में ११ करोड़ रुपये और १९४१-४२ में १६·५ करोड़ रुपये था। युद्ध-काल के वर्षों में बर्मा के साथ कोई व्यापार नहीं हुआ। १९४५-४७ में, ४ करोड़ रुपये के व्यापार का संतुलन हमारे अनुकूल था, किंतु विभाजन के बाद दिसम्बर १९४७ से नवम्बर १९४८ तक उतनी ही राशि से वह हमारे प्रतिकूल हो गया। हम बर्मा से चावल, खनिज तेल और टीक की लकड़ी की आयात करते हैं और बदले में कपड़ा, खांड, कागज, बोरियां और तेली के सामान की निर्मित वस्तुओं का निर्यात करते हैं।

भारत और इंडोनेशिया का युगों से पारस्परिक सम्बन्ध है। युद्ध-पूर्व के वर्षों में भारत गन्ने, खनिज तेल, पैराफीन, मोम, टीक की लकड़ी, कुनीन, मसालों और टीन की बहुत बड़ी मात्रा में आयात करता था। भारत मुख्यतः जूट की वस्तुओं, सूती कपड़ों, वनास्पति तेलों और बीजों, कोयला और आंवले की निर्यात करता था। बाद में खांड एकदम बन्द कर दी गयी। हमारे निर्यात १ करोड़ रुपये के थे और आयात २ करोड़ रुपयों की थी। युद्ध-काल में यह व्यापार बन्द हो गया था किंतु अब पुनः व्यापार चालू हो गया है। इस व्यापार का तरीका तो पहले ही जैसा है, किंतु एक अन्तर है, और वह यह कि जो व्यापार का संतुलन भारत के प्रतिकूल हमेशा रहता था, वह अब अनुकूल हो गया है। भारत निर्मित वस्तुओं की निर्यात कर सकता है, जब कि इंडोनेशिया चावल,

सुदूर-पूर्व के साथ व्यापार (रु० लाखों में)

	१९३८-३९			१९४९-५०			१९५०-५१		
	आयात	निर्यात	संतुलन	आयात	निर्यात	संतुलन	आयात	निर्यात	संतुलन
जापान[१]	१५,६०	१४,६०	−१,००	२५,५६	—	—	७,४४	—	—
बर्मा	२४,४१	११,५०	−१२,९१	१२,८६	१४,६२	+१,७६	१८,७८	२२,३५	+३,५७
लंका	१,२९	५,३६	+४,०७	२९४	१६,८३	+१३,८९	४,५२	१८,६२	+१४,१०
चीन	१,७३	२,५०	+७६	५०	२,४४	+१,९४	६३	३,९९	+३,३७
मलाया[१]	४,१०	२,४०	−१,७०	१२,६०	७,०५	−५,५२	१३,४४	२२,५६	+९,१२

१. Calendar year.

मक्का, नारियल का तेल, खोपा, मसाले और टीक की लकड़ी के अतिरिक्त लोहे से इतर धातुओं को दे सकता है ।

हम जापान से भोक्ता-वस्तुओं की अनेक किस्मों की आयात किया करते थे । और विनिमय में उसे देते थे; कच्ची कपास, कच्चा लोहा, काली धातु, अवरक, रेंडी के बीज, और अन्य औद्योगिक कच्चे माल । युद्धोत्तर वर्षों में जापान का आर्थिक जीवन और व्यापार मित्र-राष्ट्रों की सर्वोच्च सत्ता (Supreme Commander of Allied Powers) के अधीन हो गया था । उसके निर्यात और आयात पर नियंत्रण है । १९४८ में मि. डब्ल्यू. आर. ईटन की अध्यक्षता में जापानी व्यापार प्रतिनिधि मंडल भारत आया था । उपरान्त, जापान और भारत सहित कामन्वैल्थ के ५ देशों के बीच स्टर्लिंग क्षेत्र समझौता हुआ था । भारत ने २६·५ मिलियन पौंड की कीमत की मशीनें, कपास और ऊन, साइकलें, सिलाई की मशीनें, बिजली के सामान, गड़ारियों और तकुओं की आयात करने का ज़िम्मा लिया था और उसके बदले मुख्य जिन्सें देनी की थीं । जापान के विदेशी व्यापार पर कठोरता-पूर्वक नियंत्रण है और उसका प्रतिद्वंद्वी क्षेत्र में उतरना अभी बहुत दूर की बात है ।

एशिया की संयुक्त राष्ट्र आर्थिक कमीशन (United Nations Economic Commission) ने उल्लेख किया था कि पूर्वी देशों की त्रिशंकु रूप में आर्थिक प्रगति हुई है । यह क्षेत्र प्राकृतिक साधनों के लिए संपन्न है—कृषि और खनिज दोनों ही दृष्टियों में से, यहां दुनिया के चावल का ९२% उत्पादन होता है, चाय का ९६% और गन्ने का ३८ प्रतिशत, किंतु इस क्षेत्र में संगठित उद्योग नहीं है । उनमें भारत की स्थिति धुरी के रूप में है । उसने कुछ औद्योगिक कारखाने बना लिये हैं । और चूंकि जापान अभी क्षेत्र में नहीं है, इस कारण भारत इन देशों की भोक्ता-वस्तुओं की अधिकांश पूर्ति कर सकता है । बदले में वह देश उसे खाद्य और कच्चे माल दे सकते है । और इस प्रकार उसके व्यापार का विस्तार होगा ।

१०. भारत-पाकिस्तान व्यापार । विभाजन-काल से पाकिस्तान के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध किसी भी काल में सुखदायी नहीं रहे । सितम्बर, १९४९ में, व्यापारिक सम्बन्ध तभी स्थगित हो गए थे, जब पाकिस्तान ने अपनी करैंसी का मूल्य न घटाने का निर्णय किया था, जब कि अन्य स्टर्लिंग देशों ने वैसा किया था । दोनों सरकारों ने १९५० में सीमित व्यापार के लिए अल्पकालिक समझौता किया था । निर्यात और आयात की जिन्सों का संतुलन सुरक्षित किया गया । इस व्यापारिक समझौते का तत्व पाकिस्तान द्वारा जूट की आठ लाख गांठें बेचना था और भारतीय जिन्सों की निश्चित मात्रा को खरीदना था अर्थात् जूट निर्मित वस्तुएं, (२० हज़ार टन), सूती कपड़े (४५ हज़ार गांठें), सरसों का तेल (७ हज़ार टन) आदि । यह समझौता भली प्रकार सफल नहीं रहा । तीन मास की निश्चित अवधि में वस्तुओं का चालन नहीं हुआ । सितम्बर १९५० में यह समझौता समाप्त हो गया ।

इसी बीच पाकिस्तान, जुलाई १९५० में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तनिधि के सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया। भारत और पाकिस्तान के बीच विनिमय दर की भारतीय १४४ रु. और पाकिस्तानी १०० रु. की थी। कोरिया-युद्ध की घोषणा के कारण और विश्व के प्रधान उत्पादक देशों, योरोप और अमरीका द्वारा (जिन में पाकिस्तान भी शामिल था) संचित राशियों के फलरूप विक्रय-बाज़ार की प्रबलता थी। दूसरी ओर भारत कच्चे जूट और कपास की भारी कमी के कारण परेशान था। सो उसे पाकिस्तान की कीमत के मान को स्वीकार करना पड़ा और जून १९५२ तक के लिए एक समझौता किया गया। दोनों सरकारों ने दोनों देशों के बीच आदान-प्रदान के निपटारे को इस आधार पर स्वीकार किया कि चालू आदान-प्रदान से दोनों केंद्रीय बैंकों द्वारा रुपये संतुलनों का जो संग्रह हो, वह किसी बाधा के बिना स्टर्लिंग में हो जाय। इस समझौते के अनुसार भारत को कच्चे जूट की ३५ लाख गांठों का कोटा और ७·७ लाख टन खाद्य-अन्न मिला। बदले में भारत ने कोयला (२·१ मिलियन टन), सूत (१५ हज़ार गांठें) और जूट की निर्मित वस्तुएं (६२ हज़ार टन) बेचनी मंजूर कीं। कई जिन्सों की आयात और निर्यात के खुले लाईसेंस कर दिये गए। निम्न तालिका दोनों देशों की निश्चित कालान्तर्गत व्यापारिक स्थिति की प्रगति को प्रकट करती है:—

भारत-पाकिस्तानी व्यापार (रु० करोड़ों में)

	आयात			निर्यात				
	योग	कच्ची जूट	कपास	योग	वस्त्र	बनास्पति तेल	कोयला	तंबाकू
१९४८-४९[1] अप्रैल से मार्च	८५	७१	·२	३०	५	३·४	·८	४
१९४९[1] अप्रैल से दिसम्बर	२९	१९	·८	२७	२·७	४·६	३·४	५
१९५०[2] जनवरी से दिसम्बर	३३	१८	·३	३१	७·४	२·८	·०५	६

यह तालिका प्रकट करती है कि १९५० में भारत का पाकिस्तान के साथ व्यापार लगभग संतुलित था, जबकि पूर्वतः यह घाटे पर आधारित था। इसका मुख्य कारण नियंत्रण थे और फलरूप व्यापार के कुल योग में संकोच न था।

११. निर्यात और आयात का विश्लेषण (अ) निर्यात। अब हम भारत से निर्यात होने वाली कुछ आवश्यक जिन्सों के लक्ष्य के बारे में विचार करेंगे।

१. Statistical Abstract of India.
२. Currency and Finance Report, 1950-51.

(१) **जूट, कच्ची और निर्मित**—विभाजन अनन्तर वर्षों में जूट की वस्तुओं की बहुत मांग थी, किंतु उनका उत्पादन कम था। इसलिए निर्यात पर कठोर नियंत्रण कर दिया गया। बदले में खाद्य और डालर प्राप्त करने के उद्देश्य से लक्षित कोटे नियत किये गए। इस प्रकार कठोर करेंसी देशों को निर्यात में वृद्धि हुई, किंतु १९४८-४९ के दो वर्षों में अमरीका को होने वाले निर्यात में कमी हुई, जब कि इंग्लैड और आस्ट्रेलिया के निर्यातों में वृद्धि हुई। भारत की कच्ची जूट की निर्यात पाकिस्तान से प्राप्ति की कठिनाइयों के कारण गिर गई।

१९५०-५१ में सन के टाट और बोरियों की भिन्न देशों को भारत की निम्न निर्यात थी :—

१९५०-५१ में जूट निर्मित वस्तुओं की निर्यात (रु० लाखों में)

देश	सन का टाट	सन की बोरियां	योग
इंग्लैण्ड	४,४१	१,५६	५,९७
आस्ट्रेलिया	१,८१	११,७०	१३,५१
बर्मा	—	२,२१	२,२१
पूर्वी अफ्रीका	—	१,५३	१,५३
ईजिप्ट	७०	२,७९	३,४९
अर्जन्टाईना	९,०१	—	९,०१
अमरीका	३०,०९	१६	३०,२५
योग	५२,२५	५२,९२	१०५,१७

(२) **कपास, कच्ची और रद्दी**—१९३८ में भारत ने २४ करोड़ रुपये की कच्ची कपास निर्यात की। विभाजन उपरान्त के वर्षों में, भारत के लिए कपास के निर्यात को बनाये रखना कठिन हो गया, क्योंकि लम्बे तार वाली कपास के क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से चले गए थे। इसलिए, भारत को ईजिप्ट, सूडान, केनिया और पाकिस्तान से कच्ची कपास बड़े परिमाण में आयात करनी पड़ी। १९४९ में तार वाली कपास की आयात ७७करोड़ रुपये की हुई और १९५० में ७२ करोड़ रुपये की। अब भारत केवल छोटे तार की कपास का निर्यात करता है। इस दिशा में उसके इंग्लैण्ड, जापान, इटली आदि ग्राहक हैं। १९४९ और १९५० के प्रत्येक वर्ष में उसकी निर्यात १८ करोड़ रुपये की थी।

भारत ने युद्ध-काल में अधिकांशतः सूती निर्मित वस्तुओं का निर्यात आरम्भ किया, जबकि जापान मैदान में नहीं था। इस प्रकार, १९४२-४३ में भारत ने ४७ करोड़ रुपये

भारत का समुद्र-संवाहित व्यापार (रु० लाखों में) पुनर्निर्यात को छोड़ कर

देश	१९३८			१९४९			१९५०		
	आयात	निर्यात	संतुलन ±	आयात	निर्यात	संतुलन ±	आयात	निर्यात	संतुलन ±
कामन्वैल्थ से कुलयोग	२५,१६	७४,६४	+९·४८	२८४,५२	२३०,७६	-५३,७६	२,३२	२,७३	+४१
इंग्लैंड	४८,१२	५५,२०	+७,०८	१७३,२८	१११,९६	—६१,३२	१,०७	१,१९	+८
आस्ट्रेलिया	२,०४	३,००	+९६	२२,२०	२४,४८	+२,२८	४१	२८	—१३
पाकिस्तान	—	—	—	२३,०४	१९,९२	—३,१२	४	१४	+१०
कैनेडा	७२	२,०४	+१,३२	१३,८०	९,१२	+४,६६	११	१३	+२
विदेशों से कुलयोग	८८,३२	८७,००	—१,३२	३३७,०८	१९४,४०	—१४२,६८	२,६९	२,५०	—१९
अमरीका	११,४०	१३,४४	+२,०४	९९,८४	६८,५२	—३१,३२	१,००	९९	—१
ईजिप्ट	२,६४	१,६९	—९५	४३,९२	६,३०	—३७,६२	२७	७	—२०
ईरान	३,३६	७२	—२६४	३०,६०	५,०४	—२५,५६	३७	५	—३२
बर्मा	२२,६८	१०,०८	—१२,६०	१६,२०	९,३६	— ६,८४	१२	२३	+११
कुलयोग	१५३,४८	१६१,६४	+८,१६	६२१,६०	४२५,१६	—१९६,४४	५,०१	५,२३	+२२

पर विचार करने के बाद वार्षिक नियत कोटे के भीतर ही स्वतन्त्रतापूर्वक निर्यात करने की नीति बनी हुई है। भारत ने १९४९ में ४९२ मिलियन पौंड (७९ करोड़ रु. की) के विपरीत १९५० में ३७६ मिलियन पौंड (७० करोड़ रु. की) चाय का निर्यात किया।

(५) **तिलहन और वनास्पति तेल**—भारत में उत्पन्न होने वाले तिलहनों में मूंगफली सबसे महत्वपूर्ण है। इसका कुल उत्पादन ३३ और ३४ लाख टन के बीच प्रति वर्ष है। युद्ध-काल के वर्षों में भारत ने वनास्पति उद्योग की स्थापना की और साथ ही साबुन, वार्निश और रंगों के उद्योगों का भी विस्तार किया। फलतः, घरेलू खपत के कारण तिलहनों की निर्यात में कमी हो गई। दूसरी ओर, वनास्पति तेलों के निर्यात में भारी वृद्धि हो गई है। वीजों के निर्यात में कमी का एक अन्य कारण यह है कि मूंगफली और खली की योजना में भारी खपत होने लगी है। तेलों और तिलहनों के निर्यात की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

बीजों और तेलों का निर्यात (रु० करोड़ों में)

	१९३८	१९४९	१९५०
तिलहन	१५	९	१८
तेल	१	८	१३

(६) **तम्बाकू**—भारत में तम्बाकू पर्याप्त मात्रा में है। दुनियाभर में तम्बाकू पीने की वृद्धि हो रही है। सरकार और दक्षिण भारत की इंडियन सैंट्रल टुबैको कमेटी द्वारा आशातीत अन्वेषण कार्य हो रहा है और हमारे निर्यात बढ़ रहे हैं। इंग्लैण्ड हमेशा ही भारतीय तंबाकू के लिए सबसे बढ़िया बाज़ार रहा है। डालर कमी के कारण अब भी इंग्लैण्ड बड़ी मात्रा में खरीद रहा है। कुल निर्यात नीचे लिखे अनुसार हैं :—

तम्बाकू का निर्यात (रु० करोड़ों में)

	१९३८	१९४९	१९५०
तम्बाकू	२·६	१०	१६

(७) **खालें, कच्ची और पक्की**—युद्ध-पूर्व वर्षों में भारत बहुत बड़ी संख्या में कच्ची खालों का निर्यात करता था। युद्धकाल में समुद्रपार भेजने के लिए महान जहाज़ी कठिनाइयां थीं। फलतः, धीरे-धीरे भारत में खालें पकाने (Tanning) के उद्योग की स्थापना हुई। युद्ध के बाद सरकार ने पुनः उनकी निर्यात का निर्णय किया, किंतु भारत के विभाजन ने उपलब्ध संख्या में न्यूनता उत्पन्न कर दी। फलस्वरूप, कठोर करैंसी देशों के अतिरिक्त कच्ची खालों के निर्यात पर रोक लगा दी गई। पकी हुई खालों का, तिस पर भी, स्वतंत्रतापूर्वक निर्यात होता रहा। भारतीय खालों की बहुत मांग है। इस दिशा में इंग्लैण्ड, अमरीका, जर्मनी और फ्रांस हमारे बढ़िया ग्राहक हैं। कुल निर्यात निम्न प्रकार है :—

खालों की निर्यात (रु० करोड़ों में)

	१९३८	१९४९	१९५०
कच्ची खालें और चाम	४	६.३	९
साफ की हुई खालें	५	१५	२३

(ब) आयात। आइये, अब हम भारत की आयात-वस्तुओं पर विचार करें। पृ० ४९६ की तालिका भिन्न वर्षों में हमारी आयात की कुछ चुनी हुई मदों की कीमतें प्रकट करती है।

भारत में निजी व्यापारिक वस्तुओं की आयात का व्यापार १९४९ में ६३० करोड़ रुपये के उच्च-स्तर तक पहुंच गया था, किंतु १९५१ के पहले ९ महीनों ने तो इस स्तर को भी मात कर दिया और सितंबर १९५१ के अंत तक वह स्तर ५६२ करोड़ रुपये तक जा पहुंचा। १९५० की आयात ५०५ करोड़ रुपये की थीं, यह निम्न स्तर, प्रधानतः १९४९ की आखरी तिमाही में भारतीय करेंसी में न्यूनता करने और आयात व्यापार पर कठोर नियंत्रण के कारण था। आयात में उच्च प्रवृत्ति का कारण खाद्य और बहुमूल्य वस्तुओं की अनिवार्य आवश्यकता थी। यह जान पड़ता है कि १९४५ में ९० करोड़ रु. की तेल की आयात में कमी होकर १९५० में ५९ करोड़ रुपए की रह गई, किन्तु अभी तक यह मद बहुत बड़ी है। इस मद में न्यूनता होने की अभी संभावना नहीं, क्योंकि भारत में सड़कों ओर हवाई आवागमन की वृद्धि हो जाने से हवाई जहाजों और मोटरों के तेल की खपत में वृद्धि होकर रहेगी। १९५० में आयात की अन्य महत्वपूर्ण मदें ६६ करोड़ रुपये की खाद्य अन्नों, ७२ करोड़ रुपये की कच्ची कपास, ८६ करोड़ रुपये की मशीनें, रसायन और औषधियां १५ करोड़ रुपये, मोटरकारें २१ करोड़ रुपये, लौह-इतर निर्मित वस्तुएं २६ करोड़ रुपये और रंग और रोगन लगभग ११ करोड़ रुपए। कपास और ऊनी तार तथा निर्मित वस्तुओं की आयात १९३८ में १७ करोड़ से गिर कर ४ करोड़ रु. तक आ गई।

जलाने और मशीनों में डालने का तेल अधिकांशतः ईरान से आता है। भारत जीवों के तेल की अधिक आयात नहीं करता। वनास्पति तेलों के लिए हमारा स्रोत लंका है,जहां से एक करोड़ के लगभग के यह तेल आते हैं। इंग्लैण्ड और अमरीका से मुख्यतः हमें सब प्रकार की मशीनें, कपड़े सम्बन्धी, बिजली सम्बन्धी और धातु सम्बन्धी प्राप्त होती हैं। वस्तुतः, निर्मित वस्तुओं की हमारी अधिकांश आवश्यकताएं इन्हीं दो देशों से पूरी होती हैं।

भारत अमरीका, अर्जन्टाईना, कैनाडा, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान, टर्की, ईजिप्ट, रूस और बर्मा से खाद्य अन्नों की आयात कर रहा है। यहां तक कि हमारी महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए इटली भी अपना अंश देता है।

कुछ चुनी हुई वस्तुओं की आयात (रु० लाखों में)

		१९३८	१९४५	१९४९	१९५०
समूह १: खाद्य, पेय और तम्बाकू	१. अनाज, दालें और आटा	१०,८३	९,५५	१०६,०८	६६,३९
	२. रसद	२,५५	१,४६	९,२७	५,७७
	३. मद्य	१,७४	१,३४	१,६६	१,००
	४. तम्बाकू	१,०४	३,६७	२,१८	२,५७
	५. मसाले	२,३७	१,४९	४,१३	४,८८
मूह २: कच्ची वस्तुएंऔर मुख्यतः अनिर्मित वस्तुएं	१. कच्ची कपास	११,०७	२४,४९	७६,७७	७१,७६
	२. तेल (खनिज)	१६,२८	१०,२९	५८,०१	५८,९२
	३. ऊन	७२	२,१५	३,८०	४,३२
	४. धातुहीन वस्तुएं	१,८९	६,५९	२,९०	२,८२
	५. ऊन और लकड़ी	२,६९	४	३,४७	१,८७
समूह ३: मुख्यतः निर्मित वस्तुएं	१. मशीनें	१९,८१	१९,७४	१०७,५७	८६,०२
	२. गाड़ियां	६,७६	७,४७	२९,२९	२०,५८
	३. सूती तार और कपड़ा	१४,६१	१,४८	२५,१६	२,२१
	४. रसायन और औषधियां	५,७३	९,५४	२१,२४	१५,६०
	५. लौह-इतर धातुएं	४,२०	५,४१	२०,१९	२६,०५
	६. कैंची-छुरी आदि और औजार	५,८३	५,२३	१९,४९	११,९७
	७. बिजली की वस्तुएं	३,३३	४,२३	१५,०७	८,६९
	८. कागज	३,९१	५,०३	१४,५८	७,८३
	९. लोह और इस्पात की वस्तुएं	६,४५	६,३९	१३,९२	१६,३५
	१०. रंग और रोग़न	३,८२	१०,१७	१२,४२	१०,५९
	११. ऊनी तार और निर्मित वस्तुएं	२,२६	८७	७,३९	१,५२

(अ) थल द्वारा पाकिस्तान से आयात सम्मिलित नहीं हैं। उन्हें भारत पाकिस्तान व्यापार शीर्षक में अलग दर्शाया गया है। (ब) १९४५ तक के संयुक्त भारत के आंकड़े हैं और बाद के केवल भारतीय जनतन्त्र के।

विदेशों से कच्ची कपास की आयात १९३८ में ११ करोड़ से बढ़कर १९५० में ७२ करोड़ रु. की हो गई थी। यह उन इलाकों के कारण हुआ कि जिन्होंने कपास के तार में विशिष्टता प्राप्त कर ली थी, और वह इलाके पाकिस्तान को चले गए। इसलिए भारत को पाकिस्तान, ईजिप्ट, केनिया, टांगानियाका और सूडान से कपास की आयात करनी पड़ी।

आस्ट्रेलिया, कैनेडा, स्विट्ज़रलैंड, बैल्जियम, इटली और जापान ने भी भारत की निर्मित वस्तुओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपना-अपना भाग दिया।

१२. व्यापार का संतुलन। भारत के व्यापार का संतुलन प्राय: सदैव अनुकूल होता था। १९३१ से आरम्भ होकर, मंदी के वर्षों मे, धीरे-धीरे अनुकूल संतुलन कम होता गया। इसके बाद उस कमी को पूरा करने के लिए उसने सोने का निर्यात आरम्भ कर दिया। इन वर्षो में अनुकूल सतुलन के लिए अत्यावश्यक कारण यह था कि भारत को "घरेलू व्ययों" की मद को पूरा करना होता था, जो ३२ से ४० करोड़ रुपये वार्षिक में चलती-फिरती थीं—और यह एक भुगतान की बड़ी राशि थी। यदि भारत किसी वर्ष में निजी खपत को वस्तुओं के व्यापार में उतने अतिरिक्त का उपार्जन नहीं कर सकता था, तो उसे अंतर को पूरा करने के लिए सोने की निर्यात करनी होती थी।

१९३१-३२ से १९३९-४० तक भारत को अपने निर्यात की कीमत में हुई गिरावट को पूरा करने के लिए ३६२ करोड़ रुपये तक का सोना निर्यात करना पड़ा था। भारत के लोगों द्वारा इस "आपत सोने" (जैसा कि इसे कहा जाता है) की बिक्री ने भारत की विदेशी व्यापार से मुक्ति कराई और सरकार को "घरेलू व्ययों" की ज़िम्मेदारियां पूरी करने के लिए धन दिया।

घरेलू व्यय—आखिर यह व्यय है क्या, कि जिन्होंने भूतकाल में भारतीय सरकार की आर्थिक और विनिमय नीति को आच्छादित कर रखा था? इंग्लैण्ड ने भारत से प्रति-वर्ष भुगतान लेने होते थे। इन भुगतानों के लिए भारत को अनुकूल संतुलन चाहिए था। इन भुगतानों की अक्सर 'संपत्ति के निकलने की मोरी' के रूप में आलोचना की जाती थी; यह एक प्रकार की भेंट थी, जो राजनीतिक प्रभुत्व के कारण भारत इंग्लैण्ड को देता था।

रेलों और कृषि योजनाओं को धन देने के लिए इंग्लैण्ड में लिये ऋणों का ब्याज—जब यह ऋण खड़े किये गए थे, तब भारत में पर्याप्त पूजी नही थी। दूसरे, भारत की अपेक्षा लंडन में बहुत कम ब्याज था। सभी देश, जिन्हें बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए पूजी की दरकार थी, उन दिनों रुपये के कर्ज़े के लिए लंडन गये। भारत चूंकि ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था, इसलिए वह अन्य देशों की अपेक्षा कम दर पर ऋण ले सकता था। कुछ अर्थ-शास्त्रियों ने सरकार पर ऋण लिये धन के दुरुपयोग का आरोप लगाया है। किंतु व्यक्तिशः रूप में लोगों ने भी कठोर श्रम द्वारा उपार्जित धन को खर्च करने में भूलें की है। संभव था, कि यदि ऋणों का उचित प्रबन्ध हो पाता, तो भारत रेल की सड़कें या नहरें कुछ अधिक

मील की बना लेता। किंतु, केवल यही तो एक दोष है, जो सरकार को मढ़ा जाता है। इन व्ययों को किसी भी रूप में 'मोरी' नहीं कहा जा सकता।

(ब) **राजस्व के विरुद्ध सरकारी स्टोरों पर व्यय**—एक अर्से से, यथासंभव सरकारी मामान की भारत से खरीद होती थी, किंतु इससे पूर्व इंग्लैण्ड में इस मद पर काफी बड़ी रकम खर्च करनी होती थी।

(स) **छुट्टी और विश्राम के भत्ते, सब प्रकार की पेंशनें और सुविधाएं और लंडन में भारत के हाई कमिश्नर को बनाये रहने तथा इंडिया आफिस का व्यय**—भारत में काम करने वाले ब्रिटिश असैनिक अफसरों को पेंशनें और सुविधाएं दी जाती थीं। भारतीयकरण का प्रश्न, बेशक प्रमुख था, किंतु अब भी योरोपियनों की एक पर्याप्त संख्या थी, जिन्हें भुगतान करना होता था। यह कहा जाता था कि विदेशियों को अनावश्यक रूप में ऊंचे वेतन दिये जाते थे। यदि भारतीय हों, तो वेतनों की राशि बहुत कम होगी। इससे भी अधिक यह कि उनकी कमाई और उसके साथ ही उनके अनुभव अपने ही देश में रह पायेंगे। जैसा भी यह था, दोनों ही भारत के लिए हानिकारक थे।

(द) **फौजी और जहाज़ी व्यय**—भारत में ब्रिटिश फौज की यह कहकर आलोचना की जाती थी कि भारत की रक्षा के लिए यह बहुत बड़ी है। यदि इसे शाही उद्देश्यों के लिए रखा जाता है, तो इंग्लैण्ड को भी इसका एक अंश देना चाहिए। १९३४ में ब्रिटिश सरकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया और भारत में फौज रखने के लिए २ करोड़ रुपये वार्षिक देना शुरू कर दिया। १९३८ तक भारत ब्रिटिश राजकोष (British Exchequer) को जहाज़ी रक्षा के लिए एक लाख पौंड वार्षिक देता रहा, जब यह अंश देना किया गया था, तो शर्त यह थी कि भारत के ६ सशस्त्र रक्षक जहाज़ रहेंगे।

आलोचना का दूसरा आधार यह था कि भारतीय सिपाही की अपेक्षा ब्रिटिश सिपाही महंगा है। इस बार के युद्ध में भारतीय फौजों के कार्यों ने यह साबित कर दिया है कि भारतीय सिपाही लड़ाके के रूप में दुनिया में किसी से पीछे नहीं।

जो भी हो, यह बधाई की बात है कि इस युद्ध के दौरान में ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में महान खरीददारियों के कारण हमारा स्टर्लिंग सम्बन्धी सारा ऋण चुक गया है। भारत ऋणी देश की जगह साहूकारा देश बन गया।

स्टर्लिंग संपत्ति के एक अंश के साथ, जो भारत का जमा था, इस देश में नौकरी करने वाले ब्रिटिशों की पैन्शनों और प्रावीडेंट फंडों को पूंजी का रूप दे दिया गया। रेल के भत्तों को भी पूंजी का रूप दे दिया गया और १४ करोड़ रुपये ब्याज रूप में बट्टे डाले गए।

घरेलू व्ययों में सम्मिलित चार उपरलिखित मदों के अतिरिक्त, भारत को कुछ अन्य भुगतान भी करने पड़ते थे। उदाहरण के लिए, (१) भारत में निजी विदेशी पूंजी की एक बहुत बड़ी रकम लगी हुई थी, उसका ब्याज और लाभ भी देश से बाहर चला जाता था। आयात पर हमारे निर्यात का आधिक्य अधिकांशतः इस मद में गिना गया था,

(२)इसके अतिरिक्त, विदेशी जहाज़ी कम्पनियों, बैंकरों और कमीशन एजैंटों की सेवाओं के बदले भी भुगतान करना था। इन्हें छोड़, भारत में काम करने वाली विदेशी बीमा कम्पनियों के प्रीमियमों (चंदों) की बहुत बड़ी रकम थी।

ऊपरलिखित युक्तियों को दृष्टि में रखते हुए यह विचार कि 'घरेलू-व्यय' "संपत्ति की मोरी" अथवा एक अधीन देश की ओर से मालिक को "भेंट" थी, सर्वथा अर्थ-हीन है। इसके साथ ही, यह भी मानना पड़ेगा कि शिकायत के लिए भी उचित आधार थे।

युद्ध-काल के वर्षों में हमने देखा कि हमारे रेल के भत्ते और उसके साथ ही विश्राम के पारिश्रमिक और पैंशनों ने हमारे ऋणों को साफ कर दिया और हम १०० करोड़ पौंड तक के साहूकारा देश के रूप में हो गए। किन्तु युद्धोतर वर्षो में और विशेषकर विभाजन के बाद, भारत के व्यापार का प्रतिकूल संतुलन हो गया। इसके कुछ विशेष कारण थे।

१३. विभाजन के बाद प्रतिकूल संतुलन। कारण—द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व,और विशेषकर युद्ध के दिनों में, भारत के निरंतर अनुकूल संतुलन थे। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि एकाएक, युद्ध के बाद, उसके भुगतानों का संतुलन प्रतिकूल हो गया। आइये इसके कारणों पर विचार करें।

(१) युद्ध-काल में भारत आयात की अपेक्षा वस्तुओं का निर्यात अधिक करता था। उसे अन्तर स्टर्लिंग संपत्ति के रूप में चुकाया जाता था, जिसका परिचलन मुद्राविस्नार में हो गया, अर्थात् वस्तुओं के मुकाबिले में रुपये का परिचलन अधिक था। भारत बिक्री की दृष्टि से अच्छा देश बन गया और खरीद की दृष्टि से बुरा।

(२)भारत खाद्य-अन्नों की वृहद् आयात करने वाला बन गया। यह अनेक कारणों से हुआ। बर्मा, जो चावलों की ही निर्यात करने वाला था, अब भारत का अंग नहीं रह गया। भारत की जनसंख्या ४० लाख प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रही है। भारत के खाद्य अन्नों के जो आधिक्य के क्षेत्र थे, वह पश्चिमी पंजाब और सिंध, अब पाकिस्तान के भाग हो गए थे। इसके परिणामस्वरूप भारत को डालर क्षेत्रों से खाद्यअन्नों की भारी संख्या में आयात करनी पड़ी और इन क्षेत्रों के साथ उसके व्यापार का संतुलन पहले से ही प्रतिकूल है। खाद्य-अन्नों की प्रचलित ऊंची कीमतों और भारत-पाकिस्तान के राजनीतिक मत-भेदों से स्थिति और भी जटिल बन गई है।

(३) भारत और पाकिस्तान रूप में हमारे देश का विभाजन भी हमारे प्रतिकूल संतुलनों के लिए उत्तरदायी है। हम जूट, कपास, खालों आदि कच्चे मालों का बड़े परिमाण में निर्यात नहीं कर सकते, जैसा कि पहले हम किया करते थे। वस्तुतः, इनमें से कुछेक की हमें विदेशों से आयात करनी पड़ती है, ताकि हमारी मिलें (कारखाने)चल सकें। इस प्रकार १९४९ में हमने न केवल स्टर्लिंग संपत्ति द्वारा मुक्त हुई समस्त राशि को खर्च कर डाला, प्रत्युत मशीनरी, औद्योगिक कच्चे मालों और भोक्ता वस्तुओं पर और ज़्यादा खर्च कर डाला। सितम्बर १९४९ में रुपये की कीमत घटाने के बाद, भारत-पाकिस्तान का

व्यापार एकदम रुक गया। पाकिस्तान ने भारतीय वस्तुओं पर कर लगा दिये और उसके कपड़े का बहिष्कार कर दिया। उसने कच्ची जूट देने तक से इंकार कर दिया, जिसके लिए भारत भुगतान कर चुका था। चूंकि पाकिस्तान ने रुपये की कीमत घटाई नहीं थी, इसलिए भारत के लिए उसकी वस्तुएँ खरीदना बहुत महंगा था। उन्ही कारणों से भारत से पाकिस्तान को निर्यात पर कर लगाये गए तथा अन्य प्रतिबन्ध लगाये गए। पाकिस्तान के साथ भारत के अपने व्यापार के संतुलन में भारी घाटा था। और यही दशा शेष दुनिया के साथ थी।

(४) भारत में धन-राशि की अधिक आय के कारण, आयात वस्तुओं और उसके साथ ही देश में उत्पादित वस्तुओं की अधिक मांग थी। इस प्रकार, निर्यात योग्य आधिक्य लघुतर हो गया था और पहले जिन वस्तुओं की भारी संख्या में निर्यात होती थी, वह लघुतर संख्या में निर्यात होने लगीं। तिलहन, कच्चा लोहा, कच्ची कपास आदि, इसी श्रेणी में थे।

(५) वस्तुओं के मुकाबिले में भारत में धन का अधिक परिचलन होने के कारण, उत्पाद-मूल्य अपेक्षाकृत ऊंचा था। फलस्वरूप, यदि मजूरी इतनी अधिक न हो गई होती, तो उस दशा की अपेक्षा निर्यात का परिमाण पर्याप्त रूप में न्यून हो गया होता। वस्तुतः, मजूरी १९३९ की तुलना में लगभग ४०० तक बढ़ गई थी, किंतु श्रम की कार्य-क्षमता, कुशल कारीगरो के पाकिस्तान चले जाने के कारण, ६० तक गिर गई थी।

जो उपचार किये गए—इस तथ्य ने, कि भारत के व्यापार का संतुलन न केवल कठोर करैंसी क्षेत्रों के साथ प्रतिकूल था, प्रत्युत स्टर्लिंग देशों के साथ भी था, भीषण परिस्थिति के लिए लोगों की आंखें खोल दीं। सरलतापूर्वक इसका उपचार यह बताया गया कि "कम आयात—अधिक निर्यात"। "अधिक निर्यात" का अर्थ "अधिक उत्पाद" है, जो अधिक मशीनों के बिना हो नही सकता और भारत उनका उत्पाद नहीं कर सकता। फलस्वरूप, "कम आयात" की तजवीज़ शंकित होकर ग्राह्य हो सकती थी। अधिकांश स्थितियों में विदेशों में हमारा व्यय अनिवार्य है और उसका निपटारा केवल उत्पाद और अपने लोगों के श्रम से पूरा किया जा सकता था। फलतः, हमें अपने व्यापार के लिए अल्पकालिक और दीर्घ-कालिक, दोनों ही योजनाओ की आवश्यकता है। भारत सरकार ने जिन विधियों को अपनाया, आइये, उन पर विचार करें।

१. निर्यात संबन्धी यत्न। भारत सरकार निर्यात में वृद्धि के लिए चिंतित थी। तदनुसार उसने, १९४९ में गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन समिति (Gorwala Export Promotion Committee) की स्थापना की और निम्न रूप में उसकी सिफारिशों को कार्यान्वित किया :—

(क) जूट तथा अन्य वस्तुओं के सट्टे को रोक दिया कि जिनकी प्रवृत्ति जुए में गतिशील होती थी।

(ख) निर्यात नियंत्रणों में, विशेषकर निर्मित वस्तुओं से सम्बन्धित, उदारता कर दी गई और लाइसैंसों का तरीका सरल कर दिया गया। कोटे की समाप्ति तक नियत कोटे के भीतर स्वतन्त्रतापूर्वक वस्तुओं का निर्यात होता था।

(ग) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के निर्माण के लिए नियंत्रित कच्चा माल, पैकिंग का सामान और यातायात की सुविधाएं दी गई थीं।

(घ) इस बात का यकीन दिलाने के प्रबन्ध किये गए थे कि भारतीय वस्तुओं में कोई शिकायत नहीं, और यदि कोई हुई तो, उसपर तत्काल कार्यवाही की जायगी।

(ङ) यदि आवश्यकता हुई तो, सरकार निर्यात करों का संशोधन करेगी और निर्यात होने वाली वस्तुओं पर प्रान्तीय बिक्री टैक्स भी नही लगाये जाँयगे।

सरकार ने निर्यात नियंत्रण नीति के विषय में राय देने के लिए निर्यात परामर्श-दातृ कौंसिल की स्थापना की थी। प्रत्येक ६ मास बाद निर्यात नीति का सिंहावलोकन किया जाता है और प्रचलित अवस्थाओं के अनुसार वस्तुओं के निर्यात पर रोक लगाई जाती है या प्रोत्साहन दिया जाता है। घरेलू खपत के लिए आवश्यक कच्चे मालों की निर्यात पर, कच्ची ऊन की तरह, रोक लगा दी गई थी।

ऊपर लिखित के अतिरिक्त, सरकार ने भावी कार्यक्रम इस प्रकार बनाया था: "ऐसी क्रय-शक्ति को नियत करना जैसी कि हमने उन देशों से आयात की हुई औद्योगिक कच्ची वस्तुओं की कीमतो में युक्तिसंगत न्यूनता कम करने के उद्देश्य से नियत कर रक्खी है, जिनकी मुद्रा ने भारतीय मुद्रा के स्तर से मेल खाया है; वैधानिक और प्रशासन सम्बन्धी उपायों द्वारा काल्पनिक कीमतों की रोक और कानून द्वारा ऋण-सम्बन्धी सुविधाएं देना; कठोर करैंसी क्षेत्रों में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर विवेकहीन सिद्धान्त की सुदृढ़ता में आयकरों को लगाना, ताकि अधिकाधिक विदेशी विनिमय संभव हो, और उसके साथ ही ऐसे हितों को प्राप्त करना, जो रुपये की कीमत में कमी करने के फलस्वरूप विदेशी आयात करने वालों, भारतीय निर्माताओं और भारतीय राजकोष मे विभाजित हुए हो; और अंत में, प्रांतीय और देशीय सरकारों के साथ मिल कर यह कार्यवाही करना कि आवश्यक जिन्सों, निर्मित वस्तुओं की फुटकर बिक्री की कीमतों में और साथ ही खाद्य-अन्नों की क्षेत्र-बहिर ओर कारखाना-बहिर की कीमतों में न्यूनता द्वारा अथवा दोनों पर वितरण और प्रारम्भिक खर्चों की लागतों में न्यूनता द्वारा १० प्रतिशत न्यूनता हो जाय।"

(२) **आयात नियंत्रण नीति**—डालर सुरक्षित रखने के लिए डालर और कठोर करैंसी क्षेत्रों से आयात पर रोक लगा दी गई थी। स्टर्लिंग देशों के साथ घाटा होने के कारण, स्टर्लिंग देशों की आयात पर भी वैसी ही रोक लगा दी गई थी, प्रत्येक ६ मास बाद विदेशी विनिमय के प्रसाधनों की स्थिति का अवलोकन किया जाता था और आगामी अर्ध-वर्ष का कार्यक्रम इस ढंग से बनाया जाता था कि उपलब्ध विदेशी प्रसाधनों पर

अतिरिक्त व्यय न हों। साथ ही सरकार ने आयात-परामर्शदातृ समिति आयात-व्यापार-नियंत्रण पर अमल करने के विषय में परामर्श देने के लिए नियत की थी। इस प्रकार की वस्तुओं का प्रबन्ध करने के लिए उन्हें अनेक वर्गों में विभाजित कर दिया गया था, उनमें से कुछेक को तरल करैंसी देशों से (Open General License) ओ. जी. एल. (खुले लाइसैंस) में रखा गया था; अन्यों के लिए डालर क्षेत्रों से उदारतापूर्वक लाइसैंस दिये जाते थे; कुछ ऐसी भी अन्य वस्तुएं थीं, जिनके लिए लाइसैंस नहीं मिलता था और अंत में ऐसी वस्तुएं थी, जिनके लिए आर्थिक सीमाएं नियत कर दी गई थीं, जिन के अंदर-अंदर उन वस्तुओं की कठोर या तरल करैंसी देशों अथवा दोनों से ही आयात की जा सकती थी। ऐसी सूचियां बनाते समय बहुमूल्य वस्तुओं, कच्चे पदार्थो और आवश्यक भोक्ता वस्तुओं को "प्राथमिकता" दी गई थी।

(३) **अधिक उत्पाद**—जैसे कि ऊपर व्याख्या की गई है, भुगतानों के संतुलन में घाटे केवल विदेशी व्यापार को नियमित करने द्वारा पूरे नहीं हो सकते, क्योंकि यह तो केवल अस्थायी रूप से रोग को दबाना मात्र है, वास्तविक इलाज तो देश के उत्पाद की वृद्धि करना है। सरकार ने इस सिद्धान्त की शक्ति को महसूस किया और उत्पाद को विस्तार देने के लिए यत्न आरम्भ किये। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कई एक बहुमुखी कौशलों की योजना बनाई गई। खाद्य की खाई को पूर्ण करने के अलावा बेकार पड़ी ज़मीन को ट्रैक्टर मशीनों की सहायता से खेती योग्य बनाने के लिए निरंतर यत्न हो रहे हैं ताकि भारत को कपास और जूट के लिए पाकिस्तान की निर्भरता से मुक्ति दिलाई जा सके। इसके अतिरिक्त चाय, काली धातुओं, छोटे तार वाली कपास, अबरक आदि वस्तुओं की ऐसे देशों को निर्यात में वृद्धि की चेष्टाएं की जा रही हैं, कि जिनसे विदेशी विनिमय उपार्जन किया जा सकेगा।

(४) **मुद्रा-अवमूल्यन**—सितम्बर १९४९ में सरकार ने महसूस किया कि उसकी निर्यात में वृद्धि की कोशिशें असफल हो रही है और डालर तथा स्टर्लिंग, दोनों प्रकार के विदेशी देशों के साथ व्यापार में घाटा बढ़ रहा है। अन्य स्टर्लिंग देश भी, उसी स्थिति में थे और ब्रिटिश साम्राज्य का डालर-कोष रिक्त था। इस स्थिति को ठीक करने के लिए इंग्लैण्ड ने अपनी करैंसी की ३०·५ प्रतिशत कीमत घटा दी और स्टर्लिग देशों ने (पाकिस्तान सहित) अनुसरण किया। उस समय जो व्यापारिक संतुलन की स्थिति थी, वह निम्न तालिका से स्पष्ट है:—

कुल व्यापार का प्रत्यक्ष संतुलन (रु० लाखों में)[१]

१९३८-३९	+२५,६५	अप्रैल	१९५१	— ३,२४
१९४९-५०	—७५,२९	मई	,,	+१५,८३
१९५०-५१	+३६,०२	जून	,,	— ७,१६
		जुलाई	,,	— ९,०१
		अगस्त	,,	— ६,८२
		सितम्बर	,,	— ६,८२

१. Reserve Bank of India Bulletin for Dec. 1951.

भारत के विदेशी व्यापार पर रुपए का मूल्य घटाने का आशातीत प्रभाव हुआ। इसका संपूर्ण फल तो केवल वर्षों के अनन्तर ही जाना जा सकता है, किंतु तात्कालिक प्रभाव निम्नलिखित अनुसार है :—

(१) **आयात पर**—डालर तथा अन्य कठोर करैंसी क्षेत्रों ने अपनी मुद्रा की कीमत नहीं घटाई, जबकि स्टर्लिंग क्षेत्रीय-देशों ने, पाकिस्तान को छोड़कर, अपनी करैंसी का मूल्य घटाया था। इन क्षेत्रों की आयात पर रुपये के बिलमुकाबिल ४४ प्रतिशत तक की अधिक लागत हुई। हमें इन देशों की आयात की सूची में से उन वस्तुओं को निकाल देना पड़ा कि जो अनावश्यक थी। जो भी हो, हम मशीनों और तत्संबंधी सामान को तो काट नहीं सकते थे, और उनके लिए हमें अधिक देना पड़ा।

भारत की निर्यात पर मुद्रा अवमूल्यन का प्रभाव निम्न तालिका से अध्ययन किया जा सकता है।

कठोर और तरल करैंसी देशों को भारतीय वस्तुओं की निर्यात (रु० करोड़ों में)

निर्माता	कठोर मुद्रा वाले क्षेत्र		तरल मुद्रा वाले क्षेत्र	
	रुपए की कीमत घटाने से पहले अक्तूबर ४८ से सितम्बर४९तक	रुपए की कीमत घटाने के बाद अक्तूबर ४९ से सितम्बर ५०तक	रुपए की कीमत घटाने से पहले अक्तूबर ४८ से सितम्बर ४९तक	रुपए की कीमत घटाने के बाद अक्तूबर ४९ से सितम्बर५०तक
जूट	५६	६४	७५	५८
कच्ची जूट	३	१	१५	७
कच्ची रुई और खुदरा	३·५	११	११	११
सूती कपड़ा	—	—	३१	८२
खालें और कच्चा चमड़ा	१·५	.९	४	३
खालें और चमड़ा	·४	२·६	१२	२०
मसाले	३	११	७	९
लाख	३	४	४	५
चाय	७	१३	६२	५७
कच्ची काली धातु	२	५·५	·१	१·५
तेल और तेल के बीज	—	—	११	१५
अबरक	३	७	१	२
तम्बाकू	—	—	९	१५
मिश्रित	१५	१७	७८	७८
योग	९६	१३९	२९८	३६३

(२) **निर्यात पर**—भारतीय वस्तुएं डालर की तुलना में सस्ती हो गईं। अमरीकी उसी कीमत से उन्हें अधिक संख्या में खरीद सकते थे। किन्तु क्या प्रत्येक जिन्स पर उपलब्ध डालरों की संख्या में विरोधी संतुलन की अपेक्षा बढ़ी हुई बिक्री कमी कर सकेगी? स्पष्ट ही है कि यदि मांग लोचदार है और डालर की कीमत में अपेक्षाकृत गिरावट से वृद्धि अधिक है, तो हमें लाभ होता है। यदि मांग लोचदार नहीं और बढ़ी हुई मांग डालर की गिरी हुई कीमत के समान नहीं, तो हमें हानि होती है। पहली दशा में निर्यात-कर हमारे डालर-उपार्जन की वृद्धि के लिए हुआ। ऐसा कर जूट की वस्तुओं पर लगाया गया था।

तरल करैंसी देशों को जाने वाली हमारी निर्यात पर रुपये की कीमत घटाने के प्रभाव का उसी रूप में अध्ययन करते हुए हम निर्णय कर सकते हैं कि उनकी प्रवृत्ति वृद्धि की होगी, क्योंकि इन देशों को डालर क्षेत्रों से वस्तुएं खरीदना महंगा पड़ेगा और उसकी जगह वह भारत अथवा अन्य तरल क्षेत्र के देशों की ओर रुख करेंगे बशर्ते कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वहां से कर सकें। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्टर्लिंग देशों को हमारी सूती कपड़े और अन्य वस्तुओं की निर्यात असाधारण रूप में बढ़ गई है।

यदि हम निम्न तालिका को देखें, तो हम वैसा ही निर्णय कर सकेंगे :—

भारत के भुगतानों का संतुलन (रु० करोड़ों में)
(पाकिस्तान को छोड़कर)

	१९४९						१९५०					
	पहले ६ मास			दूसरे ६ मास			पहले ६ मास			दूसरे ६ मास		
	प्रा.	भु.	सं.	प्रा.	भु.	सं.	प्रा.	भु.	सं.	प्रा.	भु.	सं.
स्टर्लिंग क्षेत्र	+१५७	२२५	–९८	१५६	१७६	+१०	१८६	१६१	+२५	२१८	१८४	+३४
कठोर करैंसी क्षेत्र	+ ६२	१२१	–५९	७७	७१	+६	८८	९७	–९	९८	६०	+३८
अन्य क्षेत्र	+ ४१	९९	–६८	४१	६३	–१२	३८	४७	–९	५०	६८	–१८

यह निष्कर्ष निकालना ग़लत होगा कि पहले ६ मासों में भारत के भुगतानों के संतुलन में वृद्धि पूर्णत: रुपए की कीमत घटाने के कारण हुई। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत सहायक थी। कोरिया में युद्ध छिड़ने का मुख्य प्रभाव था। राशि-संग्रह के आधिक्य के कारण भारतीय वस्तुओं की मांग और उनकी कीमतों में वृद्धि हुई। उन्हीं कारणों से हमें हमारी ज़रूरत की सब औद्योगिक कच्ची वस्तुओ और बहुमूल्य वस्तुओं को प्राप्त करने में कठिनाई हुई। आयातों पर और भिन्न देशों को निर्यात के लिए लाइसैंसों पर सरकारी नियंत्रणों ने इस प्रवृत्ति को सहायता दी और व्यापार का रुख ऐसी दिशाओं में कर दिया कि जिनसे भारत को अधिकाधिक लाभ की आशा हो सकती थी।

इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए हम अपने विदेशी व्यापार के चित्र को संतोषजनक कह लेते हैं चाहे १९५१ में (७ मास) हमारे भुगतानों के कुल संतुलन की स्थिति इतनी खराब नहीं थी, और हम स्टर्लिंग-हीन क्षेत्र देशों में घाटे में जा रहे थे।

पुनर्मूल्यन के पक्ष में—१९५१ के अनन्तर आधे वर्ष में रुपये में मूल्य घटाने की गति भी स्वतः समाप्त हो चुकी थी। करैंसी का अवमूल्यन भी आखिर, केवल अल्प-कालिक चिकित्सा है। इस प्रकार १९५१ में व्यापार का सब घाटा ८० करोड़ रुपए से अधिक था। कुल आंकड़े, संभव है, इससे भी अधिक जान पड़ें,किन्तु इसमें से ६०करोड़ रु० इंग्लैण्ड में भारत की स्टर्लिंग सम्पत्ति में से समन्वय के लिए लेने पड़े थे। इस घाटे के कारण, कतिपय क्षेत्रों में, रुपए के पुनर्मूल्यन की ज़ोरदार तजवीज की जा रही है। यह कहा जाता है कि यदि पुनर्मूल्यन किया जाता है, तो इस से संभवतः समान स्तर पर पाकिस्तान के साथ भारत के व्यापार में सहायता हो सकेगी। १९५१ के पहले ११ मासों में पाकिस्तान के साथ ७० करोड़ रु० से अधिक का घाटा था। पुनर्मूल्यन विदेशों से प्राप्त आयात की खाद्य-वस्तुओं और औद्योगिक कच्चे मालों तथा मशीनों की कीमतों में भी, जिनकी पंचवर्षीय-योजना की पूर्ति के लिए और भारत की आर्थिक प्रगति के लिए अत्या-वश्यकता है, कमी कर देगा। सरकार की ओर से आयात की जाने वाली वस्तुओं के भुगतान में जो कटौती होगी, उससे किसी सीमा तक देश के बजट की स्थिति में भी सुधार हो सकेगा।

(५) **व्यापार का राष्ट्रीयकरण**—व्यापार में राज्य का हस्तक्षेप कोई नयी बात नही। संकटकाल में अनेक देश ऐसा करते रहे हैं। भारत भी रूस, पाकिस्तान और अर्जेन्टाइना देशों के साथ बेहतर व्यवहार करता रहा है। सरकार भी विदेशी व्यापार में, मुख्यतः भारतीय निर्यात करने वालों के विक्षिप्त उपायों के कारण, किंचित् हस्तक्षेप की आवश्यकता को अनुभव कर रही है। सरकार निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के वर्गी-करण, चिह्नित करने और उनकी अवस्था को उन्नत करने की आवश्यकता का अनुभव कर रही है। फलस्वरूप, उसने राज्य व्यापार पर सिफारिशें करने के लिए देशमुख कमेटी की स्थापना की। कमेटी ने १९५० में अर्ध-सरकारी कार्पोरेशन के निर्माण की तजवीज़ की, जिसकी प्रारम्भिक पूजी २ करोड़ रु० की हो और वह खाद्य, कोयला, इस्पात, कपास, कृषि और सूती औद्योगिक उत्पादों सम्बन्धी भारत के विदेशी व्यापार का नियंत्रण करे। विश्वास किया जाता है कि कमेटी ने भारत के बैंकिंग, जहाज़ी और बीमा व्यवसाय का प्रगतिशील राष्ट्रीयकरण तथा ग्राम सहकारिता समिति की स्थापना की तजवीज़ की थी। तिस पर भी, देश भर में यह आम विचार है कि अभी विदेशी व्यापार का संपूर्ण राष्ट्रीयकरण उचित नहीं और सरकार व्यापार के केवल उन्ही भागों पर नियंत्रण करे कि जिन्हें वह सफलतापूर्वक हथिया सकती है।

१४. भारत का "अन्तर्बन्दरी" व्यापार। आंतरिक और विदेशी व्यापार की दो किस्मों के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी व्यापार है। भारत पश्चिम और पूर्व के बीच व्यापार के लिए अत्यधिक सुविधाजनक स्थिति में है। चीन और ईस्ट इंडीज़ और लंका से योरोप को जाने वाली वस्तुओं को ठहराव के लिए सुविधाजनक स्थान मिलता है। उसी प्रकार, योरोप से आने वाली वस्तुओं का भारतीय बंदरगाहों से विभाजन होता है।

तिब्बत, नेपाल और अफ़ग़ानिस्तान सरीखे देश भी है, जिनका निजी समुद्री किनारा नहीं। उनके निर्यात और आयात भी भारत के मार्ग से होते है। तिब्बत से ऊन और खालें लाहौल और कुल्लू की राह भारत में आते है और विदेशों में भेजे जाते हैं। बदले में, कपड़ा, खाड, चाय, मसाले, आदि विदेशी वस्तुएं भारत की राह से जाती है।

भारतीय पुनर्निर्यात १९२३-२४ तक बढ़ती रही और उसके बाद १९३३-३४ तक गिरती रही। धीरे-धीरे, अब वह पुनः उन्नत हो गई है। निम्न तालिका यह स्पष्ट करती है :—

पुनर्निर्यात (रु० करोड़ों में)

१९२०	१८	१९४५	२४
१९३१	३	१९४६	२३
१९३८	७	१९४९	१३
		१९५०	२०

भारत के "अन्तर्बन्दरी" व्यापार का भविष्य कुछ उज्ज्वल नहीं दिखाई देता, क्योंकि प्रत्येक देश दूसरों के साथ सीधे सम्बन्ध बनाना चाहता है। केवल वही देश, जो भारत की सीमाओं से उस पार है, और जिनके पास समुद्र-तट नहीं है, भारत को अपने निर्यात और आयात के लिए उपयोग में लायेंगे। हाल ही में, द्विमुखी आधार पर भारत और अफ़ग़ानिस्तान के बीच एक व्यापार-संधि हुई थी। इसके फलस्वरूप हमारी विशिष्ट वस्तुओं का अफ़ग़ानिस्तान की वस्तुओं के साथ आदान-प्रदान होने लगा है।

अफ़ग़ानिस्तान के साथ भारत के व्यापार का संक्षिप्त अध्ययन भी मनोरंजक होगा। अफ़ग़ानिस्तान का सामुद्रिक सीमांत नही है। यद्यपि, भारत इस समय उसका प्राकृतिक पड़ौसी नहीं है, तथापि उसके भारत के साथ राजनीतिक सम्बन्ध पाकिस्तान की अपेक्षा अच्छे हैं। फलस्वरूप दोनों देशों के बीच पर्याप्त व्यापारिक सम्बन्ध हैं।

कुल औसत व्यापार,	प्रतिवर्ष,	१९०० से १९०५	रु० १, ३० लाख
"	"	१९३७-३८	रु० ५, ८७ लाख
"	"	१९४९	रु० २, २९ लाख
"	"	१९५०	रु० ३, ७५ लाख

युद्ध-काल में अफ़ग़ानिस्तान को भारतीय निर्यातों में वृद्धि हुई। भारत अफ़ग़ानिस्तान को कपास, चाय, चमड़े की वस्तुएं, वैज्ञानिक प्रसाधन, रबड़ की वस्तुएं, खांड, रेशम की निर्मित वस्तुएं और पशु भेजता है और बदले में मुख्यतः फल, बादाम, वनास्पतियां, खालें और फरें, मसाले और ऊन खरीदता है। अब अफ़ग़ानिस्तान के साथ भारत के व्यापार में वृद्धि होने का उतना क्षेत्र नहीं रह गया, क्योंकि दोनों के बीच पाकिस्तान आ गया है। भारत पाकिस्तान को बड़ी संख्या में निर्मित वस्तुओं का निर्यात कर रहा है और विनिमय में कपास, जूट, गेंहू, नमक और खड़िया मिट्टी थल-द्वारा प्राप्त कर रहा है। दोनों देशों के बीच चुंगी-चौकियां स्थापित हो गई हैं। भारत को अपनी वस्तुओं के लिए बाज़ार चाहिए। इसलिए, पाकिस्तान के साथ सुखकर-सम्बन्ध इस देश के लिए विशेष महत्वपूर्ण है।

१५. भारत के विदेशी व्यापार का आदर्श। भविष्य में भारत के व्यापार का आदर्श उसके औद्योगीकरण की निष्ठा और चरित्र पर निर्भर होगा। यह देखा गया है कि १९४९ में भारत के भुगतान का संतुलन प्रतिकूल था। इसे सुधारने के लिए, सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग के मूल्य में न्यूनता करने का अनुसरण करते हुए भारत ने अपने रुपये की कीमत घटाई। धीरे-धीरे प्रतिकूल संतुलन कम हुआ और अन्त में अनुकूल रूप में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार १९५० में, निर्यातों में तो वृद्धि हुई और आयातों में न्यूनता। यह परिवर्तन, तिस पर भी, सम्पूर्णतः रुपए की कीमत को घटाने के कारण नहीं है। इसका कारण आंशिक रूप में आयातों पर प्रतिबंध और निर्यातों को विशिष्ट प्रोत्साहन देना है। दीर्घ-कालिक भुगतानों के संतुलन समन्वय के लिए हमें भीतरी और बाहरी लागत एवं कीमत के पारस्परिक सम्बन्ध की अव्यवस्था को ठीक करना होगा। भीतरी कीमतों के ढांचे में मुद्रा स्फीति को भी ठीक करना होगा।

यह उल्लेखनीय है कि देश के विभाजन ने हमारे भीतरी व्यापार के बड़े अंश को अन्तर्राष्ट्रीय रूप में बदल दिया है। फलस्वरूप, जूट और कपास, जो पहले भारत की निर्यात के अंग थे, अब उसकी आयात की मदें हैं।

अल्प-कालिक नीति—भारत की अल्प-कालिक वैदेशिक व्यापार-नीति का लक्ष्य व्यापार संतुलन प्राप्त करना और आवश्यक आयातों के लिए पर्याप्त वैदेशिक विनिमय का उपार्जन करना है। यह करने के लिए हमें कृषि और औद्योगिक प्रसाधनों का योग्यता-पूर्वक उपयोग करना है, घिसी-पिटी मशीनों को बदलना है, निर्माण की नई दिशाओं में पूंजी लगाना है और साथ ही चालू खपत के स्तर को स्थिर रखना है। भुगतान के संतुलन की समस्या पर मांग और पूर्ति की दोनों दिशाओं से आक्रमण करना है। इस उद्देश्य के लिए राजकर कमीशन (Fiscal Commission) ने जिन उपायों की तजवीज़ की थी, वह इस प्रकार हैं :—

१. मुद्रा-सम्बन्धी और बजट सम्बन्धी, जिन्हें 'मुद्रा-स्फीति-विरोधी' कहा जाता है, उपायों को आंतरिक आर्थिक दृढ़ता के लिए प्राप्त करना;

२. विनिमय दर का सही-सही रूप, अर्थात् करैंसी की कीमत घटाना ;

३. उत्पाद के ढांचे का सही रूप करना, और

४. द्विमुखी व्यापार के प्रबन्ध ।

यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब में असमानता को सही करने के लिए अनिवार्य है । जबतक आर्थिक नियंत्रण न हों, तो केवल रुपए की कीमत को घटाना ही प्रभावकारी नहीं होगा । रुपए की कीमत घटाना अनिवार्यतः रक्षात्मक उपाय है । दीर्घकालीन योजना में खपत और उत्पाद के ढांचे में उन्नत निर्यातों के लिए परिवर्तन की आवश्यकता है । द्विमुखी समझौते स्वतः असमानता को सही नहीं कर सकते, किन्तु उनके द्वारा देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध और सद्भावना स्थापित होती है ।

दीर्घ-कालिक वैदेशिक व्यापार नीति के ध्येयों को नीचे लिखे अनुसार प्रकट किया जा सकता है :—

१. अल्प-कालिक दशा में कृषि और उद्योग, दोनों ही क्षेत्रों में देश ने जिस स्थिति का उपार्जन किया है, उसे ठोस बनाना ।

२. व्यापारिक आयात के उस आदर्श को उन्नत करना, जिस के द्वारा भारत अपनी कृषि और उन छोटे और बड़े दर्जे के उद्योगों को उन्नत करने के लिए साधन उपलब्ध कर सके कि जिन्हें उन्नत करने की उनकी इच्छा हो ।

३. व्यापारिक निर्यात के उस आदर्श को उन्नत करना, (विस्तार में, संगठित रूप में और दिशा रूप में) जो भारत को इस योग्य बना सके कि (क) वह अपने अनिवार्य आयातों का भुगतान कर सके, (ख) उन निर्यातों में विशिष्टता उत्पन्न करने के लिए कि जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ है, और (ग) उसके व्यापारिक निर्यात को उन बाज़ारों के लिए निर्दिष्ट करना, जिनमें वह प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध अपनी स्थिरता को बनाये रह सकता है ।

यह नीति हमारी औद्योगिक उन्नति की अनुरूपता में अनेक सु-स्पष्ट दर्जों में से होकर निकलेगी । वह दर्जे इस प्रकार है :—

(क) १. पहला दर्जा, जिसमें बहुमूल्य वस्तुओं की आयात भारत की धरती, खानों, जल-शक्ति और कृषि आदि को उन्नत करने के लिए होगी ।

२. अनिवार्य तृतीय उद्योग जैसा कि संवाद संवाहन;

३. अनिवार्य मौलिक उद्योग और;

४. अनिवार्य भोक्ता वस्तुओं के उद्योग ।

(ख) दूसरा दर्जा तब हो जायगा, जब बहुमूल्य वस्तुओं की आयात घट जायगी और देश में वस्तुएं उत्पन्न होने लगेंगी और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी । अब भोक्ता वस्तुओं का अधिक उत्पादन होगा बशर्ते कि नियंत्रण कार्यक्रम स्वीकार कर लिया जाता है ।

(ग) तीसरा दर्जा दूसरी श्रेणी के उद्योगों में वृद्धि प्राप्त करेगा । आयात गिरेंगी ।

भारतीय वस्तुओंके लिए नये बाज़ारों की खोज होगी और विशिष्ट वस्तुओंकी आयात होगी।

व्यापारिक नीति में प्रगतियाँ—हाल ही के वर्षो में भारतीय व्यापार नीति की रूप-रेखा बनी है। इसका प्रथम कारण भुगतानों के संतुलन में घाटे को कम करना था। और दूसरा देश में मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों में दिशा-परिवर्तन करना था।

यह केवल निर्यातों में विस्तार और आयातों में न्यूनता करने से हुआ है। १९४९ में, रुपए की कीमत घटाने से पहले भी हमारी आयात में से अनावश्यक वस्तुओं को निकाल दिया गया था और केवल बहुमूल्य वस्तुओं, औधोगिक कच्चे पदार्थो और अन्यधिक भोक्ता वस्तुओं की ही देश में आयात की स्वीकृति दी गई थी। रुपए की कीमत घटाने और सरकारी यत्नों के फलस्वरूप निर्यात का उच्च-स्तर तक विस्तार और आयातों में निम्न स्तर हुआ। इसीलिए १९५० में वैदेशिक विनिमय की स्थिति मे प्रगति दिखाई दी। कोरिया-युद्ध के फलरूप अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और राशि-संग्रह ने भी इस दिशा में सहायता की। १९५० में स्थिति में उन्नति होने के फलस्वरूप १९५१ में आयातो को मुक्त कर दिया गया। उससे हमारे व्यापार को धक्का लगा और १९५१ में ८७ करोड़ रुपये का घाटा हो गया। इस कारण, अब यह आवश्यक है कि आयातों पर नियंत्रण की दिशा में पुनः पग उठाया जाय। (Import Controls Inquiry Committee) आयात नियंत्रण जांच समिति ने जो विवरण उपस्थित किया था,सरकार ने उसे स्वीकार कर लिया है और आवृन्न रूप में विनिमय बंटवारा नियत कर दिया गया है। इस प्रकार विदेशी विनिमय से उपलब्ध उपार्जनों की योगराशि के अनुसार आयातों के वर्ग को सीमित कर दिया गया है। यह विदेशी विनिमय प्रसाधन पूर्णतः समान भाव से विभाजित होंगे, ताकि कृषि और उद्योग में योजित-प्रगति प्राप्त की जा सके और साथ ही भोक्ताओं की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। यह कार्यवाहियां जिन्सों की कीमतों में मुद्रा-स्फीति को निम्न-स्तर पर करेंगी। दीर्घ-कालिक दृष्टि से कठोर और तरल करैंसी के आधार पर लाइसैंस के प्रश्न को आज की आयात नीति में कार्यान्वित कर दिया गया है।

विदेशी व्यापार की दिशा के सम्बन्ध में भारत अपनी बहुमूल्य वस्तुओं की आयात औद्योगिक रूप में उन्नत देशों से करेगा और अपनी आवश्यक वस्तुओं की आयात सुदूरपूर्व और मध्यपूर्व के देशों से करेगा। उसके निर्यात एशिया और अफ्रीका के औद्योगिक रूप में पिछड़े देशों के बीच अधिकाधिक विभाजित होंगे। भारतीय उत्पाद में उनके निर्यात से पूर्व ही प्रगति हो चुकेगी। यह परिवर्तन इस बात की अर्थ पूर्ण मांग करते है कि भारत के निर्यात व्यापार को पुनः पूर्वी देशों के उपयुक्त बनाया जाय। भारत को जापान से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और निश्चित योजना के आधार पर औद्योगीकरण में शीघ्रता से पग बढ़ाना चाहिए। इसके लिए उसे जहाज़ी प्रसाधनों और बीमों की वृद्धि करनी होगी, जो मध्य और सुदूरपूर्व देशों में निर्यात को सुविधा प्रदान कर सकेंगे। यह है विस्तृत योजनाएं, जिनमे भारत का विदेशी व्यापार उन्नति करेगा।

छब्बीसवां अध्याय

भारतीय राजकर नीति

१. विषय की महत्ता। यद्यपि युद्ध को समाप्त हुए ६ वर्ष से अधिक हो चुके हैं, तथापि दुनिया अभी अपनी सही हालत में नहीं आ सकी। जनतंत्र और साम्यवाद के बीच के मतभेद मार्ग में खड़े हो गए हैं। गत कुछ वर्षों में कोरिया का युद्ध इस दिशा में मुख्य हेतु बनकर कार्य कर रहा है। ईरान, ईजिप्ट और इंडो-चीन के मतभेद इस रोग के लक्षण हैं, किंतु इस देश का भारत और पाकिस्तान के रूप में विभाजन तथा उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं ने हमें विशेष रूप से प्रभावित किया है। विश्व की सम्पूर्ण रूप में राजकर-नीति अपने कीले से वृहद् रूप में तुड़-मुड़ गई है। भारत किस नीति का अनुसरण करे, यह समस्या कठिन होकर ही रहेगी। युद्ध-काल में और उपरांत शुरू किये गए अनेक नये उद्योगों और अनेक पुराने उद्योगों का भाग्य इस नीति पर निर्भर करता है।

फलतः, वर्तमान समय में, जबकि युद्ध ने सब सम्बन्धों को उखाड़ फैंका है और राजकर नीति का पुनः पूर्वीकरण हो रहा है, तो अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए इस समस्या का गम्भीर अध्ययन करना महत्वपूर्ण है। हाल ही में भारत सरकार ने मि० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में ६ सदस्यों की एक राजकर कमीशन नियत की थी, जिसे राजकर नीति सम्बन्धी ऐसी सिफारिशें करनी थीं, जिनपर नये वातावरण में सरकार को अमल करना था। कमीशन ने अपनी सिफारिशें कर दी हैं और वह विचाराधीन हैं।

यद्यपि यह अध्ययन प्राकृतिक रूप में दो भागों में नहीं हो पाता तथापि सुविधा के लिए इसे दो भागों में बांट लेते हैं ; सुरक्षित रूप और व्यापारिक नीति का रूप। और इस अध्याय में इसी पर विचार किया गया है।

२. १९२३ तक भारत की राजकर नीति। **स्वतन्त्र व्यापार का काल**—प्राचीन लेखकों ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पोषण किया है। उनकी धारणा थी कि प्रत्येक देश को उन जिन्सों के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करनी चाहिए, जिसके वह सर्वथा योग्य हैं और अन्य वस्तुओं की विदेशों से आयात करें। इंग्लैण्ड का यह सौभाग्य था कि उसने औद्योगीकरण में खूब लम्बी दौड़ से शुरुआत की। अन्य किसी देश के ऐसा सचेष्ट विचार करने से पूर्व ही उसने अपने उद्योगों को जमा लिया था। इस प्रकार, इंग्लैण्ड को निर्मित वस्तुओं का रूप देने के लिए कच्चे सामानों और निर्मित वस्तुओं को बेचने के लिए बाजारों की आवश्यकता थी। उसे स्वतन्त्र व्यापार अनुकूल पड़ता था

और उसके अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का इस आधार पर समर्थन किया था कि जो इंग्लैण्ड के लिए सुखकर है, वही समरूप में शेष दुनिया के लिए भी सुखकर है। भारत सहित, इंग्लैण्ड के सब उपनिवेशों को इच्छा अथवा अनिच्छा से उसका अनुसरण करना पड़ा। कैनेडा आदि देशों को इस जाल में से अपने को निकाल लेने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ा, जबकि भारत की राजकर नीति उनके इस देश से चले जाने तक, अधिकांशतः ब्रिटिश हितों द्वारा ही शासित होती थी। १९२३ तक भारत ने शतप्रतिशत स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण किया और भीतर आनेवाली वस्तुओं पर केवल राज्य की आय के उद्देश्य से कर लगाये जाते थे। यहा तक कि जब यह कर कपड़े पर लगाये जाते थे, तो फलरूप लंकाशायर से चिल्लपों होने लगती थी और कुछ अवस्थाओं में प्रतिरोधी रूप में देशीय कर लगा दिये जाते थे। इन सब वर्षों के अर्थ सदस्यों की लम्बी पंक्ति को स्वतन्त्र व्यापार का रंग चढ़ गया था और उन्हें विश्वास था कि गरीब भारतीय-भोक्ता के लिए यह मार्ग राहत का है। और जब कभी आर्थिक कष्ट के समय वह चुंगी कर लागू करते थे, तो उस कार्यवाही के लिए वह अभ्यर्थना प्रकट करते थे। इस प्रकार, यदि राज्य की आय के उद्देश्य से कर लगाये जाते, जो किन्हीं उद्योगों की व्युत्पत्ति में सहायक होती, तो उन्हें प्रवृत्ति को सही करने और कस्टम की आय को बढ़ाने के दोनों लक्ष्यों के साथ नीचे गिरा दिया जाता।

१९१४-१८ के युद्ध ने सरकार को आयात-निर्यात कर में वृद्धि करने के लिए लाचार कर दिया। युद्ध के उपरान्त अधिक धन की अपनी आवश्यकता के कारण नीचे करना उन्हें असंभव जान पड़ा। १९४२ में भारतीय कुल राजस्व आय २४·४ प्रतिशत तक पहुंच गई थी, जबकि १९०९-१४ में—केवल १३·९ प्रतिशत थी। इन राजकीय आय करों से अवैज्ञानिक ढंग के कुछ उद्योगों को किंचित सहायता मिलने योग्य हुई, किंतु सरकार हमेशा ही आकुल रही और "१९१९ से लेकर वह उत्पन्न हुई परिस्थिति में से निकलने के लिए निरंतर हाथ-पाँव पटकती रही।"[1]

३. भारत में सुरक्षा के लिए युक्तियां। किसी भी महत्वपूर्ण देश ने सुरक्षा के बिना अपना औद्योगीकरण नहीं किया। इंग्लैण्ड, जर्मनी, अमरीका, जापान–प्रत्येक को औद्योगिक उन्नति का आश्रय प्राप्त था। उनमें से कुछेक के पास पर्याप्त कच्चा सामान था और अन्य उसकी आयात करते थे। किंतु उनमें से हरएक को विस्तृत उद्योगों की स्थापना के लिए दीर्घ अथवा अल्पकाल तक सुरक्षाकरों के आश्रय की आवश्यकता थी। भारत में भी सुरक्षा के पक्ष में साझी भावना विद्यमान है। मुख्य युक्तियां नीचे दी जाती है।

१. उद्योग की शैशव दशा सम्बन्धी युक्ति—उद्योग की प्रगति के लिए सम्बन्धित भिन्न तत्वों को उन्नत रूप देने में समय की आवश्यकता होती है, अर्थात् मजदूरों को शिक्षित

१. B.K. Adarkar—The Indian Fiscal Policy, p. 422.

करने के लिए , पूजी संग्रहित करने के लिए और साहसी कार्यकर्ताओं को अनुभव देने के लिए, और आवश्यक निपुणता प्राप्त करने के लिए। उस काल में, जबकि उद्योग इन अनिवार्यताओं को प्राप्त करने में लगा हो, उसे आश्रय मिलना ही चाहिए अन्यथा विदेशी प्रतिद्वंद्विता उसे उड़ा देगी। एक बच्चे को चलना सिखाने के लिए सहारे की आवश्यकता होती है। वयस्क आदमी के साथ उसकी कुश्ती की आशा कर सकने से पहले उसे बड़ा होना ही चाहिए। इस युक्ति के बल को मार्शल और पीगो सरीखे अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। कुछ भारतीय उद्योग, जिनका भविष्य उज्ज्वल है, निःसंदेह, अभी शिशु-अवस्था में हैं। विदेशी प्रतिद्वंद्विता से उनकी रक्षा करना नितांत आवश्यक है, अन्यथा उनके उन्नत होने की बहुत ही कम संभावना है। लाला हरिकृष्णलाल ने राजकर कमीशन के समक्ष ऐसे उद्योगों के विषय में चर्चा करते हुए कहा था, "शिशु का पालन करो, बच्चे की रक्षा करो और वयस्क को स्वतन्त्र कर दो।" यह है सूत्र, जिसके औचित्य के बारे में आपत्ति नहीं की जा सकती।

(२) **उद्योग के दिशा-परिवर्तन के लिए युक्ति**—एक देश के नागरिकों की चहुंमुखी उन्नति के लिए, अनेक प्रकार की नौकरियों की आवश्यकता है, क्योंकि एक आदमी जिस व्यवसाय को करता है, उसकी, उसके व्यक्तित्व की प्रगति पर गहरी छाप होती है। कोई भी राष्ट्र केवल दुकानदारों और क्लर्कों का राष्ट्र नहीं चाहता। नौकरी के विषय में जितना मूल्य गुण का है, उतना ही उसकी संख्या का। इसलिए, कुछ उद्योगों को उन्नत करना आवश्यक है, चाहे भले ही उसकी उन्नति के लिए सब परिस्थितियां अनुकूल न हों। केवल सुरक्षा ही ऐसे उद्योगों की प्रगति कर सकती है। अभी तक हमने केवल थोड़े-से उद्योग उन्नत किये है। दिशा-परिवर्तन की प्राप्ति के लिए दूसरों की उन्नति की सुरक्षा आवश्यक होगी। विशिष्टता उस जैसी है कि जैसे एक समान सभी अंडों को एक टोकरी में रखना होता है। शोक करने में तो यहां भारी खतरा है।

(३) **रक्षा के लिए**—एडम स्मिथ का कहना है, "ऐश्वर्य की अपेक्षा रक्षा बेहतर है।" आवश्यक जिन्सों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना युद्ध-काल में खतरनाक साबित होता है। द्वितीय विश्व-युद्ध से कुछ वर्ष पहले इटली और जर्मनी ऐसी आवश्यक वस्तुओं के सतत निर्माण की चेष्टा में लगे हुए थे, जिनकी पहले वह आयात करते थे, क्योंकि उन्हें मालूम था कि युद्ध के कारण पूर्ति रुक जायगी। यह युक्ति 'महत्वपूर्ण' अथवा आधारमूलक उद्योगों या खाद्यों के लिए विशिष्ट बल रखती थी। गत युद्ध में, यदि भारत के उद्योग पहले से ही उन्नत हो चुके होते, तो भारत उसमें वह भाग ले सकता था, जो वह लेने योग्य नहीं हुआ। यह युक्ति और भी बलवती हो जाती है, क्योंकि भारत अब स्वतन्त्र है। उसने उन दोनों दलों में से किसी एक के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा, कि जिसमें दुनिय बंट गई है। इसलिए, यदि वह दुनियां में शांति-स्थापन के कार्य को करना चाहता है, तो उसे अपने रक्षात्मक उद्योगों को उन्नत करना चाहिए।

(४) **आत्म-निर्भरता के लिए**—यदि एक देश आर्थिक रूप में स्वाधीन बनने का इच्छुक है, तो उसे भिन्न प्रकार के उद्योगों को रक्षात्मक करों की सहायता से उन्नत करना होगा। किंतु पृथकत्व न तो संभव है , न ही हितकर। दुनिया में यातायात के साधनों की वर्तमान प्रगति को दृष्टि में रखते हुए आत्म-निर्भरता को प्राप्त करना असंभव है। यदि इस दिशा में यत्न किया गया तो देश के आर्थिक प्रसाधनों की दिशा अल्प-लाभ वाले स्रोतों में बदल जायगी। तिस पर भी, यदि परिस्थितियों वश ऐसी नीति का आश्रय लेना ही पड़े, तो भारत सरीखा देश इस उद्देश्य को समझता हुआ अपने सीमित अंतर में इंग्लैण्ड और जापान की अपेक्षा, जिन्हें कच्चे माल की आयात करनी पड़ती थी, तीव्रगति से बढ़ सकता है।

(५) **मूल-उद्योगों के लिए**—आधारमूलक अथवा मूल-उद्योगों की प्रगति के लिए रक्षा-क्रम लागू करना अत्यावश्यक है। उनकी प्रगति की ओर सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्हें स्थापित करने के लिए कोई भी प्रयत्न बाकी नहीं रहने देना चाहिए, चाहे भले ही कच्चे माल की आयात करनी पड़े। जैसा कि है, भारत में ऐसा संकट उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि यहां लगभग सभी कच्चे मालों की बहुतायत है। मूल-उद्योगों की प्रगति पर ही देश में अन्य उद्योगों की स्थापना निर्भर है। उनके बिना हमें मशीनों और साज-सामान के लिए विदेशियों पर निर्भर रहना होगा। उनके बिना, अत्यावश्यकता के समय, उद्योग का सारा ढांचा ताश के पत्तों से बने मकान की तरह धराशायी हो जायगा। ऐसे मूल-उद्योगों में रसायन, बिजली के यंत्र, मशीनें और सब प्रकार के इंजन शामिल हैं।

(६) **माल की बहुतायत के विरुद्ध**—यदि एक अन्य देश हमारे बाज़ारो में घरेलू उद्योगों की वस्तुओं को क्षेत्र से निकाल बाहर करने के लिए अपनी वस्तुएं झोंक देता है, तो केवल आत्म-रक्षा में संरक्षण आवश्यक है। यह संभव है कि उस समय विदेश का ध्येय कीमत को कम करके हमारे बाज़ार पर अधिकार कर लेने का हो, और अनंतर काल में, जब हमारा घरेलू उद्योग नष्ट हो जाय, तो कीमतें चढ़ाकर अपनी हानि पूरी कर लेने का हो। कोई भी राष्ट्र ऐसा करने की स्वीकृति नहीं देगा, क्योंकि इससे वेकारी फैलेगी और देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ेगी।

(७) **सरकारी सहायता प्राप्त वस्तुओं के विरुद्ध**—घरेलू निर्मित वस्तुओं की उन वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता के विरुद्ध रक्षा होनी चाहिए, जो विदेशों में सरकारी-सहायता द्वारा आश्रित हों। इस प्रकार की सरकारी सहायता उन्हें अनुचित लाभ प्रदान करती है और सरकार को रक्षा-कर द्वारा उनपर शासन रखना ही चाहिए। भारतीय खांड के उद्योग की योरोप से सरकारी सहायता-प्राप्त खांड-उद्योग ने हत्या की थी। अनंतरकाल के संरक्षण से भारत इस उद्योग को पुनः स्थापित कर सका।

(८) **अवमूल्यन वाले देशों से वस्तुओं के आने के विरुद्ध**—१९३०-३१ में येन (जापानी मुद्रा) के अवमूल्यन ने हमारे वस्त्र-उद्योग के प्राप्त-संरक्षण को किसी सीमा तक उदासीन बना दिया था और तब संरक्षण की विधि में वृद्धि करनी पड़ी थी। एक

देश, जो अवमूल्यन-मुद्रा वाला हो, वह अधिक वस्तुओं की निर्यात करने योग्य होता है। क्रेता देश को निर्यात करने वाले देश की (जिसकी मुद्रा का अवमूल्यन हो चुका हो) मुद्रा की प्रति इकाई के बदले अपनी मुद्रा कम देनी होती है और स्वभावतः ही वह अधिक क्रय की वृत्ति रखेगा। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि इस काल्पनिक और अनुचित लाभ को रद्द कर दिया जाय।

(९) **सरकारी आय के लिए**—कभी-कभी रक्षा-करों का इस आधार पर समर्थन किया जाता है कि वह राज्य-कोष के लिए अतिरिक्त आय के कारण बनेंगे। किसी सीमा तक यह सत्य भी है। रक्षा का सहज उपाय कुछ सरकारी आय अवश्य प्रदान करता है। तिस पर भी, सरकारी आय और संरक्षण के बीच परम्परागत विरोध है। यदि एक उद्योग को सक्रिय संरक्षण दिया गया हो, तो विदेशी वस्तुओं की बिक्री का अवसर ही नहीं होगा। उनकी आयात नहीं की जायगी और सरकारी आय नहीं होगी। १९३५ में आयात की खांड के कर में भारी कमी हो गई थी और सरकार को हानि पूरा करने के लिए भारत में निर्मित होने वाली खांड पर उत्पाद-कर लगाना पड़ा था। इसलिए, यदि एक देश अधिक सरकारी आय का इच्छुक है, तो वह भारी संरक्षण करों द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। वह राजस्व केवल तभी प्राप्त कर सकता है, यदि भारी संख्या में विदेशी वस्तुओं को आने की स्वीकृति हो, और उन पर सामान्य कर लगे हों। उसके अर्थ यह होंगे कि घरेलू वस्तुओं के साथ विदेशी प्रतिद्वंद्विता खूब होगी। या तो आप संरक्षण दे सकते है और या राजस्व ले सकते हैं। इसके अलावा, राजस्व करों द्वारा संरक्षण की नीति स्थिर भी नहीं, क्योंकि घरेलू उद्योग के लिए इस का अर्थ अनिश्चय होगा। इसलिए, यदि संरक्षण दिया जाना हो तो प्रवेश के लिए कोई बोझल धारणाएं नही होनी चाहिएं।

(१०) **नियोजन में वृद्धि के लिए**—एक अन्य आधार, जिस पर संरक्षण की मांग की जाती है, यह है कि दीर्घकाल में औद्योगिक प्रगति देश में रोज़गार के वृहद्‌रूप को जन्म देगी। कोरे सिद्धान्त के रूप में यह युक्ति आधार-हीन है। चूंकि निर्यात आयात का भुगतान करते है, इसलिए यदि वह देश आयात कम करेगा, तो वह निर्यात भी कम करने योग्य होगा। इस प्रकार उसके आयात उद्योगों का फैलाव निर्यात-उद्योगों के संकुचन द्वारा प्रतिरोधी-संतुलन वाला हो जायगा, और संभवतः रोज़गार का विस्तार हो ही न सके। किंतु जहां तक भारत का प्रश्न है, यह युक्ति कुछ विचारणीय है, क्योंकि हमारे निर्यात-उद्योग भारत के आकार के अनुसार मेल नहीं खाते। हमारे कच्चे सामान दूसरों को बांट देने योग्य नहीं हैं। यदि संरक्षण द्वारा हम अपने बाज़ारों में से विदेशी वस्तुओं को खदेड़ दे सकते हैं, तो हमारे उद्योगों के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुल जायगा और उस दशा में रोज़गार का क्षेत्र भी बढ़ जायगा। वर्तमान में हमारी आर्थिक स्थिति असंतुलित है। कृषि और उद्योग के बीच उचित संतुलन उत्पन्न करना ही हमारी परमावश्यकता है। इस उद्देश्य के लिए प्रभावशाली संरक्षण बहुत ही उपयुक्त सिद्ध होगा।

(११) **भारत में इसकी लोकप्रियता के लिए**—भारतीय भावना संरक्षण के लिए बहुत प्रबल रही है, और है। अमरीका, जर्मनी और जापान में संरक्षण द्वारा जो उल्लेखनीय औद्योगिक प्रगति हुई है, और हाल ही में इस नीति से इंग्लैण्ड में जो चहुंमुखी संपन्नता हुई है; और स्वतन्त्र व्यापार की नीति के कारण भारतीय उद्योग का जो विनाश हुआ है, उसके कारण सभी शिक्षित भारतीय, भारतीय उद्योगों के संरक्षणों के प्रवल पक्षपाती बन गए हैं। यह प्रबल इच्छा यहां तक बढ़ी हुई है कि वह सब कभी-कभी तो इस संरक्षण को देश की समस्त औद्योगिक बुराइयों के लिए एकमात्र औषधि मानते हैं। इसलिए, यदि सचेष्ट संरक्षण की नीति का अनुसरण किया जाता है, तो उसे प्रवल लोक-प्रियता का समर्थन प्राप्त होगा, और जैसा कि आदरकर का कथन है, "इस सत्य में सन्देह नहीं रह जाता कि भारत, जिसके विषय में पीगो का कहना है कि कृषि-विषयक एक पिछड़ा देश, जो उत्पादन की प्रगति के लिए लालायित है, अपनी सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर लेगा।"

४. **संरक्षण के भय**। किंतु संरक्षण बिना दर्द की औषधि नहीं है। इसके लिए अनेक यातनाएं सहनी होंगी और त्याग करने होंगे, और उन्हें भली प्रकार समझते हुए उनमें कमी की जानी चाहिए। **पहली बात तो यह कि संरक्षणकरों के लगाने से संरक्षण-प्राप्त वस्तुओं की कीमतें चढ़ जायगी**। एक किसान, जिसके पास बेचने के लिए अतिरिक्त नहीं है, और एक मज़दूर, जिसकी मजूरी बढ़ी हुई कीमतों को पाटने में पिछड़ जायगी, दोनों को, कुछ त्याग करना पड़ेगा। तिस पर भी, मुख्यत: मध्यमश्रेणी के ही लोग है, जिन्हें इस चोट को सहना होगा और इसमें सन्देह नही कि यह श्रेणी इस विश्वास पर यह सहन करने को तैयार है कि एक दिन तो भारत शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र होगा ही।

दूसरी बात यह कि, जहां एक ओर जनता की हानि होती है तहां निर्माता लाभ उठाते हैं। संरक्षण संपत्ति-विभाजन में असमानता भी पैदा कर देते है। इसमें उन लोगों की संपत्ति में श्रीवृद्धि होती है, जो पहले ही धनी है, और सामान्य आदमी को त्याग करना पड़ता है। टैरिफ बोर्ड (आयात-निर्यात कर समिति) और भारत सरकार ने भोक्ता के हितों को भी क्रमश: ध्यान में रखा है। जो भी हो, हम यह नहीं मान सकते कि संरक्षण का बोझा केवल जन-साधारण को ही उठाना पड़ता है। दियासलाई और नमक को छोड़कर, संरक्षण-प्राप्त उद्योगों द्वारा जो वस्तुएं उत्पन्न की जाँयगी, जैसे लोहा और इस्पात की वस्तुएं, खांड, बढ़िया सूती कपड़ा, सीमेंट, कागज़ आदि, वस्तुए तो गरीब जनता के उपयोग की नहीं। इनसे सम्बन्धित बोझा तो अधिकांशत: मध्यम श्रेणी को ही सहना होगा और वह इस बात की चिंता भी नहीं करते, क्योंकि वह यह समझते हैं कि देश का हित किस बात में है!

तीसरी यह कि, संरक्षण-रहित उद्योगों का वर्ग शिकार होगा, क्योंकि उन्हें कुछ वस्तुओं की कीमतें अधिक देनी पड़ेंगी और अधिक मज़दूरी देनी होगी, जबकि बदले में

उन्हें कोई लाभ नहीं होगा। मिलों के उद्योग को संरक्षण प्राप्त होने से सूती खड्डियों (हैंडलूमों) के उद्योग को हानि सहन करनी पड़ी। यही एक कारण है कि जब लोहे और इस्पात के उद्योग को संरक्षण दिया गया था तो इससे सम्बन्धित कुछ उद्योगों के लिए संरक्षण का आनुक्रमिक उपाय भी किया जाना चाहिए था। सरकार इन कष्टों को दूर करने के लिए विशेष आवश्यक कार्यवाही करने जा रही है।

चौथी यह कि, संरक्षण द्वारा निजी स्वार्थों की उत्पत्ति का भय होगा। जिन उद्योगों को सरक्षण मिल जायगा, वह उसे छोड़ना नहीं चाहेंगे। इस प्रकार, संभव है, "शिशु-अवस्था" वाले "शिशु-दशा" में ही रह जाँय और यह मानने से इंकार करें कि वह बड़े हो गए है। किंतु यह खतरा इस आधार पर संरक्षण हटा लेने से नष्ट किया जा सकता है कि उद्योग उससे लाभ उठाने के अयोग्य रहा है। इसके अलावा, राजनीतिक दलबन्दी का पक्षपात और भ्रष्टाचार नष्ट होने चाहियें और ऐसी बातों से ऊपर रहकर कार्य होना चाहिए। तिस पर, जबतक सरकार के पास **कर लगाने की शक्ति** है, ऐसे निजी स्वार्थो को हमेशा सीधा किया जा सकता है। और क्या ऐसे निजी स्वार्थ उन देशों में नही है कि जिनमें संरक्षण नही है ? तो फिर संदिग्ध हानि के लिए वास्तविक अच्छाई को करने में क्यों संकोच करना चाहिए ?

पांचवीं यह कि राजनीतिक भ्रष्टाचार का भय है। अमरीका में शक्तिशाली कार्पोरेशनों ने बड़ी-बड़ी रकमें विधान सभाओं के सदस्यों को चुनने अथवा सदस्यों को प्रभावित करने के लिए अलग रख छोड़ी है। इसलिए, एक बार संरक्षण स्वीकार हो गया, तो संभव है, उसे हटाना आसान न हो। किंतु फिस्कल कमीशन ने भारत में ऐसे किसी भय की आशंका नहीं देखी, क्योंकि भारतीय विधान सभाएं अनेक ऐसे तत्वों की बनी हुई हैं, जो ऐसी बुराई को फैलने नही देंगी।

छठी यह कि, संरक्षण को न्यास (ट्रस्ट) की "जननी" माना गया है। जर्मनी और अमरीका का यह अनुभव है कि एक बार विदेशी प्रतिद्वंद्विता को समाप्त कर दिया जाय तो घरेलू निर्माता एकाधिकार के लाभों को प्राप्त करने के लिए संघ का निर्माण कर लेते है। यद्यपि, भारत में आल इंडिया शूगर (खांड) सिंडीकेट और एसोशिएटिड सीमेंट कम्पनी, दो ही ऐसे सम्मिश्रण स्थापित हुए है, तथापि संघ-चलन को यहां विशेष सफलता नहीं मिल सकती। इससे भी आगे, पश्चिम में अब संघ आन्दोलन को सार्वजनिक हितों का शत्रु नहीं समझा जाता और राज्य द्वारा संघ-आन्दोलन को लागू किया जाता है।

सातवीं यह कि, कहा जाता है कि यदि प्रभावशाली संरक्षण प्रदान किया गया, तो सरकार की आमदनी गिरने लगेगी। यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि सरकार अपनी हानियों की पूर्ति उत्पाद-करों और आय-करों में वृद्धि द्वारा कर सकती है। इस के अलावा देश में रोज़गार की बढ़ी हुई प्रवृत्ति भी आनुपातिक लघु हानि को पूरा कर देगी।

इसलिए, सार यह कि हम देखते हैं कि भारत में संरक्षण की नीति केवल उचित ही नहीं, प्रत्युत आवश्यक है। इसकी हानियों को बढ़ाकर दिखाया गया है और लाभों को कम। इसके यह अर्थ नहीं कि हम हर किसी उद्योग पर बिना यह देखे हुए कि वर्तमान में यह है क्या, और भविष्य में इससे क्या लाभ होंगे, अंधाधुंध संरक्षण की नीति लागू करने लग जाँय।

५. **परिस्थितियों-वश विवेकपूर्ण संरक्षण** । १९१४-१८ के युद्ध में सरकार ने यह महसूस किया कि जबतक उद्योगसम्बन्धी उन्नति नहीं होगी, तबतक भारत ब्रिटिश साम्राज्य का सहायक की अपेक्षा भय का कारण बना रहेगा। फलतः उसने कुछ उद्योगों की स्थापना का निश्चय किया। तदनुसार १९१६ में एक औद्योगिक कमीशन (Industrial Commission) की स्थापना की गई। उसने सिफारिश की कि भारतीय उद्योगों को उन्नत करने में सरकार को महत्वपूर्ण भाग लेना चाहिए, ताकि देश "आदमियों और सामान की दृष्टि," से आत्म-निर्भर बन सके। युद्ध-काल में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारत को राजनीतिक-प्रगति प्रदान करने की भी प्रतिज्ञा कर ली थी, और वह आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी स्वतन्त्रता की स्वीकृति के बिना असंभव थी।

६. **राज-कर संबंधी स्वायत्त समिति (The Fiscal Autonomy Convention)**। चूंकि पार्लियामेंट भारत को कानून द्वारा राज-कर सम्बन्धी पूर्ण स्वायत्त मानने को तय्यार न थी, इसलिए इन शब्दों में एक समझौते की सिफारिश की गई : "राज-कर सम्बन्धी भारत का कुछ भी अधिकार हो, किंतु यह तो स्पष्ट ही है कि उसे ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, कैनेडा और दक्षिणी अफ्रीका की भान्ति ही अपने हितों पर विचार करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसलिए, समिति की राय है कि जब भारत सरकार और उसकी विधानसभा सहमत हैं तो राज-सचिव (Secretary of State), जहां तक संभव हो, इस विषय में हस्तक्षेप न करे और उसका हस्तक्षेप, जब भी कभी हो, साम्राज्य अथवा साम्राज्यान्तर्गत किसी भी राज-कर सम्बन्धी प्रबन्ध के उन अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों की रक्षा के लिए सीमित होना चाहिए, जिनकी भागीदार सम्राट् की सरकार है।"

यह विख्यात राज-कर सम्बन्धी स्वायत्त समिति है, जिससे आशा की गई थी कि वह भारत को राज-कर विषयक अपनी नीति के सम्बन्ध में कार्यवाही करने की स्वतन्त्रता प्रदान करेगी। यहां यह उल्लेखनीय है कि एक रूढ़ि, जो एक रीति है, परंपरा है अथवा चलन है, वह सामान्यतः स्वीकार कर ली जाती है, भले ही उसका कानूनी आधार न हो। यदि यह स्वीकार कर ली जाती है, तो इसकी वही ताकत और मान होता है, जो कानून का।

राज-सचिव ने इस सिद्धान्त को मान लिया और भारत तथा इंग्लैण्ड के बीच व्यापारिक सम्बन्धों का वह आधार बन गया। इस रूढ़ि के अनुसार १९२१ में जब लंकाशायर के स्वार्थों के दल ने राज-सचिव से भारत सरकार द्वारा लगाये वस्त्र-करों के विषय में भेंट की थी, तो उन्होंने हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया था।

राज-कर स्वायत्तता की आलोचना—इस कन्वेंशन की विभिन्न आधारों पर आलोचना की गई है। यह कहा गया है कि इसका कोई क्रियात्मक मूल्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह तभी सक्रिय हो सकता है जबकि कतिपय शर्तें पूरी हो जाँय, और वह होना कठिन था। **पहली शर्त यह थी** कि भारतीय सरकार और भारतीय विधान सभा एक-दूसरे के साथ सहमत हों। एक ओर जहां सरकार विदेशी शासक है, तहां दूसरी ओर विधान सभा प्रजा-जनों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती थी। उन दोनों में अक्सर हमेशा ही संघर्ष रहता था। भारत सरकार कभी भी किसी उस नीति पर सहमत नहीं हो सकती थी, चाहे वह भारत के हित में ही हो, जिसमें ब्रिटिश हितों की किसी प्रकार की बलि होती हो।

दूसरी शर्त यह थी कि "नितांत भारतीय हित ही निहित होने चाहिएं।" इस भाव का सही-सही अर्थ क्या था? इस नवीन अन्तर्निर्भर विश्व में ऐसा कोई कदम उठाना कठिन है, जो केवल एक देश के हित में ही निहित हो। ऐसा कोई प्रश्न हो ही नहीं सकता था कि जहां केवल भारतीय हित ही निहित हो।

इससे आगे यह भी कहा गया है कि भारतीय विधान सभा तक भारतीय जन की वास्तविक राय को पर्याप्त रूप में व्यक्त नहीं करती थी। इसमें संपूर्णतः निर्वाचित प्रतिनिधित्व नहीं था। उसमें अधिकांश सरकारी अफसर और मनोनीत गैर-सरकारी अफसर थे, जो महत्वपूर्ण प्रश्नों के अवसर पर, हमेशा ही सरकार के पक्ष में मत देते थे।

इसलिए, अधिकांश लोगों का विचार था कि यह रूढ़ि भारत को आयात-निर्यात-करों के मामले में प्रभावशाली स्वायत्तता प्रदान नहीं कर सकती। संबंधित प्रश्न बहुधा राज-सचिव पर निर्भर करते थे।

७. राज-कर (फिस्कल) कमीशन (१९२१-२३)।

इसी बीच फरवरी १९२० में, शाही लैजिस्लेटिव कौंसिल में एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जिसमें सिफारिश की गई थी कि कौसिल में से एक कमेटी नियत की जाय, जो शाही रियायतों की नीति का आश्रय लेने के विषय में सूचना प्रदान करे। इस कमेटी ने तजवीज की कि संपूर्ण भारत की आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी नीति के निरीक्षण के लिए एक कमीशन नियत की जाय।

इसलिए, १९२१ में भारतीय राज-कर सम्बन्धी कमीशन (इंडियन फिस्कल कमीशन) "सब सम्बन्धित हितों का निरीक्षण करने के लिए; भारत सरकार की आयात-निर्यात-कर नीति, जिसमें शाही रियायतों के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करने

का प्रश्न भी सम्मिलित था," नियत की गई। कमीशन ने अपनी जांच में विवेकपूर्ण संरक्षण की सिफारिश की थी।

विवेक-पूर्ण संरक्षण की सिफारिश की गई। इस नीति के अनुसार, प्रत्येक और किसी भी उद्योग को विवेकरहित संरक्षण नहीं दिया जाना था। प्रत्युत, संरक्षण की मांग करने वाले उद्योग का भली प्रकार परीक्षण किया जाना था और कतिपय शर्तों को पूरा करने पर ही संरक्षण की स्वीकृति दी जानी थी, ताकि उसके लिए होने वाले त्याग की मात्रा को कम किया जा सके। इस सम्बन्ध में कमीशन ने जो शर्तें उपस्थित की थीं, वह (ट्रिपल फार्मूला) "त्रिगुणीसूत्र" नाम से विख्यात है।

८. त्रिगुणी सूत्र। **मुख्य शर्तें**—त्रिगुणी-सूत्र में वह शर्तें सम्मिलित थीं, जो संरक्षण की स्वीकृति प्राप्त करने से पूर्व एक उद्योग को पूर्ण करनी होती थीं। निम्न मुख्य शर्तें थीं :—

(१) संरक्षण प्राप्त करने वाले उद्योग को आवश्यक प्राकृतिक सुविधाओं से संपन्न होना चाहिए, जैसे; कच्चे माल की पर्याप्त मात्रा, सस्ती बिजली, पर्याप्त श्रम और विस्तृत घरेलू बाज़ार, जिसके अभाव में वह देश के लिए स्थायी बोझा बन जायगा।

(२) यह उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसके या तो संरक्षण के बिना नितांत उन्नत होने की संभावना न थी अथवा देश के हितों के लिए जो शीघ्र पनप नहीं सकता था।

(३) यह उद्योग ऐसा होना चाहिए, जो अंत में संरक्षण के बिना विश्व प्रतिद्वंद्विता का सामना करने योग्य हो।

सहायक शर्तें—ऊपर लिखे के अतिरिक्त, कमीशन ने कुछ और शर्तें भी उपस्थित कीं, जो कम महत्व की थीं : (क) वही एक उद्योग, जो उत्तरोत्तर लाभों के साथ वृहद् परिमाण में उत्पादन कर सके, संरक्षण के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाना था। (ख) उसी एक उद्योग के लिए जिससे समयान्तर यह आशा की जाती थी कि वह देश की संपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा कर सकेगा, प्राथमिकता की सिफारिश की जाती थी। (ग) एक वह उद्योग, जो राष्ट्रीय रक्षा और मूल उद्योगों के लिए अनिवार्य हो, चाहे भले ही वह ऊपर की शर्तों को न भी पूरा करता हो, उसके संरक्षण के लिए सिफारिश की जाती थी। (घ) सस्ती वस्तुओं की राशि के विरुद्ध, अथवा, यदि वस्तुएं उन देशों से आई हों, जिन्होंने मुद्रा अवमूल्यन या अवमोलन कर रखा हो और इस प्रकार भारतीय निर्माताओं के ऊपर वह अनुचित लाभ उठाते हों, संरक्षण के विशेष उपायों की सिफारिश की जाती थी। (ङ) इसी प्रकार की कार्यवाहियों की सरकारी-सहायता-प्राप्त आयातों के विरुद्ध सिफारिश की जाती थी।

सिफारिशों का विश्लेषण—कमीशन के सदस्यों की बहुसंख्या की इच्छा थी कि भारत की औद्योगिक उन्नति ब्रिटिश-स्वार्थों की कीमत पर नहीं होनी चाहिए। उन्होंने स्पष्टतया कहा था : "हम यह नहीं भूलते कि इंग्लैण्ड साम्राज्य का हृदय है, और उसी के बल पर

साम्राज्य की शक्ति और संगठन का आधार है......। यदि इंग्लैण्ड अपने निर्यात-व्यापार को स्थिर नही रख पाता, तो साम्राज्य का हृदय क्षीण हो जायगा, और यह एक तथ्य है, जिसके प्रति साम्राज्य का कोई भी अंग विमुख नहीं हो सकता। यही एक कारण था, जिसके आधार पर भारतीय उद्योग की संरक्षण की अधिकांश शर्तें इतनी रुकावट पैदा करने वाली थीं, और जो इस प्रकार शर्तों द्वारा अत्यधिक उलझी हुई थीं।

इसके साथ ही, कमीशन की अल्पसंख्या भी "विवेक रहित संरक्षण" नहीं चाहती थी, किंतु वह इतना अवश्य चाहते थे कि भारत के प्रति "शिशु-देश" का-सा व्यवहार होना चाहिए, और वास्तव में जो औद्योगिक दृष्टिकोण से था भी। उन्होंने अल्पकाल में स्वीकृति देने तथा उदार संरक्षण की सिफारिश की थी।

नये अथवा पुराने उद्योगों को संरक्षण की स्वीकृति मिलनी चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई कड़े नियम नहीं बन सकते थे। स्थापित उद्योगों के विषय में, एक सामान्य आंकड़ों के अनुसार चलना होता था। निश्चयपूर्वक, उन उद्योगों की तुलना में, जो अपेक्षाकृत अल्प-आयु हैं, ऐसे उद्योगोंको संरक्षण प्रदान करने में कम खतरा है। किंतु अल्प-आयु के उद्योगों के विषय में अन्य देशों से आंकड़े लिये जा सकते हैं। पुराने उद्योग की नई शाखा में, फिर भी, कल्पनापूर्ण तत्व हो सकते हैं। कुछ अनिश्चित तत्व शेष रहेंगे ही, चाहे उद्योग नया हो या पुराना। सामान्यतः संरक्षण की नीति का उद्देश्य नये उद्योगों की सहायता करना है, किंतु कभी-कभी पुराने उद्योग को कठिन स्थिति से मुक्ति दिलाना भी संभव है, और केवल संरक्षण ही उसका उपाय है। नये उद्योगों को आयात-करों की बजाय सरकारी-सहायता से भी सुविधा दी जा सकती है। किंतु उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए आयु का अंकन ही कसौटी नहीं है। कसौटी तो उन शर्तों को पूर्ण करना है, जो फिस्कल कमीशन ने उपस्थित की हैं।

जहां तक संरक्षण के उपायों का सम्बन्ध है, अनेक बातों पर विचार करना चाहिए। इतना ऊंचा दर नही होना चाहिए, जोकि भोक्ता के लिए अनावश्यक बोझ के रूप में हो अथवा उद्योग को इस स्थिति में नहीं छोड़ देना चाहिए कि वह किसी प्रकार की उन्नति ही न करे अथवा देश की आर्थिक स्थिति को ही प्रभावित न करे। उचित विक्रय कीमत तक पहुंचने की खातिर, जिसे संरक्षण उद्योग के उत्पाद को विक्रय के लिए संभव बनाये, औसत फर्म के उत्पादनव्यय को लेना होगा, न कि उन फर्मों को, जो या तो शिखिर पर है अथवा निम्न स्तर पर, क्योंकि लक्ष्य, अयोग्य फर्मों को ऊपर उठाने का नहीं, प्रत्युत योग्य फर्मों को युक्तिसंगत सहायता देने का है।

९. भारतीय आयात निर्यात-कर बोर्ड। (इंडियन टैरिफ बोर्ड)। फिस्कल कमीशन ने एक भारतीय आयात-निर्यात-कर बोर्ड की स्थापना की सिफारिश की है, जो संरक्षण के लिए आवेदन करने वाले उद्योगों के अधिकारों की जांच करेगा और, यदि बोर्ड उचित समझेगा, तो सरकार को उनकी सिफारिश करेगा। यह बोर्ड समय-समय पर उद्योग

के लिए संरक्षण के प्रश्न पर विचार करने को निश्चित उद्देश्य के लिए विशेषज्ञों द्वारा नियोजित होते रहना था। अक्सर यह बोर्ड एक प्रधान और दो सदस्यों का होना था। यह उद्योग के स्थान पर जाकर उद्योग की स्थिति की विस्तृत जांच करता था। यह गवाहियां लेता था, और उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं के स्मार-पत्रों पर विचार करता था, जो संरक्षण के इच्छुक होते थे अथवा जो, संरक्षण हो जाने की दशा में, संभवतः प्रभावित होते थे। इसी समिति को मुख्यतः यह विचार करना होता था कि संरक्षण की स्वीकृति के लिए दी गई शर्तें उद्योग ने पूरी की थी या नहीं। सब बातों की जांच करने के बाद, यह सरकार को संरक्षण की अवधि और उपाय की सिफारिश करता था। संरक्षण की समाप्ति पर टैरिफ बोर्ड को पुनः उस मामले की देख-रेख करने को कहा जाता था। **संक्षेप में, संरक्षण का सिद्धांत लागू करना इसी समिति पर निर्भर करता था।** इस प्रकार, संरक्षण की नीति के लक्ष्य की यथार्थता बोर्ड के नियोजन और उस भावना पर, जिसमें वह काम करता था, अधिकांशतः आश्रित थी। यदि बोर्ड ने युक्तिसंगत उदार रीति से शर्तों की व्याख्या की, तो उसका नतीजा संरक्षण संभव था, किंतु दूसरी ओर, यदि उसने अत्यधिक संकुचित दृष्टिकोण अपनाया, तो कुछ भी मिल सकने वाला नहीं था। पहला टैरिफ बोर्ड, १९२४ में लोहे और इस्पात के उद्योग के सम्बन्ध में बना था और अंतिम १९३९ में रेशम उद्योग के लिए नियत किया गया था।

१०. **विवेकपूर्ण संरक्षण।** अनेक प्रमुख उद्योगों को संरक्षण दिये गए। हम उन पर क्रमशः विचार करेंगे।

(१) **लोहा और इस्पात**—१९०७ में, जमशेदपुर में टाटा स्टील वर्क्स की स्थापना के साथ लोहे और इस्पात के नवीन उद्योग का आविर्भाव हुआ। १९१३ में कम्पनी ने इस्पात का उत्पादन आरम्भ किया और प्रथम विश्व-युद्ध में उल्लेखनीय प्रगति की। युद्ध की समाप्ति के बाद, इस उद्योग को विदेशों से कड़ी प्रतिद्वंद्विता का सामना करना पड़ा और उसे भारी हानि सहन करनी पड़ी। १९२४ में इसका मामला टैरिफ़ बोर्ड के सामने पेश किया गया। जांच करने पर उसे मालूम हुआ कि कुछ ही वर्षों में भारत को अपनी घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य देशों जैसी कम कीमत पर पर्याप्त लोहा और इस्पात के उत्पादन योग्य बनाया जा सकता है। इस्पात की आयात की कीमत और भारत में उसकी उचित विक्रय की कीमत के अंतर को फिलहाल पाटने के लिए टैरिफ बोर्ड ने ३० रुपये से लेकर ४५ रु० तक प्रति टन के हिसाब से ३ वर्ष के लिए कर लगाने की सिफ़ारिश की। समय-समय पर उद्योग की स्थिति के विषय में जांच-पड़ताल की जाती थी। १९३३ में, संरक्षण की अवधि सात वर्ष के लिए अर्थात्, १९४१ तक, और बढ़ा दी गई। उस समय टाटा कम्पनी ने विश्वास दिलाया था कि तब वह संरक्षण वापिस लेने जैसी "सब घटनाओं का मुकाबला" करने की स्थिति में होंगे। १९४७ की अंतिम जांच के समय, उद्योग ने संरक्षण जारी रखने पर बल नहीं दिया और वह हटा लिया गया। इस प्रकार इस उद्योग

ने २३ वर्ष तक संरक्षण का उपयोग किया। अब वह उसके बिना अपने बल पर खड़ा है।

इस संरक्षण के फलस्वरूप, चाहे यह अवरोधक था, भारत के लोहे और इस्पात के उद्योग ने तीव्र गति से उन्नति की है, और संरक्षण-प्रदान का सत्य उपयोग किया है। आज यही उद्योग उत्पादकर की एक वृहद् राशि देता है, जो राजकोष की बड़ी खाई को पाटने वाली है। इस प्रकार इसने १९३९-४० में येनकेन प्रकारेण ३७२ लाख रुपये से कम नहीं दिया होगा। भोक्ता पर उत्पाद के प्रगतिशील मूल्यों के कारण किसी प्रकार का अतिरिक्त बोझा नहीं पड़ा और दूसरी ओर टाटा कम्पनी के मजदूरों को अपने स्तर के अनुसार जीवन-सम्बन्धी सब सुख-सुविधाएं प्राप्त हैं।

युद्ध के कारण इस उद्योग का पर्याप्त विस्तार हुआ। यह अनुमान किया जाता है कि विश्व प्रतिद्वंद्विता में बिना किसी की सहायता के यह स्वतः अपने को स्थिर रखने योग्य होगा। इसके चारों ओर अनेक सहायक उद्योग खड़े हो गए है। इस्पात की विशेष किस्में बन रही हैं और भारत इस्पात के औज़ारों, डाइयों और मशीनों के छोटे-मोटे पुर्ज़ों को बनाकर अपनी आवश्यकता के बड़े अंश को पूरा कर रहा है। टाटा स्टील एंड आइरन कम्पनी ने एक नया महायंत्र लगाया है, जो रेलों के पहियों, टायरों और पहियों की धुरियों का निर्माण कर सकेगा। इसके अतिरिक्त कम्पनी चित्तरंजन में इंजनों के निर्माण की सहायता कर रही है।

१९४८ में, इंजीनियरिंग उद्योग ने २,१३,००० व्यक्तियों को रोजगार दिया था। इसकी प्रगति निम्न आंकड़ों से परखी जा सकती है:—

तालिका १

भारत में पूर्ण इस्पात का उत्पाद

वार्षिक औसत हजार टनों में

१९३९	८४२	१९४७	८९३	१९४८	९२९
१९४५	१००२	१९४८	८५६	१९४९	९९२

यह आंकड़े प्रकट करते हैं कि विभाजन के बाद इस्पात का उत्पाद नीचे गया है। मिलें अपनी समर्थ के अनुसार काम नहीं कर सकीं। कोयले की कमी, श्रम संबंधी कष्ट और यातायात की कठिनाइयां बाधक थीं। इसके अतिरिक्त निपुण कारीगरी की भी कमी थी। मालगाड़ियां खाली नहीं होती थीं और उन्हें जितनी जल्दी चाहिए था, लौटाया नहीं जाता था। १९४९ में, इन कठिनाइयों पर विजय पाना आरम्भ हुआ। औद्योगिक आंकड़ों में नष्ट होने वाले दिनों की संख्या में कमी हुई। फलरूप, मौजूदा स्टील मिलों में बेहतर नतीजे वाला काम हुआ, किंतु इतने पर भी यह उत्पाद देश की बढ़ती हुई आवश्यकता के लिए पर्याप्त नहीं। इसलिए, आयात में भी वृद्धि हो रही है।

(२) **सूती वस्त्र उद्योग**—भारत में वस्त्र-उद्योग बहुत पुराना है और उसे किसी भी

दशा में "शिशु-उद्योग" नहीं कहा जा सकता। किंतु अत्यधिक पूँजीकरण, सूत के तार में चीन के व्यापार की क्षति, मजदूरी का ऊंचा दाम, ईंधन के ऊंचे दाम सरीखे कारणों से बीसवीं सदी के मध्य में बम्बई के उद्योग भारी कठिनाई में पड़ गए थे। १९२६ में यह मामला टैरिफ बोर्ड के समक्ष पेश हुआ, जिसने निम्न आधार पर सिफारिश की :—

(क) १९२३ से जापानी येन (जापानी मुद्रा) अपने २७ पैंस की विनिमय कीमत से बुरी तरह गिर रहा था। वस्तुतः १९३५ में वह १४ पैंस तक नीचे चला गया। इस गिरावट ने भारत को जापानी वस्त्र के निर्यात में भारी सहायता दी।

(ख) जापानी मिलें डबल शिफ्ट (रात-दिन) के तरीके पर काम करती थीं। यद्यपि जापान में कपड़े के मजदूरों को जो मजदूरी मिलती थी, वह भारत से कुछ ही अधिक थी, तथापि उनकी प्रति मजदूर की उत्पत्ति कहीं अधिक थी। यह कहा जाता था कि जापान का एक मजदूर ६०० तकुओं पर काम करता था और उसे प्रतिदिन रु. १-१४-६ मिलते थे। उस के काम की योग्यता ९०% थी। दूसरी ओर बम्बई में १ रु. प्रतिदिन पाने वाला लड़का १८१ तकुओं को देख पाता था और उसकी योग्यता ८५% थी।

(ग) यह उद्योग भारत का सब से बड़ा राष्ट्रीय उद्योग था। इस में ४२ करोड़ रु. की पूंजी लगी हुई थी, और १९२६ में साढ़े चार लाख मजदूरों को रोजगार मिला हुआ था। इसलिये इस उद्योग को संरक्षण की आवश्यकता थी।

(घ) जापान ने अपने उद्योग का यंत्रीकरण कर लिया था, जबकि भारतीय उद्योग को विश्व की मन्दी ने बुरी तरह कुचल दिया था। आंकड़े प्रकट करते हैं कि जापान से वस्त्र की आयात में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। १९२२-२३ में १०८ मिलियन गज़ से १९३८-३९ में ४२५ मिलियन गज हो गयी थी। इंग्लैंड और अन्य देशों की आयात में कमी हुई थी। इस प्रकार ब्रिटिश आयात इस अवधि में १४४ करोड़ गज़ों से २० करोड़ ५० लाख गज़ हो गई, जबकि आयात का कुल योग १५७ करोड़ ७० लाख गज़ों की अपेक्षा ६४ करोड़ ७० लाख गज़ रह गया। जापानी आयात में वृद्धि का कारण जापानी उद्योगों का यंत्रीकरण और येन की कीमत में कमी होना था।

भारतीय उद्योग के विरुद्ध इन अंशों के कार्य करने के फलस्वरूप १९२५ और १९३५ के मध्य में बम्बई की मिलों की संख्या ८० से ६८ रह गई। इस में संदेह नहीं कि बम्बई के इस उद्योग के संगठन में कुछ त्रुटियां थीं, किंतु उन में से कई समूल नष्ट हो गयीं, अर्थात् बहुत-सी पूँजी की कीमत घट गई थी, और मैनेजिंग एजेंसी के चलन से भी, बाद में मुक्ति मिल गई थी।

तदनुसार, टैरिफ बोर्ड ने वस्त्र-उद्योग को पहले से कहीं अधिक संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की। उदाहरण के लिए, दोहरे कते और सादे सूत के तार पर मूल्य के अनुसार ६$\frac{1}{4}$%. अथवा १$\frac{1}{2}$ आना प्रति पौंड (दोनों में जो अधिक हो) कर लगाया गया। और असली अंग्रेज़ी माल पर मूल्य के अनुसार २५% और अंग्रेज़ी इतर माल पर

३१¼% कर नियत किया गया। बाद में जापान द्वारा विनिमय में अवमूल्यन पर ब्रिटिश इतर कपड़े पर मूल्य के अनुसार २५% कर बढ़ा दिया गया। ब्रिटिश-वस्तुओं पर न्यून-करों के कारण अंग्रेज़ों को निश्चित लाभ होना था। फलरूप, उन्होंने जापान की कीमत पर भारतीय बाज़ार का आंशिक लाभ उठाया।

इस संरक्षण के कारण, यद्यपि यह द्विमुखी और सस्तेपन के लिए नितान्त विरोधी कार्यवाही थी और किसी प्रगतिपूर्ण उद्देश्य के लिए नहीं थी, तथापि भारत वस्त्र-उद्योग को इस से भारी लाभ हुआ, जैसाकि निम्न तालिका से स्पष्ट है:—

तालिका २[1]

दोहरा और सादा सूत मिलियन पौंडों में			कपड़ा गज़ों में	
वर्ष	भारत	आयात	भारत	आयात
१९२६-२७	८०७	४९	२,२५८	१,७८८
१९३८-३९	१,३०३	३६	४,२६९	६४७

भारत में मिल-बने कपड़े की कुल सामान्य आवश्यकता लगभग ५ हज़ार मिलियन गज़ की है। इस बारे में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता कि युद्ध-काल में घिसी पिटी मशीनों को पूर्णतया बदल देने से, हम केवल आत्म-निर्भरता ही प्राप्त करने के योग्य न हो जाँयगे, प्रत्युत विदेशों में कपड़ा निर्यात करने की स्थिति में भी होंगे।

निम्न तालिका हाल ही के वर्षों में कुल उत्पाद और उसके निर्यात और आयात को प्रकट करती है, निर्यात तीव्र गति से बढ़ रही हैं और आयात में धीरे-धीरे न्यूनता हो रही है।

तालिका ३

निर्मित वस्तुओं का उत्पाद और निर्यात[2]

वर्ष	सूत (मिलियन पौंडों में)	कपड़ा (मिलियन गज़ों में)	निर्यात कपड़ा (मिलियन गज़ों में)	आयात कपड़ा (मिलियन गज़ों में)
१९३९	१,२६३	४,११६	१९२[3]	६४९[3]
१९४९	१,३३०	३,८०५	४६८	९१
१९५०	१,१५७	३,६१४	१,११६	७

१. Statistical Abstract of India.

२. Ibid—Figures after 1949 and for India without Pakistan.

३. Figures for 1938.

(३) **खांड उद्योग**—गन्ना भारतीय पौधा है और यह भारत से दुनिया भर में फैल गया है। और इतने पर भी विदेशी सफेद चीनी ने भारत में दृढ़तापूर्वक अपने पांव जमा लिये थे और १९३१-३२ में ५।। लाख टन खांड की आयात की गयी थी। टैरिफ बोर्ड यह मान गया था कि इस उद्योग ने 'त्रिगुणी-सूत्र' की सब शर्तों को पूरा किया है और उसने सवा सात रुपये प्रति हंडरवेट का संरक्षण प्रदान किया। आर्थिक-संकट के कारण सितम्बर १९३१ में इस दर में २५% के आधिक्य की वृद्धि कर दी गई और इस प्रकार आयात कर में यह वृद्धि ९ रु. १ आ. प्रति हंडरवेट की हो गयी।

संरक्षण की स्वीकृति से खांड उद्योग में भारी क्रान्ति हो गयी और कुछ ही समय में यही नहीं कि भारत खांड-विषयक अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य बन गया, प्रत्युत उस के पास निर्यात के लिए भी अतिरिक्त बच गया। सरकार ने अधिक उत्पाद को रोकने और अयोग्य कारखानों को उखाड़ देने के लिए उत्पाद-कर लगा दिया, और उस के साथ ही संरक्षण कर में भी उतनी ही वृद्धि कर दी गयी। इस प्रकार १९३४ में, संरक्षण कर के ७ रु. १२ आने प्रति हंडरवेट करके साथ ही रु. १-५ आने का उत्पाद-कर लगा कर कुल-आयात कर ९ रु. १ आना कर दिया गया। यह फरवरी १९३७ तक रहा, जबकि संरक्षण-कर में न्यूनता कर के ७ रु. १२ आने प्रति हंडरवेट कर दिया गया और उस के साथ ही २ रु. प्रति हंडरवेट का राजस्व कर लगाया गया। ९ रु.-४ आने का कुल आयात कर अप्रैल १९३९ तक रहा, जबकि संरक्षण कर में अधिक न्यूनता करके ६ रु. १२ आने कर दिया गया, जिस के अर्थ यह थे कि कुल आयात कर ८ रु. १२ आने प्रति हंडरवेट हो गया। संरक्षण की यह कार्यवाही अप्रैल १९४९ से मार्च १९५० तक पुनः चालू की गयी, और उपरान्त सरक्षण कर हटा दिया गया।

भारतीय खांड उद्योग में मुख्यतः कुछ त्रुटियां हैं, जिन्हें नीचे लिखे अनुसार प्रकट किया जा सकता है:—

(क) प्रति एकड़ पीछे कच्ची खांड की अत्यल्प प्राप्ति, १९४९ में भारत में ३०,६३ पौंड प्रति एकड़ थी, जबकि इसके विपरीत आस्ट्रेलिया में ७,६७६ और मारीशस में ६,१३२ प्रति एकड़ थी।

(ख) प्रति टन में से खांड-निकासी का अल्प प्रतिशत था, अर्थात् १९३१-३२ में भारत में औसत प्रतिशत प्राप्ति ८·८९ थी, जबकि इस के विरुद्ध जावा में १०·४६ थी। १९३८-३९ में, भारत में यह ९·२९ हो गयी और इस के विपरीत जावा में ११·६१। इस कमी का कारण कुशल कारीगरी का अभाव था।

(ग) उप-उत्पादों की उपयोगिता का अभाव। सीरा और गन्ने की फुजला, दो मुख्य उप-उत्पाद हैं। सीरा मद्यसार, पशुओं का चारा, सड़कें बनाने, और भूमि के खाद आदि के काम आ सकता है। सीरे का बहुत थोड़ा अंश प्रयोग में लाया जाता है। "यही नहीं कि इस की कुछ कीमत नहीं उठती प्रत्युत इसे हटाना भी एक बड़ी भारी

कठिनाई हो गयी है।[१]" ३,४९,००० के कुल उत्पाद में से १९३५-३६ में केवल ५२,७०० टनों की निर्यात की गई थी। यह एक बड़ी राष्ट्रीय क्षति है।

(घ) इस उद्योग पर केवल उत्पाद-कर का ही बड़ा बोझा नहीं, प्रत्युत इस पर प्रान्तीय सरकारों द्वारा गन्ने पर भी कर लगा हुआ है। इस के अतिरिक्त सम्बन्धित मशीनों पर आयात-कर, रेल-किराये की ऊंची दरें और लाभों पर आय-कर भी लगे हुए हैं।

(ङ) **उद्योग के लिए स्थान**—इस उद्योग की प्रगति ने स्थान-विषयक आवश्यकता को भी प्रकट किया है। टैरिफ बोर्ड ने १९३१-३२ और १९३७ की अपनी रिपोर्टों में इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि गन्ने की खेती के लिए मिले-जुले गरमी सरदी के भागों की अपेक्षा गरमी के इलाके बेहतर हैं। बोर्ड ने भावी प्रगति के पक्ष में निर्णय प्रकट करते हुए उत्तर प्रदेश और बिहार की अपेक्षा अन्य क्षेत्रों का समर्थन किया था।

पहली दो त्रुटियां गन्ने की किस्म को सुधार कर ठीक हो सकती है और आगामी मद्यसार बनाने के लिए सीरे का, और गन्ने का फुजला कागज़ बनाने के लिए उपयोग करके दूर हो सकती हैं। सरकार सभी दिशाओं में उन्नति करने की चेष्टा कर रही है।

संरक्षण के फलरूप इस उद्योग ने उल्लेखनीय उन्नति की है। वस्तुतः, ऐसी गतिशील उन्नति के बहुत थोड़े उदाहरण मिलते हैं। और यह प्रगति मन्दी के वर्षों में भी जारी रही, जबकि भारतीय उद्योग में खांड ही केवल एक चमकता सितारा था। यह गणना की गई है कि १९३५-३६ में गन्ने, गुड़, खांड के उत्पाद में लगे हुए १३१ लाख मज़दूरों में से कम से कम २५ लाख नये थे और उन में अन्य २५ लाख ऐसे थे, जिन्हें संरक्षण के कारण रोज़गार मिला था। इस उद्योग ने जो उन्नति की है, वह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि १९३२ और १९३९ के बीच ३२ से बढ़ कर कारखानों की संख्या १३९ हो गयी है, खांड का उत्पाद ४·७ लाख टन से बढ़ कर ७·७ लाख टन हो गया है, जब कि आयात, ५·३ लाख टन से गिर कर केवल ३२ हज़ार टन रह गई है।

कुछ वर्षों में खांड का उत्पाद इस प्रकार हुआ :—

खांड का उत्पाद (हज़ार टनों में)

१९३८	९,९४	१९५०	१०,३७
१९४९	१०,४४	१९५१	१२,०० अनुमानतः

इस की अनेक त्रुटियों के बावजूद भोक्ता पर इस का भारी बोझा नहीं पड़ा और यह उद्योग फला-फूला है।

युद्ध-पूर्व वर्षों में जबकि समस्या यह थी कि खांड के अतिरिक्त उत्पाद पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाया जाय और उत्पाद-कर सरीखी बाधाएं उपस्थित की जाँय, किंतु

१. Adarkar—Indian Fiscal Policy, p. 228.

जैसे ही युद्ध की प्रगति बढ़ी, तो खांड के निर्माण की अधिकाधिक कोशिशें की जाने लगीं। क्रय-शक्ति बढ़ जाने, जन-संख्या की वृद्धि, और चाय-काफी का अधिक प्रचार हो जाने के कारण शहरी मांग बहुत बढ़ गयी। रक्षा सेनाओं की आवश्यकताएं भी बढ़ गई थीं। भारतीय खांड की संयुक्त राष्ट्रों की पूर्ति के लिए भी मांग की गयी थी।

विभाजन उपरान्त के वर्षों में पूर्ति की दशा गिर गई और १९४९ का वर्ष संकट का था। सितम्बर १९४९ में, सरकार को राशियों की कमियों और चढ़ती हुई कीमतों के कारण कंट्रोल करना पड़ा और जनता के लिए खांड का राशन नियत करना पड़ा। सरकार ने १९४८-४९ के उत्पाद से अतिरिक्त उत्पाद पर उत्पाद-कर लौटाने और प्राथमिकता एवं सुविधाएं देकर १९४९-५० के मौसम में उत्पाद में वृद्धि करने की कोशिश की किंतु उसके यत्न निष्फल रहे। फलतः, गन्ना पेलने की ऋतु से पहले उस कमी को पूरा करने के लिए सितम्बर १९५० से पूर्व एक लाख टन खांड को आयात करने का फैसला किया गया। इस के अतिरिक्त, १९५० में, उत्पाद में कमी के कारणों को मालूम करने के लिए सरकार ने एक जांच कमेटी नियुक्त की। उसने शूगर सिंडीकेट को भी खत्म कर दिया, जिस के बारे में कहा जाता था कि वह १९४९ के खांड संकट के लिए ज़िम्मेदार था। यह अनुमान किया जाता है कि १९५१ में खांड के उत्पाद में १२ लाख टन की वृद्धि हुई है।

भारत के पास न केवल अपनी ही आवश्यकताओं को पूरा करने की समर्थ है, प्रत्युत वह विदेशों को भी खांड का निर्यात कर सकता है। १९५१ में खांड की स्थिति में सुधार हुआ और खुले बाज़ार में फैक्ट्री को जिस नियत अंश के बेचने की स्वीकृति दी गयी थी, उससे आशातीत अधिक उत्पाद हुआ। १९५२ में १२ लाख टन के कुल उत्पाद की आशा की जाती है, जो चरम सीमा है।

(४) **कागज़ और गूद्दे का उद्योग**—१९१४-१८ की लड़ाई ने इस उद्योग को विदेशी प्रतिद्वंद्विता से किंचित् मुक्ति दी थी। किंतु युद्ध की समाप्ति के बाद योरोप के देशों से पुनः भयंकर प्रतिद्वंद्विता आरम्भ हो गयी। इसलिए १९२४ में उद्योग ने संरक्षण के लिए आवेदन किया। यह पता लगा है कि सबाई-घास (Sabai-Grass) बहुत महंगी है, और इस विदेशी प्रतिद्वंद्विता का मुकाबला होना मुश्किल है। जो भी हो, बांस का गूदा पर्याप्त भी है और सस्ता भी है और बांस के बने कागज़ का भविष्य भी उज्ज्वल है, विशेष-कर इस लिए कि योरोप में गूद्देदार लकड़ी की भारी कमी होती जा रही है। तदनुसार, लिखने और छापने के कागज़ में एक आना पौंड की दर से संरक्षण प्रदान किया गया। पैकिंग के कागज़ को संरक्षण नहीं दिया गया था, क्योंकि यह साबित नहीं किया जा सकता था, कि भारत में इसके उत्पाद की अस्वाभाविक सुविधाएं हैं। इसी प्रकार न्यूज़प्रिंट को भी छोड़ दिया गया था। तिस पर भी टैरिफ बोर्ड ने किन्हीं मिलों को अनुभव के रूप में विशिष्ट आर्थिक सहायता देने की सिफारिश की थी। किंतु सरकार ने आर्थिक सहायता

देने से इंकार कर दिया। उपरान्त (१९३५ में) लकड़ी के गूद्दे के बने कागज़ की आयात पर ४५ रु. प्रतिटन का कर लगा दिया गया, ताकि भारत में बांस के गूद्दे को इस्तेमाल करने का उत्साह बढ़े। १९३९ में संरक्षण की अवधि तीन वर्ष और बढ़ा दी गयी, किंतु आयात गूद्दे (Pulp) का कर मूल्य के अनुसार २५ रु. कम कर दिया गया। संरक्षण इस आधार पर जारी रखा गया था कि इस से प्रगति हुई है और इसे वापिस लेना नयी मिलो के लिए घातक होगा। १९४७ में यह प्रश्न पुनः बोर्ड के सामने रखा गया और संरक्षण हटा लिया गया।

संरक्षण के अधीन इस उद्योग ने पर्याप्त उन्नति की है। १९२५ में ९ मिलों की संख्या से बढ़ कर १९४८ में १६ हो गयी और उसी काल में २० हज़ार टन की निकासी की अपेक्षा निकासी एक लाख टन हो गयी। मिलों की नियत शक्ति १ लाख ३६ हज़ार टन की है, और लिखने और छपने के कागज के लिए इस उत्पाद शक्ति को देश की मांग के अनुसार पर्याप्त समझा जाता है। जो भी हो, भारतीय मशीनरी सामान्यतः नवीनतम नहीं है, और तरीकों में उन्नति की जा सकती है। लागत कीमत पर्याप्त रूप से कम हो चुकी है, किंतु लागत में अधिक न्यूनता सामान्य समयों में विदेशी प्रतिद्वंद्विता के मुकाबले में इस उद्योग को खडा रहने योग्य बना देगी।

स्थानीय उत्पाद में वृद्धि और साथ ही कागज़ की आयात यह साबित करती है कि भारत में साक्षरता वेग से बढ़ रही है और स्थानीय निर्माताओं की अभी और आवश्यकता है। इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है।

युद्ध से पूर्व घरेलू कागज़ उद्योग की आश्चर्यजनक उन्नति के बावजूद भारत अब भी विदेशों की पर्याप्त आयात पर निर्भर रहता है। युद्ध-काल में नारवे और स्वीडन की आयात पूर्णतः बन्द थी। उसके कारण जो भारी कमी थी, वह अमरीका और कैनेडा की आयातों से पूरी नही हो सकती थी। जहाज़ों सम्बन्धी कठिनाइयां भी बहुत थीं। फलतः कागज़ के विभाजन पर कंट्रोल किया गया और "कागज़ की बचत" का आन्दोलन शुरु हुआ। अखबारों के पृष्ठों की संख्या सीमित कर दी गयी और कीमतें नियत की गयीं। युद्ध काल में, भारत में कागज़ के उत्पाद में वृद्धि हुई और कागज़ के आयात में कमी। युद्ध के बाद, जहाज़ों में अधिक स्थान मिलने के कारण आयात में वृद्धि हुई। उस के साथ ही देश के उत्पादन में भी पुनः वृद्धि होने जा रही है। इस उद्योग को अधिक उन्नत करने के लिए ऊंची लागतें, कुशल श्रम और कच्चे सामानों की पूर्ति की कठिनाइयां है। नीचे दी हुई तालिका इस स्थिति को स्पष्ट करती है:—

तालिका ५

कागज़ (हज़ार हंडरवेटों में)

वर्ष	उत्पाद	आयात
१९३८	११,६४	९,००
१९४५	१९,६४	७,०८
१९४९	२०,६४	१४,७६
१९५०	२१,७८	१३,०८

(५) **दियासलाई उद्योग**—१९२२ तक भारत पूर्णतया विदेशी दियासलाई पर आश्रित था, जबकि प्रति ग्रुस पर १·८ रु. का भारी राजस्व-कर (मूल्य के अनुसार १०० प्रतिशत से भी अधिक) दियासलाई की आयात पर लगाया गया। इस कर के आश्रय की पृष्ठ-भूमि में कुछेक छोटे-छोटे कारखानों का जन्म हुआ था।

जापान और स्वीडन के बीच भारतीय बाजार के लिए संघर्ष हो रहा था। इस संघर्ष में स्वीडिश मैच कम्पनी सफल रही और इस ने भारतीय तट-कर की दीवार को फांद कर वैस्टर्न इंडिया मैच कम्पनी के नाम से (विमको Vimco) १९२४ और १९२६ के बीच भारत में अपनी फैक्ट्री आरम्भ कर दी। १९२६ में यह मामला टैरिफ बोर्ड के सामने उपस्थित किया गया और उसने १ रु. आठ आने प्रति ग्रुस के राजस्व-कर को संरक्षण-कर में बदल देने की सिफारिश की, और सरकार ने मंजूरी दे दी। दुर्भाग्य से इस संरक्षण कर की सहायता से स्वीडिश ट्रस्ट ने भारतीय बाजार पर अपना अधिकार जमा लिया। यह ट्रस्ट दुनिया की दियासलाई सम्बन्धी आवश्यकता का ७० प्रतिशत पूर्ण करता था। इस ट्रस्ट का विश्व भर में प्रसार था। इस ने यहांतक कि जर्मन दियासलाई उद्योग पर भी एक सहायक कम्पनी के सहारे अधिकार कर लिया था। कम्पनी अपने भारतीय प्रतिद्वंद्वियों को खदेड़ देने के लिए अपना माल बेचने वालों को बट्टे देती थी, कमीशन देती थी और इनाम देती थी। इस प्रकार छोटे-छोटे कारखाने या तो खत्म हो चुके थे अथवा उनकी पूंजी को क्रय करके उन पर अधिकार कर लिया गया था। फलरूप, उसकी उत्पत्ति में विस्तृत वृद्धि हुई और भारतीय उत्पाद में ह्रास हुआ। इस स्पष्ट प्रमाण के बावजूद, टैरिफ बोर्ड ने स्वीडिश कम्पनी के यांत्रिक कृत्यों पर रोक लगाने की कोई सिफारिश नहीं की थी। इस प्रकार, १९४८ में विमको के ५ कारखानों का उत्पादन १८ मिलियन ग्रुस हो गया, जब कि भारतीय कम्पनियों द्वारा लगभग २०० कारखानों की उत्पत्ति ७·९ मिलियन ग्रुस थी।

यह तजवीज़ की गयी कि स्वीडिश संघ का एकाधिकार भंग कर देना चाहिए और एक कमेटी नियत की जाय, जो भारतीय उद्योग कानून में ऐसे विकल्प की तजवीज़ करे, जो अनुचित व्यापार के तरीकों को कानून-विरुद्ध ठहराये और केवल पूंजी का ही भारतीय-करण न करके उस पर अधिकार भी कर ले।

इस उद्योग की वर्तमान दशा निम्न तालिका में चित्रित की गई है:—

तालिका ६

दियासलाई—उत्पत्ति और आयात

(मिलियन ग्रुसों में)

वर्ष	भारतीय उत्पत्ति	आयात
१९३२-३३	१९	६,१४
१९३८-३९	२१	१,२६
१९४९	२६	०
१९५०	२६	०

मलाया और थाईलैंड से मदरास के लिए टूटे चावलों की आयात पर १५ आने प्रतिमन का कर लगाया गया। यही नहीं कि मदरास खाद्य-विषयक अपनी आत्म-निर्भरता को खो रहा था, बल्कि किसानों को भी भारी आघात सहना पड़ा था। गिरती हुई कीमतों के दिनों में विदेशी आयात पर २ रु. प्रति हंडरवेट की कस्टम ड्यूटी (आगम शुल्क) द्वारा गेहूं को भी सहायता दी गई थी।

११. जिन उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया। हमने उन उद्योगों पर दृष्टिपात किया है, जिन्हें संरक्षण दिया गया था। अब हम उन उद्योगों पर विचार करेंगे, जिन के लिए या तो टैरिफ बोर्ड ने सिफारिश नही की थी, अथवा जिन्हें सरकार ने इंकार कर दिया था। वह थे:—(१) भारी रसायन; (२) तेल; (३) कोयला; (४) सीमेंट; और (५) शीशा।

(१) हैवी कैमिकल इंडस्ट्रीज (भारी रासायनिक उद्योग)—इस उद्योग को अक्तूबर १९३१ से मार्च १९३३ तक १८ मास के लिए संरक्षण दिया गया था, किंतु किन्हीं प्रत्यक्ष कारणों के बिना ही अनन्तर उसे वंचित कर दिया गया।

भारी रसायन दो प्रकार के होते है :—(क) तेजाब—गंधक, नमक और शोरा—और इन के आधार पर बने मिश्रण, तथा (ख) सोडा, कास्टिक सोडा, सोडियम सल्फाईड, जिंक क्लोराईड, आदि। दूसरे वर्ग के रसायन अभी भारत में बनने आरम्भ नहीं हुए, किंतु पहले वर्ग के रसायन प्रथम विश्व-युद्ध में बनने लगे थे। जो भी हो, उत्पाद के कारखाने छोटे थे और उत्पाद का मूल्य ऊंचा था। विदेशी प्रतिद्वंद्विता और विनिमय की चढ़ी दरों के कारण इस उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

इस पर यह प्रश्न टैरिफ बोर्ड को सौंपा गया, जिसने पता किया कि रसायन उद्योग के उत्पादनों की भारत के अधिकांश उद्योगों के लिए अत्यावश्यकता है अर्थात् वस्त्र उद्योग के लिए, कागज़ उद्योग, शीशे और चीनी मिट्टी के उद्योग, साबुन उद्योग, नकली रेशम के उद्योग, पेंट और वार्निश उद्योग तथा अन्यों के लिए। यही नहीं कि यह मूल उद्योग हैं, प्रत्युत रसायन उद्योग राष्ट्रीय रक्षा के लिए भी अत्याज्य है क्योंकि गन्धक और शोरे के तेजाब बारूद के निर्माणार्थ मूलतः दरकार होते है। इनके अतिरिक्त, खादों के निर्माण के लिए, जैसे सुपरफासफेट्स और अमोनिया सल्फेट की (नमक और नौसादर) धान, गन्ने, रबर और चाय की खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए रासायनिक उत्पादनों की अत्यावश्यकता है। टैरिफ बोर्ड ने कहा—"यह आश्चर्य की बात है कि एक देश, जिसके ७० प्रतिशत अधिवासी खेती पर आश्रित हों, इस प्रकार की खेती के लिए महत्वपूर्ण खादों के निमित्त विदेशों की आयात पर आश्रित रहे।"

बोर्ड ने सिफारिश की (क) वर्तमान मूल्य के अनुसार राजस्व-कर विशेष संरक्षण करों में बदले जाँय, (ख) १८ रु. प्रति टन की सरकारी सहायता सुपरफासफेट्स पर, जिनका खाद के रूप में उपयोग होता है, दी जाय और (ग) रेलों के माल किराये में कमी की

जाय। बोर्ड ने यह भी तजवीज़ की कि राष्ट्रीय संघ रीति के आधार पर उद्योग का पुनर्संगठन किया जाय। सात वर्ष बाद पुनः एक बार जांच करने की तजवीज़ भी की गयी।

सरकार ने इस समस्या को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से नहीं देखा और अनुरोध किया कि संरक्षण नहीं दिया जा सकता क्योंकि गन्धक का अभाव है, किंतु विधान सभा और जनता के भारी दबाव के बाद १८ मास के लिए संरक्षण दिया गया और अनन्तर, इस क्षीण आधार पर कि संघ-निर्माण असंभव जान पड़ा है और यह उद्योग अभी पूरी तरह उन्नत नहीं हुआ, संरक्षण को बन्द कर दिया गया।

गत युद्ध के अवसर पर राष्ट्रीय रक्षा के लिए इस उद्योग के महत्व को पहचाना गया। यह स्वीकार किया गया कि मूल उद्योग और उत्पाद के सभी क्षेत्रों के लिए यह अत्यावश्यक है अर्थात् औद्योगिक और कृषि सम्बन्धीं। इस लिए इसे उदार सहायता की अत्यावश्यकता है। भारत सरकार ने सिंद्री, बिहार में (१९४८) एक फैक्ट्री की स्थापना की थी, जो ३ लाख ५० हज़ार टन नौसादर (अमोनिया सल्फेट) बना सकती है। इस का उद्देश्य नकली खाद में भारत को आत्म-संपन्न करना है। इस कारखाने ने मार्च १९५२ में, काम आरम्भ किया। १९४९ में, भारत ने २१ करोड़ रु. के रसायनों की आयात की थी, जब कि स्वतः उसने १५ लाख ८३ हज़ार हंडरवेट गन्धक का तेजाब तैयार किया था। इस से प्रकट होता है कि भारत अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दोनों प्रकार के रसायन बनाने जा रहा है। गत दो वर्षो में रसायनों के उत्पादन और खपत का चित्र नीचे दिया जाता है।

भारी रसायन

वर्ष	उत्पाद गन्धक का तेज़ाब (००० हंडरवेटों में)	उत्पाद (नौसादर) (००० टनों में)	आयात (खनिज रसायन) (००० टनों में)
१९४९	१९,९०	४६	२,०४
१९५०	२०,२०	४७	४,८०

(२) **तेल-उद्योग**--१९२८ में, वर्मा शैल ग्रुप और स्टैंडर्ड आइल कम्पनी के बीच दरों के विषय में संघर्ष चल रहा था। उस समय बर्मा भारत का एक भाग था। और अटक आइल कम्पनी भी बर्मा-दल में शामिल थी। जो भी हो, भारत में मिट्टी का तेल स्टैंडर्ड आइल कम्पनी द्वारा दुनिया की समानता की कीमतों से नीचे बिक रहा था।

जांच करने पर टैरिफ बोर्ड को पता लगा कि कीमतों का संघर्ष बर्मा शैल दल ने शुरू किया था और एशियाटिक पैट्रोलियम कम्पनी ने विश्वास दिलाया था कि उन्हें जो हानि होगी, उस की पूर्ति कम्पनी कर देगी। उद्देश्य यह था, "अच्छी से अच्छी कीमत

जो मिल सके, उसे वसूल न करना, बल्कि ऐसी कीमतों को चलाना, जो अपना उद्देश्य पूरा कर सकें, ताकि स्टैंडर्ड आइल कम्पनी बाध्य होकर समझौता करे।" इस प्रकार यह स्पष्ट था, "संरक्षण इसलिए मांगा गया था कि वह स्वतः कीमत-संघर्ष को धन दे सके और स्टैंडर्ड आइल कम्पनी की लड़ाई का बोझा मिट्टी के तेल की खपत करने वाले भारतीय भोक्ताओं पर सरक जाय।"[1] वर्ग-संघर्ष भारतीय भोक्ताओं के लिए न तो वर्तमान में हितकर था और न ही भविष्य में। फलतः बोर्ड और उसके साथ ही सरकार ने "स्थानीय" उद्योग को रक्षा देने से इंकार कर दिया।

(३) **कोयला उद्योग**—जूट, कपास, लोहा और इस्पात सरीखे अनेक महत्वपूर्ण उद्योग कोयले पर आश्रित हैं। यह एक मौलिक उद्योग है। किंतु रेलें कोयले की सब से अधिक खपत करने वाली हैं। जो भी हो, उनकी निजी कोयल्ले की खानें हैं और वह कोयले के बाज़ार में तभी प्रवेश करती हैं, जब कीमतें बहुत नीची हों। इस प्रकार, कभी ही ऐसा होता है कि वह बाज़ार का लाभ उठा सकने की स्थिति में हों। १९२६ में, जब टैरिफ बोर्ड से कोयला उद्योग के संरक्षण के सम्बन्ध में कहा गया, तो यह उद्योग कठिन स्थिति में था। भारत में वैगनों की कमी और ऊंचे भाड़ों के कारण सरकारी सहायता-प्राप्त अफ्रीका के कोयले ने बम्बई और कराची से भारतीय कोयले को खदेड़ दिया था। इस प्रकार, भारतीय कोयले को भीषण विनाश का सामना करना पड़ा था।

टैरिफ़ बोर्ड ने निर्णय किया कि रक्षात्मक-कर की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उद्योग की भावी प्रगति संरक्षण पर आश्रित नही। उसकी युक्ति थी कि उद्योग की कठिनाई का कारण आवश्यकता से अधिक उन्नत होना है। अल्प संख्या ने सिफ़ारिश की थी कि दक्षिण अफ्रीका के कोयले पर डेढ़ रुपए का प्रतिरोधी-कर लगाया जाय, किन्तु बहुसंख्या ने इस आधार पर इससे भी इंकार कर दिया कि इस प्रकार के कर से बदले की भावना उत्पन्न होगी। सरकार बहुमत के साथ सहमत थी और उसने सहायता से इंकार कर दिया। यदि इस तजवीज़ को रद्द करने का आधार यह होता कि सरकार भारत के कोयला प्रसाधनों को सुरक्षित रखना चाहती है, तो संभवतः महत्वपूर्ण होता, किन्तु सरकार ने ऐसा कोई विचार नहीं किया और उसने बम्बई तथा कराची जाने वाले कोयले के रेल-भाड़े तक में इस आधार पर कमी करने से इंकार कर दिया था कि रेलें व्यापारिक कारोबार हैं और वह अपनी आय को नहीं छोड़ सकतीं।

यहां यह तजवीज़ की जा सकती है कि कोयले सरीखी महत्वपूर्ण वस्तु को सुरक्षित रखने का सर्वोत्तम उपाय इस उद्योग को राष्ट्रीय बना देना है। ऐसा करने से कोयले की खुदाई में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग हो सकेगा और कोयले की खानों में नष्ट होने वाली

---

१. Adarkar, p. 360.

बड़ी मात्रा को रोका जा सकेगा। कहा जाता है कि कई-कई दशाओं में यह ५० प्रतिशत तक होती है।[1]

(४) **सीमेंट उद्योग**। यह उद्योग १९०४ में मदरास में शुरू किया गया था। किन्तु इसने असली उन्नति प्रथम विश्व-युद्ध में की थी, जबकि युद्ध ने उसे स्वाभाविक संरक्षण प्रदान किया था। युद्ध-बाद के सुअवसर में इस उद्योग को भारी लाभ प्राप्त हुए और उससे नयी पूंजी लगाने वालों को आकर्षण हुआ। इस प्रकार, १९११ में ९४५ टन की उत्पत्ति के विरुद्ध १९२० में यह उत्पत्ति ५ लाख ५० हज़ार टन तक बढ़ गई। १९२४ में, आंतरिक और ब्रिटिश प्रतिद्वंद्विता से सीमेंट उद्योग विनाश के किनारे पहुँच गया था। बन्दर-स्थित नगरों में ब्रिटिश प्रतिद्वंद्विता तो और भी ज़ोरों पर थी। यद्यपि ब्रिटिश सीमेंट भारतीय की अपेक्षा कोई बढ़िया तो था नहीं, तथापि भारतीय भोक्ताओं को ब्रिटिश उत्पादन के लिए खास दिलचस्पी थी। इसके अलावा, उत्तरी फैक्ट्रियों से समुद्र-तट पर स्थित नगरों तक का रेल-भाड़ा भी भारतीय जिन्स के लिए एक बाधा थी। जांच करने पर देखा गया कि इन नगरों की खपत भारत की सीमेंट की कुल खपत से आधी से अधिक है।

टैरिफ़ बोर्ड ने उद्योग के भविष्य और उसकी संरक्षण की मांग पर विचार किया। वह इस नतीजे पर पहुंचा कि भारत सीमेंट उत्पाद की सभी स्वाभाविक सुविधाओं से सम्पन्न है। भारत में उपयुक्त गुण वाली मिट्टी और चूने का पत्थर पर्याप्त मात्रा में है। यहां खड़िया मिट्टी भी पैदा होती है जो एक अन्य कच्चा पदार्थ इसके लिए आवश्यक होता है। श्रम भी यहां बहुत है और इसके बनाने के ढंग में बहुत कारीगरी की भी ज़रूरत नहीं होती। किन्तु बोर्ड इस निश्चय पर पहुंचा कि संरक्षण-कर भारतीय सीमेंट उद्योग के लिए सहायक नहीं होंगे, क्योंकि "आंतरिक विनाशकारी संघर्ष" विद्यमान है। उसने संकोच के साथ तटवर्ती या उसके आसपास के नगरों तक जाने वाले सीमेंट के लिए सरकारी सहायता की सिफ़ारिश की और सीमेंट की आयात पर मूल्य के अनुसार तदनुरूप कीमत के कर की जगह ९ रु० प्रति टन के विशिष्ट कर की सिफ़ारिश की। बोर्ड ने इस क्रम में यह शर्त भी रखी कि सरकार तब तक कोई सरकारी सहायता प्रदान न करे, जबतक उसे यह यकीन न हो जाय कि ऐसी सहायता भारतीय सीमेंट की कीमतें नहीं गिराएगी।

सरकार ने स्वभावतः इन शर्तों वाली तजवीज़ों को मानने से इंकार कर दिया। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि १९२४ में जब टैरिफ़ बोर्ड ने जांच की थी, तो "सीमेंट उद्योग को किसी भी अन्य उद्योग की तरह संरक्षण का अधिकार था, क्योंकि उसने सभी अनिवार्य शर्तों को पूरा किया था।" संरक्षण अस्वीकार होने के फ़ौरन ही बाद तीन कम्पनियां दिवालिया हो गईं। यदि उद्योग ने अपने को पहले से इंडियन सीमेंट मैन्यूफैक्चरिंग एसोसिएशन (१९२६) और अनन्तर एसोशिएटिड सीमेंट कम्पनीज़ लि० (१९३५)

१. Report of the Coal Mining Committee, 1937, quoted by Adarkar Vol. I.

के रूप में संगठित न किया होता तो उसका विनाश हो गया होता। इसलिए, यह कहने में संकोच नहीं होता कि सरकार ने राष्ट्रीय महत्व के इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने मे इंकार करके "कुछ-कुछ दायित्वहीनता" का परिचय दिया। आज भारत सीमेंट में आत्म-निर्भर है।

(५) **शीशे का उद्योग**। इस उद्योग का मामला १९३२ में टैरिफ़ बोर्ड के समक्ष गया। बोर्ड ने फैसला किया कि सोडा एश के सिवा सब कच्चे पदार्थ भारत में उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए, कंकरीली रेत, चूने का पत्थर, बोरक्स और कोयला पर्याप्त रूप में यहां है। केवल एक ही कमी है कि सोडा एश पर्याप्त मात्रा में यहां उपलब्ध नही है। इसका अभाव इसलिए नही कि सोडा एश बनाने के लिए मूलभूत पदार्थ नहीं मिलता, बल्कि इसलिए कि उस समय उद्योग ही विद्यमान नहीं था। आज तो इंपीरियल कैमीकल इंडस्ट्रीज़ टाटा कैमिकल्स और धरंगधरा कैमिकल्स सोडा एश तैयार कर रहे हैं।

टैरिफ़ बोर्ड ने इस उद्योग के लिए संरक्षण की सिफारिश इस आधार पर की थी कि भारत में सोडा एश बनाने के लिए उचित साधन मौजूद हैं। फलतः, सरकार का इस आधार पर संरक्षण से इंकार करना कि सोडा एश विदेशों से आयात किया जाता है, सर्वथा अनुचित था। इस उद्योग को पर्याप्त कच्चे पदार्थ, सस्ती मजूरी और वृहद् आंतरिक बाज़ार प्राप्त था। यदि सरकार की सहानुभूति होती, तो यह सम्पूर्ण बाज़ार की मांग को पूरा नहीं कर सकता था। इन अवस्थाओं में सरकार की नीयत पर शक करने में संदेह नहीं रह जाता कि वह प्राथमिकता के आधार पर सोडा एश की आयात से ब्रिटिश रसायन उद्योग की सहायता करना चाहती थी।

१२. विवेकपूर्ण संरक्षण नीति के परिणाम। इस नीति के कारण मुख्य लाभ इस प्रकार हुए :—

(१) उन रक्षा-हीन उद्योगों की तुलना में रक्षा-प्राप्त उद्योगों ने मंदी के समय में बेहतर स्थिति बनाये रखी। वस्तुतः सन् ३० की मंदी में संरक्षण-प्राप्त उद्योगों ने अपना विस्तार किया और अन्य उद्योग काफी संकुचित हुए।

(२) संरक्षण-प्राप्त उद्योगों ने १९२३ से अगाऊ दर्ज करा रखे थे, नीचे के आंकड़ों से यह प्रकट हो जाता है :—

उत्पाद का क्रम (१९२२ से ५२)

उद्योग	१९२२[१]	१९३२[१]	१९३९[१]	१९४९[१]	१९५२[२]
इस्पात के टुकड़े (००० टनों में)	१३१	५९१	१,०४२	१,३३०	१,४१४
सूती कपड़ा (मिलि० गज़)	१,७१४	३,१७०	४,११६	३,८०५	३,६१४
दियासलाई (मिलि० ग्रुस)	१६	१९	२२	२६	२६
कागज़ और गत्ता (००० टनों में)	२४	४०	६७	१०३	१०९
खाँड का गन्ना (००० टनों में)	२४	१५३	९३१	१,०१०	१,०३४

१. Fiscal Commission Report, 1951.
२. Monthly Abstract of Statistics.

(३) संरक्षण द्वारा भारतीय आर्थिक स्थिति को भी जैसे-तैसे सहायता मिली। रासायनिक, तारें बनाने और कील बनाने जैसे अनेक नये उद्योगों का जन्म हुआ।

(४) नये उद्योगों की स्थापना और पुरानों के विस्तार के फलरूप इस देश के लोगों को रोज़गार मिलने की संख्या में भी महान् वृद्धि हुई। इस प्रकार, यह देखा जाता है कि १९३१ में कारखानों में रोज़गार पर लगे लोगों की संख्या १४ लाख थी, १९३९ में वृद्धि होकर १८ लाख हुई और १९५० में २४ लाख से भी अधिक हो गई।

भारत में भोक्ता पर संरक्षण के बोझे के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। इसमें संदेह नहीं कि संरक्षण में ऊंची कीमतों के रूप में कुछ बोझा अवश्य निहित है। किन्तु यह बोझा संरक्षण की राशि और उस अवधि पर निर्भर करता है कि जिसके लिए वह स्वीकार किया जाता है। इस बोझे को नापने के लिए हमें संरक्षण करों की दरों और साथ ही राजस्व करों की दरों की तुलना करनी होगी बशर्ते कि संरक्षण न हो। हमें यह भी निश्चय करना होगा कि कितनी तादाद में जिन्स की आयात हुई, कितनी तादाद घर में उत्पाद की गयी, और संरक्षण के पूर्व और उपरांत आंतरिक बाज़ार में उसकी क्या कीमत थी। इन आंकड़ों से संरक्षण-प्राप्त उद्योगों द्वारा होने वाली शुद्ध अतिरिक्त आय के रूप में राष्ट्र के लाभों की गणना कर सकते है। इस शुद्ध आय में लाभ, अतिरिक्त मजूरियां, पूंजी का ब्याज और साथ ही सरकार को दिये जाने वाले टैक्स भी सम्मिलित हैं। ऊपर के तथ्यों को ध्यान में ले आने के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचते है कि "अपने सीमित क्षेत्र के भीतर, विवेकपूर्ण संरक्षण की नीति ने उचित रूप में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है और इन मुख्य-उद्योगों को संरक्षण-प्रदान से समाज को जो सीधे और विकृत लाभ हुए हैं, उनका संतुलन भोक्ता के बोझे को उन्मुक्त कर देता है।"

१९४५ से संरक्षण-प्राप्त उद्योगों के नतीजे को सही-सही जान लेने का अभी समय नहीं हुआ। भारत में बहुमूल्य सामग्री को प्राप्त करने की कठिनाइयों और ऊंची मजूरियों तथा अन्य महंगाइयों के कारण मुद्रा-विस्तार की कीमतों के फलस्वरूप यह अनुमान किया जा सकता है कि अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा यह बोझा अधिक है। जो भी हो, यह तो कहा जा सकता है कि यदि विगत काल में दुनिया की परिस्थितियां अधिक अनुकूल होतीं, तो भारत की आर्थिक दशा वर्तमान-जैसी त्रिशंकु रूप में न होती और उसके औद्योगिक स्थापन में वर्तमान-जैसी अनेक खाइयां दृष्टिगोचर न होतीं।

१३. क्या संरक्षण बोझा है? हम संरक्षण-सिद्धांत के खतरों और त्रुटियों के विषय में चर्चा कर चुके है। अनेक प्रबल युक्तियों में से एक, जिससे संरक्षण की आलोचना की जाती है, यह है कि इसके द्वारा निर्धन-वर्ग पर अनावश्यक बोझा पड़ता है। अब इस विषय में किंचित् भी संदेह नहीं कि संरक्षण भोक्ता पर पड़े बोझे का नियमित प्रबन्ध करता है। किन्तु क्या यह बोझा निर्धन-वर्ग पर पड़ता है? क्या संभावित लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है? आलोचना को न्याय्य समझने से पूर्व इन प्रश्नों के उत्तर दिये जाने चाहिएं।

प्रायः यह कहा जाता है कि संरक्षण बहुत महंगा है और किसान उसके बोझे तले पिस रहा है। विश्लेषण करने पर पता लगता है कि संरक्षण-प्राप्त अधिकांश वस्तुएं ग्रामों में प्रवेश ही नही कर पातीं और शहरी क्षेत्रों के मध्यम तथा उच्च-वर्ग में ही उनकी खपत हो जाती है। रेशम, बारीक वस्त्र, शराब, शीशे का सामान, चीनी के वर्तन, रंग-रोगन, घड़ियां और कटलरी आदि जैसी वस्तुएं आवश्यक नही है और ग्राम-घरों में उनका स्थान भी नहीं। न ही ग्राम-वासी कागज़, सफ़ेद चीनी और इस्पात का अधिक उपयोग करते है। वस्त्रों पर लगाये गए कर कीमतों में कमी करने और विदेशी कर्रमियों में कीमतें घटाने के विरुद्ध सुरक्षा के लिए थे। सरकार ने केवल उस अनुचित लाभ को हटाया था कि जिसे भोक्ता निर्माता की कीमत पर ले रहा था। इसलिए,यह जनगण नही कि जो संरक्षण की कीमत देता है, प्रत्युत शिक्षित मध्यम वर्ग है, जो हमेशा से इसका समर्थन करता आया है। इसके अतिरिक्त, भारत में टैक्स लगाने का तरीका, हाल ही के वर्षो में अधिक प्रगतिशील बन गया है और उसे किसी भी रूप में अवनति की ओर जाने वाला नहीं कहा जा सकता। अब तो आये दिन धनी व्यक्ति को आयकर, अतिरिक्त आय-कर, बिक्री-कर और ऐश्वर्य की वस्तुओं के करों से राज्य-कोष में अधिकाधिक देना होता है। राष्ट्रीय सरकार के आने से निर्धन लोगों के उद्धार के लिए ऐसी-ऐसी योजनाओं पर कार्य हो रहा है, कि पहले जिनका स्वप्न भी कभी नहीं देखा गया था और उनकी कीमत उच्च-वर्ग को अदा करनी होगी। यहां तक कि कृषि सम्बन्धी बड़ी आमदनियों पर टैक्स और मृत्यु-कर भी बहुत दूर की बातें नहीं रह गई हैं।

इन सबको छोड़कर, इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि संरक्षण की नीति मे, भले ही वह ठहराव की थी,हमें हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुआ है। बहुत बड़ी संख्या में लोगों को रोज़गार मिला है। अनेक ऐसे साधनों का उपयोग किया गया है, जिनकी ओर कभी ध्यान तक नहीं गया था। खांड-उद्योग ने संरक्षण के लाभों का अभूतपूर्व प्रमाण दिया है। कागज़ के लिए बांस के गूद्दे का इसके बिना कभी भी उपयोग न हो पाता। वस्तुतः, देश की कुल खपत में वृद्धि और साथ ही उसमें राष्ट्रीय लाभांश से, चाहे वह थोड़ा ही हो, इंकार नहीं किया जा सकता।

१४. विवेकपूर्ण संरक्षण की नीति की आलोचना। इस वस्तुस्थिति से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस नीति ने भारत को कुछ उद्योगों की उन्नति करने के योग्य बनाया है और कुछ को विनाश से बचाया है। लोहे, इस्पात, कपास, खांड और कागज़ के उद्योग इसके चिर-आभारी रहेंगे।

किन्तु इस विवेकपूर्ण नीति को कुछ भारतीय अर्थशास्त्रियों ने आड़े हाथों भी लिया है।[१] कुछ का कहना है कि यह सब विवेकपूर्ण ही था और संरक्षण नहीं था। श्री बी. पी.

---

१. Vide Vakil & Munshi—Industrial Policy with

आदरकर के कथनानुसार, "इसके द्वारा सरसरी सहायता की अपेक्षा कोई विशेष कृपा प्रदान नहीं की गई। भारतीय उद्योगों को ऐसी ईर्षापूर्ण और भेदभाव पूर्ण सहायता मिली कि उनकी भावी प्रगति को उनके स्वाभाविक मार्ग पर छोड़ दिया गया।" विवेकपूर्ण संरक्षण की नीति ने भारतीय अर्थशास्त्रियों की आशा को पूर्ण नही किया और न ही उनमें विश्वास उत्पन्न किया। भारत में जो कुछ अल्प-काल में इसके द्वारा प्राप्त हुआ, उसकी तुलना, रूस और जापान में होने वाले इसके प्रभावों के साथ नहीं की जा सकती। मुख्यतः, अब भी हमारा देश कृषि-प्रधान ही है, और औद्योगिक भारत का हमारा आदर्श अभी दूर है।

वास्तविकता यह है कि संरक्षण-स्वीकृति की जो शर्तें रखी गई थीं, वह बहुत ही कड़ी थीं। पहली दो शर्तें तो अतुलनीय दृष्टिगोचर होती थीं। यदि एक उद्योग को सभी स्वाभाविक लाभ प्राप्त हों, तो उसे संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं होगी। तीसरी शर्त तो केवल विवाद का ही विषय है और आयात तो अधिकांशतः व्यक्तिगत तत्व ही है। इससे आगे, उस उद्योग को क्यों संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए, जिसका यदि अपने देश में तो बाज़ार नहीं, किन्तु उसके निर्यात का बहुत-बड़ा बाज़ार हो। एक ऐसा उद्योग भी इसका अधिकारी हो सकता है, चाहे भले ही उसे कुछ कच्चे पदार्थों की आयात करनी पड़े। किन्तु ऐसे उद्योग इस योजना के अनुसार संरक्षण नही प्राप्त कर सकते। विदेशों में भी ऐसी शर्तों को पूरा कर सकने वाले अनेक उद्योग नहीं है और यदि उन्हें भी ऐसा ही करने को कहा जाता तो वह कदापि उन्नत न हो पाते। इसके अलावा, यह नीति केवल उन्हीं उद्योगों पर विचार कर सकती थी, जो पूर्व से ही विद्यमान हों। इसके द्वारा नये उद्योगों का निर्माण ही नहीं हो सकता था।

टैरिफ बोर्ड का विधान, संगठन, कृत्य और कार्यक्रम ऐसे नहीं थे, जिनसे उद्योगों को प्रभावकारी और सामयिक सहायता मिल सकती। कार्यकारी वर्ग ने ही सदस्यों का चुनाव किया था और शर्त भी उसी ने बनाई थी। इसके अलावा, उनकी इच्छा पुनः नियत होने की भी होती थी। वह लोग, जो अफ़सराना चमक दमक में रहते हैं, उनसे स्वतन्त्र दृष्टिकोण की आशा नहीं की जा सकती। इसके साथ ही उनके हाथ सांकेतिक शर्तों द्वारा भी कसे हुए थे। प्रत्येक उद्योग के लिए नया बोर्ड बनाया जाता था। इस प्रकार सदस्यों में अनुभव की तारतम्यता का अभाव हो जाता था। उनका दृष्टिकोण संकुचित था, और जांच के क्रम में उन्हें जो अनुभव हो पाता था, वह नष्ट हो जाता था, क्योंकि अगली बार के लिए नया बोर्ड बनता था। उन्हें एक विशिष्ट उद्योग की जाच के बाद दूसरे के लिए नहीं कहा जाता था।

यह आपत्ति की गई है कि बोर्ड का दृष्टिकोण प्रायः अत्यधिक कानूनी होता था और चूंकि उनकी इच्छा दोनों स्तरों को समान रखने की होती थी, इसलिए वह भारतीय उद्योग की आवश्यकता के प्रति सहानुभूति दिखाने में असफल रहे थे। १९२७ में इस्पात के उद्योग

---

special reference to Tariffs : D.K. Malhotra—Review of Fiscal Policy, B.P. Adarkar—Indian Fiscal Policy.

को संरक्षण देने के मामले में और १९३० में वस्त्र-उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न पर शाही रियायत (Imperial Preference) से सहज ही पता चलता है कि विदेशी स्वार्थ उनके निर्णयों को प्रभावित करते थे। इसके अलावा, कार्यक्रम बहुत ही दीर्घसूत्री था। टैरिफ़ बोर्ड अपनी सुख-सुविधा के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता था और सदस्य अपनी सुविधानुसार रिपोर्ट तैयार करते थे और उसके बाद सरकार अपना समय लेती थी। कभी कभी तो रिपोर्ट प्रकाशित होने पर एक वर्ष लग जाता था। उपरांत सरकार अपनी तजवीज़ों को रूप देने के लिए कुछ समय लगाती थी और विधान सभा को भी कुछ समय की आवश्यकता होती ही थी। इस प्रकार की मंथर-गति वाली योजना से व्यावहारिक स्थिति का, जो जल्दी-जल्दी बदल जाती है, मुकाबला करने की आशा नही की जा सकती थी। संभव था कि उद्योग का अन्त ही हो रहा हो, किन्तु कोई भी सामयिक सहायता नहीं दी जा सकती थी। अक्सर, यह मामला ऐसा होता था, कि नीरो मौजों में पड़ा था, जबकि रोम में आग लगी हुई थी। अनेक मामलों में, टैरिफ़ बोर्ड की सिफ़ारिशों को सरकार रद्द कर देती थी, यद्यपि उसे विज्ञ संस्था माना जाता था। समय-समय पर होने वाली जांचों से अनिश्चय की भावना बढ़ती थी। जब हमें यह स्मरण होता है कि सीमेंट, शीशे, कोयले, तेलों, ऊन और छापे की स्याही के उद्योगों को संरक्षण देने से इंकार किया गया था, तो इस नीति के समर्थन में कुछ भी कहते नहीं बनता। अनेक ऐसे उद्योग थे, जो सहायता के पात्र थे, किन्तु उनपर विचार तक नहीं किया गया था। यह उद्योग हवाई जहाज़ बनाने, मोटरकारें और जहाज़ बनाने, चमड़ा रंगाई-धुलाई, बिजली की वस्तुओं, औषधियों को बनाने, करघों, साबुन आदि के थे।

अमरीका और आस्ट्रेलिया सरीखे अन्य देशों में ऐसी स्थायी कमीशनें थीं; जिनका कर्त्तव्य औद्योगिक क्षेत्र पर निगाह रखना था और कोई गड़बड़ होने की दशा में फ़ौरन कार्यवाही करना था। ग्रेट ब्रिटेन की आयात पर परामर्शदातृ समिति (Import Advisory Committee) भी तत्काल कार्यवाही कर सकती थी। भारत में भी ऐसी ही विज्ञों की संस्था की आवश्यकता थी, जो स्वतन्त्र और स्थायी रूप की होती और उसे अन्तिम निर्णय करने का अधिकार होता। केवल तभी वह ज़रूरतमंद उद्योगों को तात्कालिक सहायता प्रदान कर सकती थी।

अन्त में, श्री बी. पी. आदरकर के शब्दों से बढ़कर न तो उचित तजवीज़ दी जा सकती है और न ही उनसे बढ़कर इसे सार-रूप में प्रकट किया जा सकता है :—

"**प्रथमतः**, विवेकपूर्ण संरक्षण के सूत्र में सुधार की आवश्यकता है; इसे अधिक सरल, अधिक बुद्धिपूर्ण और अधिक स्पष्ट सूत्र द्वारा प्रस्थापित करना चाहिए। उस क्षीण सूत्र की शर्तों में कुछ-कुछ अंग्रेज़ी उद्योग संरक्षण एक्ट (British Safe-guarding Act) के अनुसार सुधार होना चाहिए। कच्चे पदार्थों से सम्बन्धित शर्त को अत्यधिक नरम कर देना चाहिए। यह करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि जिस प्रकार टैरिफ बोर्ड द्वारा

गणना की जाती है, उसी तरह किसी विशिष्ट उद्योग के वर्तमान और भविष्य के उत्पाद-मूल्यों के अन्तिम आंकड़ों से उसके स्वाभाविक लाभों की परख की जाय, न कि कच्चे पदार्थों और श्रम-पूर्ति की गिनी-चुनी अवस्थाओं में से टुकड़े-टुकड़े लेकर। सूत्र की तीसरी शर्त को हटा देना चाहिए, क्योंकि पूर्व-स्थिति की अपेक्षा यह भविष्यवाणी जैसी है। **द्वितीयतः**, टैरिफ़ बोर्ड के ढांचे और कार्यकलाप में बहुत सख्ती के साथ सुधार होना चाहिए और अड़चनों,और बाधाओं का वर्तमान तरीका समाप्त कर देना चाहिए, और बोर्ड को सीधे तौर पर संकेत करने की सुविधा होनी चाहिए, और उसे स्वतः ही जांच आरम्भ करने का अधिकार होना चाहिए। इसके साथ ही बोर्ड के सदस्यों को भी सार्वजनिक मत के प्रति अधिक उत्तरदायी बनना चाहिए और वर्तमान अफसराना प्रभुत्व को न्यून किया जाना चाहिए। **तृतीयतः**, (**अ**) प्रगति के लिए संरक्षण, (**ब**) रक्षात्मक, और (**स**) राजस्व आयकर में स्पष्टतया विभाजन होना चाहिए। प्रत्येक के उद्देश्य और कृत्य की व्याख्या होनी चाहिए, और सरकार सहित सब सम्बन्धित लोगों को उसका ज्ञान होना चाहिए। **चतुर्थतः**, जहां तक उद्योगों की प्रगति के प्रभाव से सम्बन्ध है, टैरिफ बोर्ड द्वारा राजस्व आयकर की छानबीन की शर्त होनी चाहिए। **पंचमतः**, समय-समय पर सरकार को "प्रयोगात्मक आयात-निर्यात-कर" द्वारा आवश्यक नये उद्योगों की प्रगति के लिए प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए। आयात-निर्यात-कर के होने पर भी, यदि इच्छित उद्योग का जन्म नहीं होता, तो सरकार को वह सुविधा वापिस लेने का अधिकार होगा।

१५. युद्ध-काल में राज-कर नीति। भारत की औद्योगिक प्रगति में जो बड़ी-बड़ी खाइयां थीं, युद्ध ने उन्हें स्पष्ट कर दिया। युद्ध को सफल बनाने के लिए सरकार उन्हें पाटने के लिए आतुर थी। युद्ध-जन्य स्वाभाविक संरक्षण से लोग भी लाभ उठाना चाहते थे और नये उद्योगों की स्थापना करना चाहते थे, किन्तु उन्हें पता था कि युद्ध जल्दी अथवा देर में समाप्त होगा ही और उन्हें भय था कि युद्ध समाप्त होते ही विदेशी प्रतिद्वंद्विता आ पहुंचेगी। इन संशयों को दूर करने और अत्यावश्यक उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए, सरकार ने १९४० में घोषणा की कि युद्ध के उपरांत सब भली प्रकार स्थापित उद्योगों को संरक्षण अथवा अन्य ढंग से पूरी-पूरी सहायता दी जायगी। तदनुसार, १९४५ में सरकार ने २ वर्ष तक के लिए अन्तरिम टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति की। यह बोर्ड उस उद्योग के लिए तीन वर्ष तक की अवधि के लिए संरक्षण की सिफारिश कर सकता था, जिसने व्यापार विभाग को प्रत्यक्षतः अपना मामला सौंप दिया हो। तिस पर भी अन्तिम निर्णय सरकार के हाथ में होता था। बोर्ड को निम्न बातों की जांच करनी होती थी :—

(**अ**) क्या उद्योग स्थायित्व के आधार पर कार्य कर रहा था ;

(**ब**) क्या उद्योग उचित अवधि में बिना संरक्षण की दशा में पर्याप्त उन्नति कर सकेगा, और

(स) क्या उद्योग को सहायता देना राष्ट्रीय हित के अनुकूल रहेगा और क्या इस प्रकार की सहायता बहुत महंगी तो न होगी।

यदि ऊपरलिखित शर्तें पूरी हो जातीं तो बोर्ड संरक्षण कर की दर, और अवधि (किसी भी दशा मे तीन वर्ष से अधिक नही), और आवश्यकता होने की दशा में अतिरिक्त उपायों की तजवीज़ करता था।

सब मिलाकर, ४९ उद्योगों के मामले बोर्ड के सामने पेश किये गए और बोर्ड ने उनमें से ४२ की संरक्षण के लिए सिफारिश की। इनमें से ३८ युद्ध-काल के उद्योग थे और चार, इस्पात, कागज, खांड और सूती वस्त्र के पुराने उद्योग थे। शेष मामले १९४७ में पुनः बनने वाले टैरिफ़ बोर्ड के निर्णय के लिए छोड़ दिये गए।

जिस प्रकार के उद्योग ऊपर दिये गए हैं, उन्हें संरक्षण सहायता स्वीकार करने की शर्तें पर्याप्त रूप में उदार नहीं थी। फलतः फिस्कल (राज-कर) कमीशन (१९५०) ने उन्नत सिफारिशें कीं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

१६. युद्धोत्तर प्रगति। (अ) १९४७ का टैरिफ़ बोर्ड। भारत के विभाजन के बाद, नवम्बर १९४७ में, टैरिफ़ बोर्ड के इतिहास में पहला अवसर था, जबकि बोर्ड को अपने पुराने कृत्यों के साथ अतिरिक्त कृत्यों द्वारा संरक्षण आवेदनों की जांच का अवसर मिला था। अब इस टैरिफ़ बोर्ड की स्थिति पूर्णतया अमरीका और आस्ट्रेलिया के टैरिफ़ बोर्डो जैसी थी। इसका एक प्रधान और दो सदस्य थे। इसके निम्न कृत्य थे:—

(१) जैसे और जब आवश्यकता हो, सरकार को उन अंशों के विषय में रिपोर्ट देना कि जो आयात वस्तुओं के मुकाबिले में भारतीय निर्मित वस्तुओं के उत्पाद मूल्य में वृद्धि करने वाले हों।

(२) जैसे और जब आवश्यकता हो, सरकार को ऐसे उपायों के विषय में परामर्श देना, जिनके द्वारा आंतरिक उत्पाद अत्यधिक किफायत के साथ प्राप्त किया जा सके।

(३) जैसे और जब सरकार द्वारा आवश्यकता होने पर, देश में उत्पन्न की गई जिन्स के उत्पाद मूल्य की जांच करना और उसकी थोक, खुदरा अथवा अन्य कीमतों के विषय में निश्चय करना, और उनके सम्बन्ध में सूचना देना।

(४) जैसे और जब आवश्यकता हो, कीमतें घटाने के विरुद्ध भारत के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए सिफारिश करना।

(५) जैसे और जब आवश्यक हो, विभिन्न वस्तुओं के मूल्यानुसार करों और विशिष्ट करों और आयात-निर्यात करों और अन्य देशों को दी गई आयात-निर्यात-कर-विषयक रियायतों के प्रभावों का अध्ययन करना।

(६) जैसे और जब आवश्यक हो, संघों, ट्रस्टों, एकाधिकारों और व्यापार सम्बन्धी अन्य रुकावटों के विषय में सूचना देना, जो उत्पाद पर रोक लगाने या कीमतें चढ़ाने से

संरक्षण-प्राप्त उद्योगों पर प्रभावित हो सकती हैं. और ऐसे चलनों को रोकने के लिए उपायों और साधनों की तजवीज़ करना।

(७) संरक्षण-प्राप्त उद्योगों की प्रगति के विषय में, जैसे और जब आवश्यक हो, जाच द्वारा निरंतर निगाह रखना, संरक्षण करों या अन्य स्वीकृत सहायता के साधनों के प्रभावों पर दृष्टि रखना, और सरकार को स्वीकृत सहायता या संरक्षण में सुधार की आवश्यकता या अनावश्यकता के सम्बन्ध में परामर्श देना; यह विश्वास करने के लिए कड़ी दृष्टि रखना कि संरक्षण की स्वीकृति की सम्बन्धित शर्तों का पूरा-पूरा पालन किया जा रहा है और रक्षित उद्योग योग्यतापूर्वक चलाये जा रहे है।

बोर्ड को अनेक उद्योगों की जांच के लिए कहा गया था, जैसे : प्लास्टिक की वस्तुओं, शीशे की वस्तुओं, स्लेटों और स्लेटी पैंसिलों, मैगनीशियम क्लोराईड, रेशम, नकली रेशम, सोने और चांदी और तारों का उद्योग और खांड का उद्योग। बोर्ड ने सूती वस्त्र और सूत, इस्पात और कागज़ की कीमतों की जांच की थी और संरक्षण हटाने की सिफारिश की थी। १९५० में इस उद्योग में अशांति फैली होने के कारण खांड उद्योग पर से संरक्षण हटा लेने की सिफारिश को गई थी। सरकार ने बोर्ड की सब सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।

टैरिफ बोर्ड को सरकार ने जो नये कृत्य सौंपे थे, उनसे स्पष्ट था कि सरकार इस बात के लिए चिंतित है कि भोक्ताओं के हितों की रक्षा की जाय। बोर्ड साईकिलों, कास्टिक-सोडा, ब्लीचिंग पाऊडर और कैल्शियम क्लोराईड के विषय में पुनः विचार कर रहा है। अन्य उद्योगों का परीक्षण भी होने जा रहा है।

भारत में प्रतिदिन आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी नई-नई समस्याएं उत्पन्न हो रही है। व्यापार नियंत्रण के नये-नये उपायों की तजवीज़ की जानी है। विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देने के लिए बोर्ड विशेषज्ञों का काम दे रहा है और बोर्ड ने अपने को आयात-निर्यात-कर-विषयक समस्याओं की जांच करने वाले और परामर्श देने वाले के रूप में स्थापित कर लिया है।

(ब) प्रस्तावित आयात-निर्यात-कर निर्मातृ समिति का ढांचा और कृत्य (१९५०) राज-कर (फिस्कल) कमीशन ने भावी टैरिफ (आयात-निर्यात-कर) अधिकारीवर्ग के विषय में निम्न सिफारिशें की हैं :—

(१) **टैरिफ़ कमीशन का दर्जा**—भावी टैरिफ अधिकारीवर्ग को टैरिफ कमीशन का नाम देना चाहिए। यह अन्य देशों की भांति स्थायी संस्था होनी चाहिए। इस अधिकारी-वर्ग को कानूनी रूप दे देना चाहिए।

(२) **संगठन**—सभापति सहित इसके ५ सदस्य होने चाहिएं। किंतु, आवश्यकता होने पर, कानून में सात सदस्यों तक वृद्धि करने का अधिकार होना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर विशेष उद्देश्य के लिए सलाहकार मिलाने का भी अधिकार होना चाहिए। जो

भी हो, फिस्कल कमीशन ने निश्चित रूप से प्रकट किया है कि टैरिफ कमीशन में क्षेत्रीय हितों के प्रतिनिधित्व को स्थान नही होना चाहिए।

(३) **कृत्य**—कमीशन के कृत्यों के विषय में निम्न तजवीज़ें की गई हैं :—

(अ) **संरक्षण और राजस्व आयात-निर्यात-कर से सम्बन्धित जाँच करना।** इनमें यह भी सम्मिलित होंगे :—

(१) संरक्षण के आवेदन-पत्रों की जांच,

(२) कथित कीमतें घटाने के मामलो की जांच,

(३) संरक्षण या राजस्व-करों की भिन्नता की जांच;

(४) व्यापार समझौतों के अधीन आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी रियायतों की जांच।

नंबर (१) और (४) की साधारणतः जांच भारत सरकार द्वारा की जायगी। अन्य दो मदों में कमीशन स्वतः अपनी इच्छा से जांच कर सकेगी।

(ब) देश की अर्थ-व्यवस्था पर संरक्षण के सामान्य प्रभावों और कीमतों से संबंधित प्रश्नों की जांच करना। कमीशन इन जांचों को केवल सरकार के आदेश पर करेगी।

(स) **संरक्षण-प्राप्त उद्योगों का परीक्षण**—इस शीर्षक के अधीन निम्न बातों की भी जांच होगी : संरक्षण-प्राप्त जिन्सों के मूल्य, उत्पत्ति, गुण और उद्योगों के विस्तार की संभावना पर प्रभाव, संरक्षण-प्राप्त उद्योगों के व्यापार पर लगाई गई रोक से सम्बन्धित-प्रगति की जांच करना; संरक्षण-प्राप्त उद्योगों पर लादी गई विशिष्ट जिम्मेदारियों की जांच करना। यह तजवीज़ की गई है कि कमीशन समय-समय पर सरकार को परीक्षण की सूचना दिया करे; संरक्षण-प्राप्त उद्योगों के कार्य करने के तीन वर्ष बाद ऐसी सूचना देना बेहतर होगा।

(४) **अधिकार**—कमीशन अपने कृत्यों को योग्यतापूर्वक निभा सके, इस उद्देश्य से गवाहों को बुलाने और गवाहियां ले सकने के लिए उसे विशेष अधिकार दिये गए हैं।

(५) **कर्मचारीवर्ग**—कमीशन के कृत्यों को पूर्ण करने के लिए स्थायी कर्मचारीवर्ग रखने की तजवीज़ की गई है। उस वर्ग में आर्थिक अनुसंधान, हिसाब-किताब और प्रबन्ध के लिए कुशल व्यक्ति रहेंगे। कमीशन का मंत्री सारे संगठन का केन्द्र होगा। यह भी तजवीज़ की गई है कि कमीशन की जांच सामान्यतः सार्वजनिक हुआ करेगी।

निष्कर्ष—इससे भी आगे, यह तजवीज़ है कि जांच समाप्त होते ही टैरिफ कमीशन अपनी रिपोर्ट को भारत सरकार को सौंप दे। और सरकार कमीशन की सिफारिशों के अनुसार सामान्यतः २ मास के भीतर अपना निर्णय करे। इस प्रकार तात्कालिक निर्णय के महत्व को मान्यता दी गई है। यह भी तजवीज़ की गई है कि संरक्षण के अलावा, भारत में उद्योगों की प्रगति के लिए राजकर-रहित सहायता भी दी जानी चाहिए और सम्बन्धित अधिकारियों को दी गई सहायता के उपायों पर एक वक्तव्य टैरिफ कमीशन को देना आवश्यक होगा।

१७. भारत में भावी फिस्कल नीति। **संरक्षण की नई कल्पना**—भविष्य में अपने उद्योगों को उन्नत करने के सम्बन्ध में संरक्षण की नीति का आश्रय लेने के विषय में कोई भी मत-भेद नहीं है। जो भी हो, १९४९-५० की फिस्कल कमीशन ने किन्हीं सिद्धान्तों का निर्माण किया है, जिनके अनुसार उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। यह सिद्धान्त १९२१ की फिस्कल कमीशन के विवेकपूर्ण संरक्षण के नियमों से भिन्न हैं। इन सिद्धांतों को भारत के नये विधान के अनुसार तय्यार किया गया है, जिसका आदेश है कि देश में किसी भी रूप में बेकारी न रहे, सब स्वाभाविक साधनों का उपयोग किया जाय और उत्पाद के स्तर में प्रगतिशील वृद्धि होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, कृषि उद्योगों, वस्त्र उद्योगों और सहकारिता के आधार पर छोटे स्तर के उद्योगों को उन्नत करने के लिए विशेष उपाय करने चाहिएं। उनके साथ ही परिष्कृत आर्थिक-दशा के साथ विस्तृत औद्योगीकरण भी होना चाहिए। तदनुसार, फिस्कल कमीशन ने निम्न सिफारिशें की है :—

(१) **कि रक्षा तथा अन्य सेना-उपयोगी उद्योगों** का राष्ट्रीयता के नाते किसी भी कीमत पर संरक्षण होना चाहिए;

(२) **कि आधारमूलक उद्योगों के विषय में**, टैरिफ बोर्ड संरक्षण के ढंग तथा अन्य शर्तों का निर्णय करेगा और साथ ही उन लगाई हुई शर्तों का समय-समय पर परीक्षण करता रहेगा, और

(३) **कि अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में,** संरक्षण के लिए जो सिद्धान्त लागू किया जायगा, वह इस प्रकार होगा :—

> "जिन आर्थिक लाभों से उद्योग संपन्न हो अथवा जो उसे उपलब्ध हों अथवा जो उसके उत्पाद की असली या संभावित कीमत हो, उसे दृष्टि में रखते हुए, और जिसके विषय में यह संभावना हो कि वह संरक्षण अथवा सहायता के बिना भी उचित समय के भीतर पर्याप्त प्रगति करने योग्य हो जायगा और/अथवा यह एक ऐसा उद्योग है, जिसे राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संरक्षण अथवा सहायता की स्वीकृति होनी चाहिए, और इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष लाभों और ऐसे संरक्षण या सहायता का संभावित मूल्य समाज के लिए अत्यधिक न हो।"

फिस्कल कमीशन ने निम्न सिफारिशें और भी की हैं :

(**अ**) यदि उद्योग आंतरिक बाज़ार, श्रम-पूर्ति आदि सरीखे आर्थिक हितों से संपन्न हो, तो संरक्षण प्रदान करने के लिए कच्चे पदार्थों की स्थानीय उपलब्धि की शर्त नहीं होनी चाहिए।

(**ब**) सामान्यतः एक उद्योग से, जो संरक्षण चाहता है, संपूर्ण घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति की आशा नहीं करनी चाहिए।

(स) एक उद्योग को संरक्षण देने के लिए एक ठोस निर्यात बाज़ार को दृष्टि में रखना चाहिए ।

(द) जो उद्योग संरक्षण-प्राप्त उद्योगों के उत्पादों का प्रयोग कर रहे होंगे, उन्हें बदले में संरक्षण की आवश्यकता होगी । यह इस बात पर निर्भर करेगा कि किस ढंग के कच्चे पदार्थ वह प्रयोग में लाता है, किस ढंग का अतिरिक्त बोझा भोक्ता पर पड़ता है, और निर्मित जिन्सों की मांग का ढंग कैसा है, आदि ।

(ई) नये उद्योगों के विषय में संरक्षण के विश्वास के लिए और भी विशेष आवश्यकता है, क्योंकि एक तो प्रारम्भिक पूंजी के व्यय की मात्रा बड़ी होती है, और दूसरे विशिष्ट जानकरों की भी आवश्यकता होती है ।

(फ) राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से कृषि उत्पादों को संरक्षण दिया जा सकता है; किंतु ऐसे संरक्षण की स्वीकृति देते समय जिन्सों की संख्या यथासंभव न्यून होनी चाहिए; और संरक्षण भी अल्प-काल के लिए होना चाहिए; एक समय में ५ वर्ष से अधिक का नहीं होना चाहिए । इसके अलावा संरक्षण की योजना के साथ कृषि-उन्नति का कार्यक्रम अवश्य होना चाहिए और ऐसी संरक्षण-प्राप्त जिन्सों के विषय में सरकार को वार्षिक विवरण दिया जाना चाहिए ।

(ज) संरक्षण-प्राप्त उद्योगों पर उत्पाद-कर लगाना उचित नहीं, और बजट सम्बन्धी अत्यावश्यकताओं के अवसर पर ही ऐसे करों को चालू करना चाहिए ।

देश के उद्योगों को सहायता प्रदान करने के कतिपय अन्य उपाय भी हैं । फिस्कल कमीशन की राय है कि संरक्षित आयात-निर्यात-करों की राजस्व आय में से प्रतिवर्ष डिवैलपमैंट फंड (प्रगतिकारी कोष) के रूप में एक अंश अलग कर देना चाहिए । इस प्रकार के कोष में से ज़रूरतमन्द उद्योगों को सहायता दी जा सकती है । इस प्रकार की सहायता किन्हीं मामलों में आयात-निर्यात-कर संरक्षण की अपेक्षा अधिक अच्छी होगी :

१. जहाँ घरेलू उत्पाद घरेलू माँग के केवल एक छोटे अंश को पूरा करता हो;

२. जहां जिन्सें अनिवार्यतः कच्चे पदार्थ हैं; और

३. जहां किन्हीं जिन्सों के निर्माण के लिए संरक्षण की आवश्यकता हो, किंतु अन्यों से, जिन्हें संरक्षण की आवश्यकता नहीं, स्तर अथवा ढंग का भेद करना कठिन है ।

कमीशन सिफ़ारिश करती है कि सामान्य मामलों में संख्या सम्बन्धी अवरोधों का कभी-कभी ही प्रयोग होना चाहिए । असाधारण आयातों के विपरीत इस प्रकार के प्रतिबन्ध केवल अस्थायी ही होने चाहिएं । उस का कहना है कि एक उद्योग की प्रगति के किस दर्जे पर आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी योजना का अंश उपयुक्त होगा, इसका निर्णय करना कठिन है । किन्हीं मामलों में इस प्रकार के अंश उपयोगी जान पड़ते हैं, क्योंकि उनसे भोक्ता को जिन्सों की पूर्ति के लिए उपलब्धि का विश्वास बना रहता है । संरक्षण के परिमाण के सम्बन्ध में, यह तजवीज़ की गई है कि टैरिफ़ अधिकारी समान और स्थायी

नियमों की रचना करें। सामान्य सिद्धान्त के रूप में उचित दीर्घ-काल के लिए उद्योगों को संरक्षण का विश्वास होना चाहिए ताकि वह पूंजी को आकर्षित कर सकें और प्रगति के लिए उचित कार्यक्रम बनाया जा सके और उसे क्रियात्मक रूप दिया जा सके। कमीशन ने यह भी तजवीज़ की है कि सरकार की स्टोरक्रय की नीति ऐसी बननी चाहिए कि विदेशी वस्तुओं के मुकाबले में घरेलू दस्तकारियों को उचित रूप में प्राथमिकता दी जाय।

भोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए कमीशन संरक्षण-प्राप्त उद्योगों पर कतिपय ज़िम्मेदारियाँ लागू करती है। इन ज़िम्मेदारियों में मुख्यतः कीमत सम्बन्धी नीति, उत्पाद नीति, उत्पाद की किस्म, प्रगति, अनुसंधान और नौसिखियों को शिक्षित करने के लिए कुशल कारीगरों को तैनात करना और समाज-विरोधी कृत्यों से मुक्ति है। उसका विश्वास है कि इन ज़िम्मेदारियों को टैरिफ़ अधिकारियों को निर्दिष्ट सिद्धान्त के रूप में मानना चाहिए और विशिष्ट उद्योगों के संरक्षण की मांग की जांच करते समय उसे इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए। उसकी राय है कि इन्हें क्रियात्मक रूप देने का कार्यक्रम बना लिया जाना चाहिए और अधिकारी-वर्ग को समय-समय पर सरकार को सूचित करते रहना चाहिए कि संरक्षण-प्राप्त उद्योग किस ढंग से उन पर अमल कर रहे हैं।

१८. व्यापारिक नीति—शाही रियायतें। भारत सरकार की व्यापारिक नीति में कतिपय परिवर्तन हुए हैं। मुक्त व्यापार से यह विवेकपूर्ण संरक्षण तक पहुंची। जब यह झिलमिल दशा में थी, तो शाही रियायतें इस पर आ कूदीं। शाही रियायतों के अर्थ हैं, "साम्राज्य के अनेक सदस्यों के बीच यथासंभव आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी प्रतिबन्धों को न्यून कर के सामाज्य-व्यापार का विस्तार करना।"[१] यह विचार दीर्घ-काल तक बना रहा। इंग्लैण्ड में १७ वीं और १८ वीं शताब्दिं तक पुराने ढंग से यह चालू रहा। उस समय मातृ-देश के निर्यात के लिए रियायतें देनी ही पड़ती थीं। तिस पर भी, नयी रीति साम्राज्य के भिन्न अंशों को अपने आयात-निर्यात-करों को नियमित करने के लिए मुक्त कर देती है और उसके बाद साम्राज्य की वस्तुओं पर कुछ रियायतें करने की स्वीकृति दे देती है। इस प्रकार इसके सूत्रधारों का कहना है कि रियायत से संरक्षण में न तो किसी प्रकार की दुर्बलता आयगी और न ही बदले की भावना होगी।

१९०३ में यह पहला अवसर था, कि जब शाही रियायत के प्रति भारत के दृष्टिकोण की सरकारी रूप में व्याख्या की जानी थी। भारत के व्यापार की दिशा और स्थिति की गणना करते हुए सरकार इस निर्णय पर पहुंची कि आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी सुविधाएं भारत के हित के विपरीत होंगी। भारत ऋणी देश था और इंग्लैण्ड के प्रति उसके वार्षिक दायित्वों का अनुपात साम्राज्य-इतर देशों के साथ उसके व्यापार में आयातों के ऊपर निर्यातों की अधिकता द्वारा प्राप्त किया जाता था। इस प्रकार विदे-

---

१. Baldwin—OTTAWA Conference.

शियों द्वारा बदले की भावना का वास्तविक भय था। लार्ड कर्ज़न ने कहा था कि भारत के पास यत्किंचित् था, किंतु इतना नहीं कि जो साम्राज्य को दे सके; अर्थात् भारत को बदले में बहुत ही कम लाभ होगा और उसकी हानि बहुत ज्यादा हो सकती थी।

भारतीय फिस्कल कमीशन ने १९२१ में इस प्रश्न पर विचार किया था और संकेत किया था कि कच्चे पदार्थों की निर्यात की अपेक्षा निर्मित वस्तुओं की आयात के लिए रियायत की नीति के लाभों की अधिक संभावना हो सकती है। कमीशन का कहना था कि यह उचित नहीं "कि उन हितों को परिपुष्ट करने के लिए, कि जो मुख्यत: भारतीय नहीं,[१] विवेकपूर्ण संरक्षण के सिर पर अतिरिक्त बोझे को सहन करने के लिए भारत को कहा जाय।"[१] जो भी हो, १९१४-१८ के युद्ध ने इस विचार को इतना बल दिया था कि साम्राज्य के सब साधनों को संग्रहित किया जाय और उन्हें एक सुदढ़ आर्थिक इकाई में लाया जाय, किंतु फिस्कल कमीशन ने, यह मानते हुए भी कि शाही रियायत भारत के लिए हानिकारक होगी, इसका समर्थन किया और टैरिफ़ बोर्ड तथा धारा सभा की अनुमति के बाद इंग्लैण्ड को भेंट रूप में कुछ वस्तुओं पर रियायत प्रदान की। कमीशन ने लिखा था, "साम्राज्य के अन्तर्गत हम भारत को एकाकी स्थिति में नहीं रहने देना चाहते थे, भारत की उस भेंट का, चाहे कितनी ही छोटी हैं, मित्ररूप में स्वागत किया जायगा और यह इस बात का प्रमाण होगा कि वह साम्राज्य का सदस्य होने के रूप में अपनी स्थिति को स्वीकार करता है।[२] इस वस्तुस्थिति के होते हुए कि भारत सरकार के प्रतिनिधि इस रियायत के विरुद्ध थे, तो भी इसे चालू किया गया और ब्रिटिश इस्पात को १९२७ में रियायत दी गई और १९३० में वस्त्र-व्यापार को। इस प्रकार भारत ने १९२० से लेकर मातृ देश को रियायत दे रखी थी।

१९. ओटावा संधि १९३२। ब्रिटिश फिस्कल नीति में परिवर्तन होने के फलरूप, १९३२ में भारत की फिस्कल नीति में परिवर्तन हुआ। इंग्लैण्ड ने ओटावा में स्वतन्त्र व्यापार और शाही रियायतों को तिलांजलि दे दी। यह घोषणा की गई कि यदि भारत ब्रिटेन का अनुकरण नहीं करेगा, तो उसे हानि होगी। "भारत और इंग्लैण्ड के बीच ओटावा संधि से साम्राज्यान्तर्गत बाज़ारों में ठोस हानियों के विरुद्ध निश्चित रक्षा के उपाय करना था।"[३] यदि भारत इसे स्वीकार न करता तो वह बहुत घाटे में रहता। भारत के निर्यात को ब्रिटिश बाज़ारों की प्रतिद्वंद्विता का सामना करना पड़ता और यदि वह ओटावा संधि को रद्द कर देता तो ब्रिटिश आयात-निर्यात-कर भारत के विपरीत हो जाते।

भारतीय धारा सभा ने तीन वर्ष के लिए संधि को मंजूर किया। फलस्वरूप, भारत

१. Fiscal Commission Report, p. 119.

२. Ibid.

३. B. K. Madan—India & Imperial Preference, p. 119.

मोटरों के किसी खास वर्ग पर ७½ प्रतिशत रियायत देता था और कुछ अन्य वस्तुओं पर १० प्रतिशत। इस प्रकार जहां, स्प्रिटों, सुगंधों, बिजली के अंडों, आदि ब्रिटिश-इतर वस्तुओं पर ५० प्रतिशत कर था, तहां ब्रिटिश कारों को ३० प्रतिशत और विदेशियों की बनी कारों को ३७॥ प्रतिशत देना होता था। इससे भी ओर आगे जब कि अन्य विदेशी वस्तुएं ३० प्रतिशत देती थो, तब ब्रिटिश वस्तुएं २० प्रतिशत से ही छुटकारा पा लेती थीं। इसके बदले में ब्रिटेन ने अनेक जिन्सो पर भारत को १० प्रतिशत की रियायत दी और कुछ को कर के बिना ही प्रवेश की स्वीकृति दे दी।[1]

१९३६ में, असेंबली ने इस संधि को समाप्त कर दिया, किन्तु उसी वर्ष फिर से उसे चालू कर दिया। इसके बाद यह १९३९ तक जारी रहा, जबकि भारत-ब्रिटिश व्यापार संधि (Indo-British Trade Agreement) ने इसकी जगह ले ली।

२०. ओटावा संधि का भारत पर प्रभाव । इस विषय पर बहुत दिन विवाद चलता रहा कि ओटावा संधि से भारत को लाभ हुआ है या हानि। सरकार का कहना था कि इस संधि से भारत को बहुत लाभ हुआ है किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत था।

रियायत-नीति का यह स्वाभाविक परिणाम था कि भारतीय निर्यात इंग्लैण्ड को, और इंग्लैण्ड को निर्यात भारत को--दोनों में वृद्धि होनी चाहिए। यह तो उसका केवल बाहरी दृष्टिकोण है। संधि के सही-सही प्रभावों को आंक लेना आसान नहीं, क्योंकि हम उसके अभाव की स्थिति को जानने की दशा में नहीं हैं। इसके अलावा, जिन वर्षों में यह चालू था, वह सामान्य वर्ष नहीं थे। सारी दुनिया की आर्थिक स्थिति गड़बड़ाई हुई थी। विश्वभर में आर्थिक मंदी का दौर था। योरोप के सभी देशों में आर्थिक राष्ट्रीयता का उदय हो गया था। दुनिया भर में करेंसी के क्षेत्र बन चुके थे। ऐसी अवस्थाओं में, जबकि विश्व भर की आर्थिक समता गड़बड़ाई हो, दो देशों के बीच में संधि जैसी छोटी-सी बात के प्रभावों का अध्ययन करना असंभव है।

डा० मदान ने यह साबित करने के लिए आंकड़े संग्रहित किये हैं कि संधि का "एक निश्चित ऊंचा मूल्य" था। सरकारी मत है कि भारत ने जितना दिया, उसकी अपेक्षा उसे अधिक लाभ हुआ। यह लाभ अधिकांशतः धोखे से पूर्ण थे। ब्रिटिश बाज़ार में रियायतों द्वारा जिन मुख्य जिन्सों ने लाभ प्राप्त किया था, वह थीं : चावल, चाय, तम्बाकू और जूट की निर्मित वस्तुएं। शेष रियायत की वस्तुओं से कोई खास लाभ नहीं हुआ था। दूसरी ओर, ब्रिटिश जिन्सो की कुल संख्या १६२ थी, जिन्हें रियायतें दी गई थी और उन्हें भारतीय उद्योगों की कीमत पर लाभ हुआ था। जिन भारतीय वस्तुओं की इंग्लैण्ड को निर्यात होती

---

१. जिन्सों के समूहीकरण और व्यापार पर रियायतों के प्रभाव की जानकारी के ~~लिए देखें, Madan~~ op.. cit., p. 51.

थी, उनका किसी भी अंग्रेजी जिन्स के साथ मुकाबला नही था। इसके विपरीत, उन्होंने ब्रिटिश उद्योग की सहायता की।

यहाँ यह भी प्रकट कर देना चाहिए कि वह भारतीय चावल नहीं था, जिसे इंग्लैण्ड में रियायत से लाभ हुआ था, बल्कि वह वर्मा का चावल था, और जो लाभ चाय और जूट निर्मित वस्तुओं मे हुआ, वह भारतीयों को नहीं मिला, बल्कि आसाम में अंग्रेज उत्पादकों और कलकत्ता में जूट के अंग्रेज व्यापारियों को मिला। हम यह कहने के लिए लाचार है कि ओटावा रियायतों द्वारा व्यापार को ऐसे रूप में बहने दिया गया था कि भारत को दोनों ही दिशाओं में हानि हुई। उस समय के वाइसराय द्वारा अनिच्छित विधान सभा और अनिच्छित देश पर वह संधि थोपी गई। हमारे व्यापार को नकली तौर पर साम्राज्य देशों की ओर गतिशील किया गया। फलस्वरूप, हमने अमरीका, जापान और योरोप महाद्वीप के अन्य देशों के महत्वपूर्ण बाजारों को खोना शुरू कर दिया। संधि को लाभदायक कहा जा सकता था बशर्तेकि साम्राज्य-इतर देशों के साथ भारत का व्यापार संकुचित न होता।

ओटावा संधि ने औद्योगिक सहयोग को प्रकट किया। यह सहयोग इंग्लैण्ड के केवल इस तथ्य को स्वीकार कर लेने के आधार पर हो सकता था कि भारत अपना औद्योगीकरण करने जा रहा था, और इंग्लैण्ड अपने को केवल इस बात से संतुष्ट रखे कि वह भारत की उन बहु-मूल्य वस्तुओं, मशीनी औजारों और फैंसी वस्तुओं से पूर्ति करेगा, जिन्हें अभी भारत बनाने के अयोग्य है। जब भारत स्वतः उनकी पूर्ति करने लगे, तो इंग्लैण्ड अन्य वस्तुओं की पूर्ति करने लग जाय। भारतीय बाजार बहुत बड़ा है। भारतीय जनता का जीवन-स्तर उन्नत होने से उसकी बढ़िया वस्तुओं की मांग में निश्चित वृद्धि होगी। इस प्रकार इंग्लैण्ड को भारत में अपनी वस्तुओं की निरन्तर वृद्धि का अवसर मिलेगा। अंग्रेजों का भारत से स्वयमेव चले जाना और भारत का जनतन्त्र के रूप मे ब्रिटिश कामन्वैल्थ में बने रहना, इन दोनों के फलरूप दोनों देशों के बीच बेहतर व्यापारिक सम्बन्ध है। दोनों देशों में औद्योगिक सहयोग केवल समान ज़िम्मेदारियों और सुविधाओं के आधार पर हो सकता है।

२१. मोदी-ली संधि (अथवा बांबे-लंकाशायर संधि) १९३३। सर विलियम क्लेयर-ली की अध्यक्षता में एक ब्रिटिश वस्त्र-उद्योग मिशन १९३३ में बम्बई पहुंचा। इस मिशन ने बांबे मिल ओनर्स एसोसिएशन के प्रधान मि० एच. पी. मोदी के साथ संधि वार्तालाप किया। इस संधि से इंग्लैण्ड को पर्याप्त लाभ प्राप्त हुए। और इस संधि द्वारा "साम्राज्य में तथा अन्य देशों में ब्रिटिश वस्तुओं सरीखे अनेक लाभ भारतीय वस्तुओं को भी प्राप्त हुए और साथ ही इंग्लैण्ड को मिलने वाले कोटे में भारत को भी हिस्सा मिला।[1]" इस संधि में यह भी वचन दिया गया कि लंकाशायर की मिलों में भारतीय कपास के उपयोग में वृद्धि की जायगी। अनन्तर यही संधि (Supplementary

---

१. Madan, op. cit., p. 126.

Indo-British Trade Agreement of 1935) भारत-ब्रिटिश व्यापार पूरक-संधि १९३५ में निहित कर दी गई थी।

२२. भारत-ब्रिटिश व्यापार पूरक-संधि १९३५। १९३५ में, भारत और इंग्लैण्ड के बीच एक पूरक संधि हुई। उसमें १९३२ की संधि को विकृत करने के साथ ही भारत में अंग्रेजों को अधिक सुविधाओं की स्वीकृति दी गयी। इसकी महत्वपूर्ण शर्तें निम्न थीं :—

(अ) भारत में बनी वस्तुओं की विक्रय-कीमतों को आयात की गई वस्तुओं की कीमतों के बराबर करने से अधिक किसी भी भारतीय उद्योग को संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए, और जहां कहीं संभव हो, ब्रिटिश वस्तुओं पर न्यूनतर कर लगाने चाहिएँ;

(ब) कि जब किसी भारतीय उद्योग को सम्पूर्ण संरक्षण दिया जाना हो, उस समय सम्बन्धित ब्रिटिश उद्योगों को टैरिफ़ बोर्ड के सामने अपने विषय में बहस का पूरा अवसर दिया जाना चाहिए ;

(स) कि संरक्षण के दौरान में भी ब्रिटिश सरकार द्वारा आवेदन करने पर भारत सरकार को परिस्थिति का निरीक्षण करना चाहिए और, यदि आवश्यकता हो, तो संरक्षण की दरों में सुधार किया जाना चाहिए ; और

(द) कि ब्रिटिश सरकार अंग्रेज़ी मिलों में भारतीय कपास के प्रयोग को लोकप्रिय बनाये और भारतीय खानों के लोहे की बिना कर के आयात जारी रखे, किन्तु यह तभी तक उसी दर पर हो, जबतक कि भारत में ब्रिटिश इस्पात को रियायतें रहें।

भारतीय विधान सभा ने इस संधि को अस्वीकार कर दिया, किन्तु वाइसराय ने इसे मंजूरी दे दी और १९३९ तक यह चालू रही। उपरांत एक नयी संधि हुई।

२३. भारत-ब्रिटिश व्यापार संधि, १९३९। पहली संधि की जगह लेने के लिए असेंबली में बिल उपस्थित करने से पहले दोनों पक्षों में बहुत दिन तक विचार-विनिमय होता रहा। सभा ने इसे सम्पूर्णतया अस्वीकार कर दिया, किन्तु वाइसराय ने पुनः इसकी मंजूरी दे दी। इस प्रकार उसने यह प्रमाणित कर दिया कि भारत को जो राज-कर सम्बन्धी स्वतन्त्रता दी गई थी, वह केवल नाम को थी। उसकी मुख्य धाराएं निम्न थीं :—

(१) भारत ने इंग्लैण्ड से आयात की २० वस्तुओं पर ७½ से १० प्रतिशत की रियायतें स्वीकार की थीं, अर्थात् १० प्रतिशत रसायनों, पेंटों, सिलाई की मशीनों आदि पर और ७½ प्रतिशत मोटरों और साइकिलों पर।

(२) इंग्लैण्ड जाने वाली भारतीय कपास की निर्यातों को इंग्लैण्ड से सूती वस्त्रों की आयात के सरकने वाले मान से जोड़ दिया गया।[1]

१. For details of the scale see B. P. Adarkar, op. cit., p. 561

(३) भारत तथा अन्य साम्राज्य देशों के बीच रियायतों के आधार पर जातीय पक्षपातपूर्ण पारस्परिक समझौता किया गया।

(४) अपनी ओर से इंग्लैण्ड ने कुछ भारतीय वस्तुओं पर १० और २० प्रतिशत के बीच रियायतें दीं और कुछ वस्तुओं को बिना कर के प्रवेश की स्वीकृति दी, जबकि साम्राज्य-इतर वैसी ही वस्तुओं पर टैक्स लगाये जा रहे थे। इस प्रकार भारतीय खानों के लोहे को १९४१ तक बिना टैक्स के प्रवेश की आज्ञा थी, किन्तु इस शर्त के साथ कि यदि भारत अंग्रेज़ी इस्पात पर कर लगाएगा तो वह भी इस लोहे पर कर लगा सकते हैं।

संधि का परीक्षण किया गया—वाइसराय द्वारा संधि को मंजूरी देने पर बहुत नाराज़गी फैली। भारतीय व्यापारियों ने भी इसे नामंजूर कर दिया। ब्रिटिश भेद-भाव के विरुद्ध भारतीय जहाज़ों और बैंकिंग सम्बन्धी फर्मों के संरक्षण के लिए ग़ैर-सरकारी सलाहकारों की सिफ़ारिशों को ठुकरा दिया गया। यह विश्वास किया जाता है कि संधि के फलरूप जहां ब्रिटिश उद्योगों को ठोस लाभ हुए थे, तहां भारत को विपरीत दशा का सामना करना पड़ा था।[1]

इंग्लैण्ड से भारत को सूती वस्त्र की निर्यातों और भारत से इंग्लैण्ड को कपास की निर्यातों को सरकने वाले मान से जोड़ देने के प्रबन्धों के विषय में यही कहना चाहिए कि "सिर तो मैंने लिया, और पूंछ तुम्हारे हाथ से निकल गई," अर्थात् यह सौदा इंग्लैण्ड के ही पक्ष की जीत में था।[2] जिन भारतीय वस्तुओं का प्रवेश बिना कर के स्वीकार किया गया था, वह थीं, जूट, लाख, अबरक और हरड़ तथा आंवला। भारत का इन में एकाधिकार था, और यह ऐसे कच्चे पदार्थ थे, जिनकी इंग्लैण्ड को ज़रूरत थी। इसके अतिरिक्त, इंग्लैण्ड में जिन भारतीय वस्तुओं को रियायत मिली थी, उनमें से अधिकांश को साम्राज्यान्तर्गत देशों से कड़ी प्रतिद्वंद्विता का सामना करना पड़ा जबकि इंग्लैण्ड को भारत में एकाकी रियायत मिली हुई थी।[3]

जो भी हो, यह संधि १९३२ की ओटावा संधि की अपेक्षा स्पष्ट प्रगति थी। समष्टि रूप में, रियायतों के आदान-प्रदान का क्षेत्र और मान उचित व्यवहार के रूप में दिखलाई देता था। तिस पर भी, कपास का प्रश्न कुछ भिन्न था। नियत सरकने वाले मान-दंड में अधिक मोहरे इंग्लैण्ड के ही पक्ष में रखे गए थे। उसके साथ ही, यह भी याद रखना चाहिए कि भारत रियायती क्षेत्र की परिधि से बाहर नहीं रह सकता था, क्योंकि बाहर रहने का अर्थ यह होता कि साम्राज्य के देशों में उसके निर्यात पर भारी कर लगते, "इस अनिश्चित दुनिया में केवल यही एक निश्चित बात थी।" इस तथ्य पर विचार करते हुए कि इंग्लैण्ड

१. Jather & Beri—Indian Economics, Vol. II. p. 630.
२. B. P. Adarkar, op. cit., p. 561.
३. Madan, op. cit., p. 242.

को भारी लाभ होगा, उसके लिए यह बेहतर होता कि वह भारत के उचित कष्टों को दूर करके उसकी सदिच्छा प्राप्त कर लेता।

भारत और इंग्लैण्ड के बीच व्यापार पर १९३९ की व्यापार संधि के प्रभावों को आंकना फिस्कल कमीशन (१९५०) के लिए कठिन जान पड़ा, क्योंकि (अ) संधि के उपरान्त युद्ध छिड़ने तक के केवल ६ मास की अवधि के सम्बन्धित व्यापारिक आंकड़े उपलब्ध थे और (ब) युद्ध तथा युद्धोत्तर वर्षों में भारत को जो रियायतें स्वीकार की गई थीं, और जो उसने प्राप्त की थीं, उनके प्रभाव युद्ध के दौरान में आयातों और निर्यातों पर लगे प्रतिबन्धों द्वारा फीके पड़ गए थे और तब से लेकर इस या उस रूप में वह जारी रहे।

हमारा विचार है कि इस प्रश्न के प्रति हमारा दृष्टिकोण उस नीति पर निर्भर करना चाहिए कि जो भारत सरकार ने रियायतों के सम्बन्ध में स्थिर किया, और उस नीति को दृष्टि में रखते हुए भारत सरकार को इंग्लैण्ड तथा कामन्वैल्थ के सदस्यों के साथ आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी रियायतों का परीक्षण करने के लिए चर्चा करनी चाहिए। रियायतों को जारी रखने या न रखने का निर्णय पारस्परिक हितों को केवल आर्थिक दृष्टि के आधार पर किया जाना चाहिए।

२४. युद्ध-पूर्व की द्विमुखी नीति। इंग्लैण्ड के साथ द्विमुखी सम्बन्धों के अतिरिक्त, भारत ने तीन अन्य व्यापार संधियाँ की—दो जापान के साथ, और एक बर्मा के साथ। (१) **१९३४ की भारत-जापान संधि**—जापान ने अपनी करैंसी का मूल्य घटा दिया था। सस्ते कपड़े की उसकी निर्यातों ने भारतीय वस्त्र-उद्योग को बड़ी चिन्ताजनक स्थिति में डाल दिया था। ब्रिटिश-इतर कपड़े की आयातों पर १९३२ में मूल्य के आधार पर ५० प्रतिशत कर लगाने के बावजूद भी स्थिति नही सुधरी। फलतः, सरकार ने जापान को ६ मास का अनिवार्य नोटिस दिया कि वह १९०४ में हुए जातीय-पक्ष के सम्बन्धों का अंत कर दे। इससे जापान ने भारतीय कपास का बहिष्कार किया और भारत सरकार को मूल्य के अनुसार विदेशी वस्त्र पर ७५ प्रतिशत कर लगाने योग्य बना दिया।

१९३३ में एक जापानी प्रतिनिधिमंडल भारत आया और १९३४ में दोनों देशों के बीच एक नयी संधि हुई। इस संधि में एक पूर्व-प्रथा (Convention) और एक पूर्व-पत्र (Protocol) निहित थे। पूर्व-प्रथा द्वारा एक-दूसरे के प्रति जातीय-पक्ष के व्यवहार को निश्चित किया गया था। इसके अलावा दोनों दलों ने आवश्यकता होने पर विशिष्ट कस्टम (आगम) करों को लागू करने का अधिकार सुरक्षित रखा था, ताकि १ जनवरी, १९३४ के बाद अपनी करैंसियों के मूल्यों में परिवर्तन होने के प्रभावों को सही किया जा सके। पूर्व-पत्र का सम्बन्ध सरकने वाले कोटे के आधार पर जापानी वस्त्रों की आयातों के साथ भारत की कच्ची कपास की निर्यातों से जोड़ा गया था। उसके साथ ही मूल्य के अनुसार जापानी वस्त्र के कर को ७५ से ५० प्रतिशत कर दिया गया था।

इस संधि से दोनों देशों के बीच जो कटुता हो गई थी, वह दूर हो गई और यह विश्वास किया जाता था कि इससे भारतीय कपास के उत्पादकों और साथ ही जापानी निर्माताओं को लाभ होगा। समय बीतने पर भारतीय मिल-मालिकों ने शिकायत की कि जापान ने संधि को भंग किया है, क्योंकि उसने कपड़ों के टुकड़ों की भारी संख्या निर्यात करनी शुरू कर दी थी, जो यही नहीं कि कोटा से बाहर थे, प्रत्युत उनपर न्यून कस्टम कर भी था। इससे बढ़ कर जापान ने भारत को बने वस्त्रों और नकली रेशम की वस्तुओं को, जो कोटे में भी शामिल नहीं थीं, भेजकर अपने निर्यातों में भी वृद्धि कर ली। इसके अलावा, एक गज़ से अधिक पने का कपड़ा भी भारत को निर्यात किया गया। तथ्य यह था कि जापान ने निश्चित कोटे की अपेक्षा अधिक माल बेचने के लिए सब प्रकार की बेईमानी के तरीके अपनाये। इसके अतिरिक्त चीनी के बर्तनों, साइकिलों, खिलौनों और छातों जैसी मिश्रित वस्तुओं को भी भारी संख्या में कम कीमत पर भारत में भेजा गया। इसका फल यह हुआ कि अपरिपक्व भारतीय उद्योगों को भारी क्षति हुई।

(२) **नयी भारत-जापान संधि १९३७**—१९३६ में जब पुरानी संधि समाप्त हुई और नयी बनने लगी, तो ग़ैरसरकारी सलाहकारों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि कपड़ों के टुकड़ों, बनावटी रेशम की वस्तुओं और बनी हुई सूती पोशाकों को भी कोटे में शामिल कर लिया जाय। किंतु, यद्यपि चर्चा को बहुत लम्बा किया गया तथापि पूर्व-पत्र को नया रूप देते समय पुरानी ही शर्तों को रखा गया।

मूल-कोटा घटा दिया गया किन्तु यह न्यूनता भारत से बर्मा के जुदा होने के कारण हुई थी, और यह बहुत भी नहीं थी, क्योंकि संधि के समय बर्मा का भाग बहुत बड़ा नियत किया गया था। भारतीय कपास के उत्पादकों के स्वार्थों की रक्षा की चिंता में, सरकार ने जापान की मांगों को रोकने के लिए अपनी सुरक्षित स्थिति का भी उपयोग नहीं किया था। वह कोटे में जापान की मिश्रित निर्यातों को भी शामिल न कर सकी, न ही कपड़े की अतिरिक्त निर्यातों के लिए संधि में रही त्रुटियों को दूर कर सकी। हां, इतना अवश्य हुआ कि टुकड़ों की आयात के लिए कपड़े की प्रतिशत का अनुपात नियत कर दिया गया।

नई संधि के अनुसार, जापान भारत को सब प्रकार का कपड़ा और कपड़े से अलावा अन्य वस्तुएं उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ भारी संख्या में निर्यात करता रहा, जबकि दूसरी ओर उसका भारतीय कपास को बदले में लेना केवल नियत कोटे को जैसे-तैसे पूरा करना भर होता था। १९४० में संधि का परीक्षण होना था, किंतु बातचीत टूट गई और अंतिम रूप में कुछ निर्णय होने से पूर्व ही युद्ध आरम्भ हो गया।

(३) **भारत-बर्मा व्यापार संधि १९४१**—जब से बर्मा भारत से जुदा हुआ है, तब से, १९३७ से १९४१ तक, जब संधि पर आखिरी हस्ताक्षर हुए थे, दोनों देशों का व्यापार एक नियम द्वारा शासित होता था, जो समान दर्जे को बनाये रहता था। नयी संधि द्वारा बर्मा को भारत में साम्राज्य की वस्तुओं के विरुद्ध १० प्रतिशत और साम्राज्य-इतर वस्तुओं

के विरुद्ध १५ प्रतिशत की रियायत का सीमान्त दिया गया। बर्मा के किसान और खान में काम करने वाले को पर्याप्त लाभ हुआ, क्योंकि चावल, गोंद, इमारती लंकड़ी और कच्चे धातु भारत में बिना कर के आते थे। खांड और कपास के भारतीय निर्यातकर्त्ता को भी बर्मी बाज़ार की प्राप्त सुविधाओं से लाभ हुआ। यह स्मरण रहे कि हमारी निर्यातों की कुल राशि से बर्मा की आयात की राशि कहीं अधिक थी, फलतः बर्मा को कुल मिलाकर बहुत लाभ हुआ। किंतु भारत को बर्मी चावलों और कच्चे पदार्थों की आवश्यकता थी।

२५. युद्धोत्तरकाल की द्विमुखी नीति। देश के विभाजन के बाद भारत, योरोप, एशिया तथा अन्य देशों के साथ भारी संख्या में द्विमुखी संधियां करने जा रहा था। इन संधियों का एक मुख्य कारण यह था कि भारत के भुगतानों के संतुलन में न्यूनता थी। अनेक अवस्थाओं में आयातों और निर्यातों का कुल मूल्य ही संधि का आधार होता था और कुछ दशाओं में जिन्सों की समानता ही आधार होती थी। बहुत थोड़े मामलों में उन देशों के साथ सीधे व्यापारिक सम्बन्ध बनाने का उद्देश्य था, जहां पूर्वकाल में केवल सम्बन्ध थे। केवल व्यापारिक समझौते ही नहीं, वस्तु-विनिमय व्यवहार भी किया गया। अनेक संधियों की अवधि बढ़ाई गई और उन्हें नया किया गया। १९५०-५१ में कुछ नयी संधियां भी हुईं। अर्जन्टाईना, ईजिप्ट, और चीन के साथ खाद्य प्राप्त करने के लिए वस्तु-विनिमय का व्यवहार किया गया, क्योंकि गत कुछ वर्षों से भारत में खाद्यों की न्यूनता चली आ रही है। पाकिस्तान, स्वीडन, जापान और दक्षिणी जर्मनी आदि के साथ व्यापार समझौते किये गए। नेपाल और अफ़ग़ानिस्तान के साथ व्यापार संधियां की गईं।

२६. भारत और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन। १९१४-१८ के युद्ध के बाद शांतिनिर्माताओं ने अंतर्राष्ट्रीय आधार पर आर्थिक-सहयोग की आवश्यकता को नहीं देखा। यह आशा की गई थी कि सब राष्ट्र 'स्वर्ण मान' को पुनः अपना लेंगे और "पुरानी सामान्य" स्थिति हो जायगी। किंतु यह कोरी कल्पना ही रह गई। सौभाग्य से आज इस बात को मान लिया गया है कि यदि बड़े-बड़े देशों ने मिलकर प्रतिद्वंद्विता के बन्धनों को न रोका तो इस प्रवृत्ति के कारण पुनः सब अशांति में जा पड़ेंगे। १९३९-४५के युद्ध से पहले राष्ट्रीय आर्थिक रीतियां पैदा हो गई थीं और संरक्षण-वाद की नीति ने व्यापारिक अवस्थाओं को चिंताजनक बना दिया था और सरकार स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में हस्तक्षेप करती थी। विश्व-व्यापार को सीमित होने से रोकने के लिए सब को मिलकर कार्य करना चाहिए, यही इस समय की सबसे बड़ी ज़रूरत है। देखा जाता है कि अधिकांश राष्ट्रों के भय, समस्याएं और इच्छाएं समान ही हैं। इस प्रकार की समस्याओं का निराकरण अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय से हो सकता है। यह विचार इस दशा में काफी अर्से से चल रहा है। १९४१ में, यह एटलांटिक चार्टर में भी सन्निहित था। १९४२ में (Mutual Aid Agreements) पारस्परिक सहयोग समझौते में भी इसका आभास मिला। इसी के फलरूप,

१९४५ में, व्यापार-समझौता एक्ट (Trade Agreements Act) को दोबारा नया किया गया और ऐंग्लो-अमरीकन फाइनैन्शियल एग्रीमैंट (भारत-अगरेज़-अमरीकी आर्थिक समझौता) १९४६ में हुआ। इसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation) को जन्म दिया, जिस की पहली बैठक १९४७ में जैनेवा में हुई और दूसरा अधिवेशन १९४८ में हवाना में हुआ। हस्ताक्षर-कर्त्ताओं में भारत भी एक था।

संक्षेप में, विभिन्न उपसमितियों ने (कुल संख्या ६) विभिन्न प्रश्नों पर निम्न फ़ैसले किये :—

१. परिमाणात्मक प्रतिबन्ध और विनिमय नियंत्रण—लेख्य में कहा गया है कि, "कर, टैक्स अथवा अन्य शुल्क के सिवा, कोई भी सदस्य-देश किसी जिन्स को किसी भी सदस्य-देश से आयात करने पर न तो रोक लगाएगा अथवा न ही प्रतिबन्ध स्थिर करेगा। इसके अलावा न ही कोई भी सदस्य-देश किसी भी सदस्य-देश के लिए निश्चित किसी जिन्स के निर्यात या क्रय के लिए निर्यात पर रोक या प्रतिबन्ध लगाएगा।" तिसपर भी निम्न को छूट दी गई है :—

(१) जिन जिन्सों की पूर्ति अल्प है, उनका समान वितरण करने के लिए अस्थायी प्रतिबन्ध लगाए जाँयगे, युद्ध-काल की नियंत्रित कीमतों और युद्ध के अतिरिक्त अंशों को नियमतः समाप्त करने के लिए अस्थायी प्रतिबन्ध लगेंगे।

(२) खाद्य-सामग्री तथा अन्य अनिवार्य जिन्सों की न्यूनता से मुक्ति पाने के लिए अस्थायी रोक लगेंगी।

(३) अन्तर्शासिन समझौतों के अधीन नियन्त्रण लगेंगे।

(४) भुगतानों के संतुलन की रक्षा के लिए आयात नियंत्रण होंगे। यहां सदस्य की आवश्यकता की परीक्षा है। (अ) मुद्रा सम्बन्धी कोषों में भीषण ह्रास के खतरे का पूर्व अनुमान, (ब) यदि एक सदस्य के पास मुद्रा-कोष बहुत कम हो, तो उचित वृद्धि प्राप्त करने के लिए यत्नशील होना।

कोई भी सदस्य अन्य सदस्य की शिकायत कर सकता है, जो उसके व्यापार को हानि पहुंचाने के लिए प्रतिबन्ध लगाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (आई. टी. ओ.) शिकायत पर विचार करेगा और समन्वय की सिफारिश करेगा, जिसका, यदि पालन न किया गया, तो सदस्य-देशों से दंडरूप में आयात-निर्यात-कर विषयक रियायतें वापिस ले ली जाँयगी।

आर्थिक अनिवार्यता ने ही इन छूटों की गुंजायश की थी।

२. आयात-निर्यात-कर और रियायतें—आई. टी. ओ. के सदस्य यह मान चुके हैं कि वह आयात-निर्यात-कर में न्यूनता करने और रियायतों को हटाने की दिशा में परस्पर चर्चा करेंगे। सदस्यों से सामान्य नियम यह मांग करता है कि वह एक-दूसरे के साथ

जातीय-पक्ष का व्यवहार करेंगे। इस प्रकार आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी न्यूनताएं बहुमुखी आकार पर होंगी। भारत जैसे देशों को एक उस उद्योग की जिन्स के लिए रियायत नहीं देनी होगी, जिसका वह संरक्षण चाहते हों।

३. **रोज़गार**—लंडन लेख्य में कहा गया है कि प्रत्येक सदस्य "ऐसी कार्यवाही करेगा, जिससे वह पूर्ण एवं संपन्न रोज़गार को स्थिर रख सके और प्राप्त कर सके और स्वतः अपने क्षेत्र में संगठन के उद्देश्यों के अनुरूप साधन द्वारा प्रभावकारी मांग के उच्च एवं स्थिर स्तर को बनाये रहेगा।"

४. **आर्थिक प्रगति**—लंडन घोषणा के अधीन युद्ध के कारण क्षीण हुए राष्ट्रों को व्यापार में नियंत्रणों की सहायता से पुनर्संस्थापन की मंजूरी दी गई है। जो देश आर्थिक रूप में पिछड़े हुए हैं—मुख्यतः, भारत और चीन—उन्हें विदेशी आदान-प्रदान द्वारा औद्योगीकरण को स्वीकृति दी गई है।

५. **व्यापारिक आचरण पर प्रतिरोध**—लेख्य का कहना है कि "प्रत्येक सदस्य इस विश्वास के लिए कार्यवाही करेगा कि उसके क्षेत्र के व्यवसायी ऐसे व्यवहार में नही पड़ेंगे जो प्रतिद्वंद्विता को दबायें, बाज़ारों की प्रगति को सीमित करें अथवा एकाधिकार नियंत्रण को थोपें।"

६. **जिन्स सम्बन्धी समझौता**—जिन परिस्थितियों में सरकारें मुख्य जिन्सों की कीमतों या आयात, निर्यात, उत्पाद के विषय में समझौता करें, उन की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इस प्रकार के समझौतों की निश्चित अवधि है और समय समय पर उनका परीक्षण होता रहेगा।

दो अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य भी जोड़ दिये गए है, अर्थात् एक विश्व के स्वाभाविक साधनों को उन्नत करना और स्थिर रखना और अनावश्यक समाप्ति से उनकी रक्षा करना, और (२) ऐसी मुख्य जिस के उत्पाद को विस्तार देना कि जिस की पूर्ति इतनी अल्प हो कि भोक्ताओं के हितों का नाश होता हो।

५० देशों से भी अधिक में सांझे आधार पर समझौता करना कोई आसान काम नहीं था। निःसंदेह, एक भयंकर खाई को पाट लिया गया है। इस से भी अधिक सफलता यह हुई है कि आई. टी. ओ. को भुगतानों का निर्णय करने, आदेश जारी करने, पालन न करने की शिकायतें सुनने और घोषणा-पत्र के अनुसार सदस्यों पर दबाव डालने का अधिकार हो गया है।

यह व्यापारिक घोषणा-पत्र निश्चय ही महानतम सफलता है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियमित प्रगति प्रदान करने की दीर्घकालीन योजना निहित है। यह इस बात को भी स्वीकार करती है कि भारत जैसे युद्ध के कारण उजड़े हुए क्षेत्रों के पुनर्निर्माण पर ही स्वस्थ व्यापार आश्रित है। केवल-मात्र एक ही अड़चन है कि कम्युनिस्ट (साम्यवादी) देशों ने साथ नहीं दिया।

इस घोषणा-पत्र के फलस्वरूप भारत का व्यापार, जो अपनी व्यापारिक नीतियों को रूप देने के लिए स्वतन्त्र है, प्रगतिशीलरूप में उन्नति के पथ पर है। भारत ने सब देशों में पूर्व-पत्रों पर हस्ताक्षर करके जातीय-पक्ष व्यापार को प्राप्त कर लिया है और इस प्रकार वह मध्य पूर्व और आस्ट्रेलिया में अपने वस्त्र उत्पादन के साथ मुकाबला करने की स्थिति में हो गया है। इस प्रकार, घोषणा-पत्र, वस्तुओं के विस्तृत उत्पाद के लिए सीधा ज़िम्मेदार है।

२७. फिस्कल कमीशन और हवाना घोषणा-पत्र। फिस्कल कमीशन ने हवाना घोषणापत्र की जांच की और उसे मालूम हुआ कि जब तक भुगतानों के वर्तमान संतुलन की कठिनाई जारी रहेंगी, तब तक घोषणापत्र भारत की व्यापारिक नीति को रूप देने की स्वतन्त्रता पर गम्भीर सीमाएं लागू नहीं करेगा। दीर्वकाल में, यह भी संभव था कि भारत को ऐसी नीतियां बनाने के अधिकार से ही वंचित हो जाना पड़ता।

सब आवश्यक अंशों पर विचार करने के बाद, कमीशन ने सिफारिश की कि भारत को घोषणापत्र का अनुमोदन करना चाहिए बशर्तेकि अमरीका और इंग्लैड सरीखे मुख्य आर्थिक महत्व के देश भी इस का समर्थन करें और बशर्तेकि उस अवसर पर देश की आर्थिक स्थिति इस उपाय को न्यायोचित ठहराये। कमीशन ने आशा प्रकट की थी कि घोषणा-पत्र में पिछड़े देशों की आर्थिक प्रगति की शर्त को उदारतापूर्वक क्रियान्वित किया जायगा। कमीशन ने जनरल एग्रीमेंट आफ़ टैरिफ एंड ट्रेड के अधीन आयान-निर्यात कर सम्बन्धी स्वीकृत और भारत द्वारा प्राप्त रियायतों का विश्लेषण किया और उसकी राय थी कि कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता। तिस पर भी, उसका कहना था कि जब तक आई. टी. ओ. का भविष्य मालूम नहीं हो जाता, तब तक भारत का जनरल एग्रीमेंट से बाहर रहना लाभदायक नहीं होगा। कमीशन ने तजवीज़ की थी कि आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी जो रियायतें दूसरे देशों से मिलनी है, भारत को उन पर केन्द्रीभूत होना चाहिए—

(अ) वह जिन्सें, जो विश्व बाज़ार में अन्य देशों की तत्सम जिन्सों से प्रतिद्वंदिता के साथ पूर्ति करती है;

(ब) वह जिन्सें, जो विश्व बाज़ार में अन्य देशों से संभावित एवज़ में प्रतिद्वंद्विता के साथ पूर्ति करती है;

(स) कच्चे पदार्थों की अपेक्षा निर्मित पदार्थों पर।

द्वितीयतः, टैरिफ रियायतों की स्वीकृति के मामले में भारत को निम्न पर केन्द्रीभूत करना चाहिए : (अ) बहुमूल्य वस्तुओं पर; (ब) अन्य मशीनों और साधनों पर; (स) अनिवार्य कच्चे पदार्थो पर।

फिस्कल कमीशन ने यह भी तजवीज़ की थी कि (१) घरेलू और छोटे दर्जे के उद्योगों की विशिष्ट आवश्यकताओं को, जो अधिकांशतः विदेशी बाज़ार पर आश्रित हैं,

विदेशों के साथ व्यापार चर्चा करते समय भारत को मद्दे नजर रखनी चाहिएं। भारतीय प्रतिनिधियों को उनके लिए विदेशी बाज़ार में अधिकतम टैरिफ सम्बन्धी रियायतें लेनी चाहिएं और विदेशों से आयात की प्रतिद्वंद्विता के विरुद्ध उन्हें संरक्षण प्रदान करने चाहिएं।

(२) जनरल एग्रीमेंट की मदों में व्यापार की गति पर कड़ी निगाह रखनी चाहिए और व्यापारिक आय को अर्ध वार्षिक रूप में प्रकाशित किया जाय।

(३) नई बातचीत शुरू करने से पहले व्यापार, उद्योग, तथा अन्य सम्बन्धित स्वार्थों के प्रतिनिधियों से रियायतों के विषय में, जिन की भारत को आवश्यकता होगी अथवा अन्य देश जिन की मांग करेंगे, सलाह ले लेनी चाहिए।

नयी प्रगतियां:—जनरल एग्रीमेंट में जिन लोगों ने शामिल होना था, उनकी एक कान्फ्रेंस सितम्बर १९५० में तोरकी (Torquay, France) में हुई और अप्रैल १९५१ में वह समाप्त हुई। भारत ने अन्य सब देशों के साथ आखिरी कानून (Final Act) पर दस्तखत किये। ६ और देश भी उसमें शामिल हो गए। जरनल एग्रीमेंट वाले देशों का विश्व के व्यापार में ८५% का हिस्सा है। यह एक बड़ी सफलता है और सब देशों में सहयोग की भावना का प्रदर्शन है। भारत ने इस एग्रीमेंट के अधीन १९५४ तक दूसरे देशों को रियायतें जारी रखने की स्वीकृति दे रखी है।

सत्ताइसवां अध्याय

मुद्राचलन और विनिमय

१८३५-१९२५

१. भूमिका । भारत की वर्तमान मुद्रा-स्थिति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम गत एक सौ वर्ष के भारतीय मुद्रा-इतिहास को संक्षेप में देख जाँय । इस काल में भारत को रजत-मान, सुवर्ण-विनिमय-मान, सुवर्ण-बुलियन-मान और स्टर्लिंग-विनिमय-मान (पौंड-पावना-मान) का अनुभव हो चुका था । इस संपूर्ण काल में, भारतीय जनसाधारण की ओर से करैंसी के रूप में सुवर्ण-मुद्रा के परिचालन के साथ पूर्ण-विस्तृत सुवर्ण-मान की गुप्त रूप में मांग रही है । कभी-कभी बड़े-बड़े सरकारी अफसर भी इसका समर्थन करते थे । अब भी इस आदर्श को सिद्ध करना शेष रहता है, किंतु वर्तमान में इस की संभावनाएं हाल ही की अन्तर्राष्ट्रीय करैंसी की प्रगतियों के साथ निकटतम रूप में संयोजित हैं ।

२. रजतमान की स्थापना (१८३५) । १८३५ के करैंसी एक्ट द्वारा भारत में रजत-मुद्रा (केवल चांदी) की स्थापना की गई । इस से पूर्व, अकबर के काल से उत्तरी भारत में चांदी के रुपये और सोने की मुहरों की मुद्रा का चलन था, और दक्षिण में सोना मुख्य मुद्रा था । इसके अतिरिक्त, ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रादुर्भाव होने तक, देश के विभिन्न भागों में अनेक प्रकार की विक्षिप्त मुद्राओं का चलन था ।[1] और व्यापार के हित में उनकी इच्छा थी कि एक सांझी मुद्रा के तरीके को जारी किया जाय और उसी के फलरूप १८३५ का एक्ट स्वीकार हुआ ।

रजत-मान के अधीन कोई भी चांदी लेकर टकसाल में जा सकता था और बिना दाम के उसे १८० के तोल में रुपयों की मुद्रा में घड़ा सकता था । जो भी हो, सोना इस क्षेत्र में से पूर्णतया लोप नहीं हुआ । १८३५ के एक्ट ने आवश्यकता होने पर, जनता को सुवर्ण-मुद्रा घड़ाने का भी अधिकार दिया; और १८४१ के घोषणा-पत्र ने सार्वजनिक खज़ानों को अधिकार दिया कि वह सुवर्ण-मुद्रा (सोने की मुहरों) को अंकित-मूल्य के अनुसार उदारता-पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् जनता के एक के बदले १५ की दर से । १८५२ में यह घोषणा-पत्र वापिस ले लिया गया, क्योंकि सोने की कीमत घट जाने से सरकारी खजानों में सुवर्ण-मुद्रा भारी परिमाण में जमा होने लगी थी । अधिकारी रजत-मुद्रा की नीति पर

---

१. अनुमान किया जाता है कि ९९४ तरह की सोने-चांदी की भिन्न तोल और रूप की मुद्राएं प्रचलित थीं ।

स्थिर रहे, बावजूद इस बात के कि १८९३ तक सुवर्ण-मुद्रा के पक्ष में तब तक आन्दोलन होता रहा।

३. रजत-मान का अंत। उसी काल में स्वर्ग में चांदी की कीमत गिर जाने से, १८७४ के बाद रजत-मान की कार्य-प्रणाली में कठिनाइयां पैदा होने लगीं। चूंकि रुपया पूर्ण रजत-मुद्रा में उदारतापूर्वक टकसालों में घड़ा जाता था, इस कारण सुवर्ण के बदले में (अथवा पौंड-पावना) इसका मूल्य (विनिमय का दर) चांदी की सुवर्ण कीमत में गिरावट के साथ ही गिर गया। १८८० में अन्त होने वाले औसत पांच वर्षों में चांदी की कीमत ५३ पैंस प्रति औंस से गिर कर १८९३ में ३९ पैंस प्रति औंस हो गई। और तदनुरूप, उसी काल में रुपयों का विनिमय दर २०·५ पैंस से १४·९ पैंस रह गया।

चांदी की सुवर्ण में कीमत गिरने का आंशिक कारण यह था कि एक तो उसकी पूर्ति अधिक थी और दूसरे उसकी मांग में संकुचन हो गया था। इस के अतिरिक्त, एक ओर आंशिक कारण यह भी था कि सोने का उत्पाद कम था और दूसरी ओर योरोपीय देशों ने चांदी की जगह सोने की मुद्रा को अपना लिया था।[1] और उसके कारण इस धातु की मांग बढ़ गयी थी।

चांदी की कीमत गिर जाने के भीषण परिणाम हुए। लोगों को इस में लाभ होता था कि वह चांदी सस्ती खरीदें और टकसालों में उस के रुपये घड़ा लें। द्रव्य की राशि के परिचालन में वृद्धि के कारण कीमतों में आम वृद्धि हुई। आयात-व्यापार को भी क्षति हुई, क्योंकि पौंड पावने (स्टर्लिंग) में आयात का मूल्य चुकाने के लिए चांदी के रुपये अधिक परिमाण में दरकार होते थे। निर्यात सहित, सामान्यतः व्यापार पर भी प्रतिकूल प्रभाव हुआ, क्योंकि विनिमय के दर के विषय में अनिश्चितता हो गयी थी। इसके अलावा, भारत-स्थित योरोपीय अधिकारी इंग्लैंड में अपने पौंड-पावने के भुगतानों में हुई क्षति को पूरा करने के लिए रियायतें मांगते थे। किंतु सब से बड़ी समस्या, जो भुगतानों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई, वह थी, "घरेलू भुगतानों की।" जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, यह भुगतान वह हैं, जो भारत को इंग्लैंड को चुकाने होते हैं, और यह भुगतान भारत में नौकरी करने वाले अंगरेज अफसरों के वेतनों और पैंशनों, पौंड-पावना की ब्याज सहित उसकी देनदारियों, स्टोर-सम्बन्धी क्रय कीमतों और भारत को जहाज़ सम्बन्धी सेवाओं को चुकाने के लिए होते हैं। विनिमय-स्फीति के कारण "घरेलू भुगतानों" का बजट बनाने में भारी अनिश्चितता का सामना करना पड़ा, क्योंकि रुपये के रूप में उसका बोझा भी काफ़ी बढ़ गया था। उस समय के अर्थ-सदस्य ने जैसा कि कहा था कि विनिमय में एक पैनी

१. Germany & the Latin Union (France, Switzerland, Belgium and Italy.)

गिर जान का अर्थ बजट में तीन करोड़ रुपये का घाटा हो जाना है[1] और एक पैनी बढ़ने से अतिरिक्त हो जायगा।

कुछ-न-कुछ तो किया ही जाना था। सरकार ने लार्ड हैरशैल की अध्यक्षता में यह मामला एक कमेटी को पेश किया। कमेटी ने १८९३ में सूचना दी और सिफारिश की कि सोने और चांदी की मुफ्त में मुद्राएं घड़ने वाली टकसालें बन्द कर दी जांय। १८९३ के कायनेज एक्ट (मुद्रा टंकन कानून) द्वारा यह कर दिया गया, और रजत-मान का अंत हो गया। कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि फिलहाल विनिमय का दर १ शलिंग ४ पेंस नियत किया जाय।

४. **स्वर्ण-मान की ओर।** लेकिन किस तरीके को रजत-मान की जगह दी जाती? हैरशैल कमेटी ने तजवीज़ की थी कि "रुपये की मुफ्त मुद्रा बनाने की टकसालों का अन्त करने के साथ ही घोषणा होनी चाहिए कि, यद्यपि टकसालें जनता के लिए बन्द हैं, तथापि सरकार सोने के विनिमय में रुपये घड़ने के लिए उन टकसालों का प्रयोग करेगी, और उसका अनुपात १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपये का होगा। और सरकारी खज़ाने सार्वजनिक दायित्वों के निमित्त उसी कीमत पर सोना वसूल करेंगे।"[2]

इसलिए, १८९३ के एक्ट VIII के साथ तीन घोषणा-पत्र (नं. २६६२-४, २९ जून १८९३) जारी किये गए, जिन के द्वारा इन सिफारिशों को क्रियात्मक रूप देने के प्रबन्ध किये गए।

चूंकि रुपये की अधिकता थी, इसलिए १ शिलिंग ४ पैंस की कीमत तक पहुंचनें में उसे समय लगा। २३ जनवरी, १८९५ को भारतीय विनिमय १ शि. $\frac{३१}{३२}$ पैंस हुआ और इसके बाद जनवरी १८९८ तक बढ़ता हुआ १ शि. ४ पैंस के कानूनी अनुपात तक पहुंच गया।

१८९८ में एक एक्ट पास हुआ, जिस के द्वारा करैंसी नोटों को जारी करने का अधिकार दिया गया। यह करैंसी नोट उस सोने के बदले में चालू होते थे, जो राज्य सचिव इंग्लैंड में वसूल करता और उसकी दर एक रुपये के बदले ७·५३३४४ ग्रेन विशुद्ध सोना था और साथ ही जहाज़ द्वारा सोना भेजने का किराया भी। यह सोना भारतीय कागज़ मुद्रा के संरक्षण के रूप में अंशतः बैंक आफ इंग्लैंड में रखा जाना था। राज्य सचिव ने (२१ जनवरी १८९८) घोषणा की कि वह १ शिं. ४·१५/३२ पैंस प्रति रुपया की दर से तार द्वारा कलकत्ता, बम्बई और मदरास में तार द्वारा परावर्त्तनों (transfers) को बेचने के लिए तैयार है।

"१८९३-९८ के करैंसी-सुधारों का उद्देश्य यह था, (१) स्वर्ण कीमत में रुपये के मूल्य को और अधिक घटने से रोकना, (२) भारत के लोगों को सहज ही सोने के प्रयोग से

१. Herschell Committee Report, para 5.
२. Herschell Committee Report, para 156.

परिचित कराना, और (३) रुपये-पौंड पावना के अनुपात को १ शि. ४ पैंस प्रति रुपये पर स्थिर करना। स्पष्टत:,ये दोनों उपाय अनुभव के लिए, और अस्थायी थे। अखीरी ध्येय स्वर्ण मुद्रा और रुपयों के निश्चित अनुपात के अनुसार परिचालन द्वारा स्वर्ण-मान को जारी करना था, और रुपये को द्रव्य के प्रतीक के रूप में पूर्ण कानूनी दर्जे में न्यून कर देना था।"[1]

इसलिए, जनवरी १८९८ में, जब कानून द्वारा नियत विनिमय की असली दर पहुंच गई, तो भारत सरकार ने राज्य सचिव को अन्तर्काल की समाप्ति के लिए कहा और सुवर्ण-मान लागू करने की योजना उपस्थित की। इस योजना का निरीक्षण करने के लिए सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में, अप्रैल १८९८ में एक कमेटी नियत हुई।

फाउलर कमेटी—कमेटी ने भारत सरकार की दी हुई तजवीज़ के अलावा भी अन्य तजवीज़ों पर विचार किया। इनमें एक तजवीज़ चांदी के सिक्कों को बनाने के लिए टकसालों को पुनः जारी कर देने की थी। यह इस आधार पर रद्द कर दी गयी कि इससे भारतीय मुद्रा की वही दशा हो जायगी जो १८७८-९३ के काल में थी। इसके बाद लैस्ली प्रोबीन और लिण्ड्से ने भी एक-एक योजना उपस्थित की थी। दूसरी योजना का ऐतिहासिक महत्व भी है, क्योंकि इस योजना में प्रस्तावित आधारों पर ही बाद में भारतीय मुद्रा की प्रगति हुई। इन दोनों योजनाओं का लक्ष्य सोने की बचत करना था। प्रोबीन की तजवीज़ सुवर्ण-बुलियन-मान की थी और लिंड्से की सुवर्ण-विनिमय-मान की। कमेटी ने दोनों को ही इस आधार पर नामंजूर कर दिया कि इस के पक्ष में न तो कोई परम्परा है, और पुरातन मत भी इसके विरुद्ध है।

कमेटी ने इन योजनाओं के स्थान पर स्वर्ण चलअर्थ के साथ भारत में अन्तिम रूप से स्वर्णमान की स्थापना करने के पक्ष में मत दिया। इस उद्देश्य को प्राप्त करनेके लिए उसने निम्नलिखित प्रस्ताव किये, (१) ब्रिटिश स्वर्ण-मुद्रा तथा अर्द्ध स्वर्ण-मुद्रा को भारत में विधिग्राह्य (Legal Tender) तथा प्रचलित मुद्राएं बना दिया जाय, (२) भारतीय टकसालों को बिना किसी प्रतिबंध के सोने की सावरेनों को उसी प्रकार ढालने के लिए स्वतन्त्रता दी जाय, जिस प्रकार शाही टकसाल में आस्ट्रेलिया की तीन शाखाओं को स्वतन्त्रता दी गई है; (३) विनिमय दर को स्थायी रूप से एक शिलिंग ४ पेंस की दर पर स्थिर कर दिया जाय; (४) रुपयों की मुद्रा ढालने पर कुछ प्रतिबंध लगाकर उसको असीमित विधिग्राह्य (Unlimited Legal Tender) बना दिया जावे, उसको देश के आंतरिक भाग में स्वर्ण के रूप में बदले जाने पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिया जाय; (५) जब कभी विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) से नीचे जाने लगे तो रुपये के बदले में सुरक्षित कोष में से सोना स्वतन्त्रतापूर्वक दिया जाय;

१. H. L. Dey in Economic Problems of Modern India, Vol II. p. 219.

(६) रुपये के नये सिक्कों को ढालना तब तक के लिए बन्द कर दिया जाय, जब तक बाजार में पड़े हुए सोने का भाव उचित अनुपात में ऊपर न चढ़ जाय। अन्त में, (७) रुपये के सिक्के ढालने से होने वाले लाभ को एक पृथक् निधि में रखकर उस निधि का नाम स्वर्णमान सुरक्षा कोष (Gold Standard Reserve) रखा जाय।

५: स्वर्ण विनिमय-मान का विकास। सरकार ने इन सभी प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और उनको कार्यरूप में परिणत करने के उपायों पर चलना आरम्भ कर दिया, सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेनों को भारत भर में विधिग्राह्य बनाकर, उनका भाव प्रति पौंड १५ रु० निश्चित कर दिया गया। भारत भर में सोने के सिक्के ढालने के लिए कार्यकारी पग उठाये गए, किन्तु ब्रिटिश कोष द्वारा पारिभाषिक (Technical) कठिनाइयां उपस्थित करने के कारण इस योजना को छोड़ना पड़ा। सन् १९०० में स्वर्णमान सुरक्षा कोष की रुपये के सिक्के ढालने के लाभ से स्थापना की गई। सन् १८९३ के बाद उसको छोड़ कर केवल सन् १९०० में ही उसको प्रथम बार अपनाया गया।

फाउलर कमेटी के प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए मुद्राचलन (Currency) कार्यालयों को इस बात की आज्ञा दे दी गयी कि वह जनता को अधिकतम परिमाण में स्वर्ण-मुद्रा दें। किन्तु उसका परिणाम संतोषजनक नहीं निकला, स्वर्ण-मुद्रा तथा करेंसी नोटों पर रुपये में बदलने के लिए बट्टा लगने लगा। "अकाल की स्थिति तथा बाज़ार में चलने वाले अनुकूल मुद्रा साधन के पर्याप्त मात्रा में न मिलने के कारण मुद्रा की तंगी बढ़ गई और इससे रुपये की कमी भी विशेष रूप से बढ़ गई।"[1]

इस प्रकार सरकार को सन् १९०० में अत्यन्त व्यापक परिमाण में रुपये के सिक्के ढालने की नीति पर फिर वापिस आना पड़ा। इससे लंदन के चांदी-बाज़ार को भी बल मिल गया। सन् १८९८ के अधिनियम (Act) को दो वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। साथ ही इसमें यह भी व्यवस्था की गई कि भारत में रुपये के सिक्के ढालने के लिए चांदी मोल लेने के लिए लंदन में कागज़ी चलअर्थ की तिजोरी में स्वर्ण के उपयोग करने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार कागज़ी मुद्राचलन सुरक्षा निधि (Paper Currency Reserve) लंदन शाखा की स्थापना की गई।

भारत में जो रुपये के सिक्के ढालने के लाभ से स्वर्ण सुरक्षा निधि बनाई गई थी, उसके सम्बन्ध में भारत सरकार का विचार उस स्वर्ण को भारत में ही विशेष तिजोरियों में बन्द करके रखने का था। किन्तु भारत सचिव ने निर्णय किया कि उसको लंदन भेजकर उसको स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) में लगा दिया जाय। यह सम्मति प्रगट की गई कि लंदन में वह अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा, जहां कि उसका अनिवार्य आवश्यकता के समय भी उपयोग किया जा सकेगा। इस प्रकार सिक्का ढालने के

१. चैम्बरलेन कमीशन की रिपोर्ट, पृष्ठ २५।

लाभ को लंदन भेज दिया गया और वहां उसकी एक सुरक्षा निधि बनाकर उसका नाम स्वर्णमान सुरक्षा निधि रखा गया ।

इस प्रकार लंदन में स्वर्णमान सुरक्षा निधि तथा कागज़ी मुद्राचलन सुरक्षा निधि (लंदन शाखा) की स्थापना की गई ।

सन् १९०६ में स्वर्णमान सुरक्षा निधि की एक भारतीय शाखा की स्थापना की गई। इसको रुपयों के सिक्कों में रखा जाना था । अल्पकालिक सूचना पर होने वाले रुपये की मांग को पूर्ण करने तथा विनिमय दर को एक शिलिंग ४ पेंस से अधिक न होने देने के लिए इसको भारत में बनाने की आवश्यकता हुई । रुपये के सिक्के ढालने से होने वाले लाभ को भारत में रुपयों के रूप में सुरक्षा निधि में डालकर उस कोष की स्थापना की गई । इसको लंदन में स्टर्लिंग में परिवर्तित करने से अच्छा समझा गया । इस समय सर्वप्रथम सुरक्षा निधि की इन दोनों शाखाओं के लिए स्वर्णमान "सुरक्षा निधि" नाम का उपयोग किया गया । इनमें से एक भारत में रुपयों के रूप में थी और दूसरी लंदन में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में थी ।

उच्चतर स्वर्ण-अंक (Upper Specie Point) **निश्चित किया गया ।** इसी बीच में एक और बात हो गई। भारत से जहाज़ द्वारा (भारत में कागज़ी मुद्राचलन सुरक्षा निधि से लंदन की सुरक्षा निधि) लंदन को सोना भेजने के कार्य को अनावश्यक रूप से व्ययसाध्य पाया गया। यह अनुभव किया गया कि इस व्यय को भारत में रुपये के बदले में लंदन में सोना ले लेने की प्रणाली द्वारा बचाया जा सकता है । अतएव, सन् १९०४ में भारत सचिव ने घोषणा की कि वह उन हुंडियों को, जिन्हें कौंसिल ड्राफ्ट या कौंसिल बिल कहा जाता था, निसीम परिमाण में १ शिलिंग ४ १/८ पेंस की दर पर बेचेंगे, लंदन से स्वर्ण निर्यात का बिन्दु यही था । इस बीच भारत सचिव की इन हुण्डियों की बिक्री से लंदन में चांदी मोल लेकर भारत को रुपये ढालने के लिए भेज दी जाती थी । तो भी, कुछ सोना मिस्र तथा आस्ट्रेलिया से भारत आता रहा और उसको समय-समय पर जहाज़ द्वारा लंदन भेजा जाता था । इस व्यय को भी बचाने के लिए सन् १९०५ में यह निश्चय किया गया कि मिस्र या आस्ट्रेलिया से भारत स्वर्ण-मुद्राओं के विरुद्ध इस माल को तार द्वारा परावर्त्तन कर लिया करे ।

इस प्रकार रुपये-स्टर्लिंग विनिमय के उतार-चढ़ाव की उच्चतर सीमा १ शिलिंग ४ १/८ पेंस निश्चित हो गई । जब तक भारत सचिव अपनी हुण्डियों (Council Bills) को उस मूल्य पर बेचने को सहमत रहते थे, विनिमय दर इस बिन्दु से ऊपर नहीं जा सकती थी, तो भी विनिमय दर भारत से स्वर्ण निर्यात बिन्दु से नीचे गिर गई, किन्तु सामान्य रूप से भारत का व्यापारिक संतुलन अनुकूल होने के कारण इस प्रकार के संयोग की संभावना को अत्यधिक कम समझा जाता था ।

निम्नतर स्वर्ण-अंक (Lower Specie Point) **निश्चित किया गया।** तो भी इस प्रकार का आकस्मिक संयोग १९०७ में उपस्थित हुआ। १९०७ की ग्रीष्म ऋतु में वर्षा कम होने, संसार भर में सामान्य आर्थिक तंगी के साथ-साथ १९०७ के पतझड़ में अमरीकी आर्थिक संकट के कारण भारतीय विनिमय अत्यन्त निर्बल हो गया। उसका भाव गिरते-गिरते २३ नवम्बर को १ शिलिंग ३२३/३२ पैंस हो गया। विनिमय की इस स्थिति में तब तक सुधार नहीं हुआ, जब तक भारत सरकार तार-परावर्त्तनों द्वारा लंदन में स्टर्लिंग हुण्डियों को वेचने को तैयार न हो गई, जिनका मूल्य बाद में अन्तिम रूप से १ शिलिंग ३२९/३२ पैंस निश्चित हो गया। यह भारत से स्वर्ण निर्यात का अंक (Gold Export Point) था। इन हुण्डियों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए स्वर्णमान सुरक्षा निधि से ८० लाख पौंड से भी अधिक रकम निकाली गई। बाद में इन हुण्डियों को भारत सरकार की हुण्डियां (Reverse Council Bills) कहा गया।

सरकार पर परिस्थिति वश थोपे गए इन कार्यों के वास्तविक परिणामस्वरूप एक ऐसी प्रणाली का विकास हुआ, जिसको साधारणतया स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) कहा जाता है। यह वह प्रणाली नहीं थी, जो भारत सरकार का मौलिक उद्देश्य था तथा जिसके सम्बन्ध में फाउलर कमेटी ने सुझाव दिया था, अर्थात् वह मुद्राचलन के साथ स्वर्णमान था।

६. मुख्य विशेषताएं। नई प्रणाली की मुख्य विशेषताएं यह थीं :—

(१) नोटों तथा रुपयों वाला आंतरिक चलअर्थ (Currency) यद्यपि एक सांकेतिक मुद्रा था, किन्तु वह भी मूल्य का मान था, कुछ छोटे सहायक सिक्के भी थे, जो सीमित विधिग्राह्य थे। परिमित संख्या में सावरेन (स्वर्ण-मुद्रा) भी बाजार में चल रहे थे।

(२) रुपये को केवल विदेशी उद्देश्यों के लिए हैं एक रुपये के १६ पैंस की दर पर स्वर्ण में बदला जा सकता था।

(३) रुपये के स्टर्लिंग (स्वर्ण) मूल्य को भारत सचिव की हुण्डियों (Council Bills) की बिक्री द्वारा १ शिलिंग ४१/८ पैंस (उच्चतर स्वर्ण-अंक) से लेकर भारत सरकार की हुण्डियों (Reverse Council Bills) की बिक्री द्वारा १ शिलिंग ३२९/३२ पैंस निम्नतर स्वर्ण-अंक तक नियमित किया जाता था।

इस प्रणाली को चालू रखने के लिए दो सुरक्षा निधियों को रखना पड़ता था। इनमें एक भारत में मुख्य रूप में रुपयों में रखी जाती थी, तथा दूसरी लंदन में स्टर्लिंग में रखी जाती थी। भारतीय सुरक्षा निधि का निर्माण (क) कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि के भारतीय भाग, (ख) स्वर्णमान सुरक्षा निधि की चांदी शाखा, तथा (ग) सरकारी खज़ाने के बकाया धन से किया जाता था। लंदन की सुरक्षा निधि का निर्माण, (क) कागजी चलअर्थ की लंदन शाखा, (ख) स्वर्णमान सुरक्षा निधि तथा (ग) भारतसचिव के बकाया धन से किया जाता था। इन सुरक्षा निधियों का निर्माण पृथक् पृथक् उद्देश्यों से किया जाता था, किन्तु व्यवहार

में उनको आवश्यकता पड़ने पर विनिमय की सहायता के लिए उपलब्ध किया जा सकता था।

यह प्रणाली प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) में टूट जाने तक अत्यन्त सुचारू रूप से चलती रही। इस बीच में उसको चैम्बरलेन कमीशन का समर्थन भी प्राप्त हो गया।

७. चैम्बरलेन कमीशन। अप्रैल १९१३ में श्री आस्टिन चैम्बरलेन की अध्यक्षता में चैम्बरलेन कमीशन नियुक्त किया गया था। उसको भारतीय मुद्राचलन तथा विनिमय के यंत्र की जांच करके उसके सुधार के लिए सुझाव देने का कार्य सौंपा गया था। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट फरवरी १९१४ में दी। इसमें उसने सरकार द्वारा विनिमय को स्थिर करने के लिए अपनाये गए विभिन्न उपायों का समर्थन किया। उसकी यह निश्चित राय थी कि स्वर्ण विनिमय मान न केवल कार्य रूप में परिणत करने योग्य था वरन् वह भारतीय स्थिति के मुख्य रूप से अनुकूल था, क्योंकि इस देश में पूर्ण विकसित बैंकिंग प्रणाली का अभाव था तथा वह सस्ता भी था। भारतीय जनता की स्वर्ण एकत्रित करने की आदत के कारण उनकी फाउलर कमीशन की सम्मति के विरुद्ध यह राय थी कि स्वर्ण चलअर्थ के साथ भारत में स्वर्णमान स्थापित करना एकदम अनुचित है। सिद्धांत रूप में वह इसके विरुद्ध नहीं थे कि भारत की टकसालों में स्वर्ण-मुद्राओं तथा अर्द्ध-स्वर्ण-मुद्राओं को ढाला जाय। किन्तु इसमें यह शर्त थी कि भारतीय जनता मौलिक रूप में उनकी मांग करे और सरकार उसके व्यय को उठाने को सहमत हो। कमीशन ने इस प्रणाली में कुछ छोटे-मोटे परिवर्त्तनों का भी सुझाव दिया था। उनमें से एक था भारत सरकार की भारतसचिव पर हुण्डियों (Reverse Council Bills) को तुरन्त बेच देना तथा स्वर्णमान सुरक्षा निधि की चांदी शाखा को बन्द कर देना। उन्होंने लंदन में स्वर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की पर्याप्त सुरक्षा निधि के रखे जाने की आवश्यकता पर बल दिया, जिससे आंतरिक चलअर्थ को बाह्य चलअर्थ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय चलअर्थ में बदला जा सके। किन्तु इस कमीशन के प्रस्तावों पर सरकार पूर्णतया तथा ठीक-ठीक विचार भी नहीं कर पाई थी कि युद्ध आरंभ हो गया और भारत की चलअर्थ प्रणाली गड़बड़ में पड़ गई।

८. स्वर्ण विनिमय मान का टूटना। प्रथम महायुद्ध अगस्त १९१४ में आरम्भ हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता के हृदय में से विश्वास जाता रहा और उसने नोटों के बदले नकद रकम लेने तथा बैंकों से अपनी जमा पूंजी को निकालने के लिए बैंकों पर अत्यधिक दबाव डाला। विनिमय भी इस समय निर्बलता के चिह्न प्रगट कर रहा था, किन्तु सरकार ने नोटों के बदले में पर्याप्त नकदी देकर तथा सेविंग्स बैंक खाते से जमा रकमों को निकालने की पर्याप्त सुविधा देकर जनता के हृदय में फिर विश्वास उत्पन्न कर लिया। विनिमय को पुष्ट करने के लिए नव्वे लाख पौंड की भारत सरकार की भारतसचिव के नाम हुण्डियां (Reverse Council Bills) बेची गईं।

तो भी वास्तविक संकट १९१६ में आरम्भ हुआ, जिससे अंततः स्वर्ण विनिमय मान

पूर्णतया टूट गया। इस प्रणाली की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सरकार विनिमय की स्थिरता को बनाये रखने में समर्थ होती। किन्तु सरकार ऐसा नहीं कर सकी, क्योंकि रुपये की एक अत्यधिक मांग ऐसे समय में आई जब कि चांदी का मूल्य अभूतपूर्व स्तर तक चढ़ रहा था।

रुपये के लिए अत्यधिक मांग के कारण यह थे—(१) आयात की अपेक्षा अत्यधिक निर्यात करना। अनुकूल व्यापारिक संतुलन में वृद्धि के कारण यह थे—(क) जहाज़ों की कमी के कारण आयातों का कम होना तथा युद्ध की अन्य स्थितियां, और (ख) ब्रिटेन तथा उसके मित्रराष्ट्रों द्वारा युद्ध उद्देश्यों के लिए भारतीय सामग्री की अधिकाधिक मांग होते रहने के कारण निर्यातों का बढ़ जाना ;

(२) युद्ध के पूर्वी क्षेत्र में लगी हुई सेनाओं के लिए खर्च तथा माल की कीमत का भुगतान करने की आवश्यकता के कारण चलअर्थ की मांग और भी अधिक बढ़ गई ;

(३) इसके अतिरिक्त उपनिवेशों, अधीन देशों तथा अमरीका की ओर से भारत में मोल लिये जाने वाले माल का मूल्य देने के लिए भी रुपये की आवश्यकता थी।

(४) अनुकूल व्यापारिक संतुलन को प्रतिकूल बनाने के लिए युद्धकालीन प्रतिबंधों के कारण चांदी का आयात नहीं किया जा सकता था, अतएव रुपये की मांग और भी अधिक बढ़ गई।

रुपये की इस बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए सरकार को अत्यन्त ऊंचे मूल्य पर चांदी मोल लेनी पड़ी। चांदी का मूल्य २७ पैंस प्रति औंस से बढ़कर १९१६ में ४३ पैंस हो गया। यह मूल्य अपनी कहानी आप ही कह रहा है, क्योंकि इस मूल्य पर रुपया सांकेतिक मुद्रा नहीं रह पाता (विनिमय मूल्य अमुद्रित रौप्य पिण्ड के मूल्य के बराबर हो जाता है)। १९२० में चांदी का मूल्य चढ़कर ८९ पैंस प्रति औंस हो गया।

चांदी के मूल्य में इतनी अधिक तेज़ी आने के कारण यह थे : (१) चांदी का कम मिलना, (२) मुख्य रूप से चांदी की मुद्रा के लिए चांदी की मांग अधिक होने के कारण, (३) मार्च १९१९ में स्टर्लिंग-डालर विनिमय का सम्बन्ध टूट जाने के कारण डालर की अपेक्षा स्टर्लिंग का मूल्य घट जाना।

चांदी के मूल्य की इस तेज़ी का प्रभाव भारतीय विनिमय पर अत्यन्त भयंकर पड़ा। अगस्त १९१७ से रुपया सांकेतिक मुद्रा नहीं रहा। जनता को रुपये को गलाकर उसकी चांदी बेच लेने में अधिक लाभ था। अतएव सरकार के लिए चांदी को चढ़ते हुए नये भाव पर मोल लेना और बिना हानि उठाए हुए उसको १ शिलिंग ४ पेंस की दर पर देते रहना संभव नहीं रहा। इसके अतिरिक्त जनता द्वारा रुपयों को गलाने की प्रवृत्ति बढ़ जाने के कारण नये-नये ढाले हुए रुपये बाजार से गायब होते जाते थे।

२८अगस्त १९१७ को भारत सचिव ने तार द्वारा परावर्त्तनों की दर को १ शिलिंग ४$\frac{1}{2}$ पेंस से बढ़ाकर १ शिलिंग ५ पेंस कर दिया, साथ ही यह भी घोषणा की गई कि

चांदी के मूल्य में परिवर्त्तन के अनुसार रुपये के मूल्य में भी परिवर्त्तन किया जायगा। वास्तव में यह रजत-मान[1] को फिर लागू करने जैसा था।

इस प्रकार (Telegraphic Transfers) तार से परावर्त्तनों की दर में समय-समय पर परिवर्त्तन किया जाता रहा, यहां तक कि १२ दिसम्बर, १९१९ को वह २ शिलिंग ४ पेंस तक पहुंच गया। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए सरकार ने निम्न प्रकार के कुछ और उपायों का अवलम्बन किया :

(१) **विनिमय का नियंत्रण**—भारतसचिव ने अपनी हुण्डियों (Council Drafts) की बिक्री को २० दिसम्बर १९१६ को २० लाख रुपये से लेकर १२० लाख रुपयों के अन्दर-अन्दर परिमित कर दिया। यह रुपये के भुगतान की आवश्यकता को कम करने के लिए था।

(२) **चांदी की खरीद**—व्यक्तिगत हिसाब में चांदी के आयात को बन्द कर दिया गया और सरकार ने अमरीका में सिक्का बनाने के लिए चांदी भारी मात्रा में खरीदी।

(३) **चांदी बचाने के लिए बरते गए कुछ उपाय**—सिक्कों के कार्यों के अतिरिक्त सोने तथा चांदी के प्रयोग को अन्य सब कार्यों के लिए कानून-विरुद्ध घोषित कर दिया गया। चांदी के सिक्कों तथा अमुद्रित चांदी की सिलों के निर्यात पर रोक लगा दी गई। अढ़ाई रुपये तथा एक रुपये के नोट चलाए गए, निकल की रेज़गारी के सिक्के भी चलाए गए।

(४) **सरकार ने आयात किये हुए सभी सोने को मोल ले लिया**—और उसको कागज़ी चलअर्थ सुरक्षा निधि में जमा करके उसके विरुद्ध नोट निकाले।

(५) **आर्थिक उपायों में**—जो चलअर्थ की कठिनाई को दूर करने के लिए अपनाये गए, यह थे—अतिरिक्त कर का लगाया जाना, प्रधान खर्चों में कटौती तथा भारत में विशाल परिमाण में ऋणों का लिया जाना।

किन्तु इस प्रकार के अत्यन्त मूल्यवान् उपायों को अपनाने पर भी सरकार विनिमय की कृत्रिम स्तर पर रक्षा नहीं कर सकी और इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान टूट गया।

८. स्मिथ कमेटी। युद्ध समाप्त होने पर मई १९१९ में सर बाबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में एक चलअर्थ कमेटी का निर्माण किया गया। चांदी के मूल्य में अभी हाल के उतार-चढ़ावों को ध्यान में रखते हुए तथा चांदी के भाव की भावी गति पर विचार करते हुए इस कमेटी ने २ शिलिंग (स्वर्ण) का अनुपात रखने का प्रस्ताव किया, क्योंकि इस भाव पर रुपया एक सांकेतिक मुद्रा बना रह सकता था। ऊंचा अनुपात रखने से अन्य लाभ होने की भी आशा थी, जो यह हो सकते थे: (१) इससे आयात की सामग्री तथा मशीनें सस्ती हो जाँयगी, फिर भी उससे हमारे निर्यात कम नहीं होंगे। क्योंकि सामग्री तथा खाद्य

---

१. Vakil and Muranjan—Currency and Prices in India, p. 112.

पदार्थों की सर्वव्यापी कमी होने के कारण भारतीय उत्पादनों की विश्व बाजार में भारी मांग थीं; (२) इससे सरकारी आय बढ़ जाती, क्योंकि इसके फलस्वरूप भारत द्वारा घरेलू व्ययों (Home Charges) के रूप में ब्रिटेन में किये जाने वाले खर्च में लगभग १२ करोड़ की कमी हो जाती।

कमेटी ने इसके अतिरिक्त यह भी प्रस्ताव किया कि बम्बई में एक टकसाल खोली जाय, जहां जनता के लिए सावरन तथा अर्द्ध-सावरेन के सिक्के ढाले जाँय। उसने यह भी प्रस्ताव किया कि स्वर्ण आयात-निर्यात पर सब प्रकार के प्रतिबंधों को हटा दिया जाय तथा व्यापारियों को व्यक्तिगत रूप में चांदी का आयात करने दिया जाय। उन्होंने यह भी प्रस्ताव किया कि स्वर्णमान सुरक्षा निधि में पर्याप्त स्वर्ण रखा जाना चाहिए और स्वर्ण रक्षा निधि के ५० प्रतिशत भाग को भारत में रखा जाना चाहिए। इस कमेटी के एकमात्र भारतीय सदस्य श्री डी. एम. दलाल ने अपने मतभेद पत्र में १ शिलिंग ४ पेंस की दर को ही पसंद किया तथा यह भी सुझाव दिया था कि चांदी के मूल्य चढ़ जाने पर कम चांदी डाल कर दो रुपये के सिक्के ढाल कर चलाए जाँय। सरकार ने बहुमत के मुख्य-मुख्य सुझावों को स्वीकार कर लिया।

१०. दो शिलिंग का अनुपात। नया भाव २ फरवरी १९२० से उस समय अपनाया गया, जब भारतसचिव ने एक रुपये का मूल्य ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण नियत की। दो शिलिंग का भाव अधिक समय तक नहीं चला। उसने स्वर्ण का भाव प्रति तोला १५।।।=) निश्चित कर दिया, जबकि वास्तव में उस समय स्वर्ण का बाज़ार भाव २२।।) था। अतएव सरकार के लिए एक रुपये के दो शिलिंग (स्वर्ण) भाव से स्टर्लिंग देते रहना कालान्तर में असंभव हो गया। १९१९ के बाद व्यापारिक संतुलन भारत के प्रतिकूल हो जाने के कारण स्टर्लिंग की मांग और भी अधिक बढ़ गई। इसके अतिरिक्त विनिमय में सट्टा चल रहा था, लोगों ने रुपये के बदले में इस आशा से स्टर्लिंग मोल लेना आरम्भ कर दिया था कि बाद में विनिमय की दर गिरने पर वह स्टर्लिंग के रुपये बनाकर लाभ कमाएंगे। यूरोपीय समाज ने भी नये अनुकूल भाव पर इंग्लैण्ड को रुपया भेजकर लाभ कमाया और इसी प्रकार विदेशी माल के आयातकर्त्ताओं ने अपने आयातों का तुरन्त भुगतान करके फायदा उठाया। इन सब कारणों से स्टर्लिंग की मांग अधिकाधिक बढ़ती गई।

स्टर्लिंग का भाव स्वर्ण की तुलना में पौंड से मंदा होने के कारण सरकार को स्टर्लिंग के बदले में दो शिलिंग से भी अधिक देना पड़ता था। इस प्रकार जबकि सरकार स्टर्लिंग को एक रुपये के लगभग ३ शिलिंग भाव से बेच रही थी तो उसका वास्तविक बाज़ार भाव बहुत कम था। स्टर्लिंग को रुपये की अपेक्षा उसकी विनिमय बाज़ार में अधिक मांग होने के कारण ही अधिक नहीं मांगा जाता था, वरन् इसलिए भी मांगा जा रहा था कि मूल्य भारत की अपेक्षा इंग्लैण्ड में अधिक तेजी से गिर रहे थे। सरकार ने विनिमय दर को प्रथम

२ शिलिंग स्वर्ण के भाव पर तथा बाद में २ शिलिंग स्टर्लिंग के भाव पर बनाए रखने का प्रयत्न किया किन्तु अन्त में यह सभी प्रयत्न असफल प्रमाणित हुए। २८ सितम्बर १९२० को सरकार ने लंदन में स्टर्लिंग की हुण्डियों का बेचना बन्द कर दिया, किन्तु इस समय तक भारत सरकार की भारतसचिव के नाम हुण्डियां (Reverse Council Bills) ५ करोड़ ५२ लाख पौंड की बेची जा चुकी थीं। इनका भुगतान लंदन में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों और कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि के कोष की हुण्डियों (Treasury Bills) को बेचकर किया गया। इन प्रतिभूतियों को एक पौंड के १५ रुपये भाव पर मोल लिया गया था और इनको प्रति पौंड ७ रुपये से लेकर १० रुपये तक के भाव पर बेचना पड़ा और इस प्रकार सरकार को ३५ करोड़ रुपये की कुल हानि हुई।

इसके फलस्वरूप विनिमय दर बराबर गिरती चली गई, यहां तक कि जुलाई १९२१ में वह गिरकर ११$\frac{९}{३२}$ पेंस स्वर्ण अथवा १ शिलिंग ३$\frac{१३}{३२}$ पेंस स्टर्लिंग हो गई। इस से भारत के विदेशी व्यापार पर भी भयंकर प्रभाव पड़ा।[1] अब सरकार ने विनिमय दर को विश्व परिस्थितियों के अनुसार चलने देना स्वीकार कर लिया, जिससे भारतीय मूल्यों में कोई अनुचित बाधा न आय। जनवरी १९२३ में विनिमय दर फिर ऊंची चढ़ने लगी। इसका कारण अनुकूल व्यापारिक संतुलन था। यहां तक कि अक्तूबर १९२४ में वह १ शिलिंग ४ पेंस स्वर्ण अथवा १ शिलिंग ६ पेंस स्टर्लिंग के स्तर तक पहुंच गया। उस समय सरकार पर दबाव डाला गया कि वह विनिमय को उसी दर पर स्थिर कर दे किन्तु सरकार ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। सरकार ने अप्रैल १९२५ में मुद्रा चलन की पूर्ति को सीमित करके विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेंस स्वर्ण तक चढ़ा दिया। इसके कुछ मास बाद समस्त परिस्थिति पर आलोचनात्मक विचार करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया।

११. सरकार की नीति की आलोचना की गई। विनिमय को उच्च दर पर स्थित करने और फिर उसको भारत को हानि पहुंचा कर भी उसी दर पर स्थिर रखने की सरकार की नीति की भारी आलोचना की गई। यह तर्क उपस्थित किया गया कि चांदी का मूल्य निश्चित रूप से अनिश्चित है और स्टर्लिंग-डालर दर की दशा भी ऐसी ही है। अतएव, सरकार को विनिमय दर निश्चित करने से पूर्व कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। इस अनिश्चितता के समय में विनिमय दर को अपना स्तर आप खोजने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए था।

इस बात को आगे से देख लेना सुगम था कि युद्ध के बाद आयातों में वृद्धि होना तथा निर्यातों में कमी होना अनिवार्य था। यूरोपीय लोग, जिन्होंने बड़े-बड़े लाभ उठाए थे—रुपया

---

१. G. D. Birla—Indian Currency in Retrospect (Kitabistan), p. 13.

अपने देश भेजने की सुविधाएं मांगते थे। इस सबका यह अर्थ था कि स्टर्लिंग की मांग बढ़ने वाली थी।

इसलिए, यदि अधिकारियों में थोड़ी भी सूक्ष्म बुद्धि होती तो उनको पूर्वतः दिखलाई दे जाता कि उनकी २ शिलिंग दर को भंग करने वाली शक्तियां अपना कार्य कर रही थीं। यदि विनिमय को अपना स्तर स्वयं खोजने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता तो वह उससे भी नीचे के अंक पर आकर टिकता और ऐसी दशा में वह निकट आने वाले प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन को ठीक करने में भी सहायता देता। इसके विरुद्ध उच्च विनिमय दर पर उसको जबर्दस्ती स्थिर रखने से उन शक्तियों के प्रभाव में अतिशयोक्ति उत्पन्न कर दी गई। सरकार की केवल दो शिलिंग दर चलाने के लिए ही आलोचना नहीं की गई, वरन् इस लिए भी की गई कि उसको यह स्पष्ट हो जाने पर भी कि ऐसा करना निराशाजनक कार्य होगा, सरकार उसको बनाये रखने के लिए आग्रहशील बनी रही।

सरकार उच्च विनिमय दर पर इस प्रकार क्यों चिपटी हुई थी? "उनकी (भारत कार्यालय की) इच्छा यह थी कि मुद्रासंकोचन उपायों द्वारा विनिमय को आगे धकेला जाय, जिससे वह आयातों में सहायक सिद्ध हो सके।"[1] इस प्रकार उस समय सरकार की नीति का पथप्रदर्शन ब्रिटिश स्वार्थों द्वारा किया जा रहा था। विचार यह था कि अंग्रेजी द्रव्य की अपेक्षा भारतीय रुपये का मूल्य बढ़ाकर भारत में ब्रिटिश आयातों को प्रोत्साहन दिया जाय। मिस्टर ऐंस्कफ (Mr. Ainscough) ने कहा है कि "उच्च विनिमय ब्रिटिश निर्माता को भारत में उसके प्रतिद्वंद्वी की अपेक्षा अधिक अनुकूल स्थिति में कर देता है। अतएव, सब मिलाकर उसका भौतिक लाभ सबसे अधिक तभी बनता दिखलाई देता है, जब इस प्रकार की परिस्थिति में विनिमय दर को यथासंभव ऊंची से ऊंची दर पर बांध

---

१. "अप्रैल १९२० में प्रचलित २ शिलिंग ४ पेंस की विनिमय दर ऐसी गिरी कि वह बारह मास के अन्दर ही गिरकर १ शिलिंग ३ पेंस हो गई। विनिमय की यह स्थिति आयातकों के लिए अत्यन्त संकटमय थी। उनमें से अनेकों ने माल भेजने के आर्डर उस समय दिये थे, जब विनिमय दर ऊंची थी, आर्डर भेजते समय उन्होंने विनिमय दर के भाव को निश्चित भी नहीं किया था। अतएव माल आया तो वह तत्कालीन नीची दर पर माल लेने को या तो सहमत नहीं थे अथवा समर्थ नहीं थे। वर्ष के अन्त में भारतीय बंदरगाहें ऐसे आयात किये कपड़े की गांठों, मोटरकारों तथा अन्य वस्तुओं से भरी पड़ी थीं, जिनको माल मंगाने वालों ने बन्दरगाहों से नहीं उठाया था। गत वर्ष के विपरीत रुपया बाजार में से लगातार वापिस आ रहा था। यह व्यापार के साधारणतया रुक जाने का चिह्न था। (Report of the Controller of Currency for 1920-21).

दिया जाय।"[1] इसीलिए ब्रिटिश पत्रों द्वारा स्मिथ कमेटी की रिपोर्ट का इतनी अच्छी तरह से स्वागत किया गया था।

सरकार की नीति से भारत को तीन प्रकार से हानि पहुंची—(१) प्रथम महायुद्ध के समय (जैसाकि द्वितीय महायुद्ध में भी हुआ) भारतीय माल का भुगतान मित्रराष्ट्रों द्वारा माल द्वारा न किया जाकर स्टर्लिंग के उधार खाते के रूप में किया गया। सरकार नें २ शिलिंग दर को बनाये रखने के प्रयत्नों में लगभग २ करोड़ ४० लाख पौंड मूल्य के इस एकत्रित स्टर्लिंग को उड़ा दिया। (२) उच्च विनिमय से आयातों के बढ़ जाने के कारण भारतीय उद्योगधंधों पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ा। (३) सरकार के विनिमय दर को उसके स्वाभाविक स्तर तक गिरने देने के आकस्मिक निर्णय से अनेक ऐसे भारतीय आयातकर्त्ता बरबाद हो गए, जिन्होंने विदेशी माल का उच्च विनिमय दर पर आर्डर दिया था और जिनको अब रुपये के रूप में अपनी आशा से दुगने से अधिक रकम देनी पड़ रही थी। सरकारी नीति इंग्लैण्ड को भौतिक लाभ पहुंचा सकती थी, किन्तु भारतीय व्यापारियों को नहीं।

---

१. Mr. Ainscough's Report on British Trade in India, etc. quoted by Brij Narain in Indian Economic Problems, Part I. p. 213.

अट्ठाईसवां अध्याय

मुद्राचलन और विनिमय (गत अ० से आगे)

१९२६ से १९३९

१. स्वर्ण-विनिमय मान की त्रुटियां। २५ अगस्त १९२५ को लेफ्टिनेंट कमांडर हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक शाही कमीशन की स्थापना करके उसको यह काम सौंपा गया कि वह भारतीय मुद्राचलन प्रणाली का अध्ययन करके उसके विषय में रिपोर्ट दे। इस कमीशन से यह आशा की गई कि वह इस बात पर विचार करे कि भारतीय मुद्राचलन प्रणाली में भारतीयों के स्वार्थ की दृष्टि से कोई सुधार किया जा सकता है अथवा नहीं।

कमीशन को भारत में प्रचलित स्वर्ण विनिमय मान में निम्नलिखित त्रुटियां मिलीं—

"(१) प्रणाली सरल नहीं है और रुपये की स्थिरता के आधार को अशिक्षित जनता तुरन्त नहीं समझ सकती, चलअर्थ में दो सांकेतिक मुद्राएं (रुपये के सिक्के तथा रुपये के नोट) बाज़ार में हैं। उनके साथ एक व्यर्थ की पूर्ण मूल्य की फालतू स्वर्ण मुद्रा (सावरेन) को भी लगाया हुआ है, जो बाज़ार में बिल्कुल नहीं चलती। सांकेतिक चलअर्थ का एक रूप (जिसमें एक-दूसरे में बदले जाने की असीमित दायित्व है) अत्यधिक खर्चीला है। यदि चांदी का मूल्य एक निश्चित स्तर से ऊपर चला जाय तो वह बाज़ार से गायब भी हो सकता है।

"(२) साख तथा चलअर्थ की नीति पर नियंत्रण के लिए दो-दो सुरक्षा निधियों का बोझा बनाया हुआ है, जिससे उत्तरदायित्व का विभाजन अत्यन्त प्राचीन तथा भयंकर रूप से किया जा रहा है।

"(३) इस प्रणाली से चलअर्थ का स्वयंचलित संकोच तथा विस्तार नहीं हो पाता। इस प्रकार की गतियां पूर्णतया मुद्राचलन अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर होती हैं,

"(४) इस प्रणाली में लोच नहीं है। बाबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफारिश पर जिस लोच का प्रबन्ध[1] किया गया था, उसकी उपयोगिता पर भारतीय व्यापार में धन लगाने की प्रणालियों द्वारा प्रभाव होता है।"[2]

२. स्वर्ण बुलियन-मान। (Gold Bullion Standard) कमीशन का कार्य त्रिमुखी था: (१) उसको भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त एक चलअर्थ

---

१. देखो, अगला अध्याय।

२. हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट, १९२६, पैरा २१.

प्रणाली के सम्बन्ध में प्रस्ताव करना था, (२) उस अनुपात के सम्बन्ध में प्रस्ताव करना था, जिसपर रुपये को स्टर्लिंग के साथ स्थिर रूप से जोड़ा जाना था, और (३) एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना के लिए किये जाने वाले उपायों के सम्बन्ध में सुझाव देने थे। कमीशन ने प्रस्ताव किया कि भारत की चलअर्थ प्रणाली के लिए स्वर्ण बुलियन-मान प्रचलित किया जाय। विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस रखी जाय, तथा केन्द्रीय बैंक का समस्त कार्य करने के लिए 'भारतीय रिज़र्व बैंक' के नाम से एक केन्द्रीय बैंक खोला जाय। रिज़र्व बैंक की योजना पर हम एक पृथक् अध्याय में विचार करेंगे। अन्य दोनों प्रस्तावों के सम्बन्ध में यहां विचार किया जाता है।

स्वर्ण बुलियन-मान के सम्बन्ध में अन्तिम प्रस्ताव उपस्थित करने से पूर्व कमीशन ने इस सम्बन्ध में अन्य संभावनाओं (१) स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने तथा (२) स्वर्ण चलअर्थ के साथ मुख्य स्वर्ण मान को अपनाने के सम्बन्ध में भी विचार किया। किन्तु इन सभी विकल्पों को अस्वीकार कर दिया गया,[1] उन्होंने स्वर्ण चलअर्थ के बिना 'स्वर्णमान' अथवा 'अमुद्रित स्वर्णमान' का प्रस्ताव किया। इस विषय में कमीशन ने लिखा।

---

१. इन प्रणालियों को अस्वीकार करने के कारण यह थे :—

(क) **स्टर्लिंग विनिमय-मान**—भले ही इसमें स्वर्णमान सुरक्षानिधि तथा कागज़ी चलअर्थ सुरक्षानिधि को मिलाकर तथा चलअर्थ अधिकारियों पर विधि द्वारा निर्धारित (Statutory) उत्तरदायित्व इस प्रकार लगा कर कि वह रुपये को आवश्यकता पड़ने पर उच्चतर स्वर्ण अंक पर तथा स्टर्लिंग को निम्नतर स्वर्ण-अंक पर यथेष्ट मात्रा में बेच सकें, इस मान को पूर्ण कर लिया जाय। कमीशन की सम्मति में इस प्रणाली में तब भी भयंकर त्रुटियां रह जातीं, जो यह हैं:—रुपये के भाव पर चांदी की तेज़ी तथा मंदी का बराबर प्रभाव पड़ता रहता, रुपया स्वर्ण के साथ बंधा होने के कारण स्टर्लिंग का सेवक के समान अनुगमन करता रहता और उसका भाव स्टर्लिंग के भाव के गिरने के साथ गिर जाता, जिसके फलस्वरूप भारत में मूल्य बढ़ जाते। किसी एक देश के मुद्राचलन के अधीन भारत का रहना लाभकर नहीं हो सकता, फिर भले ही वह चलअर्थ कितना ही दृढ़ क्यों न हो। (पैरा २५)

(ख) **स्वर्ण विनिमय-मान**—इससे स्वर्ण की तुलना में रुपया स्थिर हो जायगा, किन्तु इसमें तब भी कुछ इस प्रकार की त्रुटियां—चांदी के मूल्य चढ़ने का वही खतरा, सरलता का अभाव, गत अनुभव के कारण जनता के मन में अविश्वास, सांकेतिक चलअर्थ के लिए अनजाना सहारा तथा परिवर्तनशीलता का अधिकार आदि लुके-छिपे रूप में बने ही रहेंगे। चलअर्थ की सम्पुष्टि निश्चित, सादा तथा ठोस होनी चाहिए। (पैरे २९ से ३१ तक)

(ग) **स्वर्ण मुद्राचलन के साथ स्वर्ण-मान**—भारत द्वारा स्वर्ण की अधिक खपत

"इस प्रकार का वास्तविक स्वर्णमान प्रचलित किया जा सकता है, जिसके अधीन चलअर्थ का आधार वास्तव में, और एक ढंग से प्रत्यक्ष रूप में दिखलाई देने वाला स्वर्ण हो किंतु स्वर्ण को बाज़ार में चलाना भी न पड़े।..... इस प्रस्ताव का सार......यह है कि भारत में बाज़ार के चलन का साधारण माध्यम आजकल के समान करेंसी नोट और चांदी का रुपया ही बना रहे और चलअर्थ की स्थिरता को स्वर्ण की अपेक्षा इस प्रकार सुरक्षित कर दिया जाय कि चलअर्थ को सभी कार्यों के लिए स्वर्ण में सीधे तौर से बदला जा सके। किन्तु स्वर्ण सिक्के के रूप में बाज़ार में न चले। उस को न तो बाज़ार में आरम्भ में चलने दिया जाय, न उसके बाज़ार में कभी भी चलने की आवश्यकता है।" (पैरा ५४)

इस प्रकार इस प्रणाली की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

(१) चलअर्थ अधिकारी (बन चुकने के बाद प्रस्तावित रिज़र्व बैंक और उससे पूर्व सरकार) को विधि द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य के अधीन ४०० शुद्ध औंस (=१०६५ तोले) सोने की छड़ों का क्रय तथा विक्रय करना होगा। स्वर्ण की बिक्री की शर्तें इस प्रकार निश्चित की जाँयगी कि साधारणतया चलअर्थ अधिकारी को द्रव्य सम्बन्धी उद्देश्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए स्वर्ण देने को नहीं कहा जायगा।

(२) सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन को विधिग्राह्य मुद्रा नहीं माना जायगा, रुपया पूर्ण विधि ग्राह्य मुद्रा बना रहेगा।

(३) जनता को तीन या पांच साल के लिए सेविंग्स सर्टिफिकेट दिये जाँयगे, जिनका रुपया जनता अपनी इच्छानुसार रुपये अथवा स्वर्ण में दे सकेगी। ऐसा करने का उद्देश्य

करने के परिणामस्वरूप संसार भर में स्वर्ण का मूल्य अत्यधिक गिर जायगा और साख में कमी उत्पन्न होगी, जिसकी भारत पर विश्व-व्यापार प्रणाली में एक इकाई के रूप में प्रतिकूल प्रतिक्रिया होगी, इससे स्वर्ण की मांग के परिमाण तथा समय का अनुमान करने में अनिश्चितता उत्पन्न होगी, यदि चांदी का स्वर्ण-मूल्य गिरा तो उसके परिणामस्वरूप व्यापारिक मंदी आयगी और भारतीय जनता के चांदी संग्रह का मूल्य गिर जायगा; चांदी का मूल्य गिर जाने के फलस्वरूप चीन देश भी चांदी के स्थान में स्वर्ण को अपना सकता है, इससे स्थिति और भी खराब हो जायगी, चीन का व्यापार अस्त-व्यस्त हो जायगा, इससे यूरोप में द्रव्य सम्बन्धी पुनर्निर्माण की प्रगति में बाधा आयगी, विश्व-मूल्यों में गड़बड़ी उत्पन्न होगी और भारत तथा शेष संसार को हानि पहुंचेगी। संयुक्त राष्ट्र अमरीका की तो परम्परा से चांदी में दिलचस्पी रहती है। अतएव वह इस नीति का समर्थन नहीं करेगा और उसकी सफलता के लिए अमरीका का समर्थन आवश्यक है। इस योजना में खर्चा भी बहुत बैठेगा। (पैरे ३५ से ५२ तक)

जनता के हृदय में नयी प्रणाली के प्रति विश्वास उत्पन्न करना था और संग्रहित धन को बाहर निकालना था।

(४) वर्तमान करेंसी नोट चलते रहेंगे और उनके बदले में रुपये मिल सकेंगे। यद्यपि कानूनी तौर से नये नोटों के रुपये देना अनिवार्य नहीं है, तो भी यह सुविधा जारी रहने दी जायगी।

(५) एक रुपये का नोट निकाल कर उसे पूर्ण विधिग्राह्य मुद्रा बना दिया जाय। उसके बदले में रुपये के सिक्के नहीं दिये जाँयगे।

(६) स्वर्णमान सुरक्षानिधि तथा कागज़ 'चलअर्थ' सुरक्षानिधि को मिला दिया जायगा।

इस प्रणाली से अनेक निम्नलिखित लाभ होने की आशा प्रगट की गई—

(क) मुद्राचलन को एक निश्चित दर पर स्वर्ण में परिवर्तित करने से इस प्रणाली से विनिमय में स्थिरता आ जायगी।

(ख) यह प्रणाली सरल तथा निश्चित थी और इस प्रकार यह जनता का विश्वास प्राप्त कर सकती थी।

(ग) जब रुपये के सिक्कों तथा नोटों के बदले में स्वर्ण दिया जायगा तो चलअर्थ स्वयं ही फैलेगा और जब स्वर्ण के बदले में रुपये तथा नोट दिये जाँयगे तो चलअर्थ का संकोचन होगा।

(घ) सस्ता स्वर्ण सुरक्षानिधि में रहेगा और बाज़ार में नहीं आयगा।

(ङ) यह ऐसे भावी समय के लिए, जब पर्याप्त स्वर्ण जमा हो जाय, स्वर्ण चलअर्थ चलाने के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा।

इसके विपरीत स्वर्ण बुलियन-मान (Gold Bullion Standard) की निम्नलिखित कारणों से आलोचना की गई :—

(क) साधारण व्यक्ति के लिए स्वर्ण का आधार न तो देखने और न स्पर्धा करने योग्य था, केवल बड़े-बड़े बैंकर तथा बुलियन के दलाल ही ४०० औंस (१,०६५ तोले) की सोने की छड़ों को मोल ले सकते थे।

(ख) यह लोग भी चलअर्थ अधिकारियों से सोना लेना साधारणतया लाभकर[1] नहीं मानते थे, और न उनकी ऐसा करने की इच्छा थी।

---

१. एक शिलिंग ६ पेंस (स्वर्ण) की दर पर सोने का मूल्य २१ रुपये ३ आने १० पाई बैठता था, और उसी दर पर चलअर्थ अधिकारी सोना बेचते थे। यदि विनिमय दर १ शिलिंग ६$\frac{३}{१६}$ पेंस (उच्चतर स्वर्ण अंक) अथवा अधिक होती तो उसका प्रति तोला भाग रुपयों में २१ रुपये ३ आने १० पाई से कुछ कम बैठता। ऐसी स्थिति में जनता सोना बाजार से मोल लेती, जहां वह चलअर्थ

चलअर्थ अधिकारियों को सोना मोल लेना तभी लाभकर था, यदि उसकी विदेशों में भुगतान करने को आवश्यकता पड़ती। "जहां तक रुपया रखने वाले साधारण व्यक्ति का सम्बंध था, वह उनको सोने के रूप में नहीं बदल सकता था और उसको बाजार से ही आज-कल के समान सोना मोल लेना पड़ता था।"[1]

इस प्रकार यह कहा गया कि स्वर्ण विनिमय प्रणाली तथा कमीशन के अमुद्रित स्वर्ण मान में कोई विशेष अन्तर नहीं था। केवल निर्यात के लिए स्वर्ण का क्रय तथा विक्रय विधि द्वारा अनिवार्य बना दिया गया था। भारतीय जनपक्ष अब भी पहिले के समान स्वर्ण चलअर्थ[2] के साथ पूर्ण विकसित स्वर्णमान के पक्ष में था।

अधिकारियों की अपेक्षा कुछ सस्ता मिलता। "जब विनिमय दर उच्चतर स्वर्ण बिन्दु से नीचे होती तो स्वर्ण का विक्रय मूल्य २१ रुपये ३ आना न होकर कुछ अधिक होता। ऐसी स्थिति में रिजर्व बैंक बम्बई के कार्यालय में विज्ञापित मूल्य पर सोना बेचता और यह मूल्य इस प्रकार निश्चित किये जाते कि बैंक साधारण परिस्थितियों में द्रव्येतर उद्देश्यों के लिए सोना देने के कार्य से बच जाता" (Brij Narain—Indian Economic Life, Past and Present).

१. Brij Narain—Indian Economic Life, p. 244.

२. भारतीय लोकमत द्वारा सदा ही भारत के लिए स्वर्ण चल अर्थ मान की आवश्यकता के लिए ज़ोर देने के कारण इस प्रणाली के पक्ष की मुख्य बातों को यहां दिया जाता है—

(क) यह स्वयंचालित होगी। मूल्यों तथा विनिमय को परिस्थिति के अनुसार स्वर्ण के स्वतन्त्रतापूर्वक आयात तथा निर्यात द्वारा संसार के साथ समानता पर रखा जायगा (किन्तु यदि जनता ने इस प्रकार आयात किये हुए स्वर्ण को एकत्रित करना आरम्भ किया तो ऐसा मामला नहीं हो सकेगा।)

(ख) इससे सोने को जोड़कर रखने की प्रकृति को निरुत्साहित किया जा सकेगा, (यंग कमीशन का ऐसा विचार नहीं था।)

(ग) इससे चलअर्थ की दृश्य तथा स्पृश्य सम्पुष्टि होने के कारण जनता में विश्वास उत्पन्न होगा।

(घ) जैसा कि १९०० से लेकर १९१४ तक आयात की हुई स्वर्ण-मद्राओं की खपत से प्रकट है कि जनता बाज़ार में सोने का चलन पसंद करती थी। भारत के विशेषज्ञों की सम्मति भी इसके अनुकूल थी।

(ङ) स्वर्ण चलअर्थ के बिना स्वर्णमान की ओर जाने के लिए स्वर्ण चल अर्थ एक आवश्यक विश्रामस्थल है। (चैम्बरलैन कमीशन की रिपोर्ट के पैरा ५६ तथा यंग कमीशन की रिपोर्ट के पैरा ३४,५६ तथा ५७ को भी देखो।)

और डाक्टर कैनन (Dr. Cannan) तथा डाक्टर ग्रेगरी (Dr. Gregory) जैसे विद्वानों ने यंग कमीशन के सामने अपनी गवाही में इसका समर्थन किया था।

३. अनुपात का प्रश्न। तो भी सबसे बड़ा वादविवाद १८ पेंस के विरुद्ध १६ पेंस के सम्बन्ध में था। भारतीय अर्थशास्त्र के इतिहास में इसको 'अनुपातों का युद्ध' कहा जाता है। Satya Deo Prasad Srivastava B.A. Sultanpur

हिल्टन यंग कमीशन ने १८ पेंस का प्रस्ताव किया था। उसने इसके कारण यह दिये थे। (क) इस दर पर भारत के मूल्य विश्वमूल्य के साथ बहुत कुछ समान स्तर पर आ चुके थे और (ख) मजदूरियां भी बहुत कुछ ठीक हो गई थी।

अतएव १६ पेंस पर फिर वापिस जाने का अर्थ था मूल्यों को फिर ठीक करने के कठिन समय को आमंत्रण देना। इससे सभी मूल्य दो आना रुपया बढ़ जावेंगे और इसके परिणामस्वरूप इससे मध्यश्रेणी वालों तथा उपभोक्ताओं पर आपत्ति आ जायगी तथा वास्तविक मजदूरों की मजदूरी भी कम हो जायगी। इससे भारत द्वारा ब्रिटेन में 'होम चार्जेज़' के नाम से किया जाने वाला खर्चा भी कम हो जायगा।

(ग) इसका ठेकों पर प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि उनमें से अधिकांश नये थे और उन्होंने ऐसे समय ठेके लिए थे, जब विनिमय दर एक शिलिंग ६ पेंस था अथवा १६ पेंस के अनुपात का चलन बंद हो चुका था। इसमें सन्देह नहीं कि १ शिलिंग ४ पेंस अनुपात के समय भूमि का राजस्व प्रायः स्थानों में निश्चित हो चुका था, किन्तु उस समय से मूल्यों के पर्याप्त रूप में चढ़ जाने के कारण इस खर्च का बोझ भी साथ ही साथ हल्का हो गया था।

इन युक्तियों की आलोचना में यह बात उल्लेखनीय है कि कमीशन ने यह स्वयं स्वीकार किया था कि उन्होंने मजदूरियों तथा मूल्यों का समन्वय करने के लिए जिस अंक-सामग्री के आधार पर परिणाम निकाले थे, वह विश्वसनीय नहीं थी। और भारत जैसे देश में, जहां आर्थिक संघर्ष अत्यधिक परिमाण में उपस्थित रहता है, मूल्यों के समन्वय के लिए एक वर्ष का समय बहुत कम है। कमीशन ने इस अनुपात के प्रभाव को 'होम चार्जेज़' के ऊपर बढ़ा-चढ़ा कर बतलाते हुए यह भी स्वीकार किया है कि यह निर्णायक नहीं है। इसके विरुद्ध उसने लम्बी अवधि वाले ठेकों, तथा कृषिजीवियों को होने वाली हानि पर पड़ने वाले प्रभाव को कम करके बतलाया है। कम आय वाले शिक्षितों (२१ प्रतिशत) के ऊपर संभवतः अधिक ध्यान दिया गया है और शेष (७९ प्रतिशत) की भलाई की ओर उनसे भी कम ध्यान दिया गया है।

इसके विरुद्ध भारतीय लोकमत तथा विशेषज्ञों की सम्मति विशेष रूप से १ शिलिंग ६ पेंस के विरुद्ध तथा १ शिलिंग ४ पेंस के पक्ष में थी। कमीशन के भारतीय सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने इस दृष्टिकोण को प्रगट किया था। उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि भारतीय मूल्य १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर विश्व मूल्यों के समान स्तर पर

आ गए है और उस समय भी यह अनुपात विदेशी निर्यात को अप्रत्यक्ष रूप से १२½ प्रतिशत लाभ देते हुए भारतीय उद्योगधंधों पर भारी दबाव डाल रहा था। इसका अर्थ यह था कि भारत के ऋणग्रस्त लोगों पर, जिनमें अधिकतर संख्या कृषिजीवियों की है—१२½ प्रतिशत का अतिरिक्त भार डाला जाता। उन्होंने बतलाया कि १ शिलिंग ४ पेंस के अनुपात में होम चार्जेज़ के रूप में भुगतान करने से जो हानि होगी, वह औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी समृद्धि के कारण बढ़ाकर मिलने वाले करों से कहीं अधिक परिमाण में पूरी हो जावेगी। इसमें संदेह नहीं कि मूल्य चढ़ने से श्रमिकों को कुछ हानि होगी किन्तु औद्योगिक समृद्धि के कारण उनको बराबर काम मिलते रहने से वह लाभ में रहेंगे। उन्होंने यह अंतिम रूप से प्रमाणित कर दिया था कि १ शिलिंग ४ पेंस के अनुपात पर फिर वापिस जाने से भारतीय कृषि और उद्योग-धन्धों को,और इसी कारण भारतीय जनता को व्यापक रूप में लाभ होगा। अन्य देश भी जब युद्ध पूर्व के अनुपात पर वापिस आ रहे थे, तो भारत क्यों न आय? सब कुछ मिला कर यह पता चलता था कि १ शिलिंग ४ पेंस के हिमायतियों का पक्ष अधिक प्रबल था। यदि १९२७ में अनुपात १ शिलिंग ४ पेंस पर स्थिर कर दिया जाता तो भारत को अत्यधिक आर्थिक लाभ हुआ होता; यद्यपि कुछ वर्षों के बाद उनके पक्ष के तर्क बलहीन हो गए और १ शिलिंग ६ पेंस के अनुपात के विरोधी केवल मृतक घोड़े को पीटते रहे। किन्तु १९२७ में १ शिलिंग ६ पेंस का अनुपात निश्चित करने का निर्णय निश्चय से गलत निर्णय था। देश की उसके बाद के वर्षों की आर्थिक दशा इस बात की साक्षी उपस्थित नहीं करती कि यह अनुपात किसी प्रकार देश को आर्थिक उन्नति अथवा स्थिरता प्रदान करता। भारी मंदी के समय इसने भारत में मूल्य गिराने में और सहायता दी, पुनरुद्धार के मार्ग में बाधा उपस्थित की और मन्दी को अधिक समय तक बनाए रखा।

तो भी सरकार ने बहुमत के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और उनको कार्यरूप में परिणत करने के लिए आवश्यक कानून पास कर दिया।

४. स्टर्लिंग विनिमय मान। अमुद्रित स्वर्णमान (Gold Bullion Standard) युद्ध पूर्व के स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) की अपेक्षा अच्छा था। क्योंकि उसके अनुसार सरकार को कानूनी रूप में स्वर्ण मोल लेना तथा स्वर्ण या स्टर्लिंग बेचना पड़ता था। किन्तु उसमें प्राचीन प्रणाली की कुछ त्रुटियां थीं, जिनको यंग कमीशन ने भी बतलाया था। वह कमियाँ यह थीं—एक सांकेतिक चलअर्थ (नोट) का दूसरे चलअर्थ (रुपये के सिक्के) में बदला जाना, दो-दो सुरक्षा निधियों का रखना और चलअर्थ को साखनियंत्रण से पृथक् करना। अंत की दोनों त्रुटियों को १९३५ में रिज़र्व बैंक की स्थापना तक ठहरना पड़ा।

तौ भी, नई प्रणाली को अपनी सफलता दिखलाने के लिए अधिक अवसर नहीं मिला। २१ सितम्बर १९३१ को ग्रेट ब्रिटेन को अपने स्वर्णमान का परित्याग करने

पर विवश होना पड़ा। उसको ऐसा करने के लिए इसलिए विवश होना पड़ा कि उससे विदेशी कर्ज़दारों ने उससे अपना बकाया एकदम मांग लिया। इसकी भारतीय चलअर्थ तथा विनिमय प्रणाली पर महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया हुई। १९२७ के अधिनियम के अनुसार सरकार ने १९ सितम्बर १९३१ तक निम्नतर स्वर्ण बिन्दु पर स्वर्ण तथा स्टर्लिंग मोल लिये थे। जब ब्रिटेन के स्वर्णमान परित्याग करने की घोषणा आई तो भारत के गवर्नर-जनरल ने २१ सितम्बर को एक अध्यादेश (Ordinance) निकालकर १९२७ के चलअर्थ अधिनियम की उस धारा ५ को स्थगित किया, जिसका सम्बन्ध सोने तथा स्टर्लिंग के क्रय तथा विक्रय से था। उसी दिन भारत मंत्री ने गोलमेज़ कांफ्रेंस की एक उपसमिति को लन्दन में बतलाया कि १ शिलिंग ६ पेंस स्टर्लिंग के भाव पर रुपये को स्थिर रखने का निर्णय कर लिया गया है। २४ सितम्बर को एक और अध्यादेश (स्वर्ण तथा चांदी बिक्री नियमन अध्यादेश) निकाला गया। इसके अनुसार २१ सितम्बर के अध्यादेश को रद्द करके १९२७ के मुद्रा अधिनियम को फिर ज्यों का त्यों कर दिया गया। किन्तु इसके अनुसार सरकार को यह अधिकार दे दिया गया कि वह स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग केवल भौतिक आवश्यकता और उचित व्यक्तिगत अथवा गार्हस्थ उद्देश्यों के लिए ही बेचे। इम्पीरियल बैंक को परिभाषित उद्देश्यों के लिए विनिमय का बंटवारा करने का अधिकार दिया गया। विक्रय-मूल्य पहले के समान १ शिलिंग ५$\frac{४१}{६४}$ पेंस स्टर्लिंग ही रखा गया। इस प्रकार भारतीय लोकमत के विरोधी होते हुए भी रुपये को स्टर्लिंग के साथ बांध कर रखा गया। रुपये के इस प्रकार बांधे जाने का एक परिणाम यह हुआ कि रुपये का मूल्य स्टर्लिंग तथा स्वर्ण चलअर्थ वाले देशों—अमरीका और फ्रांस की मुद्रा के साथ-साथ स्वर्ण की तुलना में कम होने लगा। इसके परिणामस्वरूप स्वर्ण का रुपये के रूप में मूल्य चढ़ गया और उस देश से स्वर्ण का प्रवाह विदेशों को जाने लगा।[1] सरकार ने इस स्वर्ण प्रवाह को बन्द करने का कोई यत्न नहीं किया।

---

१. भारत से स्वर्ण प्रवाह बाहर जाने के कारणों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों का एक मत नहीं है। इस विषय में अधिक प्रचलित सम्मति यह थी कि स्वर्ण प्रवाह के बाहर जाने का कारण उसका रुपये के रूप में मूल्य बढ़ जाना था, कि जब रुपये का (स्टर्लिंग के साथ २) स्वर्ण की अपेक्षा मूल्य सितम्बर १९३१के बाद कम हो गया। किंतु केवल स्वर्ण का मूल्य रुपये के रूप में बढ़ जाने मात्र से ही स्वर्ण-प्रवाह देश के बाहर न जाता, यदि इस मूल्य वृद्धि को विनिमय बाज़ार में रुपये का मूल्य कम कर के ठीक-ठीक संतुलित कर लिया जाता। अतएव कुछ लोगों की यह सम्मति थी कि रुपये का विदेशों में कम मूल्य होने के कारण ही स्वर्ण का भारत से निर्यात हो सका। इस का अर्थ यह है कि भारत में रुपये का मूल्य विनिमय में मंदी की अपेक्षा कम गिरा। तौ भी, डाक्टर डे (Dr. Dey) की सम्मति में यद्यपि

इस सम्बन्ध में सरकार की नीति की तीन कारणों से आलोचना की गई (१) रुपये को स्वर्ण के स्थान पर स्टर्लिंग के साथ बांधने के कारण, (२) फिर भी एक शिलिंग ६ पेंस के अनुपात पर चिपके रहने के कारण, तथा (३) स्वर्ण-निर्यात को रोकने का कोई प्रयत्न न करने के कारण। इन तीनों के सम्बन्ध में आगे विस्तार से विचार किया जाता है।

५. **स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध।** रुपये को स्टर्लिंग के साथ बांध देने की विभिन्न कारणों से आलोचना की गयी। प्रथम, यह कि इस प्रकार रुपये को स्टर्लिंग के

यह व्याख्या तंग पारिभाषिक भाव के अनुसार ठीक होने पर भी समुचित नहीं थी, क्योंकि यदि मुख्य कारण रुपये का मूल्य कम होना था तो आगे के वर्षों में स्वर्ण का निर्यात बढ़ जाना चाहिए था, न कि घटना, क्योंकि अगले वर्षों में भारत में रुपये का मूल्य स्टर्लिंग की तुलना में और भी कम हो गया। डाक्टर डे ने स्वर्ण के निर्यात की निम्नलिखित शब्दों में व्याख्या की है, "उस समय किसानों तथा ज़मींदारों में तीव्र आर्थिक संकट आया हुआ था, क्योंकि कृषि पदार्थों का मूल्य, भयंकर रूप से गिरने के कारण उनके संचित स्वर्ण भंडार अत्यधिक मात्रा में समाप्त हो रहे थे, किंतु (क) गांव वालों को स्वर्ण के विश्व मूल्य से अपरिचित होने के कारण (ख) सोने-चांदी के व्यापारियों द्वारा देश के अनेक केन्द्रों में अत्यधिक प्रचार किये जाने के कारण वह अपने स्वर्ण भंडार को शीघ्रतापूर्वक निकाल रहे थे, और (ग) संकटकालीन बिक्री, स्वर्ण का वह आन्तरिक मूल्य, जिस पर सोने के व्यापारी सोना खरीदते थे—विश्व मूल्य की तुलना में कम था। उसके परिणामस्वरूप सोने के व्यापारियों द्वारा स्वर्ण निर्यात उनके लिए अत्यधिक लाभकर हुआ। इसके विरुद्ध, जब मूल्यों के चढ़ने तथा निर्यात बढ़ने के कारण आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ तो संकट कम हो गया, स्वर्ण का संचित भंडारों में से निकाला जाना कम हो गया, स्वर्ण के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्यों में विषमता उत्तरोत्तर कम होती गई और स्वर्ण का निर्यात कम होना आरम्भ हो गया, यद्यपि स्टर्लिंग तथा सोने की तुलना में रुपये का मूल्य बराबर गिरता रहा और इस गिरावट में वृद्धि होती ही रही।"........उन्होंने आगे लिखा है कि "यदि स्वर्ण और उपभोग्य वस्तुओं के भारतीय मूल्यों में उचित परिमाण में मुद्रा-प्रसार (Inflation) द्वारा तेज़ी लाई जा सकती तो रुपये के आन्तरिक मूल्य की तेज़ी को रोका जा सकता था," और उसके स्वर्ण तथा पौंड स्टर्लिंग की तुलना में सस्तेपन को बहुत कुछ दूर किया जा सकता था और स्वर्ण के निर्यात को अधिक से अधिक कम किया जा सकता था।"—Dey. op. cit. pp. 237-38.

उतार-चढ़ाव में भाग लेने के लिए विवश किया गया, क्योंकि स्टर्लिंग इंग्लैंड की स्थिति को प्रकट करता था, न कि भारत की। द्वितीय, यद्यपि रुपये का स्वर्ण की तुलना में भाव गिरने से भारत के स्वर्णमान वाले देशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा, किंतु उन देशों से भारत को आयात कम हो जायेंगे, जबकि इंग्लैंड भारतीय बाजार में एक प्रकार की साम्राज्य-सम्बन्धी सुविधा का आनन्द उठाता रहेगा। तीसरे, यह कि स्टर्लिग के साथ संबंध के कारण भारत को फिर स्वर्णमान[1] पर वापिस आना पड़ेगा, जबकि ब्रिटेन ने भारत की आर्थिक दशा पर लेशमात्र भी ध्यान दिये बिना स्टर्लिग को स्वर्णमान से पीछे हटा लिया था। अन्त में, यह कि रुपये का मूल्य स्वर्ण की तुलना में बढ़ने से भारत से स्वर्ण बराबर बाहर जायगा, जैसा कि वास्तव में हुआ भी।

इस के विपरीत सरकार ने स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध के विषय में निम्न शब्दों में अपनी नीति का समर्थन किया—

(१) स्थिरता के दृष्टिकोण से रुपये के भाव को इधर उधर भटकने देने की अपेक्षा स्टर्लिंग के साथ बांधना कहीं अच्छा था। (२) भारत पर उस समय तीन करोड़ बीस लाख पौंड की देनदारी थी। और १९३२ में उसको डेढ़ करोड़ पौंड का ऋण और भी चुकाना था। यदि रुपये को स्टर्लिंग के साथ न बांधा जाता तो इन देनदारियों को चुकाने के लिये धन जुटाने की कठिनाई को पार करना असंभव था। (३) ऋणी राष्ट्र होने के कारण भारत रुपये को अकेला छोड़ देने के खतरे को नहीं उठा सकता था। (४) भारत के विदेशी व्यापार का एक बहुत बड़ा भाग इंग्लैंड या स्टर्लिंग देशों के साथ था। (५) स्वर्ण की तुलना में रुपये का भाव गिरने से भारत के निर्यात स्वर्णमान वाले देशों के साथ अधिक बढ़ते।

यदि रुपये को स्टर्लिंग के साथ न बांधा जाता तो सरकार के पास कुल दो विकल्प और थे। वह यह थे (क) स्वर्णमान को अपनाना (ख) एक स्वतन्त्रमान को बनाये रखना। भारत अपने स्वतन्त्र मान की अधिक समय तक रक्षा नहीं कर सकता था, केवल अत्यधिक स्वर्ण भंडार वाला अमरीका जैसा देश ही ऐसा कर सकता था। कुछ वर्षों में ही स्वर्णमान वाले देशों (उदाहरणार्थ, फ्रांस) के समान भारत को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ता।

ऐसे समय जबकि लोग स्वर्ण के लिये पागलों की तरह भागे फिर रहे थे, रुपये को स्वर्ण में परिवर्तित करना सुगम नहीं हो सकता था। मुद्राप्रसार में मन्दी को और भी अधिक बल मिलता। इस के अतिरिक्त जब तक स्टर्लिंग का मूल्य स्वर्ण की अपेक्षा कम

१. इस विषय में रिजर्व बैंक अधिनियम का आमुख (Preamble) स्थिति को स्पष्ट कर देता है। उसमें कहा गया है कि स्टर्लिंग विनिमय मान केवल एक अस्थायी प्रबन्ध है, संसार में मुद्रासम्बन्धी दशा के साधारण स्तर पर आ जाने पर रिजर्व बैंक भारत के लिये एक स्थायी मुद्रा सम्बन्धी मान निर्धारित करने के लिए योजना उपस्थित करेगा।

होता रहता, स्वर्ण की तुलना में रुपये का स्थिर अनुपात भी स्टर्लिंग की तुलना में घटता बढ़ता रहता। स्टर्लिग देशों के साथ हमारे व्यापार में भी उसका एक बाधक प्रभाव पड़ता। इसके विपरीत, विदेशों की भारी देनदारियों के साथ भारत के ऋणी राष्ट्र होने के कारण, उस के विदेशी व्यापार पर विदेशों में अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध होने के कारण और उस के पास एक केन्द्रीय बैंक का अभाव होने के कारण, इसमें भारी संदेह है कि भारत स्वतन्त्र मुद्रामान का प्रबन्ध करने में सफल हो सकता। स्वतन्त्र और बन्धन-मुक्त रुपये का अर्थ था अस्थायी विनिमय और इसमें सरकार को अपनी स्टर्लिंग देनदारियों को चुकाने में भारी खतरे और असुविधा का सामना करना पड़ता, अतएव चलअर्थ की संकटपूर्ण परिस्थितियों में,जबकि भारत के व्यापार का बड़ा भारी भाग स्टर्लिग क्षेत्र के साथ होता था, रुपये को स्टर्लिंग के साथ बांध देना एक छोटी बुराई को स्वीकार करना था। तो भी, बाद में परिस्थिति बिल्कुल बदल गई, और जैसा कि हम देखेंगे कि १९४७ में स्वर्ण के साथ सम्बन्ध को छोड़ दिया गया।

६. **स्वर्ण निर्यात**। सितम्बर १९३१ में ब्रिटेन के स्वर्णमान का परित्याग करने से लेकर जनवरी १९४० तक भारत ने ३५१·४ करोड़ रुपये के स्वर्ण का निर्यात किया। भारत ने १९१०-११ से १९३०-३१ तक अपने कुल ४५७·८६ करोड़ रुपये के स्वर्ण का आयात किया था। इस प्रकार अपने २५ वर्ष में आयात किये स्वर्ण के $\frac{४}{५}$ भाग स्वर्ण का भारत ने लगभग आठ वर्ष में निर्यात कर दिया।

स्टर्लिंग का मूल्य स्वर्ण की अपेक्षा घटते जाने के कारण और रुपये के स्टर्लिंग के साथ बंधा होने के कारण स्वर्ण का मूल्य साथ ही साथ चढ़ता रहा। स्वर्ण का मूल्य असाधारण रूप से बढ़ जाने के कारण लोगों को स्वर्ण बेचने का प्रलोभन हुआ। जिनको रुपये की तंगी थी, उन्होंने अत्यधिक स्वतन्त्रता से सोना बेचा। सोना रखने वालों के द्वारा सोना बेचने का यही कारण था। किंतु उसका निर्यात किया ही क्यों गया? इसका कारण स्टर्लिंग तथा रुपये की कीमतों का अन्तर था। स्टर्लिंग का मूल्य रुपये से ऊंचा था।

जब स्वर्ण का निर्यात आरम्भ हुआ तो भारतीय लोकमत ने सरकार पर दबाव डाला कि वह इस मूल्यवान् धातु का निर्यात बन्द कर दे। सरकार ने इस विषय में कुछ नहीं किया और अपनी अकर्मण्यता के समर्थन में निम्न कारण उपस्थित किये:

(१) स्वर्ण निर्यात एक देश के व्यापार का साधारण कार्य है, इस में कुछ भी असाधारणता नहीं है।

(२) स्वर्ण निर्यात से सरकार की साख बढ़ गई है। उससे वह अनुकूल मूल्य पर स्टर्लिंग मोल लेकर विनिमय को स्थायी बना सकती है। इस से अपने डेढ़ करोड़ पौंड के स्टर्लिंग-ऋण का भुगतान करना उस के लिये संभव हो गया है और वह सोने का मूल्य चुकाने के लिये नवीन चलअर्थ के निर्माण द्वारा भारत में स्टर्लिंग के चलन को कम कर सकी है।

(३) स्वर्ण के मूल्य की रक्षा करते हुए, स्वर्ण के निर्यात से भारत की सार्वजनिक सुरक्षा निधियां बलवान बन गई हैं, क्योंकि इन निधियों का बाज़ार मूल्य पांच करोड़ रुपये बढ़ गया ।

(४) स्वर्ण की बिक्री से कृषिजीवी लोगों ने स्वर्ण के सौदों में भारी लाभ कमा कर रख लिया, जिस से वह कठिन समयों में अपने सुरक्षित धन का उपयोग कर सकेंगे।

(५) स्वर्ण के निर्यात से भारत विदेशी माल को अधिक परिमाण में मोल ले सका, जिस से उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ गया । इस प्रकार उस के संभावित ग्राहकों की क्रयशक्ति बढ़ गई ।

इसके विपरीत सरकार के आलोचकों का कहना है कि (१) स्वर्ण के निर्यात का अर्थ है, भारत के स्वर्ण साधनों की बरबादी, देशी बैंकिंग प्रणाली का टूटना और पीढ़ियों[1] की संचित-बचत का देश के बाहर बह जाना; (२) उसने इस तथ्य को छिपाया कि रुपये का १ शिलिंग ६ पेंस दर पर अधिक मूल्य लगाया गया, जिस से सरकार उस बिन्दु पर अनुपात की रक्षा कर सके; (३) स्वर्ण निकल जाने से भारत का अपने स्वर्णमान के उद्देश्य को प्राप्त करना असंभव हो गया । इस हानि को पूर्ण करना कठिन होगा; (४) लगभग सभी देश अपने स्वर्ण-साधनों को तंग किये हुए बैठे हैं, जबकि भारत उनको ढीला करता जाता है; (५) अन्त में निर्यात स्वर्ण 'संकट स्वर्ण' था और लोग केवल अपनी पूंजी पर निर्वाह कर रहे थे । यह प्रणाली अधिक समय तक नहीं चल सकती थी ।

यह प्रस्ताव किया गया कि सरकार या तो इस स्वर्ण को स्वयं मोल ले ले अथवा वह रिज़र्व बैंक द्वारा उसको मोल लेकर उसकी स्वर्ण सुरक्षा निधियों को बलशाली बना ले । कुछ लोगों ने प्रस्ताव किया कि स्वर्ण के निर्यात पर बन्दरगाह न छोड़ने की आज्ञा (Embargo) लागू की जावे । कुछ लोगों ने उस पर भारी कर लगाने का प्रस्ताव किया । स्वर्ण निर्यात पर कर लगाने के प्रस्ताव के सम्बन्ध में अर्थ सदस्य ने १९३६ में केन्द्रीय विधान सभा में बतलाया कि यह बोझा अन्तिम रूप से स्वर्ण के विक्रेता किसान के ही कंधों पर पड़ जावेगा, क्योंकि मूल्य घट जावेंगे । सरकार की ओर से रिज़र्व बैंक द्वारा असीमित मात्रा में सोना मोल लेने के सम्बन्ध में यह बतलाया गया कि उसके फलस्वरूप सोने का सट्टा आरम्भ हो जावेगा, क्योंकि उसको मोल लेने के भाव डालर स्टर्लिंग के झूलते हुए अन्तर्राष्ट्रीय भाव को दृष्टि में रखते हुए तय करने होंगे । डाक्टर डे ने लिखा है कि "यह सत्य है कि अमरीका तथा ब्रिटेन दोनों ने मन्दी के समय बड़ी भारी कीमत पर सोना मोल लेकर उसके भारी भंडार एकत्रित कर लिये थे, किंतु मुद्रा सम्बन्धी ताज़ी स्थितियों के सभी विद्यार्थी इस बात को जानते हैं कि अब इन दोनों देशों के लिए यह तय करना एक गम्भीर समस्या हो गया कि इस ऊंचे मूल्य के स्वर्ण भंडार का क्या किया जाय ।[2]" तौ भी,

१. Jathar and Beri : Indian Economics, Vol II, p. 372.
२. Economic Problems of Modern India, op. cit., p. 240.

ब्रिटेन को अपने स्वर्ण-साधनों का उपयोग द्वितीय महायुद्ध का खर्च चलाने में करना पड़ा। यदि उस समय रिज़र्व बैंक उस स्वर्ण को मोल लेने का खतरा उठा लेता तो उसको अब बड़ा भारी लाभ होता, क्योंकि अब स्वर्ण का मूल्य बहुत अधिक[1] चढ़ गया था। इस कारण से तथा पिछले पैरे में दिये हुए अन्य कारणों से हम डाक्टर डे के इस कथन से सहमत नहीं हो सकते कि "भारत सरकार सोने के सम्बन्ध में जिस नीति पर चली वह वर्तमान परिस्थितियों में सब से अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण थी।"[2]

७. अवमूल्यन। जब से १९२७ के चलअर्थ अधिनियम के अधीन सरकार ने १ शिलिंग ६ पेंस के अनुपात को लागू किया, भारतीय लोकमत सरकार पर इसके सम्बन्ध में पुनर्विचार[3] करने की बराबर मांग करता रहा। वास्तव में पुनर्विचार का मामला बहुत मज़बूत था। यहां तक कि द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने

---

१. अगस्त १९३१ में सोने का मूल्य २१।।।-)। प्रति तोला था, दिसम्बर १९३१ में वह २९=) हो गया, मार्च १९३५ में ३६।।।-)।, सितम्बर १९३७ में लगभग ३७), दिसम्बर १९४० में वह ४२) प्रति तोला तक पहुंच गया, नवम्बर १९४४ में भाव ६८) तोला हो गया, नवम्बर १९४५ में ८२) तथा मई १९४६ में सोने का भाव १०८) प्रति तोला हो गया।

२. Dey, op. cit., p. 241.

३. जब १९२९ के पतझड़ के बाद मन्दी दिखलाई देने लगी तो विनिमय दर के पुनर्विचार के सम्बन्ध में आन्दोलन बढ़ गया, विशेषकर उस समय जब यह पता लगा कि सरकार को १ शिलिंग ६ पेंस की दर की रक्षा करना कठिन हो रहा है, क्योंकि हमारी निर्यात की बचत में भारी कमी हो गई थी। जब पुरानी दर पर रुपये को स्टर्लिंग के साथ १९३१ में फिर बांधा गया तो फिर यह कहा गया कि पुनर्विचार के पक्ष में मामला प्रबल है। जिस समय प्रस्तावित रिज़र्व बैंक को विनिमय देनदारी के मामले पर रिज़र्व बैंक की लन्दन कमेटी द्वारा वाद-विवाद किया जा रहा था, तो मामले पर फिर ज़ोर दिया गया। १९३४ में, जो संयुक्त सिलैक्ट कमेटी द्वारा विचार करते समय तथा फिर विधान सभा के सम्मुख रिज़र्व बैंक विधेयक (Bill) आने पर—इस मामले पर फिर बल दिया गया। अनुपात वाली धाराएं (४० और ४१), जिन्हें अधिनियम के अन्दर स्थान दिया गया था, लन्दन कमेटी के सुझाव को कार्य रूप में परिणत करती थीं। उनमें कहा गया था कि वर्तमान विनिमय दर की रक्षा की जाय, किंतु जब अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति स्पष्ट और इतनी स्थिर हो जाय कि अधिक स्थायी नीति का निर्माण करना संभव हो सके तो मुद्रा-सम्बन्धी मान के समस्त प्रश्न पर भारतीय स्थिति की अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए

पर परिस्थिति बदल गई। रुपये के मूल्य कम करने के लिये, जो मामला १९२९ से लेकर १९३९ तक समय-समय पर बारबार उठाया गया, उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

पुर्नविचार किया जाय। किंतु इस सम्बन्ध में भारतीय लोकमत संतुष्ट नहीं हुआ। अगस्त १९३५ में श्री मनु सूबेदार (प्रधान इंडियन मर्चेंट्स चैम्बर तथा ब्यूरो, बम्बई) ने तत्कालीन अर्थ सदस्य सर जेम्स ग्रिग (Sir James Grigg) का स्वागत करते हुए यह सुझाव दिया था कि किसानों को राहत पहुंचाने की दृष्टि से अनुपात पर फिर विचार किया जाय। इस के उत्तर में अर्थ सदस्य ने कहा था कि वह "वर्तमान अनुपात के साथ बन्दर जैसा व्यवहार करने में भाग नहीं लेंगे।" उन्होंने यह भी कहा कि इस परिवर्तन से कृषक को सहायता मिलना तो दूर, उल्टे उसकी स्थिति और भी बुरी हो सकती है।

जब १९३६ में फ्रैंक तथा स्वर्ण चलअर्थ वाली अन्य मुद्राओं का मूल्य घटाया गया तो यह वाद-विवाद फिर उठा। सरकार से अनुरोध किया गया कि वह रुपये के मूल्य को कम कर दे, क्योंकि ऐसा करने से मौलिक उत्पादनों का मूल्य बढ़ जाता, निर्यात व्यापार फिर बढ़ जाता और स्वर्ण का निर्यात कम हो जाता। किंतु सरकारी प्रवक्ताओं ने तर्क दिया कि रुपये का मूल्य इस समय घटाने से ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांस द्वारा १९३६ में हस्ताक्षर किये हुए समझौते का भंग करना होगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि स्टर्लिंग के साथ बंध जाने के कारण रुपये का मूल्य स्वर्ण की तुलना में पहले से ही लगभग ४० प्रतिशत कम हो गया था। इसके अतिरिक्त मूल्य कम करने से प्रतिद्वंद्वी देश बदले में जवाबी कार्यवाही भी कर सकते है।

१९३८ के जून में विनिमय के निर्बल हो जाने पर मूल्य कम करने का आन्दोलन फिर उठा। इस प्रश्न को कांग्रेस कार्य समिति ने अपने हाथ में लिया। सरकार ने ६ जून १९३८ को एक विज्ञप्ति निकाल कर घोषणा की कि वह वर्तमान अनुपात से संतुष्ट है। सितम्बर १९३८ में केन्द्रीय विधान मंडल के कुछ गैर-सरकारी सदस्यों ने इस बात का एक असफल प्रयत्न किया कि अनुपात के प्रश्न पर रिपोर्ट करने के लिए एक समिति नियुक्त की जाय। उसके बाद के कुछ मास में व्यापारिक संतुलन तथा विनिमय की दशा कुछ संभल गई और १६ दिसम्बर १९३८ को सरकार ने एक और प्रेस विज्ञप्ति निकाल कर अपने इस निश्चय को दोहराया कि १ शिलिंग ६ पेंस का विनिमय पहले के समान ही बना रहेगा। तात्पर्य यह कि, विनिमय, १९३९ में युद्ध आरम्भ होने तक स्थिर रहा, और युद्ध आरम्भ होने पर सारी स्थिति ही पूर्णतया बदल गई।

(१) रुपये की इस पूरे समय भर १ शिलिंग ६ पेंस की दर से कीमत बढ़ा दी गई और सरकार ने इस दर को मुद्रा संकोचन के निम्नलिखित कठिन उपायों द्वारा बनाये रखा—(क) चलअर्थ के संकोचन द्वारा (१९२६-२७ और १९३०-३१ के बीच चलअर्थ का १,०२१ करोड़ रुपये की मात्रा में संकोचन किया गया); (ख) १९३३ के अधिनियम के अनुसार इंपीरियल बैंक के लिए आवश्यक चलअर्थ उधार देने की दर को बढ़ा कर; (ग) स्टर्लिंग की बिक्री द्वारा तथा रिज़र्व बैंक (निकाम विभाग) के स्टर्लिंग साधनों को खाली करके। इस मुद्रा संकोच की नीति का परिणाम भारतीय कृषि तथा उद्योगधंधों पर १९२९ के मन्दी के वर्षो से लगा कर आगे तक विनाशकारी रहा।

(२) १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर रुपये का मूल्य अधिक लगाया गया था। यह विभिन्न प्रकार के चिह्नों तथा अर्थशास्त्रीय सिद्धांत एवं व्यवहार द्वारा स्वीकृत कसौटी द्वारा स्वीकार कर लिया गया कि मूल्य अधिक लगाया गया है। उदाहरणार्थ, (क) बढ़े हुए मूल्य, (ख) औद्योगिक गतिहीनता, (ग) व्यापार की प्रतिकल शर्तें, तथा (घ) निर्यात की बचत का शीघ्र लोप हो जाना।

(क) १९२८ से १९३३ तक भारतीय मूल्य ४० प्रतिशत तक अत्यधिक परिमाण में गिरे, जब कि ब्रिटेन के मूल्य ३६.४ प्रतिशत गिरे। १९३६ में इंग्लैंड के मूल्य १६.३ प्रतिशत चढ़ गए और भारतीय मूल्य केवल ५.७ प्रतिशत ही पूरे किये जा सके। इस प्रकार इस बीच में भारतीय मूल्य गिरे अधिक और बढ़े कम।

(ख) कुछ उद्योगधंधों के समस्त लाभ के अंकों से औद्योगिक गतिहीनता का पता चलता है। यह लाभ १९२८ के १०.९ करोड़ रुपयों से घटकर १९३१ में २.६ करोड़ रुपये हो गया। बहुत धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ १९३५ में केवल ५ करोड़ रुपये हुआ।

(ग) इस काल में व्यापार की वस्तुविनिमय (Barter) शर्तें भी भारत के प्रतिकूल रहीं। यह इस तथ्य से प्रकट है कि उसके निर्यात के मूल्य उसके आयात के मूल्यों की अपेक्षा कहीं अधिक गिर गये थे। १९२७-२८ और १९३३-३४ के बीच जब कि निर्यात मूल्यों का सूचक अंक (Index Number) ४६.४ प्रतिशत गिरा, आयात मूल्यों का सूचक अंक कुल ३४.८ प्रतिशत तक ही गिरा।

(घ) व्यापारिक निर्यात की बचत में भारी कमी आई। मन्दी के वर्षो में व्यक्तिगत व्यापारिक माल (सरकारी स्टोरों के अतिरिक्त) का वास्तविक निर्यात निम्नलिखित थाः—

वर्ष	रु. (करोड़ों में)	वर्ष	रु. (करोड़ों में)
१९३०-३१	६१.०	१९३५-३६	२९.८
१९३१-३२	३४.०	१९३६-३७	७१.१
१९३२-३३	३.५	१९३७-३८	१७.४
१९३३-३४	३४.४	१९३८-३९	१६.८
१९३४-३५	२३.४	१९३९-४०	४७.८

(३) अन्य देशों, विशेष कर कृषिजीवी देशों में सरकार ने अपने-अपने चलअर्थ का अवमूल्यन करके स्थिति का मुकाबला किया। १९३१ में, जो स्टर्लिंग के साथ रुपये को बांध कर स्वर्ण की तुलना में रुपये के मूल्य को घटा दिया गया था, वह स्पष्ट रूप से पर्याप्त नहीं था, जैसा कि ऊपर दी हुई जांच प्रणाली से स्पष्ट है। भारत अपने प्रतिद्वंद्वियों की तुलना में अलाभकर स्थिति में था, क्योंकि उनके चलअर्थो का मूल्य पर्याप्त घट गया था। यह निम्नलिखित तालिका से प्रकट है :

देश	१९१३ में उनके मूल्य के प्र. श. रूप में १९३३ में चलअर्थ का मूल्य
बेल्जियम	२२·६
फ्रांस	३१·५
ग्रीस	४·५
इटली	४२·०
पुर्तगाल	४·५
स्पेन	६८·०
जापान	५०·०
अमरीका	९०·०
आस्ट्रेलिया	७५·०
न्यूज़ीलेंड	७५·०

(४) इस बात पर भी बल दिया गया कि वास्तविक स्थिति को स्वर्ण के निर्यात द्वारा अंधेरे में रखा गया, क्योंकि स्वर्ण निर्यात ही सरकार को १ शिलिंग ६ पेंस की दर को बनाये रखने में समर्थ कर सका था। किंतु स्वर्ण का निर्यात अनिश्चित काल तक जारीं नहीं रह सकता था। डाक्टर एल. सी. जैन ने लिखा है कि "स्वर्ण के निर्यात से बुराई को केवल टाला जा रहा है। जब स्वर्ण निर्यात बन्द हो जायगा, और बहुत जल्द बन्द होगा, तो यदि विश्व-समृद्धि करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय गति की आशामात्र में मामले को इसी प्रकार चलने दिया गया तो एक अत्यन्त भयंकर स्थिति आ खड़ी होगी।[1]

(५) कुछ लोगों ने इस बात पर बल दिया कि मामला १ शिलिंग ६ पेंस और १ शिलिंग ४ पेंस के अनुपात के बीच नहीं था। मामला इस से भी अधिक व्यापक था। इसमें नीति के अधिक व्यापक दृष्टिकोण भी सम्मिलित थे। १८९३ से लेकर भारतीय चलअर्थ के समस्त इतिहास में सरकार की चिंता किसी एक स्तर पर विनिमय को स्थिर रखने की बनी रही। इस बात पर बल दिया गया कि राष्ट्रीय बचत की वर्तमान स्थितियों में देश के अन्दर आर्थिक जीवन की स्थिरता के मूल्य पर विनिमय की स्थिरता पर बल देना एक गलत नीति है। लोच योग्य विनिमय की नीति इस की अपेक्षा अधिक अच्छी रहती, क्योंकि इसी प्रणाली से लागत और मूल्यों के सम्बन्ध में समतुल्यता से उद्योगधंधों और कृषि को लाभदायक रूप में चलाया जा सकता था। इस प्रकार का विनिमय अनुपात ही किसी देश का स्वाभाविक अनुपात होता है। इंग्लैंड ने १९३१ में स्टर्लिंग का मूल्य घटाकर

१. L. C. Jain—Monetary Problems of India, p. 15.

इसी प्रकार के स्वाभाविक स्तर को प्राप्त किया था। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि इंग्लैंड का स्वाभाविक स्तर भारत के लिए भी स्वाभाविक स्तर सिद्ध हो।[1]

उच्च अनुपात ने निश्चित रूप से मन्दी को तीव्र कर दिया और उसके कारण भारत के मूल्य विश्व-मूल्यों तक किसी प्रकार भी नहीं पहुंच सके। निर्धन भारतीय कृषक के लाभ के लिए मूल्यों को अधिक करने के लिए मूल्य कम करने का निश्चित प्रबल पक्ष था। मूल्य कम होने से हमारे निर्यातों को भारी सहायता मिल जाती और उससे हम अपनी तुलनात्मक स्थिति को मजबूत बना सकते थे।

इस बात पर बल दिया गया है कि आयात माल का मूल्य बढ़ जाने से कृषकों तथा उपभोक्ताओं को हानि पहुंचती। किंतु कृषक के उपभोग में आयातित माल की मात्रा बहुत कम होती है। यद्यपि उपभोक्ताओं को कुछ हानि पहुंचती, किंतु उनको उत्पादक के रूप में अत्यधिक लाभ होता, क्योंकि रुपये का मूल्य घट जाने से उत्पादन बढ़ जाता और काम के लिए अवसर अधिक बढ़ जाते।

कोयाजी के शब्दों में, "एक अच्छी तरह पसन्द किये हुए अनुपात की उत्तमता का सब से बड़ा प्रमाण होता है उसकी एकरूपता के साथ साथ निश्चित तथा मध्यम मूल्य स्तर तथा आयात एवं निर्यात की स्वस्थ तथा साधारण परिस्थिति।" एक शिलिंग ६ पेंस का अनुपात इस परीक्षा में पूरा नहीं उतरा। कम मूल्यों ने उच्च अनुपात के साथ मिलकर मूल्य-लागत समानता को गड़बड़ में डाल दिया, उत्पादन को हानि पहुंचाई और बेकारी को बढ़ाया। उसने वितरण पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाला, ऋणी तथा धनी जमींदार तथा काश्तकार और मालिक तथा मजदूर आदि के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न की। यह ठीक है कि मूल्य ह्रास से केवल अस्थायी लाभ होता है, किंतु जब एक देश मन्दी के कष्ट में से गुजरता है, तो उसे पुनरुद्धार के मार्ग पर चलाने के लिए अस्थायी उत्तेजक औषधि की आवश्यकता पड़ती ही है।[2]

इस प्रकार मूल्य ह्रास के पक्ष में मामला प्रबल था।

किंतु सरकार ने विनिमय के साथ अर्थ सदस्य सर जेम्स ग्रिग के शब्दों में 'बन्दर के समान' आचरण करने से इंकार कर दिया। इसके पश्चात् महायुद्ध आरम्भ हो गया और तब सारा दृष्टिकोण ही बदल गया।

८. रिज़र्व बैंक चलअर्थ अधिकारी के रूप में। इस बीच में १ अप्रैल १९३५ से चलअर्थ के नियंत्रण का कार्य सरकार के हाथ से नये केन्द्रीय बैंक—भारत

१. इस विषय के उत्तम अध्ययन के लिए Economic Problems of India में बी. एन. गांगुली के लेख को पृ० २७३ से ३२४ तक पढ़ें। Whither Rupee को भी पढ़ें।

२. Malhotra, D. K., 'History of Problems of Indian Currency and Exchange, 1947, pp. 108-109.

के रिज़र्व बैंक के हाथ में चला गया। उसको कागज़ी चलअर्थ सुरक्षा निधि तथा स्वर्ण मान सुरक्षा निधियां भी सौंप दी गयीं। इससे हिल्टन यंग कमीशन द्वारा बतलाई हुई भारतीय चलअर्थ प्रणाली की दो त्रुटियां[1] दूर हो गयी। वह थीं दो-दो सुरक्षा निधियों का खज़ाना तथा चलअर्थ एवं साख के नियंत्रण के लिए उत्तरदायित्व का विभाजन। हमारी कागज़ी चलअर्थ प्रणाली के विकास के विषय में अगले अध्याय में विचार किया जायगा और बैंकिंग के सम्बन्ध में साख प्रणाली का अध्ययन एक और भी बाद के अध्याय में किया जायगा। यहां स्टर्लिंग विनिमय मान को स्थिर रखने के विषय में—जब तक वह जारी रहा—रिज़र्व बैंक के कार्य के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है।

इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि रिजर्व बैंक स्टर्लिंग का निश्चित दर पर क्रय-विक्रय करके १ शिलिंग ६ पेंस दर को बनाए रखेगा। रिज़र्व बैंक अधिनियम की धारा ४० में यह व्यवस्था की गयी थी कि बैंक अपने बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मदरास अथवा रंगून के कार्यालयों में मांग आने पर किसी भी व्यक्ति के हाथ स्टर्लिंग बेच देगा और क्रय मूल्य को विधिग्राह्य चलअर्थ के रूप में लन्दन में तुरन्त भुगतान करने के लिए एक रुपये के १ शिलिंग ५ $\frac{४९}{६४}$ पेंस की दर पर चुकाएगा। इस व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि रुपये का भाव १ शिलिंग ५ $\frac{४९}{६४}$ पेंस की दर से गिरने न पाए, (इस दर को १ शिलिंग ६ पेंस में से इस रकम को लन्दन में मोल लेने की लागत को काट कर बनाया गया था)। धारा ४१ के अनुसार बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मदरास तथा रंगून कार्यालयों में स्टर्लिंग बेचने की प्रार्थना करने वाले किसी व्यक्ति से भी स्टर्लिंग मोल लेकर उसे एक रुपये के अधिक से अधिक १ शिलिंग ६ $\frac{3}{१६}$ पेंस दर पर लन्दन में तुरन्त भेज देने के लिए मोल ले ले, (इस दर को १ शिलिंग ६ पेंस में लन्दन से बम्बई को रकम भेजने का खर्च जोड़ कर निकाला गयाथा)। यह दोनों बिन्दु[2] स्वर्णमान के अधीन निम्नतर रोकड़ बिन्दु तथा उच्चतर रोकड़ बिन्दु से मिलते-जुलते हैं।

---

१. तो भी कुछ अव्यवस्थाएं अभी भी बनी हुई हैं। रुपये का सिक्का (जिसे चांदी पर छपा हुआ नोट कहा जाता है) अभी तक भी विधिग्राह्य मुद्रा बना हुआ है और रिज़र्व बैंक को नोट के बदले में रुपये तथा रुपये के बदले में नोट मांगते ही देने पड़ते हैं। सिक्कों के निकास के लिए किसी सुरक्षा निधि के सहारे की आवश्यकता नहीं है और उनके निकाले जाने की कोई सीमा नहीं है। नोट निकालने का एकाधिकार भी सरकार के ही पास है। रिज़र्व बैंक तो उनका निकालने का एक साधन-मात्र है।

२. यह बात स्मरण रखने योग्य है कि युद्धपूर्व काल में विनिमय दर को स्थायी बनाने के लिए भारत मन्त्री लन्दन में कौंसिल बिल (Council Bill) नामक अपनी हुंडियां उच्चतर रोकड़ बिन्दु पर बेचा करता था और भारत

इस प्रकार रिज़र्व बैंक अधिनियम ने वर्तमान अनुमान को वैध रूप दे दिया। इस अधिनियम के आमुख (Preamble) में रिज़र्व बैंक विधान के सम्बन्ध में लन्दन कमेटी की सिफारिशों को सम्मिलित किया गया है कि भारत के लिए अधिकतम उपयुक्त मुद्रा-मान के प्रश्न पर उस समय विचार किया जाय कि जब मुद्रा के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी अधिक स्पष्ट हो जाय कि स्थायी प्रबन्ध करना संभव हो सके। ऐसा संयोग उपस्थित होने पर उक्त अधिनियम की धारा ५५ में बैंक पर यह कर्त्तव्य डाला गया था कि वह भारतीय मुद्रा प्रणाली के लिए उचित स्थायी आधार के सम्बन्ध में अपनी सम्मति सपरिषद् गवर्नर-जनरल को लिख भेजे और भारत के भावी आर्थिक मान के सम्बन्ध में कार्य करे। इस प्रकार के नये उपायों को अपनाने की तारीख द्वितीय महायुद्ध के कारण स्थगित कर दी गयी।

भारतीय कागज़ी चलअर्थ

९. १९२५ तक कागज़ी चलअर्थ। १९ वीं शताब्दी के शुरू तक भारत में नोट व्यवहारतः अज्ञात थे। १८०६ में बंगाल बैंक की स्थापना की गयी और उसे नोट निकालने की सुविधा दी गयी। यह सुविधा १८४० में बैंक आव् बम्बई को तथा १८४३ में बैंक आव् मदरास को भी दी गई। यद्यपि यह बैंक व्यक्तिगत संस्था थे, किंतु इनकी पूंजी में सरकार का भाग था और उसके प्रतिनिधि उनके प्रबन्ध में भी भाग लेते थे। प्रत्येक बैंक की नोट निकालने की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गई थी और उनको ३३⅓% (बाद में उसे घटा कर २५% कर दिया गया) सुरक्षा निधि रखनी पड़ती थी। यह नोट विधि-ग्राह्य नहीं थे और केवल प्रैसीडेंसी नगरों में ही प्रसिद्ध थे।

सरकार रिवर्स कौंसिल बिल निम्नतर रोकड़ बिन्दु पर बेचा करती थी। इस प्रणाली में १९२३-२४ में सुधार किया गया। इस वर्ष यद्यपि इन हुंडियों की साप्ताहिक बिक्री पहले के समान होती रही और बिचवैयों (उच्चतर दर की नियमित बिक्री के बीच में बेची हुई हुंडियों) की बिक्री को रोक दिया गया और उसके स्थान में भारत में उन बैंकों तथा आर्थिक कोठियों से स्टर्लिंग को मोल लिया जाने लगा, जो उसे बेचना चाहते थे। १९२४-२५ में इस प्रणाली का और भी विस्तार कर दिया गया और भारत में स्टर्लिंग का क्रय ब्रिटेन को रुपया भेजने की प्रधान प्रणाली बन गया। अब कौंसिल बिलों की बिक्री उनके लिए एक स्थायी तथा लगातार मांग होने पर ही की जाती थी। १९२५-२६ में एक भी 'कौंसिल बिल' (भारत मंत्री की हुंडी) की बिक्री नहीं हुई और उस के बाद इस प्रणाली को बन्द कर दिया गया। यंग कमीशन की सिफ़ारिश पर स्टर्लिंग को तुलनात्मक टेंडरों द्वारा मोल लेने की प्रणाली को १ अप्रैल १९३५ में रोक दिया गया। यह कार्य रिज़र्व बैंक के हाथ में सौंप दिया गया।

१८६१ में सरकार ने प्रैसिडेंसी बैंकों से नोट निकालने का अधिकार वापिस ले लिया। अब देश को कई सर्किलों में विभक्त कर दिया गया। एक सर्किल में निकाले हुए नोट उसी सर्किल में विधिग्राह्य थे। इन नोटों को उस चलअर्थ सिद्धांत पर निकाला जाता था जो इंग्लैंड में पास किये हुए १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट (Bank Charter Act) में दिये हुए थे। कागज़ी चलअर्थ सुरक्षा निधि का विश्वास प्राप्त भाग (Fiduciary Portion) चार करोड़ रुपया निश्चित किया गया था। इसके अतिरिक्त इसी मूल्य की एक धातु सुरक्षा निधि भी रखनी पड़ती थी।

उपरोक्त प्रबन्ध नोट निकालने की सुरक्षा की दृष्टि से बहुत अच्छा था, किंतु यह न तो सुविधाजनक था और न इससे नोट निकालने में लोच आता था। यह असुविधा उस प्रतिबन्धित क्षेत्र से उत्पन्न हुई, जिस के अन्दर नोट विधिग्राह्य तथा परिवर्त्तनीय थे, परन्तु एक मूल्य के बाद दूसरे मूल्य के नोट का प्रचलन सार्वजनिक बना कर इस दोष को दूर कर दिया गया।

नोट निकालने की प्रणाली में लोच नहीं था, क्योंकि एक निश्चित सीमा से आगे शत प्रतिशत धातु सुरक्षा निधि आवश्यक थी। विश्वास-प्राप्त आधार की सीमा को समय-समय पर बढ़ा कर कुछ लोच उत्पन्न की गयी, यहां तक कि १९१४ में वह १४ करोड़ रुपये और १९१९ में १२० करोड़ रुपये हो गयी। १८९३ में रुपये को एक सांकेतिक मुद्रा बना कर भी कुछ लोच उत्पन्न की गयी, जिससे नये रुपयों के रूप में सुरक्षा निधि में कम चांदी की आवश्यकता पड़े।

आरम्भ में कागज़ी चलअर्थ सुरक्षा निधि के धातु भाग में चांदी के सिक्के तथा अमुद्रित सोना चांदी (Bullion) रखा जाता था और विश्वास-प्राप्त आधार के भाग के रूप में भारत सरकार की रुपये की प्रतिभूतियां (Securities) रखी जाती थीं। बाद के विधान (Legislation) द्वारा सोने के सिक्के, अमुद्रित स्वर्ण अथवा रौप्य पिंड तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को भी भारत की कागज़ी चलअर्थ सुरक्षा निधि में रखे जाने की अनुमति दे दी गयी।

चलअर्थ प्रणाली की मुख्य त्रुटियां यह थीं—(१) यह स्वयंचलित नहीं थी, क्योंकि विश्वास-प्राप्त आधार के भाग को प्रत्येक बार नये कानून द्वारा ही बढ़ाया जा सकता था। (२) सुरक्षा निधि का धातु भाग अनुचित रीति से बड़ा था। (३) सुरक्षा निधि के एक भाग को भारत में न रख कर लन्दन में रखा जाता था। (४) चलअर्थ और बैंकिंग में तलाक सम्बन्ध था, जब कि आजकल के समय में सम्पूर्णता का नियम बरता जाता है। (५) एक केन्द्रीय बैंक के अभाव में सरकार को अपने खज़ाने को "सुरक्षित खज़ानों" में ताला बन्द करके रखना पड़ता था। उसके परिणामस्वरूप अधिक रोज़गार चलने वाली ऋतु में बाज़ार में आर्थिक तंगी हो जाती थी। (६) सब से बड़ी कमी यह थी कि इस चल-अर्थ प्रणाली में लोच नहीं थी। अन्य देशों में बैंकों की जमा रकमें और व्यापारिक हुंडियों

के विरुद्ध जारी किये गये चैक तथा नोट चलअर्थ प्रणाली में लोच उत्पन्न करते थे; केन्द्रीय बैंकों में रखी हुई सरकारी रकमें भी व्यापार में लगायी जाती थीं, किंतु भारत में अभी बैंकिंग अपेक्षाकृत कम विकसित था। यहां संगठित हुंडी बाज़ार का व्यावहारिक रूप में अभाव था और केन्द्रीय बैंक का अभी जन्म भी नहीं हुआ था।

चैम्बरलेन कमीशन ने अधिक लोच उत्पन्न करने की दृष्टि से यह प्रस्ताव किया था कि विश्वास-प्राप्त आधार के भाग को निम्न रूप में नियत किया जाना चाहिए:

सुरक्षित खज़ानों में रखे हुए नोटों के अतिरिक्त बाज़ार के कुल चलन का $\frac{1}{3}$ भाग अर्थात् बाज़ार के कुल चलन में से सुरक्षित खज़ानों के नोटों की रकम को कम करके।

कमीशन ने यह भी प्रस्ताव किया कि नोटों के उपयोग को प्रोत्साहित किया जाय और उनके बदले नकद रुपया देने की सुविधा का अधिक विस्तार कर दिया जाय। कमीशन का विचार था कि नोटों को लोचदार तथा प्रचलित बना दिया जाय।

युद्ध (१९१४-१८) ने भारत की कागज़ी चलअर्थ प्रणाली पर भारी दबाव डाला। नोटों को भुनाने के लिए भीड़ बढ़ गयी और युद्ध के प्रथम आठ मास में दस करोड़ रुपये के नोट वापिस बैंकों में लौट आये। विश्वास-प्राप्त आधार के भाग को १९१४ में १४ करोड़ रुपये से बढ़ा कर १९१८ में १२० करोड़ रुपये कर दिया गया। एक रुपये तथा २॥ रुपये के नये नोट चलाये गये। नोट के बदले नकदी देने की विशेष सुविधा को बन्द कर दिया गया।

युद्ध के अन्त में बैबिंगटन स्मिथ कमेटी ने भारतीय चलअर्थ प्रणाली की जांच की। लोच उत्पन्न करने तथा पर्याप्त धातु सुरक्षा निधि बैंक में रखने के उद्देश्य से कमीशन ने प्रस्ताव किया कि सुरक्षा निधि का धातु भाग बाज़ार के समस्त चलन का कम से कम ४०% अवश्य होना चाहिए और साधारण विश्वास-प्राप्त आधार के निकास के अतिरिक्त निर्यात हुंडियों के विरुद्ध प्रैसिडेंसी बैंकों को ऋण के रूप में पांच करोड़ रुपये तक का अतिरिक्त चलअर्थ दे देने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। उसने नोटों के बदले नकदी रुपया देने पर युद्ध-काल में लगाये गये प्रतिबन्ध को भी हटाने का प्रस्ताव किया। सरकार ने इन प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए कानून पास कर दिया।

१०. हिल्टन यंग कमीशन। १९२६ के हिल्टन यंग कमीशन ने रिज़र्व बैंक की स्थापना का प्रस्ताव किया कि जिसको नोट निकालने का समस्त अधिकार दे दिया जाना चाहिए। नोटों के बदले में चांदी के रुपये देने के उत्तरदायित्व को वापिस लेने का सुझाव दिया गया। यह भी सुझाव दिया गया कि कागज़ी चलअर्थ सुरक्षा निधि तथा स्वर्णमान सुरक्षा निधि को मिलाकर एक कर दिया जाय और नोट निकालने के आनुपातिक सुरक्षा निधि के सिद्धान्त को जारी किया जाय।

रिज़र्व बैंक की स्थापना में देरी हुई और उसकी १९३५ में स्थापना की जा सकी। १९२७ में एक कागज़ी चलअर्थ अधिनियम पास किया गया, जिसके अनुसार कागज़ी

चलअर्थ सुरक्षा निधि में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का पुनर्मूल्यन एक सावरेन के १३-)। भाव पर किया गया, और कोई अन्य परिवर्तन नही किया गया।

११. रिज़र्व बैंक निकास अधिकारी के रूप में। १९३४ में पास किये गए रिज़र्व बैंक अधिनियम द्वारा नोट निकालने का एकाधिकार भारत के रिज़र्व बैंक को दे दिया गया, जिसका कार्य १ अप्रैल १९३५ को आरम्भ हो गया। बैंक का नोट निकालने का कार्य उसके निकास विभाग को सौपा गया।

स्वर्णमान सुरक्षा निधि तथा कागज़ी चलअर्थ सुरक्षा निधि को मिला दिया गया और स्वर्ण का समस्त भंडार बदल कर बैंक को दे दिया गया, जिसको बैंक ने अपने निकास विभाग (Issue Department) में रखा।

निकास विभाग की सम्पत्ति में स्वर्ण मुद्राएं, अमुद्रित स्वर्ण पिण्ड, स्टर्लिंग प्रतिभूतियां, रुपये के सिक्के तथा रुपये की प्रतिभूतियां थीं। समस्त सम्पत्ति में कम से कम ४० प्रतिशत स्वर्ण-मुद्रा, अमुद्रित स्वर्ण पिण्ड (Gold Bullion) अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियां रखी जानी थीं। इसमें शर्त यह थी कि स्वर्ण मुद्रा तथा अमुद्रित स्वर्ण पिण्ड का समस्त योगफल मूल्य में ४० करोड़ रुपये से कम न हो। लेकिन सरकार की पूर्व अनुमति से बैंक स्वर्ण-मुद्रा, अमुद्रित स्वर्ण पिण्ड अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को समस्त सम्पत्ति के ४० प्रतिशत से कम परिमाण में भी सीमित समय के लिए रख सकता है। किन्तु इस कमी पर उसको एक विशिष्ट कर देना होगा। व्यवहारतः, बैंक निकास विभाग की अपनी समस्त देनदारियों के विरुद्ध स्वर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का कहीं अधिक उच्च प्रतिशत अनुपात रखता है।

१२. चलअर्थ का विस्तार तथा संकोचन। रिज़र्व बैंक अधिनियम के अनुसार निकास विभाग की सम्पत्ति को जैसा कि हम देख चुके हैं—निम्नलिखित रूपों में रखा जाता था—

(१) रुपये के सिक्के, रुपये के नोटों सहित।

(२) स्वर्ण के सिक्के तथा अमुद्रित स्वर्ण पिण्ड।

(३) रुपये की प्रतिभूतियां, कोष अधि-पत्रों (Treasury Bills) सहित; और

(४) स्टर्लिंग प्रतिभूतियां।

सम्पत्ति के इनमें से किसी रूप को भी बढ़ाकर और उसी परिमाण में निकास विभाग से नोट निकालकर चलअर्थ का विस्तार किया जाता है। चलअर्थ के संकोचन के लिए इसी प्रकार, बाजार के चलन से नोटों को हटाकर उसी परिमाण में सम्पत्ति के किसी रूप को भी कम कर दिया जाता है। "साधारणतया विस्तार की दशा में बैंक निकास विभाग की सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए रुपये अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को अथवा दोनों को बैंकिंग विभाग से निकास विभाग में बदल दिया करता है। अथवा, वह उस विशेष उद्देश्य के लिए

कोष-अधिपत्रों (Treasury Bills) का निर्माण कर देता है। संकोचन करने की दशा में वह रुपये अथवा स्टर्लिंग की प्रतिभूतियों अथवा दोनों को निकास विभाग से बैंकिंग विभाग में बदल देता है। अथवा, वह निकास विभाग में रखे हुए तदुद्देशीय कोषपत्रों को रद्द कर देता है।"

युद्ध के समय नोटों के चलन का अत्यधिक विस्तार हुआ था। इन नोटों को उन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विरुद्ध निकाला जाता था, जो युद्ध की परिस्थितिवश एकत्रित हो जाया करती थीं। सितम्बर १९३९ में युद्ध आरम्भ होने पर कुल १८२ करोड़ रुपये के नोट चलन में थे। यह संख्या ३ अगस्त १९४५ को बढ़कर १,१३३ करोड़ रुपये हो गई अर्थात् इस बीच में ९५१ करोड़ रुपये के नोट बढ़ गए। इसी बीच में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में ९७५ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई।

भारतीय चलअर्थ प्रणाली पर द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव के सम्बन्ध में अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

उन्तीसवां अध्याय

द्वितीय महायुद्ध में भारतीय चलअर्थ तथा विनिमय

१. **प्रस्तावना** । सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर चलअर्थ की पुरानी समस्यायें पृष्ठभूमि में जा पड़ीं तथा नयी-नयी समस्यायें उत्पन्न हो गयीं । युद्ध की अत्यधिक विशेषता प्राप्त चलअर्थ समस्याओं का सम्बन्ध विनिमय नियंत्रण, चलअर्थ के परिमाण में अत्यधिक वृद्धि और उसके फलस्वरूप होने वाली मूल्यवृद्धि, युद्ध के खर्चे तथा स्टर्लिंग के जमा होने से था ।

२. **चलअर्थ पर प्रभाव** । चलअर्थ पर युद्ध के मुख्य प्रभाव ये पड़े—(१) नोटों को बदलवाने के लिए जनता का बैंकों पर दौड़ना, और उस के परिणामस्वरूप (२) रुपये का राशन जारी किया जाना, (३) एक रुपये तथा दो रुपये के नोटों का निकाला जाना, (४) नई अठन्नियों के सिक्के का चलाया जाना, (५) कम चांदी वाले रुपये के नये सिक्कों का चलाया जाना, (६) पुराने प्रामाणिक रुपयों का बाज़ार से हटाया जाना, और (७) बाजार में चलने वाले चलअर्थ का अत्यधिक विस्तार । नोटों को बदलने की मांग, जो जून १९४० से पूर्व कम थी, पहले प्रतिसप्ताह एक करोड़ रुपयों से बढ़कर बाद में प्रतिसप्ताह चार करोड़ रुपये तक जा पहुंची थी । रिज़र्व बैंक के निकास विभाग में युद्ध के आरम्भ से रुपयों का जो भंडार ७५,४७ करोड़ रुपयों का था, वह ५ जुलाई १९४० को घटकर ३२ करोड़ रुपये का ही रह गया । अतएव यह घोषणा की गई कि अपनी व्यक्तिगत अथवा व्यावसायिक आवश्यकताओं से अधिक सिक्के प्राप्त करना अपराध है । रुपये के सिक्कों तथा रेज़गारी की भी भारी कमी रही । किन्तु रिज़र्व बैंक ने इन कठिनाइयों को किसी प्रकार पार कर लिया और इस विषय में जनता की उचित आवश्यकता को पूर्ण करने का प्रबन्ध कर लिया गया ।

रुपयों की कमी को पूर्ण करने के लिए सरकार ने २४ जून १९४० को एक रुपये के नोट निकाले । इन नोटों के बदले में रुपये के सिक्के देना वर्जित था । फरवरी १९४३ में दो रुपये के नोट भी निकाले गये ।

१९४० में चवन्नियों तथा अठन्नियों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए नयी अठन्नियां चलाई गयीं । उनके संग्रह को रोकने तथा चांदी की बचत करने के उद्देश्य से इन सिक्कों में ११/१२ शुद्ध चांदी को घटा कर १/२ शुद्ध चांदी रखी गई । इसी वर्ष रुपये के

नये सिक्के भी चलाए गए। इनमें ९० ग्रेन शुद्ध चांदी तथा ९० ग्रेन खोट धातु थी। इनके किनारे एक सुरक्षित नमूने पर बनाए गए थे, जिससे नकली रुपयों का बनाया जाना रोका जा सके। ३१ मार्च १९४१ के बाद रानी विक्टोरिया के रुपयों तथा अठन्नियों की विधि-ग्राह्यता को वापिस ले लिया गया। ३१ मार्च १९४२ के बाद बादशाह एडवर्ड सप्तम के रुपयों तथा अठन्नियों का चलन बन्द कर दिया गया और ३१ मई १९४३ के बाद बादशाह जार्ज पंचम तथा बादशाह जार्ज षष्ठ के प्रामाणिक रुपयों तथा अठन्नियों का चलन बन्द कर दिया गया। इसी प्रकार क्रमशः ११/१२ शुद्ध चांदी के सिक्कों के स्थान पर १/२ शुद्ध चांदी की चवन्नियों को चलाया गया।

किन्तु युद्ध का सबसे अधिक विशिष्ट प्रभाव था बाज़ार में चलने वाले चलअर्थ का अत्यधिक विस्तार तथा उसके आनुषंगिक प्रभाव। इस विषय में तथा युद्धकालीन अन्य विस्तृत बातों के सम्बन्ध में पृथक् विचार किया जायगा।

३. विनिमय नियंत्रण। एक पिछले अध्याय में यह बतालाया जा चुका है कि द्वितीय युद्ध के आरम्भ के पूर्व की दशाब्दी में सरकार को १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर रुपये-स्टर्लिंग का सम्बन्ध बनाए रखना कठिन हो रहा था। उसको बनाए रखने के लिए कुछ तो चलअर्थ का संकोचन करना पड़ता था और कुछ १९३१ के बाद स्वर्ण निर्यात द्वारा उसे सहायता मिली थी। इस कठिनाई का मुख्य कारण था कृषि-पदार्थों की भयंकर मन्दी के समय हमारे निर्यातों की बचत का भयंकर रूप से गिर जाना। युद्ध आरम्भ होने पर यह स्थिति एकदम बदल गई। अब ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत से युद्ध सामग्री मोल ली जाने के कारण हमारे निर्यात अत्यधिक बढ़ गए, जिससे हमारे निर्यातों से हमको बचत होने लगी, इसके परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक बहुत बड़े परिमाण में स्टर्लिंग मोल लेने योग्य हो गया। अतएव १ शिलिंग ६ पेंस के विधि-निर्धारित भाव पर स्टर्लिंग-रुपये के सम्बन्ध को बनाए रखना कठिन नहीं रहा।

किन्तु रुपया, जहां स्टर्लिंग की तुलना में दृढ़ बना रहा, वहां उसका भाव डालर, येन तथा यूरोप के अन्य चलअर्थों की तुलना में कम हो गया। क्योंकि इस समय स्टर्लिंग का मूल्य भी इन चलअर्थों की अपेक्षा गिर रहा था। स्टर्लिंग डालर के साथ ४·२ डालर के भाव पर बन्धा हुआ था। अतएव रुपये डालर की विनिमय दर १०० डालर के ३३२ रुपये स्थिर हो गई।

ग्रेट ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए भारत सरकार ने भी विनिमय का नियंत्रण किया। १९३९ के भारत रक्षा अध्यादेश (Defence of India Ordinance) के भाग १४ के अनुसार गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह (१) विदेशी विनिमय के मोल लेने पर प्रतिबन्ध लगा सके, (२) विदेशी विनिमय को अनिवार्य रूप से प्राप्त कर सके, (३) प्रतिभूतियों के क्रय तथा विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा सके, और (४) विदेशी प्रतिभूतियों (Securities) को प्राप्त कर सके। इसके अनुसार सरकार ने

आज्ञा दी कि विदेशी विनिमय के सभी सौदे केवल ऐसे अधिकृत व्यापारियों के द्वारा ही किये जावें, जिनपर रिज़र्व बैंक का अपने नवनिर्मित विनिमय नियंत्रण विभाग द्वारा नियंत्रण स्थापित हो।

विनिमय नियंत्रण उद्देश्य के लिए ब्रिटिश राष्ट्रमंडल को एक अकेली चलअर्थ इकाई मान लिया गया और उसे स्टर्लिंग क्षेत्र कहा गया। इस क्षेत्र के अंदर-अंदर धन के स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तन पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर चलअर्थों के क्रय तथा विक्रय पर कठोर नियंत्रण लगाया गया।

स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहिर धन भेजने की स्वीकृति तब तक किसी प्रकार भी नहीं दी जाती थी, जब तक धन भेजने वाला एक छपे हुए प्रार्थनापत्र पर यह न बतलाए कि वह किस उद्देश्य से देश के बाहर धन भेजना चाहता है। धन भेजने की आवश्यकता इन कार्यों के लिए पड़ सकती थी: (१) आयातों का मूल्य चुकाने के लिए—इसकी अनुमति दे दी जाती थी। किन्तु प्रार्थी को आयात कर की रसीद यह प्रमाणित करने के लिए उपस्थित करनी पड़ती थी कि माल का आयात भारत में किया जा चुका है; (२) छोटे-छोटे व्यक्तिगत मनीआर्डर; (३) यात्राव्यय—इनकी एक निश्चित सीमा तक ही अनुमति दी जाती थी; (४) अन्य व्यापारिक उद्देश्य (किराया, लाभ, सौदे का प्राप्य अंश अथवा रॉयलटी)—इन कार्यों के लिए प्रार्थियों को अधिकृत हिसाब लेखकों (Chartered Accountants) से प्रमाणपत्र अथवा उनके वास्तविक भुगतान होने की अन्य समुचित साक्षी देनी पड़ती थी; (५) पूंजी का स्थानान्तरीकरण—इसकी स्वीकृति किसी एक विशेष मामले में दी जाती थी और इस मामले को भारत के रिज़र्व बैंक को सौंपना पड़ता था। इन नियमों का उद्देश्य इस बात का निश्चित पता लगाना था कि विदेशी विनिमय को केवल व्यापार में धन लगाने अथवा किसी अन्य स्वीकृत उद्देश्यों के लिए ही बेचा गया था। इनका उद्देश्य था देश से बाहर पूंजी के जाने को रोकना और विनिमय में सट्टे जैसे कार्यों को रोककर असंभव बना देना।

आयात नियंत्रण—आरम्भ में विदेशी विनिमय की बिक्री में बैंकों को अत्यधिक स्वतन्त्रता दी गई। किन्तु ज्यों-ज्यों युद्ध चलता रहा उसकी सुविधाओं को कम किया जाता रहा। बाद में रिज़र्व बैंक को बतलाये बिना लाइसेंस प्राप्त आयातों का भुगतान करने तथा कुछ व्यक्तिगत हुण्डियों के लिए विनिमय बेच सकते थे। आयातों पर कठिन नियंत्रण लगा दिया गया। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर से लाइसेंस के बिना सभी प्रकार के आयातों को बंद कर दिया गया।

निर्यात नियंत्रण—विनिमय के चलते रहने पर यह आवश्यक समझा गया कि भारत से स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशों को जाने वाले निर्यात माल पर भी नियंत्रण लगाया जाय। अतएव रिज़र्व बैंक ने एक निर्यात नियंत्रण की योजना बनाई। निर्यात नियंत्रण योजना का उद्देश्य प्रथम तो यह निश्चय करना था कि निर्यातों की बिक्री से प्राप्त होने

वाला विदेशी विनिमय भारत में ही वापिस आ जावे और विदेशों में न रुक जावे। दूसरे, यह कि निर्यातों में कुछ इस प्रकार विशेष रूप से बतलाए हुए ढंग से धन लगाया जावे कि उसका अधिकतम विनिमय मूल्य प्राप्त हो सके।

भारतीयों (तथा राष्ट्र मण्डल देशों के अन्य नागरिकों) को प्राप्त होने योग्य जो धन निर्यात से संयुक्त राज्य अमरीका में मिलना हो, वह ब्रिटिश सरकार को दे दिया जाय और उसका एक 'साम्राज्य डालर निधि' नाम से एक फंड बना दिया जाय और उसका उपयोग युद्ध उद्देश्यों में किया जाय।

अमुद्रित स्वर्ण प्रतिभूतियों तथा विदेशी चलअर्थों का नियंत्रण—साधारण वस्तुओं के अतिरिक्त अमुद्रित स्वर्ण प्रतिभूतियों (Bullion Securities) तथा करेंसी नोटों के आयात निर्यात पर भी नियंत्रण लगाया गया। स्वर्ण का निर्यात एक लाइ-सेंस लेकर ही किया जा सकता था। आयात भी लाइसेंस द्वारा ही किया जा सकता था। किन्तु स्वर्ण के आयात में किसी महत्वपूर्ण चलअर्थ, विशेषकर डालर का व्यय न होता हो तो उसका आयात किया जा सकता था।

जहां तक प्रतिभूतियों का सम्बन्ध है, उनको भारत में निकास न करने वाले किसी व्यक्ति से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता था, न रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना उनका निर्यात किया जा सकता था। विदेशी प्रतिभूतियों के निर्यात के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था। किन्तु वह तभी मिलता था जब विदेशी विनिमय से मिलने वाले चलअर्थ को भारतीय बैंक के विदेशी प्रतिनिधि को दे दिया जाता था।

भारत के बाहर जवाहिरात तथा नकदी ले जाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। कुछ विशेष न्यूनतम रक़म को बिना लाइसेंस भारत के बाहर ले जाया जा सकता था। किन्तु उसके ऊपर की रक़म ले जाने के लिए रिजर्व बैंक के विनिमय नियंत्रण विभाग से लाइसेंस लेना पड़ता था।

शत्रु द्वारा अधिकृत देशों से करेंसी नोटों का आयात नहीं किया जा सकता था। ऐसा करने का उद्देश्य था आक्रान्त देशों में पकड़े हुए नोटों के बड़े बड़े भंडारों की शत्रु द्वारा बिक्री का रोकना। तो भी इस बात की व्यवस्था कर दी गई थी कि शत्रुद्वारा अधिकृत क्षेत्र से आने वाले प्रामाणिक निष्क्रमणार्थियों के कब्ज़े में मिलने वाले नोटों को भुना दिया जाय।

४. साम्राज्य डालर निधि। १९३९ में यूनाइटेड किंगडम ने स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यों की विदेशी विनिमय सुरक्षा निधियों के लिए नियंत्रण का कार्य अपने हाथ में ले लिया। स्टर्लिंग क्षेत्र के जिस किसी भी देश के पास व्यापारिक संतुलन से अधिक जो कुछ भी था, वह स्टर्लिंग के रूप में यूनाइटेड किंगडम को दिया गया। इस प्रकार भारत का अत्यधिक स्टर्लिंग बकाया ब्रिटेन में जमा हो गया। किन्तु इसके अतिरिक्त किसी स्टर्लिंग देश का, जो कुछ भी अधिक संतुलन किसी स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर के देश के पास था, उसको

भी स्टर्लिंग अधिकार करके समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार स्टर्लिंग पर क्षेत्र द्वारा कमाए हुए सभी डालर 'साम्राज्य डालर निधि' नामक एक सर्व संयुक्त निधि में जमा कर दिये जाते थे और उनको कमाने वाले देश को स्टर्लिंग के रूप में उसके अनुरूप साख मिल जाती थी। इस समय समस्त स्टर्लिग क्षेत्र व्यवहारतः एक आर्थिक इकाई बन गया तथा विनिमय नियंत्रण के मामले में उसमें सब कहीं एक से नियम तथा नियंत्रण लागू होते थे। कमाए हुए सभी डालर एक सर्वसाधारण हिसाब में डाले जाते थे और कोई सदस्य, जिसे अपनी खरीद के लिए डालरों की आवश्यकता होती थी, बैंक आव् इंग्लैण्ड में से इस डालर निधि में से डालर निकाल सकता था।

१९३९ से १९४६ तक भारत साम्राज्य डालर निधि में बराबर डालर देता रहा। इस बीच में उसने कुल ४०५ करोड़ रुपये के डालर कमाए और २४० करोड़ रुपये के डालर इसी बीच खर्च किये। अन्य कठोर चल अर्थों पर किये हुए ५१ करोड़ रुपये के खर्चे को काट कर भारत ने 'साम्राज्य डालर निधि' में ११४ करोड़ रुपये अपनी विशुद्ध बचत के डालर जमा किये।

किन्तु भारत का लोकमत यह नही चाहता कि भारत इस डालर निधि में बराबर ऐसी स्थिति में भी देता रहे, जबकि स्वयं इस देश में ही विकास कार्यो के लिए पूंजीगत माल मोल लेने के लिए धन की बुरी तरह से आवश्यकता थी। भारत की इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए १९४४ तथा १९४५ में दो करोड़ डालर दिये गए। किन्तु आवश्यक माल के अनुपलब्ध होने के कारण भारत डालरों के इस अनुदान से लाभ न उठा सका। किन्तु भारत सिद्धान्त रूप में इस प्रकार थोड़े-थोड़े करके डालर दिये जाने के विरुद्ध था, और अपनी डालर आय के ऊपर बिना प्रतिबन्ध के अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहता था। १९४७ में भारत को विश्वास दिलाया गया कि वह अपने डालर साधनों का उपयोग करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र है। उसके स्टर्लिंग शेष के पर्याप्त मात्रा में छोड़े जाने से भी स्थिति कुछ कुछ सुगम बनी। १९४८ में डालर लेने पर फिर कुछ पाबन्दी लगाई गई, किन्तु उसको १९४९ में फिर हटा लिया गया। अवमूल्यन (Devaluation) के समय भारत शेष स्टर्लिंग क्षेत्र सहित इस बात पर स्वयं ही सहमत हो गया कि वह १९४८ की अपेक्षा १९४९-५० में अपने डालर के क्रय में २५ प्रतिशत की कमी कर देगा।

५. **चलअर्थ की युद्धकालीन खपत।** "भारतीय चलअर्थ के क्षेत्र में युद्ध-कालीन विभिन्न विस्तृत कार्यों में चलअर्थ के अत्यधिक प्रसार ने अपने प्रदर्शनात्मक रूप में—उसके विस्तृत लपेट तथा सामान्य मनुष्य के दैनिक जीवन पर उसके सीधे प्रभाव ने सभी को पीछे छोड़ दिया।"[1] १ सितम्बर १९३९ को भारत के बाज़ार में कुल

---

१. Malhotra, D. K., History and Problems of Indian Currency and Exchange, 1947, p. 122.

१८२·१३ करोड़ रुपये के करेंसी नोट (रिज़र्व बैंक द्वारा निकाले हुए) चल[1] रहे थे। १९ अक्तूबर १९४५ को यह रकम १,१५९,८५ करोड़ रुपया हो गई। इसका अर्थ यह है कि इसमें ९७७·७२ करोड़ रुपये अथवा ५३·६ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

सितम्बर १९३९ से अगस्त १९४५ तक रुपये के सिक्कों की कुल खपत १४२·१६ करोड़ रुपये की हुई और रेज़गारी की खपत ६७·५९ करोड़ रुपये की हुई।

बैंकों की अमानतों में भी वृद्धि हुई थी। यह वृद्धि शेड्यूल्ड बैंकों में (उन्हीं के अंक मिलते हैं) युद्ध के आरम्भ से ३१ मार्च १९४५ तक ४६८ करोड़ रुपये हुई।

इस प्रकार युद्ध के पूरे समय भर चलन में १,१९८·६४ करोड़ रुपये की संपूर्ण वृद्धि हुई। इस वृद्धि में से ८२·५ प्रतिशत वृद्धि नोट निकालने के कारण तथा ११·९ प्रतिशत रुपये की मुद्राओं में तथा ५·६ प्रतिशत वृद्धि रेज़गारी में हुई।

किन्तु तौ भी चलअर्थ के चलन की शीघ्रगति कम हो रही थी और उसका कारण था युद्ध के खतरे से उत्पन्न हुई अतिसंग्रह की प्रवृत्ति का वढ़ जाना। जनता, बैंक तथा व्यापारिक फ़र्में सभी अत्यन्त तरल स्थिति को वनाए रखना चाहते थे, किन्तु चलअर्थ के चलन की शीघ्रगति से गिर जाने की चाल चलअर्थ के फुलाव को रोकने के लिए अत्यधिक मंद थी।

६. मूल्यों में वृद्धि। चलअर्थ के इस विस्तार के साथ-साथ साधारण मूल्य-स्तर में भी अत्यधिक वृद्धि हुई, जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से प्रगट है :

भारत में थोक मूल्यों के सूचक अंक (Index Numbers)

(१९ अगस्त १९३९ के समाप्त होने वाले सप्ताह=१००)

वर्ष	कृषि पदार्थ	कच्ची सामग्री	निर्मित माल	साधारण-सूचक अंक
१९३९-४०	१२७	११९	१३१	१२६
१९४५-४६	२७३	२१०	२४०	२४५

मूल्य वृद्धि तथा चलअर्थ के विस्तार में निकट सम्बन्ध था। निम्नलिखित त्रैमासिक सूचक अंक[2] इस निकट सम्बन्ध को प्रगट करते हैं :—

(जुलाई १९२९=१००)

	१९४०	१९४२	१९४३	१९४४	१९४५	१९४६
कुल नोट चलन में	१३२	२०४	३५६	५०५	६१३	७०५
थोक मूल्य	१२५	१५४	२५८	२९९	३०१	२९५
तात्कालिक अमानतें	१०५	१६७	२७३	३९०	४५५	५८२

१. बाज़ार का चलन—कुल निकाले हुए नोटों में से बैंकिंग विभाग में रखे हुए नोटों को निकाल कर।

२. इस तालिका में दिये हुए सभी अंक प्रत्येक वर्ष के प्रथम तीन मास के हैं।

७. स्टर्लिंग सम्पत्ति का एकत्रित हो जाना। गत अध्याय म यह देखा जा चुका है कि रिज़र्व बैंक द्वारा अपने चलाए हुए नोटों में वृद्धि करने से पूर्व बैंक की निकास विभाग की सम्पत्ति को बढ़ाना पड़ता था। वास्तव में जैसा कि निकास विभाग के विभिन्न मदों की सम्पत्ति के परिवर्तनों को बतलाने वाले निम्नलिखित अंकों से प्रगट है, सम्पत्ति में इस प्रकार की वृद्धि वास्तव में की गई :

१-९-१९३९ से ३१-८-१९४५ तक के अंकों के ऊपर कमी (–) या वृद्धि (+)

	करोड़ रुपयों में
१. स्वर्ण सिक्के और अमुद्रित स्वर्ण	कुछ नहीं
२. स्टर्लिंग प्रतिभूतियां	+९७४·८
३. रुपये के सिक्के	– ५८·४
४. रुपये की प्रतिभूतियां	+ २०·५
५. समस्त सम्पत्ति	+९३६·९
निकाले हुए समस्त नोट	+९३६·९

यह स्पष्ट है कि चलअर्थ का अधिकांश प्रसार स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विरुद्ध हुआ। यह प्रतिभूतियां लंदन में स्टर्लिंग के रूप में पूंजी लगाए जाने का प्रतिनिधित्व करती थीं। दूसरे शब्दों में यह रकम भारत द्वारा इंग्लैण्ड को उधार दी गई थी।

भारत को यह स्टर्लिंग साधन किस प्रकार मिले और वह लंदन में इस रूप में क्यों रखे गए ? इसको समझने के लिए यह आवश्यक है कि भारत सरकार द्वारा भारत में ब्रिटिश सरकार की ओर से मोल लिये हुए माल का भुगतान करने की प्रणाली को समझ लिया जाय।

८. युद्ध के वित्त की यंत्र-रचना। कुछ रकम भारत सरकार द्वारा भारत की ओर से युद्ध उद्देश्य के लिए खर्ची जाती थी। इस रकम को सरकार के नियमित बजट में रक्षा-व्यय में दिखलाया जाया करता था। इस रकम का प्रबन्ध कुछ तो कर लगा कर किया गया और कुछ विभिन्न प्रकार के ऋण लेकर किया गया। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ब्रिटिश सरकार तथा अन्य मित्र-राष्ट्रों की ओर से विभिन्न प्रकार की युद्ध-सामग्री को मोल लेने के लिए प्रतिवर्ष बड़ी भारी मात्रा में खर्चा करती थी। इस माल के लिए ब्रिटिश-सरकार लंदन में स्टर्लिंग के रूप में भुगतान किया करती थी। इस स्टर्लिंग में से कुछ से घरेलू व्ययों (Home Charges) का खर्च चुकाया जाता था, कुछ से भारत का स्टर्लिंग ऋण चुकाया जाता था और शेष ब्रिटिश सरकार को उधार दे दिया जाता था। ब्रिटिश सरकार की स्टर्लिंग प्रतिभूतियां भारत के रिज़र्व बैंक की सम्पत्ति के रूप में लंदन में रखी जाती थीं। उन्हें प्रथम रूप में बैंकिंग विभाग की सम्पत्ति में दिखलाया जाता था। किंतु रुपये के रूप में धन की आवश्यकता पड़ने पर उनको निकास विभाग में बदल दिया जाता था। इस सम्पत्ति के अनुसार रिज़र्व बैंक अधिनियम की व्यवस्था द्वारा भारत में नोट निकाले

जाते थे। भारत सरकार इन नोटों का उपयोग उस युद्ध सामग्री को मोल लेने में करती थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस प्रकार भारत में चलअर्थ का फुलाव हो गया।

किन्तु स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में लगाए हुए सभी स्टर्लिंग रिज़र्व बैंक के अधिकार में इस प्रकार नहीं आये। भारत के रिज़र्व बैंक ने उसके एक भाग को उनसे मोल लिया था, जिन्होंने भारत से माल का आयात किया था और जो भारतीय निर्यातकों को उस माल का भुगतान रुपयों में करना चाहते थे। नीचे स्टर्लिंग के विभिन्न साधनों का विस्तृत वर्णन देकर यह भी बतलाया जाता है कि स्टर्लिंग की राशि का उपयोग किस प्रकार किया जाता था :

प्राप्त किये हुए स्टर्लिंग	करोड़ों रुपये में
१. रिज़र्व बैंक की स्टर्लिंग सम्पत्ति, अगस्त १९३९ में	६४
२. सितम्बर १९३९ से मार्च १९४६ तक बैंक द्वारा मोल लिये हुए स्टर्लिंग	८१३
३. ब्रिटिश सरकार द्वारा चुकाए हुए स्टर्लिंग	१,६३२
४. स्टर्लिंग के अन्य जमाखाते	४५
सम्पूर्ण प्राप्ति	२,५५४

उपयोग में लिए हुए स्टर्लिंग	करोड़ों रुपये में
१. मार्च १९४५ तक ऋण चुकाने में लगाए हुए स्टर्लिंग	४११
२. सरकार के स्टर्लिंग वायदे	३१४
३. जनता को बेचे हुए स्टर्लिंग	७५
४. मार्च १९४५ के अंत तक रिज़र्व बैंक के पास बकाया स्टर्लिंग	१,७२४
योगफल	२,५५४

९. स्वर्ण की प्रतिभूतियां। चलअर्थ के प्रसार का कारण केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की वृद्धि ही नहीं था, वरन् जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, रुपये की प्रतिभूतियों की वृद्धि भी थी। पहले रिज़र्व बैंक अधिनियम के अनुसार इन प्रतिभूतियों को ५० करोड़ रुपये के मूल्य से अधिक मात्रा में नहीं रखा जा सकता था। किन्तु फर्वरी १९४१ के एक अध्यादेश द्वारा इस सीमा के प्रतिबन्ध को हटा दिया गया। इससे सरकार को रिज़र्व बैंक से अपने कोष अधिपत्रों (Treasury Bills) के विरुद्ध उधार लेने का अधिकार मिल गया। रुपए की इन प्रतिभूतियों में से कुछ उन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के बदले में थीं, जो ऋण चुकाने से पूर्व ब्रिटिश उधार देने वालों के पास थीं। जहांतक स्टर्लिंग ऋण के जनता द्वारा ऋण लेकर देश के अन्दर ही चुकाए जाने का सम्बन्ध है, चलअर्थ का कोई विस्तार नहीं हुआ।[1]

---

१. किसी देश को स्टर्लिंग ऋण चुकाये जाने के सम्बन्ध में भारत के सार्वजनिक ऋण वाले अध्याय में उपयुक्त धारा को देखो। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि

१०. मुद्रा-स्फीति[1]। युद्ध के समय नोटों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाने के कारण देशमें मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई। मूल्यस्तर का पेंच ऊपर ही ऊपर घूमता गया। चलअर्थ में वृद्धि मूल्यों को बढ़ाने का कारण भी है,और परिणाम भी है। एक बार स्फीति की प्रक्रिया आरम्भ होने पर वह स्वयं ही बढ़ती जाती है। जितना ही अधिक चलअर्थ बाज़ार में आएगी, मूल्य बढ़ते चले जाँयगे। मूल्य बढ़ते जाने से उतने ही परिभाव में माल मोल लेने के लिए और चलअर्थ की आवश्यकता पड़ती है तथा चलअर्थ मूल्यों को और ऊपर को चढ़ाता है और इस प्रकार स्फीति का पेचदार कार्य अस्तित्व में आता है। आरम्भिक धक्का साधारणतः आता ही है और भारत में वह चलअर्थ के विस्तार द्वारा आया।

आरम्भ में सरकारी पक्ष ने भारत नें स्फीति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। किन्तु भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इस दृष्टिकोण का मुकाबला करने के लिए ललकार दी। उस समय प्रोफैसर वकील ने लिखा था कि "लंदन में प्राप्त किये हुए स्टर्लिंग के विरुद्ध भारत में नोट निकालने का यह कार्य उसी प्रकार का है, जैसे आवश्यकता वाली सरकार द्वारा छापने के प्रेस द्वारा उसी प्रकार की कृत्रिम क्रय-शक्ति का निर्माण करना, जैसा कि कई देशों द्वारा गत युद्ध में भी किया गया था।[2] यह मुद्रा-स्फीति थी, क्योंकि मुद्रा-स्फीति उस स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं, जबकि चलअर्थ का परिमाण साथ ही साथ उत्पादन में वृद्धि हुए बिना बढ़ता जाता है।"[3] भारत में यही हुआ। आज कल की दृष्टि से स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का लंदन में रखा जाना पूर्णतया असंगत था।

यूनाइटेड किंगडम तथा अमरीका ने मुद्रा-स्फीति से बचने का पूर्ण प्रयत्न किया। जुलाई १९३९ की तुलना में १९४६ के अंत तक, जबकि भारत में मूल्य १८० प्रतिशत बढ़े, ब्रिटेन में वह केवल ७३ प्रतिशत और अमरीका में केवल ४३ प्रतिशत ही बढ़े।

भारत में स्टर्लिंग साधनों के एकत्रित हो जाने से उसका स्टर्लिंग ऋण, जो १९३८-३९ में ४६९ करोड़ था, घटकर १९४५-४६ के अन्त में कुल ३७·४ करोड़ ही रह गया। इस परिमाण में अंगरेज़ साहूकारों का ऋण चुका दिया गया। इस ऋण में से कुछ को जनता को रुपये की प्रतिभूतियां देकर देश के अंदर ऋण लेकर भारतीय साहूकारों के नाम बदल दिया गया। कुछ रिज़र्व बैंक ने ले लिये। इसीलिए बैंक के पास रुपये की प्रतिभूतियों की संख्या बढ़ गई।

१. स्फीति की समस्या पर मूल्यों के अध्याय में अधिक पूर्णता से विचार किया गया है।

२. C. N. Vakil–Financial Burden of the War on India, p. 72.

३. Ibid, p. 58.

चलते ही रहेंगे। देश में बैंकिंग प्रवृत्ति का विकास होने पर कुछ समय में धातु चलअर्थ का स्थान नोट ले सकते हैं और ऐसी दशा में धातु मुद्रा के उपयोग और भारी परिमाण में धातु निधि रखने के खर्चे से बचा जा सकेगा ।

(४) मूल्य ऐसा कोई स्थिर मान नहीं है, जिसकी तुलना में करेंसी नोटों को प्रकट किया जा सके। इसके अतिरिक्त दो भारी कठिनाइयां हैं : (क) यद्यपि नोट असीमित रूप में विधिग्राह्य हैं, किन्तु उनको चांदी या सोने में नहीं बदला जा सकता, केवल विधिग्राह्य रूप में बदला जा सकता है, (ख) दूसरी कठिनाई है "स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में बदले जाने के लिए करेंसी नोटों की स्टर्लिंग की अधीनता।" पौण्ड-स्टर्लिंग में उतार-चढ़ाव की संभावना एक निर्बलता है। जिस मात्रा में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को असली रूप नहीं दिया जा सकता, उसी मात्रा में उनके आधार वाले नोटों को भी नहीं बदला जा सकता।

(५) व्यापार में परिवर्तन होने अथवा बढती हुई अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के फलस्वरूप भारतीय चलअर्थ प्रणाली स्वयंचलित संकोचन या विस्तार होने योग्य नहीं है। रुपया एक बार बाज़ार में जाने पर कमी-कभी वापिस तब लौटता है, जब उस की आवश्यकता निकल जाती है। उनको संग्रह करके रखा जाता है। फिर जब नये रुपयों की आवश्यकता पड़ती है तो उनको टकसाल से ही लाया जाता है। इससे देश के साधनों पर भारी बोझ पड़ता है और इस उद्देश्य के लिए जो भारी मात्रा में चांदी मोल लेनी पड़ती है, वह देश के व्यापारिक संतुलन को बिगाड़ देती है। नोटों के निकालने में भी लोच नहीं है, क्योंकि उनके लिए सुरक्षा निधि रखनी पड़ती है। "जबतक सुरक्षा निधि की व्यवस्था आज के समान कड़ी बनी रहेगी और उस पर स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का प्रभुत्व रहेगा और जब तक देश की अर्थव्यवस्था के कार्यकारी रूप के साथ, विशेषकर घर तथा विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में निकट सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता, कागज़ी मुद्रा देश की अर्थ-नीति में, तब तक पूर्ण-सेवा करने योग्य नहीं बन सकेगी।"

(६) चलन में आने वाली सभी प्रकार की मुद्रा के समग्र मूल्य और संहारित राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में कोई सहयोग-सम्बन्ध नहीं है। हमारे देश में 'अमानत चलअर्थ' बहुत कम है, जिसका प्रत्येक आधुनिक व्यापारिक देश अधिकाधिक विकास करता है।..... बाज़ार में चलने वाली मुद्रा के समस्त परिमाण.....और देश की आर्थिक आवश्यकता..... उसकी उत्पादन योग्य क्षमता अथवा वितरण की आवश्यकताओं के बीच कोई पारस्परिक संबंध नहीं है।

तीसवां अध्याय

चलअर्थ तथा विनिमय की मुख्य समस्याएं

१. भारत के चलअर्थ की मुख्य समस्याओं का सम्बन्ध मान (Standard) की समस्या, अनुपात (Ratio) की समस्या, स्टर्लिंग बकाया की समस्या और तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-संबंधी सहयोग की समस्या से है। इनमें से प्रत्येक समस्या पर नीचे एक एक करके विचार किया जायगा।

२. **मान की समस्या।** इस विषय में भारत को निम्नलिखित में से किसी एक का निर्वाचन करना है—

१. स्टर्लिंग विनिमय मान को बनाए रखना।

२. डालर विनिमय मान को अपना लेना।

३. स्वर्ण मान को चलाना।

४. रुपये को किसी कानूनी सम्बन्ध से स्वतन्त्र रखना।

स्टर्लिंग के सम्बन्ध को पसन्द करने वालों का कहना है कि स्टर्लिंग भारत के निर्यातों का भुगतान करने के लिये अंतिम साधन के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय चलअर्थ सहयोग की योजना चलते रहने पर भी स्टर्लिंग क्षेत्र संसार के एक बड़े भाग में बना रहे और ऐसी दशा में स्टर्लिंग का सम्बन्ध इस क्षेत्र के साथ भारत को व्यापारिक सुविधा दिलाने का साधन होगा।

दूसरी ओर स्टर्लिंग मान के विरोधियों का विरोध अधिकतर इस कारण है कि "उनको भय है कि ब्रिटेन के आर्थिक सम्बन्ध स्टर्लिंग बकाया का पूर्ण तथा स्वतन्त्र उपयोग किये जाने में बाधक होंगे। अर्थात् उनको भय है कि स्टर्लिंग बहुपक्षीय विनिमयों के लिये सुरक्षित आधार नहीं होगा। उनको यह भी भय है कि युद्धोत्तर काल में मुद्रा-स्फीति के कारण स्टर्लिंग का मूल्य वस्तुओं की अपेक्षा घट जायगा।"[१]

यह भी कहा जाता है कि स्टर्लिंग से भूतकाल में जो लाभ होते थे, वह अब नहीं होते, न ही अब उन कारणों का अस्तित्व है, जिनके कारण इंग्लैंड स्टर्लिंग सम्बन्ध पर बल दिया करता था। हमारा स्टर्लिंग ऋण व्यावहारिक रूप से समाप्त हो चुका है। भारत की कुछ ब्रिटिश सम्पत्ति भी भारतीयों के हाथ से स्थानान्तरित कर दी गई है। भारत की ओर से ब्रिटेन में 'घरेलू व्ययों' के नाम से किये जानेवाले खर्चे समाप्त हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन आज एक ऋणग्रस्त राज्य है और विनिमय की स्थिरता के लिये अपना बकाया

---

१. Gregory—Indian Currency (Kitabistan) p. 10.

रखने के लिये सर्वोत्तम स्थान नहीं है। इंग्लैंड अपनी ओर से स्टर्लिंग को स्वतन्त्र रखना चाहता है और ब्रिटेन तथा अमरीका के तुलनात्मक मूल्यों तथा लागत पर ध्यान देने से इस बात की संभावना दिखलाई देती है कि डालर की तुलना में स्टर्लिंग का मूल्य घटेगा। इस प्रकार स्टर्लिंग सम्बन्ध रुपये को ब्रिटेन की चलअर्थ नीति की दया पर छोड़ देगा और ऐसा करते समय वह भारत की आवश्यकता पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं देगा। उदाहरणार्थ, जब इंग्लैंड को १९४९ में स्टर्लिंग का मूल्य घटाना पड़ा तो भारत को भी उसका अनुकरण करना पड़ा।

तौ भी, अंतिम रूप में स्टर्लिंग सम्बन्ध से होने वाला लाभ स्टर्लिंग क्षेत्र के विस्तार और उस क्षेत्र के साथ हमारे व्यापार पर निर्भर है।

हमारे अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष में सम्मिलित हो जाने के कारण हमारे चलअर्थ के संबंध में एक नया विकास हुआ है। उसके साथ ही साथ हमारा स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध निर्बल तथा महत्वहीन हो गया है। अब हमको अपने मान की स्टर्लिंग विनिमय मान उचित नहीं है। स्टर्लिंग सम्बन्ध से हमको अतीत काल में लाभ नहीं हुआ। इसने हमको स्वतन्त्र चलअर्थ नीति अपनाने से रोका। देश में मुद्रा-स्फीति भी इसी के कारण हुई। किन्तु अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर देने पर भी ब्रिटेन के साथ हमारे व्यापारिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध अब भी अत्यन्त घनिष्ट हैं तथा व्यापक हैं। अतएव इस बात का विचार करते हुए रुपये का व्यवहारिक रूप में किसी भी प्रकार कुछ समय तक स्टर्लिंग के साथ घनिष्ट सम्बन्ध बना रहेगा।

३. **डालर मान।** कुछ लोगों का प्रस्ताव है कि भारत में डालर मान रखा जाय। उसके पक्ष में अनेक युक्तियां दी जा सकती हैं। प्रथम यह कि डालर का अत्यधिक सम्मान है। अमरीका युद्ध के अंदर से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अकेली आर्थिक इकाई के रूप में निकला है। किन्तु डालर मान अपनाने के लिये हमको डालर सुरक्षा कोष बनाना होगा। यह या तो ऋण लेकर किया जा सकता है अथवा अमरीका में अपनी निर्यात की बचत के भारी परिमाण को रखकर किया जा सकता है। एक तीसरा उपाय है ब्रिटेन को इस बात के लिये तैयार करना कि वह हमारे स्टर्लिंग बकाया के कुछ भाग को डालरों में बदल दे। यह संभव नहीं है कि भारत अमरीका के साथ ऋण लेने की बातचीत को सफल बना सके। क्योंकि अमरीका से ऋण मांगने वालों की संख्या बहुत बड़ी है और उनमें ब्रिटेन तथा पश्चिमी योरोप के देश भी हैं। अपने निर्यात की बचत से डालर की सुरक्षित निधि बनाना भी कठिन है। साधारण समय में हम अमरीका को बहुत कम दे सकते हैं। जहां तक स्टर्लिंग बकाया को डालरों में बदल देने का प्रश्न है, यदि इस प्रकार का सौदा बड़े परिमाण में किया गया तो "संभवतः इसको पूंजी का सौदा समझा जायगा, अतएव इस पर ब्रिटेन द्वारा नियंत्रण लगाया जा सकेगा।"[1] यदि किसी प्रकार एक सुरक्षा निधि बना भी ली गई तो डालर के साथ

१. Gregory—Indian Currency, p. 11.

रुपये को बांधने से हमारे आर्थिक जीवन में भारी अस्थिरता आ जायगी, क्योंकि अमरीका के आर्थिक कार्यकलाप अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में झूलते रहते हैं। उन मौलिक उत्पादकों के निर्यातक के रूप में, जिनके मूल्य में प्रायः भारी उतार-चढ़ाव होता रहता है, भारत के आर्थिक जीवन मे पहले से ही अस्थिरता बनी हुई है। डालर के साथ सम्बन्ध हो जाने से यह अस्थिरता और भी बढ़ेगी, क्योंकि इसमें दोनों देशों के "मूल्य तथा लागत की रचनाओं" (मूल्यों तथा लागतों के सापेक्ष सम्बन्धों) का सम्बन्ध गर्भित रहेगा।

४. **स्वर्ण मान**। स्वर्ण मान के पक्ष में सम्भवता भूतकाल की अपेक्षा आज इतना प्रबल नहीं है। निःसंदेह, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कोष[1] में सोना महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा। यह संभावना नहीं है कि अनेक देश स्वर्ण मान को अपना लेंगे। यदि रुपयों का स्वर्ण के साथ सम्बन्ध कर दिया गया तो जिन देशों का चल अर्थ सोने का न होगा अर्थात् स्टर्लिंग होगा उनके साथ उतार-चढ़ाव के सम्बन्ध स्थापित हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त भारत के पास असीमित परिमाण में स्वर्ण बेचकर अपने निश्चय के औचित्य को प्रगट करने के लिए—जो कि स्वर्ण मान में आवश्यक है—स्वर्ण का पर्याप्त भंडार भी नहीं होगा।

५. **स्वतन्त्र रुपया**। अंतिम प्रस्ताव है कि रुपये को किसी भी विशेष सम्बन्ध से स्वतंत्र रखा जाय। इसका अभिप्राय है कि रुपये को बाज़ार की शक्तियों के बीच में अपना मूल्य खोजने के लिये स्वतंत्र छोड़ दिया जाय। इस नीति के अनेक लाभ बतलाये जाते हैं। इसके पक्ष में सब से प्रबल युक्ति यह है कि उससे भारत अपनी विनिमय दर को विभिन्न प्रकार की बनाते हुए बाह्य संसार में होने वाले मूल्य परिवर्तनों में समान मूल्य की रकम उसके विरुद्ध रख सकेगा। इससे हमारे घर के मूल्य तथा लागतों में कोई बाधा नहीं आएगी। उदाहरणार्थ, भारी मंदी के दिनों में यदि हम स्टर्लिंग के साथ बंधे न होकर अपनी विनिमय दर में परिवर्तन करने के लिये स्वतंत्र होते तो भारत रुपये के बाह्य मूल्य को कम करके इस देश में मूल्यों के अत्यधिक गिरने को रोक सकता था।

स्वतंत्र विनिमय से तभी लाभ होता है जब उसको कुछ गिने चुने देशों ने ही अपनाया हो। अन्यथा यह खतरा बना रहता है कि देश अपने अपने विनिमय का मूल्य घटाने में एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा किया करते है, जैसा कि भारी मंदी के समय यही अनुभव करने में आया था। इस प्रकार की नीति अपनाने का फल व्यापारिक बाधाओं को तेज करना होता है, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार रुक जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कोष (I.M.F.) के नियमों द्वारा चल अर्थ की दर में भारी परिवर्तन नहीं किये जा सकते और भारत उक्त कोष का सदस्य होने के नाते उन नियमों को पालन करने के लिये बाध्य है।

तौ भी, किसी एक कानूनी सम्बन्ध के न होने का यह अर्थ है कि रुपये को बाज़ार की अनियंत्रित शक्तियों के ऊपर छोड़ दिया जाय। यह हो सकता है कि रुपये का कानून के

---

१. नीचे की धारा को देखो।

अनुसार सोने अथवा किसी अन्य चल अर्थ के साथ बन्धन न हो, किन्तु इस प्रकार के बन्धन को तथ्य के अनुसार रखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, भारत स्वर्ण का असीमित परिमाण बेचने के किसी कानूनी उत्तरदायित्व को उठाये बिना भी स्वर्ण के साथ सम्बन्ध रख सकता है। इस प्रकार की स्थिरता व्यवहार में नियमित स्वर्ण मान के समान ही प्रभावशाली हो सकती है। इस प्रणाली में विनिमय के परिवर्तनों को स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार के परिवर्तन वास्तव में बारबार आते रहेंगे। उसी प्रकार का तथ्यानुसार सम्बन्ध स्टर्लिंग अथवा डालर के साथ भी उसको अपने ऊपर कानूनी तौर से अनिवार्य न बनाते हुए भी रखा जा सकता है। आज कल हमारी स्टर्लिंग के साथ तथ्यानुसार (de facto) सम्बन्ध बना हुआ है।

६. अनुपात की समस्या। भारत में अनुपात की समस्या के संबंध में सदा ही एक विवाद बना रहा है, किन्तु १९३९ से यह विवाद लगभग दब-सा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कोष (I. M. F.) के एक सदस्य के रूप में हमने अपना आरंभिक अनुपात १ शिलिंग ६ पेंस रखा हुआ है। क्या यह एक ठीक निर्णय है?

ठीक अनुपात का प्रमाण यह है कि लागत तथा मूल्यों के बीच एकता हो। "विनिमय की दर विभिन्न देशों के बीच में किसी एक समय रहने वाले मूल्यों के स्तर, भुगतानों के संतुलन, आर्थिक विकास की प्रवृति आदि के सम्बन्ध का सूचक अंक है।" सभी प्रासंगिक बातों पर विचार करते हुए यह दिखलाई देता है कि १ शिलिंग ६ पेंस इस प्रकार के सम्बन्धों का ठीक-ठीक सूचक है। यह भारत में वर्तमान आर्थिक दशाओं की समरूपता के बाहर नहीं जान पड़ता।

भारत में मूल्य बहुत ऊंचे हैं और हम मूल्यों को और अधिक ऊपर चढ़ाए बिना उच्च अनुपात को नीचा नहीं कर सकते। इसी प्रकार हमें उच्च अनुपात को बनाए रखना चाहिए, क्योंकि उससे आयात सस्ते हो जाते है और हम पूंजीगत माल तथा आवश्यक उपभोक्ता माल का आयात करना चाहते हैं। कुछ समय के लिये हम अपने निर्यातों की अपेक्षा अधिक आयात करना चाह रहे हैं।

आर्थिक प्रणाली में समन्वयहीनता को ठीक करनेके लिये, अथवा अनुकूल व्यापारिक स्थिति बनाने के लिए, अथवा विदेशों से अपने व्यापार की रक्षा करने के लिये अनुपात में एक परिवर्तन आवश्यक होता है। वर्तमान में ऐसा कोई गलत मिलान नहीं किया गया है कि जिसको हमें ठीक करना हो, और अन्य दो उद्देश्यों के लिये स्वतंत्र तथा एकाकी कार्य की अपेक्षा मुद्रासम्बन्धी सहयोग आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य के रूप में हमें ऐसे किसी एकपक्षीय कार्य से रोका जाता है। इसलिये सब मिला कर १ शिलिंग ६ पेंस पर टिके रहने का निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय है। यदि किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है तो कोष के नियमों के अनुसार १० से २० प्रतिशत की भिन्नता को ठीक कर लेने की उसमें अनुमति दी गई है। जब संसार भर में आर्थिक

दशा तथा मूल्य स्तर प्रायः ठीक हो जायेंगे तो समस्त स्थिति पर फिर से विचार किया जावेगा।

सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग के अवमूल्यन के अवसर पर यह प्रस्ताव किया गया था कि रुपये का मूल्य स्टर्लिंग की तुलना में घटाया जाय अर्थात् उसके विनिमय मूल्य को १ शिलिंग ६ पैंस से घटाकर १ शिलिंग ४ पैंस कर दिया जाय। हमारे भूतपूर्व व्यापार मंत्री श्री सी. एच. भाबा ने कहा था कि रुपये का स्टर्लिंग की तुलना में मूल्य कम करने का यह अत्यधिक उपयुक्त समय है, किन्तु हम इस प्रस्ताव के निश्चयात्मक रूप से विरोधी हैं। इसमें संदेह नहीं कि भारत का व्यापारिक संतुलन अनुकूल नहीं है और अवमूल्यन के कारण निर्यात बढ़ने से यह प्रतिकूलता कुछ कम हो सकती है, किन्तु अवमूल्यन से स्थायी लाभ नहीं हुआ करता। हमारी आवश्यकता है देश का शीघ्रतापूर्वक आर्थिक विकास—और वह भी औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी दोनों ही प्रकार का होना चाहिए; जिससे हम अपनी आवश्यकता का समस्त अन्न उत्पन्न कर सकें और औद्योगिक माल का इतना अधिक उत्पादन कर सकें कि उससे न केवल हमारे घर का काम चल जाय, वरन् हम उसका विदेशों में भी निर्यात कर सकें। यह सब कुछ अवमूल्यन की जादू की छड़ी को घुमा देने भर से नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो इस चालाकी से कभी का लाभ निकाल लिया गया होता।

आजकल हम विदेशों से बड़ी भारी मात्रा में खाद्यान्नों को मोल ले रहे हैं। हमको पूंजीगत माल भी मोल लेना पड़ता है। विनिमय दर को अल्प कर देने से हमें यह सब माल अधिक मंहगा लेना पड़ेगा। अतएव वर्तमान स्थिति में यह उच्च अनुपात ही हमारे लिये ठीक है।

इसके अतिरिक्त अनुपात नीचा होने का अर्थ होगा मूल्यों का और चढ़ जाना। हमारे देश में पहले से ही मुद्राम्फीति का दोष उपस्थित है। अनुपात को नीचा करके इस मुद्रा-स्फीति को और बढ़ाना उचित नहीं है।

ऐसी परिस्थितियों में हम रुपये के वर्तमान अनुपात पर ही जमे रहना पसंद करेंगे।

७. स्टर्लिंग बकाया की रकमें। स्टर्लिंग के सचित हो जाने से युद्धकाल में ध्यान अधिक आकर्षित किया। किन्तु कागज़ी चलअर्थ सुरक्षा निधि के भाग के रूप में भारत का कुछ स्टर्लिंग लंदन में सदा ही बना रहता था। युद्ध के ठीक पूर्व इस प्रकार के स्टर्लिंग बकाया की रकम लंदन में ४ करोड़ ८० लाख पौण्ड (अथवा ६४ करोड़ रुपये) के थे। तो भी, युद्धकाल में लंदन में स्टर्लिंग का जमा हो जाना एक तमाशे की बात थी। १९४५-४६ में यह स्टर्लिंग बकाया १,७३३ करोड़ रुपये जैसी उच्च संख्या तक पहुंच गया।

इस प्रकार स्टर्लिंग एकत्रित होने का प्रधान साधन था ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत सरकार को उस स्टर्लिंग की वापिसी, जो ब्रिटिश सरकार तथा उसके मित्र-राष्ट्रों की ओर से स्टोर तथा अन्य सामग्री क्रय करने तथा कुछ अन्य खर्चों में भारत को करने होते थे।

रिज़र्व बैंक अधिनियम की एक धारा के अनुसार बैंक को असीमित मात्रा में स्टर्लिंग मोल लेने का उत्तरदायित्व सहन करना पड़ता था। इस प्रकार के माल का मूल्य चुकाने में उस धारा का उपयोग किया गया। वास्तव में इस धारा को बनाते समय उसका इस प्रकार के उद्देश्य के लिये उपयोग करने की कोई कल्पना नही थी। ब्रिटिश सरकार, जो भुगतान स्टर्लिंग के रूप में करती थी, उनको भारत सरकार रुपये के बदले में रिज़र्व बैंक को दे देती थी। अब वह रिज़र्व बैंक की संपत्ति है और उनको बैंक आव् इंग्लैड के पास विनियोजित अथवा जमा कर दिया गया है। उनको देनदारियों के विरुद्ध सम्पत्ति के रूप में रिज़र्व बैंक ने कुछ निकास-विभाग में और कुछ बैंकिंग विभाग में रखा हुआ है।

किन्तु स्टर्लिंग के अन्य साधन भी थे--(क) भारतीयों की डालर तथा अन्य गैर-स्टर्लिंग सम्पत्तियों को अनिवार्य रूप से कब्जा करके उन्हें 'साम्राज्य डालर कोष' में जमा कर दिया गया था। (ख) सामान्य व्यापारिक संतुलन द्वारा कमाए हुए वार्षिक डालर तथा भारत में अमरीकन सेनाओं के खर्चे के परिणामस्वरूप मिलनेवाले डालर; इन्हें भी ले लिया गया और साम्राज्य डालर कोष में जमा कर दिया गया। (ग) भारत के विदेशी हिसाब का वार्षिक संतुलन; (घ) ब्रिटिश सरकार द्वारा सीधे मोल लिये हुए खाद्य तथा अन्य सामग्री का मूल्य, और (ङ) ब्रिटेन द्वारा रक्षा व्यय योजना[1] के अधीन किया हुआ खर्च।

स्टर्लिंग बकाया वह ऋण है जो ब्रिटेन ने अपने खर्च के लिये भारत से लिया है। इस में से अधिकांश 'ज़बर्दस्ती लादा हुआ ऋण' था और यह युद्ध के खर्चे की मुद्रास्फीति प्रणाली तथा भारत में डालर साधनों पर अनिवार्य रूप से कब्जा करने के कारण बन गया था। ब्रिटिश लोकमत इसको ऋण मानने में संकोच करता रहा है। भारत का दृष्टिकोण यह है कि यह स्टर्लिंग भारतीय जनता द्वारा कष्टपूर्वक एकत्रित की हुई बचत है, और उसको भारत के आर्थिक जीवन का पुर्ननिर्माण करने की दृष्टि से पाई पाई चुकता किया जाना चाहिए।

ब्रिटिश लोकमत खुले आम स्टर्लिंग ऋण से इंकार नहीं करता, किन्तु संभवतः इसमें पर्याप्त कमी कराने का मार्ग साफ़ करने के उद्देश्य से समाचार पत्रों में आंदोलन किया गया था। अमरीका भी इस स्टर्लिंग बकाया में कुछ कमी कराने के पक्ष में था। यह युक्ति दी गई कि युद्ध व्यय के विभाजन से भारत सस्ता ही छूट गया, अन्यथा ऐसी बात कभी देखने में नहीं आई कि एक निर्धन देश रात भरके अंदर-अंदर एक ऋणदाता साहूकारा देश बन जाय। यह भी कहा गया कि भारत द्वारा दिये हुए माल का मूल्य भी मुद्रास्फीति की दृष्टि से ही लगाया गया था। वैसे भारतने मित्र-राष्ट्रोंके साथ-साथ एक साझे शत्रु को पराजित करने में त्याग किया था और उसका मूल्य लेने का दावा नहीं कर सकता था।

---

१. विभिन्न साधनों द्वारा लगाए हुए स्टर्लिंग की रकम और उसके उपयोग के लिये अध्याय ३१ की धारा ८ देखें।

किन्तु तथ्य यह है कि भारत ने युद्ध का अपना भाग पूर्णतया उठाया, जो उसकी आय तथा साधनोंके अनुपान से कहीं अधिक था। यह सिद्ध कर दिया गया कि माल नियंत्रित मूल्यों पर दिया गया था, जो बहुत ही कम थे। भारत को बलि का बकरा नहीं बनाया जा सकता और उससे 'गधे के वोझको' उठवाया जा सकता था। स्टर्लिंग सम्पत्ति के एकत्रित हो जाने का अभिप्राय था—समस्त भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर भारी बोझ। आन्तरिक उपभोग को स्थगित करके और कारखानों तथा मशीनों के पुर्जो को बिना बदले हुए उनसे शक्ति से अधिक काम लेकर तथा विकास योजनाओं को स्थगित करके इस बोझे को वहन किया गया था। भारतीय जनता को विजय प्राप्त करने के लिये अपनी जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं का भी बलिदान करना पड़ा। इस प्रकार स्टर्लिंग सम्पत्ति हमारे बलिदानों और कष्टों, हमारे रक्त तथा आंसू का प्रतीक है और हमको अपनी युद्ध-जर्जरित अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिये उसके पूर्णतया बेबाकी कराने का अधिकार है। ब्रिटिश सरकार के लिये यह श्रेय की बात है कि जब जून १९४८ में इस स्टर्लिंग बकाया के तय करने की समझौता-वार्ता हुई तो उसने उसमें कमी करने का कोई प्रस्ताव नहीं किया और तब तत्कालीन अर्थमंत्री षण्मुखम् चेट्टी यह घोषणा कर सके कि कम करने के भूत को अंतिम रूप से पछाड़ दिया गया है।

८. स्टर्लिंग सम्पत्ति का निपटारा। यह सिद्ध कर दिया गया कि हमारी स्टर्लिंग संपत्ति युद्धकालीन लाभ का परिणाम नहीं थी। वह हमारे ऊपर बलात् लादे गए त्याग का परिणाम था। भारतीय जनता के मूल बलिदानों तथा महान् कष्टों पर इसकी रचना की गई। अतएव उसको साधारण ऋण के समान चुकाया जाना चाहिए।

किन्तु हमको अपने ऋणों की दशा का भी ध्यान रखना होगा। ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति अत्यन्त भयंकर है। उसके समुद्र पार के पूंजी विनियोजन (Investments) सब समाप्त हो गए। उसकी जहाज़ी स्थिति भी बहुत कुछ ठप्प हो गई। उसको अपनी युद्ध-जर्जरित अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना है। विदेशी ऋण को माल तथा सेवा देकर ही समाप्त किया जा सकता है। अतएव ब्रिटेन अपने बकाया को अधिक निर्यात करके ही चुका सकता है और स्पष्ट रूप से इस प्रकार चुकाने में उसको समय लगेगा।

स्टर्लिंग बकाया को निम्नलिखित उपायों से चुकाया जा सकता है :

(१) ब्रिटेन से माल का आयात करके। किन्तु ब्रिटेन से ऐसे उपभोक्ता माल का आयात करना भारत के हित में नहीं है, जो भारतीय उद्योग धन्धों के साथ प्रतियोगिता कर सके। हमको स्टर्लिंग साधनों का उपयोग मौलिक रूप से ऐसे पूजीगत माल को मोल लेने में करना चाहिए, जिसकी हमारी विकास योजनाओं में आवश्यकता हो।

(२) ब्रिटेन हमारी तात्कालिक आवश्यकता के माल की मांग को पूरा नहीं कर सकता। इसलिए हमारी स्टर्लिंग सम्पत्ति के एक भाग को अन्य देशों के चलअर्थो (विशेष-

कर डालर) में परिवर्तित कर लेना चाहिए, जिससे भारत सस्ते से सस्ते बाज़ारों से माल ले सके।

(३) भारत में ब्रिटिश व्यापारिक फर्मों पर उचित मूल्य देकर कब्ज़ा कर लिया जाय।

(४) स्टर्लिंग बकाया का उपयोग निम्नलिखित कार्यों में भी किया जा सकता है: (क) भारत में सेवा करके निवृत्त होने वाले अंग्रेज़ों की पेंशनें देने में, (ख) ब्रिटेन की वायु तथा नाविक कम्पनियों के हिस्सों को प्राप्त करने में, (ग) रक्षा की सामग्री, उदाहरणार्थ—विमान, जहाज़ आदि को मोल लेने में, (घ) ब्रिटेन में तीनों सैनिक सेवाओं, यांत्रिक संस्थाओं तथा विश्वविद्यालय की उच्च-शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न संस्थाओं में भारतीयों को शिक्षा की सुविधाएं प्राप्त कराके।

९. स्टर्लिंग समझौता। पहले १९४७ के आरंभ में भारत तथा ब्रिटेन में स्टर्लिंग बकाया को तय करने के संबंध में एक समझौता-वार्ता हुई, किन्तु उसका कोई परिणाम नही निकला। किन्तु अगस्त १९४७ में एक अन्तर्कालीन समझौता हो गया। यह भारत की छः मास की आवश्यकता के लिये विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में था। जनवरी १९४८ में इस समझौते को फिर छः मास के लिये नया किया गया। १९४८ की प्रथम छमाही के लिये एक करोड़ पौण्ड (१३ करोड़ रुपये) के स्टर्लिंग भाग को विदेशी विनिमय में बदले जाने के लिये दिया गया। ६-६ मास के इन दो समझौतों से ८ करोड़ ३० लाख पौण्ड स्टर्लिंग मुक्त किया गया; किन्तु इसमें से केवल तीस लाख पौण्ड का ही उपयोग किया जा सका।

छः-छः मास के लिये स्टर्लिंग मुक्त कराने की व्यवस्था असंतोषजनक प्रमाणित हुई, क्योंकि उससे हमारी विदेशी विनिमय स्थिति में अनिश्चितता उत्पन्न होती थी और वह संतुलित आयात नीति में भी भारी बाधा पहुंचाती थी। यह आवश्यक था कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास के लिये उचित समय में प्रबंध किया जाता। तदनुसार जून १९४८ के समझौते द्वारा ब्रिटेन ने ३० जून, १९५१ को समाप्त होने वाले तीन वर्षों में आठ करोड़ पौण्ड (१०७ करोड़ रुपये) मुक्त करना स्वीकार किया। यह राशि १ जुलाई १९४८ को बैंक आव् इंग्लैंड में हमारे खाते संख्या १ में पड़े बिना खर्च बकाया में मिला कर सोलह करोड़ पौण्ड (२१३ करोड़ रुपये) हो जाती थी, और उसे हमारी इच्छा पर छोड़ दिया गया। यह राशि इस बीच होने वाली निर्यात की आय से पृथक् थी। जून १९४८ के समझौते के समय भारत के स्टर्लिंग बकाया की रकम लगभग १ अरब १६ करोड़ पौण्ड (१,५४७ करोड़ रुपये) थे। खाते संख्या १ में पहले से ही आठ करोड़ पौण्ड होने के कारण १९४९ में उसमें और कोई रकम बदल कर नहीं डाली गई। किन्तु १९५० तथा १९५१ के प्रत्येक वर्ष में चार-चार करोड़ रुपये डाले जाने थे। इस समय तक भारत का ८ करोड़ तीस लाख पौण्ड स्टर्लिंग बकाया मुक्त हो चुका था। उसके अतिरिक्त भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय

मुद्रा कोष (I. M. F.) से १९४८ में अपनी चालू डालर कमी को पूरा करने के लिये एक करोड़ १० लाख पौण्ड उधार लिया था।

विश्व की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने वाली अनेक अनिश्चित बातों को साधारणतया तथा ब्रिटेन की स्थिति को विशेष रूप मे दृष्टि में रखते हुए, बहुपक्षीय रूपांतरण सम्बन्धी प्रबंध केवल एक वर्ष के लिये किया गया था और यह स्वीकार कर लिया गया था कि बहुपक्षीय रूपांतरण को प्रथम वर्ष में डेढ़ करोड़ पौण्ड (२० करोड़ रुपये) तक सीमित कर दिया जाय। किन्तु इसका हमारी भारी आवश्यकता से कोई संबंध नहीं था। भारत सरकार ने ब्रिटेन से उसके उन सभी स्टोरों तथा कारखानों को ले लिया, जो उसने युद्ध के अंत में भारत में छोड़ दिये थे। यह तय किया गया कि भारत उनका मूल्य १० करोड़ पौण्ड (१३३ करोड़ रुपये) दे।

भारत सरकार ने ब्रिटेन से भारत की नौकरी से अवकाश प्राप्त करने वाले ब्रिटिश अफसरों को दी जाने वाली पैंशनों के भुगतान की देनदारी को चुकाने के लिये आर्थिक रूप से आगे को कम होने वाले वार्षिक भत्ते के कागज मोल ले लिये। इन वार्षिक किश्तों का मूल्य केन्द्रीय पैंशनों के लिये १४७५ लाख पौण्ड (१९७ करोड़ रुपया) और भारत की राज्यों की पैंशनों के लिये २ करोड़ ५ लाख पौण्ड (२७ करोड़ रुपया) तय किया गया।

उपरोक्त मदों को मुजरा देने के बाद भारत का ब्रिटेन के ऊपर कुल पावना लगभग ८० करोड़ पौण्ड (१,०६७ करोड़ रुपये) निकला। इसमें से लगभग २० करोड़ पौण्ड (२६७ करोड़ रुपये) सामान्य चलअर्थ सुरक्षा कोष समझा जा सकता है। इस प्रकार भारत के उपयोग के लिये कुल बकाया लगभग ६० करोड़ पौण्ड (८०० करोड़ रुपये) उपलब्ध था। इस रुकी हुई बकाया रकम पर ·७५ प्रतिशत ब्याज भारत को मिलना था।

भारत इस बकाया रकम को पर्याप्त मात्रा में निकाल रहा है। १९४८-४९ के प्रथम दस मास में रिज़र्व बैंक की स्टर्लिंग सम्पत्ति लगभग ५५६ करोड़ रुपये कम हो गई। (क) स्टर्लिंग की वार्षिक देनदारियों तथा रक्षा स्टोरों का भुगतान करने के लिये २८४ करोड़ रुपये; (ख) सभी मदों के सम्बन्ध में पाकिस्तान को देने के लिये १७७ करोड़ रुपया; और (ग) चालू और पूंजी खाते में विपरीत संतुलन का भुगतान करने के लिये यह रकमें निकाली गईं।

१९४९ में एक और समझौता किया गया, जो १९४८ के समझौते की अपेक्षा भारत के अधिक अनुकूल था। जुलाई १९४९ के इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं:

(१) १९४८-४९ के जिस वर्ष के लिए १९४८ के समझौते में कोई रकम मुक्त करना स्वीकार नहीं किया गया था, आठ करोड़ १० लाख पौण्ड मुक्त करना स्वीकार किया गया।

(२) जून १९५० तथा १९५१ को समाप्त होने वाले १२ मास के समय के लिये

वार्षिक मुक्त की जाने वाली रकम चार करोड़ पौंड को बढ़ाकर ५ करोड़ पौण्ड कर दिया गया।

(३) पूर्वोक्त समझौते में अनिर्दिष्ट कुछ और ऐसी रकम को भी मुक्त करना स्वीकार किया गया जो खुले साधारण लाइसेंस, ११ (Open General Licence O. G.L. XI) के रद्द होने से पूर्व की देनदारियों को चुकाने के लिये पर्याप्त हो। इस लाइसेंस के अधीन अचानक ही बहुत बड़े परिमाणमें आयात किये जा चुके थे। यह भारत तथा ब्रिटेन दोनों के ही हित में समझा गया कि इन आयातों को एकदम बंद न किया जाय। अतएव, ब्रिटेन ने भारत के पक्ष में उतनी रकम को और भी मुक्त करना स्वीकार कर लिया, जो उसको इस मद में चुकानी थी।

(४) जहां तक १९४८ के समझौते द्वारा रूपांतरण का सम्बन्ध था, भारत जुलाई १९४८ से लेकर जून १९४९ तक केन्द्रीय सुरक्षा निधि से 'कठोर' चलअर्थ में डेढ़ करोड़ पौण्ड (६ करोड़ डालर) से अधिक नही निकाल सकता था। किन्तु १९४९ के समझौते के अनुसार भारत को केन्द्रीय सुरक्षा निधि से १४ करोड़ डालर से लेकर १५ करोड़ डालर तक निकालने का अधिकार मिला।

यह भी तय किया गया कि गत वर्ष निकाले हुए डालरों को वापिस करने की आवश्यकता नहीं है। १९४८ के समझौते के समय भारत का 'कठोर' चलअर्थ का घाटा १६ करोड़ डालर से लेकर १८ करोड़ डालर तक का था। यह आशा की जाती थी कि भारत अपनी कमी को पहले अंक तक कम कर देगा और शेष को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से १० करोड़ डालर उधार लेकर चुकावेगा। वास्तव में भारत के निर्यात पर्याप्त कम थे और उसके आयात उनसे कहीं ऊंचे थे। अतएव उसका 'कठोर' चलअर्थ का घाटा अस्थायी रूप से २१ करोड़ ७० लाख डालर का था। इस घाटे को पूरा करने के लिये भारत ने इस बीच में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ५ करोड़ ६० लाख डालर उधार लिये। फरवरी१९४९ में ब्रिटेन इस बात पर सहमत होगया कि अगले समझौते तक भारत को आवश्यक 'कठोर' चलअर्थ जमा से अधिक निकाली हुई रकम (Overdrawal) के रूप में दी जाय। यह अनुमान लगाया गया कि ३० जून १९४९ को जमा से अधिक निकाली जाने वाली यह रकम ८ करोड़ ४० लाख डालर थी। फरवरी के समझौते के अनुसार इस रकम को वापिस लौटाना था। अंत में यह तय हो गया कि यह रकम लौटाई नहीं जायगी।

अपने 'कठोर' चलअर्थ के अन्तर को अधिक चौड़ा न होने देने के लिये भारत के लिये आवश्यक था कि वह अपनी निर्यात उपार्जनों का विचार किये बिना डालर क्षेत्र से अपने आयात को १९४८ के अपने आयात की अपेक्षा ७५ प्रतिशत कम कर दे। तो भी, उसमें वह आयात सम्मिलित नहीं थे, जिनके लिये वह पुनर्निर्माण विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लेकर धन जुटाता।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि १९४९ का समझौता १९४८ के पिछले

समझौते की अपेक्षा अधिक उदार था। किन्तु इस बात का भय था कि भारत की संतुलन के भुगतान की स्थिति पर ध्यान देते हुए मुक्त किये गये स्टर्लिंग का परिमाण, विशेषकर उसका रूपांतरण भाग अपर्याप्त सिद्ध हो सकता था। आज, जबकि उसके निर्यात कम हो गये हैं, यह स्थिति निःसंदेह अत्यन्त गंभीर है, जबकि इस बात की अभी कोई संभावना नहीं है कि वह अपने आयातों, विशेषकर डालर क्षेत्र से कम कर सकेगा। भारत को खाद्यान्नों का अत्यधिक मात्रा में आयात करना पड़ता है। अपनी विकास योजनाओं के लिये उसे पूंजीगत माल का भी बड़ा परिमाण मंगाना पड़ता है। ब्रिटेन के मूल्य डालर क्षेत्र की तुलना में अनुकूल नहीं हैं। इसलिये अपनी खरीद स्टर्लिंग क्षेत्र तक ही सीमित रखना भारत के हित में नहीं है। अतएव यह एक ऐसी सीमा है, जिससे आगे देश की आर्थिक तथा राज-नीतिक स्थिरता को खतरे में डाले बिना हम अपने डालर आयात में कमी नहीं कर सकते। भारत का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इस प्रकार उसको ब्रिटेन तथा अमरीका से प्रत्येक सुविधा मिलनी चाहिए। अभी तक भारत अपने व्यापारिक घाटे को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भारी-भारी रकमें निकालकर पूरा करता रहा है। किंतु अनिश्चित समय तक ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि जितना ही अधिक वह उधार लेगा उसके ब्याज की रकम भी बढ़ती जायगी। ब्रिटेन एक कल्याणकारी राज्य का निर्माण कर रहा है और वह निश्चय से भारत की आवश्यकताओं और कठिनाइयों को अधिक अच्छी तरह समझकर उनकी प्रशंसा कर सकता है। यह बात स्वीकार करने की है कि ब्रिटिश सरकार का ढंग बिल्कुल निबाहने जैसा है।

तो भी, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि स्टर्लिंग बकाया का मामला कितने ही संतोषजनक रूप से क्यों न तय हुआ हो, वह देश की उस व्यापारिक समस्या का उत्तर नहीं है, जिसको हमारे निर्यात की बढ़ी हुई आय से ही सुलझाया जा सकता है।

इस संबंध में नया समझौता दिसम्बर१९५० में किया गया था। उसमें इस बात की व्यवस्था की गई थी कि जुलाई १९५१ से आरंभ हुए छः वर्षों में से प्रत्येक में हमारे स्टर्लिंग बकाया में से साढ़े तीन लाख पौंड मुक्त किया जाया करेगा। यह भी तय किया गया कि यदि किसी रकम को किसी एक वर्ष में नहीं निकाला गया तो उसको आगे ले जाकर अगले समय में मुक्त होने वाली राशि में जोड़ दिया जा सकेगा। यदि भारत सरकार ने बाद के वर्षों में मुक्त होने वाली स्टर्लिंग राशि में से प्रति वर्ष ५० लाख पौंड से अधिक रकम मुक्त करने की आवश्यकता को अनुभव किया तो पारस्परिक परामर्श के बाद ऐसा किया जा सकेगा।

जनवरी १९५२ में हमारे स्टर्लिंग बकाया की रकम ब्रिटेन के पास ५८ करोड़ ६० लाख पौंड (७८२ करोड़ रुपया) थी। यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमको युद्धोत्तर-कालीन वर्षों में भी अपनी पूंजी पर गुज़र करना पड़ रहा है। हमने स्टर्लिंग बकाया के रूप में अपनी युद्धकालीन बचत को केवल खाद्यान्नों तथा अन्य उपभोग्य माल को मोल लेने में खर्च किया है। अच्छा हो कि यदि छः वर्ष के मुक्त बकाया को विभिन्न आर्थिक उन्नति की

योजनाओं के द्वारा राष्ट्र की उत्पादक शक्ति का निर्माण करने में खर्च किया जाय।

१०. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा फंड।(International Monetary Fund). १९४३ में ब्रिटेन, अमरीका तथा कैनाडा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा योजनाएं बनाई गईं। इन योजनाओं को मिला कर १९४४ की गर्मियों में ब्रैटन वुड्स कांफ्रेंस (Brettonwoods Conference) में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा योजना बनाई गई। इसके परिणाम स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की मुख्य विशेषताएं नीचे दी जाती हैं:

(१) सदस्य राष्ट्रों के चन्दे में से ८८ लाख डालर का मुद्राकोष बनाया गया है।

(२) प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने-अपने निश्चित भाग के अनुसार अपना चंदा उसको देना ही चाहिए। अपने निर्दिष्टांश का २५ प्रतिशत भाग अथवा स्वर्ण भंडार का १० प्रतिशत, जो भी कम हो—सोने के रूप में देना चाहिए। शेष को स्थानीय चलअर्थ के रूप में चुकाया जा सकता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के साधन स्वर्ण अथवा स्थानीय चलअर्थों के रूप में रखे जाते हैं। स्थानीय चलअर्थ सदस्य-राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों में रखे जाते हैं।

(४) इस कोष का उद्देश्य है राष्ट्रीय चलअर्थों के बहुपक्षीय रूपांतरण द्वारा विनिमय की स्थिरता बढ़ाना, विनिमय के प्रतियोगात्मक मंदे होने को बचाना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सुविधा उत्पन्न करना। सभी प्रकार के विनिमय प्रतिबंध तथा नियंत्रण, चलअर्थ के विभेदात्मक प्रबंध और चलअर्थ के अपवर्त्य कार्य (Multiple Practices), जिनकी कोष सम्पुष्टि न करे, अंतिम रूप से हटा दिये जाँयगे। तो भी, परिवर्तन काल में कुछ प्रतिबंधों की अनुमति दे दी गई।

कोष ने १९४९-५० की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में अमरीका जैसे बचत वाले देशों से अपील की थी कि वह तटकरों (Tariffs) को कम करें और व्यापारिक विशेष व्यवहार तथा आयातों को सीमित करने के अन्य उपायों को बंद कर दें। उसमें कहा गया था कि यह बचत वाले देशों के ही हित में है कि वह घाटे वाले देशों को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के प्रबल तथा संतुलित आदर्श की पुनः स्थापना में सहायता दें।

(५) कोष का मुख्य कार्य यह है कि वह सदस्य राष्ट्रों के चलअर्थों का एक-दूसरे के लिये क्रय तथा विक्रय करता है। तो भी, उसमें यह शर्त है कि किसी सदस्य-राष्ट्र के चलअर्थ का भंडार कोष में उसके निश्चित भाग से २०० प्रतिशत से अधिक न बढ़ने पाए।

(६) ऋणी राष्ट्रों को कोष से उधार भी मिल सकता है। वह उनके भाग के ७५ प्रतिशत के अतिरिक्त प्रति वर्ष अतिरिक्त २५ प्रतिशत तक मिल सकता है। किन्तु वह उस देश के निश्चित भाग के २०० प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। कोष चाहे तो इन शर्तों में ढील भी दे सकता है। इस प्रकार एक ऋणग्रस्त राष्ट्र इस कोष की सदस्यता से अपने

स्वर्ण का निर्यात करके उसके परिणामस्वरूप होने वाले मुद्रा प्रसार से (जैसा कि स्वर्ण-मान में होता रहा है) बच सकता है।

(७) जिन ऋणदाता राष्ट्रों की निर्यात बचत अपने निश्चित भाग से ७५ प्रतिशत बढ़ जाती है, वह अपने चलअर्थों को दुर्लभ घोषित करेंगे। इस प्रकार के चलअर्थों का उनके इच्छुक राष्ट्रों में राशन किया जायगा। तो भी, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष स्वर्ण को उधार अथवा मोल लेकर दुर्लभ चलअर्थों की पूर्ति को बढ़ा सकता है। यदि यह चलअर्थ तब भी पर्याप्त मात्रा में न मिलें तो ऋणग्रस्त राष्ट्रों को अपने आयातों पर नियंत्रण लगाना चाहिए।

(८) सदस्य राष्ट्रों को अपने-अपने चलअर्थों की स्वर्ण के साथ समानता निश्चित कर देनी चाहिए। इन समानताओं में एक सर्वग्राही एक-सा परिवर्तन उन सदस्य-राष्ट्रों की सहमति से किया जा सकता है, जो अपने समस्त निश्चित भाग के १० प्रतिशत मे अधिक व्यक्तिगत रूप से दें। अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस इसी प्रकार के राष्ट्र है।

(९) इसके अतिरिक्त सदस्य-राष्ट्र अपने चलअर्थों के विनिमय मूल्य में १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकते हैं। कोष की सम्मति से १० प्रतिशत परिवर्तन और भी किया जा सकता है। इसके आगे परिवर्तन केवल मौलिक असमानता के दूर करने के लिये कोष की सहमति से ही किया जा सकता है।

(१०) सदस्य राष्ट्रों को कोष से लाभ उठाने मे रोकने तथा उनके स्वर्ण भंडार बनाने के लिये कोष को यह अधिकार है कि वह अपना स्वर्ण भंडार बढ़ाने वाले सदस्य से वर्ष के अन्त में यह कहे कि वह उस प्रकार के बढ़ाए हुए भंडार के आधे भाग से स्वयं अपने ही चलअर्थ को मोल ले लें।

(११) कोष सदस्य-राष्ट्रों के भुगतान संतुलन में समानता वापिस लाने के लिये अभी आन्तरिक आवश्यकता में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

(१२) सदस्य केवल एक पत्र द्वारा सूचना देकर कोष से पृथक् हो सकते हैं।

(१३) कोष का प्रबन्ध बारह डाइरेक्टरों का एक कार्यकारी बोर्ड करता है। उसमें भारत, चीन, अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस में से प्रत्येक का एक-एक स्थायी स्थान है, दो स्थान लेटिन अमरीका के जनतन्त्रों को दिये जाते हैं, जब कि शेष पांच को निर्वाचन द्वारा भरा जाता है।

कोष की यह मुख्य विशेषताएं हैं। यह ब्रिटेन तथा अमरीका की पिछली योजनाओं में एक समझौता है। यह देशों को कार्य करने की बड़ी भारी स्वतन्त्रता देता है और उनकी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करता। वास्तव में यह विनिमय को स्थिर करने वाले कोष की एक प्रणाली है, जिसका विकास व्यक्तिगत देशों में मन्दी के वर्षों में करके उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे दिया गया है। यद्यपि सोना अब अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को तय करने में उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि वह स्वर्णमान में होता था, तब भी वह

धातु अभी तक महत्वपूर्ण कार्य करती है। इस योजना से उसका कुछ थोड़े से देशों में जमा हो जाना रुक जाता है, जैसा कि युद्ध के वर्षों में हुआ था।

११. भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष। आदर्श रूप में भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की किसी भी योजना को तब तक स्वीकार नहीं करना चाहिए, जब तक कुछ शर्तें पूरी न हो जाँय। उन शर्तों को तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अधीन उनको जिस परिमाण में पूरा किया जा सकता है, नीचे दिया जाता है—

(क) भारत को स्टर्लिंग के साथ अपना सम्बन्ध बदलने तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने विनिमय की दर बदलने की स्वतन्त्रता हो। कोष भारत के ऊपर स्टर्लिंग से चिपके रहने की कोई शर्त नहीं लादता। भारत स्वर्ण के साथ अपने समानता सम्बन्ध को निश्चित कर सकता है। कोष विनिमय दरों में परिवर्तन के लिये सहानुभूतिपूर्ण विस्तार की अनुमति देता है।

(ख) युद्ध के बाद उसके स्टर्लिंग ऋण के व्यावहारिक रूप में गायब हो जाने के कारण तथा उसके 'होम चार्जेज़' में भावी कमी के कारण भारत को अनुकूल व्यापारिक संतुलन की इतनी आवश्यकता नहीं होगी, जितनी भूतकाल में होती थी। कोष को भारत को अपने आयात बढ़ाने की अपेक्षा निर्यात घटा कर अपने अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब का संतुलन ठीक करने के लिये स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। कोष के अपने सदस्यों की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप न करने के कारण इस विषय में भी स्वशासन की रक्षा की गई है।

(ग) भारत को अपने निज के औद्योगिक विकास के लिये अपनी आर्थिक नीति का उपयोग करने में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए। इस विषय में भी कोष सदस्यों के स्वशासनाधिकार को स्वीकार करता है।

(घ) ब्रिटेन से बहुपक्षीय प्रणाली पर अपनी स्टर्लिंग सम्पत्ति को वापिस दिलाने में भारत को फंड का लाभ मिलना चाहिए। भारत के दृष्टिकोण से इस योजना में यह सब से निर्बल बात है। उसमें युद्धकालीन बकाया ऋण का कोई उल्लेख नहीं था। इस प्रकार के मामलों का सम्बन्ध पक्षों की द्विपक्षीय वार्ता के लिये छोड़ दिया गया था। यह वार्तालाप भी पूर्णतया संतोषजनक रहा है।

(ङ) भारत को कोष के प्रबन्ध में स्थायी स्थान दिया जाना चाहिए। अब उसको वह स्थान मिल गया है। यद्यपि मूल योजना में इस बात की व्यवस्था नहीं थी, क्योंकि रूस अलग बना रहा था।

ब्रैटनवुड्स कांफ्रेंस ने पुनर्निर्माण और विकास केलि ये एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के लिये भी प्रस्ताव किया था। किसी देश को बैंक का एक पक्ष बनने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा फंड का सदस्य बनना होगा।

इस कोष में भारत का निश्चित भाग (Quota) ४० करोड़ डालर है। और एक वर्ष में (मार्च १९४८ से मार्च १९४९ तक) उसने कम से कम ९ करोड़ २० लाख डालर

उधार लिये। यह अल्पकालीन सहायता है और इसका उपयोग चालू उद्देश्यों के लिये किया जाता है, मुख्य रूप से भुगतान के चालू बकाया की कमी को पूरा करने के लिये। भारत की स्थिति फंड में उसके अपने कार्य को अत्यधिक दृढ़ता से पूरा करने वाले के रूप में है। अप्रैल १९४९ में उसने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा फंड के साथ अपने डालर मोल लेने के अधिकार को समाप्त कर लिया था।

मार्च १९४९ में फंड के चालक क्रिया के निर्देशक (Director of Operation) श्री एच. एच. पार्सन्स् (Mr. H. H. Parsons) का एक प्रतिनिधि मंडल भारत आया था। वह इस संभावना की जांच करने आया था कि क्या भारत को डालर मोल लेने के अधिकार की स्वीकृति दी जाय। यह स्वीकार कर लिया गया कि भारत के मुद्रा लेने के वृहद कार्य असाधारण परिस्थितियों के परिणाम थे कि जो खाद्यान्नों की भारी आयात करने के कारण आवश्यक हो गये थे।

१२. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा संगठन में भाग लेने के लाभ। भारत को इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में क्यों भाग लेना चाहिए, इसके एक से अधिक कारण हैं।

भारत को अपने विकास के लिये पूजी की बड़ी भारी मात्रा की आवश्यकता है। इस को वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा दी हुई सुविधा से ही प्राप्त कर सकता है। साथ ही बैंक भारत को उसकी स्टर्लिंग संपत्ति की वापिसी में भी सहायता दे सकता है। भारत इस स्टर्लिंग स्म्पत्ति को ऋण प्राप्त करने के लिये प्रतिभूतियों के रूप में दे सकता है, । डाक्टर राव के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का संगठन भारत को उसके उस स्टर्लिंग बकाया के कम से कम एक भाग को वापिस दिलाने में अत्यधिक उपयोगी हो सकता है, जो युद्ध के ठीक बाद में दिवालिया जैसे हो गये थे, और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से युद्धकालीन बकाया के सम्मिलित न किये जाने से भारत को जो असुविधा हुई थी, उसको उस मात्रा में दूर किया जा सकता था।"[1] यह तभी संभव होगा, "यदि ब्रिटेन के साथ यह प्रबन्ध कर लिया जांय कि भारत जो ऋण अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से प्राप्त करेगा, कोष द्वारा उस ऋण परिशोध को रकम को ब्रिटेन कोष को चुका देगा"। "इस प्रकार भारत अपनी आवश्यकता के अनुसार पूंजी तत्काल प्राप्त कर सकता है और इंग्लैंड को भी उस स्टर्लिंग बकाया को चुकाने का पर्याप्त समय मिल जायगा, क्योंकि कोष द्वारा ऋण परिशोध का समय कम से कम बीस वर्ष का होगा।"[2] भारत को प्रबधकारी बोर्ड में पहले ही स्थान मिल चुका है और यदि रूस कोष में आने का निर्णय भी करे तो भी भारत को उसमें बने रहना चाहिए।

---

१. Dr. V. K. R. V. Rao—Indian and International Currency Plans, p. 98.

२. Ibid, p. 96

भारत को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता को भी बनाये रहना चाहिए; प्रथम तो इस कारण कि वह कोष का सदस्य बने बिना बैंक का सदस्य नहीं बन सकता, दूसरे इसलिये कि उपभोक्ताओं की मांग के बढ़ते जाने तथा औद्योगिक उन्नति के लिये, पूजीगत माल के आयात की आवश्यकता के कारण भारत का व्यापारिक संतुलन अभी कुछ समय तक उसके प्रतिकूल ही बना रहने की संभावना है। कोष की सदस्यता उसको भुगतान का संतुलन बनाये रखने में सहायता देगी। तीसरे, अन्य देशों द्वारा इन योजनाओं में सम्मिलित हो जाने के कारण भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अकेला रह जाना पसन्द नहीं करता। उसको जहाजरानी तथा अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों को रूप देने में भाग लेना चाहिए और यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उद्देश्य वाली योजनाओं से बाहर रहता है, तो वह ऐसा नही कर सकता। अतएव उसने इन योजनाओं में भाग लेकर अच्छा किया है।

१३. अवमूल्यन। युद्धोत्तर वर्षों में स्टर्लिंग क्षेत्र और विशेष कर ब्रिटेन की भुगतान की संतुलन की स्थिति डालर के सामने अत्यन्त शीघ्रता से घटती जा रही थी। यह समस्या एकदम नई नहीं है। सन् १९३१ के बाद से स्टर्लिंग क्षेत्र को डालर देशों के साथ व्यापारिक संतुलन बनाये रखना कठिन हो रहा था। यहां तक कि १९३८ में कुल घाटा १३ करोड़ पौंड का था, किंतु युद्धोत्तरकालीन वर्षों में डालर के साथ उसके सम्बन्ध में अत्यन्त भयानक घाटा होने लगा। यह घाटा १९४६ में २२ करोड़ ६० लाख पौंड था जो बढ़कर १९४७ में १०२ करोड़ ४० लाख पौंड हो गया। १९४८ में व्यय में अत्यधिक कमी करके इस घाटे को ४२ करोड़ ३० लाख पौंड तक लाया जा सका। १९४९ की दूसरी तिमाही में वह ६० करोड़ पौंड की वार्षिक गति से चल रहा था। इसके फलस्वरूप स्टर्लिंग क्षेत्र की केन्द्रीय सुरक्षा निधि तेज़ी से खाली होती जा रही थी। ३१ मार्च १९४८ को यह निधि ५५ करोड़ २० लाख पौंड थी, जो घटकर ३१ मार्च १९४९ को ४७ करोड़ १० लाख पौंड रह गयी। फिर वह ३० जून १९४९ को घट कर ४० करोड़ ६० लाख पौंड की रह गयी।

डालरों के अभाव तथा उनके निरन्तर बढ़ते जाने के अनेक कारण थे। स्टर्लिंग क्षेत्र अमरीका से आने वाले माल पर अधिकाधिक निर्भर होता जाता था। ब्रिटश उत्पादनों की अधिक लागत उनके निर्यात के मार्ग में बाधा थी। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के बेलजियम तथा स्वीटज़रलैंड जैसे देशों का डालर ऋण बराबर बढ़ता जाता था। अमरीका के व्यापारिक कार्यों तथा माल के मूल्यों के बढ़ते जाने के कारण ब्रिटिश उपनिवेशों से आने वाले कच्चे माल का आयात घटकर आधा ही रह गया। इसके अतिरिक्त युद्धकाल में अमरीकी उद्योगधंधों ने पुराने संसार के देशों को बहुत पीछे छोड़ कर अत्यधिक ऊंची कारीगरी सम्बन्धी पूर्णता प्राप्त कर ली थी। इसके विपरीत स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में मुद्राप्रसार और कहीं-कही तो भयंकर मुद्रा-प्रसार था। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रेट ब्रिटेन सहित उन सभी देशों के चलअर्थ का डालर की अपेक्षा इतना अधिक मूल्य घट गया कि

उनकी क्रयशक्ति पर उसका प्रभाव पड़ने लगा। युद्धोत्तर डालर समस्या की मौलिक व्याख्या यही है कि युद्ध ने डालर क्षेत्र की अपेक्षा शेष संसार के अन्दर उत्पादन के संतुलन को नष्ट कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बिना डालर वाले देशों की डालर-वस्तुओं की मांग अत्यधिक बढ़ गयी, जबकि डालर-देशों की डालर-इतर वस्तुओं की मांग कम हो गई।

युद्ध से पूर्व ब्रिटेन भुगतान-संतुलन को घाटे को कुछ तो अपने जहाजरानी, बैंकिंग, बीमे आदि समुद्रपार के विनियोजनों (Investments) की अपनी अदृश्य आय से और कुछ अपने उपनिवेशों की डालर-आय से पूरा किया करता था। किंतु युद्धकालीन विनाश तथा युद्ध का खर्चा जुटाने के लिये समुद्रपार के विनियोजनों की बिक्री से यह साधन समाप्त हो गये। ग्रेट ब्रिटेन ने इस कमी को उधार द्वारा पूरा करने का यत्न किया। किंतु उसका अमरीका से लिया हुआ उधार १९४८ में ही समाप्त हो गया। कैनाडा से लिये हुए उधार में से जुलाई १९४९ में केवल ५ करोड़ पौंड ही बच पाये। फिर उसने दक्षिणी अफ्रीका से ८ करोड़ पौंड का सोना उधार लिया। मार्शल सहायता के भुगतान तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ली हुई रकमें भी उसी घाटे को पूरा करने में लग गई। स्पष्ट रूप से ब्रिटेन अपनी पहुंच की अन्तिम सीमा तक आ चुका था। स्थिति वास्तव में अत्यन्त भयंकर थी और इसे ऐसे चलते रहने नहीं दिया जा सकता था। ब्रिटिश लोकसभा में बोलते हुए सर स्टाफोर्ड क्रिप्स् ने कहा था कि "हमने अपने उत्पादन को बढ़ाया किंतु पर्याप्त शीघ्रतापूर्वक नही। समय इतना कम है और हमारे साधन इतने कम पड़ गये है कि डालर की दर में परिवर्तन ही एकमात्र मार्ग है, जिस से हम अपने मूल्यों को पर्याप्त शीघ्रता से नीचे ला सकते हैं।

१८ दिसम्बर १९४९ को घोषणा की गई कि पौंड स्टर्लिंग का मूल्य ३०·५ प्रतिशत कम किया जाता है और वह भविष्य में ४·०३ की अपेक्षा २·८० डालर के बराबर होगा। पाकिस्तान के अतिरिक्त राष्ट्रमंडल के सभी सदस्यों ने इसका अनुकरण किया। कैनाडा तक ने अपने डालर का मूल्य १० प्रतिशत घटा दिया।

भारतीय रुपये का मूल्य भी पौंड स्टर्लिंग जितने अनुपात में घटा दिया गया। रुपये का स्टर्लिंग मूल्य अब भी १ शिलिंग ६ पैस बना रहा किंतु अमरीकन चलअर्थ की तुलना में उसका मूल्य ३२ सैंट से गिर कर २१ सैंट रह गया। भारतीय संसद् में भारतीय रुपये के अवमूल्यन की घोषणा करते हुए तत्कालीन अर्थ-मन्त्री डा. जान मथाई ने यह स्वीकार किया था कि यह केवल एक रक्षात्मक कार्य है। उन्होंने कहा था, "मैं अनुभव करता हूं कि इस मामले में मै आवश्यक रूप से केवल तर्कसम्मत विचारों के अनुसार ही काम नहीं कर रहा, वरन् जैसा कि कहना चाहिए, घटना की अनिवार्यता से काम कर रहा हूं।...............स्टर्लिंग का मूल्य घट जाने के कारण ....हमारे पास और कोई चारा नहीं था।" हमारे चलअर्थ का मूल्य स्टर्लिंग क्षेत्र के चलअर्थों के सम्बन्ध में मंहगा होकर कहीं

हमारा भारतीय माल उनको और भी मंहगा न मिले, इसी संभावना को टालने के लिये हमें रुपये का मूल्य घटाना पड़ा। स्वतन्त्र रूप से भारत में आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि हम ब्रिटेन के समान अपनी मुद्रा का मूल्य घटाने के लिये विवश होते। किंतु स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य होने के नाते भारत को इस क्षेत्र के अन्य सदस्यों का साथ देना पड़ा। भारत के लगभग तीन-चौथाई निर्यात स्टर्लिंग देशों को जाते हैं। यदि भारत रुपये का मूल्य कम न करता तो उन देशों के लिये भारतीय माल का मूल्य तीस प्रतिशत बढ़ जाता। इससे हमारे निर्यात केवल कम ही न हो पाते वरन् कुछ दिशाओं में तो एकदम बन्द हो जाते। भारतीय उद्योग-धंधों की प्रतियोगात्मक शक्ति को भयंकर रूप से कम आंका जाता। भारत की आर्थिक स्थिति इस समय कुछ ऐसी थी कि कोई और मार्ग अपनाकर खतरे में पड़ना हमारे लिये बुद्धिमत्तापूर्ण काम न होता। इसलिये भारत के सामने इस समय डालर की तुलना में अपने चलअर्थ का मूल्य कम करने के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं रह गया था।

किंतु खाद्य, पूंजीगत माल तथा अन्य आवश्यक माल के लिये हमारी डालर क्षेत्र पर निर्भरता ने, और पाकिस्तान द्वारा अपने चलअर्थ का मूल्य न घटाये जाने ने, हमारे लिये एक बिलकुल कठिन स्थिति को उत्पन्न कर दिया। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिय निम्नलिखित अष्टसूत्री योजना की घोषणा की गयी :—

१. एक ऐसी व्यापार नीति का निर्माण, जो हमारी विदेशी विनिमय की आवश्यकता को घटा कर कम से कम कर दे और साथ ही देश की अनिवार्य आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखे।

२. जिन देशों के चलअर्थ का मूल्य हमारे चलअर्थ की तुलना में बढ़ गया है, उनसे आयात किये जाने वाले औद्योगिक माल के मूल्यों को अपना सौदा करने की शक्ति द्वारा कम करना।

३. साख के नियंत्रण तथा अन्य विधि अथवा शासन सम्बन्धी उपायों को अपनाकर सटोरिया मूल्यों के चढ़ने को रोकना।

४. कठोर चलअर्थ वाले क्षेत्रों को किये जाने वाले निर्यातों पर कर लगा कर अवमूल्यन से कुछ लाभ प्राप्त करने का यत्न करना।

५. बचत करन के भारी आन्दोलन तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार द्वारा पूंजी लगाने तथा अधिक उत्पादन करने को प्रोत्साहित करना।

६. युद्ध-काल में कमाये हुए लाभ पर दिये जाने वाले करों के सम्बन्ध में स्वयं समझौता करने की सुविधा देना, जिससे छिपी हुई पूंजी बाहर निकलकर उत्पादन में सहायता कर सके।

७. सार्वजनिक व्यय में बचत करने के उद्देश्य से बचत आन्दोलन चला कर ऐसा यत्न करना कि १९४९-५० में ४० करोड़ रुपये की तथा १९५०-५१ में ८० करोड़

रुपये की बचत की जा सके। किंतु यदि पूंजी लगाने की योजनाओं में सफलता मिले तो विकास के व्यय में वृद्धि कर दी जाय।

८. खाद्यान्नों, अन्य आवश्यक जिन्सों और बनाए हुए पक्के माल के मूल्यों को १० प्रतिशत कम किया जाय। तो भी, राज्यों ने इस बात का विरोध किया कि खाद्य पदार्थो के मूल्य को घटाये बिना बमूली के मूल्य को नहीं घटाया जासकता, क्योंकि इससे कृषक का खर्च बढ़ जायगा। जो भी हो, वस्त्र उद्योग से कपड़े का मूल्य १० प्रतिशत कम कराने के वार्तालाप में अधिक सफलता मिली।

अवमूल्यन के परिणाम—विदेशी विनिमय सिद्धान्तों के कार्य मे यह परिणाम निकलता है कि रुपये का डालर को अपेक्षा मूल्य कम किये जाने के निम्नलिखित परिणाम निकलने चाहिएं :

१. भारत और ब्रिटेन के ऐसे चतुर सटोरिये, जिन्होंने मूल्यह्रास के अवसर पर अपने कोष डालर क्षेत्र में बदल दिये, एक रात में ही अपने कोषों को ३० प्रतिशत बढ़ाने में सफल हो गये। उसके विपरीत सभी व्यापारी, विद्यार्थी तथा दूसरे लोग, जिन को उसने रुपये तथा स्टर्लिंग के साधनों से डालरों में ऋण चुकाना था, उसी मात्रा में घाटे में आ गये। तो भी यह परिणाम क्षणिक तथा छोटे ही हैं।

२. दूसरा छोटा प्रभाव स्टर्लिंग बकाया के मूल्य में ३०% उस हानि का पड़ा, जहां तक उसका उपयोग डालर के क्षेत्र में माल मोल लेने में किया गया था।

३. डालर क्षेत्र को निर्यात बढ़ा दिये गये, क्योंकि उतने ही डालरों का अमरीकी लोग भारत में अधिक माल मोल ले सकते थे, क्योंकि रुपया डालर की तुलना में सस्ता हो गया था। इसके विपरीत डालर क्षेत्र से आयातों को कम कर देना चाहिए, क्योंकि अमरीका में माल के लिये पहले जितने मूल्य के डालर देने पड़ते थे, अब उसके लिये अधिक रुपये देने पड़ते थे। इस प्रकार भारत अब अमरीका से पूंजीगत माल तथा खाद्य पदार्थ मोल नहीं ले सकता था। इससे हमारी खाद्य स्थिति की कठिनाइयां बढ़ गयीं और हमारी विकास योजनाओं में बाधा पड़ी। व्यापारिक संतुलन की स्थिति पर प्रभाव निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है—(क) हमारे निर्यातों के लिये मांग में लोच, (ख) इस माल की पूर्ति में लोच, (ग) और यह प्रश्न कि क्या मूल्य वही बने हुए हैं? आयात नियंत्रणों तथा निर्यात प्रोत्साहनों (उदाहरणार्थ सूती वस्त्रों से निर्यात-कर का हटा दिया जाना) के रूप में सरकारी हस्तक्षेप से मामले के विषम बन जाने की संभावना है और उसके मूल्यह्रास के वास्तविक प्रभावों का रूप बदल जाता है।

अब हम यह देखेंगे कि अवमूल्यन से हमारे भुगतानों के संतुलन पर किस प्रकार प्रभाव पड़ा।[1] मूल्यह्रास से हमारे भुगतान के संतुलन में अनुकूल गति आ गई। यह इस बात से

१. इस बात की विस्तृत परीक्षा के लिये रिज़र्व बैंक बुलेटिन में श्री एस.डी. देशमुख

स्पष्ट है कि मूल्यह्रास के ठीक बाद की तिमाही में १९४८ की प्रथम छमाही के बाद से प्रथम बार ४१·८ करोड़ रुपये की बचत हुई थी। १९५० की प्रथम तिमाही में फिर बचत हुई, किंतु अप्रैल से जून १९५० तक की तिमाही में घाटा हुआ क्योंकि अवमूल्यन की उत्तेजना समाप्त हो चुकी थी। १९५० की प्रथम तिमाही में कठोर चलअर्थ वाले क्षेत्रों को निर्यात चरम शिखर पर पहुंच गये थे। वह १९४९ की इसी तिमाही की अपेक्षा ६९ % अधिक ऊंचे थ। किंतु १९५० की दूसरी तिमाही में वह घट गये, जिस से पता चलता है कि मूल्यह्रास की उत्तेजना खत्म हो चुकी थी। इस गिरावट को ऋतु सम्बन्धी कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सब मिला कर निर्यातों में इस प्रकार की विभिन्नताएं देखने में नहीं आतीं। मूल्य-ह्रास के बाद के ६ मास में निर्यातों को सब मिला कर कुल परिमाण मूल्यह्रास के ठीक पहले के छै मास की अपेक्षा ४९% बढ़ गया। १९४९ की तीसरी तिमाही में जो ३४·१ करोड़ रुपये का व्यापारिक घाटा था, वह १९४९ की अगली तिमाही में २९६ करोड़ रूपये के लाभ में बदल गया। इसका कारण भी निर्यातों का बढ़ना तथा आयातों का कम होना ही था और उसको भी मूल्यह्रास की सफलता ही कहा जा सकता है। ३१ मार्च, १९५० को समाप्त होनेवाले वर्ष में भारत को ४·७० करोड़ रुपये का व्यापारिक घाटा था, किंतु मूल्यह्रास के बाद के महीनों में भारत का व्यापारिक संतुलन उसके अनुकूल रहा और उसने औसत ५ करोड़ रुपये के कुल डालर कमाये।

भुगतान के संतुलन में इस उन्नति के कारण ही भारत को जुलाई १९४९ से जून १९५० तक के लिये युद्धोतर काल में प्रथम बार ऐसा अवसर मिला कि उसने अपने स्टर्लिंग बकाया में से कुछ नहीं निकाला।

हमारे सूती वस्त्रों के निर्यात को मूल्यह्रास से एक विशेष लाभ हुआ, क्योंकि मूल्यह्रास के बाद उनका निर्यात विशेष रूप से बढ़ गया। संभवत:, उन्होंने विदेशी बाजारों में से दूसरे वस्त्रों को निकाल कर उनपर कब्जा कर लिया; क्योंकि मूल्यह्रास ने विदेशों के उन अन्य वस्त्रों को आकर्षणहीन बना दिया था। वस्त्र निर्यात की आय ऐसी बढ़ी कि मूल्य-ह्रास से ठीक पहले के ९ मास की २·५ करोड़ रुपये की आय बढ़ कर मूल्यह्रास के ठीक बाद के छ: मास में ७·७ करोड़ रुपये हो गयी। इसको मूल्यह्रास का स्थायी लाभ माना गया।

४. मूल्यह्रास के कारण हमको पाकिस्तान से रुई और जूट जैसा कच्चा माल मिलना कठिन हो गया और डालर क्षेत्रों से आनेवाला माल और यंत्र महंगे हो गये। इस मात्रा में मूल्यह्रास ने औद्योगिक उत्पादन पर विपरीत प्रभाव डाला।

५. यद्यपि मूल्यह्रास ने हमारे भुगतान के संतुलन में प्रतिकूलता को ठीक करके

द्वारा अगस्त, १९५० अंक के पृष्ठ ५१२ पर छपे हुए 'India's Balance of Payments' January 1949—June 1950 शीर्षक लेख को पढ़ें।

अपने औचित्य को पूर्णतया सिद्ध कर दिया तो भी हमारे मुद्रा प्रसार को ठीक करना अभी तक भी संभव नहीं हो सका। इसमें संदेह नहीं कि मूल्यह्रास के ठीक बाद सरकार अनाजों, सूत, कपड़े, लोहे के डले तथा इस्पात जैसी आवश्यक वस्तुओं के मूल्य कम करने में सफल हो गई। सामान्य मूल्य सूचक अंक ३८१·३ में ३% की कमी हो गई, किंतु जून १९५० में यह लाभ समाप्त हो गया और मूल्य-सूचक अंक बढ़कर ३९५·५ हो गया। थोक मूल्यों का सूचक अंक भी स्थिरता से बढ़ता जा रहा था। फ़सलें नष्ट हो जाने तथा बाढ़ों के कारण खाद्य की स्थिति खराब हो गयी और कुछ राज्यों में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इसके फलस्वरूप खाद्य मूल्य अधिकाधिक ऊपर चढ़ते गये। जहां तक दो कच्चे माल,रुई तथा पटसन का सम्बन्ध है, पाकिस्तान द्वारा मूल्य न घटाये जाने के कारण वह भी दुर्लभ हो गये। आयातों के ऊपर कड़ा नियंत्रण होने के कारण भी पदार्थों की कमी हो गयी। कोरियन युद्ध तथा वर्तमान युद्ध विभीषिका के बढ़ जाने के कारण सभी देश आवश्यक वस्तुओं और सामग्री को जमा करने लगे।

भारत में विदेशों से आयातों की आशा के बिना वस्तुओं की मांग बढ़ने से बढ़ते हुए मूल्य भयानक-स्तर तक पहुंच गये। अक्तूबर १९५० के प्रथम सप्ताह में मूल्य सूचक अंक अत्यधिक ऊंचा होकर ४१३·५ तक जा पहुंचा। इस प्रकार सरकार के लिये मूल्य-रेखा की रक्षा करना वास्तव में कठिन हो गया। किंतु यह बात स्वीकार करने योग्य है कि केवल मूल्यह्रास को इस स्थिति के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

तथ्य यह है कि किसी देश की आर्थिक बुराइयों की अवमूल्यन बढ़िया औषधि नहीं है। वह अधिक से अधिक अस्थायी उत्तेजना दे सकता है। यह एक कृत्रिम उपाय है, जिससे विदेशों में कुछ माल सस्ता बेचा जा सकता है। वास्तविक उपाय है उत्पादन, कम लागत पर अधिक उत्पादन तथा उपभोग्य सामग्री की कमी करना। मूल्यह्रास ने स्टर्लिंग क्षेत्र की प्रतियोगात्मक शक्ति को निश्चय ही कुछ अच्छी बना दिया। मूल्यह्रास मे पूर्व स्टर्लिंग की स्थिति निर्बल थी और डालर की बलवान् थी; किंतु मूल्यह्रास के बाद स्टर्लिंग बलवान् बन गया तथा डालर कुछ क्षीण हो गया। डालर क्षेत्र ने १९४९ के १५३२० लाख डालर घाटे के विरुद्ध १९५० में ८०५० लाख डालर का लाभ दिखलाया। जिस डालर की खाई को १९५२ के मध्य तक पार किये जाने की आशा थी, उसे उससे बहुत समय पूर्व ही पार कर लिया गया। ब्रिटिश राजकोष-मंत्री (British Chancellor of Exchequer) ह्यू गेट्स्कल (Hugh Gaitskell) ने घोषणा की कि १ जनवरी १९५१ से ब्रिटेन को मार्शल सहायता नहीं दी जायगी। मार्शल सहायता को निश्चित समय से एक वर्ष सात मास पूर्व ही रोक दिया गया। यह कम सफलता नहीं है।

१४. पाकिस्तान द्वारा अवमूल्यन न करना। जब कि भारत ने स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य सभी सदस्यों के समान चलअर्थ का मूल्य घटा दिया, पाकिस्तान ने अपनी लकीर पर जमे रहना पसन्द किया और अवमूल्यन न करने का निर्णय किया। इसके

विरुद्ध अत्यधिक प्रतिरोध किये जाने पर भी भारत का यह विश्वास है कि इस मामले में पाकिस्तान ने आर्थिक मामले के अतिरिक्त अन्य विचारों से काम लिया।

पाकिस्तान ने अपने कार्य का अनेक आर्थिक कारणों से औचित्य सिद्ध करने का यत्न किया। उन युक्तियों पर सरसरी दृष्टि से विचार करने पर ही उनका थोथापन सिद्ध हो जायगा। नीचे पाकिस्तान की मुख्य युक्तियों को उनकी आलोचना सहित दिया जाता है।

(क) यह युक्ति दी जाती है कि पाकिस्तान का व्यापारिक संतुलन उसके अनुकूल है और उसको किसी मौलिक विषमता को ठीक करने की आवश्यकता नहीं थी। किंतु पाकिस्तान का अनुकूल संतुलन अनिश्चित और अस्थायी है, वह केवल एक अस्थायी परिस्थिति है। पाकिस्तान का केवल भारत के साथ ही अनुकूल संतुलन है, किंतु शेष स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ उसका अत्यधिक प्रतिकूल संतुलन है। भारत के साथ अनुकूल व्यापारिक संतुलन की आय से ही वह शेष संसार से की हुई बिक्री का भुगतान किया करता है, किंतु भारत के साथ अनुकूल सम्बन्ध का आधार दोनों देशों के रुपये की समानता है। यदि एक बार यह समानता टूट जाय तो सारी परिस्थिति बदल जायगी। पाकिस्तान का अनुकूल संतुलन मौलिक रूप से भारत द्वारा पाकिस्तान से मोल लिये हुए पटसन तथा रुई पर निर्भर है, किंतु भारतीय उद्योगपतियों के निजी लाभ तथा आत्म-रक्षण की भावना ने उनको विवश कर दिया कि वह इन वस्तुओं को पाकिस्तानी मूल्य पर न खरीदें। इसके अतिरिक्त आजकल भारत में रुई तथा पटसन में आत्मनिर्भर होने का भारी प्रयत्न किया जा रहा है। यदि भारत पाकिस्तान से माल मोल न ले तो उसका अनुकूल संतुलन हवा में रह जाय। यह पूर्णतया आकस्मिक है। यदि पाकिस्तान औद्योगिक विकास के कार्यक्रम को आरम्भ करे और पूंजीगत माल तथा अन्य सामग्री मोल लेना आरम्भ करे तो ऐसी स्थिति में भी पाकिस्तान का अनुकूल संतुलन गायब हो जायगा। पाकिस्तानी रुपये के अधिक मूल्य के कारण पाकिस्तान से भारत तथा शेष स्टर्लिंग क्षेत्र को निर्यात घट जाँयगे और उन क्षेत्रों से आयात बढ़ने लगेंगे। यह हो सकता है कि इससे संतुलन पाकिस्तान के विपरीत जाने लगे। डालर क्षेत्रों के लिये तो उसके निर्यात स्टर्लिंग क्षेत्र की अपेक्षा भी कम हो जाँयगे, क्योंकि डालर क्षेत्र वाले स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्रा का मूल्य कम हो जाने के कारण उसी से माल मोल लेना अधिक पसन्द करेंगे। इन सब कार्यों का प्रभाव सब मिला कर कुछ ऐसा पड़ सकता है कि कुछ समय बाद पाकिस्तान का संतुलन उसके प्रतिकूल हो सकता है। संभवतः, पाकिस्तान ने भारतीय उद्योगधंधों की आवश्यकता तथा पाकिस्तान के उत्पादकों के प्रतीक्षा करने की क्षमता का विश्वास मात्रा से अधिक आँक लिया है।

(ख) पाकिस्तान का यह भी तर्क है कि उसके आन्तरिक मूल्य-स्तर उस के चलअर्थ का मूल्यह्रास करने की अनुमति नहीं देते। किंतु, जैसा डाक्टर जॉन मथाई ने भारतीय संसद् में बतलाया था कि "दोनों देशों के मूल्यों के स्तरों में अन्तर्राष्ट्रीय आंकड़ों के

प्रकाशनों के आधार पर ऐसा अन्तर नहीं था कि जिस से दोनों देशों के चलअर्थ में सम्बन्धित मूल्यों में भारी असमानता को उचित समझा जाय।"

(ग) एक और युक्ति यह है कि मूल्यह्रास न करने से पाकिस्तान को स्टर्लिंग क्षेत्र से पूंजीगत माल सस्ता मिल जायगा और उसको डालर क्षेत्र से महंगा माल मोल लेना नहीं पड़ेगा। किंतु यह एक बहाना मात्र है। पाकिस्तान का इस समय पूंजीगत माल खरीदने का कोई बड़ा कार्यक्रम नही है, यद्यपि उसका बन्दूकों तथा युद्ध-सामग्री मोल लेने का अधिक भारी कार्यक्रम है। १९४८-४९ तथा १९४९-५० के ८५ करोड़ रुपए के पूंजीगत बजट में से उसने औद्योगिक सामान के लिये ५॥ करोड़ रुपये की एक बहुत छोटी रकम रखी हुई है।

(घ) पाकिस्तान का संभवतः यह विचार अधिक प्रबल बनता जा रहा है कि भारत की रुई, पटसन तथा खाद्यान्नों के लिये लोचरहित मांग है, अतएव भारत को उन्हें किसी भी मूल्य पर मोल लेना ही पड़ेगा। उसकी यह आशा मिथ्या है। भारत के उद्योग-पतियों ने उसको कृतार्थ करने से इंकार कर दिया है। पाकिस्तान में इन वस्तुओं के उत्पादकों पर भारी विपत्ति आ गई है।

(ङ) पाकिस्तान के सामने एक और प्रलोभन यह था कि उसका भारत के प्रति ऋण कलम के एक झटके में ही कम हो जायगा। यदि पाकिस्तानी रुपये का भाव भारतीय रुपये से बढ़ गया। किन्तु भारत के ऋण का मूल्य उसी सीमा तक प्रभावित होगा कि जहाँ तक भारत में मूल्य स्तर स्थायी रूप से बढेंगे। यदि ऐसा न हुआ तो पाकिस्तान को उसी परिमाण में माल देना होगा। पाकिस्तान का अपने को यह सोच कर धोखा खाने के लिये स्वागत है कि वह पाकिस्तानी रुपयों की संख्या कम दे रहा है। भारत के लिये पाकिस्तानी रुपयों की संख्या मूल्यवान् नहीं है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों की पूर्ति माल भेजकर की जाती है, न कि चलअर्थ भेजकर।

(च) मूल्यह्रास न करने में पाकिस्तान का एक उद्देश्य था मुद्राप्रसार का रोकना, जिस से आंतरिक मूल्य उचित स्तर तक गिर जाँय। किन्तु स्वस्थ मुद्रा संकोचन के बजाय पाकिस्तान आज मुद्रासंकोचन के बवंडर में फंस गया है। उसके कृषि पदार्थों का मूल्य अत्यधिक गिर रहा है। वहां की जनता की क्रय-शक्ति, जो कि प्रायः कृषिजीवी है, अत्यधिक कम हो गयी है। अतएव मूल्यह्रास न करने से पाकिस्तान की स्थिति को लाभ नहीं पहुंचा। जनवरी १९५२ में पाकिस्तान में खाद्य पदार्थों के भाव भी अत्यधिक बढ़ गए थे और लाहौर में गेहूं का भाव २० रु० प्रति मन हो गया था।

इस प्रकार क्रियात्मक रूप में विचारने तथा अर्थशास्त्रीय विचार के अनुसार पाकिस्तान द्वारा अपने चलअर्थ का अवमूल्यन न करने के कार्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। जैसा कि डाक्टर वी. के. आर. वी. राओ का कहना है, "अस्थायी तथा अनिश्चित व्यापारिक संतुलन के साथ मौलिक सामग्री के आधार पर तथा विदेशी

पूंजी की आवश्यकता वाली अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था में अपने घरेलू चलअर्थ का बिना सुरक्षा कोष के मूल्य अधिक रखकर एक निर्धन देश के लिये महंगा जुआ है। अन्त में इस परिणाम पर पहुंचना ही पड़ता है कि मूल्यह्रास न करने म पाकिस्तान ने मनोवैज्ञानिक, भावनात्मक अथवा राजनीतिक विचारों को ही ध्यान में रखा। पाकिस्तान के सौभाग्यवश संसार का घटना-चक्र इस प्रकार घूमा कि उसको अपनी विनिमय दर को बनाये रखने में सहायता मिल गई। कोरिया युद्ध तथा अन्य देशों में स्टाक जमा करने की प्रवृत्ति से पाकिस्तानी रुपये को बल मिला और भारत को सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिये पाकिस्तान की विनिमय दर को स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा।

१५. **पुनर्मूल्यन।** हम यह देख चुके हैं कि जब पौंड का मूल्य डालर की अपेक्षा घटाया गया तो भारत को उसका अनुकरण करना पड़ा और रुपये को भी डालर की तुलना में घटाना पड़ा। इसका कारण यह नहीं था कि रुपये में कोई कमी थी, किंतु वह स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों के पग में पग मिला कर चलना चाहता था। अकेले रहने की नीति स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ व्यापार के विषय में असुविधाजनक रहती।

हम यह भी देख चुके है कि मूल्यह्रास से हमने अपने प्रतिकूल संतुलन को ठीक कर लिया और रुपये में से सभी प्रकार की निर्बलता दूर हो गयी। कोरियन युद्ध तथा मुख्य राष्ट्रों की संग्रह-वृत्ति तथा पुनः-शस्त्रीकरण के कार्यक्रमों ने हमारे निर्यातों को बढ़ा दिया। यहां तक कि भारत में कुछ लोग यह भी सोचने लगे कि निर्यात अपनी रक्षा स्वयं कर सकते हैं तथा जो मूल्यह्रास विवश होकर किया गया था, उसे समाप्त कर दिया जाय। अब पुनर्मूल्यन के लिये आन्दोलन किया जाने लगा कि रुपयों के मूल्य को डालर के साथ फिर तय किया जाय। यह आन्दोलन पाकिस्तान के उदाहरण से बलशाली बना जिसने अपनी मुद्रा का मूल्यह्रास करने से इंकार कर दिया था। पुनर्मूल्यन के इस आंदोलन को अत्यन्त सम्मानित अर्थ-शास्त्री तथा भूतपूर्व अर्थ मन्त्री डा. जॉन मथाई तथा 'ईस्टर्न इकोनोमिस्ट' (Eastern Economist) नामक पत्र का समर्थन प्राप्त था।[1]

पुनर्मूल्यन के पक्ष को निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है :

१. पुनर्मूल्यन का प्रभाव मुद्राप्रसार विरोधी होगा, इससे मूल्य घट जाँयगे, जिससे उच्च मूल्यों के दबाव में दिखने वाली जनता को कुछ सांस लेने का अवसर मिलेगा।

२. पटसन, वस्त्र, चाय, काली मिर्च आदि के भारतीय निर्यातों का विश्व के बाजार में प्रबल स्थान है, अतएव उनको मूल्यह्रास के रूप में कृत्रिम उत्तेजना की आवश्यकता नहीं है।

---

१. ईस्टर्न इकोनोमिस्ट के अप्रैल, मई, जून, अक्तूबर तथा नवम्बर १९५१ के अंकों में एक लेखमाला निकली थी।

३. अतएव भारत को अपने आयातों के सम्बन्ध में अपने स्वार्थ पर ध्यान देना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य होगा। कुछ समय तक खाद्यान्नों, औद्योगिक कच्चे माल, मशीनों आदि के सम्बन्ध में हमारा आयात-व्यय अत्यधिक होता रहेगा। पुनर्मूल्यन से भारत को खाद्य पदार्थों को मोल लेने में, जिन में लगभग बीस करोड़ रुपया लग जाता है—भारी बचत होगी, इससे हम को पाकिस्तान से रुई तथा पटसन तथा अमरीका से पूंजीगत माल सस्ते मूल्य पर मिलेंगे।

४. पुनर्मूल्यन से आयातों को अधिक उदार बनाना तथा उपभोक्ता माल की कमी को दूर करना संभव हो सकेगा। जनता इस पग का अत्यधिक स्वागत करेगी।

तो भी पुनर्मूल्यन के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियां दी जा सकती हैं:

१. हमारे उद्योग-धंधों के उत्पादकों को बाहर से आने वाले सस्ते माल से हानि उठानी पड़ेगी। जापानी उद्योगधंधों के दुबारा उठ जाने पर यह खतरा वास्तविक रूप धारण कर लेगा।

२. यदि भारत ने अपने चलअर्थ का पुनर्मूल्यन कर के अकेले-अकेले ही पग उठा लिया तो उससे अमरीका तथा अन्य डालर क्षेत्रों को जाने वाले हमारे निर्यातों तथा शेष स्टर्लिंग से आने वाले हमारे आयातों में बाधा आएगी।

३. अमरीका में स्टाक संग्रह करने की वृत्ति कुछ मन्दी पड़ गयी है और हम यह आशा नहीं कर सकते कि हमारे निर्यातों के लिये सदा ही विस्तृत बाज़ार खुले रहेंगे।

४. स्टर्लिंग क्षेत्र को जाने वाले हमारे निर्यातों पर भी इमसे प्रभाव पड़ेगा क्योंकि हमारे चलअर्थ का पुनर्मूल्यन हो जाने पर वह महंगे हो जाँयगे, और हमारे निर्यातों का लगभग तीन चतुर्थांश स्टर्लिंग क्षेत्रों को जाता है।

५. हमारे निर्यात बिल्कुल साख लगाने योग्य हैं। जूट के माल में हमारे बाज़ार पहले से ही निकलते जा रहे हैं। हमारे वस्त्रों को भी प्रतियोगिता करनी पड़ रही है। कुछ समय बाद जापान तथा लंकाशायर के साथ हमारी यह प्रतियोगिता तीव्र हो जायगी। हमारा चाय उद्योग भी इंडोनेशिया की चाय के मुकाबले लड़खड़ाने लगा है तथा दक्षिण पूर्वी एशिया में काली मिर्च की खेती अत्यधिक अच्छी होने से हमारा काली मिर्च का बाज़ार भी तंग हो जायगा। द्विपक्षीय समझौतों के अधीन हमारे वायदों ने भी हमारी सौदा करने की शक्ति को कम कर दिया है। अतएव, पुनर्मूल्यन से हमारे निर्यातों का परिमाण निश्चय से घटेगा, जिस के फलस्वरूप हमारे विदेशी विनिमय की संख्या में कमी होगी। ऐसी दशा में हम अपने लिये अधिक आवश्यकता की वस्तुओं को किस प्रकार मोल ले सकेंगे?

पुनर्मूल्यन के वाद-विवाद को श्री सी. डी. देशमुख ने भारतीय संसद में १० अप्रैल १९५० को एक अधिक उपयुक्त वक्तव्य देकर समाप्त कर दिया। उन्होंने बतलाया कि रिज़र्व बैंक के विशेषज्ञों की सम्मति के अनुसार १५% पुनर्मूल्यन के लगभग ५० करोड़

रुपये के भुगतान संतुलन का घाटा होगा और ३०% पुनर्मूल्यन से लगभग १३५ करोड़ रुपये का घाटा होगा। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि पुनर्मूल्यन से हम घाटे में रहेंगे, लाभ में नहीं। यह प्रश्न सस्ता माल प्राप्त करने का बिल्कुल नहीं है। यह प्रश्न है वस्तुओं को प्राप्त कर सकने की योग्यता तथा यह कि वस्तुओं को किस से मोल लिया जाय। उन्होंने कहा--"अधिक आयात करने का निश्चय करने से पूर्व, जिसके लिये विशेष रूप से रुपये का पुनर्मूल्यन किये जाने पर बल दिया जा रहा है--यह निश्चय कर लेना महत्त्वपूर्ण है कि इसके लिये हमारे पास पर्याप्त विदेशी विनिमय भी है या नहीं; यह एक ऐसी महती आवश्यकता है कि जिसे पुनर्मूल्यन से किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता।" हमको अपने जहाज़ के पाल को प्रतिकूल ऋतु के प्रति नहीं मोड़ना चाहिए। इसके अतिरिक्त पुनर्मूल्यन से आयात तथा निर्यात के करों में भी भारी हानि होगी। अतएव वर्तमान परिस्थिति में पुनर्मूल्यन करने में भारत का हित नहीं है। तो भी, अर्थमंत्री ने यह आश्वासन दिया है कि "इस प्रकार की समस्या को आवश्यकता पड़ने पर भविष्य के लिये उठा कर नहीं रखा जायगा, वरन् हम समय-समय पर स्थिति पर पुनर्विचार करने के निर्णय करते रहेंगे, यही ढंग वास्तव में ठीक दिखाई देता है।"

१६. १९५२ का डालर संकट। १९४९ में पौंड-स्टर्लिंग का अवमूल्यन एक ऐसी चालाकी थी, जिसने ब्रिटेन को कठिन स्थिति में से निकाल लिया। डालर की खाई को संभावित समय से कहीं पूर्व पाट दिया गया। किंतु अवमूल्यन केवल अस्थायी औषधि सिद्ध हुई। ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था उचित स्तर तक पुनः ठीक नहीं हो सकी। स्टाक संग्रह की मनोवृत्ति के कुछ मन्द पड़ जाने तथा कुछ और कारणों से डालरों का संकट दिखलाई देने लगा और यह स्टर्लिंग क्षेत्र, और विशेषकर ब्रिटेन के लिये एक समस्या बन गया। ३० सितम्बर १९५१ को ३२६,९० लाख डालरों की ब्रिटिश सुरक्षा निधि घटकर ३१ दिसम्बर १९५१ को २,३३५० लाख डालर की रह गई। यदि डालरों का बहिर्गमन इसी गति से अगले तीन मास और चलता तो ग्रेट ब्रिटेन की फिर वैसी दशा हो जाती, जैसी उसकी सितम्बर १९४९ में पौंड का अवमूल्यन करते समय हुई थी। यह संकट १९४९ के संकट से अधिक विकट था, क्योंकि अब चलअर्थ की कमी केवल डालर के सम्बन्ध में ही नहीं थी। ब्रिटेन में तो उस समय लगभग सभी महत्त्वपूर्ण चलअर्थों की कमी थी। परिस्थिति वास्तव में अत्यन्त गम्भीर थी।

इसके क्या कारण थे? संकट मौलिक रूप में ब्रिटेन का उत्पन्न किया हुआ था। उसकी आयात हुंडी में धीरे-धीरे तेज़ी आती जाती थी। अमरीका से सहायता न मिलने तथा ईरान का तेल हाथ से निकल जाने के कारण ब्रिटेन की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ गई। स्टाक संग्रह में स्वर्ण-भंडार का अच्छा भाग समाप्त हो गया। कुछ लाख डालर उसके डालर ऋण के भुगतान में खर्च हो गये। स्टर्लिंग क्षेत्र के कुछ और देश भी न्यूनाधिक मात्रा में इस बुरी स्थिति के लिये उत्तरदायी थे। डालरों की कमी के कारण ये थे--

आयातों की आय में कमी, डालरों का अधिक मात्रा में भुगतान तथा योरोपीय देशों से अधिक मात्रा में माल मोल लिया जाना। संक्षेप में, इस संकट का कारण यह था कि स्टर्लिंग क्षेत्र का व्यय अपनी आय से अधिक था।

इसका उपाय क्या था? जनवरी १९५२ में राष्ट्रमंडल के अर्थमन्त्रियों का सम्मेलन इन कठिनाइयों का कार्यकारी हल खोजने के लिये लन्दन में बुलाया गया। राष्ट्रमंडल के सभी देशों के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत हो गये कि वह इस को तुरन्त ठीक करने वाले कार्य की आवश्यकता को अपनी-अपनी सरकारों के सामने आवश्यक विषय के रूप में रखेंगे, साथ ही वह अपनी सरकारों के सामने इस प्रकार के निश्चित प्रस्ताव रखेंगे, जिनके फल-स्वरूप समस्त स्टर्लिंग क्षेत्र १९५२ के उत्तरार्ध में शेष संसार के साथ लाभ में रहेगा। उन्होंने इस प्रकार के उपायों का प्रस्ताव किया था—आयातों में कमी, उत्पादन तथा निर्यात आय में वृद्धि, सार्वजनिक व्यय में बचत, मुद्रा स्फीति का मुकाबला करने के लिये देश के अन्दर माल मोल लेने में कमी तथा पूंजीगत व्यय में कमी करना। व्यापक सिद्धांत यह है कि प्रत्येक देश को अपने साधनों के अन्दर-अन्दर ही कार्य करना चाहिए। उधार लेकर भी इस खाई को अस्थायी रूप में पाटा जा सकता था।

किंतु प्रत्येक देश को स्पष्ट रूप मे क्या करना चाहिए, यह उसी देश की इच्छा पर छोड़ दिया गया। एक सदस्य-राष्ट्र अपनी परिस्थिति के अनुरूप इसमें सहायता दे सकता था, जैसा कि इकोनोमिस्ट (Economist) नामक पत्र ने लिखा था, "इसका हल प्रत्येक देश के लिये बना कर अपनी ओर से उपस्थित नहीं किया जायगा, वरन् प्रत्येक देश अपनी स्थिति के अनुसार उसका स्वयं निर्माण करेगा।" आरोग्यप्रद सिद्धांत यह होगा, "प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार।"

जहां तक भारत का सम्बन्ध है वह किसी प्रकार की निश्चित सहायता करने की स्थिति में नहीं है। उसके आयात पहले से कांट-छांट कर मौलिक आवश्यकताओं भर के लिये न्यूनतम कर दिये गये थे। डालर क्षेत्र से भारत खाद्यान्नों, रुई और मशीनों का आयात करता है, जो वर्तमान स्थिति में उसके लिये अनिवार्य है। भारत जैसा एक अविक-सित देश अपने उपभोग-मान अथवा विकास योजनाओं में कटौती नहीं कर सकता, क्योंकि उनमें कटौती करने की कोई भी गुंजाइश नहीं है। जब भारत खाद्य तथा औद्योगिक कच्चे माल में आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेगा तो उस स्थिति में वह डालर के सम्बन्ध में स्टर्लिंग क्षेत्र को उसकी स्थिति सुधारने में सहायता दे सकेगा। इस प्रकार के बारबार आने वाले संकटों का स्थायी हल यह है कि स्टर्लिंग क्षेत्र के व्यापार को वर्तमान की अपेक्षा पर्याप्त उच्च-स्तर तक बढ़ाया जाय।

इकतीसवां अध्याय
बैंकिंग प्रणाली

१. प्रस्तावना। भारतीय बैंकिंग (बैंक-कार्य या महाजनी) उसके देशी और विदेशी व्यापार जितना ही पुराना है। मनुस्मृति से पता चलता है कि ईसाई युग से बहुत पूर्व भारत में बैंकिंग को समझा तथा किया जाता था। चाणक्य के अर्थशास्त्र से भी चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में बैंकिंग का पता चलता है।

भारत में मुसलमानों के आक्रमण तथा अधिकार से बैंकिंग तथा साख पर करारी चोट पड़ी। तौ भी, अनेक प्राचीन हिन्दू बैंकिंग-भवन बचे रह गए। वह मुस्लिम बादशाहों तथा दरबारियों के महत्त्वपूर्ण आर्थिक-सेवा-कार्य करते थे। बंगाल के नवाबों के इतिहास में जगत सेठ तथा उमा सेठ के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यहां तक कि ईस्ट इंडिया कम्पनी भी उनसे उधार लेकर उस रकम को भारत के दूरवर्ती आन्तरिक भागों में भेजा करती थी।

आज जबकि देश में पाश्चात्य बैंकिंग प्रणाली अच्छी तरह जम चुकी है, तो भी भारतीय बैंकिंग में देसी महाजन (बैंकर) और साहूकार का वर्णन किये बिना उसका पूर्णतया वर्णन नहीं किया जा सकता।

भारतीय बैंकिंग की समस्याओं का अध्ययन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बैंकिंग संस्थाएं समाज की बचत को अत्यन्त उपयोगी कार्यों के लिये एकत्रित करके अत्यन्त उपयोगी काम कर रही हैं। उद्योग-धन्धों या कृषि की उन्नति के लिये उपयुक्त बैंकिंग सुविधाओं का उपलब्ध होना आवश्यक शर्त है। उद्योग-धन्धों, कृषि अथवा सरकार के लिये पूंजी की साधारण आवश्यकता के तीन भाग किये जा सकते हैं—(१) अल्प-कालीन, (२) मध्यकालीन तथा (३) दीर्घकालीन। एक ठोस बैंकिंग रचना को तीनों ही प्रकार की आर्थिक आवश्यकताएं पूर्ण करने योग्य होना चाहिए। तो भी, आजकल की स्थिति में दीर्घकालीन ऋण की सुविधाएं अत्यन्त अपर्याप्त हैं। कृषि के विषय में तो बिल्कुल ऐसी ही बात है। इसी प्रकार बचत को एकत्रित करने तथा बैंकिंग सुविधाएं देने में भी खाइयां हैं।

अन्य मामलों के समान बैंकिंग में भी आँकड़ों की भारी कमी है। देसी बैंकर और साहूकार कोई आँकड़े नहीं प्रकाशित करते। बिना सारिणी सूंची के बैंकों (Non-scheduled Banks) के बिक्री की रकमों के लेखे (Returns) विस्तृत रूप में प्राप्य नहीं हैं। मुद्रा और बैंकिंग के क्षेत्र में यह त्रुटियाँ विशेष रूप से इसलिये निन्दनीय हैं कि मूल्य स्तरों, मुद्राप्रसार और रोज़गार देने की नीतियों में उनका बड़ा महत्व होता है। तो भी, यह

आशा है कि जब १९४९ के बैंकिंग कम्पनियों के अधिनियम के अनुसार बिक्री की रकमों के लेखों का आना आरंभ हो जायगा तो यह त्रुटियां भी पूरी हो जाँयगी।

२. भारतीय बैंकिंग प्रणाली के अंग। भारतीय मुद्रा बाज़ार तथा बैंकिंग प्रणाली निम्नलिखित सदस्यों से बनी होती है–

(क) देशी बैंकर
(ख) सहकारिता बैंक
(ग) भूमि बंधक बैंक
(घ) डाकखाने का सेविंग्स बैंक
(ङ) इम्पीरियल बैंक सहित सम्मिलित स्टाक बैंक
(च) विदेशी विनिमय बैंक
(छ) बीमा कम्पनियां
(ज) भारत का रिज़र्व बैंक तथा
(झ) शेयरों तथा सोने चांदी की बिक्री की मंडियां (Stock and Bullion Exchanges)

कभी कभी डाकखाने के सेविंग्स बैंक और बीमा कम्पनियों को भारतीय मुद्रा बाज़ार की रचना में सम्मिलित नहीं किया जाता, क्योंकि उनको एक विशेष प्रकार का बैंकिंग व्यवसाय करने वाला समझा जाता है। किन्तु किसी भी संस्था को, जो जनता से रुपया एकत्रित करके उसे दूसरे को उधार देती है, बैंकों में सम्मिलित किया जाना चाहिए। भारतीय मुद्रा बाज़ार ब्रिटिश मुद्रा बाज़ार के विपरीत अत्यन्त बेढंगे रूप में परस्पर संगठित है। यदि एक गांव का साहूकार, जिसका एकमात्र व्यवसाय अपने पारिवारिक धन को उधार देना है–बैंकिंग व्यवसाय का भाग है, तो व्यक्तियों से लाखों रुपया एकत्रित करके उस रुपये को प्रतिभूतियों (Securities) में विनियोजित करने वाली बीमा कम्पनी निश्चय ही उसका एक अंग है।

३. देसी बैंकरों का बैंकिंग प्रणाली में स्थान। प्राचीन देसी बैंकिंग प्रणाली के उत्तराधिकारी अपने प्राचीन कार्य को देश के विभिन्न भागों में विभिन्न नामों से कर रहे हैं। मद्रास में उन्हें चेट्टी, पंजाब और उत्तर प्रदेश में साहूकार, महाजन और खत्री, बम्बई में सराफ़ और मारवाड़ तथा बंगाल में सेठ और बनिया कहा जाता है।

१९५० में, भारत में पांच सहस्र तथा अधिक जनसंख्या वाले ऐसे २,४९० स्थान थे। इनमें १,५१० बैंकिंग कंम्पनियां थीं। यह भारी उन्नति है। उदाहरणार्थ, १९१६ में केवल १४०स्थानों में बैंकिंग सुविधाएं थीं। १९२० में ३३९,१९३६ में ५१४ तथा १९३९ में७३६ स्थानों में बैंकिंग सुविधाएं थीं। प्रायः भारत के वितरण केन्द्रों तथा नगरों या भागों में बैंकों की नई शाखाएं खोली जाती हैं, कि जहां पहले ही बैंकिंग सुविधाएं होती हैं। एक लाख या अधिक जनसंख्या वाले५१नगरों में बैंकिग कार्यालयों की समस्त संख्या१,५१२थी,जबकि शेष

१,४५९ नगरों में बैंकिंग कार्यालयों की संख्या (बिना सारिणी सूची के बैंकों सहित) केवल ३,२६६ थी। इस प्रकार बड़े बड़े नगरों में बैंकिंग कार्यालय अधिक जमा हो जाते हैं। भारत के छोटे-छोटे नगरों में कोई बैंकिंग सुविधाएं नही हैं।

भारत की कम से कम ८७·२ प्रतिशत जनता ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। प्रत्येक तीन व्यक्तियों में से दो सीधे तौर से कृषि के अधीन हैं, कि जो इस प्रकार आज भी जनता का मुख्य व्यवसाय है भले ही नागरिक क्षेत्रों तथा उद्योग-धन्धों का पिछले दिनों कितना ही विस्तार हो गया है। अतएव गांवों में ऋणों का दिया जाना अन्य सभी प्रकार के ऋणों से अधिक महत्वपूर्ण है। अनेक नगर तथा सभी छः लाख छोटे-बड़े गांव किसी भी प्रकार की बैंकिंग सुविधा से वंचित हैं। उनको अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के पूरा करने के लिये या तो सहयोग समितियों अथवा साहूकार पर निर्भर रहना पड़ता है। १९४९-५० में कृषि सम्बन्धी उधार देने वाली समितियों की संख्या केवल १,१६,५३४ थी। उनकी सदस्य संख्या ४८ लाख थी जो कि समस्त कृषि जनसंख्या का कुल ७ प्रतिशत थी।[१] "सहयोग समितियों से तीव्र प्रतियोगिता होते रहने तथा गत मंदी की भारी हानि और कठिनाइयों के होते हुए भी उधार देने वाले साहूकार तथा देसी बैंकर[२] अभी भी भारतकी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था[3] के मेरुदण्ड बने हुए हैं।" भारत में साहूकारों तथा देसी बैंकरो की संख्या १९३१ में कम से कम, ३,२९,००० थी। युद्धपूर्व काल[४] में गांवों का ऋण १,२०० करोड़ रुपये का होने का अनुमान किया गया था। विभाजनोत्तर काल, में साहूकारोंकी प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं—कृषि ऋण समितियों (Agricultural Credit Societies) की कार्यकारी पूंजी में पर्याप्त वृद्धि हुई। १९४९-५० में उनकी कार्यकारी पूंजी ३५ करोड़ २२ लाख रुपया थी। किन्तु जब गांवों की सारी आवश्यकताओं, विस्तृत कृषि ऋण तथा भारत में सहकारिता ऋण समितियों के विषयमें विकास का हिसाब लगाया जाता है तो यहां समुद्र में

---

१. यह अनुमान लगाया गया है कि ४८ लाख सदस्यों के १ करोड़ ७२ लाख कुटुम्बी होंगे। तिसपर भी, यदि सभी समितियों के सदस्यों की कुल संख्या निकाली जाय तो उसका प्रतिशत अनुपात १६ होगा।

२. डाक्टर एल. सी. जैन साहूकार तथा देसी बैंकर में विभेद करते हैं। साहूकार केवल रुपया उधार देता है, जबकि देसी बैंकर के पास रुपया जमा भी किया जाता है और वह अपनी हुंडियां निकालता है—Monetary Problems of India, p. 55.

३. Muranjan—Modern Banking in India.

४. डाक्टर आर. मुकर्जी १९३५ के लिये, भारत के रिजर्व बैंक के १९३९ के अनुमान के अनुसार गांवों का कुल ऋण १,८०० करोड़ रुपया था।

एक बूंद जैसी दिखलाई देती है और तब पता चलता है कि अधिकांश क्षेत्र साहूकार के लिये अब भी बचा हुआ है।[१]

४. गांव के साहूकार का कार्य। गांव के साहूकार का मुख्य कार्य ज़रूरतमंद को रुपया उधार देना है। उसके पास रुपया बहुत कम जमा रहता है,जो कुछ होता है, वह उसका अपना निजी ही होता है। क्योंकि उसके पास जमा करने कोई नहीं आता। कभी २ अस्थायी रूप से सुरक्षा के लिये उसके पास अवश्य ही जमा कर दिया जाता है, किन्तु ऐसा कभी २ ही होता है। वह या तो ज़ेवर की ज़मानत अथवा अगली फ़सल पर चुकाने की ज़मानत पर रुपया उधार देता है। उसका मुख्य कार्य उपयोगके लिये ऋण देना है। कभी कभी वह गांव में परचून की दूकान भी खोल लेता है और अपने असामी की फसल को मोल लेता है, जिसको या तो वह अपने उपयोग में लाता है अथवा पास की मंडी में बेच देता है। ब्याज की दर असामी के विश्वस्त होने के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। असुरक्षित ऋणों में ब्याज की दर सदा ही ऊंची होती है। अकाल तथा अभाव के दिनों में, पुत्र-जन्म पर अथवा कन्या का विवाह होने पर ज़मींदार उसी की शरण लेता है। वास्तव में किसान के सम्मान का वह असली संरक्षक है।[२]कीमतें चढ़ जाने, सुगमता से उधार मिल जाने तथा साहूकारे पर सज़ा दिलाने वाला कानून बन जाने पर भी साहूकार के किसान के ऊपर से अधिकार को अभी तक हिलाया नहीं जा सका। बम्बई के थाना ज़िले में यह पता लगा कि वहां ब्याज की अधिकतम दर ५८ प्रतिशत थी। दारंग (आसाम) की जांच से भी यही पता चला। वहां ३० से लेकर ५० प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता था और अधिकाँश ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिये लिया जाता था। पश्चिमी बंगाल, मदरास में भी, जहां युद्ध के बाद जांच की गई थी—वही कहानी सुनने को मिलती है, यद्यपि उस जांच से यह भी पता चलता है कि युद्ध-पूर्व काल को अपेक्षा उत्पादक कार्यों के लिये ऋण अधिक लिया जाने लगा। है

व्यापारिक बैंक किसानके साथ सीधा सम्वन्ध स्थापित करने की स्थिति में नही होते, और न सहकारिता समितियां ही उस खाई को पाट सकती हैं। व्यापारिक बैंकों ने कृषि उद्योगों के लिये जो ऋण दिये हैं, वह केवल १९ करोड़ रुपये के अथवा उनके द्वारा दी गई पेशगियों के ४ प्रतिशत हैं। प्रारंभिक सहयोग समितियों द्वारा किसानों को १९४९-५० में दिये हुए ऋणों का परिमाण १७ करोड़ ९९ लाख रुपये था। तकावी ऋण केवल १० करोड़ रुपये के बांटे गए थे। इस प्रकार यह बात सोचने की रह जाती है कि साहूकार तथा देसी बैंकर का उपयोग मुद्रा बाजार तथा किसान के बीच का बिचवैया बनाने में किस प्रकार किया जाय। उनके ब्याज की दर ऊंची होती है, किन्तु उनका खतरा भी बड़ा होता है।

---

१. Reserve Bank of India—Review of the Co-operative Movement in India, 1948-50.

२. पंजाबी कहावत 'साह बिना पत नहीं, राजा बिना गत नहीं।'

साधारण किसान अपने पास आवश्यकता के समय खर्चने के लिये रुपया तैयार रखने के लिये या तो अत्यधिक निर्धन अथवा अदूरदर्शी होता है। अतएव ज़रूरतमंद को पूंजी देने वाली किसी संस्था का होना आवश्यक है। अतएव साहूकारों को न तो पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है और न समाप्त करना ही चाहिए। किन्तु उनके आपत्तिजनक कार्यों को कठोरता से रोका जाना चाहिए और उनके व्यापार को नियमित बनाना चाहिए। उनको निश्चित प्रणाली पर हिसाब रखने के लिये विवश किया जाना चाहिए। उनको व्यापारिक बैंकों द्वारा रुपया दिलवाना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर रिज़र्व बैंक[1] द्वारा भी दिया जाना चाहिए। कृषि ऋण के सुधार के लिए रिज़र्व बैंक का विशेष उत्तरदायित्व है। उसकी सहायता तथा निर्देशन पाकर प्रांतीय सहकारिता बैंक तथा व्यापारिक बैंक ग्रामीण अर्थ-समस्या को हल करने के लिये मिल कर कार्य करेंगे।

५. वर्तमान में ग्रामीण बैंकिंग का महत्व। यह इस ग्रंथ में अन्यत्र बतलाया जा चुका है कि आज कल सब से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या भारत को खाद्य, रुई तथा पटसन में आत्मनिर्भर बनाना है। जब तक हम इस उद्देश्य में सफल नहीं होते, हम अपने उन करोड़ों भूखे देशवासियों का काम नहीं चला सकते, जिनकी संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जाती है। इस सम्बन्ध में अपनाए हुए अन्य उपायों में कृषि की उन्नति के लिये धन देने की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था भी है। सरकार की किसी भी प्रणाली में कोई आर्थिक कार्य उधार बिना सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। अन्य कार्यों की अपेक्षा कृषि के विषय में यह अधिक सत्य है। किसान लोग संसार भर में निर्धन हैं। भारत में तो, जहां अधिकांश खेत अलाभकारी हैं, जहां गांवों में अत्यधिक अशिक्षा है—वह बहुत ही अधिक निर्धन हैं। भूमि सुधारों तथा साहूकारों के नियंत्रण के लिये पिछले दिनों बनाए हुए नियमों से उधार मिलने की स्थिति में और खराबी आ गई। अतएव, आज इस बात की पहले से अधिक आवश्यकता है कि नई संस्थाएं खोलकर किसानों को साधारण बैंकिंग सुविधाएं पहुंचाई जाँय।

ग्रामीण बैंकिंग को एक और दृष्टिकोण से भी पिछले वर्षों में महत्त्व प्राप्त हुआ है। खाद्यान्नों तथा अन्य वस्तुओं के भाव अत्यधिक चढ़ जाने के कारण "यह संभावना है कि राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों से प्राप्त होगा।" देहाती आय तथा उसके वितरण के सम्बन्ध में निर्भर होने योग्य अंकों के अभाव में देहाती क्षेत्रों में बचत के परिमाण के संबंध में हिसाब लगाना निश्चय से असंभव है। किन्तु यह अनुमान लगाना गलत नहीं होगा कि बड़े जमींदार पहले[2] की अपेक्षा अधिक बचत कर रहे हों। अधिक संभव यह है कि काले बाज़ार के कारण गांव का बनिया तथा व्यापारी भी भारी बचत कर रहे

---

१. Muranjan—op. cit., p. 180.

२. Menon M.S.—"Rural Indebtedness in Recent Years" in the Agricultural Situation in India.

हैं। इस प्रकार बचत का रुपया तिजोरियों में बंद होता जा रहा है और बैंकिंग सुविधाओं के अभाव के कारण उसको उपयोगी रूप में नहीं लगाया जा सकता। उद्योग-धन्धों, कृषि, पन-बिजली और यातायात में बढ़ती हुई आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ग्रामीण क्षेत्रों में इस प्रकार की बचत का उपयोग करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

कृषि विकास के लिये उधार का प्रबंध करने और व्यर्थ की तिजोरियों में पड़ी हुई बचत की रकम के उपयोग की द्विमुखी समस्या को हल करने के उपाय सुझाने के लिये सरकार ने १९४९ में एक ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी नियुक्त की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट १९५० में दी थी।

ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी की सिफारिश—ग्रामीण बैंकिंग की साधारण समस्या की जांच के अतिरिक्त कमेटी को इस प्रश्न पर विचार करने का कार्य भी दिया गया था कि तहसील के प्रधान कार्यालयों में सरकारी खजाने के काम को इम्पीरियल बैंक अथवा व्यापारिक बैंकों अथवा सहकारिता बैंकों को दे दिया जाय। कमेटी ने मुख्य रूप से निम्नलिखित परिणाम निकाले:

(क) रिज़र्व बैंक अपनी शाखाओं को भारत के सभी राज्यों की राजधानियों में खोले।

(ख) इम्पीरियल बैंक अपनी शाखाएं सभी ताल्लुका या तहसीलों में खोले।

(ग) व्यापारिक और सहकारिता बैंकों को अपनी शाखाएं ताल्लुका और इसी प्रकार के नगरों तथा कस्बों में खोलनी चाहिएं।

(घ) गांवों में डाकखाने में सेविंग्स बैंक तथा सहकारिता समितियों की सुविधाओं को उपलब्ध किया जाय।

(ङ) सहकारिता ऋण तथा बहूद्देशीय समितियों को प्रबल बनाया जाय तथा सहकारिता संस्थाओं को विशेष सहायता दी जाय।

(च) कृषि को अल्पकालीन तथा मध्यकालीन आर्थिक सहायता देने के लिये वर्तमान सहकारिता बैंकों को मजबूत बना दिया जाय और उनके कार्यक्षेत्र को बढ़ा दिया जाय। और जहां-कहीं यह संभव न हो वहां स्टेट एग्रीकलचरल कारपोरेशनों (राज्य कृषि संसदों) की स्थापना कर दी जाय।

(छ) भूमि रेहन बैंकों जैसी पृथक् संस्थाओं द्वारा दीर्घकालीन ऋण दिये जाने चाहियें तथा (ज) रुपया दूसरी जगह भेजने की सुविधा अत्यधिक क्षेत्रों में बढ़ाई जाय।

कमेटी ग्रामीण क्षेत्रों में बचत के परिमाण के सम्बन्ध में किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सकी, किन्तु उसको इस बात का विश्वास होगया कि राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग वहां चला गया है। उसकी सम्मति में उस अतिरिक्त आय का एक बहुत बड़ा भारी भाग उपभोग के उच्चतर स्तर को सहारा देने के लिये चला गया है, और अपेक्षाकृत पर्याप्त छोटा भाग बचाया जा सका है। तो भी, इस प्रकार की जाने वाली बचत

की संख्या पर्याप्त बड़ी हो जाती थी और उसका उपयोग करने का उद्योग किया जाना चाहिये।

६. नगरों में देसी बैंकर। देसी बैंकरों का व्यवसाय पीढ़ियों से चला आता है, जिसे वे अपने परिवार की पूंजी से चला रहे हैं। तो भी, उसके पास कुछ लोग अपनी रकमें जमा कराते है, जिनके लिये वह बैंक से अधिक सूद देता है। वह व्यापार भी करता है और माल के वितरण तथा फसलों को बन्दरगाह तक पहुंचाने में सहायता देता है। वह व्यापारियों द्वारा जारी की गई हुण्डियों को मोल लेता है। उनपर वह बैंक से अधिक ब्याज लेता है और उस अन्तर को अपने लाभ के लिये रखता है। वह व्यापारी को भी धन देता है और इस प्रकार हुण्डी को सकार कर बाज़ार तथा बैंक के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। बाद में आवश्यकता होने पर वह हुण्डी पर बैक से दुबारा धन ले लेता है। वह सोना, चांदी, ज़ेवर, माल या व्यक्तिगत ज़मानत पर ऋण दे देता है। जो लोग बैंक जाते झिझकते है वह उनको ऊंची दर के ब्याज पर देता है। जैसा कि सर जॉर्ज शूस्टर (Sir George Schuster) ने कहा था, "भारत के समस्त बैंकिग तथा ऋण संस्थान में देसी बैंकर जो कार्य कर रहे हैं, उसके विषय में अनुमान से अधिक कहना असंभव है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि देसी बैकर लोग इस व्यवसाय में ९० प्रतिशत या इससे भी अधिक भाग लेते हैं।"

७. देसी बैंकर और रिज़र्व बैंक। अलएव यह आवश्यक है कि इन बैंकरों को आधुनिक बाज़ार के सम्पर्क में लाया जाय, जिससे कि वह जनता को उचित दर पर उधार तथा बैंकिंग सुविधाएं दे सकें।

सर जे. बी. टेलर ने (Sir J. B. Taylor), जो किसी समय रिज़र्व बैंक के गवर्नर थे—देसी बैंकरों का रिजर्व बैंक के साथ सीधे सम्बन्ध बनाने की एक योजना बनाई थी और प्रस्ताव किया था कि कुछ विशेष शर्तें लगाकर उनको बैंक की परिगणित सूची में सम्मिलित कर लिया जाय। वह देसी बैकरों के पास सम्मति के लिये भेज दी गई। बम्बई के सराफ़ संघ तथा अन्य व्यापारिक संगठनों द्वारा उनको अत्यन्त कठोर बतलाया गया, और तदनुसार उनमें परिवर्तन करके उनको निम्नलिखित रूप दिया गया—

(क) जो देसी बैंकर दो लाख पूंजी से कार्य करते हों और उस पूंजी को पांच लाख तक बढ़ाने को तैयार हों, उनको रिज़र्व बैंक के रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाय।

(ख) वह एक निश्चित समय के अन्दर बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य सभी कामों को करना बंद कर दें और केवल बैंकिंग कार्य ही किया करें।

(ग) वह नियमित रूप से हिसाब रखा करें और उनको समय पर जंचवा (Audit) लिया करें। उनको यह भी व्यवस्था करनी चाहिये कि रिज़र्व बैंक जब चाहे उनके हिसाब की जांच कर उन पर उचित नियम द्वारा नियंत्रण कर सके।

(घ) वह अपने आय-व्यय के लेखे (Balance Sheet) को प्रकाशित किया करें और समय-समय पर अपना वक्तव्य रिज़र्व बैंक को भेजा करें।

(ङ) इसके बदले में रिज़र्व बैंक उनको निम्नलिखित सुविधाएं देगा—रिज़र्व बैंक उनके कागज़ों को सीधे लेकर उन पर दुबारा बट्टा ले लेगा, उनको सरकारी कागज़ के विरुद्ध उधार लेने का अधिकार होगा और एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने की वैसी ही सुविधाएं मिलेंगी, जैसी परिगणित सूची के बैंकों (Scheduled Banks) को दी जाती हैं।

जो देशी बैंकर उपरोक्त योजना के अनुसार रिज़र्व बैंक से सम्बन्ध न जोड़ सकें, वह आपस में मिल कर एक परिमित क्षेत्र में बट्टा कम्पनियां (Discount Companies) बना लें और इस प्रकार रिज़र्व बैंक से सम्बन्ध स्थापित कर लें।

देशी बैंकरों से इनके जो उत्तर मिले, वह प्रायः अनुकूल नहीं थे। वह अनुभव करते थे कि रिज़र्व बैंक द्वारा उनकी हुण्डियां सकारने की सुविधा उतनी बड़ी सुविधा नहीं थी कि उसके लिये वह अपने वंश में परम्परा से चले आने वाले बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय को छोड़ दें। बम्बई सराफ संघ सोने, चादी और आभूषणों के व्यापार को छोड़ने को तैयार नहीं था। वह निश्चित हिसाब-लेखे को ही प्रकाशित करने को तैयार थे, क्योंकि उनके विचार में इससे उनको लाभ की अपेक्षा अधिक हानि पहुचती थी।

बैंक के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिये जाने के कारण इस विषय में आगे कोई प्रगति नहीं की जा सकी। अब रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से इस विषय में अधिक प्रगति की जा सकती है। यह आवश्यक है कि बैंकर लोग एक ढंग अपना लें। बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य कार्यों को करना छोड़ दें तथा बैंकिंग द्वारा निश्चित प्रणाली पर काम करें। इससे न केवल उनका ही लाभ होगा, वरन् इससे भारत में बैंकिंग कार्य में भी उन्नति होगी। १९५१ में कुछ देशी बैंकरों ने रिज़र्व बैंक के उक्त प्रस्ताव का लाभ उठाया। अतएव उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजने की सुविधा उसी प्रकार से दी गई जिस प्रकार ९५ परिगणित सूची के बैंकों तथा ६१ अपरिगणित सूची के बैंकों को रियायती दर पर दी जाती है।

८. दीर्घकालीन ऋण और भूमि रेहन बैंक। गांवों में अल्पकालीन तथा मध्यकालीन ऋण सहकारिता समितियां तथा देशी बैंकर देते हैं। दीर्घकालीन ऋण की समस्या कृषि के सम्बन्ध में अत्यन्त कठिन है। भूमि रेहन बैंकों का काम है, (क) ज़मींदारों को उधार देना, उनको बनिये के चंगुल से छुड़ाना और उनको उनके पैरों पर फिर खड़ा करना, (ख) अधिक ज़मीन मोल लेना और (ग) उनको उनकी भूमि में ऐसे-ऐसे व्ययसाध्य सुधार करने योग्य बताना, जिन्हें करना उनकी शक्ति में न हो। इनके विषय में हम सहकरिता के वर्णन में विस्तार से विचार कर चुके हैं।

९. डाकखाने का सेविंग्स् बैंक। इनकी स्थापना १८८२ में निर्धन व्यक्ति में बचत की आदत बढ़ाने के लिये की गई थी। संयुक्त भारत में इन सेविंग्स् बैंकों के प्रधान

तथा शाखा कार्यालयों की संख्या २७००० थी। भारत में कुल गांवों की संख्या साढ़े छः लाख है। इसका यह अर्थ है कि २४ गांवों के पीछे ऐसा एक-एक बैंक है। उनकी सफलता कम नही है, किन्तु सब मिला कर वह सफलता कुछ भी नहीं है। १९५०-५१ के अंत में केवल भारतीय संघ के अन्दर ही बैंकों पर बकाया ९४ करोड़ रुपये का था। उस संख्या में विभाजन पूर्व का बकाया सम्मिलित नहीं है।

मार्च १९४९ के अंत में भारतीय जनतंत्र में कुल डाकखानों की संख्या २६,७६० थी। उनमें से ९,४६५ सेविंग्स् बैंक का कार्य कर रहे थे। किसी डाकखाने को सेविंग्स् बैंक विभाग खोलने की अनुमति यह विश्वास होने पर ही दी जाती है, कि उसमें कम से कम २० खाते खुल सकेंगे। इन ९,४६५ सेविंग्स् बैंकों में से ६,४०१ ग्रामीण क्षेत्रों में थे। यह २००० या अधिक जनसंख्या वाले गांवों की कुल ४० प्रतिशत जनसंख्या की ही सेवा कर सकते थे। डाकखाने के सेविंग्स् बैंक की गांवों में वर्तमान स्थिति का पता नीचे की तालिका से लगता है— /

ग्रामीण डाकखानों के सेविंग्स् बैंक

	१९४३	१९४९	वृद्धि
१. सेविंग्स् बैंक का काम करने वाले डाकखानों की संख्या	५,५१२	६,४०१	८८९
२. खातों की संख्या (लाखों में)	७	१२	५
३. बकाया रकम (लाख रुपयों में)	१७,७१	६३,१४	४५,१४
४. प्रति खाता औसत बकाया	२४५	५२८	२८३

केन्द्रीय बैंकिंग रिपोर्ट में कहा गया था कि "देश के अत्यधिक आन्तरिक भाग में रहने वाले व्यक्ति के पास अभी तक नहीं पहुंचा गया है। यहां तक पहुंचना चाहिये। छोटी-छोटी बचत की रकमों तथा छोटे-छोटे आदमियों को अभी एकत्रित किया जाना है।" जहां तक प्रति व्यक्ति जमा रकम का सम्बन्ध है, भारत विदेशों से अभी बहुत पीछे है, जैसा कि निम्नलिखित अंकों से पता लगता है—

तालिका १

कुछ देशों में डाकखाने के सेविंग्स खाते की जमा रकमें

देश का नाम	जनसंख्या[१] (दस लाखों में)	जमा रकमें (दस लाख रुपयों में)	जमा रकम प्रति व्यक्ति रुपयों[२] में
कैनाडा	१०	६३	६
अमरीका	११२	३३,४४	३०
ब्रिटेन	४४	४३,८०	९८
जापान	६०	३८,३२	६४
भारत	३२०	९४३	३

१. Stamp—The World.

२. यह अंक अनुमानित हैं।

यह प्रस्ताव किया गया है कि यदि (क) जमा रकम पर लगाई हुई सीमा को बढ़ा कर कुछ अन्य सुविधाएं दी जावें और (ख) यदि भारतीय भाषा में चेकों द्वारा इन खातों से रुपया निकाला जा सके तो इन सेविंग्स बैंक खातों में सुधार किया जा सकता है।

सरकार ने प्रथम सुझाव को स्वीकार कर सेविंग्स बैंक के प्रत्येक खाते में एक पूरे वर्ष भर में जमा की जाने योग्य रकम को ७५०) से बढ़ा कर १९४३ से १५०० रुपये कर दिया है। अगस्त १९४२ से सेविंग्स बैंक ने अपने व्यवहार में चेक स्वीकार करना आरंभ कर दिया है। १९४३ से महिलाओं को भी अपने प्रतिनिधियों के द्वारा हिसाब खोलने की अनुमति दे दी गई है। तब से छोटी बचत करने की दशा में विशेष रूप से उन्नति देखने में आई है। और केन्द्रीय सरकार द्वारा आरंभ किया हुआ तथा अनेक राज्यों द्वारा अपनाया हुआ बचत आन्दोलन कुछ सफलता प्राप्त कर रहा है। अतिरिक्त विभागीय पोस्ट-मास्टरों द्वारा १$\frac{1}{4}$ प्रतिशत कमीशन पर गांवों में भी नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट बेचे गये हैं। इस प्रकार १९५०-५१ के अंत में डाकखानों पर कुल बकाया रकम ५७,८२ लाख रुपये हो गई।

खातों को चेकों द्वारा चलाए जाने का दूसरा सुझाव संभव नहीं है। क्योंकि छोटे छोटे डाकखानों में केवल एक क्लर्क द्वारा चेक द्वारा हिसाब रखना उसकी शक्ति तथा सामर्थ्य से अधिक हो जायगा।

सेविंग्स बैंक पर युद्ध का प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने पर लोगों ने डाकखानों के अपने खातों से धड़ाधड़ रुपया निकालना आरंभ किया और पोस्टल कैश सर्टिफिकेटों को भी भुनाना आरंभ किया। क्योंकि उनमें घबराहट फैल रही थी। किन्तु १९४३ तक स्थिति ठीक होगई और जनता में विश्वास जम गया। अब इन बैंकों में अधिक रकमें जमा होने लगीं।

१९४१ में पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक खाते की एक नयी योजना चलाई गई। उसे भारतीय पोस्ट आफिस रक्षा (Defence) सेविंग्स बैंक खाता नाम दिया गया। उसमें प्रधान आकर्षण उसका २॥ प्रति ब्याज आयकर रहित था, अर्थात् इसमें डाकखाने के साधारण खाते से एक प्रतिशत ब्याज अधिक दिया जाता था। १९४७ में इस खाते में कुल ११ करोड़ रुपये जमा थे। किन्तु उस समय यह रकम कम होने लगी, क्योंकि युद्ध समाप्त हो गया था और रकमों को इच्छानुसार निकाला जा सकता था। कुछ समय बाद नए बारह वर्षीय नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट चलायें गये। उनका समय पूर्ण होने पर इन पर ३॥ प्रतिशत ब्याज आयकर रहित दिया जाता था। १९४३ से डाकखाने के सेविंग्स बैंक में जमा रकमों पर भी ब्याज को १॥ प्रतिशत से बढ़ा कर दिया गया। किन्तु यह ब्याज उसी रकम पर दिया जाता था जो पूरे वर्ष भर २०० से कम न हो। बिना ब्याज वाले ऐसे किश्तों वाले बांड (Premium Bond) भी निकाले गए, जिनकी बिक्री पर जनता को छमाही पारितोषिक दिया जाता था। वह सममात्र (at par) में

१९४८ में चुका दिये गए।

छोटे छोटे सेविंग्स फंड तथा पोस्टल सेविंग्स बैंकों के खातों में १९५०-५१ के अंत में कुल बकाया ९४·३ करोड़ रुपया था। इसमें विभाजन से पूर्व के बकाया का भारत का भाग नहीं कि जो १९४८-४९[1] में ४३ करोड़ रुपये था।

१०. भारत में सम्मिलित स्टाक बैंकिंग। (१) प्राचीन इतिहास--बम्बई और कलकता के एजेंसी हाउसों ने भारत में १८वीं शताब्दी में आधुनिक बैंकिंग चलाया। जो भी हो, उनके बैंकिंग कार्य उनके मुख्य व्यवसाय के अधीन थे। वास्तव में उन्होंने अपने व्यापारिक कार्यो को बढ़ाने के लिये ही बैंकिंग कार्यों को आरंभ किया था। उनके बाद जो सम्मिलित स्टाक बैंक बने, उनका उत्तरदायित्व असीमित था। उनका प्रबंध यूरोपियन लोग किया करते थे। वह देश में नोट चलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया करते थे। १८२९-३० के व्यापारिक संकट ने सट्टा करने वाले एजेंसी हाउस को समाप्त कर दिया। १८३० से १८८० तक बैंकिंग प्रवृति में अत्यन्त धीमी प्रगति रही। इस बीच अनेक सम्मिलित स्टाक बैंकों ने अपना काम आरंभ किया, किन्तु बाद में उनको अपना सारा काम-काज समेट कर बैठ जाना पड़ा। सीमित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को १८६० के आसपास स्वीकार किया गया।

(२) **प्रेसीडेंसी बैंकों का आरंभ**--बंगाल, बम्बई और मदरास के तीनों प्रेसीडेंसी बैंक भी--जिनको भारत के बैंकिंग का महत्त्वपूर्ण कार्य करना था, इस संकट-काल में ही खुले। १८६२ से पूर्व उनका नियंत्रण सरकार के हाथ में था और इसीलिये उनके कार्यो पर पाबंदी लगी हुई थी। १८६२ में उनका नोट निकालने का कार्य छीन लिया गया, किन्तु सरकार के एजेंट के रूप में वह अब भी कार्य करते रहे। कुछ दिनों बाद उनके ऊपर से पाबंदियों को ढीला कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप १८६८ में बम्बई बैंक फेल होगया। इसी वर्ष बम्बई बैंक नाम से एक दूसरा बैंक खोला गया। सन् १८७६ में एक अधिनियम पास करके उसके अनुसार पुराने नियंत्रणों को फिर लगा दिया गया। सरकार अब भी उनमें अपना रुपया सीमित मात्रा में रखा करती थी। इस प्रकार राज्य बैंक न होते हुए भी उनकी इस प्रकार की स्थिति १९२१ तक बनी रही, जब उन तीनों को मिला कर इम्पीरियल बैंक आव् इंडिया बना दिया गया।

(३) १८८० तक आर्थिक परिस्थिति स्थिर थी तथा मूल्य गिर रहे थे। अतएव उन दिनों बैंकिंग में कोई उन्नति नही हुई। १८८० के बाद बैंकों ने कुछ उन्नति की, किन्तु अगली दशाब्दि में उनको पर्याप्त लाभ हुआ। अवध कमर्शल बैंक प्रथम भारतीय सम्मिलित स्टाक बैंक था। उसको १८८१ में आरंभ किया गया था। उसके बाद पंजाब नैशनल बैंक (१८९४) तथा पीपुल्स बैंक आव् इंडिया (१९०१) बने।

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिये Currency and Finance पर १९५०-५१ के Statements की रिपोर्ट को पृष्ठ ६८ से ७० तक पढ़ें।

१९०५ के स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय बैंकिंग को अच्छा बल मिला। मूल्यों में स्थिरता से तेज़ी आने तथा १८९८ के बाद बाज़ार में चलअर्थ में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण भी उनकी उन्नति हुई। उस समय बैंक पर्याप्त खुल रहे थे। भारत में तो नये बैंकों की बाढ़ जैसी आगई थी। उनमें से कुछ का फेल होना आवश्यक था। कुछ अन्य, जैसे कि बैंक आव् इंडिया, बैंक आव् बडौदा, पंजाब बैंक और सिंध बैंक ने अपने को ठोस और विश्वसनीय सिद्ध कर दिया। उन्होंने १९१३ तक शीघ्रतापूर्वक उन्नति की, कि जब भारतीय बैंकों पर फिर संकट आया। उस समय उनमें से एक सबसे बड़ा—पीपुल्स बैंक आव् इंडिया फेल होगया। उसके फेल होने के लपेट में कई अन्य बैंक भी आगए। उस समय एक के बाद दूसरा करते हुए अनेक बैंक भंवर में फंस गए और नष्ट हो गए। यहां तक कि लगभग ५०[1] बैंक फेल हुए।

प्रथम महायुद्ध के समय भी बैंकों की एक हल्की सी बाढ़ आई। उस समय भी भारत ने नये नये बैंकों को खुलते देखा। युद्ध आगे बढ़ते जाने पर उनमें से कई एक फेल होगए। किन्तु युद्धके बाद की भयंकर मंदी में तो अनेक बैंक फेल होगए। इनमें शिमले का अलाँयम बैंक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। यह बैंक बहुत पुराना था और इसकी चुकता पूंजी ८८ लाख रुपये की थी। उसके यहां १६ करोड़ रुपये से अधिक रकम जमा थी। बैंक के फेल होने का कारण मुख्य रूप से लंदन के बोल्टन ब्रदर्स (Boulton Brothers) द्वारा, जो बैंक के एजेंट थे—फजूल खर्च करना था। यह विनाश ऐसा भयंकर था कि सरकार ने इम्पीरियल बैंक को आज्ञा दी कि वह अलांयम बैंक के सभी ग्राहकों को उनके द्वारा जमा की हुई रकम का ५० प्रतिशत भाग चुका दे। सरकार ने माली सौदों की हानि के लिये इम्पीरियल बैंक की गारंटी की व्यवस्था की।

१९२९ की विश्वव्यापी मंदी के समय भी भारत में अनेक बैंक फेल हो गए। १९३१ से लेकर १९३६ तक कम से कम २३८ बैंकों ने अपना कारोबार बंद कर दिया। किंतु उनमें से अधिकांश अत्यधिक छोटे छोटे थे। उनमें से केवल ५ की पूंजी एक लाख और उससे अधिक थी।

१९३८ में बैंकों पर एक और संकट आया। सौभाग्यवश वह दक्षिणी भारत तक ही सीमित रहा। किंतु उसमें वहां का एक सब से बड़ा—ट्रावन्कोर नेशनल एण्ड क्विलन बैंक भी था। यह बैंक रिज़र्व बैंक के खुलने के तीन वर्ष बाद फेल हुआ। उसके फेल होने के समय रिज़र्व बैंक ने उसके मामले में ठीक ठीक जांच किये बिना सहायता करने में आनाकानी की, किन्तु उस समय तक अत्यधिक विलम्ब हो चुका था। इस बैंक के फेल होने से

१. मुरंजन, op. cit. Jather and Beri इनकी संख्या ५५ बतलाते हैं। देखो Indian Economics, Vol II. P. 434, जबकि माथुर उनकी संख्या १०० बतलाते हैं।

इस बात की जांच करने की भारी आवश्यकता प्रतीत हुई कि भारतीय बैंक अपने पास सामान्यत: किस प्रकार की सम्पत्ति रखा करें और उसमें से कितनी सम्पत्ति रिज़र्व बैंक के पास जमा किया करें।

सन् १९०० से लेकर १९३८ तक का बैंकों का उपरोक्त इतिहास यह प्रगट करता है कि भारतीय बैंक एक भारी संकट को पार कर गए, एक महायुद्ध में भी जीवित बने रहे, और एक इतिहास-प्रसिद्ध विश्वव्यापी मंदी के समय भी जीवित रह गए। उसके बाद वह द्वितीय विश्व-युद्ध में फंस गए। भविष्य के लिये शिक्षा लेने की दृष्टि से उन दिनों फेल होने वाले बैंकों के कारणों पर विचार करना लाभप्रद होगा।

११. बैंकों के असफल होने के कारण। बैंक अन्य सम्मिलित स्टाक संस्थाओं के समान नहीं होते। उनके असफल होने से उनके भागीदार (शेयर होल्डर) ही नष्ट नहीं होते, वरन् बैंकों में रुपया जमा करने वाले भी मर मिटते हैं। अतएव उनके फेल होने के कारणों पर विचार करना आवश्यक है, जिससे इस प्रकार की गलतियों से भविष्य में बचा जा सके। वह कारण यह हैं—

(क) **कम पूंजी तथा अल्प स्थिति**—उपरोक्त फेल होने वाले सभी बैंकों में लगभग दो तृतीयांश बैंक ऐसे फेल हुए जिनकी आयु १० वर्ष से कम थी। दिवालिया बैंकों में से अधिकांश की चुकता पूंजी एक लाख रुपये से कम थी। वह इतने छोटे थे कि उनमें से कुछ के नाम तक का पता चलना कठिन है।

(ख) **शिक्षित मैनेजरों की कमी**—जब तक उनका मैनेजर योग्य तथा बैंकिंग शिक्षा प्राप्त न हो, बैंकों का फेल होना अनिवार्य है। केवल सदस्यता से सफलता नहीं मिला करती।

(ग) चुकता पूंजी, अधिकृत पूंजी तथा स्वीकृत पूंजी में भारी अन्तर था। सरकार ने बैंकिंग कार्य में इस प्रकार की विभिन्नता दूर करने के लिये अभी अभी कानून बनाया है।

(घ) पूंजी लगाने वालों को फांसने के लिये बड़े बड़े नामों का उपयोग किया जाता था। जाली हिसाब रखे जाते थे। रजिस्टर झूठे रखे जाते थे। डाइरेक्टरों तथा उनके मित्रों को बिना जमानत अथवा अपर्याप्त ज़मानत पर उधार दे दिये जाते थे।

(ङ) सट्टे तथा अधिक लाभांश देने अथवा शीघ्र देने की इच्छा से भी अनेक बैंक फेल होगए। इंडियन स्पेसी बैंक चांदी का सट्टा करके फेल हुआ था।

(च) व्यापारिक बैंकों के पास अल्पकालीन रकमें जमा की जाती हैं। वह औद्योगिक फर्मों में अपनी सम्पत्ति की देखभाल नहीं कर सकते। बैंक का मुख्य कार्य विश्वास पर चलता है। उनको सीजर की पत्नी के समान संदेहातीत होना चाहिये। यदि उनके पास तरल सम्पत्ति न होगी तो उनका फेल होना अनिवार्य है। पीपुल्स बैंक औद्योगिक फर्मों को बड़ी रकमें दे देने के कारण दो बार फेल हुआ। इसी कारण से टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक को सेंट्रल बैंक आव् इंडिया में मिल जाना पड़ा।

(छ) दुर्भाग्य दिवालियेपन का अकेला कारण कभी नहीं होता, उसको सदा भूल, अयोग्यता तथा बेईमानी से सहायता मिलती है। अलाँयस बैंक आव् शिमला को अपने लन्दन के एजेंटों के मूर्खतापूर्ण विस्तार के कारण बन्द होना पड़ा।

(ज) सम्पत्ति में तरल सम्पत्ति का अनुपात पर्याप्त ऊंचा होना चाहिए। भारत में तो उसे और भी ऊंचा होना चाहिए, क्योंकि यहां की जनता अज्ञानी तथा अशिक्षित है और इंग्लैड की अपेक्षा बाजार की अफवाहों से जल्दी घबरा जाती है। देनदारियों में नकदी के कम अनुपात के कारण ही लार्ड कीनीज ने (Lord Keynes) भारतीय बैंकों पर १९१० में संकट आने की भविष्यवाणी की थी।

बैंकों के फेल होने के कारणों का विश्लेषण करते हुए यह पता चलता है कि एक महत्त्वपूर्ण कारण उनका अधकचरापन तथा उनकी अनुभवहीनता भी था। दुर्भाग्यवश हमने इंग्लैंड में फेल होने वाले बैंकों से कोई पाठ नहीं सीखा। यह कहा जाता है कि ब्रिटिश बैंक संसार भर के बैंकों से सबसे ठोस होते है किंतु यह ठोसपन सैकड़ों बैंकों को फेल करके प्राप्त किया गया है।

दूसरा बड़ा कारण इकाई बैंकिंग की प्रथा की पद्धति का प्रचलन है। आज पहले के समान, देश में सैकड़ों छोटे-छोटे बैंक है, जो इतने छोटे है कि उनको रिजर्व बैंक की दूसरी सारिणी सूची में भी सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उनमें से अनेक अपने साप्ताहिक हिसाब को भी प्रकाशित नही करते। दिसम्बर १९५०में उनकी समस्त देनदारी की अपेक्षा उनकी नकदी का अनुपात ७% था और अक्तूबर १९५१ में केवल ६% था। यह अनुपात वास्तव में बहुत कम है। इन्हीं वर्षो के लिये जमा रकमों के विरुद्ध इनका नकदी का अनुपात क्रमशः ९·६% तथा ८% है, जबकि सारिणी सूची के बैंकों का अनुपात १३ प्रतिशत था।

भारत में एक और विचित्र बात यह है कि बड़े-बड़े व्यापारी, जिनके अनेक कारखाने होते हैं—अपने उस वर्ग के लिये बैंक खड़ा कर लेना लाभप्रद समझते हैं। उसका संचालन वह स्वयं करते हैं, ओरिएंटल बैंक आफ कामर्स, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक और हिंदुस्तान कमर्शियल बैंक इसके उदाहरण हैं। इस मनोवृत्ति पर विचार करने की आवश्यकता है।

पूंजी को मूर्खतापूर्वक खर्च देना भी बैंकों के फेल होने का एक कारण है। इस मूर्खता का कारण यह है कि पूंजी लगाने के लिये अवसरों का अभाव, भारत में विकसित हुंडी बाजार नहीं है।

सरकार की बैंकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न करने की नीति भी अनेक बैंकों के फेल होने का कारण थी। भारतीय बैंकिंग में विभिन्न विजातीय तत्वों को एक करके उनमें सहयोग कराने वाले साधन का अभाव था। केवल १९४९ में जाकर बैंकिंग विधि (Banking Law) बनाया गया।

तो भी, यह बात स्वीकार करने की है कि 'न तो सन् तीस के बाद की विश्वव्यापी

मन्दी और न देश विभाजन का प्रवाह ही भारत में सम्मिलित स्टाक बैंकिंग के विकास मे भारी बाधा पहुँचा सके।' फिर भी वह इन आपत्तियों से अछूते तो नहीं रहे। यहाँ तक कि अधिक उन्नत देशों के बैंकों को भी बड़ी-बड़ी भारी हानियां उठानी पड़ीं।

१२. सम्मिलित स्टाक बैंकों का व्यवसाय। भारत में सम्मिलित स्टाक बैंकों का व्यवसाय साधारणतः निम्निलिखित होता है :

(क) सभी प्रकार की ध्रुव खातों, चालू खातों तथा सेविंग्स बैंक खाते की अमानतें जमा करना ।

(ख) आन्तरिक हुंडियों पर बट्टा लेना, स्टाक तथा शेयरों, अचल सम्पत्ति तथा वस्तुओं के विरुद्ध ऋण देना, वह स्वीकृत ग्राहकों को सीमित मात्रा में अस्थायी रूप से जमा से अधिक धन भी दे देते हैं।

(ग) बैंक के ड्राफ्ट तथा ऋण-पत्रों (Letters of Credit) द्वारा अपने ग्राहकों की ओर से एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजना।

(घ) कमीशन के आधार पर अपने ग्राहकों की ओर से शेयरों का क्रय विक्रय करना ।

(ङ) दस्तावेज़ों तथा आभूषणों को सुरक्षित तिजोरियों में रखना।

वह विदेशी व्यापार को बिल्कुल छोड़ते हुए देश के आन्तरिक व्यवसाय के लिये धन देते है। विदेशी विनिमय बैंकों की पूंजी तथा सुरक्षा निधि बहुत बड़ी होती है और सम्मिलित स्टाक बैंक उस काम को नहीं कर सकते। विदेशी विनिमय व्यवसाय में लाभ की दर बहुत कम होती है और उनमें से अधिकांश को बहुत बड़ी पूंजी की आवश्यकता पड़ती है ।

गांव वालों के अशिक्षित होने के कारण तथा उन के पर्याप्त तरल जमानत देने में असमर्थ होने से सम्मिलित स्टाक बैंक कृषि पदार्थों के व्यवसाय में भी बहुत कम भाग लेते हैं । वैसे सम्मिलित स्टाक बैंक कृषि की हुंडियों को ले सकते है। किंतु देश में कृषि पदार्थों के गोदामों की कमी के कारण वह इस व्यवसाय में पड़ना पसन्द नहीं करते।

उनकी सम्पत्ति तथा देनदारियां—सम्मिलित स्टाक बैंकों के दायित्व में उनकी पूंजी, सुरक्षा निधि तथा जमा की हुई रकमें होती है। किसी वैंक की पूंजी और सुरक्षा निधि से ही जनता को उसमें विश्वास होता है। वह उस की प्रथम रक्षा पंक्ति का काम देते हैं। भारत में सारिणी सूची के बैंकों से नकदी तथा जमा होने वाली रकमों में अनुपात साधारणतया १२ से १५ तक होता है । अनुपात चालू आर्थिक दशा तथा उस रकम पर निर्भर करता है, जिसे जमा किया जाता है।

सम्मिलित स्टाक बैंकों की सम्पत्ति में (१) नकदी, (२) सकारी हुई हुण्डियां, (३) सरकारी तथा अन्य प्रतिभूतियां, (४) ऋण तथा ग्राहकों को दिये हुए अगाऊ धन, और (५) अचल सम्पत्ति होती है।

कोई बैंक अपनी देनदारी की अपेक्षा अपने हाथ में कितनी नकदी रखे, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है, क्योंकि रोकड़ खाली हो जाने से बैंक दिवालिया हो जाता है। जनता की अचानक तथा भारी माग आ जाने के विरुद्ध सकारी हुई हुण्डिया तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ द्वितीय रक्षापंक्ति का काम देती है। क्योंकि हुण्डियों पर रिजर्व बैंक से फिर धन लिया जा सकता है और सरकारी प्रतिभूतियों के विरुद्ध उधार लिया जा सकता है। प्रतिभूतियों को आसानी से बेचा भी जा सकता है और इस प्रकार भी उन से धन मिल सकता है। भारतीय बैंकों को अधिक तरल साधनों की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि उनपर अफवाहों का प्रभाव जल्दी पड़ता है। ब्रिटिश तथा अमरीकन बैंक नकदी का कम अनुपात अपने पास रखते हैं। वह भारत के १५ प्रतिशत की तुलना में कुल १० प्रतिशत ही अपने पास रखते है। भारतीय बैंकों ने अपने छोटे से जीवन में अनेक संकटों का मुकाबला करके उनसे शिक्षा ली है। अतएव, यह अन्य देशों के बैंकों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित धन अपने हाथ में रखते हैं।

सारिणी सूची के बैंक–नीचे दी हुई तालिका से भारतीय सम्मिलित स्टाक बैंकों[1] की आरम्भिक काल से अब तक की स्थिति का पता चलता है। युद्ध के दिनों में वह अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक अधिक नकद रकम अपने पास रखा करते थे। युद्धोत्तर-काल के साधनों के अंकों में उन्नति देखने में आती है। इसका कारण उनपर रिजर्व बैंक का पहले की अपेक्षा अधिक कठोर निरीक्षण तथा नियंत्रण है। इन बैंकों के पास नकदी के अतिरिक्त सरकारी प्रतिभूतियों की भारी मात्रा होने के कारण उनकी सुरक्षानिधियाँ पर्याप्त जान पड़ती हैं। किन्तु तो भी, यदि उनकी रोकड़ की स्थिति को इम्पीरियल बैंक की रोकड़ की स्थिति से तुलना की जाय तो उनकी स्थिति उससे निर्बल ठहरती है।

तालिका २

सम्मिलत स्टाक बैंक, श्रेणी अ (पांच लाख से अधिक पूंजी वाले)

(लाख रुपयों में)

वर्ष	रिपोर्ट करने वाले बैंकों की संख्या क	पूजी तथा सुरक्षा निधि ख	जमा रकमें चालूखाते तथा स्थिर खाते ग	नकद रोकड़ घ	देनदारी की अपेक्षा नकद रोकड़ का अनुपात अर्थात् घ को अपेक्षा ग
१९१३	१८	३,६४	२२,५९	४,००	१८
१९२३	२६	९,३७	४४,४३	७,३०	१७
१९३३	३४	१२,३३	७१,६८	१०,९२	१६

१. इन सब बैंकों की पूंजी कम से कम पांच लाख रुपये है।

सारिणी सूची के बैंकों की व्यापक रूप में स्थिति
(लाख रुपयों में)

वर्ष (दिसंबर का अंतिम शुक्रवार)	रिपोर्ट करने वाले बैंकों की संख्या १	अमानतें			समस्त देन-दारियां ५	रोकड़ हाथ में तथा रिज़र्व बैंक के पास ६	कालम ६ की अपेक्षा कालम ४ का प्रतिशत अनुपात
		तात्कालिक २	सावधि ३	योग ४			
१९३९	५९	१४०	१०६	२४६	——	२४५	१०·०
१९४८	९४	५८८	२५२	८४०	१,०००	१००	११·९
१९४९	९०	५५१	२५२	८०३	९३५	११७	१४·६
१९५०	९१	५६८	२७८	८४६	९९४	१०३	१२·२
१९५१ अक्तूबर	९१	५६२	२८४	८४६	१,००६	११२	१३·२

बाज़ार में चलने वाले नोटों के मूल्य को ध्यान में रखते हुए गत चार वर्षों की अमानतों का लाभ समान स्थिरता लिये हुए दिखाई देता है।

बाज़ार में चलने वाले नोट (करोड़ रुपयों में)

१९४७-४८	१,३०४	१९४९-५०	१,१६३
१९४८-४९	१,१६९	१९५०-५१	१,२४७

बिना सारिणी सूची के बैंक—इन के अतिरिक्त कुछ ऐसे सम्मिलित स्टाक बैंकों की भी बड़ी भारी संख्या है, जो रिज़र्व बैंक की सारिणी सूची में नहीं हैं। १९३८ में उनकी संख्या १,४२१ थी। उनमें से अक्तूबर १९५० के ३४८ के विरुद्ध अक्तूबर १९५१ में कुल ३१८ ने रिज़र्व बैंक को अपना हिसाब भेजा। उनकी उन्नति का पता साथ के पृष्ठ की तालिका से लगता है।

इन बैंकों की देनदारियों की अपेक्षा नकद रोकड़ का अनुपात बहुत कम, केवल ८% है। दो वर्ष से भारतीय मुद्रा बाज़ार तंग बना हुआ है, अतएव रुपया उधार देने का प्रलोभन भी बढ़ा है। इन बैंकों के साधन कम हैं और यह साधारणतया कम से कम आवश्यक रोकड़ रखते हैं। इनकी समस्त देनदारियों का परिमाण भी घटा है। वह १९४६ के अन्त में ७८ करोड़ रुपये से घट कर अक्तूबर १९५१ में ४७ करोड़ रुपये हो गया है। इन बैंकों की अमानतों में जो भारी कमी आ गयी है। उसका कारण देश के कुछ भागों में फैलने

बिना सारिणी सूची के बैंकों की व्यापक स्थिति

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष (दिसंबर का अंतिम शुक्रवार)	रिपोर्ट करने वाले बैंकों की संख्या १	अमानतें तात्कालिक २	अमानतें सावधि ३	अमानतें योग ४	समस्त देन-दारियां ५	रोकड़ हाथ में तथा रिज़र्व बैंक के पास ६	कालम ६ की अपेक्षा कालम ४ का प्रतिशत अनुपात
१९३९	६६९	५	११	१६	——	१·१	६·९
१९४८	४१९	१८	२७	४५	५९	४	८·६
१९४९	३५८	१५	२५	४०	५३	४	९·०
१९५०	३३९	१३	२४	३७	५८	४	९·६
१९५१ अक्तूबर	३१८	१२	२३	३५	४७	३	८·०

वाले दंगों तथा पश्चिमी बंगाल में नार्थ बैंक का फेल होना है। किंतु सारिणी सूची के बैंकों के विपरीत इन बैंकों की सावधि देनदारियां तात्कालिक देनदारियों से बढ़ी हुई हैं। इन में से ६१ बैंकों को रिज़र्व बैंक ने अन्यत्र रुपया भेजने की रियायती दर दी हुई थी। फरवरी १९४५ से यह निर्णय किया गया कि बिना सारिणी सूची के जो बैंक रिज़र्व बैंक में अपना हिसाब खोलना चाहें, वह यदि रिज़र्व बैंक में कम से कम १०,००० रुपये बकाया रख सकें तो बैंक उनको हिसाब खोलने की अनुमति दे सकता है।

बैंक शाखाओं का बैंकिंग कार्य—यह स्पष्ट है कि भारत में बैंकों की स्थिति के अभी और ठोस होने की आवश्यकता है। एक औसत बैंक का आकार अन्य देशों के वैसे ही बैंकों की अपेक्षा कहीं कम है। भारत में बैंकिंग व्यवसाय को अधिक मज़बूत बना कर जनता का उनमें विश्वास बढ़ाने का सब से उत्तम उपाय है छोटे २ बैंकों का बड़े २ बैंकों में सम्मिलित हो जाना। मार्च १९५१ को ९३ सारिणी सूची के बैंकों के समस्त कार्यालयों की संख्या २,७९६ थी। बिना सारिणी सूची के बैंकों के कार्यालय अधिकतर मदरास (५० प्रतिशत) में एकत्रित थे और सारिणी सूची के बैंकों के अधिकतर कार्यालय मदरास, उत्तर प्रदेश, पंजाब और पश्चिमी बंगाल में थे। १९५०-५१ में १०४ कार्यालय कम हो गये, कुछ बन्द हो गये और कुछ के नाम दूसरी सूची में से तीन बैंकों के निकल आने के कारण काट दिये गए। वेस्ट बंगाल बैंक के यूनाइटड बैंक आव् इंडिया में मिल जाने, भारत बैंक के पंजाब नेशनल बैंक में मिल जाने तथा नार्थ बैंक एवं कुछ अन्य बैंकों के बन्द हो जाने के कारण यह परिवर्तन हुए। यह भी १९४७ के बैंकिंग कम्पनियों (शाखाओं का नियंत्रण) अधिनियम के लागू होने न कारण किये गए। इस अधिनियम में बैंकों को शाखाएं खोलने के

लिए इंकार नहीं किया जाता था वरन् निर्बल बैंकों द्वारा बिना सोचे विचारे ऐसी शाखाएं खोलने पर पाबन्दी लगाई गई थी । इस में स्थानीय रूप से संतुलित विकास करने की व्यवस्था की गई थी । यह खेद की बात है कि बैंकों की नई शाखाएं ऐसे स्थानों में नहीं खोली जाती; जहां पहले से ही बैंकिंग सुविधाएं नहीं होतीं । भारत शाखाएं खोलने के मामले में ब्रिटेन तथा अमरीका के मध्य मार्ग में है । ब्रिटेन में कुछ गिने-चुने बैंकों की सहस्त्रों शाखाओं को खोल कर देश की सेवा की जाती है; जबकि अमरीका में १४,१५६ व्यापारिक बैंकों में से केवल १,२२६ बैंकों की ४,५७९ शाखाएं थी ।

१३. **युद्ध-काल में सम्मिलित स्टाक बैंकिंग**—भारतीय बैंकों ने युद्ध के तूफान को अच्छी तरह से झल लिया । युद्ध घोषणा के आरम्भ में कुछ सप्ताहों तक उनके ऊपर अच्छी खासी भीड़ रही । १९४० में फ्रांस का पतन होने पर भी यह भीड़ बढ़ चली थी । किंतु बैंकों ने भीड़ को संतुष्ट करके जनता का विश्वास सम्पादन कर लिया । जापान द्वारा बर्मा पर अधिकार किये जाने पर बैंकों पर भीड़ का फिर दबाव आया । क्योंकि इससे युद्ध भारत की सीमा पर आ गया था । किंतु भारतीय बैंकों की स्थिति उससे भी नहीं गिरी । जापान को बराबर सफलता मिलते जाने से भीड़ ने बैंकों से एकदम रुपया निकालना आरम्भ किया । इससे कुछ दक्षिण के सारिणी सूची के बैंकों को रिजर्व बैंक से सहायता मांगनी पड़ी । किंतु यह अस्थायी घबराहट थी, बैंक ने उनमें से सभी बैंकों की सहायता की और उस से जनता का विश्वास फिर बैंकों में बढ़ गया ।

(क) युद्ध-काल में सारिणी सूची के बैंकों की कुल अमानतों में भारी वृद्धि हुई । वह १९३९ में १४० करोड़ रुपयों से बढ़ कर १९४५ में ९५३ करोड़ रुपय की हो गयीं । यह इतनी बड़ी वृद्धि चलअर्थ के भारी विस्तार से हुई । इन छै वर्षों में बाज़ार में चलने वाले नोटों की संख्या जो २ सितम्बर १९३९ को १८२ करोड़ रुपये थी बढ़ कर जुलाई १९४६ में १,२२१ करोड़ रुपये हो गई ।

(ख) युद्धकाल में सारिणी सूची के बैंकों की तात्कालिक देनदारियों में भी भारी वृद्धि हुई । वह १९३९-४० में १४० करोड़ रुपये से बढ़कर १९४५-४६ में ७०४ करोड़ रुपये हो गई । इससे पता चलता है कि उन दिनों मुद्रा का प्रसार कितना अधिक था और फिर भी वह उसी परिमाण में गतिशील नहीं थी । इसके विपरीत सावधि देनदारियां उसी प्रकार स्थिरतापूर्वक नहीं बढ़ीं । इसका कारण युद्ध के आरम्भिक वर्षों में 'मित्रराष्ट्रों' की गिरती हुई स्थिति थी । बाद में मित्रराष्ट्रों की विजय से जनता के हृदय में बैंकों पर फिर विश्वास बढ़ा और सावधि (Time Deposits) अमानतें १९४५-४६ में २५९ करोड़ रुपये तक बढ़ गई । तौ भी तात्कालिक देनदारियां इतने परिमाण में नहीं बढ़ीं ।

(ग) युद्धकाल में अपनी पूंजी को मांगते ही चुकाने के कारण बैंकों को अपने पास बड़ी भारी नकदी रखनी पड़ती थी । सरकार के कोष पत्रों (Treasury Bills) में उनको सीमित गुंजायश मिलती थी । क्योंकि उन से अधिक प्रतिदान नहीं मिलता था ।

अतएव वह कानूनी आवश्यकता से भी अधिक सुरक्षित भंडार रिज़र्व बैंक के पास रखा करते थे। अर्थात् यह भंडार १९४४ में ५४ करोड़ रुपये का था।

(घ) युद्ध के कारण बैंकों के ऋण और अगाऊ धन में तथा १९४२-४३ तक बट्टा ली हुई हुंडियों में भारी कमी हुई। ऐसा होने का कारण सरकार द्वारा युद्ध के ठेकों का खर्चा सीधे देना तथा उनके ऊपर स्वयं ही नगद भुगतान करना था। औद्योगिक संस्थानों की बढ़ी हुई आय ने बैंकों से आर्थिक सहायता की उनकी मांग को कम कर दिया। विदेशी आयातों—पूंजीगत माल तथा उपभोक्ता-सामग्री के कम हो जाने के कारण व्यापारिक हुंडियाँ कम बनने लगी। नीचे दिये हुए कोष्ठक से बैंकों के अगाऊ धन, ऋणों तथा बट्टा की हुई हुडियों तथा उनके कोष पत्रों में १९४२-४३ तक रुपया लगाने का पता चलता है। तो भी बाद में एक उलटी प्रणाली चल पड़ी और सारिणी सूची के बैंकों के अगाऊ धन में तथा बट्टा ली हुई हुंडियों में वृद्धि हो गयी, और रुपया लगाने के लिए बाज़ार से रुपये की मांग बढ़ने लगी। इनसे व्यापारिक स्थिति में सुधार का पता चलता है:—

कोष्ठक तीन

सारिणी सूची के बैंकों द्वारा युद्ध वर्षों[1] के अगाऊ धन तथा बट्टा ली हुई हुण्डियां

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	अगाऊ धन (क)	बट्टा ली हुई हुंडियाँ 'ख'	रिज़र्व बैंक के पास फालतू बकाया	समस्त देनदारियों के लिये कालम 'क' व 'ख' का प्रतिशत अनुपात
१९३९	५८	११७	५	७	५१
१९४०	६०	१३२	४	२०	५२
१९४१	६४	११९	५	२६	४१
१९४२	६०	९७	३	३७	२७
१९४३	६५	१३७	४	३७	२६
१९४४	७८	२०६	१०	५४	२९
१९४५	८७	२६९	१५	५१	३३
१९४६	९३	३७३	२०	४२	—

युद्ध के वर्षों में प्राइवेट बैंकों द्वारा कोष पत्रों का पूंजी विनियोजन भी बढ़ गया, जिससे कि वह १९३९-४० में ५५ करोड़ रुपये से बढ़ कर १९४२-४३ में २६५ रुपये के हो गये। बाद में वह गिर कर १९४५-४६ में ८३ करोड़ रुपये के होगए। उन दिनों पूंजी-

१. Reserve Bank of India Annual Report to end of 1949.

विनियोजन के अन्य साधन कम थे। देनदारियों की अपेक्षा अगाऊ धन का प्रतिशत अनुपात भी युद्ध के अन्तिम वर्षों तक स्थिरता से गिरता रहा। युद्ध के बाद यह अगाऊ धन की रकमें बढ़ने लगीं और रिज़र्व बैंक के यहां जमा फालतू रकमें तथा पूंजी विनियोजन की कोषपत्रों में रकमें घटने लगीं।

(ङ) १९४३ में भारत बैंक तथा जयपुर बैंक जैसे कुछ बड़े-बड़े व्यापारिक बैंक बड़ी पूंजी से खोले गए। नवस्थापित बड़े-बड़े बैंकों के अतिरिक्त कुछ बिना सारिणी सूची के बैंक पूंजी बढ़ा कर अथवा सुरक्षा कोष बढ़ा कर अथवा दोनों द्वारा सारिणी सूची में शामिल हो गए। उत्तरी भारत, विशेष रूप से पंजाब ने देश में उपस्थित भारी मुद्रा का लाभ उठा कर कुछ साहसपूर्ण काम कर डाले। युद्ध के आरम्भ में रिज़र्व बैंक को रिपोर्ट देने वाले सारिणी सूची के बैंकों की संख्या ५५ थी, जो १९४६ में बढ़ कर ९१ हो गई।

(च) सुगमता से धन मिलने की शर्त के साथ व्याज की दर कम रखी गयी। बैंक दर तथा इंपीरियल बैंक की हुंडी की दर बराबर तीन प्रतिशत बनी रही। युद्ध के वर्षों में सम्मिलित स्टाक बैंकों ने तात्कालिक देनदारियों पर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत से अधिक व्याज तथा सावधि देनदारियों पर $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत से लगा कर $1\frac{3}{4}$ प्रतिशत से अधिक व्याज नहीं दिया।

१४. **युद्धोत्तर वर्षों में बैंकिंग।** युद्ध समाप्त हो जाने पर भी मुद्रा स्फीति की स्थिति बनी ही रही। बैंकों के साधन अत्यधिक बढ़ गये। उनके पूंजी विनियोजन, अगाऊ धन तथा शाखाएं सभी में असाधारण गति देखने में आई। बैंकों की सावधि देनदारियां चढ़ते-चढ़ते मार्च १९४८ में ३४४ करोड़ तक पहुंच गयी। किंतु उस के बाद स्थिति खराब हो चली। प्रथम बार भारत के विभाजन के साथ अवनति देखने में आई। १९४८ में उस के परिणाम विशेष रूप से देखने में आये। इस समय देश में बैंकिंग संस्थापन पर भारी बोझ पड़ा। पंजाब और बंगाल के बैंकों के कार्य पर भारी प्रभाव पड़ा और उन में से कुछ निर्बल हो गये। पाकिस्तान में भारी सम्पत्ति रह गयी। उन में से कुछ को भुगतान देना तक बन्द करना पड़ गया। बाद में उन्होंने अपना प्रबन्ध करने की योजना अपनाई। उनकी रचना ठोस थी और सब मिला कर उन्होंने विभाजन के दबाव को अच्छी तरह सहन किया। किंतु खाई को पाटने के लिए जोकि निर्बलता का एक साधन था—अन्त में बहुत समय से विचाराधीन कानून को पास कर ही दिया गया।

बैंकों के ऊपर दबाव का एक सीधा परिणाम यह हुआ कि १९४९ में उनकी अमानतों में भारी कमी हो गई। साथ ही उस समय अगाऊ धन के लिए भी भारी मांग थी। इस प्रकार मुद्रा बाज़ार में धन की भारी कमी हो गयी। इस प्रकार की कठिनाइयों के कारणों का संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित प्रकार से वर्णन किया जा सकता है:—

१. भारतीय व्यापार तथा उद्योगधंधों ने विस्तार के लिये अपनी पिछली बचत से काम लेना आरम्भ कर दिया। इन्होंने बैंकों से अपनी अमानतें निकाल लीं।

२. युद्ध के कारण आय का विभाजन धनी वर्गों के हाथ से निकल कर समाज के कम सम्पन्न ऐसे लोगों के हाथ में आ गया, जो अपनी बचत को बैंकों में नहीं रखते।

३. पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थी बहुत बुरी दशा में थे और उन को अपने जीवन निर्वाह के लिए अपनी बचत को बैंकों से निकालना पड़ा। कुछ प्रमुख राज्यों की सरकारों ने भी भारत में विलीन होने के बाद अपनी लगाई हुई पूंजी को बेच डाला।

४. आयातों का मूल्य चुकाने तथा रुई और पटसन जैसी कच्ची सामग्री मोल लेने के लिए बैंकों द्वारा दिये जाने वाले अगाऊ धन में कुछ वृद्धि हुई। यह उनके १९४९ और १९५० की अमानतों के ५०% से अधिक थी। मई १९५१ में यह ऋण अमानतों का ६३ प्रतिशत हो गया।

५. विभाजन के बाद बैंकों पर दूसरी चोट पश्चिमी बंगाल में हुई। इस के कारण १९५० में तीन सारिणी सूची बैंकों—नाथ बैंक, बैंक आफ हिंदुस्तान तथा पायोनीयर बैंक ने भुगतान देना बन्द कर दिया। इससे जनता के मन में असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो गई। लोग दूसरे बैंकों से भी अपनी अमानतें निकालने लगे। इन बैंकों के फेल होने के कारण बड़ा भारी संकट उत्पन्न हो गया। रिज़र्व बैंक ने समय पर पश्चिमी बंगाल तथा अन्य स्थानों के बैंकों की सहायता की। उस ने प्रयत्न करके कोमिला बैंकिंग कम्पनी, कोमिला यूनियन बैंक और हुगली बैंक को उस यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया में मिला दिया, जिस को पहिले बंगाल सेंट्रल बैंक कहते थे।

उपरोक्त भारी परिवर्तनों के होने पर भी भारतीय बैंकों ने युद्ध तथा युद्धोत्तर परिस्थिति तथा विभाजन के कारण पड़ने वाले दबाव का मुकाबला अच्छी तरह से किया। विस्तार का युग अब मंदा हो चला था। अब भारतीय बैंक अपने साधनों को ठोस बनाने की ओर ध्यान दे रहे हैं। स्वतन्त्र भारत के आर्थिक विकास में अपना उचित भाग अदा करने के लिए उनको ठोस बैंकिंग परम्परा बनाने की आवश्यकता है।

१५. भारत में बैंकिंग कानून। (१) गत शताब्दी में भारत में बैंकिंग के सम्बन्ध में कानून बनाने का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया गया। भारत सरकार ने इंग्लैंड के समान अन्य आर्थिक मामलों की भांति बैंकिंग में हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण किया।

(२) **भारतीय कम्पनीज़ अधिनियम १९१३**—इस अधिनियम में कुछ ऐसी बातों का समावेश किया गया, जिन से बैंकिंग कम्पनियों को अन्य कम्पनियों से पृथक् पहिचाना जा सकता था। दो २ महायुद्धों में कई-कई बैंकों के फेल होने से भी सरकार ने बैंकिंग कानून बनाने की आवश्यकता को अनुभव नहीं किया।

(३) केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमिटी ने बैंकिंग कानून बनाने के विषय में सुझाव दिया था। किंतु सरकार ने १९३६ में १९१३ के इंडियन कम्पनीज़ एक्ट में संशोधन कर देना भर

पर्याप्त समझा। संशोधित अधिनियम में एक पूरा भाग (दस क) केवल बैंकिग के विषय में था। उसमें बैंकिग के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्याख्याएं थीः—

(क) उसने बैंकिग कम्पनी की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "जिसका प्रधान व्यवसाय चालू खाते या अन्य खाते में धरोहरें स्वीकार करना हो; जिसको चेक, ड्राफ्ट या आर्डर से निकाला जा सके।" यह परिभाषा स्पष्ट नही थी क्योंकि बैंकिंग कम्पनी को विभिन्न प्रकार का आकस्मिक व्यवसाय करने की अनुमति भी थी।

(ख) कोई बैंक खोलने से पूर्व कम से कम ५०,००० रुपयें की पूजी बैंक का काम चलाने के लिये कामचलाऊ पूंजी के रूप में शेयरों से एकत्रित करना आवश्यक था।

(ग) मैनेजिग एजेंटों को भविष्य में बनने वाली बैंकिंग कम्पनियों का प्रबन्ध करने से रोक दिया गया।

(घ) एक सुरक्षा कोष रखना प्रत्येक बैंक के लिये अनिवार्य कर दिया गया। यह आवश्यक कर दिया गया कि लाभ का कम से कम २० प्रतिशत भाग प्रति वर्ष तब तक सुरक्षित कोष में डाला जावे, जब तक उसका परिमाण चुकता पूंजी के बराबर न हो जावे।

(ङ) यह आवश्यक कर दिया कि एक बैंकिंग कम्पनी अपनी सावधि देनदारियों के विरुद्ध डेड़ प्रतिशत तथा तात्कालिक देनदारियों के विरुद्ध ५ प्रतिशत रकम नकद अपने पास रखे और अपने मासिक लेखे का विवरण कम्पनियों के रजिस्ट्रार को भेजा करे।

(च) बैंकिंग कम्पनी को पूरक कम्पनी बनाने अथवा उसमें शेयर लेने का तब तक अधिकार नहीं होता जब तक कि वह कम्पनी ट्रस्टों का काम करने और जमींदारियों का प्रबन्ध करने के लिए अपने आप ही न बन गई हो।

(छ) ऋण चुकाने की बढ़ी हुई अवधि (Moratorium) के लिये प्रबन्ध किया गया था, अर्थात् यदि कोई बैंकिंग कम्पनी अस्थायी रूप से कठिनाई में पड़ जावे तो उसको दिवालियेपन से बचाने के लिये उसके भुगतान को अस्थायी रूप से रोक देने की व्यवस्था की गई।

१९३६ के अधिनियम से उसके काम में पर्याप्त त्रुटियों का पता चला। बैंकिंग कार्य का नियमन करने के लिये पृथक् बैंकिंग अधिनियम की आवश्यकता थी। रिज़र्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर सर जेम्स टेलर (Sir James Taylor) ने १९३९ में उस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए कानून बनाने का प्रस्ताव किया था। किंतु १९३९ के युद्ध के कारण यह विषय उस समय स्थगित कर दिया गया। उस समय भारतीय सम्मिलित स्टाक बैंक अपने ऊपर पड़ने वाले ज़ोर को सहन करने योग्य थे। यूरोप के बाज़ारों के हाथ से निकल जाने के कारण १९४२ तक भारत के बैंकों को भारी कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा। बाद में युद्ध का वेग बढ़ने लगा। जापान के विरुद्ध भारत को मित्रराष्ट्रों के युद्ध का अड्डा बना देने के कारण व्यवसाय बढ़ने लगा। इस समय मित्र राष्ट्रों के लिए अधिक सामग्री मोल ली जाने लगी। मुद्रा-स्फीति के

परिणामस्वरूप आरम्भ में बैंकों के ऋण (Advances) में वृद्धि हुई। बाद में उन की अमानतों में तेज़ी से वृद्धि हुई। किंतु जैसा कि नीचे की तालिका से प्रकट है उस समय सब से अधिक वृद्धि सारिणी सूची के बैंकों की कार्यकारी पूंजी में हुई—

कोष्ठक चार

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	सारिणी सूची के बैंकों की संख्या	शाखाओं की संख्या	सावधि देनदारियां	तात्कालिक देनदारियां	रिजर्व बैंक में जमा तथा रोकड़ हाथ में	अगाऊ धन तथा बट्टा ली हुई हुंडियां	बाजार में चलने वाले नोट
१९३८–३९	५३	१,१२८	१०८	१३०	२३	१२१	१८९[1]
१९४५–४६	९१	३,११५	२६०	६५५	१२५	३०१	१२१९
१९४७–४८	१०१	३.४९०	३४४	७०७	१४१	४४४	१३०४[2]
१९४८–४९	९४	२,९६३	३०४	६७५	११७	४४५	१२३२
१९४९–५०	९४	३,००८	२७३	५९८	१०३	४४२	११२९
१९५०–५१	९३	२,९०४	२७८	५९९	९६	४५९	११६३

युद्ध के दिनों और युद्ध के बाद बैंकिंग विकास ने एक प्रभावशाली चित्र उपस्थित किया। किंतु तौ भी उसमें कुछ अवांछित बातें थीं ही। उन में से कुछ को भारतीय कम्पनीज़ एक्ट में उचित संशोधन कर के रोक दिया गया। वह बातें यह थीं—अधिकृत पूजी तथा चुकता पूंजी के बीच अनुपात का भारी अन्तर, अनुपात विरुद्ध मताधिकार के साथ विभिन्न प्रकार के शेयरों का निकाला जाना और मैनेजिंग एजेंटों की नियुक्ति के अवैध बना दिये जाने के बाद भी मैनेजिंग डाइरेक्टरों की नियुक्ति में अनुचित शर्तें। किंतु अमानतदारों के स्वत्व की रक्षा के लिये विस्तृत कानून की अब भी भारी आवश्यकता थी। १९४५ में रिज़र्व बैंक के गवर्नर ने बैंकों की कुछ ऐसी बुराइयों के विरुद्ध चेतावनी दी, जो उनमें मुद्रा स्फ़ीति की स्थिति के कारण आ गई थीं। वह बुराइयां यह हैं—

(क) अमानतों को आकर्षित करने के लिये अंधाधुंध शाखाएं खोलना।

(ख) बैंक का काम न करने वाली कम्पनियों के शेयर मोल लेकर उनके ऊपर अधिकार करना। इसी से सम्बन्धित कार्य हैं बैंकों तथा औद्योगिक कारखानों के स्वत्वों का एक दूसरे में मिला देना, डाइरेक्टरों द्वारा नियंत्रित कम्पनियों के शेयरों को रखना तथा पूंजी लगाने वाले ट्रस्टों को बनाना। इससे बैंकों की सुरक्षा तथा तरलता में बाधा आती है।

१. बर्मा के लिये १०,७४ लाख रुपयों सहित।

२. १९४९-५० की Finance and Currency Report, इसमें पाकिस्तान के अंक १९४७-४८ तक ही शामिल हैं।

(ग) आय-व्यय के लेखे के तैयार करने में चालाकी से इस प्रकार काम लेना कि बैंक की आर्थिक स्थिति के विषय में लोग धोखे में रहें।

(घ) शेयरों, सरकारी प्रतिभूतियों अथवा सम्पत्ति का सट्टा करना।

(ङ) सुरक्षानिधियों को अधिक बलवान बनाने की अपेक्षा उनको बांटना।

इन बुराइयों को दूर करने के लिये ही कानून बनाया गया था।

(४) १९४५ के बैंकिंग कम्पनी विधेयक (Bill) को १९४८ तक भी पास नहीं किया जा सका। इस बीच में सरकार ने एक अध्यादेश (Ordinance) निकाल कर रिज़र्व बैंक को बैंकों की इन बुराइयों को दूर करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार १९४६ के अध्यादेश द्वारा रिज़र्व बैंकों को किसी भी बैंक का हिसाब देखने का अधिकार मिल गया। इस अध्यादेश द्वारा सरकार को किसी भी ऐसे बैंक के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार मिल गया, जिसका कार्य उसके अमानतदारों (Depositors) के स्वत्वों के विरुद्ध चलाया जा रहा हो। इससे बैंक को सारिणी सूची से हटाया जा सकता था अथवा उसको नई अमानतें लेने से रोका जा सकता था। १९४६ में बैंकिंग का नियमन करने के लिये दो और कानून पास किये गये। बीयरर प्रोमिसरी नोट (Bearer Promissory Notes Act) (निकालने की मनाही) ऐक्ट के द्वारा बैंकों को ऐसे प्रोमेसरी नोट निकालने से रोका गया जो एक हाथ से दूसरे हाथ में बराबर जाते रहते थे। दूसरा कानून बैंकिंग कम्पनीज़ (शाखा नियंत्रण) ऐक्ट रिज़र्व बैंक की अनुमति के बिना बैंकों को नई शाखा खोलने अथवा पुरानी शाखाओं के स्थान बदलने से रोकता था।

(५) भारत सरकार ने विभाजन की कठिनाइयों में बैंकों की सहायता करने के लिए सितम्बर १९४७ में एक अध्यादेश (Ordinance) जारी किया। इसके द्वारा रिज़र्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह कैसी भी ज़मानत पर—जिसे वह पर्याप्त समझे—बैंकों को पेशगी रुपया उधार दे सके।

विभाजन के बाद यह देखने में आया कि पंजाब के कुछ बैंक अपने अमानतदारों के दावों को चुकाना कठिन समझ रहे थे। क्योंकि उनकी अधिकांश सम्पत्तियां पश्चिमी पंजाब में थीं, जब कि उनकी देनदारियों को भारत को बदल दिया गया था। इस प्रकार के बैंकों को सहायता देने के लिये १९४७ में एक और अध्यादेश निकाला गया। इसके द्वारा सरकार को तीन महीने तक के लिये ऋण चुकाने की अवधि देने का अधिकार दिया गया। इस बीच में वह कुल अमानत का १० प्रतिशत अथवा २५०), जो भी कम हो एक मास में चुका सकते थे। यह अध्यादेश १९४८ में अपने-आप समाप्त हो गया।

(६) **बैंकिंग कम्पनीज़ अधिनियम १९४९**—१९४६ के पुराने बैंकिंग विधेयक को वापिस ले लिया गया और २२ मार्च १९४८ को एक नया विधेयक उपस्थित किया गया। इसी विधेयक को पास करके १६ मार्च १९४९ से लागू किया गया। इस प्रकार प्रस्तावों की एक ऐसी लम्बी शृंखला को जो १९३९ में आरंभ हुई तथा जिसमें १९४६ और १९४९ के

बीच अनेक अध्यादेश निकालने पड़े एक अधिनियम में स्थान देकर एक व्यापक कानून बना दिया गया। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित थी–

१. इसमें बैंकिंग की परिभाषा करते हुए बतलाया गया कि "जनता से द्रव्य को अमानत का उधार देने अथवा पूंजी लगाने के उद्देश्य से स्वीकार करना, जिसे मांगते ही अथवा अन्य प्रकार से चुकाया जाना हो और जिसमें से रुपया चेक, ड्राफ़, आर्डर या अन्य प्रकार से निकाला जावे।" कोई कम्पनी इस प्रकार का काम तब तक नहीं कर सकती थी जब तक वह अपने नाम के साथ 'बैंक', 'बैंकर' अथवा 'बैंकिंग' शब्दों का उपयोग न करे। प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिज़र्व बैंक से एक लैसंस लेना होगा, जो लैसंस देने से पूर्व इस बात का पता लगा लेगा कि प्रार्थी बैंक की दशा ठोस है अथवा नही और यह कि उसका कोई काम उसके अमानतदारों के विरुद्ध तो नहीं है। यदि प्रार्थी विदेशी बैंकिंग कम्पनी हो तो रिज़र्व बैंक को यह देखना था कि उसके निर्माण का उसके देश का कानून भारतीय बैंकिंग कम्पनियों के विरुद्ध कहीं विभेदात्मक व्यवहार तो नही करता।

२. यह अधिनियम सभी प्रान्तों तथा सम्मिलित होने वाले राज्यों की सभी बैंकिंग कम्पनियों पर लागू होगा, किन्तु सहकारी बैंकों पर लागू नहीं होगा।

३. अधिनियम में न्यूनतम पूंजी तथा सुरक्षा निधि की शर्तों को निश्चित किया गया। वह उसके 'भौगोलिक रूप से लागू होने के सम्बन्ध' में विभिन्न प्रकार की हैं। उदाहरणार्थ, यदि इस अधिनियम को एक से अधिक राज्यों पर लागू किया जावे तो न्यूनतम आवश्यक पूंजी ५ लाख रुपया होगी, किन्तु यदि उसको बम्बई अथवा और कलकत्ता में लागू किया जावे तो पूजी १० लाख होगी, इत्यादि।

भारत के बाहिर बनी हुई बैंकिंग कम्पनियों के लिये यह आवश्यक था कि उनकी चुकता पूजी तथा सुरक्षानिधि १५ लाख रुपया हो और यदि उनका व्यवसाय बम्बई अथवा और कलकत्ते में भी चले तो यह रकम २० लाख रुपया हो। जब तक किसी इस प्रकार की कम्पनी ने रिज़र्व बैंक के पास उस रकम को नकद अथवा और स्वीकृत प्रतिभूतियों में न रख दिया हो तब तक यह समझा जावेगा कि उसने इस शर्त को पूरा नही किया।

४. स्वीकृत पूंजी अधिकृत पूंजी की ५० प्रतिशत से कम न होगी और चुकता पूंजी भी स्वीकृत पूजी (Subscribed Capital) की ५० प्रतिशत से कम न होगी। मताधिकार पूंजी के अपने अनुदान के अनुपात में होगा। किन्तु वह किसी दशा में भी समस्त मताधिकार के ५ प्रतिशत से अधिक न होगा।

५. **प्रत्येक सारिणी सूची के बैंक** को रिज़र्व बैंक के पास सावधि देनदारियों के २ प्रतिशत तथा तात्कालिक देनदारियों के ५ प्रतिशत की पुरानी दर से अपनी सुरक्षा निधि रखनी होगी।

६. बिना सारणी सूची के बैंकों को भी इसी अनुपात में सुरक्षा निधि अपने पास और अथवा रिज़र्व बैंक के पास रखनी होगी और उनको मास के प्रत्येक शुक्रवार को अपना मासिक हिसाब देना होगा ।

७. प्रत्येक विदेशी बैंकिंग कम्पनी को इस अधिनियम से दो वर्ष के अंदर भारत में नकदी, सोने अथवा बिना घाटे की स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में उसकी सावधि तथा तात्कालिक देनदारियों के कम से कम २० प्रतिशत भाग को बाज़ार भाव से भारत में रखना होगा। (इसमें उसका रिज़र्व बैंक के पास सुरक्षित भंडार भी सम्मिलित है) ।

८. बैंक के डाइरेक्टर ऐसे व्यक्ति नहीं हो सकते जो अन्य संस्थाओं के डाइरेक्टर भी हों ।

९. डाइरेक्टरों अथवा उनकी फर्मों को बिना ज़मानत के ऋण देना मना कर दिया गया। इस प्रकार के ऋणों का मासिक हिसाब रिज़र्व बैंक को देते रहने की व्यवस्था की गई। रिज़र्व बैंक को बैंक के सभी ऋणों के संबंध में नीति निश्चित करने का अधिकार है। वह यह भी तय कर सकता है कि ज़मानत वाले ऋणों का कितना भाग बैंक में रखा जावे ।

१०. जब तक किसी बैंकिंग कम्पनी के सभी पूंजीगत खर्चे साफ न कर दिये जावें, वह कोई लाभ नहीं दे सकती। लाभ का कम से कम २० प्रतिशत तब तक सुरक्षा निधि में रखा जावेगा, जब तक यह निधि चुकता पूजी के बराबर न हो जावे ।

११. कोई बैंकिंग कम्पनी रिज़र्व बैंक की पूर्व अनुमति के बिना न तो नई शाखा खोल सकती है और न पुरानी शाखा के स्थान को ही बदल सकती है ।

१२. कोई बैंकिंग कम्पनी व्यापार नहीं कर सकती । उसका प्रबंध किसी ऐसे के हाथ में नही दिया जा सकता जो मैनेजिंग एजेंट हो, जो दिवालिया घोषित किया जा चुका हो, जिसको किसी अनैतिक कार्य में सज़ा हो चुकी हो अथवा जो कम्पनी के लाभ में कमीशन लेता हो अथवा कोई और काम करता हो ।

१३. बैंकों को अपने ही शेयरों पर उधार देने अथवा बिना ज़मानत के डाइरेक्टरों को उधार देने अथवा किसी ऐसी फर्म को उधार देने का अधिकार नहीं है जिसमें उसके किसी डाइरेक्टर की किसी प्रकार से विशेष रुचि हो ।

१४. कोई बैंकिंग कम्पनी केवल बैंकिंग व्यवसाय के आकस्मिक उद्देश्यों के अतिरिक्त कोई पूरक कम्पनी नहीं बना सकेगी ।

१५. रिज़र्व बैंक को अत्यन्त विस्तृत अधिकार दिए गए हैं। वह पूरी सम्मिलित स्टाक बैंकिंग प्रणाली का नियंत्रण करता है, वह उधार देने की नीति को प्रभावित कर सकता है, सौदों को रोक सकता है, वह सामयिक तथा तदुद्देशीय हिसाब के अंकों को भंग कर उनको प्रकाशित कर सकता है। वह किसी भी बैंक का निरीक्षण कर सकता है और अनिवार्य आवश्यकता के समय इस अधिनियम को ३० दिन के लिये स्थगित कर सकता है ।

जनक नहीं है। वह ऋण के हिसाब के नियमित कागज़ नहीं मंगवाते अथवा उनकी प्रधान कार्यालय में ठीक-ठीक जांच नहीं की जाती।

जब तक ऊपर बतलाई हुई त्रुटियों को ठीक नहीं किया जावेगा भारतीय बैंकों पर कठिनाई का समय फिर आवेगा। इस प्रकार की वर्तमान त्रुटियों को ठीक करके ठोस बैंकिग को हमारी परम्परा बना लेनी चाहिए। आज देश उद्योगधन्धों के विकास की योजना बना रहा है। किन्तु ठोस आधार पर किया हुआ बैंकों का विकास ही उस उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायता दे सकता है।

१८ **विनिमय बैंक—उनकी स्थिति।** १९५० में भारत में १५ विनिमय बैंक थे और बन्दरगाह के नगरों तथा दिल्ली में उनकी ६३ शाखाएं थी। इन बैंकों का निर्माण भारत के बाहर किया जाता है। इसी कारण भारतीय कम्पनीज़ अधिनियम उनपर लागू नहीं होता था। किन्तु नये बैंकिंग कानून ने रिज़र्व बेंक को उनके कार्यों का नियंत्रण करने का अधिकार भी दे दिया। निम्नलिखित तालिका से भारत में उनकी वृद्धि तथा स्थिति का पता लगता है—

तालिका ५[1]

वर्ष	संख्या	पूंजी तथा सुरक्षानिधि (दस लाख पौण्ड में)	भारत में अमानतें (करोड़ रुपयो में)	भारत में रोकड़ बकाया (करोड़ रुपयों में)	भारत में रोकड़ की अपेक्षा देनदारियों का प्रतिशत अनुपात	दिये हुए ऋण तथा बट्टा की हुई हुण्डियां
१९२०	१५	९०	७५	२५	३३	—
१९४०	२०	१२८	८५	१७	२०	२८
१९४५	१५	१५३	१७१	१८	१०	४६
१९४८	१५	१५६	१६०	१७	११	११४

इस तालिका से यह भी पता चलता है कि इन बैंकों मे व्यक्तिगत अमानतों में पर्याप्त वृद्धि हुई, जब कि उसी गति से भारत में उसकी नकद रोकड़ में वृद्धि नही हुई।

इनमें से दो बैंक टामस कुक एण्ड सन[2] तथा अमरीकन एक्सप्रेस कम्पनी का सम्बन्ध केवल यात्रियों से है। शेष में से तीन का भारत में पर्याप्त भाग है। शेष उन बड़े-बड़े भारी बैंकों की एजेंसियां मात्र हैं, जिनके व्यापार का बड़ा भाग भारत के बाहर ही है। पांच बड़े-बड़े विनिमय बैंकों के नाम यह है—लाएड्स् बैंक, चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चाईना; नेशनल बैंक आफ इण्डिया, मर्केनटाइल बैंक आफ इण्डिया तथा नेशनल सिटी बैंक आफ न्यूयार्क।

१. रिज़र्व बैंक द्वारा १९४८ में निकाले हुए अंकों में से लिया हुआ।

२. भारत में इसका व्यापार मेसर्स ग्रैण्डले ऐण्ड कम्पनी में मिला दिया गया है।

उनके कार्य—(क) वह भारत के विदेशी व्यापार में धन देते हैं। यह एक लाभकारी व्यवसाय है। १९५०-५१ में भारत का समस्त व्यापार १,१६८ करोड़ रुपये का था। विशेषज्ञों ने यह हिसाब लगाया है कि इस व्यापार के १५ प्रतिशत में ही भारतीय बैंक धन लगाते हैं। उनका भाग माल को बन्दरगाह तक पहुंचाने भर का है, जहां से विदेशों को धन लगाने का प्रबंध विनिमय बैंक करते हैं।

(ख) विनिमय बैंकों की पर्याप्त शाखाएं देश भर में फैली हुई हैं। वह विभाजन से पूर्व १९४० में भारत में १९१ थीं और १९५० में ६३ थीं। इनमें से अधिकांश शाखाएं बड़े-बड़े नगरों में हैं। उदाहरणार्थ कलकत्ते में २०, बम्बई में १५, दिल्ली में १० और मदरास में १० हैं। वह भारत में अमानतें स्वीकार करते है और भारत के आन्तरिक व्यापार में भी बहुत बड़े परिमाण में धन लगाते हैं। यह अमानत की देनदारियां भारत और पाकिस्तान में १९४५ में १७९ करोड़ थीं और केवल भारत में १९५० में १६२ करोड़ थीं।

विनिमय बैंक भारतीय निर्यात की उन हुण्डियों (Indian Export Bills) को मोल लेते हैं, जो प्रायः तीन मास बाद सकारी जाती है। यह हुण्डियां सदा लगभग स्वीकृति पत्र की हुण्डियां (Documents on Acceptence) होती है। वह तुरंत ही लंदन को भेज दी जाती हैं और वहां के नीचे बाज़ार भाव से वहां उनपर बट्टा लिया जाता है। उनके धन को वापिस भारत को भेजने के लिये बैंक विभिन्न विधियों का आश्रय लेते हैं। उदाहरणार्थ, (१) लंदन में रिज़र्व बैंक के हाथ स्टर्लिग बेचना, (२) लंदन में रुपये के कागज़ मोल लेना और उनको भारत में बेचना, (३) भारत में रुपये लेकर इंग्लैड में यात्रियों तथा विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना और (४) भारत में बिक्री के लिये सोना-चांदी का आयात करना।

यूरोप से भारत को किये जाने वाले निर्यात व्यापार के अधिकांश व्यापार के लिये धन का प्रबन्ध उन भुगतान पत्रों की हुण्डियों (Documents on Payments—D.P. Bills) द्वारा किया जाता है, जिन्हें साठदिनी हुण्डी कहा जाता है। उनपर लंदन में बट्टा लेकर फिर उनको विनिमय बैंकों द्वारा वसूली के लिये भारत भेजा जाता है। स्वीकृति पत्रों की हुण्डियों (D. A. Bills) की विशेषता यह है कि यदि विदेशी आयातक द्वारा बैंक के द्वारा उसको एक बार स्वीकार कर लिये जाने पर वह माल का कब्ज़ा ले सकता है, जबकि हुण्डी का भुगतान वह हुण्डी की मियाद पूरी होने पर ही करता है। स्पष्ट रूप से यह एक बड़ी भारी सुविधा है। भुगतान पत्र की हुण्डियां (D.P. Bills) भारतीय आयातक को माल का तत्काल कब्ज़ा करने का अधिकार नहीं देतीं। अतएव वह विनिमय बैंक के पक्ष में एक धरोहर नामा (Trust Receipt) लिख कर देता है और इस प्रकार जब तक वह उस हुण्डी का भुगतान नहीं करता वह उस माल के लिये बैंक का धरोहरी (Trustee)

बना रहता है। इस समय के लिये वह ६ प्रतिशत की दर से ब्याज भी देता है। जब तक भारतीय आयात व्यापार के लिये धन का प्रबंध भुगतान पत्र की हुण्डियों (D.P. Bills) द्वारा रुपये में करके उनपर भारत में बट्टा नहीं लिया जाता यहां एक ठीक बट्टा बाज़ार का विकास नहीं किया जा सकता। विनिमय बैंकों ने अविभक्त भारत के १९४६ में ४६ करोड़ रुपये के विरुद्ध भारतीय सेना में १९४८ में ११४ करोड़ रुपये का अगाऊ धन दिया और हुण्डियों का भुगतान किया।

विनिमय बैंकों के विरुद्ध शिकायतें—भारतीय बैंक विनिमय बैंकों के विरुद्ध बहुत समय से शिकायत करते रहे है। उनकी शिकायत यह हैं–(क) विनिमय बैंक देश के आन्तरिक व्यापार में और विशेषकर बन्दरगाहों को माल ले जाने में भारी प्रतियोगिता करते रहे हैं। उनके साधन बड़े है और इसीलिये वह सस्ती दर पर अमानतों को आकर्षित कर सकते है। (ख) यह कहा जाता है कि वह भारत के विदेशी व्यापार में अपने देशवासियों को अधिक सुविधाएं देते है और इस प्रकार भारत में एकत्रित किये हुए धन का उपयोग भारतीय स्वत्वों के विरुद्ध करते हैं। (ग) वह भारतीय निर्यातकों को विवश करते है कि वह अपने माल का बीमा विदेशी कम्पनियों में ही करावें। इससे भारतीय बीमा कम्पनियों द्वारा किये जाने वाले इस प्रकार के व्यवसाय में वह बाधा उपस्थित करते हैं। (घ) उन बैंकों में भारतीयों को विश्वास योग्य पदों पर नहीं रखा जाता। यहां उनको सबसे बड़ा पद रोकड़िया (Cashier) का दिया जाता है। (ङ) यह कहा जाता है कि यह भारतीय पूंजी को विदेशी औद्योगिक तथा स्वर्ण किनारे वाली प्रतिभूतियों में लगाने का उपाय करते है। (च) उनके कर्मचारी कुछ भारतीय बैंकों को नीचा दिखाते हैं।

सारांश यह है कि यह बैंक भारत के विदेशी व्यापार का संचालन करते हैं और कुछ उसके आन्तरिक व्यापार में भी भाग लेते हैं। यद्यपि वह भारत में अमानतों को एकत्रित करते रहे, किन्तु १९४९ तक वह भारतीय कानूनों के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। उनका नियंत्रण विदेशी डाइरेक्टर करते थे और वह भारतीय मामलों के विषय में कोई सूचना प्रकाशित नहीं करते थे। १९४९ का बैंकिंग कानून बनने के बाद उनकी भारत स्थित सुरक्षा निधि पर रिज़र्व बैंक का अधिकार हो गया। अतएव इस विषय में स्थिति कुछ सुधर गई।

कोई भी भारतीय विनिमय बैंक क्यों नहीं? यह युक्ति दी जाती है कि विदेशी व्यापार की अपेक्षा देश के आन्तरिक व्यापार में धन लगाने से अधिक लाभ होता है। अतएव भारत के सम्मिलित स्टाक बैंक अपनी कुछ कम पूजी के साथ स्वाभाविक रूप से ही देश के आन्तरिक व्यापार से संतुष्ट हैं। विदेशी व्यापार की हुण्डी रकम को अधिक से अधिक तीन मास तक के लिये कैद कर देती है। भारत के सम्मिलित स्टाक बैंक या तो सरकारी प्रतिभूतियों में धन लगाते हैं अथवा अन्य साधन न होने से उसे भारत के रिज़र्व बैंक में रखते हैं। विदेशी विनिमय व्यवसाय में धन लगाने से उनका यह फालतू धन काम में लग जाता।

यह भी कहा जाता है कि भारत में विदेशी विनिमय व्यवसाय को सफलता-पूर्वक चलाने के लिये होशियार कार्यकर्त्ता नहीं मिलते। यह एक बलवान् तर्क नहीं है। इम्पीरियल बैंक के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति के सामने अपनी गवाही में कहा था कि "आवश्यक कर्मचारी बिना अधिक विलम्ब के मिल सकते है।"

भारत के सम्मिलित स्टाक बैंकों द्वारा इस व्यवसाय को अपनाने के मार्ग में मुख्य कठिनाई विदेशों में शाखाएं खोलने और उनका सफलतापूर्वक संचालन करने की है। इस मार्ग में राजनीतिक तथा चलअर्थ की कठिनाइयां है। एक विदेशी शाखा में धन आकर्षित करने के लिये अधिक पूजी, भारी अनुभव और साख की आवश्यकता होती है। हमारे व्यापारिक बैंक यह शाखाएं खोलने योग्य नहीं हैं। यह अच्छा है कि बैंक आफ इंडिया ने लंदन में एक शाखा खोल दी है। आज भारत के स्वतन्त्र होने के कारण यह आवश्यक है कि इस प्रकार की शाखाएं सभी देशों और विशेषकर अमरीका तथा ब्रिटेन में खोली जावें।

केन्द्रीय बैंकिंग की रिपोर्ट में यह प्रस्ताव किया गया है कि इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया को विदेशी विनिमय का कार्य करना चाहिए। किन्तु ऐसा करने से पूर्व उसको अपने स्थानीय बोर्डो में भारतीय डाइरेक्टरों की संख्या ७५ प्रतिशत कर देनी चाहिए। उसको अभारतीय कर्मचारियों की भर्ती भी बंद कर देनी चाहिए।

इस योजना के विकल्प के रूप में यह प्रस्ताव किया गया है कि तीन करोड़ रुपये की पूंजी से एक अखिल भारतीय विनिमय बैंक की स्थापना की जावे। अच्छा हो कि उसके अधिकांश शेयर भारतीय सम्मिलित स्टाक बैंक ले लें। इससे इस बात का निराकरण हो जावेगा कि उक्त बैंक भारत के घरेलू व्यापार में प्रतियोगिता करेगा। यह बैंक सरकार द्वारा विदेशों में रुपया भेजने के काम को भी ले सकता है।

इस बीच में भारतीय व्यापारिक बैंक सहकारी आधार पर बड़े-बड़े विदेशी केन्द्रों में अपनी एजेंसियां खोल सकते हैं।

परिणाम—१९४९ का भारतीय कम्पनीज़ बैंकिंग अधिनियम पास होने से विनिमय बैंकों की स्थिति पहले जैसी हस्तक्षेप न करने योग्य नहीं रही। आज रिज़र्व बैंक उन बैंकों को यह आज्ञा दे सकता है कि वह अन्य बैंकों के साथ-साथ ही चलें। इस अधिनियम में निम्नलिखित नियम भारतीय अमानतदारों की रक्षा करते है—

१. जो बैंक भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में बने होंगे उनके लिये यह आवश्यक है कि उनकी चुकता पूजी और सुरक्षा निधि के मूल्य का कम से कम १५ लाख रुपया रिज़र्व बैंक में जमा किया जावे। और यदि उसका स्थान बम्बई या कलकत्ते में हो तो वह २० लाख रुपये रिज़र्व बैंक में रखे।

२. इस प्रकार के बैंक द्वारा रिज़र्व बैंक में जमा की हुई कोई भी रकम ऐसी दशा में भारत के पावनेदारों के दावों का निर्णय करने का पृथक-साधन होगी, जब कि उक्त बैंक भारत में अपना कारोबार बंद कर दे।

३. इस प्रकार की किसी भी बैंकिंग कम्पनी की भारत में सम्पत्ति प्रत्येक तिमाही के काम करने के अंतिन दिन उसमें जमा तात्कालिक तथा सावधि देनदारियों के ७५ प्रतिशत से कम न होगी।

४. प्रत्येक वर्ष के अंत में इस प्रकार की प्रत्येक कम्पनी अपनी भारतीय शाखाओं द्वारा भारत में किये हुए सभी व्यवसाय के सम्बन्ध में वार्षिक आय-व्यय का लेखा तथा हानि-लाभ का विवरण तैयार करेगी। इस आय-व्यय के लेखे की नियमित रूप मे हिसाब परीक्षक द्वारा जाच करके इसे प्रकाशित कर दिया जावेगा।

यह बात ध्यान रखने की है कि बैंकिंग अधिनियम द्वारा इस प्रकार की पाबन्दियां विदेशी बैंकों पर भी लगा दी गई है। किन्तु जो देशी राज्य भारत में विलीन हो चुके हैं उनमें बने हुए बैंक इस श्रेणी में नहीं आते।

१९. भारत का इम्पीरियल बैंक। भारतीय कल्पना के लिये राज्य बैंक का सदा ही भारी आकर्षण रहा है। आरंभ में[1] इस प्रकार के बैंक के लिये अनेक प्रकार के प्रस्ताव किए गए। किन्तु उनमें से किसी के अनुसार भी आचरण नहीं किया गया। १९१३-१४ के संकट के कारण एक राज्य बैंक की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होने लगी। इस विषय में प्रथम गंभीर प्रयत्न १९२१ में तब किया गया, जब तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को उनकी ५९ शाखाओं सहित मिलाकर इनको इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया नाम देकर एक कर दिया गया। विदेशी प्रतियोगिता के भय के कारण इस प्रकार परस्पर विरोधियों को एक कर दिया गया।

इस योजना के अनुसार नये बैंक की पूंजी को ३७५ लाख रुपये मे बढ़ाकर ५६२ लाख रुपये कर दिया गया। वह व्यक्तिगत फर्म ही बना रहा। किंतु उससे सरकारी काम भी लिये जाने का निर्णय किया गया। अतएव उसके कार्यों पर कानूनी पाबंदी लगाकर इसके प्रबन्ध को एक सीमा के अन्दर-अन्दर सरकार के नियंत्रण में रखा गया। अपने विशाल साधनों के कारण भारतीय बैंकिंग संसार में उसको नेता का स्थान मिल गया। भारत में उसकी कुल अमानतों का ३३ प्रतिशत उसकी व्यक्तिगत अमानतें थी। १९२६ में उसकी शाखाओं की संख्या १६१ थी, जो कि सभी सम्मिलित स्टाक बैंकों की सभी शाखाओं की एक-तृतीयांश से अधिक थीं। उसमें जनता की भी बड़ी अमानतें जमा होती थी, जिन पर वह कोई ब्याज नहीं देता था। उसके व्यवसाय को कानून की सीमा के अन्दर सुरक्षा दी गई। अतएव यह स्वाभाविक था कि भारतीय बैंकिंग, साख तथा व्यापार में उसके अधिकार अत्यन्त व्यापक थे।

इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय बोर्ड तथा तीन स्थानीय बोर्डों के हाथ में था। सरकार को केन्द्रीय बोर्ड में दो सदस्य नियुक्त करने का अधिकार था। वह अपने

१. देखो Muranjan, op. cit.

स्वत्वों की देखभाल करने के लिये 'चलअर्थ के नियंत्रक' (Controller of Currency) को मनोनीत करती थी। सरकार बैंक को अपनी बकाया रकमों की रक्षा करने तथा आर्थिक नीति के संबंध में भी निर्देश दे सकती थी।

बैंक ने सरकार के सभी बैंकिंग कार्य को अपने हाथ में ले लिया। जैसे, अमानतों को स्वीकार करना तथा बकाया रकमों को अपने पास रखना। उसने सार्वजनिक ऋण का प्रबंध किया और १९२१ से लेकर १९२६ तक के बीच में १०२ नई शाखाएं[१] खोलीं। वह अन्य स्थलों को रुपया भेजता था तथा ऋण देने के ढंग तथा साधन उत्पन्न करता था। वह बैंकरों के बैंक का काम भी करता था; क्योंकि अधिकांश व्यापारिक बैंक अपनी बकाया रोकड़ उसके पास ही रखा करते थे। वह देश में पारस्परिक चुकाई भवन का काम भी करता था और इस प्रकार बैंकों के पारस्परिक दावों को तय किया करता था। बैंक द्वारा सरकारी काम करने के कारण उसके कार्यों का सावधानी से नियंत्रण किया जाता था। इस प्रकार इम्पीरियल बैंक ६ मास से अधिक के लिये ऋण नहीं दे सकता था। न वह स्थायी सम्पत्ति पर या अपने शेयरों पर ही ऋण दे सकता था। वह अपने ग्राहकों की यथार्थ आवश्यकताओं के अतिरिक्त विनिमय व्यवसाय नहीं कर सकता था। वह व्यक्तिगत ज़मानत पर तब तक ऋण नहीं दे सकता था, जब तक दो स्वतन्त्र व्यक्ति अथवा फर्म उस ऋण की ज़मानत न लें।

बैंक के विरुद्ध इस प्रकार की शिकायतें बारबार की गई कि वह अन्य बैंकों के साथ अनुचित प्रतियोगिता करता है। उसके पास जो सरकारी खज़ाना बिना सूद के बड़े भारी परिमाण में रहता था उससे वह बहुत कम ब्याज पर जनता को रुपया उधार दे सकता था। किन्तु इस प्रकार के आरोप सत्य नहीं थे। क्योंकि बैंक अपनी सम्पत्ति के अत्यधिक तरल होने के कारण अत्यन्त कम दर पर भारी-भारी अमानतें आकर्षित कर सकता था।

यह भी कहा गया कि बैंक यूरोपियन फर्मों के साथ भारतीय फर्मों के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण विभेदात्मक व्यवहार करता था। उसके व्यवसाय का अधिकांश जिसका परिमाण बराबर बढ़ता जाता था भारतीयों[२] के साथ ही होता था। १९२५ में उसकी अमानतों का कम से कम ६७ प्रतिशत भारतीयों से आया था। उसके द्वारा दिये गये ऋणों का भी ६८ प्रतिशत भारतीयों को ही दिया गया था। इसमें संदेह नहीं कि उसका भारतीयकरण उतनी शीघ्रता से नहीं किया गया, जैसी कि मांग की जाती थी। उसका प्रबंध तो बराबर यूरोपियनों के हाथ में ही बना रहा है।

इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध सबसे भीषण आरोप यह था कि वह विभिन्न स्थानों तथा

---

१. आवश्यकता १०० नई शाखाएं खोलने की थी, जिनमें से २३ प्रतिशत सरकार द्वारा बतलाये हुए स्थानों पर खोली जानी थीं।

२. Muranjan, p. 92.

ऋतुओं में मुद्रा की दर में उतार-चढ़ाव को कम नहीं कर सकता था। किन्तु उसका कारण इम्पीरियल बैंक और सरकार में बैंकिंग तथा चलअर्थ के कार्यो का बिखर जाना था।

इम्पीरियल बैंक का राज्य बैंक रूप होने के कारण उसका व्यापारिक बैंक रूप साथ ही साथ बना नहीं रह सकता था। वह अपने व्यापारिक कार्यो में भारी लाभ उठाता था। एक वास्तविक केन्द्रीय बैंक इस प्रकार का कार्य करना कभी पसंद न करता। न वह साधारण सम्मिलित स्टाक बैंकों के साथ प्रतियोगिता में उतरता। यदि राज्य बैंक कहलाने वाला बैंक इस प्रकार के कार्य करता है तो देश में बैंकिंग कार्य को सुचारू रूप से नहीं चलाया जा सकता।

यह बात उसके पक्ष में कही जा सकती है कि उसने देश भर में बैंकिंग सुविधाएं बढ़ाने में सहायता दी। उसने ऐसे-ऐसे स्थानों में ७५ शाखाएं खोलीं, जहां पहले किसी भी बैंक की कोई शाखा नहीं थी। उसने कुछ बैंकों की बड़ी प्रसन्नता से कठिनाई में सहायता की। उदाहरणार्थ, शिमले का एलाएंस बैंक, बंगाल नेशनल और इलाहाबाद बैंक। जहां-कहीं उसकी शाखा होती थी वह पारस्परिक चुकाई भवन (Clearing House) का काम भी करती थी और इस प्रकार विभिन्न बैंकों के पारस्परिक हिसाब को सुलझाने में सहायता देती थी।

निम्नलिखित तालिका से बैंक की वर्तमान स्थिति का पता लगता है—

इम्पीरियल बैंक

(करोड़ रुपयों में)

मदें	७ मार्च १९५१	७ मार्च १९५२
अमानतें	२४२	२२८
पूंजी विनियोजन कार्य	१०१	८६
ऋण	१२५	१०१
नकद रोकड़	२३	१८
अमानतों की अपेक्षा नकद	९.५	८
रोकड़ का प्रतिशत अनुपात	—	—

१९३४ का इम्पीरियल बैंक संशोधन अधिनियम तथा उसके बाद की स्थिति— १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना हो जाने पर इम्पीरियल बैंक की अर्द्ध-सरकारी बैंक होने की स्थिति समाप्त हो गई। अब बैंक के कामों पर लगाई हुई पुरानी पाबंदियों को दूर कर दिया गया। अब यह विदेशी विनिमय का कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता था, जहां-कहीं चाहे नई शाखाएं खोल सकता था और भारत के बाहर धन उधार ले सकता था। उसको स्थायी सम्पत्ति के विरुद्ध उधार देने की अनुमति भी दे दी गई। तो भी उसको

एक उभय सम्मत कमीशन के आधार पर भारत के रिज़र्व बैंक का एजेंट बना दिया गया, जिससे उसकी कई लाख रुपया प्रति वर्ष की आय बढ़ गई। इस प्रकार अब उसके साधन बहुत बढ़ गए हैं और वह अन्य बैंकों को दुबारा बट्टा लेने की सुविधा देता है। वह मुद्रा बाज़ार का नेता है और अपने उस रूप में उसने अपनी अमानतों की अपेक्षा नकद रोकड़ के उच्च अनुपात को बनाए रखा है। उसकी उच्च स्थिति होने का यह भी एक मुख्य कारण है। इन्हीं सब कारणों से जनता की ओर से उसका राष्ट्रीयकरण किये जाने की भारी मांग उपस्थित की जाती रही है।

इम्पीरियल बक के असामान्य अधिकार की आलोचना—वर्तमान प्रणाली में इम्पीरियल बैंक को असामान्य अधिकार दिये जाने की देश में भारी आलोचना की जाती रही है। यह आलोचना आंशिक रूप में राजनीतिक है। एक तो इस कारण कि इस बैंक का संचालन अंग्रेज़ों के हाथ में था, दूसरे इस कारण कि अतीत काल में यह भारतीय बैंकों के साथ प्रतियोगिता करने के कारण कुछ अप्रिय बन चुका है। एक तर्क यह दिया जाता है कि सिद्धान्त रूप से यह ग़लत है कि किसी एक व्यापारिक बैंक को सरकारी रोकड़ तथा चलअर्थ की तिजोरियों का सब काम दे दिया जावे। क्योंकि उससे उसको शक्तिशाली एकाधिकार मिल जाता है और फिर उसको जनता तथा अन्य बैंकों के स्वार्थो की उपेक्षा करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। या तो इस एकाधिकार पर कठोरता से नियंत्रण लगाया जाना चाहिये अथवा बैंक की उन विभिन्न प्रकार की विशेष सुविधाओं तथा लाभों को उससे छीन लेना चाहिये, जो उसको रिज़र्व बैंक की स्थापना हो जाने के बाद भी मिलते रहे हैं। यह सुझाव दिया गया है कि उसके मैनेजिंग-डाइरेक्टर तथा डिप्टी डाइरेक्टर की नियुक्ति की सरकार द्वारा सम्पुष्टि कराई जावे और डाइरेक्टर बोर्ड में उसके अफसर को उन प्रश्नों की आलोचना के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने का अधिकार दिया जावे, जिनका प्रभाव सरकार की राष्ट्रीय नीति पर पड़ता हो। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बोर्ड में सरकारी प्रतिनिधि को बैंक की नीतियों को झुकाने योग्य प्रभावशाली बनाया जावे।

इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध एक और आलोचना यह की जाती है कि उसका वर्तमान संगठन नौकरशाही है और उसके प्रबन्धकों (Executives) को डाइरेक्टरों के निर्वाचन का नियंत्रण करने की क्षमता है। यह भी तर्क दिया जाता है कि अपने गत तीस वर्ष के जीवन में बैंक ने भारतीयों को अपने बहुत कम ऊंचे पद दिये हैं।

ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी ने आलोचना के इन सभी तर्कों पर पूर्ण विचार करने के उपरांत यह सुझाव दिये हैं—

(१) इम्पीरियल बैंक अधिनियम में से शेयर होल्डरों की ओर से मताधिकार के उपयोग के लिये किसी को भी प्रतिनिधि (Proxy) बनाने का दस्तावेज़ तैयार करने की शक्ति को हटा दिया जावे।

(२) बैंक द्वारा प्राप्त विशेष सुविधाओं के न्याय्य न होने के कारण या तो उसके

बैंकिंग एकाधिकार को कठोरता से नियंत्रित कर दिया जावे, अथवा बैंक से उन विशेष सुविधाओं को छीन लिया जावे।

(३) उसके पदाधिकारियों का शीघ्रता से भारतीयकरण किया जावे। इस बात का आश्वासन दिया गया है कि भारतीयकरण के इस कार्य को १९५५ तक पूर्ण कर दिया जावेगा।

(४) अन्य बैंकों के साथ आज अयोग्य प्रतियोगिता न होने के कारण इम्पीरियल बैंक को उसके व्यापारिक कार्य करने दिये जावें और उसके ऊपर लगाई हुई वर्तमान पाबन्दियों को ही पर्याप्त समझा जावे।

(५) किन्तु इस बात का यत्न किया जावे कि सभी बैंक खज़ानों के द्वारा सस्ती दर पर धन एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा करें, जिससे इम्पीरियल बैंक को राष्ट्रीय चलअर्थ का संरक्षक होने की विशेष सुविधा न मिले।

कमेटी की सम्मति है कि "इम्पीरियल बैंक के लिये देश की बैंकिंग तथा कोष प्रणाली में हमने जिस स्थान को देने का प्रस्ताव किया है उससे वह रिज़र्व बैंक का सहायक बना रहेगा।"

२०. क्या इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया जावे? यह बैंक भारत भर में रिज़र्व बैंक के एजेंट (प्रतिनिधि) का काम करता है। यह एक बड़ी संस्था है और इसकी शाखाओं की संख्या भी भारी (भारत में ३६७ तथा विदेशों में ८४) है। इस बात को तथा उसके विरुद्ध अनेक शिकायतों को तथा इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है सरकार ने १९४८ में इस प्रश्न पर विचार किया था कि क्या इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया जावे। उस समय उसने इस बात को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया था कि उसका कभी भविष्य में राष्ट्रीयकरण कर दिया जावे। किन्तु विदेशों में उसकी अनेक शाखाएं होने के कारण अनेक राजनीतिक समस्याएं उत्पन्न हो गईं। अतएव वर्तमान समय में उसके राष्ट्रीयकरण को स्थगित कर दिया गया। सरकार ने उसके शेयरहोल्डरों को आश्वासन दिया कि यदि कभी इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया तो उनको उसी प्रकार हर्जाना दिया जावेगा, जिस प्रकार रिज़र्व बैंक के शेयर होल्डरों को दिया गया था। सरकार ने यह भी आश्वासन दिया कि अन्य व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने की उसकी कोई इच्छा नहीं है।

यह खेद की बात होगी कि राष्ट्रीयकरण के बाद बैंक के सभी व्यापारिक कार्यों को बंद कर दिया जावेगा। यह खेद विशेषकर ऐसी दशा में और भी बढ़ जाता है जब कि वह व्यापारिक पत्रों, दुबारा बट्टा लेने और अपनी विदेशी शाखाओं के द्वारा विदेशी विनिमय जैसे उपयोगी काम अनेक दिशाओं में कर रहा है। हमारी सम्मति में इस संस्था को भारत के मुद्रा सम्बन्धी स्वत्वों की सेवा करने के लिये जीवित रहने देना चाहिये। सबसे अच्छा

उपाय तो यह होगा कि उसका इस प्रकार संगठन किया जावे कि वह केन्द्रीय बैंकिंग के साथ व्यापारिक बैंकिंग के दो पृथक-पृथक् विभाग बना देवें।

२१. भारत के रिज़र्व बैंक का जन्म। प्रथम महायुद्ध के बाद कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने यह निश्चित सम्मति प्रगट की कि ऐसा केन्द्रीय बैंक–जो सरकारी नियंत्रण से मुक्त हो–आर्थिक विश्रृंखलता को रोकने तथा ठोस राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करने में सहायता दे सकता है। यह अनुमान किया गया कि भारतीय मुद्रा-प्रणाली ठोस नहीं है, क्योंकि उसका चलअर्थ और उधार दो विभिन्न ऐसे अधिकारियों के हाथ में थे, जिनकी नीतियां प्रायः एक दूसरे से पृथक् होती थीं,जबकि चलअर्थ तथा बैंक की सुरक्षा निधियों को पृथक्-पृथक् रखा जाता था। इसके अतिरिक्त यह अनुभव किया गया कि भारतीय मुद्रा-बाज़ार में सम्बन्ध तथा एकता का अभाव है। प्रत्येक बैंकिंग इकाई इस सिद्धान्त पर काम करती थी कि "प्रत्येक अपने लिये और शैतान को अधिक से अधिक अपनाया जावे।" दो-दो सुरक्षा निधि रखने की प्रणाली के कारण न तो निर्माण में सुरक्षा होती थी और न जनता के मन में विश्वास ही उत्पन्न होता था। इन त्रुटियों का उपाय करने तथा देश के बिखरे हुए बैंकिंग साधनों को एक उद्देश्य के लिये एकत्रित करने वाली केवल एक केन्द्रीय बैंकिंग एजेंसी ही हो सकती थी। तौ भी यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि रिज़र्व बैंक के अस्तित्व का कारण देश की आवश्यकता की अपेक्षा देश के संविधान में शीघ्र ही होने वाले परिवर्तन थे। संविधान तभी सफल हो सकता था यदि भारत "देश तथा विदेशों में अपनी आर्थिक स्थिरता तथा साख को बनाए रख सकता" और उसके लिये एक ऐसे केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता थी "जिसका आधार ठोस होता और जो राजनीतिक प्रभाव से मुक्त होता।"

देश में यह वाद-विवाद बहुत समय से चला आता था कि भारत में सरकार का अपना बैंक हो अथवा वह व्यक्तिगत शेयरहोल्डरों का बैंक हो। मुख्य बात यह थी कि नई संस्था राजनीतिक पाबंदियों तथा पूंजीवादियों के यंत्रों से स्वतन्त्र हो। वह साख अथवा चलअर्थ का योग्यतापूर्वक नियन्त्रण कर सके। बड़े-बड़े लाभांश देना उसका मुख्य उद्देश्य न हो। अन्यथा वह बैंकिंग संसार के विश्वास का संपादन नहीं कर सकेगी। सन् १९२७ तथा १९२८ के दो व्यर्थ प्रयत्नों के बाद केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी की प्रबल सिफारिशों द्वारा केन्द्रीय बैंक की स्थापना का मामला फिर मुख्य रूप से उठाया गया। अतएव १९३४ में रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया अधिनियम द्वारा एक शेयरहोल्डरों के बैंक की स्थापना की गई।

भारत के रिज़र्व बैंक का संविधान–रिज़र्व बैंक को एक शेयरहोल्डरों के बैंक के रूप में आरंभ किया गया। उसकी पूंजी आरंभ में पांच करोड़ रुपये की थी। जिसे सौ-सौ रुपये के ऐसे शेयरों में विभक्त किया गया था, जो सभी पूर्ण चुकता (Fully Paid-up) रखे गए थे। यह सारी पूंजी कुछ व्यक्तियों की थी। केवल २,२०,००० रुपये केन्द्रीय सरकार ने अपनी ओर से दिये थे।

के भुगतान के समय के सम्बन्ध में रियायती अपवाद किया गया है और उनका भुगतान ९ मास तक (बाद में इसे बढ़ा कर १५ मास कर दिया गया) किया जा सकता है।

रिज़र्व बैंक सदस्य बैंकों की उधार नीति पर भी नियन्त्रण रखता है और उनके द्वारा वह मुद्रा बाज़ार के अन्य अंगों पर भी नियंत्रण रखता है। अपनी बैंक दर को घटा या बढ़ा कर और खुले बाज़ार में सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय द्वारा वह इस प्रकार के नियंत्रण को बनाए रखता है। इस बाद के कार्य को खुले बाजार के कार्य (Open Market Operations) कहा जाता है। बैंक दर नीची होने से रिज़र्व बैंक के साथ दुबारा बट्टा कार्य करने में वृद्धि होती है। इस प्रकार सम्मिलित स्टाक बैंकों के पास नकदी बढ़ जाती है और बैंक दर ऊंची होने से रिज़र्व बैंक के साथ दुबारा बट्टा करने में अनुत्साह होता है और इस प्रकार सम्मिलित स्टाक बैंकों के पास रुपया घट जाता है। इसी प्रकार बैंक द्वारा खुले बाज़ार में प्रतिभूतियां मोल लेने से मुद्रा बाज़ार में नकदी बढ़ जाती है और उनकी बिक्री से उल्टा प्रभाव पड़ता है।

(ग) **विनिमय दर को बनाए रखना, तीसरे स्थान में**—रिज़र्व बैंक को रुपये के बाह्य मूल्य को एक रुपये के १ शिलिंग ६ पेंस स्टर्लिंग भाव को भी बनाए रखना पड़ता है। ऐसा करने के लिए बैंक को किसी भी व्यक्ति को, जो रुपये में मूल्य चुकावे कम से कम १०,००० पौंड का स्टर्लिंग—लंदन में तुरंत देने के लिये एक रुपये के १ शिलिंग ५$\frac{४९}{६४}$ पेंस की दर पर बेचना, अथवा एक रुपये की अधिक से अधिक १ शिलिंग ६$\frac{३}{१६}$ पेंस दर पर मोल लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसको लंदन में सरकार की स्टर्लिंग की आवश्यकता साप्ताहिक टेंडरों द्वारा अथवा एक बीच की दर पर पूरी करनी पड़ती है। इस प्रणाली से लंदन के विनिमय बैंक व्यस्त ऋतु में लंदन से भारत को सुविधापूर्वक धन भेज सकते हैं।

(घ) **सरकारी कार्य, चौथे स्थान में**—रिज़र्व बैंक केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के लिये सभी प्रकार का बैंकिंग कार्य करता है। उसमें रकम को सूद लेकर अपने पास बिना ब्याज रखना भी सम्मिलित है। उसको उनके विनिमय तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर धन भेजने के कार्य करने पड़ते हैं और सार्वजनिक ऋण का प्रबंध करना पड़ता है।

बैंक के कार्यों में उसके द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने की सुविधा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुविधा है। बैंक इम्पीरियल बैंक की सभी शाखाओं में तथा सरकार के पास धन बनाए रखता है। इन सुविधाओं के लिए १३०० खज़ाने खुले हुए हैं। इन सुविधाओं को १९४० में और बढ़ा कर इनका मान निश्चित कर दिया गया। नई योजना के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने की रियायती दर को ६१ बिना सारिणी सूची के बैंकों तथा ७ उन देशी बैंकरों के लिये भी लागू कर दिया गया, जो बक

की स्वीकृत सूची में हैं। स्थानान्तर को भेजी जाने वाली विभिन्न प्रकार की रकमों की भेजने की दरें निम्नलिखित हैं—

स्थानान्तर को भेजी जाने वाली रकमों की किस्में	५००० रुपये तक		५००० रुपये से अधिक पर	
	दर प्रति सैंकड़ा	न्यूनमत शुल्क	दर प्रति सैंकड़ा	न्यूनतम शुल्क
		रु० आ०		रु० आ० पा०
१. सरकार-प्रान्त के बाहर	१/१६	० ४	१/३२	३ २ ०
२. सरकार-प्रान्त के अन्दर	कुछ नहीं	कुछ नहीं	कुछ नहीं	कुछ नहीं
२. साधारण जनता	१/८	० ४	१/१६	६ ४ ०
३. सारिणी सूची के बैंक	१/१६	१ ०	१/३२	३ २ ०
४. स्वीकृत बिना सारिणी सूची के बैंक तथा देशी बैंकर	१/१६	१ ०	१/३२	३ २ ०
५. सहकारी बैंक तथा समितियां	१/१६	० ४	१/३२	३ २ ०

तार द्वारा रकम भेजने की दशा में तार का खर्चा इसके अतिरिक्त[1] लिया जाता है।

(ङ) **पारस्परिक चुकाई भवन** (Clearing Houses) **पांचवें स्थान में**—बैंक पारस्परिक चुकाई भवन का कार्य भी करता है और एक बैंक से दूसरे बैंक को रकम की गति में बचत कर देता है। पारस्परिक चुकाई भवनों में निम्नलिखित पांच सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मदरास और कानपुर। इनके अतिरिक्त २० और भी हैं। वह स्वतन्त्र संस्थाएं हैं और अभी तक बैंक ने उनके कार्य में हस्तक्षेप करना आवश्यक नहीं समझा। सन् १९५०-५१ में भारत में कुल ६,५७८ करोड़ रुपये के चेकों का पारस्परिक भुगतान किया गया, जबकि १९४९-५० में यह संख्या ६१,९८ करोड़ रुपये तथा १९३८-३९ में १,९२१ करोड़ रुपये थी।

(च) **कृषि ऋण विभाग, छटे स्थान पर**—रिज़र्व बैंक का एक कृषि ऋण विभाग भी है। उसमें विशेषज्ञ कर्मचारी होते हैं। उसके कार्य निम्नलिखित हैं (क) कृषि ऋण सम्बन्धी सभी प्रश्नों का अध्ययन करना और सभी बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर परामर्श देने के लिये उपलब्ध होना, और (ख) कृषि ऋण के सम्बन्ध में बैंक के कार्यों में राज्य कोआपेरेटिव बैंक तथा व्यापारिक बैंकों को समान रूप में सहयोग देना। इस प्रकार उसका

१. चालू सालों में भारत में स्थानान्तरित रकमों की कुल संख्या के लिए १९५०-५१ की Currency and Finance Report का Statement ३२ देखो।

कार्य मुख्य रूप से एक परामर्शदाता के रूप में है और वह सीधे सहायता नहीं कर सकता।

१९३५ में श्री एम. एल. डार्लिंग से कोआपेरेटिव संस्थाओं के कार्य की जांच करने को कहा गया था। उनकी रिपोर्ट से इस बात का पता चलता है कि रिज़र्व बैंक कृषि अर्थ-व्यवस्था में किस प्रकार सहायता कर सकता है। उसके बाद से रिज़र्व बैंक ने एक विधि द्वारा निर्धारित (Statutory) रिपोर्ट (१९३७ में) प्रकाशित की। उसमें अनेक विज्ञप्तियां (Bulletins) भी निकालीं। उनमें उन कठिनाइयों को बतलाया गया जो उधार देने वाले साहूकारों के बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य कार्य को छोड़ने तथा आधुनिक बैंकिंग प्रणाली को अपनाने के लिए तैयार करने के मार्ग में आती हैं। उनमें यह प्रस्ताव किया गया है कि देश में समस्त सहकारी रचना का पुर्ननिर्माण किया जावे।

सहकारी आन्दोलन, भूमि रेहन बैंकों, ऋण कानूनों, धन-उधार देने को नियमित करने, गोदामों के कानूनों, बाजार में बेचने तथा अन्य सम्बन्धी मामलों की समस्याओं का यह विभाग बराबर अध्ययन करता रहा। अब इस विभाग की सेवाओं का उपयोग पहिले से अधिक किया जा रहा है। इस विभाग ने सहकारी आन्दोलन के सम्बन्ध में श्रीलंका सस्कतचेवन आदि अनेक देशों तथा भारत के आसाम एवं बम्बई जैसे कुछ चुने हुए प्रान्तों के सम्बन्ध में अनेक पुस्तिकाएं प्रकाशित कर चुका है।

इस विभाग ने सहकारी आन्दोलन में भाग लेने वालों के मन में से इस भावना को दूर करने का यत्न किया है कि कोआपेरेटिव बैंकों को रुपया देने के मामले में रिज़र्व बैंक का स्थान अनुकूल नहीं है। इसके परिणामस्वरूप अब रिज़र्व बैंक के पास सहायता के लिए अधिक बार प्रार्थनाएं की जाने लगी हैं। रिज़र्व बैंक अधिनियम की धारा १७ (२) (घ) तथा (४) (ग) के अनुसार कोआपेरेटिव बैंकों को बैंक दर से भी १॥ प्रतिशत रियायती दर पर रुपया दिया जाता है। अब यही सुविधा धारा १७ (४) (क) के अनुसार दिये जाने वाले ऋणों के लिए भी बढ़ा दी गई है, किन्तु इसमें यह शर्त है कि उधार लिये हुए धन का उपयोग कठोरता से ऋतु सम्बन्धी कृषि कार्यों और फ़सलों के बेचने में ही किया जावे। इस प्रकार के ऋणों की अवधि को २ मास से बढ़ाकर १५ मास कर दिया गया। सन १९४९में रिज़र्व बैंक ने ६,१६ लाख रुपये के ऋण राज्य-कोआपरेटिव बैंकों को दिये, जबकि सारिणी सूची के बैंकों को उसने ३,५६१ लाख रुपयों का उधार दिया था। सारिणी सूची के बैंक ३ प्रतिशत ब्याज देते हैं, जबकि कोआपरेटिव बैंक एक करोड़ रुपये के ऋण पर २ प्रतिशत और अगले एक करोड़ रुपये के ऋण पर केवल १½ प्रतिशत ब्याज देते हैं। इसमें विचार यह है कि कोआपरेटिव बैंकों को कृषि हुंडियों के विरुद्ध उधार लेने को प्रोत्साहित किया जावे तथा वह कम ब्याज का लाभ किसानों को दें।

इस विभाग ने सरकार को एक योजना एक अखिल भारतीय कृषि अर्थ कारपोरेशन (All-India Agricultural Finance Corporation) को स्थापना

करने की दी थी। इस प्रस्ताव पर ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी ने विचार किया था। साथ ही उसने स्थानीय आवश्यकताओं के लिए उचित सभी प्रकार के ऋण की व्यवस्था करने के लिए स्टेट फाइनेंस कारपोरेशन (State Finance Corporation) की स्थापना करने के गाडगिल कमेटी (१९४६) के प्रस्ताव पर भी विचार किया था। कमेटी ने उन प्रस्तावों का समर्थन नहीं किया क्योंकि उसकी सम्मति में "उनसे केवल कार्य दुहरा हो जावेगा, सहकारी आन्दोलन के विश्रृंखलित होने की संभावना है और ऋण लेने का खर्च बढ़ जावेगा।" उनका विचार था कि रिज़र्व बैंक द्वारा सहायता प्राप्त सहकारी आन्दोलन सहकारिता (Co-operation) की अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिए आर्थिक सहायता दे सकता है। शेषकार्य को भूमिरेहन बैंक करें।

(छ) **सार्वजनिक ऋण का प्रबंध—सातवें स्थान में,** रिज़र्व बैंक को भारत के सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध तथा राज्य सरकारों की ओर से ऋण लेने तथा उनको चुकाने का प्रबन्ध भी करना पड़ता है। भारत के ऊपर १९३८-३९ में कुल १,२०६ करोड़ रुपये का ऋण था। इसमें से ४६९ करोड़ रुपये का स्टर्लिंग ऋण तथा ७,७३ करोड़ रुपये का रुपया ऋण था। उसका सार्वजनिक ऋण पूरे का पूरा लगभग आन्तरिक ही है। ३१ मार्च १९५१ को भारत का समस्त सार्वजनिक ऋण २०,८९ करोड़ रुपये का था। अर्थात् ऋण में १९३९ के ९५० करोड़ रुपये की अपेक्षा उस वर्ष कुल २ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। उसमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (I.B. R. D.) का बिना ब्याज का २१३ करोड़ रुपये का ऋण तथा ७ करोड़ रुपये का बीता हुआ ऋण भी सम्मिलित है। ब्याज दिये जाने वाले ऋण में २१ करोड़ रुपये का ब्रिटिश-युद्ध-ऋण (जो अब स्थगित हो चुका है), ११ करोड़ रुपये की रेलवे की वार्षिक किश्तें (जिसके लिए ब्रिटिश सरकार के पास उतनी ही रकम जमा कर दी गई है, जिसने उस रकम के वर्जित होते ही आवश्यक स्टर्लिंग देने का वचन दिया है), १ करोड़ रुपये का स्टर्लिंग ऋण, २५ करोड़ रुपये का डालर ऋण तथा १,८११ करोड़ रुपये का रुपया ऋण सम्मिलित हैं। १९५०-५१ के अन्त में भारत सरकार को कुल २,५६२ करोड़ रुपये का ब्याज वाला ऋण देना था, अर्थात् उस ऋण में वर्ष के अन्त में ४९ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। उनमें प्रावीडेंट फंड, (Provident Fund), डाकखाने का सेविंग्स बैंक, नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट, रेलवे की ह्रास निधि (Depreciation Fund) तथा सुरक्षा निधि आदि हैं। इस ऋण के विरुद्ध सरकार के पास ब्याज देने वाली सम्पत्ति है, जिसमें पूंजी को उत्पादक कार्यों में लगाया गया है। ३१ मार्च १९५१ को यह सम्पत्ति १,६८१ करोड़ रुपये की अथवा समस्त ब्याज वाले ऋण का ६५.६ प्रतिशत थी। उसका एक भाग नकद, बकाया के रूप में भी था। शेष ऋण या तो बिना जमानत के था अथवा खजाने के हिसाब में भारत सरकार की प्रतिभूतियों के रूप में 'सुरक्षित' था।

यह आशा की जाती है कि १९५१-५२ के अन्त में भारत सरकार के ब्याज वाले ऋण

में २,५८७ करोड़ रुपये की वृद्धि हो जावेगी और ब्याज देने वाली सम्पत्ति में, जो खज़ाने के हिसाब में नकदी तथा प्रतिभूतियों के रूप में रखी हुई है, १,७७८ करोड़ रुपये की वृद्धि हो जावेगी ।

१९३८-३९ में भारत का स्टर्लिंग ऋण ४६९ करोड़ रुपये का था । उसमें से ४३३ करोड़ रुपये वापिस किया जा चुका है। इस प्रकार १९५१ में इंग्लैण्ड में भारत पर १.३ करोड़ रुपये तथा ३५ करोड़ रुपये की अन्य देनदारियां थीं। यह आशा की जाती है कि मार्च १९५२ के अन्त में इंग्लैण्ड में इस ऋण में केवल ३८.६ करोड़ रुपये की कमी हो जावेगी। भारत के रिज़र्व बैंक[1] ने कर्ज़ चकाने के इस भारी कार्य का सम्पादन सफलतापूर्वक किया है।

(ज) **अंकों का एकत्रीकरण**—अंत में,आर्थिक सूचना तथा अंकों को एकत्रित करने तथा उनका प्रकाशन करने के लिए रिज़र्व बैंक एजेंसी के रूप में काम करता है। वह अपने निकास तथा बैंकिंग विभागों का साप्ताहिक हिसाब सरकार को देता है । इसके अतिरिक्त यह भारत के बैंकों के सम्बन्ध में मासिक अंकों की तालिकायें तथा चलअर्थ एवं अर्थ व्यवस्था पर वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित करता है । १९४९ के नये अधिनियम के अनुसार यह भारत में बैंकिंग की उन्नति तथा उसके रुझान के विषय में भारत सरकार को एक वार्षिक रिपोर्ट दिया करती है । यह एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। विद्यार्थियों को रिज़र्व बैंक के सबसे ताज़ा उपलब्ध आयव्यय के लेखे (Balance Sheet) का सावधानी से अध्ययन करना चाहिए ।

२२ः बैंक दर । रिज़र्व बैंक समय समय पर उस प्रामाणिक दर (Standard Rate) की घोषणा करता है, जिस पर वह विनिमय पत्रों (Bills of Exchange) तथा अन्य समुचित व्यापारिक पत्रों पर दुबारा बट्टा लेता है । जबसे बैंक खुला है यह दर ३ प्रतिशत रही है। युद्ध भी इसमें परिवर्तन नहीं करा सकता है। क्यों कि सुगमता से द्रव्य प्राप्त होने की दशाएं देश में बनी ही नहीं। मुद्रा बाज़ार का नियंत्रण करने के लिएं बैंक दर अत्यन्त महत्वपूर्ण ढेंकली है। अन्य बैंक अपने उधार देने और दुबारा बट्टा लेने की दरों का उसी के आधार पर निश्चय करते हैं। यदि उनको आवश्यकता के समय रुपया उधार लेना हो तो उनको इसी दर पर उधार मिलता है। नवम्बर १९५१ में इस दर को बढ़ाकर साढे तीन प्रतिशत कर दिया गया। जिससे देश में साख के विस्तार को रोका जा सके। यह कार्य मूल्यों को घटाने के लिए मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय के रूप में किया गया था और इस उपाय से उस उद्देश्य के प्राप्त करने में सफलता मिली है।

सुरक्षा कोष और लाभांश—रिज़र्व बैंक लाभांश खोजने वाली फ़र्म नहीं है। अधिनियम की धारा ४७ द्वारा यह निश्चय कर दिया गया है कि शेयर होल्डरों को ६ प्रतिशत से

१. Report on Currency and Finance, 1949-50, paras 53-63.

अधिक लाभांश नहीं दिया जा सकता। रिज़र्व बैंक ने अभी तक प्रतिवर्ष ३१/२ प्रतिशत लाभांश ही दिया है। केवल १९४२-४३ में उसने ४ प्रतिशत दिया था। अतिरिक्त लाभ की बचत को सरकारी आय में जमा कर दिया जाता था। किन्तु इसमें यह शर्त थी कि जब तक सुरक्षा कोष शेयर पूंजी से कम रहे, कम से कम ५० लाख रुपये की बचत, और यदि वह उस रकम से कम हो तो पूरी की पूरी बचत सुरक्षा कोष (Reserve Fund) में डाल दी जाया करे। अब बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने के कारण शेयर होल्डरों को लाभांश देने का कोई प्रश्न नहीं है और अब शेयरहोल्डरों के हिसाब को चुकता कर दिया गया है।

२३. इम्पीरियल बैंक के साथ सम्बन्ध। रिज़र्व बैंक ने इम्पीरियल बैंक के साथ एक इकरारनामा लिखकर उसे १५ वर्ष के लिए ब्रिटिश भारत के उन सब स्थानों में अपना एकमात्र प्रतिनिधि नियत किया, जहां रिज़र्व बैंक के खुलने से पूर्व इम्पीरियल बैंक की शाखायें थीं। उस इकरारनामे को १५ वर्ष के बाद दोनों पक्ष पांच पांच वर्ष का एक दूसरे को नोटिस देकर चाहे जब समाप्त कर सकते हैं। यह इकरारनामा चलते रहने की एक शर्त यह थी कि इम्पीरियल बैंक की आर्थिक स्थिति ठोस बनी रहे और उसकी वर्तमान सभी शाखाओं की संख्या भी वही बनी रहे। उसके बदले में उसको प्रथम पांच वर्षों में ९ लाख रुपया वार्षिक, उसके बाद के ५ वर्षों में ६ लाख रुपया वार्षिक और उसके भी बाद के पांच वर्षों में ४ लाख रुपया वार्षिक देने का वचन दिया गया। इसके अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक को समस्त सौदों में प्रथम २५० करोड़ रुपयों पर १/१६ प्रतिशत, तथा शेष रकम पर १/३२ प्रतिशत १० वर्ष तक दिये जाने का वचन दिया गया। दस वर्ष के बाद इस दर पर पुनर्विचार करने का निश्चय किया गया।

इस निश्चय के अनुसार १९४५ में इम्पीरियल बैंक की कमीशन दर पर फिर विचार किया गया और १ अप्रेल १९४५ से ३१ मार्च १९५० तक के पांच वर्षों के लिए सरकारी कार्य पर इम्पीरियल बैंक को दिये जाने के लिए कमीशन की निम्नलिखित दर हिसाब लगाकर तय की गई।

प्रथम १५० करोड़ रुपये पर	१/१६ प्रतिशत दर पर
अगले १५० करोड़ रुपये पर, १५० करोड़ रुपये के ऊपर	१/३२ प्रतिशत दर पर
३०० करोड़ रुपये के ऊपर अगले ३०० करोड़ रुपये पर	१/६४ प्रतिशत दर पर
उसके आगे होने वाले सरकारी आय व्यय के हिसाब पर	१/१२८ प्रतिशत दर से

कमीशन की यह संशोधित दरें विशेषज्ञों की जांच के फलस्वरूप निकाली गई थीं और इम्पीरियल बैंक की वार्षिक लागत के आधार पर रखी गई थीं। इकरारनामे की भावना यह थी कि इम्पीरियल बैंक को किसी लाभ के लिए कोई अनुदान न दिया जावे। क्योंकि उसको इन पांच वर्षों में चार लाख रुपया वार्षिक की रकम उसके पारिश्रमिक के रूप में दी जानी थी।

के उस देश के मौलिक उद्योगधन्धों के साथ सम्बन्ध अध्ययन करने योग्य हैं और उससे प्रोत्साहित करने योग्य शिक्षा ली जा सकती है।

युद्धकाल में असीमित परिमाण में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का चलअर्थ के विस्तार के लिए उपयोग करने के लिए रिज़र्व बैंक के संविधान का शोषण किया गया था।

रिज़र्व बैंक अभी तक देशी बैंकरों के साथ इस प्रकार का संबंध स्थापित नहीं कर सका है, कि उसका वास्तविक परिणाम निकले। न वह इस सम्बन्ध में संकट को ही टाल सका है, यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत कुछ किया जा चुका है। न वह एक हुण्डी बाज़ार ही अभी तक बना सका है, जिससे बैंक अपने फ़ालतू रुपये को उसमें लगाकर लाभ प्राप्त कर सके। न वह भारत के सम्मिलित स्टाक बैंकों को विदेशी विनिमय व्यवसाय में उनका योग्य भाग दिलवा सका है। भारत को स्वतन्त्र हो जाने के कारण एक विनिमय बैंक के खोलने को प्राथमिकता देनी चाहिए।

रिज़र्व बैंक भारत की चलअर्थ इकाई के अतिरिक्त मूल्य को स्थिर रखने में सफल नही हो सका है। एक केन्द्रीय बैंक का यह एक महत्वपूर्ण कार्य है। बैंक के इस दिशा में असफल होने का कारण यह है कि भारतीय मुद्रा बाजार स्वयं एक अंग नहीं है। इसके अतिरिक्त, भारत अभी पिछले दिनों तक स्वतन्त्र देश नही था और इस बैंक की नीति का संचालन ब्रिटिश स्वार्थो के हित में किया जाता था। इस प्रकार जबकि ब्रिटेन ने अपने यहां मुद्रास्फीति तथा ऊंचे मूल्यों का मुकाबला कर लिया भारत के सिर पर अभी तक भी मुद्रास्फीति तथा स्टर्लिंग सम्पत्ति का भार बना हुआ है। बैंक लाचार था और १९५२ के आरम्भ तक मूल्य नहीं घटा सका।

यह त्रुटियां होते हुए भी रिजर्व बैंक ने आर्थिक स्थिति तथा बैंक सम्बन्धी सुधारों में एक नये युग का निर्माण किया है और भारत के सम्मिलित स्टाक बैंकों को इस प्रकार से सहायता दी है कि वह सफलतापूर्वक इतिहास के दो तूफ़ानों—द्वितीय महायुद्ध तथा विभाजनोत्तर काल को—सफलतापूर्वक पार कर गए। यह भी कहा जा सकता है कि उसके पास सेवा के साधन अधिक हैं और उससे भविष्य में, और अधिक विशेषता से आज-कल के ऐसे समय में जब उसका राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है—अधिक सफलता की आशा की जा सकती है।

२४. **रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण**। १९४८ के रिज़र्व बैंक (सार्वजनिक स्वामित्व के लिए परिवर्तन) अधिनियम के द्वारा रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसका स्वामी राज्य को बनाया गया। ऐसा करने का उद्देश्य मुद्रा-सम्बन्धी आर्थिक तथा धन-सम्बन्धी नीतियों में अत्यधिक सहयोग स्थापित करना था। इस अधिनियम के अनुसार

(१) इस बैंक के उन सब शेयरों पर—जिनपर जनता का स्वामित्व था, १ जनवरी १९४९ से केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिकार कर लिया गया। मार्च १९४७ से लेकर फर्वरी १९४८ के बीच में रिजर्व बैंक के सौ रुपये के एक शेयर का मूल्य ११८ रुपये १० आने था।

सरकार ने इन शेयरों पर अधिकार करते समय उनके मालिकों को यह बाज़ार मल्य हर्जाने के रूप में देने की घोषणा की। इस रकम का भुगतान कुछ तो नकदी के रूप में और कुछ ३ प्रतिशत के वचन पत्रों (Promissory notes) के रूप में किया गया।

(२) केन्द्रीय तथा स्थानीय बोर्डों के संविधान में इस प्रकार का संशोधन किया गया कि उनके सभी डाइरेक्टर सरकार द्वारा मनोनीत किये जाया करें। इनमें से एक सरकारी होता है। चार डाइरेक्टर चार स्थानीय बोर्डों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा छः अन्य स्वत्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में सरकार द्वारा नियुक्त तीन तीन सदस्य होते हैं।

(३) रिज़र्व बैंक अधिनियम १९३४ में इस प्रकार का संशोधन किया गया कि जिससे रिज़र्व बैंक अपने निकास तथा बैंकिंग विभाग में न केवल पहिले के समान स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को रख सके, वरन् विदेशी चलअर्थ तथा ऐसे विदेशों की अन्य प्रतिभूतियों को भी रख सके जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I.M.F.) के सदस्य हों। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने तथा उसके कारण रिज़र्व बैंक पर सभी विदेशी चलअर्थो का निश्चित दरों पर क्रय विक्रय करने का उत्तरदायित्व पड़ने के कारण रिज़र्व बैंक के विधान में यह संशोधन करना आवश्यक हो गया।

राष्ट्रीयकरण का इस कारण विरोध किया गया है कि इससे सरकार ने बैंक की नीति का निर्देशन करने की सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली है। जिसका परिणाम यह होगा कि उस पर किसी एक ऐसे राजनीतिक दल का प्रभुत्व होगा, जिसके हाथ में भारत की केन्द्रीय सरकार की बागडोर होगी। इसके विपरीत यह दावा किया जाता है कि बैंक के राष्ट्रीय संस्था बने बिना उन बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता, जिनको सरकार ने जारी किया है। इसके अतिरिक्त कैनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन तथा फ्रांस जैसे प्रमुख देशों ने अपने अपने केन्द्रीय बैंकों को सरकार के अधिकार में ले लिया था। यह बहुत आवश्यक है कि सरकार द्वारा अपनाई हुई आर्थिक नीति तथा देश के केन्द्रीय बैंक की मुद्रा सम्बन्धी नीति में कोई संघर्ष न हो। यदि रिज़र्व बैंक क स्वामित्व व्यक्तिगत हाथों में रहता तो यह खतरा–कम से कम होने पर भी—सदा ही बना रहता। अब यह खतरा एकदम दूर हो गया है। जब तक रिज़र्व बैंक शेयरहोल्डरोंका बैंक रहता उसको उससे अधिक अधिकार कभी न दिया जाता, जो उसको १९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार अधिक से अधिक दिये जा सकते थे। इस प्रकार के अधिकार उसको दिये जाने से उसके राष्ट्रीयकरण किये जाने का औचित्य प्रमाणित होता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसके कार्यों तथा दैनिक कार्यकलापों में दलगत राजनीति हस्तक्षेप न करने पावे।

नया शासन १ जनवरी १९४९ में कार्यरूप में परिणत किया गया।

२५. भारत में औद्योगिक बैंक। एक गत अध्याय में हम उद्योगधन्धों में धन लगाने के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। यह बहुत समय से अनुभव

किया जा रहा है कि भारत के उद्योगधंधों को मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन आर्थिक सहायता नही मिल सकती। इंग्लैण्ड में पूंजी लगाने वाले ट्रस्टों (Investment Trusts) तथा निकासगृहों (Issue Houses) द्वारा धन देने की प्रणाली खूब प्रचलित है। जर्मनी और जापान अपने २ उद्योग धन्धों की बैंकों की सिंडिकेट [जिसे जर्मनी में कनसोटियम (Consotium) कहा जाता है] द्वारा धन से सहायता करते है। साहसपूर्ण कार्यों के भविष्य के सम्बन्ध में अपने विशेषज्ञों से रिपोर्ट लेकर वह उनको तब तक अस्थायी रूप से धन देते है, जबतक वह कारखाने काम करना आरम्भ न करें और जनता उनके शेयर स्वयं न ले ले। इसके अतिरिक्त केवल बैंक ही अपनी दीर्घकालीन अमानतों का इस कार्य के लिए उपयोग करते है।

भारत में औद्योगिक बैकिग को आजमाया गया, किन्तु उसको यहां सफलता नही मिली। इसका मुख्य कारण यह था कि हमारे बैंकों ने अपनी पूजी के अधिकांश को औद्योगिक कार्यों में खर्च कर दिया। यहां तक कि उन्होंने अपनी अल्पकालीन अमानतों को भी लगा दिया। यह प्रणाली असफल प्रमाणित हुई। अतएव भारतीय उद्योगधंधों को दीर्घकालीन ऋण देने की आवश्यकता बनी ही रह गई। इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए जुलाई १९४८ में एक इंडस्ट्रियल फाइनेंस कारपोरेशन की स्थापना की गई। यह कारपोरेशन पुनर्निवास अथवा मशीनी औजार तथा औषधियां बनाने जैसे मौलिक उद्योग धंधों को बढ़ाने में सहायता देता रहा है। ३१ मार्च १९५१ को इस कारपोरेशन के ऋण तथा पेशगी धन गत वर्ष के ३,१५ लाख रुपये की अपेक्षा ५२१ लाख रुपये थे। उनको मुख्यतया बड़े बड़े उद्योग धंधों को दिया गया था। कारपोरेशन ने नए कारखानों को बढ़ाने में सहायता नहीं दी। उसने केवल वर्तमान उद्योगधंधों को ही सहायता दी। कुछ राज्य सरकारों ने भी इंण्डस्ट्रियल फ़ाइनेंस कारपोरेशनों की स्थापना की, जबकि कुछ अन्य सरकारें ऐसा करने का प्रबन्ध कर रही हैं। उदाहरणार्थ, मद्रास में मार्च १९४९ में इण्डस्ट्रियल फाइनेंस कारपोरेशन की स्थापना की गयी। उसकी दो करोड़ रुपये की समस्त पूंजी में से राज्य सरकार ने १.०२ करोड़ रुपये दिये। साथ ही उसने ३ वर्ष तक ३ प्रतिशत प्रति वर्ष कर योग्य न्यूनतम लाभांश तथा शेयर मूल्य की गारंटी भी दी। सौराष्ट्र सरकार ने भी १९५० में एक ऐसे ही कारपोरेशन की स्थापना २ करोड़ रुपये की पूजी से एक अध्यादेश (Ordinance) द्वारा की। बम्बई, बिहार, तथा उत्तर प्रदेश ने भी इसी प्रकार की सस्थाएं बनाईं। इन सबके कार्यो का सामंजस्य अखिल भारतीय फाइनस कारपोरेशन के साथ किया जाना चाहिए और उन मध्य कोटि के तथा छोटे २ उद्योग धंधों को दीर्घकालीन ऋण देने चाहियें, जिनको सस्ती दर पर ऋण मिलना कठिन हो। इस प्रकार की सम्पूर्णता के बिना उद्योगधन्धों के बुद्धिमत्तापूर्ण विकास में बाधा आवेगी।

२६. स्टाक एक्सचेंज। स्टाक एक्सचेंज अत्यन्त उपयोगी संस्थाएं होते हैं। वह ऐसे उद्योग-धन्धों में पूंजी लगाने को प्रोत्साहित करते हैं जो पहले से ही काम करते

भारत पर यह आरोप लगाया जाता है कि वहां कीमती धातुओं को दाबकर रखा जाता है। निस्संदेह भारत कलात्मक उद्देश्य के लिए मूल्यवान् धातुओं की खपत करता है। किन्तु ऐसा ही यूरोप तथा अमरीका भी करते हैं, जिन्होंने समस्त स्वर्ण उत्पादन के कम से कम ३० प्रतिशत की उसी बीच में खपत की, जिस बीच में भारत ने कुल १८ प्रति शत की खपत की, जैसा कि उपरोक्त विद्वान् का कथन है।

जिन दिनो भारत में जान और माल की रक्षा का कोई ठिकाना नहीं था अनिसंग्रह आवश्यक था। दहेज जैसी सामाजिक प्रथाओं ने भी उसको प्रोत्साहित किया। आजकल परिस्थिति के बराबर बदलते जाने से नागरिक क्षेत्रों की दशा में बहुत सुधार हो चुका है। किन्तु यह कोई सन्तोष की बात नही है, क्योंकि आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में संग्रह की वृत्ति बहुत प्रचलित है। बचत करने तथा उपयोगी कार्यो में धन लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर संग्रह वृत्ति को अनुत्साहित किया जाना चाहिए। निम्नलिखित कार्य इस विषय में सहायक हो सकते हैं :—

(१) केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी को इस बात का विश्वास हो गया था कि भारत में संग्रह वृत्ति अधिक नहीं है। तो भी उन्होंने बैंकों में अमानतें बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया था। बैंकों की नई शाखाएं नगरों में न खोल कर ऐसे स्थानों में खोली जानी चाहिएं, जहां बैंकिंग सुविधाएं न हों। गांव के आदमी के पास पहुंचकर उसकी बचत को बैंकों में एकत्रित करना चाहिए। विशेषकर आज की स्थिति में खाद्यान्नों तथा कच्चे माल का मूल्य बढ़ जाने के फलस्वरूप तो नगरों की अपेक्षा गांवों की आय बढ़ गई है।

(२) डाकखानों को छोटे आदमियों को अधिक सुविधाएं देनी चाहियें। उसको अपनी थोड़ी सी बचत[1] को जमा करने का लालच देने के लिए ब्याज अधिक देना चाहिए।

यदि भारतीय भाषाओं में लिखे हुए चेकों द्वारा रुपया निकालने की सुविधा दी जा सकती तो इससे डाकखाने के सेविंग्स बैंक कार्य में अधिक सुविधा उत्पन्न होने के साथ-साथ जनता में साक्षरता का प्रचार भी अधिक होता।

(३) गांव में महिलाओं की सहयोग समितियां बनाने के लिए अधिक आन्दोलन किये जाने की आवश्यकता है। इससे एक ऐसे क्षेत्र में कार्य किया जा सकेगा, जिसमें अभी तक कुछ भी नहीं किया जा सका है। भारतीय महिलाएं स्वभाव से ही मितव्ययी होती हैं। यदि उनमें पूंजी लगाने की आदत को बढ़ाया जा सका तो भारत में संग्रह वृत्ति को बहुत-कुछ रोका जा सकेगा। सम्मिलित स्टाक बैंकों को महिलाओं के लिए विशेष विभाग खोलने चाहिएं, जिनकी इंचार्ज एक महिला सहायिका हो। इस प्रकार के कार्यो से महिलाओं में व्यवसाय की वृत्ति बढ़ेगी और उनको जेवरों की अपेक्षा बैंकों में रुपया रखने का प्रोत्साहन मिलेगा।

---

१. अभी पिछले दिनों ब्याज की दर डेढ़ प्रतिशत से बढ़ाकर १$\frac{3}{4}$ प्रतिशत कर देने से यह किया जा चुका है।

(४) बचत न करने की प्रकृति का सबसे अच्छा उपाय शिक्षा है। शिक्षा की वर्तमान प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है। मैट्रिकुलेशन कक्षाओं में आरम्भिक अर्थशास्त्र की शिक्षा देने से भी इसमें सहायता मिलेगी। बेकारों की इंस्टीट्यूट तथा व्यापार संघ के तत्त्वावधान में दिलाए हुए व्याख्यानों तथा पर्चे निकालने से भी लाभ ही होगा।

२८. **क्या भारत में बैंकिंग सुविधाएं पर्याप्त हैं?** जैसा कि पहले देखा जा चुका है भारत में अनेक प्रकार की बैंकिंग संस्थाएं हैं। एक प्रकार से यह विभिन्नता स्वाभाविक है। भारत एक उपमहाद्वीप है और उसके विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियां है। केवल एक प्रकार की संस्था ही सभी मनुष्यों की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। इस प्रकार हमारे पास बड़े २ संगठित बैंक, छोटे २ बैंक, देशी बैंकर और छोटे २ महाजन है। निम्नलिखित तालिका में भारत में १९५० में सारिणी सूची के बैंकों तथा अन्य बैंकों के कार्यालयों की संख्या को दिया गया है——

शैली 'क'

इम्पीरियल बैंक	३६७
विनिमय बैंक	६२
सारिणी सूची के अन्य बैंक	२,४८४
बिना सारिणी सूची के बैंक	१,७८१
को-आपरेटिव बैंक	५८३
सारिणी सूची तथा बिना सारिणी सूची के कुल बैंक	५,२७७

शैली 'ख'

सेविंग्स बैंक का काम करने वाले डाकखानों की संख्या ९,४६५

गांवों में सेविंग्स बैंक का काम करने वाले डाकखानों की संख्या ६,४०१

'क' शैली के बैंकों के १,५३४ स्थानों में ५,२७७ कार्यालय थे। इनमें से ५००० जन-संख्या वाले स्थानों पर २३७ कार्यालय थे और ऐसे स्थानों की संख्या १७१ थी। पांच सहस्र से कम जनसंख्या वाले स्थानों पर इम्पीरियल बैंक की कुल १७ शाखाएं है। अन्य सारिणी सूची के बैंक ऐसे स्थानों पर ६६ हैं। बिना सारिणी सूची के बैंक ऐसे स्थानों पर १२१ हैं तथा कोआपरेटिव बैंक ऐसे ३३ स्थानों पर हैं। विनिमय बैंकों का कोई कार्यालय ऐसे स्थानों पर नहीं है। 'ख' शैली के विषय में विचार करने पर हम देखते हैं कि १९४९ में डाकखानों की कुल संख्या २६,७६० थी। उनमें से कुल ९,४६५ सेविंग्स बैंक का काम कर रहे थे, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में उनमें से कुल ६४०१ ही थे। इन डाकखानों के क्षेत्र में दो सहस्र या अधिक जनसंख्या वाले गांवों के कुल ४० प्रतिशत गांव आते थे।

क्या देश में बैंकिंग सुविधाएं पर्याप्त हैं? इस प्रश्न का उत्तर देना सुगम नहीं है। क्योंकि इसका उत्तर देने में हमको केवल बैंकों और उनके कार्यालयों की संख्या का ही ध्यान नहीं रखना पड़ता, वरन् उनके ठोसपन, कार्य करने की परिस्थितियों तथा उनके द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं का भी विचार रखना पड़ता है। निम्नलिखित तालिका से कुछ महत्व-पूर्ण देशों की बैंकिंग परिस्थितियों का पता चलता है—

बैंकिंग कार्यालय, क्षेत्रफल तथा जनसंख्या—१९४९[1] के तुलनात्मक अंक

देश	क्षेत्रफल वर्गमीलों में (सहस्रों में)	जनसंख्या (दस लाखों में)	बैंकिंग कार्यालयों की संख्या	प्रति दस लाख जनसंख्या पर बैंकिंग कार्यालयों की संख्या	प्रत्येक बैंकिंग कार्यालय द्वारा सेवित औसत क्षेत्रफल (वर्गमीलों में)
ब्रिटेन	८९	५०	११,४६१	२२९	८
अमरीका	३,६७४	१४७	१८,९७५	१२९	१९८
कैनाडा	३,६९०	१३	३,३२३	२५६	१,११०
आस्ट्रेलिया	२,९७५	८	३३,५९०	४५०	८२७
भारत	१,२२१	३४२	५,२७३	१५.५	२३१

इस तालिका से पता चलता है कि कुछ अन्य देशों की तुलना में भारत में व्यापारिक बैंकिंग का विकास पर्याप्त नहीं है। किन्तु ग्रामीण बैंकिंग जाच कमेटी की रिपोर्ट में इस बात पर ठीक ही बल दिया गया है कि बैंकिंग कार्यालयों के सम्बन्ध में केवल क्षेत्रफल और जनसंख्या की तुलना से ही यथार्थ स्थिति का पता नहीं चलता। क्योंकि बैंकिंग सुविधाओं का विकास किसी देश के आर्थिक विकास, उसकी कृषि, उसके उद्योग धन्धों और व्यापार की दशा और उसकी राष्ट्रीय आय तथा उसके विभाजन पर निर्भर है। भारत एक आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ देश है और उसका राष्ट्रीय लाभांश कम है। अतएव भारत के निवा-सियों की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। उदाहरणार्थ, १९४६-४७ में भारत में प्रति व्यक्ति आय २२८ रुपया थी, जबकि उस वर्ष (१९३९ के वर्ष को मौलिक वर्ष मानते हुए उसकी मूल्य निर्देशक संख्या १०० मान कर) मूल्य निर्देशक अंक ३०० था। १९४८-४९ में ३७६ मूल्य निर्देशक अंक के साथ प्रति व्यक्ति आय २५५ रुपये थी। यह अधिक लोगों

१. इनके अतिरिक्त अन्य देशों की सूचना के लिए बैंकिंग जांच कमेटी की १९५० की रिपोर्ट देखो। भारत के लिए Monthly Abstract of Statistics देखो।

की आय इतनी अधिक कम है कि वह बैंकों द्वारा दी गई सुविधा से लाभ नहीं उठा सकते। अतएव यह परिणाम निकालना पड़ता है कि बैंकिंग सुविधाओं की वर्तमान रचना को "पूर्णतया पर्याप्त नहीं समझा जा सकता। यदि गत वर्षों का उनका विस्तार ठोस तथा उन्नतिशील ढंग का था और बैंकिंग सुविधाओं का विभाजन देश में समान रूप से विभक्त था।"

दुर्भाग्यवश बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार युद्ध के वर्षों में ठीक प्रकार से संतुलित नहीं रहा। बैंक शाखाएं मुख्य रूप से नागरिक क्षेत्रों में लागत तथा आय का विचार किये बिना आकस्मिक तौर पर खोल दी गई। १९४९ की कुल ५,२७७ शाखाओं में से ५००० से कम जन-संख्या वाले स्थानों में कुल २३७ शाखाएं थीं। मध्य आकार वाले कस्बों में बैंकिंग सुविधाओं को बढ़ाने से भारी लाभ होगा क्योंकि उनके चारों ओर के असंख्य गांव भी उससे लाभ उठा सकेंगे। व्यापारिक बैंक अभी तक ताल्लुका या ज़िला के प्रधान कार्यालय या कुछ मंडियों से आगे नहीं बढ़ सके हैं। गांवों की सेवा प्रायः सहकारी ऋण समितियां (Co-operative Credit Societies) और डाकखाने करते रहे हैं। अंत में हम इसी परिणाम पर आते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का पर्याप्त विस्तार नहीं किया गया और अभी इस विषय में बहुत कुछ किया जाना बाकी है।

२९. ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी (१९५०)। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास करने के साधन तथा ढंग निकालने के लिए सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट १९५० में दी। इस कमेटी की सम्मति में ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार में निम्नलिखित बाधाएं हैं—

(क) देश में कृषि का आज जिस प्रकार संगठन हो रहा है, वह एक घाटे का उद्योग है। जब तक उसको ठोस आधार पर न चलाया जावे बैंकिंग सुविधाओं की प्रभावशाली मांग उत्पन्न नहीं हो सकती।

(ख) देहाती बैंकिंग के कार्य में एक और कठिनाई **आवागमन के अच्छे साधनों** की कमी है। वहां सड़कें बहुत कम है और वह भी बारहमासी नहीं हैं।

(ग) देहाती जनता के अशिक्षित होने तथा उनकी पास बुकों, चेकों आदि से काम लेने की अयोग्यता भी उनकी बैंकिंग आदतों में बाधा पहुंचाती हैं।

(घ) ग्रामीण लोगों का दकियानूसीपन भी उनको अपना रुपया बैंकों में नहीं डालने देता। उनको केवल समय तथा शिक्षा ही ठीक कर सकती है।

(ङ) यह कहा जाता है कि गांव वाले अपनी बचत पर अपने गांव में ही सूद की ऊंची दर प्राप्त कर सकते हैं; अतएव बैंक द्वारा दी जाने वाली वर्तमान कम दर से वह आकर्षित नहीं होते।

(च) बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी नई शाखाएं इस कारण नहीं खोलते कि उनकी आय की अपेक्षा उनका खर्च अधिक बैठता है।

(छ) इम्पीरियल तथा अन्य बैंकों का यह कहना है कि ऋण के सम्बन्ध में ग्रामीण कानून बैंकों की देश में प्रगति में बाधक सिद्ध हुआ है। इन बाधाओं को निम्न प्रकार से दूर किया जा सकता है–

१. बैंकिंग संस्थाओं को सहायता–

(क) एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र को सस्ती दर पर रुपया भेजने की सुविधाएं, जिनसे ग्रामीण क्षेत्रों में धन एकत्रित किया जा सके।

(ख) इम्पीरियल बैंक तथा सरकारी खजानों तथा अर्द्ध खज़ानों के साथ इस बात का प्रबंध किया जावे कि वह ग्रामीण क्षेत्रों में नोटों तथा मुद्राओं को एक दूसरे से बदल दें। इम्पीरियल बैंक के कार्यालयों की संख्या बढ़ा दी जावे और खज़ानों के काम में सुधार किया जावे।

(ग) बैंकों को यह सुविधा दी जावे कि वह अपनी तिजोरियों को खजानों तथा अर्द्ध खज़ानों के मज़बूत कमरों में हिफ़ाजत से रख सकें।

(घ) एक गोदाम विकास बोर्ड की स्थापना करके गोदामों का विकास करने की सुविधाएं बढ़ाई जावे। इस बोर्ड के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारें तथा रिज़र्व बैंक मिल कर खर्चे का प्रबंध करें।

२. सहकारी संस्थाओं के सम्बन्ध में विशेष प्रस्ताव—आजकल सहकारी संस्थाओं को कुछ सुविधाएं मिली हुई हैं। उदाहरणार्थ, आयकर, स्टाम्प कर, और रजिस्ट्रेशन शुल्क से मुक्ति, निःशुल्क हिसाब परीक्षा तथा निरीक्षण आदि। यह प्रस्ताव किया गया है कि उनके विस्तार को प्रोत्साहित करने के लिए उनको कुछ और सुविधाएं दी जावें। उदाहरणार्थ

(क) डाकखानों द्वारा सस्ती दर पर रुपया अन्यत्र भेजने की सुविधाएं।

(ख) डाकखानों में अब से रकमों को जमा करने तथा बड़ी रकमें निकालने की और वह प्रति सप्ताह कई बार निकालने की सुविधा दी जावे।

(ग) नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेटों की बिक्री के अधिकृत एजेंटों की नियुक्ति।

(घ) जिन स्थानों में इस समय बैंकिंग सुविधाएं नही है, उनमें स्वीकृत ट्रेड कर्मचारियों को रखने के खर्चे को उठाने के लिए सहायता दी जावे।

सहकारी बैंकों तथा समितियों को मितव्ययिता तथा बचत एकत्रित करने के लिए भूतकाल की अपेक्षा अधिक ध्यान देना चाहिए।

३. डाकखाने के सेविंग्स् बैंक गांवों की बचत को एकत्रित करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होते है, क्योंकि जनता का उनमें विश्वास होता है और उनकी संख्या भी बड़ी होती है। उनके कार्यो में से केवल सेविंग्स् कार्य बैंक कार्य ही होने के कारण उनके कार्य को सस्ते रूप में ही चलाया जा सकता है। अतएव गांवों में सेविंग्स् बैंक का कार्य

करने वाले कार्यालयों की संख्या को बढ़ाना चाहिये और उनकी उपयोगिता को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित कार्य किये जाने चाहिएं--

(क) डाकखाने के कर्मचारियों को सेविंग्स् बैंक का कार्य बढ़ाने में तथा नये-नये हिसाब खोलने में अधिक दिलचस्पी लेनी चाहिए ।

(ख) नये डाकखाने प्रायः ऐसे स्थानों में खोले जावें जहां गांवों की बचत का उपयोग करने की अधिक संभावनाएँ हों ।

(ग) सेविंग्स् बैंक द्वारा उपयोग किये जाने वाले नियमों, फार्मों तथा नोटिसों में स्थानीय भाषाओं का प्रयोग अब की अपेक्षा अधिक किया जाना चाहिए ।

(घ) डाकखाने के सेविंग्स् बैंक के उपयोग का प्रचार बढ़ाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से नियमित आन्दोलन किया जाना चाहिए ।

(ङ) अमानतदारों की मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारियों तथा आधीनों को भुगतान करने तथा उनके द्वारा रुपया निकाले जाने के सम्बन्ध में नियम अत्यधिक कठोर हैं, उनको लचकीला बनाया जाना चाहिए । एक नाम से अधिक नामों के हिसाब खोलने तथा मृत्यु की दशा में उत्तराधिकारी को मनोनीत करने की अनुमति दी जानी चाहिए ।

कमेटी की अधिक महत्त्वपूर्ण सिफारिशों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है ।

(१) रिज़र्व बैंक को अपने कार्यालय भारतीय संघ में सभी बड़े राज्यों की राजधानियों में खोलने चाहियें और अपने निकास विभाग की चलअर्थ तिजोरियों की संख्या बढ़ा देनी चाहिए। (२) इम्पीरियल बैंक को अपनी शाखाएं ताल्लुका या तहसील के ऐसे नगरों में खोलनी चाहियें, जहां वह अभी न हों और जहां सरकारी व्यवसाय का परिमाण तथा व्यापारिक स्थितियां इस प्रकार के विस्तार की मांग करें । (३) व्यापारिक बैंकों तथा कोआपेरेटिव बैंकों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जावे कि वह अपनी शाखाएं ताल्लुका नगरों तथा छोटे २ कस्बों में खोलें । (४) डाकखानों के सेविंग्स् बैंक के कार्य में सुधार किये जावें और उनका उपयोग पूर्णतया किया जावे । (५) सहकारी संस्थाओं को बलवान् बनाकर उन्हें विशेष सहायता दी जावे । (६) विनिमय तथा अन्यत्र रुपया भेजने की सुविधाओं को आजकल की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप तथा अधिक क्षेत्र में विस्तृत किया जावे । अन्यत्र रुपया भेजने की सुविधा व्यापारिक बैंकों, कोआपरेटिव बैंकों तथा सोसाइटियों तथा देशी बैंकरों को भी सुगमतर शर्तों पर दी जानी चाहिए जिससे रुपये को देश के आंतरिक भाग में फैलाया जा सके । (७) गोदामों के विकास के लिए एक गोदाम विकास बोर्ड की स्थापना की जावे, जिसमें केन्द्रीय और राज्य सरकारें तथा रिज़र्व बैंक बैंकों तथा सहकारी संस्थाओं को ऋण तथा अनुदान के रूप में आर्थिक सहायता दें । और (८) रिज़र्व बैंक को सभी 'ख' भाग के राज्यों का बैंकर बनाया जावे । बैंक प्रत्येक राज्य में सरकार के रोकड़ कार्य का प्रबंध करने के लिए अपने एजेंट नियत करे । कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि निरक्षरता, आवागमन के साधनों के अभाव, प्रतिरोधी कानून

आदि ऐसी बाधाओं को दूर करने के लिए भी पग उठाए जावें, जो आज वैंकिंग संस्थाओं के विकास में बाधा डाल रही हैं। कमैटी ने यह भी प्रस्ताव किया कि बैंक के उन कार्यालयों को, जो ५०,००० से कम जनसंख्या वाले नगर में हों–राज्यों में दूकानों तथा दफ्तरों के अधिनियम (Shops and Establishments Act) की कार्यसूची से पृथक रखा जावे और न उनके ऊपर औद्योगिक अदालतों (Industrial Tribunal) के निर्णय लागू हों। कमैटी के प्रस्तावों पर अब सम्बद्ध अधिकारियों द्वारा विचार किया जा रहा है।

३०. भारतीय मुद्राबाज़ार की त्रुटियां। रिज़र्व बैंक के जन्म से पूर्व भारतीय मुद्राबाज़ार बिना किसी संयोजक आधार के बैंकिंग इकाइयों का एक ढीलाढाला संग्रह था। साहूकारों तथा देशी बैंकरो का व्यापारिक बैंकों से कोई सम्बन्ध नही था। सहकारी ऋण व्यवस्था (Co-operative Credit) देश के मुद्राबाज़ार से बिल्कुल पृथक एक इकाई थी। विनिमय वैंक विदेशी व्यापार के खर्चे के पूरे काम को चलाते थे और सम्मिलित स्टाक वैंकों की बचत का भी उपयोग करते थे। इम्पीरियल बैंक अपने सरकार के सम्बन्ध से बड़ा भारी लाभ उठा रहा था। किन्तु वह वास्तव में वैंकरों का वैंक नहीं था। वह उनके साथ प्रतियोगिता करता था और खूब लाभ कमा रहा था। वास्तव में यह "प्रत्येक अपने लिये और शैतान सबसे पीछे" वाला मामला था। इस प्रकार उसका बैंकिंग प्रणाली के साथ किसी प्रकार भी सहयोग नही था। इसके अतिरिक्त भारत में चलअर्थ तथा बैंकिंग का भी आपस में कोई संबंध नहीं था। सरकार चलअर्थ के लिए उत्तरदायी थी, किन्तु चल-अर्थ का कोई स्वयंचालित संकोच या विस्तार नहीं था। फसल के अवसर पर फसलों की देश में से गति के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी। इससे मुद्रा में ऐसी तंगी आ जाती थी, जिसे इम्पीरियल बैंक या सरकार कोई दूर नही कर सकते थे। देश की चलअर्थ प्रणाली मे इसके परिणामस्वरूप लोच का अभाव हो जाता था और उसके फलस्वरूप वर्ष के विभिन्न भागों में प्रचलित ब्याज दर तथा देश के विभिन्न भागों में प्रचलित ब्याज दर में भारी अन्तर था। ब्याज का उतार-चढ़ाव बहुत अधिक था।

उपरोक्त त्रुटियों को दूर करने के लिये १९३५ में भारत के रिज़र्व वैंक की स्थापना की गई। उक्त बैंक ने कुछ त्रुटियों को दूर किया, किन्तु उसकी स्थापना को सत्रह वर्ष हो जाने पर भी यह नही कहा जा सकता कि हमारा बैंकिंग संसार एकरस होकर काम करने वाला एक इकाई बन गया है। १९४९ के भारतीय कम्पनीज़ अधिनियम के द्वारा रिज़र्व बैंक को दिये हुए विस्तृत अधिकारों के द्वारा सारिणी सूची के बैंकों तथा बिना सारिणी सूची के बैंकों को एक साथ बांध दिया गया है।

देशी बैकर अब भी दूर खड़े हुए हैं। उनमें केवल सात ही रिज़र्व वैंक की स्वीकृत सूची में हैं। रिज़र्व वैंक देश में एक उचित हुण्डी बाज़ार बनाने में भी सफल नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि उक्त अधिनियम की धारा १७ (२) में

दिया हुआ है कि "उन विनिमय हुण्डियों (Bills of Exchange) तथा वचन पत्रों (Promissory Notes) का क्रय-विक्रय करना तथा उन पर दुबारा बट्टा लेना, जो भारत में जारी किये गये हों, और जिनका भारत में भी भुगतान किया जाता हो, और जो सच्चे व्यापारिक सौदों के कारण बनाए गए हों, जिनके ऊपर दो या अधिक अच्छे (Good) हस्ताक्षर हों, और जिनमें एक सारिणी सूची के बैंक का हो और जो बिक्री अथवा दुबारा बट्टा ली जाने के दिन से ९० दिन के अंदर २ रियायती दिनों सहित भुनाई जावे।" इस प्रकार एक आवश्यक शर्त यह रखी गई कि ग्रहण करने योग्य विनिमय हुण्डियों तथा वचन पत्रों के भुनाने की अवधि ९० दिन से अधिक न हो। तात्कालिक वचन पत्रों (Demand Promissory Notes) की कोई मियाद न होने के कारण वह ग्रहण करने योग्य नहीं थे। बैंक के द्वारा दी हुई सुरक्षा प्राप्त अथवा बिना सुरक्षा प्राप्त रकमों का अधिकांश भाग अब भी उन नकद उधार रकमों, ऋणों अथवा जमा से अधिक निकाली हुई रकमों (Overdrafts) के रूप में है, जिनको उनके अंगों द्वारा तात्कालिक वचन पत्रों के विरुद्ध स्वीकार किया गया था। निम्नलिखित तालिका में उन पेशगी रकमों तथा (Bills) बट्टा ली हुई हुण्डियों के योगफल को दिया गया है, जो चार वर्षों की प्रत्येक छमाही के अंत में सारिणी सूची के बैंकों के रिज़र्व बैंक में थे—

तारीख १	पेशगी रकमें २	बट्टा ली हुई हुण्डियां ३	३ की अपेक्षा २ का प्रतिशत अनुपात ४
२७-९-१९४६	३९२	२०	५
२७-६-१९४७	४१४	१५	४
२५-६-१९४८	४३६	१६	४
३१-१२-१९४८	४२३	१९	४
२४-६-१९४९	४४५	१५	३
३०-१२-१९४९	३९५	१५	४

भारत में हुण्डियों की ख्याति में कमी का कारण यह है कि यहां नकद उधार लेने तथा जमा से अधिक निकालने (Overdrafts) में खर्चा कम पड़ता है और सुविधा अधिक है। भारत में विनिमय की सावधि हुण्डियां (Time Bills of Exchange) तथा वचन पत्रों का प्रचलन कम हैं। इसलिए भारत के रिज़र्व बैंक को इस प्रकार की रकमें देने के अवसर बहुत कम आते हैं।

इसके विपरीत रिज़र्व बैंक ने सारिणी सूची के बैंकों तथा कोआपरेटिव बैंकों को ट्रस्टी प्रतिभूतियों (Trustee Securities) के विरुद्ध बहुत बड़ी रकमें दी हैं। रिज़र्व बैंक को ऐसे वचन पत्रों के विरुद्ध अगाऊ धन (Advances) देने का अधिकार है, जिनको ऐसे माल के स्वामित्वाधिकार के कागज़ों का समर्थन प्राप्त होता है, जिनको

बैंक को इन बैंकों द्वारा दिये हुए नकद उधार के लिए ज़मानत के तौर पर देने के लिए प्रतिज्ञा की होती है। किन्तु वह स्वयं माल के विरुद्ध रकम नही दे सकता। कानूनी तौर से सारिणी सूची के बैंक ऐसे माल के प्रति स्वामित्वाधिकार का कागज (Document of Title) किसी प्रकार का भी नहीं बना सकते। किन्तु जब गोदामों की स्थापना हो जावेगी तो सारिणी सूची के बैंक इस व्यवस्था से लाभ उठा सकेंगे। कुछ राज्यों ने पहिले ही गोदामों के कानून पास कर दिये है, जब कि अन्य राज्यों में इस मामले पर गंभीरता से विचार किया जा रहा है।

३१. पुनर्निर्माण तथा विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक। महायुद्ध को समाप्त हुए कई वर्ष बीत जाने पर भी पुनर्निवास की आवश्यकता वैसी ही आवश्यक बनी हुई है। इस समस्या को केवल राजनीतिक उपायों से ही तब तक हल नही किया जा सकता, जब तक उनके साथ आर्थिक पुनर्निर्माण के उपायों से भी काम न लिया जावे। इस प्रकार के उपायों की आवश्यकता को अनेक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन करके स्वीकार किया गया था। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर कार्यालय (I L.O.) सैन फ्रांसिस्को में, हवाना में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संगठन (I.T.E.), ब्रैटन वुड्स कांफ्रेंस तथा पुनर्निर्माण तथा विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की रचना थे।

बैंक का प्रयोजन युद्ध-ध्वस्त राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्थाओं का पुनरुद्धार तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों का विकास है। वह इन दोनों उद्देश्यों के लिए अपने सदस्य राष्ट्रों को दीर्घकालीन ऋण देगा। इस प्रकार वह एक युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था से शान्तिकालीन युद्ध-व्यवस्था के बीच साल परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करने में सहायता देगा। साथ ही वह "सदस्य राष्ट्रों के इलाकों में श्रमिकों की दशाओं तथा उनके जीवन मान तथा उत्पादकता को बढ़ाने में" भी सहायता देगा। वह शत्रु द्वारा विध्वस्त अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण के लिए लिये जाने वाले ऋणों को प्राथमिकता देगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पिछड़े हुए क्षेत्रों की विकास योजनाओं पर उचित रूप से विचार नही किया जावेगा। इसके अतिरिक्त उधार-पट्टा हिसाब (Lend Lease Account) तथा विपरीत उधार-पट्टा हिसाब (Reverse Lend Lease Account) तथा हिसाब संतुलन के भुगतान में समानता को बनाए रखने की समस्याओं के लिए भी दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की आवश्यकता है। इन उद्देश्यों के लिए तथा स्थायी बहुद्देशीय आधार पर विश्व व्यापारिक सम्बन्धों को फिर स्थापित करने के उतने ही महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का निर्माण अत्यन्त आवश्यक था।

यह तय किया गया कि उसके वर्तमान सदस्य बैंक को ७६७ करोड़ डालर[1] एकत्रित

---

१. ३१ मार्च १९५१ को उसके सदस्यों की कुल संख्या ४९ थी। उसकी स्वीकृत पूंजी बढ़ा कर ८४५.१ करोड़ डालर तक बढ़ा दी गई।

करके दें। इसमें से १९४६ में कुल १० प्रति रकम मांगी गई। प्रत्येक राष्ट्र से यह अनुरोध किया गया कि वह अपनी आरंभिक मांग का ३ प्रतिशत अपने राष्ट्रीय चलअर्थ में चुकावे और शेष रकम अमरीकन डालर अथवा स्वर्ण में चुकावे। भारत का अपना कुल भाग (Quota) ४० करोड़ डालर तय किया गया। कुछ अन्य देशों का निश्चित भाग यह था–अमरीका २४३.५ करोड़ डालर, ब्रिटेन का १०० करोड़ डालर, चीन के ६० करोड़ डालर, फ्रांस के ४५ करोड़ डालर इत्यादि। भारत को आरंभ में ४ करोड़ डालर देने को कहा गया। इसमें से उसे ८० लाख डालर स्वर्ण अथवा अमरीकन चलअर्थ में १२० लाख डालर स्वर्ण में तथा दो करोड़ डालर रुपये में चुकाने थे। यह विचार किया गया कि यदि भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I. M. F.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का आरंभ में ही सदस्य बन जावे तो उससे उसे लाभ ही रहेगा। अतएव दिसम्बर १९४५ में भारतीय विधान सभा (Legislative Assembly) विसर्जित हो चुकने के कारण सरकार ने बैंक में भाग लेने के लिए एक अध्यादेश निकाला।

बैंक को पारस्परिक सहायता का साधन बनना है। उसके पास डालर ऋण के ऊपर ऋण परिशोध तथा ब्याज चुकाने के लिए पर्याप्त नकद धन तथा सुरक्षानिधि अनेक वर्षों तक के लिए है। आवश्यकता के समय वह अपने सदस्यों से उस पूंजी की मांग कर सकता है, जिसको मौलिक रूप से नहीं मांगा गया है। अकेले अमरीका का ही इस प्रकार का भाग १५० करोड़ डालर अतिरिक्त बैठता है। बैंक व्यक्तिगत पूजी लगाने वालों के हाथ वचन पत्र (Bonds) बेचकर और भी अधिक धन प्राप्त कर सकता है।

बैंक अपने समस्त साधनों से सदस्य राष्ट्रों को उनके—कच्चे माल, यातायात सुविधाओं, इंधन, शक्ति, कारखानों, बेकार मनुष्य शक्ति, वर्तमान यांत्रिक तथा प्रबन्ध सम्बन्धी हस्त कौशल जैसे उपलब्ध साधनों का उपयोग करने में इस प्रकार सहायता देगा कि वह युद्धपूर्व काल के अथवा उससे भी अधिक स्तर को प्राप्त कर सकें। उसके विकास के ऋण मुख्य रूप से एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका जैसे भूमण्डल के कम विकसित क्षेत्रों के लिए तथा ऐसे स्थानों में उत्पादक सुविधाओं का निर्माण करने के लिए, जहां उनका अस्तित्व ही नहीं है अथवा वर्तमान सुविधाओं के विस्तार के लिए हैं। वह सदस्य राष्ट्रों को 'अच्छे खतरे' के आधार पर व्यावसायिक उद्योग के रूप में ऋण देता है। इस प्रकार उसने विकास कार्यो के लिए पूंजी चाहने वाले विभिन्न देशों को लम्बी अवधि के ऋण दिये है। उदाहरणार्थ, उसने मैक्सिको को विद्युत् शक्ति के विकास के लिए ३४१ लाख डालर का ऋण दिया। उसका प्रथम तथा सबसे बड़ा ऋण २५ करोड़ डालर का फ्रांस को दिया गया था। उससे अगला २६ करोड़ ३० लाख डालर का ऋण नीदरलैंड्स्, डेन्मार्क, लक्सेम्बर्ग तथा चाइले को दिया गया था। १९४९-५० के ९४० लाख डालर के मुकाबले १९५०-५१ में उसने ३४५७ लाख डालर के ऋण दिये। यह ऋण १५ वर्ष से लगा कर २० वर्ष तक के लिए दिय गए। उसका भाव २½ प्रतिशत से लेकर ४¼ प्रतिशत

तक विभिन्न प्रकार का था। साथ ही उसमें एक प्रतिशत कमीशन भी दिया जाता था, जिसे बैंक की विशेष सुरक्षा निधि में जोड़ दिया जाता था।

ऋण देने से पूर्व बैंक न केवल व्यक्तिगत विशेष योजना की वरन् स्वयं उस देश की आर्थिक तथा मुद्रा सम्बन्धी दशा की भी गहरी जांच करता है। यह कागजी साक्षी से ही संतुष्ट नही होता, वरन् उक्त समस्या का सीधे अध्ययन करने के लिए प्रतिनिधि-मण्डल भेजता है। वैंक तबतक उधार देने को तैयार नहीं होता जब तक उसको यह विश्वास न हो जावे कि (क) उधार लेने वाले देश की अर्थव्यवस्था सामूहिक रूप से ठोस तरीके से चलाई जा रही है और उसकी नीति तथा कार्य दोनों ही इस विश्वास के लिए दृढ़ आधार प्रदान करते है कि यदि देश इस समय कुछ कठिनाइयों में है तो वहां शीघ्र ही संतोषजनक परिस्थिति उत्पन्न हो जावेगी; (ख) अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण अथवा विकास के लिए सामूहिक योजना पर विचार किया जा रहा है और उसको इस प्रकार चलाया जा रहा है कि उससे अर्थ व्यवस्था का मौलिक ठोसपना बढ़ जावेगा; (ग) बैंक से जिस योजना अथवा योजनाओं के बड़े कार्यक्रम के लिए उधार मांगा गया है उसको यांत्रिक रूप से अत्यंत सावधानी से तैयार किया गया है और वह आर्थिक रूप से तथा मितव्ययिता की दृष्टि से उचित है।

अतएव यह मौलिक रूप से महत्त्वपूर्ण है कि एक उन्नति करने वाला देश अपने वजट की रचना पर मजदूरियों तथा मूल्यों के बीच स्वस्थ तथा स्थायी सम्बन्धों के अस्तित्व पर ; अपने माल, यातायात तथा शक्ति के उपलब्ध साधनों के प्रभावपूर्ण उपयोग पर ; उसकी सीमाओं के अन्दर माल के प्रवाह तथा उनको पार करने वाले आयातों तथा निर्यातों के परिमाण तथा रूप पर; उसके भुगतान के संतुलन के विकास पर तथा उसकी अर्थ-व्यवस्था के स्वास्थ्य के प्रदर्शक राष्ट्रीय जीवन के सभी विभिन्न रूपों पर बराबर आलोचनात्मक दृष्टि रखता है।

बैंक के उपप्रधान मि० होर (Mr. Hoar) भारत में १९४९ में आए थे। उन्होंने भारत सरकार को विश्वास दिलाया था कि बैंक इतना अयथार्थवादी नहीं था कि वह पूर्णता की आशा करे, किन्तु उसने एक यथार्थवादी के रूप में तथ्यों पर ध्यान देने की आशा की और उसने उन कार्यों को ठीक करने के लिए दृढ़ता से आगे बढ़ने के लिए जो उसकी अर्थ व्यवस्था के स्वस्थ विकास में बाधक थे—बुद्धिमत्तापूर्ण नीति को निश्चित किया। उसने प्रस्ताव किया कि किसी योजना के लिए तब तक वचन न दिया जावे, जब तक (१) वह ठोस विकास के साधारण नमूने के रूप में सिद्ध न हो जावे; (२) वह आवश्यक सिद्ध हो जावे; (३) वह उन्नतिशील सिद्ध हो, (४) यह सिद्ध हो जावे कि उसका कार्य ऐसी निश्चित अवधि में हो जावेगा, जिसमें किसी अन्य अपवाद की अपेक्षा परिणाम आवश्यक तथा अधिक संतोषजनक होंगे। (५) उसका प्रतियोगिता करने वाले तथा सहायक अन्य योजनाओं से सम्बन्ध हो; और (६) योग्य परामर्शदाताओं, ठेकेदारों

तथा इंजीनियरों से काम लेने के लाभ के विषय में हिसाब लगाकर उसके मूल्य को लगा लिया गया है। भारत के हाथ में जो इस समय विकास योजनाएं हैं, उनकी जांच अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा भेजे हुए मिशन ने की थी और उसने १९४९ और १९५० में नदी घाटी योजनाओं के भावी विकास के लिए एक करोड़ ८५ लाख डालर ऋण देना स्वीकार किया था। बैंक ने भारतीय योजनाओं के कार्य का मूल्य १९५१ में लगाकर उसे संतोषजनक बतलाया था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I. M. F.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक दो स्वतंत्र संस्थाएं हैं। कोष भुगतानों के संतुलन में अस्थायी असमानता को दूर करने के लिए अल्प अवधि के ऋण देता है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय बैंक या तो विशेष योजनाओं के लिए अथवा अपने एक सदस्य राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण तथा विकास करने के लिए साधारणतया दीर्घकालीन आधार पर ऋण देता है।

बैंक द्वारा किसी विशेष देश को दिये जाने वाले ऋण का परिमाण बैंक में उसकी शेयर पूंजी से सम्बन्धित नहीं किया जाता। १९४८-४९ से आगे बैंक ने युद्ध-जर्जर-अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण की अपेक्षा–जिस उद्देश्य की पूर्ति में वह पहिले बराबर लगा रहता था—पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास की ओर अधिक ध्यान देना आरंभ किया। अभी २ बैंक ने अपनी ऋणनीति में परिवर्तन किया है। छोटे तथा मध्य आकार वाली औद्योगिक इकाइयों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए बैंक ने इसी उद्देश्य के लिए विशेष रूप से बनाई हुई संस्थाओं को ऋण दिया, जैसे इथिओपिया और टर्की में, अथवा बैंकों के संघ को, जैसे मैक्सिको में, जिन्होंने ऋण को बाँट दिया। यह इकाइयां प्रतिभूतियों के बाजार में जाने के लिए अत्यन्त छोटी थीं, किन्तु जिनकी पूंजी की आवश्यकताएं इतनी बड़ी थीं कि उनके मालिक उनको पूरा करने में असमर्थ थे। बैंक ने जो अगस्त १९५० में साधारण उन्नति सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए आस्ट्रेलिया को १० करोड़ डालर का ऋण दिया था, वह भी एक नई बात थी।

इस प्रकार प्राप्त अनुभव के आधार पर बैंक संसार भर में अपनी उपयोगिता को बढ़ा रहा है।

बत्तीसवाँ अध्याय

भारतीय मूल्य

१. मूल्य समस्या की जटिलता । मूल्यों का अध्ययन सदा ही एक जटिल समस्या रहा है। देश के विभिन्न भागों में उसके विस्तृत परिमाण तथा जीवन के व्यय में भारी अन्तर होने के कारण यह समस्या और भी अधिक जटिल है। इस प्रकार बम्बई, कलकत्ता तथा अन्य स्थानों के मूल्य-सूचक अंकों में पर्याप्त अन्तर रहता है। केवल कुछ वर्ष पूर्व ही भारत सरकार के आर्थिक परामर्शदाता ने अखिल भारतीय मूल्य-सूचक अंकों को निकालना आरंभ किया था।

मूल्यों का अध्ययन अनेक दृष्टिकोणों से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसकी विभिन्नताओं से देश में आर्थिक दशाओं का पता चलता है और उससे हम उनकी विदेशी मूल्यों के साथ तुलना कर सकते हैं। उनसे सरकार को भूमिकर तथा अन्य करों का अनुमान लगाने में सहायता मिलती है और उसी परिमाण में उनको न्यूनाधिक किया जाता है। वह चलअर्थ के संकोच या विस्तार पर प्रकाश डालते हैं और सरकार की नियंत्रण नीति को ढालने में सहायता देते हैं।

२ मूल्यों की ऐतिहासिक आलोचना । (क) **१८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध से पूर्व का समय**—भारत में सड़कों तथा रेलों के निर्माण से पूर्व मूल्यों का नियंत्रण प्रथाओं द्वारा किया जाता था। एक वर्ष से दूसरे वर्ष में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान में भारी विभिन्नताएं थीं। उन दिनों वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना कठिन तथा व्ययसाध्य था। अतएव स्थानीय उत्पादन की दशाएं ही मूल्यों का नियंत्रण करती थीं। प्रायः ऐसा होता था कि एक ज़िले में अन्न अत्यधिक होता था और उसके पास के ही दूसरे ज़िले में अकाल पड़ जाता था।

(ख) **१८६० से १८९९ तक के मूल्य**—रेलों तथा सड़कों के बन जाने पर भारतीय ग्रामों का शेष प्रदेश से कटे रहना क्रमशः कम होने लगा। तौ भी बहुत समय तक देहाती क्षेत्रों में वही प्रथाएं तथा स्थितियां बनी रहीं, जब कि प्रतियोगिता तथा ठेके बड़े २ नगरों में शासन करते रहे। भारत संसार के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा सम्पर्क में आया। अस्तु, विश्व घटनाओं ने भारतीय मूल्यों पर प्रभाव डालना आरंभ किया और जो मूल्य सूचक अंक १८७३ में १०० था, वह १८९३ में बढ़कर १०५ हो गया।

(ग) **१८९३-१९१३—मूल्यों में शीघ्र होने वाली तेजी—दत्ता मूल्य अन्वेषण कमेटी—(१९१०)**—गत शताब्दी में धीरे २ चढ़ने वाले मूल्य १८९३ में कुछ स्थिर हो

गए। इससे पूर्व खाद्यान्नों के मूल्य अकाल के समय ही चढ़ते थे। किन्तु अच्छी वर्षा होने पर गिर जाते थे। अब वह बिना गिरे हुए बराबर चढ़ते ही जाते थे और देश में "बिना अकाल के ही अकाल जैसे मूल्य बने रहते थे।" मिस्टर गोखले ने सरकार का ध्यान इस असाधारण परिस्थिति की ओर आकर्षित किया था। उन्होंने मूल्य चढ़ने का कारण रुपये के सिक्कों का अधिक ढालना बतलाया था। इस प्रकार की आकस्मिक मुद्रास्फीति के फलस्वरूप मूल्यों का चढ़ना अनिवार्य था। अतएव सरकार ने मिस्टर के. एल. दत्ता को मूल्यों के इस असाधारण चढ़ने के कारणों की जांच करने के लिए नियुक्त किया। उन्होंने अपनी रिपोर्ट १९१४ में दी और यह अनुमान लगाया कि मूल्यों में तेज़ी आने का कारण कुछ तो (क) विश्व भर की साधारण स्थिति थी तथा कुछ (ख) भारत के लिए विशेष कारण थे।

मिस्टर दत्ता ने भारत में चढ़ने वाले मूल्यों की कुछ अन्य देशों के मूल्यों से तुलना करके यह बतलाया कि भारत के मूल्य अन्य देशों से अधिक थे।

विश्व मूल्यों में तेज़ी के कारण यह थे—(१) कृषि पदार्थों की बढ़ी हुई मांग की तुलना में उन वस्तुओं का कम मिलना, (२) स्वर्ण तथा चल अर्थ का देश में पहिले से अधिक परिमाण में उपलब्ध होना, (३) बैंकिग तथा उधार लेने की सुविधाओं का विकास और इसीलिए बाजार के चलन में मुद्रा का बढ़ जाना, और (४) रूस-जापान तथा बोअर युद्ध जैसे युद्धों के कारण माल का विशाल परिमाण में विनाश।

किन्तु भारत में मूल्य चढ़ने के मिस्टर दत्ता की सम्मति में कुछ विशेष कारण भी थे। जो यह थे—(१) कुसमय वर्षा के कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी, खाद्य फसलों के बदले खाद्येतर फसलों का बोया जाना तथा घटिया भूमि में खेती करना;

(२) जनसंख्या के बढ़ जाने तथा वस्तुओं के मान के बढ़ जाने के कारण मुख्य वस्तुओं की मांग बढ़ जाना।

(३) रेलों तथा जहाज़ों के यातायात साधनों का विकास तथा माल के किरायों में कमी।

(४) तथा बैंकिंग एवं साख का विस्तार।

सरकार इस दृष्टिकोण से सहमत नही थी कि मूल्य चढ़ने के कारण अन्तर्देशीय थे। उनका कहना था कि इन वर्षों में नहरों से सिंचाई किये जाने वाले प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग दुगुना होगया था। अतएव खाद्य वस्तुओं की फसलों में कमी नहीं हो सकती थी। उनका कहना था कि भारत में मूल्य बढ़ने का कारण विश्व स्थिति तथा साख में वृद्धि थे।

तथ्य यह था कि १८९३ में रुपये को सांकेतिक मुद्रा बना दिया गया था और उसका गलाना बंद हो गया था। इसके अतिरिक्त सरकार भी बराबर रुपये ढाल रही थी। सन् १९०० से लेकर १९०८ तक १०० करोड़ रुपये बाज़ार में और आ गए। मूल्य वृद्धि का

मुख्य कारण यही था—मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) अपने रूप को प्रमाणित कर रहा था।

(घ) **प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९)—मूल्यों में भारी तेजी**—युद्ध के वर्षों में अभूतपूर्व तेज़ी आई, इसके कारण निम्नलिखित थे—

(१) **चल अर्थ में वृद्धि**—१९१४ में भारत में चलने वाले नोटों की संख्या २३७ करोड़ थी। यह संख्या १९१६ में २६५ करोड़ तथा १९१९ में ३६२ करोड़ हो गई। सरकार का नोटों के निकालने पर एकाधिकार होने के कारण वह "क्रयशक्ति के कृत्रिम निर्माण" तथा "कागजी चलअर्थ को पानी दे २ कर"[1] अपनी युद्ध की आवश्यकताओं का खर्चा पूरा कर रही थी। इस समय चल अर्थ के अतिरिक्त साख का भी विस्तार हुआ। क्योंकि बैंक अपने ग्राहकों को युद्ध ऋण के सर्टीफिकेटों तथा कोष-पत्रों (Treasury Bills) के विरुद्ध ऋण देते थे।

(२) **आयातों म कमी**—पक्के माल का आयात युद्ध पूर्वकाल के स्तर पर नहीं किया जा सकता था। युद्ध के द्वारा किये हुए विनाश तथा शस्त्रों का उत्पादन बढ़ जाने से मज़दूरों की कमी के कारण आयातों का देश में आना असंभव हो गया।

(३) समुद्र के ऊपर अणु रक्षा बढ़ जाने के कारण बीमे की किश्तों के साथ २ माल किराये की दर भी बढ़ गई। जिसके परिणामस्वरूप मूल्य चढ़ गया।

(४) सरकार द्वारा आयातों तथा निर्यातों पर पाबंदी लगा देने से भी वस्तुओं की भारी कमी हो गई, जिससे तेज़ी आई।

(ङ) **१९२० से लेकर १९२९ तक के मूल्य—मूल्यों के गिरने की दशा**—विश्व मूल्यों की तेज़ी अब अनिवार्य रूप से नीचे की ओर आने लगी। इस समय देशों ने मुद्रा संकोच (Deflation) की नीति को अपनाया, जिससे मूल्य और भी कम हुए। भारत, ब्रिटेन, अमरीका तथा अन्य देशों के मूल्य एक दूसरे के साथ २ क्रमशः गिरने लगे।

(च) **१९२९ से लेकर १९३९ तक के मूल्य**—१९२९—३३ **की भारी मंदी**—१९२९ में वाल स्ट्रीट न्यूयार्क में शेयरों तथा प्रतिभूतियों के दाम गिरे, जिससे मूल्यों में और भी गिरावट आई। व्यापार में फुलाव और मूल्यों में मंदी के कारणों पर पहिले ही वादविवाद[2] किया जा चुका है। भारत इस समय कठिन स्थिति में था। रुपया पौंड के साथ एक शिलिंग ६ पैंस की दर पर बंधा हुआ था। यदि अनुपात १ शिलिंग ४ पैंस का होता तो भारत को मूल्यों तथा निर्यातों में १२॥ प्रतिशत का लाभ होता। प्रबल लोकमत होते हुए भी सरकार १ शिलिंग ६ पैंस से ही चिपटी रही। देश में राजनीतिक गड़बड़ियों के कारण

---

१. Jather and Beri: Indian Economics, Vol. II, p. 395.

२. भारत के व्यापार वाला अध्याय देखो।

भी मूल्यों में स्थिरता न आ सकी। कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारत को अधिक हानि हुई, क्योंकि पक्के माल की अपेक्षा कृषि पदार्थों के मूल्य अधिक गिरे। १९३१ में तो मूल्य १९२३ के स्तर की अपेक्षा भी नीचे आ गए। यहां तक कि १९३४ में वह सबसे नीचे थे, जबकि वह १९२३ के १०० की अपेक्षा ८७ थे। ब्रिटेन तथा अमरीका जैसे निर्माता देशों में मूल्य इतने अधिक नहीं गिरे। वहां वह १०३ से अधिक नीचे नहीं आए।

मूल्यों के गिरने का प्रभाव—मूल्यों में धीरे २ गिरावट आने से बड़ी २ हानियां होती हैं। उनके कारण सामाजिक अन्याय होता है, ठेके गड़बड़ा जाते हैं और संकट पैदा हो जाता है। मूल्य गिरने से भारतीय किसानों की दशा अत्यन्त विषम हो गई। भारतीय जनता में उनकी बड़ी भारी संख्या है। यदि वह दुःखी है तो समस्त देश दुःखी है। मंदी के समय उसकी आय घट गई, किन्तु भूमि कर तथा आबपाशी कर वही बने रहे। ठेके का आधार होने के कारण भूमि का लगान नहीं घटा। पहिले लिए हुए उधार का ब्याज भी नहीं बदल सकता था। अतएव वह अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण नहीं कर सकता था और उसकी दशा स्थिरता से और भी खराब हो गई। इस विषय में बड़े ज़मींदार की स्थिति भी उसके निर्धन पड़ोसी से अच्छी नहीं थी।

व्यापारी लाभ पर माल नहीं बेच सकता था। ग्राहक कम हो जाने से उसकी दुकान में एक ही माल बहुत दिनों तक पड़ा रहता था। इसका प्रभाव निर्माता पर पड़ता था। अतएव कारखानों में माल के अम्बर जैसा हो गए और उनको लाभ पर साफ नहीं किया जा सकता था।

केवल स्थायी नौकरी वाले कर्मचारी ही लाभ में थे, किन्तु वह समस्त जनसंख्या का बहुत थोड़ा अनुपात थे।

चुंगी कर तथा आबकारी कर, आय कर तथा रेलवे की आय सभी में कमी हुई, जिससे सरकार भी अत्यन्त कठिन स्थिति में पड़ गई। कर सभी क्षेत्रों में बढ़ा दिये गये तथा वेतनों में भी कटौती की गई। निर्यात घट गया तथा भारत द्वारा ब्रिटेन में किये जाने वाले व्ययों (Home Charges) को नहीं चुकाया जा सका। देश से स्वर्ण का निर्यात होने से विदेशी विनिमय को कुछ सहायता मिली और उसने सरकार की विदेशों में साख की रक्षा की।

१९३६ के बाद मूल्य में कुछ उन्नति देखने में आई। किन्तु १९३७-३८ के समय मूल्य फिर कम हुए। उस समय मंदी का समय फिर लौट पड़ा। केवल द्वितीय महायुद्ध के समय ही भारत तथा शेष संसार में १९३९ में मूल्य अंतिम रूप में चढ़ने आरंभ हुए।

३. द्वितीय महायुद्ध के समय मूल्य। युद्ध घोषणा के ठीक बाद मौलिक वस्तुओं तथा बने हुए माल दोनों के ही मूल्य चढ़ गए। इसका मुख्य कारण सट्टा था। क्योंकि माल की अब भी कोई कमी नहीं थी। कुछ समय पश्चात् स्थिति शांत हो गई और बढ़े हुए मूल्य

गिरने लगे। इस प्रकार युद्ध आरंभ होने के पन्द्रह मास बाद दिसम्बर १९४० में मूल्य दिसम्बर १९३९ की अपेक्षा भी कम थे।

१९४१ में मूल्य एक बार फिर चढ़ने लगे। इसका कारण था ब्रिटेन का भारत के बाजार में मोल लेने वाले ग्राहक के रूप में प्रवेश। उसके भारत में माल लेने से एक ओर तो भारत के चलअर्थ में वृद्धि हुई और दूसरी ओर उपलब्ध माल के परिमाण में कमी आ गई और इसके परिणामस्वरूप मूल्य चढ़ गए।

दिसम्बर १९४१ में जापान धुरी शक्तियों की ओर से युद्ध में आ कूदा। इससे युद्ध भारत के अधिक समीप आ गया। इसके परिणामस्वरूप १९४२ में वस्तुओं में मूल्य अत्यधिक बढ़ गए। १९४२ में वस्तुओं के मूल्य अत्यधिक ऊंचे थे। किन्तु अभी स्थिति अशुभ से अशुभतर होनी थी। और १९४३ में मूल्य आकाश में चढ़ने लगे, जिससे निर्धनों को अकथनीय कष्ट होने लगे।

आरंभ में भारत सरकार ने मूल्यों को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में उन्होंने ऐसा करना उचित नहीं समझा। उनका विचार था कि मंदी के दिनों में मूल्य घट जाने से उत्पादकों को भारी हानि हुई थी, अतएव अभी उनको कुछ लाभ उठाने दिया जावे। बाद में १९४३ में जब मूल्य अत्यधिक चढ़ गए और देश में मुद्रा प्रसार हो गया तो सरकार ने मूल्यों को रोकने का प्रयत्न करना आरंभ किया। इस समय तक भारत को बर्मा के खाद्यान्न मिलने बंद हो गए थे, खाद्य स्थिति बहुत खराब हो गई थी और बंगाल में अकाल मुंह बाए खड़ा था "जो कि इतने भारी परिमाण में मनुष्यों के कष्ट तथा मृत्यु से अत्यधिक परिचित इस युग में भी एक बड़ी भारी विपत्ति माना जाता रहेगा। सन् १९४३ में वह एक शत्रु के रूप में फिर प्रगट हुआ—जिसके लिए प्रायः यह समझा जाता था कि वह अंतिम रूप में गायब हो चुका है। वह पूर्णशक्ति से प्रगट हुआ और उसके शिकार सहस्रों की संख्या में भारत के सबसे बड़े नगर कलकत्ते की गलियों में पड़े हुए थे।"[1] इस अकाल के साथ ही मलेरिया, चेचक तथा हैजे की महामारियां भी फैलीं और उनमें भी लाखों व्यक्ति मर गए। किन्तु "समाज के एक वर्ग को ही भूखे मर जाने का कष्ट पहुंचा—वह ग्रामीण क्षेत्रों का निर्धन वर्ग था"[2] क्योंकि वह अन्न मोल लेने योग्य नहीं थे।

सरकार ने वस्तुओं के चढ़ते हुए मूल्यों को रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने माल के वितरण को नियमित करने तथा क्रयशक्ति जनता के हाथ में से साफ करने का यत्न किया। अंत में १९४३ के अंतिम महीनों में मूल्यों के चढ़ते हुए प्रवाह को कुछ समय के लिए रोक दिया गया। किन्तु बाद में मूल्य बराबर तब तक चढ़ते रहे कि मूल्य निर्देशक अंक (General Index Number) १९४४-४५ में २४५ तक जा पहुंचा।

---

१. Woodhead—Famine Inquiry Commission Report on Bengal, Vol. I.

२. आधार : Report on Currency and Finance 1951.

निम्नलिखित तालिका से युद्ध के वर्षों में मूल्य चढ़ने का पता चलता है—

तालिका एक

थोक मूल्यों के मूल्य सूचक अंक

(आधार—१९ अगस्त १९३९ को समाप्त होने वाला सप्ताह=१००)

वर्ष	कृषि पदार्थ	कच्चा माल	मौलिक पदार्थ	पक्का माल या तैयार किया हुआ माल	साधारण मूल्य सूचक अंक
१९३९–४०	१२७.५	११८.८	१२४.२	१३१.५	१२५.६
१९४०–४१	१०८.६	१२०.५	११३.४	११९.८	११४.८
१९४१–४२	१२४.२	१४६.९	१३२.५	१५४.५	१३७.०
१९४२–४३	१६६.२	१६५.९	१६६.०	१९०.४	१७१.०
१९४३–४४	२६८.४	१८५.०	२३२.५	२५१.७	२३६.५
१९४४–४५	२६५.४	२०६.०	२४०.५	२५८.३	२४४.२
१९४५–४६	२७२.८	२१०.१	२४६.४	२४०.०	२४५.०

४. द्वितीय युद्धकाल में मूल्य चढ़ने के कारण। मूल्यों में उतार-चढ़ाव कई कारणों के एक साथ मिल जाने से हुआ कहते हैं। उसके लिए किसी एक कारण को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उनमें से अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण यह हैं—

(क) **मुद्रा स्फीति**—एक नये लेखक ने मुद्रा स्फीति की परिभाषा करते हुए लिखा है "देश के चलअर्थ अथवा विधिग्राह्य मुद्रा, विशेषकर कागज़ी मुद्रा के—जिसको विशुद्ध रूप से सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर निकाला जाता है और जिसे साधारणतया बजट के वर्तमान घाटे को पूरा करने के लिए बनाया जाता है—चलन में अत्यधिक तेज़ी करना।" ऐसी स्थिति में व्यवसाय या व्यापार की आवश्यकता के बिना ताजे नोट निकाले जाते हैं। युद्ध के वर्षों में यह स्थिति थी। ब्रिटिश सरकार ने जो या तो अपनी अथवा अपने मित्रराष्ट्रों की ओर से उन वर्षों में माल और सेवाएं भारत में मोल लीं थीं, उसी से उन दिनों नोटों का प्रसार अधिक बढ़ गया। वह भारत के माल का मूल्य माल के रूप में चुकाने में असमर्थ थे। इसी कारण लंदन में भारत की स्टर्लिंग सम्पत्ति इतने अधिक परिमाण में एकत्रित हो गई। इस सम्पत्ति ने ब्रिटिश बजट के घाटे को पूरा करने में सहायता दी और ब्रिटिश मूल्यों को चढ़ने से रोके रखा।

(ख) **माल की कमी**—सभी प्रकार के उपभोक्ता माल—आयात किये हुए और स्थानीय रूप से बनाए हुए सभी की कमी पड़ गई। इसमें

खाद्यान्नों की कमी—कुछ वर्षों से भारत खाद्यान्नों के विषय में आत्मनिर्भर नहीं है। वह बर्मा, मलाया और थाईलैण्ड[1] से १५लाख टन से लेकर २५लाख टन तक चावल मंगवाया करता था। जापान द्वारा इन देशों पर कब्जा किये जाने के कारण भारत के खाद्यान्नों की पूर्ति में भारी खाई पड़ गई। इस हानि के अतिरिक्त स्वयं भारत के अपने उत्पादन में भी कमी हो गई। भारत की औसत खाद्य पूर्ति में यह वास्तविक खाई पड़ जाने पर भी उसको ईराक, बेहरीन, सीलोन और दक्षिणी अफ्रीका[2] को खाद्यान्नों का निर्यात करना पड़ता था। इससे उसका खाद्यान्नों का घाटा और बढ़ गया और उसमें अकाल की स्थिति उत्पन्न होने लगी।

(२) **आयातित पक्के माल की कमी**—१९४२-४३ में भारत के समुद्री व्यापार के परिमाण में भी भारी कमी आ गई। इस विषय में आयातों में भारी कमी आई। १९४० से लेकर १९४३ तक के आयातों के परिमाण और मूल्य स्तर के विषय में निम्नलिखित मूल्य सूचक अंक ध्यान देने योग्य हैं :—

तालिका तीन

आयातों का परिमाण

(आधार : १९३८-३९=१००)

	१९४०–४१	१९४१–४२	१९४२–४३
आयातों का परिमाण	८१.३	७४.२	३७.६
प्रतिशत कमी	—२०.३	—८.३	—४९.३
मूल्य स्तर	१२६.७	१५३.४	१९२.९

इन अंकों से पता चलता है कि विदेशी माल के आयात में १९३८-३९ के आधार वर्ष (Base year) की अपेक्षा ३७.६ प्रतिशत की कमी हुई। आयातों में इतनी भारी गिरावट से उपभोक्ता माल में और कमी आ गई।

(३) **भारत में निर्मित माल में कमी**—भारतीय उत्पादनों का एक बड़ा भाग तो युद्ध उद्देश्यों के लिए लिया जाने लगा। इस्पात, कागज, वस्त्र, चमड़ा, रबड़ और चाय को बड़े भारी परिमाण में यूनाइटेड किंगडम कमर्शल कारपोरेशन (United Kingdom Commercial Corporation or U. K. C. C.) नामक कम्पनी अथवा अन्य एजेंसियों द्वारा मित्रराष्ट्रों की आवश्यकताओं के लिए मोल ले

---

१. Indian Trade Journal : Summary of Crop Forecast.

२. Report on Currency and Finance for 1942–43.

३. Ibid.

लिया जाता था और उसमें से भारतीयों के लिये बहुत कम सामान शेष छोड़ा जाता था। भारत की जो इन दिनों ब्रिटेन के ऊपर स्टर्लिंग सम्पत्ति ब्रिटेन में जमा हो रही थी, उसके निम्नलिखित विवरण से उन दिनों की हुई विदेशी खरीद का पता चलता है :—

	(करोड़ रुपयों में) रुपये
१. रिज़र्व बैंक के पास १९३६ में स्टर्लिंग सम्पत्ति	६४
२. मार्च १९४५ के अंत में रिज़र्व बैंक द्वारा मोल लिये हुए स्टर्लिंग	६४४
३. ब्रिटिश सरकार द्वारा चुकाए हुए स्टर्लिंग	१,२९२
योग रुपये	२०००

(ग) **सट्टा तथा अतिसंग्रह**—साधारण समय में भी मूल्यों की गति में सट्टा एक महत्वपूर्ण कार्य करता है। साधारणतया वह मूल्यों को ठीक करने में सहायता देता है। युद्ध काल में सट्टे का ज़ोर बढ़ जाता है और मूल्यों में अधिक तेज़ी आने की आशा में वस्तुओं को उपभोक्ता के पास जाने देने से रोके रखता है। संग्रह करने वाला वास्तव में जनता का 'शत्रु नं० १' है। संग्रह करने वाली सरकारें, बनिये, बैंक अथवा जमींदार कोई भी क्यों न हो यह कार्य सभी के लिए अपराध है। और इसके द्वारा निर्दोष जनता का खून चूसा जाता है। युद्ध काल में सट्टे के कारण वस्तुओं के मूल्यों में बहुत कुछ तेज़ी आई।

(घ) **युद्ध के समय साधारण मनुष्य की मनोवृत्ति बदल जाती है**—न केवल सटोरिया वरन् मौलिक उत्पादक तथा साधारण उपभोक्ता भी—यदि वह दैनिक मोल लेने वाला न हो—अपने पास यथासंभव एकत्रित करना चाहता है और निर्दोष होने पर वह मूल्यों के चढ़ने में सहायक होता है। भारत में १९४३ में यही हुआ।

(ङ) **यातायात की कठिनाइयां तथा माल का दुर्विभाजन**—सैनिकों तथा सैनिक माल के इधर उधर जाने से उन दिनों रेलों पर भी युद्ध कार्यों का बोझ आ पड़ा। कोयले का जो ढलान पहिले समुद्र द्वारा किया था अब रेलवे द्वारा किया जाने से उन पर अतिरिक्त भार आ पड़ा। पेट्रोल, रबड़ के टायरों तथा मोटर लारियों के विदेशों से कम आने के कारण सड़क यातायात में भी बाधाएं पड़ीं। अतएव बचत के क्षेत्रों से घाटे के क्षेत्रों को आवश्यक माल पर्याप्त परिमाण में ले जाना संभव नहीं रहा। इस के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों ने पूर्ण सहयोग नहीं दिया और केन्द्रीय सरकार को समान मात्रा में सहयोग के लिए अब भी अनुभव सीखना ही पड़ा। इस सब के फलस्वरूप अतिसंग्रह, मुनाफाखोरी तथा सट्टे का अत्यधिक प्रचलन हो गया।

(च) **सरकारी नियंत्रणों की असफलता**—सभी युद्धरत राष्ट्रों ने मूल्यों[1] पर

---

१. ब्रिटेन ने जुलाई १९४१ में पूर्ण मूल्य नियंत्रण आरंभ किये। कैनाडा ने नवम्बर १९४१ में तथा अमरीका ने अप्रैल १९४२ में मूल्य नियंत्रण को लागू

भारी नियंत्रण लगा दिये। उद्देश्य यह था कि युद्ध व्यय के लिए आवश्यक अतिरिक्त चल अर्थ के अस्तित्व का मूल्य अनुभव न करें। इसके अतिरिक्त फालतू मुद्रा को खपाने के लिए युद्ध ऋण जारी किये गए।

युद्ध के आरंभिक दिनों में[1] भारत में कृषि पदार्थों के मूल्यों पर नियंत्रण लगाना आवश्यक समझा गया। भारतीय किसानों ने १९२९ की मंदी के बाद अत्यधिक हानि उठाई थी। अब उनकी उस हानि की पूर्ति करने की अनुमति दे दी गई थी। १९४१ के अंत में गेहूं के थोक मूल्य निश्चित कर देना उचित समझा गया।

वस्त्र के सूत के भाव भी ऊंचे चढ़ते जाते थे। १९४० में मूल्य नियंत्रण के लिए तीन कांफ्रेंसें की गई। किन्तु उनमें सभी वस्तुओं के मूल्य का नियंत्रण करने के विषय में नही सोचा गया। वस्तुओं के ऊपर कठोर भौतिक नियंत्रण न हो सकने के कारण काला बाज़ार उत्पन्न हो गया और आवश्यक वस्तुएं बाज़ार से छिप गईं। यह विश्वास किया जाता था कि नियंत्रण उठा लेने से वस्तुओं को बाहिर आने में प्रोत्साहन मिलेगा। अतएव १९४२[2] में गेहूं के ऊपर से नियंत्रण उठा लिया गया। चीनी, मिट्टी के तेल तथा पैट्रोल के ऊपर नियंत्रण लगते ही काले बाज़ार में उनका मूल्य अत्यधिक चढ़ गया। १९४३ में सरकार ने वस्त्र तथा सूत का नियंत्रण किया और उनके मूल्य में तेज़ी को रोकने के लिए निश्चित मूल्य पर स्टैण्डर्ड क्लाथ की बिक्री की योजना आरंभ की।

आरंभ में सरकार को उसकी नियंत्रण नीति में सफलता नहीं मिली। इसका मुख्य कारण यह था कि उसकी प्रणाली में समान रूप में सहयोग का अभाव था। सरकार ने मूल्य तो निश्चित कर दिये किन्तु न तो माल के आने पर नियंत्रण लगाया और न उसने उनका राशन किया।

५. युद्धोत्तर काल में मूल्यों की स्थिति। अगस्त १९४५ में युद्ध समाप्त हो जाने से भारत की अर्थव्यवस्था पर से बोझ कम नहीं हुआ। थोक मूल्यों में कोई कमी नहीं हुई, वरन् इसके विपरीत उनमें कुछ और वृद्धि हुई। मूल्य सूचक अंक २४५ से ऊपर

किया। पूर्ण नियंत्रण (Blanket Control) का अर्थ है अधिकतम मूल्य निर्धारित करना और यदि भविष्य में उसमें कोई तेज़ी आवे तो उसे रोकने का उपाय करना।

१. द्वितीय मूल्य नियंत्रण कांफ्रेंस, जनवरी १९४०।

२. नियंत्रणों के विरुद्ध प्रायः यही युक्ति दी जाती है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि वस्तुओं के मूल्यों का नियंत्रण करने में सरकार की असफलता का कारण यह था कि जनता की उसमें सहानुभूति नहीं थी। गेहूं जैसी वस्तु को निश्चित मूल्य पर राशन करके सुलभ करना चाहिये था।

बढ़ता ही रहा। यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है:—

तालिका १ (पीछे के सिलसिले में)

थोक मूल्यों का मूल्य सूचक अंक (१९३९=१००)

वर्ष	कृषि पदार्थ	कच्चा माल	मौलिक वस्तुएं	निर्मित वस्तुएं	साधारण मूल्य सूचक अंक
१९४६–४७	३१४	२४५	२८०	२०९	२७५
१९४७–४८	३५७	२५४	३१३	२८८	३०८ (बीच में छोड़ दिया गया)

वर्ष	खाद्य वस्तुएं	औद्योगिक कच्चा माल	अर्द्ध निर्मित	निर्मित वस्तुएं	विभिन्न	साधारण मूल्य सूचक अंक
१९४७–४८	३०६	३७८	२६२	२८६	४५६	३०८
१९४८–४९	३८३	४४५	३२७	३४६	५२५	३७६
१९४९–५०	३९१	४७२	३३२	३४७	५७१	३८५
१९५०–५१	४१६	५२३	३४९	३५४	७०७	४१०
अगस्त १९४९	४११	४६१	३३१	३४९	५४२	३८९[1]
जून १९५०	४०३	४९१	३३६	३४८	६९२	३९६
दिसम्बर १९५०	४२४	५४३	३५१	३५०	७१८	४१३[2]
दिसम्बर १९५१	३९९	४७४	३७३	४०२	७५२	४३४

युद्धोत्तर कालीन वर्षों को सुगमता से दो समयों में विभक्त किया जा सकता है। एक मूल्य ह्रास से पहले का समय, दूसरा मूल्य ह्रास के बाद का समय।

(क) मूल्यह्रास से पहले का समय—युद्ध समाप्त होने पर मूल्य सूचक अंक २४५ था। वस्तुओं की पूर्ति के कम होने तथा उसकी अपेक्षा उनकी मांग अधिक जनसंख्या के साथ-साथ बढ़ती जाने के कारण मूल्य बराबर तेज़ी से चढ़ते रहे। उदाहरणार्थ १९४६-४७ में वह ३० अंक बढ़कर २७५ हो गए; १९४७-४८ में ३३ अंक बढ़कर ३०८ हो गए और १९४८-४९ में ६८ अंक बढ़ गए। यहां तक कि मूल्यह्रास से ठीक पूर्व अगस्त १९४९ में वह ३८९ हो गए।

(ख) युद्धोत्तर काल—इस समय को तीन विभिन्न कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्रथम काल में मूल्य बराबर चढ़ते रहे। अगस्त १९४९ के ३८९ से चढ़कर

१. तथा २. मूल्यह्रास से पूर्व के अंक।

वह जून १९५० में–कोरिया युद्ध की घोषणा की जाने पर बढ़कर ३९६ होगए। यह केवल १७ प्रतिशत की वृद्धि थी।

(२) दूसरे काल में कोरिया युद्ध आरंभ हो जाने के फलस्वरूप मूल्यों में अत्यधिक तेजी आ गई। यहां तक कि मार्च १९५१ में वह ८३९ हो गए। इस प्रकार कोरिया युद्ध के बाद उनमें ११% की वृद्धि हुई जबकि कोरिया युद्ध के पूर्व मूल्यह्रास के छै मास बाद उनमें कुल १७ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

कुछ अन्य देशों के मूल्य की तेज़ी से भारत की तुलना करना अत्यन्त दिलचस्प होगा। निम्नलिखित तालिका से विभिन्न देशों की इस तेज़ी का विवरण स्पष्ट हो जायेगा—

तालिका २

कुछ चुने हुए देशों के मूल्य सूचक अंक

(आधार : १९३७=१०० शेष सभी के लिये। भारत के लिये १९३९=१००)

देश	मूल्यह्रास से पूर्व अगस्त १९४९ में	मूल्यह्रास के बाद (कोरिया युद्ध से पूर्व) जून १९५० में	तेज़ी प्रतिशत	कोरिया युद्ध के बाद दिसम्बर १९५० में	तेज़ी प्रतिशत
आस्ट्रेलया	१९०	२२२	१७ %	२४२	९
कैनाडा	१८४	१९५	६ %	२१०	·७
फ्रांस	२,१६०	२,२२०	२·७ %	२,५८०	१६·२
ब्रिटेन	२११	२३६	११·८ %	२६९	१४
अमरीका	१७७	१८२	२ %	२०३	११·५
भारत	३८९	३९५·६	२.७ %	४१३	४·३

१९५०-५१ में ब्रिटेन, अमरीका और आस्ट्रेलिया में भारत की अपेक्षा अधिक मूल्य वृद्धि हुई। कोरिया युद्ध आरंभ होने के बाद विदेशों में तेज़ी अधिक देखने में आई। उदाहरणार्थ १९५०-५१ में ब्रिटेन में २७ प्रतिशत, अमरीका में २० प्रतिशत और आस्ट्रेलिया में ३० प्रतिशत से कम तेज़ी नहीं आई, जबकि भारत में कुल १२ प्रतिशत तेज़ी ही आई।

(ग) कोरिया युद्ध का तत्काल प्रभाव यह पड़ा कि मूल्य अधिक चढ़ गए। अंत में यह निश्चय-जैसा हो गया कि इस युद्ध के कारण विश्वयुद्ध नहीं होगा। कोरिया युद्ध के ठीक बाद जो संग्रह करने की वृत्ति बढ़ने लगी थी वह अमरीका तथा अन्य देशों में समाप्त हो गई। इस समय मूल्यों ने कम होने के एक नये युग में प्रवेश किया। अप्रैल १९५१ के बाद जब मूल्य सूचक अंक ४५८ था यही देखने में आया। दिसम्बर १९५१ में वह गिरकर ४३३ तक पहुंच गया। फरवरी १९५२ में और भी गिरावट आई और ७ मार्च को मूल्य सूचक अंक

३९७ हो गया। उसके बाद सोने, चांदी, गुड़, शक्कर, तेल, तिलहनों, मसालों और रुई के मूल्यों में भारी मंदी आई। यह मंदी अभी तक बनी हुई है। यह नहीं कहा जा सकता कि मंदी ऐसी ही बनी रहेगी। यदि संसार की राजनीतिक स्थिति खराब न हुई तो मूल्य और भी घटेंगे और फिर इससे कहीं नीचे जाकर ठहर जायेंगे।

६ क. युद्धोत्तर वर्षों में मूल्य चढ़ने के कारण—(क) **चलअर्थ में वृद्धि**—युद्धोत्तर वर्षों में मूल्य बढ़ने के अत्यन्त महत्वपूर्ण कारणों में से एक है भारत में चल-अर्थ में लगातार वृद्धि। वृद्धि केवल बाज़ार में चलने वाले नोटों के मूल्य में ही नहीं हुई, वरन् बैंक की साख में भी हुई, जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट है :—

तालिका ३

वर्ष और मास	बाज़ार में चलने वाले नोट (दसलाखों में)	ऋण तथा हुंडियां (दस लाखों में)
१९३८–३९	१८२	११६
१९४५–४६	११६३	३०१
१९५०–५१	११६३	४५९
मार्च १९५१	१२४१	५३५
२२ फर. १९५१	११४७	५७६

(ख) केन्द्र तथा अधिकांश राज्यों के बजट में घाटा युद्ध समाप्त होने पर भी बना रहा।

(ग) मूल्यों तथा वस्तुओं पर नियंत्रणों के संबंध में सरकार की बदलते रहने वाली नीति से कष्ट और बढ़ गया।

(घ) काले बाज़ार में माल का जो मूल्य मिला उसका भी दबाव भारी पड़ा। यह रकम सरकार द्वारा लगाए हुए करों से बचने के प्रयत्न में अधिकतर सफल रही।

(ङ) सरकार को उधार लेने के अपने प्रयत्नों में मिली हुई असफलता हानिप्रद प्रमाणित हुई। वेतनों तथा मँहगाई में वृद्धि से स्थिति और खराब हो गई।

(च) भारत में कृषि पदार्थो तथा औद्योगिक उत्पादनों में व्यापक रूप में कमी होने से स्थिति और भी खराब हो गई। अनावृष्टि, देश के बहुत बड़े भाग में प्रति वर्ष आने वाली बाढ़ों तथा भूकम्प की दैवी आपत्तियां भी इस पर आईं। उसके फलस्वरूप उत्पादन में भारी कमी होना और भी भयंकर हुआ। क्योंकि भारत की जनसंख्या में प्रतिवर्ष ४० लाख से लेकर ५० लाख तक की वृद्धि हो जाती है। कच्चे माल तथा पूंजीगत माल के पर्याप्त मात्रा में न मिलने, यातायात में बाधा आने और औद्योगिक अशांति के सभी कारणों ने मिलकर औद्योगिक उत्पादन को घटा दिया।

(छ) देश के विभाजन के कारण जो देश की आर्थिक हानि हुई, उससे स्थिति और भी ख़राब हो गई। जनसंख्या के व्यापक आधार पर भारत के एक भाग से दूसरे भाग में जा बसने के कारण यांत्रिक ज्ञान के जानकारों की संख्या में भी कमी हुई।

(ज) आयातों पर नियंत्रण—क्रमशः भारत का व्यापारिक संतुलन उसके विपरीत विशेषकर कठोर चलअर्थ वाले देशों के विरुद्ध हो गया। आयात अत्यधिक बढ़ गए। खाद्यान्नों के आयात ने तो आयातों के परिमाण को और भी बढ़ा दिया। औद्योगिक कच्चे माल और पूंजीगत माल को बड़े परिमाण में मोल लिया गया। इस घाटे को पूरा करने के लिए उपभोक्ता माल के आयात में कठोर नियंत्रण लगाये गए। इसके फलस्वरूप मूल्य अत्यधिक बढ़ने आरंभ हो गए।

(झ) जून १९५० में कोरिया युद्ध आरंभ हो जाने से सट्टा तथा संग्रह वृत्ति में भारी वृद्धि हुई। चीन के कोरिया युद्ध में हस्तक्षेप करने पर यूरोप तथा अमरीका एक और विश्वयुद्ध आरंभ होने की संभावना से भयभीत हो गए और उन्होंने माल जमा करना आरंभ कर दिया। इस प्रकार भारत को खाद्यान्नों, औद्योगिक कच्चे माल तथा पूंजीगत माल के प्राप्त करने में अधिक कठिनाई होने लगी। इसके अतिरिक्त भारत के निर्यात माल की माँग भी बढ़ गई और उसके फलस्वरूप भारत में इन वस्तुओं की कमी हो गई और इस प्रकार आयात तथा निर्यात दोनों का ही मूल्य चढ़ गया। अप्रैल १९५१ में साधारण मूल्य सूचक अंक अत्यधिक बढ़कर ४५८ तक पहुंच गया। तिलहनों, कच्ची खालों तथा कच्ची ऊन के मूल्य भी चढ़ गए।

डालर तथा कठोर चलअर्थ वाले क्षेत्रों के विरुद्ध भारत सहित राष्ट्रमंडल के सभी देशों का प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन होने के कारण नवम्बर १९४९ में मूल्यह्रास जैसे क्रांतिकारी पग को उठाना पड़ा। दुर्भाग्यवश पाकिस्तान ने राष्ट्रमंडल के अन्य देशों का साथ इस विषय में देना पसन्द नही किया। इससे भारत अत्यन्त प्रतिकूल स्थिति में पड़ गया। इस पग के कारण सितम्बर १९४९ के बाद मूल्यों में तेज़ी आई।

६ ख. मार्च १९५२ में मूल्य घटने के कारण—१९५२ के आरंभिक कुछ मासों में मूल्य घटने के कारण निम्नलिखित थे—

(क) नवम्बर १९५१ में बैंक दर को ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३॥ प्रतिशत कर दिया गया। इसके फलस्वरूप मुद्रा बाज़ार तंग हो गया और बैंक द्वारा सटोरियों को ऋण मिलना कम हो गया।

(ख) स्वतन्त्र बाज़ार में सोना भारी परिमाण में आ गया। फिर भी यहां इसके लिये माँग नहीं थी।

(ग) विदेशों में भारत के तेल तथा तिलहनों की मांग कम हो गई।

(घ) गुड़, शक्कर, चीनी, रुई, तिलहन आदि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि। इस वृद्धि का निम्नलिखित तालिका से पता चलता है :—

तालिका ४

सामग्री	१९५०	१९५१
कोयला (लाख टनों में)	३२०	३४३
इस्पात (लाख टनों में)	१४·४	१४·७
कपड़ा (दस लाख गांठों में)	३,६५१	४,०८०
सीमेंट (लाख टनों में)	२६	३२
कागज़ (टन ००० में)	१,१३	१,३१
दियासलाई (बाक्स ००० में)	५,२३	५,७८
चीनी (लाख टनों में)	१०·४	११·५

७. **मूल्यों में वृद्धि का प्रभाव**। ऊंचे मूल्यों का सभी व्यक्तियों पर वही प्रभाव नहीं पड़ता। जितनी ही आय कम होगी तथा परिवार बड़ा होगा उतनी ही कठिनाई बढ़ेगी। बड़ी आय वालों को तो केवल अपने आमोद-प्रमोद के साधनों से ही वंचित होना पड़ता है, किन्तु निर्धनों को जीवनोपयोगी आवश्यकताओं से वंचित होना पड़ता है। भारत में अधिकांश जनता के निर्धन होने के कारण कष्ट भी साथ ही साथ अधिक बढ़े। भारत के कुछ नगरों के श्रमिक वर्गों के जीवन सूचक अंकों की लागत को नीचे की तालिका में देखने से जीवन के उच्च व्यय का पता चलता है।

तालिका ५

श्रमिक वर्गों के जीवन सूचक अंकों का व्यय

वर्ष	बम्बई १९३४=१००		कलकत्ता अगस्त १९३९=१००		नागपुर अगस्त १९३९=१००		कानपुर अगस्त १९३९=१००	
	भोजन	साधारण	खाद्य	साधारण	खाद्य	साधारण	खाद्य	साधारण
१९४६	३१७	२५९	३६०	२७५	२८२	२८५	३६४	३२८
१९४७	३४४	२७९	४२८	३०९	३२०	३२०	४२४	३७८
१९४८	३४८	३०३	४५१	३३९	३७९	३७२	५१४	४७१
१९४९	३६६	३०७	४७४	३४८	३८४	३७७	५३८	४७८
१९५०	३८१	३१३	४७४	३४९	३८२	३७२	४७१	४३४

मूल्य बढ़ने से आय में विषमता और अधिक बढ़ जाती है। अब भारत में विभिन्न कार्यों और वर्गों पर इस मूल्य वृद्धि के प्रभाव के सम्बन्ध में विचार किया जाता है —

१. उत्पादन पर प्रभाव—मूल्य कम होने की दशा में कुछ तेज़ी आने पर उत्पादन बढ़ता है। किन्तु मूल्यों में लगातार वृद्धि होने से उत्पादन के व्यय में बराबर वृद्धि होती जाती है। इसके परिणामस्वरूप एक स्तर तक पहुंच कर मांग घट जाती है और उसके परिणाम-स्वरूप उत्पादन भी घट जाता है। इस प्रकार युद्ध के बाद भारत में उत्पादन घट गया। मुद्रा-स्फीति से समृद्धि की एक झूठी भावना उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में व्यापारी द्वारा प्राप्त किये जाने वाला प्रत्येक रुपया माल के रूप में अपने मूल्य में कम है। कर भारी होते हैं। अधिक धन से अधिक आर्थिक कल्याण नहीं होता। मुद्रा-स्फीति धन तथा निर्धनता के बड़े-बड़े विरोधों का निर्माण करते हैं। कुछ थोड़े से समृद्ध होते हैं किन्तु अधिकांश व्यक्ति प्रसन्न नही होते।

२. श्रम पर प्रभाव—मूल्य चढ़ने से जीवन का व्यय बढ़ जाता है, जिससे श्रमिकों को हानि उठानी पड़ती है। बम्बई के जीवन का व्यय १९३४ के १०० जीवन व्यय की अपेक्षा १९५० में ३१३ था। देश के अन्य भागोंमें भी जीवन का व्यय बढ़ गया। इसीलिए हड़तालें हुई तथा दंगे हुए। श्रमिकों को संतुष्ट रखने के लिए मँहगाई भत्ते दिये गये। किन्तु मूल्य और भी चढ़ जाने से वह भत्ते शीघ्र ही अपर्याप्त दिखलाई देने लगे। अतएव अशांति और भी बढ़ गई। साधारणतया यही होता रहता है। कृषि मज़दूरों की दशा भी उनको माल में मज़दूरी न मिलने से खराब हो जाती है। हम देखते हैं कि मूल्य चढ़ने के साथ-साथ उनकी मज़दूरियों में वृद्धि नही हुई।

३. मध्य श्रेणी वालों पर प्रभाव—समाज का मेरुदंड वही होते हैं। वह प्रायः शिक्षित होते हैं। उनमें से अधिकांश या तो सरकारी नौकर या व्यवसायिक दफ्तरों में नौकर होते हैं। इस प्रकार उनकी आय निश्चित होती है। मूल्य चढ़ने पर उनको सबसे अधिक कष्ट होता है। उनके पास अपना खर्चा चलानेलायक बचत न होने के कारण उनको अपने जीवनमान को घटाना पड़ता है। उनकी आय का एक बड़ा भारी प्रतिशत अनुपात उनके परिवार वालों के वस्त्रों पर खर्च होता है। उनको अपना बाह्य स्तर बनाने के लिये इस खर्च को बनाए रखना पड़ता है। अतएव उनके भोजन की किस्म हल्की होती जाती है। यहां तक कि उनकी बचत मूल्य में भी घट जाती है। अतएव उनपर सब तरह से चोट पड़ती है। एक बुद्धिमान सरकार को उनकी कठिनाइयों को पूर्णतया हल करना चाहिये, क्योंकि उन्हीं के अन्दर से नेता उत्पन्न होते हैं, जो भयंकर प्रमाणित हो सकते हैं। इस बात में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि मूल्य चढ़ने की सबसे बड़ी चोट वेतनभोगी जनता पर पड़ती है।

४. अतिसंग्रह तथा काले बाजार पर पड़ने वाले प्रभाव—मूल्य चढ़ने से सदा ही खाद्यान्नों सहित वस्तुओं के अतिसंग्रह की वृत्ति को बल मिलता है। उत्पादक, व्यापारी तथा उपभोक्ता सभी अति संग्रह करने का यत्न करते हैं। कुछ अधिक मूल्य प्राप्त करने के लिए संग्रह करते हैं और काला बाज़ार करने में पड़ जाते हैं। कुछ इसलिए संग्रह करते हैं कि वह

अधिक मूल्य तथा काले बाज़ार से भयभीत होते हैं। सरकार इन समाज-विरोधी कार्यो को रोकने का यत्न करती है, किन्तु जब तक देश में मुद्रास्फीति रहती है इसके कार्यो का कोई प्रभाव नहीं होता।

परिणाम—अन्त में हम इसी परिणाम पर आते है कि मूल्य चढ़ने से औद्योगिक सटोरिया, व्यापारी, ठेकेदार, दूकानदार और बड़े ज़मींदार सभी को लाभ होता है। उनको हानि तभी होती है जब सरकार उनके कार्यो पर नियंत्रण तथा लाभों पर कर लगाती है। किन्तु हानि प्रायः उपभोक्ता तथा स्थिर वेतन पाने वालों को होती है। उनको या तो अपने जीवनमान को कम करना पड़ता है, अथवा अपनी पिछली बचत को खर्चना पड़ता है। सरकारी नौकरों को सबसे अधिक हानि उठानी पड़ती है क्योंकि उनको मिलने वाला महंगाई भत्ता उनके जीवनमान की लागत के बढ़ने के खर्च को पूरा नहीं कर सकता।

८. उसको ठीक करने के लिए अपनाये हुए उपाय। (क) **युद्ध के वर्षों में**—भारत सरकार ने स्थिति की भयंकरता को समझ लिया था। उसने १९४३ का वर्ष लगते ही उसको ठीक करने के अनेक उपाय अपनाये। उसने एक ओर तो बाज़ार में मुद्रा कम लाने का यत्न किया और दूसरी ओर बाज़ार में अधिक माल लाकर उसके वितरण का ठीक प्रबन्ध किया। उसके विभिन्न प्रयत्नों को सारांश रूप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है—

(१) मूल्यों को चढ़ने से रोकने का एक उपाय है चलअर्थ के विस्तार को रोकना। यदि बाजार में अधिक मुद्रा आती रहेगी और उसको प्रभावहीन करने के लिए कठोर नियंत्रण नहीं लगाए जावेंगे तो मूल्य पेंचदार घुमाव की प्रणाली पर बढ़ते जावेंगे। १९४३ में ब्रिटेन ने भारत के बाज़ारों से सब से अधिक माल मोल लिया। अतएव नोट भी उसी काले बाज़ार में सबसे अधिक बढ़े और उसी परिमाण में मूल्य भी चढ़े।

(२) दूसरा उपाय है बाज़ार में चलने वाली मुद्रा को कम करना अर्थात् मुद्रा-संकोच (Deflation)। यह सदा ही एक कष्टकर कार्य है। किन्तु इसको निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(क) **कर लगाना**—भारत में कर पहले ही पर्याप्त बढ़ गये थे किन्तु उनके और बढ़ाए जाने की आवश्यकता थी। भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अपने विज्ञप्ति पत्र में यह प्रस्ताव किया था, "हमारी सम्मति में कर को यथासंभव व्यावहारिक रूप में वहां तक अधिकतम मात्रा में बढ़ाया जाना चाहिए कि जनता के कंधे उनको सहार सकें।"

मई १९४३ में अतिरिक्त लाभकर की रकम उगाहने के लिए १०० करोड़ रुपये शेष थी। उसको वसूल करने के लिए एक अध्यादेश निकाला गया। आयकर सर्टिफिकेटों की पेशगी भुगतान के रूप में बिक्री से इस मामले में कुछ सहायता मिली।

(ख) **अनिवार्य बचत योजनाएं**—ज़मींदार को अधिक बचत करने को विवश करने के लिए इस प्रकार की योजनाएं चलाई जा सकती हैं। कुछ राज्यों ने जनता में रक्षा

बांड (Defence Bonds) तथा सर्टिफिकेटों की बिक्री करने के लिए कुछ कन्वेसर नियुक्त किये थे और इस प्रकार बाज़ार के चलन से लगभग १० करोड़ रुपये निकाले।

(ग) **ऋण**—सरकार को उधार लेने के प्रयत्न में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। इसका कारण जनता का सरकार में अविश्वास था। इसके अतिरिक्त उसके रुपया लगाने के अधिक लाभकर अन्य क्षेत्र भी खुले हुए थे। बाद में मित्रराष्ट्रों की सफलता से विश्वास को फिर प्राप्त कर लिया गया, किन्तु ऋण फिर भी अधिक नहीं मिले। यदि अन्य रूप में पूजी लगाने से अधिक लाभ होता तो ऋण नहीं मिल सकते थे।

इसके विपरीत महंगाई के भत्तों तथा ऊंचे मूल्यों की स्वीकृति भी दी गई। उनसे स्थिति और खराब हो गई तथा मुद्रा-प्रसार और बढ़ गया। उच्च लाभ,अधिक मज़दूरियों तथा अधिक लाभांशों तथा बोनसों को रोकने के लिए भी प्रयत्न नहीं किया गया।

(३) **सट्टे की रोक**—रूई में सट्टे को रोक दिया गया। मौलिक वस्तुएं के भावी सौदों को भी रोक दिया गया। सोने-चांदी के बाज़ार के वायदे के सौदों को भी रोक दिया गया। बरसाती कम्पनियों के विकास को रोकने के लिए एक पूंजी निकास नियंत्रण आज्ञा (Capital Issues Control Order) निकाली गई। व्यापार को नकद के आधार पर चलाने तथा वायदे के सौदों को रोकने के लिए क्रमशः सभी संभव उपाय अपनाये गए। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया पता लगने वाली खाइयों को भरा जाता रहा और सरकारी नियमों को सख्ती से लागू किया जाता रहा।

(४) **मूल्य नियंत्रण**—अर्द्ध-नियंत्रण अनियंत्रण से बुरा होता है। इससे वस्तुएं चोरबाज़ार में चली जाती हैं और उसके परिणामस्वरूप काला बाज़ार उत्पन्न होता है। सरकार ने १९४२ में पंजाब में गेहूं के मूल्य पर नियंत्रण तो लगा दिया, किन्तु उसके बाज़ार में पूर्ति (Supply) पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया। अस्तु, उक्त नियंत्रण असफल रहा। मुख्य आवश्यकता "सभी मूल्यों के पूर्ण नियंत्रण"[1] की थी, अर्थात् अधिकतम मूल्य निश्चित करने के साथ वस्तुओं के ऊपर भौतिक नियंत्रण स्थापित करना। केवल ऐसी स्थिति में ही फालतू मोल लेने की शक्ति पर बंधन लगाया जा सकता था। भारत-जैसे विशाल देश में—जहां प्रत्येक राज्य अपने मार्ग पर चलता था—यह एक सुगम काम नहीं था। भारत में खाद्य समस्या को एक अकेली समस्या के समान सुलझाया जाना चाहिए था। उसको सुलझाने का केवल एक ढंग था और वह था केन्द्र के द्वारा सबको साथ लेकर काम करने की एक व्यापक नीति। बाद में चीनी, चाय आदि के नियंत्रण तथा विभाजन से प्राप्त किये हुए अनुभव ने सरकार को इस समस्या को सफलतापूर्वक सुलझाने में सहायता की।

(५) **यातायात**—भारत में मुख्य समस्या केवल खाद्य वस्तुओं की कमी की ही

१. भारतीय अर्थशास्त्रियों की विज्ञप्ति।

नहीं थी, वरन् उनके ठीक वितरण की भी थी। शीघ्रतया सस्ते यातायात से मूल्य बराबर हो जाते हैं। यदि समस्त देश में भाव स्थायी तथा उचित हों तो अति संग्रह की मनोवृत्ति नहीं रहती। खाद्य के यातायात में प्राथमिकता देने के सभी संभव प्रयत्न किये गए किन्तु रेलवे इस अनिवार्य आवश्यकता का साथ नहीं दे सकी।

(६) **अधिक उत्पादन**—उत्पादन बढ़ने से मूल्य घट सकते थे किन्तु देश में उपलब्ध मशीनों तथा औज़ारों के कम होने के कारण कृषि पदार्थों की पूर्ति अपेक्षाकृत अस्थिर थी और निर्मित माल भी परिमित था। युद्धकाल में वस्तुओं की पूर्ति केवल परिमित ही हो सकती है और वह फैलने वाली मुद्रा के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकती। भारत में यही हुआ।

खाद्य तथा खाद्योत्तर फसलों के क्षेत्र को योजनाबद्ध करके नियंत्रित किया जाना चाहिए था। 'अधिक अन्न उपजाओ', 'कम वस्त्र से काम लो', तथा 'अधिक आवश्यकता होने पर ही यात्रा करो' आदि के विषय में प्रचार कार्य में बहुत कम सफलता मिली। आवश्यकता एक ऐसी केन्द्रित योजना की थी जिसके ऊपर सावधानी से निरीक्षण किया जाता तथा जिस पर कठोरता से नियन्त्रण किया जाता। इस प्रकार युद्ध की अनिवार्य आवश्यकताओं में मूल्यों का नियंत्रण तथा आवश्यक वस्तुओं का राशनिंग ही एकमात्र व्यावहारिक उपाय थे। पर्याप्त अनुभव के अभाव के कारण सरकार को आरंभ में सफलता नहीं मिली किन्तु समय बीतने के साथ-साथ उन्होंने इस समस्या को अच्छी तरह सुलझाया।

(ख) युद्धोत्तर काल में अपनाये हुए उपाय। (क) **मूल्यह्रास से पूर्व का समय**—युद्ध समाप्त हो जाने पर भी मूल्य चढ़ते ही रहे। जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है, सरकार १९४८ में अत्यधिक घबरा गई और उसने स्वतंत्र अर्थशास्त्रियों सहित विभिन्न संस्थाओं से परामर्श किया। उन्होंने निम्नलिखित उपाय सुझाए।

(१) **आर्थिक उपाय (अ) व्यय**—केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में से अनावश्यक कर्मचारियों की यथासंभव छंटनी कर दी गई, किन्तु बेरोज़गारी के अकथनीय कष्टों को ध्यान में रखकर इस पर अत्यधिक बल नहीं दिया गया। सामाजिक, शिक्षा-संबंधी तथा लोकहितकारी कार्यों को उतना ही चलने दिया गया, जितनी वर्तमान आय में गुंजाइश थी। राज्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक होने पर ही कोई अनुदान स्वीकार किया जाता था। रक्षा व्यय में भी बचत करने का यत्न किया गया। किन्तु भारत के विभाजन के कारण हैदराबाद तथा काश्मीर में आई हुई अड़चनें तथा पाकिस्तान के साथ झगड़े के कारण रक्षा व्यय में अधिक खर्च करना आवश्यक हो गया। अतिरिक्त लाभ कर की वापिसी को स्थगित कर दिया गया तथा तत्काल उत्पादक होने वाले के अतिरिक्त सभी अन्य व्यय को रोक दिया गया। इस विषय में यह प्रस्ताव किया गया कि मद्यनिषेध कार्यक्रमों तथा ज़मींदारी समाप्त करने के कार्यक्रमों को स्थगित कर दिया जाए, किन्तु सरकार उनको पूर्ण करने के लिए

वचनबद्ध होने के कारण उनको न छोड़ सकी। पूंजीगत व्यय को उधार लेकर पूरा किया जाता था। यहां तक कि उसके लिए वार्षिक बजट में से भी रकम निकाली जाती थी।

(आ) **कर लगाना**—उस सभी आयकर को वसूल करने का यत्न किया गया, जिसकी चोरी की गई थी। आयकर की दर को बढ़ा दिया गया। मृत्युकर लगाने का प्रस्ताव किया गया, किन्तु उसको कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया। कृषि आयकर तथा भूमि की मालगुज़ारी की उच्चतर सीमा पर अतिरिक्त कर (Surcharge) का भी भाग्य वैसा ही रहा।

(इ) **उधार लेना**—छमाही तथा वार्षिक कोष पत्रों (Treasury Bills) का अधिकतम उपयोग किया गया। छोटी-छोटी बचतों को प्रोत्साहित किया गया। अधिक ब्याज के वचन-पत्रों (Bonds) तथा सर्टिफिकेटों को चलाया गया। उस समय गांधी स्मारक निधि को बना रहने दिया गया।

(२) **मुद्रा सम्बन्धी उपाय**—रिज़र्व बैंक द्वारा निकाले हुए नोटों के कुल मूल्य को कम करने के प्रबल प्रयत्न किये गये। यद्यपि आरंभ में उन प्रयत्नों में सफलता नहीं मिली, किन्तु १९५१ के बाद उनमें कुछ सफलता मिलने लगी। यह नियम बना दिया गया कि सभी बक तथा बीमा कम्पनियां अपनी सभी तात्कालिक देनदारियों का २५ प्रतिशत परिमाण में सरकारी प्रतिभूतियां रखें।

(३) **नियंत्रण**—जिन औद्योगिक कार्यों से तत्काल फल मिलने की आशा थी उनमें पूंजी लगाने की यथासंभव अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी गई जबकि बैंकिंग कम्पनियों तथा पूंजी लगाने वाले ट्रस्टों (Investment Trusts) की सावधानी से जांच की जाती थी। पूंजीगत माल के आयात को प्राथमिकता दी जाती थी और कम आवश्यक माल के आयात को रोका जाता था। आवश्यक वस्तुओं का आयात करने के लिए किये हुए द्विराष्ट्रीय समझौतों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए निर्यात पर नियंत्रण लगाये गए।

सरकार ने इस बात का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया कि वह खाद्यान्नों के मूल्य को एक निश्चित अधिकतम मूल्य (Fixed Ceiling Prices) से ऊपर नहीं जाने देगी, वह ग्रामीण क्षेत्रों से अन्न वसूल करेगी और उनका नागरिक क्षेत्रों में राशन करेगी। और फिर भी यदि कोई कमी पड़ेगी तो उस कमी को आयात द्वारा पूरा करेगी।

वस्त्र और सूत, कागज़, वनस्पति, इस्पात, सीमेंट, कोयले आदि के नियंत्रण तथा वितरण फिर लागू किये गए।

(४) **उत्पादन**—प्रत्येक बड़े उद्योगधंधे के लिए उत्पादन का लक्ष्य निश्चित किया गया। छोटे-छोटे तथा ग्रामीण उद्योगधंधों को पूर्णतया विकसित किया गया। इस विषय में योजनाबद्ध आधार पर उत्पादन बढ़ाने के पहले से अधिक यत्न किये गए। यह अनुभव किया गया कि केवल नियंत्रण से ही मूल्य कम न होंगे, यद्यपि उनसे मूल्य कुछ परि-

माण में स्थिर हो जावेंगे। इस उद्देश्य के लिए कपास, पटसन और खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाना आवश्यक था। इसी कारण से उत्पादन पर पहले से अधिक बल दिया गया, यद्यपि कण्ट्रोल तथा राशनिंग को रहने दिया गया, वरन् उनको पहले से अधिक कठोर कर दिया गया। उत्पादन बढ़ाने के यत्नों का पता नीचे की तालिका से लगेगा :—

तालिका ६ (क)

औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि

वस्तुएं	१९५०	१९५१
पटसन का माल (गांठें)	८,३६,०००	८,७६,०००
सूती वस्त्र (१० लाख गांठों में)	३,६५१	४,०८०
कोयला (दस लाख टनों में)	३२	३४
सीमेंट (लाख टनों में)	२६	३२
चीनी (लाख टनों में)	१०.४	११.५
इस्पात (लाख टनों में)	१४	१५
कागज़ (लाख टनों में)	१.१	१.३

कृषि उत्पादनों में भी वृद्धि हुई। जैसा कि नीचे की तालिका से प्रगट है १९५१ में कपास, पटसन और खाद्यान्नों के अधिक उत्पादन में सरकारी योजना ने अच्छी उन्नति की—

तालिका ६ (ख)

कृषि उत्पादनों में वृद्धि

सामग्री	१९४९	१९५०	१९५१
रुई (२९२ पौंड की ००० गांठें)	१,७६७	२,६२८	२,९२६
पटसन (४०० पौंड की ०००गांठें)	३,०८९	३,३०१	४,६७८
गेहूं (००० टन)	५,४७१	६,११०	६,५२२
चना (००० टन)	४,५३५	३,६४२	३,७६४
मूंगफलियां (००० टन)	२,९०१	३,३७९	३,३३१
चावल सफा किया हुआ (००० टन)	२१,७४८	२१,९१३	१९,७२४

यह बात ध्यान देने की है कि चावल तथा चने के अतिरिक्त सभी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई। उनके उत्पादन में भी प्राकृतिक आपत्तियों के कारण कमी हुई।

(ख) **मूल्यह्रास के बाद का समय**—मूल्यह्रास के कुछ मास बाद ही कोरिया युद्ध आरंभ हो गया। इससे मूल्य अचानक चढ़ गए। संग्रह वृत्ति बढ़ गई और अप्रैल १९५१ में मूल्य निर्देशक अंक ४५८ तक जा पहुंचा। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए सरकार ने एक अष्टसूत्री कार्यक्रम की घोषणा की। इसमें उसने अपनी आर्थिक नीति के बड़े-बड़े

उद्देश्यों को प्रगट किया। इसमें मूल्यों की तेज़ी को रोकना तथा अधिक उत्पादन द्वारा बड़ी-बड़ी पूर्तियों में बचत करना भी था, जिससे मुद्रा-प्रसार पर नियंत्रण किया जा सके। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वस्तुएं प्राप्त करने तथा वितरण तथा मूल्यों को नियंत्रित करनेके सम्बन्ध में समस्त भारत में मुख्य रूप से एक नीति अपनाने के लिए १९४६ के आवश्यक वस्तु पूर्ति अधिनियम (Essential Supplies Act) में एक संशोधन करके आयातों पर नियंत्रण ढीले कर दिये गए तथा खाद्यान्नों के संग्रह को रोक दिया गया। भारत सरकार ने देश के आंतरिक तथा बाह्य व्यापार के सम्बन्ध में तथा माल के उत्पादन, पूर्ति और वितरण के सम्बन्ध में १५ अगस्त १९५० से (उसके बाद उसे एक वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया) एक वर्ष तक के समय के लिए कानून बनाने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। अतएव कुछ वस्तुओं का नियंत्रण करने के लिये वस्तुओं की पूर्ति तथा मूल्यों का अध्यादेश (Supply and Prices of Goods Ordinance 1950) निकाला गया। दूसरे वस्तुओं के अन्र्देशीय तथा बहिर्देशीय मूल्यों में अधिक विषमता को दूर करने के लिए अन्य निर्यात कर भी लगाए गए; अथवा वर्तमान करों को बढ़ा दिया गया। इन उपायों से मूल्य कुछ स्थिर हो गए। किन्तु जब चीन ने कोरिया युद्ध में हस्तक्षेप किया तो मूल्य फिर चढ़ने लगे। यहां तक कि वह अप्रैल १९५१ में ४५८ तक जा पहुंचे।

इस पूरे समय भर मुद्रा-स्फीति के विरुद्ध युद्ध स्थिरता से चलता रहा। सरकार को इस युद्ध में दो बातों से सहायता मिली, (क) केन्द्र तथा राज्यों में घाटे के स्थान पर बचत के बजट बनाए गए। पर्याप्त बचत प्राप्त की गई। उदाहरणार्थ १९५१-५२ में केन्द्र में ९३ क़रोड़ रुपये की बचत की आशा की जाती है। इस बचत ने मुद्रा का बड़ा भारी परिमाण जनता से लेकर सरकार के हाथ में दे दिया और इस प्रकार मुद्रा-प्रसार को रोकने में सहायता दी। १९५०–५१ में अधिक आय का कारण बढ़े हुए निर्यात कर थे, जो पटसन (२५ प्रतिशत), वस्त्र, मूंगफलियां (८० से १५० प्रति टन तक) तेल तथा तिलहनों के निर्यात पर लगाए गए थे। अमरीका से उधार लिए हुए गेहूं की बिक्री से भी बाज़ार में चलने वाली ५० करोड़ रुपये की मुद्रा को हटाया गया। उसकी बिक्री को एक विशेष विकास कोष (Special Development Fund) में जमा कर दिया गया, जिसे विकास योजनाओं का खर्च चलाने के लिए बनाया गया था।

९. बैंक दर में ३ से ३½ प्रतिशत की वृद्धि। १९५१ के वर्ष में साख का अत्यधिक विस्तार हुआ। उसमें २५ प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि हुई। सारिणी सूची के बैंकों की हुण्डियां तथा अगाऊ रकमें दिसम्बर १९५० की ४४५ करोड़ रुपये से बढ़कर दिसम्बर १९५१ में ५३६ करोड़ रुपये तक बढ़ गईं। बैंक की साख उस तंग ऋतु में भी उच्च स्तर पर पहुंच गई। अतएव सरकार ने नवम्बर १९५१ में अत्यन्त बुद्धिमानी से बैंक दर को ३ प्रतिशत से बढ़ा कर ३½ प्रतिशत कर दिया। बैंक की साख को घटाने के इस उपाय से आजकल के समय में प्रायः काम नहीं लिया जाता, यद्यपि अर्थशास्त्री

इससे पूर्णतया परिचित थे। इसका साख बाज़ार पर बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ा और उसके कारण वास्तविक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार के परिवर्तन देखने में आए। उसके परिणामस्वरूप मार्च १९५२ में सोने चांदी के भाव में भारी गिरावट आ गई। सोने का जो भाव १९५१ में ११४) प्रति तोला था, वह घटकर ७७) रुपये तोले से भी कम हो गया। चांदी के मूल्य में भी इसी प्रकार गिरावट आई जो मार्च १९५१ के १९८) के भाव से घटकर मार्च १९५२ में १०० तोले की सिल के १३९) तक गिर गई। मसालों, रुई, चीनी, तेल तथा तिलहन के थोक मूल्यों में भी साथ ही साथ भारत भर में कमी हुई। खुदरा मूल्यों में उसी अनुपात में कमी नहीं हुआ करती, किन्तु रुझान निश्चित रूप में मंदे की ओर है, जिससे उपभोक्ताओं को कुछ चैन की सांस मिली है।

व्यापारियों, निर्माताओं तथा सटोरियों के दृष्टिकोण से मार्च १९५२ में मूल्यों का घटना भयंकर घटना है। सरकार मूल्यों को एक इससे भी नीचे स्तर पर लाकर स्थिर करना चाहती है, किन्तु उसकी यह भी अभिलाषा है कि उसमें उत्पादक को पर्याप्त लाभ हो तथा श्रमिकों को ठीक मजदूरी मिले। इसको इस बात की भी चिंता है कि भारत के हाथ से उसके निर्यात बाज़ार न निकलने पावें और विश्व भर के बाज़ार में मूल्य घट जाने के कारण सरकार ने ऊन, मूंगफलियों, तेल तथा कुछ तिलहनों पर से निर्यात कर को हटा लिया। इसी कारण से सरकार ने कच्ची रुई तथा पटसन के माल पर से निर्यात कर को कम कर दिया। यह आशा है कि इन कार्यों से भारत में इन वस्तुओं का मूल्य घटना रुक जावेगा और अचानक घटने की अपेक्षा स्थिरता से मूल्य घटेंगे।

१०. मूल्य नीति। भारत में बर्ती जाने वाली मूल्य नीति को निश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि गत वर्षों में मूल्यों के क्षेत्र में जो कुछ भी हुआ है उसका सिंहावलोकन कर लिया जावे। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि मूल्यों के चढ़ने का मुख्य कारण युद्ध के वर्षों में तथा उसके बाद भी नोटों की संख्या में वृद्धि होना था। इस समय हमको नोटों की इस आरंभिक वृद्धि के कारणों की जांच नहीं करनी। इस समय हमारा कहन का केवल यही आशय है कि मुद्रा-स्फीति उसी का परिणाम था। मुद्रा-स्फीति भी कई प्रकार की हुआ करती है और वह कई प्रकार से काम किया करती है। अब हम भारत की मुद्रा-स्फीति की स्थिति का अध्ययन करेंगे।

मुद्रा-स्फीति की आरंभिक स्थिति में जब मूल्य तेज़ी से चढ़ते हैं तो उसे हम लाभ की मुद्रा-स्फीति (Profit Inflation) कहते हैं। ऐसे समय मूल्य चढ़ते तो हैं, किन्तु उतने नहीं चढ़ते और लाभ अधिक होता है। मजदूरियां एक विशेष परिमाण तक ही पीछे रहती हैं, किन्तु उनकी सब से अधिक हानि वेतनभोगी मध्य श्रेणी वालों को होती है। यदि पूंजीगत सामान मिलता रहे और यदि कारीगरों अथवा यातायात की कठिनाई न हो तो उत्पादन अधिक हो तथा साधारण स्थिति वापिस आ जावे। यदि किसी कारण से यह संभव न हो तो स्थिति काबू से बाहर हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप

अत्यधिक मुद्रा-स्फीति होती है, जिससे देश की समस्त अर्थव्यवस्था उसी प्रकार नष्ट हो सकती है, जिस प्रकार प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में और फिर बाद में चीन में हुआ था। किन्तु यदि सरकार बुद्धिमानी से समय को पहचान ले और मूल्यों को अधिक न चढ़ने देने का उपाय करे तो वह उनको कुछ उच्च स्तर पर स्थिर करने में सफल हो सकती है। कुछ समय पश्चात् लागत उस उच्च मूल्य के अनुसार ठीक हो जाती है और इस समय हम 'लाभ की मुद्रा-स्फीति' के स्थान में 'लागत के मुद्रा-स्फीति' (Cost Inflation) का अनुभव करते हैं।

लागत की मुद्रा-स्फीति में हम को आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की असमानता मिलती है। बाह्य असमानता का कारण यह तथ्य होता है कि किसी देश का उत्पादन विश्व बाज़ार में प्रतियोगिता नहीं कर सकता। 'निर्यात गिर जाते हैं' आयात या तो चढ़ जाते हैं अथवा स्थिर बने रहते है और भुगतान का संतुलन प्रतिकूल हो जाता है। आन्तरिक असमानता इस कारण होती है कि मूल्य चढ़ने के साथ माल को नहीं बेचा जा सकता। उस समय लाभ कम होता है, जिससे बेकारी बढ़ जाती है। इससे मध्य श्रेणी वालों को सबसे अधिक कष्ट होता है और यदि उनमें बोलने की शक्ति के साथ प्रबलता भी है तो क्रांति हो सकती है।

इसका उपाय सुगम नही है। 'द्रुत मुद्रा-स्फीति' (Galloping Inflation) से देश की अर्थ व्यवस्था उसी प्रकार भंग हो सकती है, जिस प्रकार चीन में हुई थी। यदि मूल्यों को अत्यधिक शीघ्रता से दबाया जाता है, तो मिलें और कारखाने बंद हो सकते हैं, जिससे भारी बेकारी फैलने के साथ-साथ आर्थिक मंदी भी हो सकती है।

विशाल परिमाण के युद्ध से 'लागत की मुद्रा-स्फीति के बाद' 'लाभ की मुद्रा-स्फीति' सभी देशों में आती है। आगामी पृष्ठकी तालिका में गत दस वर्षों के कुछ महत्वपूर्ण देशों के थोक मूल्यों के मूल्य सूचक अंक दिये गए हैं।

इसमें संदेह नहीं कि भारत की स्थिति फ्रांस जितनी बुरी नहीं है। किन्तु ब्रिटेन तथा अमरीका की अपेक्षा उसकी स्थिति बहुत बुरी है। ब्रिटेन ने 'स्टर्लिंग सम्पत्ति' के उपाय के चतुरतापूर्ण उपयोग, कठोर नियंत्रणों तथा बुद्धिमत्तापूर्ण राशन प्रणाली के उपायों द्वारा अपने यहां मुद्रा-स्फीति को नही पनपने दिया। अमरीका की अर्थ व्यवस्था स्वाभाविक रूप से प्रबल है और उसकी उत्पादन क्षमता अत्यधिक है। साथ ही कोई देश कितना भी बुद्धिमान तथा प्रबल क्यों न हो मूल्यों के युद्ध-पूर्व के स्तर पर नही पहुंच सका। किन्तु यदि उस ने अपनी पहले की मुद्रा प्रणाली का परित्याग कर दिया हो अथवा पुराने चलअर्थ की अत्यधिक परिमाण में मुद्रा-स्फीति होने दी हो तो बात ही दूसरी है। इस प्रकार से निश्चय से मुद्रा-स्फीति दूर हो जाती है किन्तु इसमें जनता को अत्यधिक कष्ट का सामना करना पड़ता है क्योंकि उसको अपनी पिछली बचत से हाथ धोना पड़ता है। निश्चय से भारत के विषय में इस प्रणाली के संबंध में विचार तक नहीं किया जा सकता। अतएव हम

तालिका ७
(आधार १९३९=१००)

देश	थोक मूल्य			जीवन का व्यय[1]		
	१९३९	१९४५	१९५०	१९३९	१९४५	१९५०
ब्रिटेन	९५	१५५	२४६	१०३	१५२	१८४
अमरीका	८९	१२३	१८७	९७	१२८	१६७
फ्रांस	१०५	३७५	२,५२०	१२५	४३६	२,३२०
आस्ट्रेलिया	१००	१४०	२२५	१०५	१२९	१७०
भारत	९५	२३१	४१३	१००	२२२	३०२[2]

को उच्च मूल्यों की वर्तमान स्थिति को ही स्वीकार करना पड़ता है और इस बात के लिए यत्न करना पड़ता है कि प्रथम मूल्यों का आगे चढ़ना रोका जावे। और फिर उत्पादन बढ़ाकर लागत को यथासंभव शीघ्र कम किया जावे। लागत कम करने से मूल्य अपने-आप गिरेंगे।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारत सरकार का निम्नलिखित पग उठाने का विचार है—

(क) केन्द्र तथा राज्यों, दोनों में ही घाटे के बजट न बनाए जावें और यथासंभव औचित्य तथा योग्यतापूर्वक सरकारी व्यय कम किये जावें।

(ख) प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष करों द्वारा यथासंभव अधिक से अधिक आय बढ़ाना, किन्तु कर पहले से ही भारत में बहुत उच्च हैं। यहां तक कि नये कार्यों में पूंजी लगाने का साहस नहीं पड़ता। अतएव नये कर अत्यन्त सोच-विचार कर ही लगाए जावें।

(ग) अधिक खाद्य, कच्चे माल तथा उपभोक्ता माल का उत्पादन करना;

(घ) विकास उद्देश्यों के लिए जनता से ऋण लेना ;

(ङ) बैंक की साख पर इस प्रकार नियंत्रण लगाया जावे कि सट्टे का काम रुक जावे;

(च) आवश्यक वस्तुओं के ऊपर कठोर राशन प्रणाली तथा नियंत्रण लागू करके मूल्य चढ़ने से रोके जावें ;

१. साधन—भारत सरकार का कृषि मंत्रालय।

२. १९५०–५१ के लिए

इन सभी उपायों से भारत में काम लिया गया है। किन्तु अनेक दिशाओं में विभिन्न प्रकार का उद्योग करने पर भी मूल्यों में पर्याप्त गिरावट नहीं आई। लागत में मुद्रा-स्फीति बढ़ी हुई है जिससे हमारे निर्यात कम हो रहे हैं। इसके फलस्वरूप हमारे व्यापार में घाटा है और हमको अपने रुपये का मूल्य डालर की अपेक्षा कम करना पड़ा है। मूल्यह्रास से निस्संदेह उस समय हमारा व्यापार संतुलन ठीक हो गया, किन्तु उससे हमारे मूल्य चढ़ने लगे। नवम्बर १९५१ में बैंक दर बढ़ाने के कठोर कार्य को भी किया गया। तब से वस्तुओं के थोक मूल्य गिर रहे हैं। १ मार्च १९५२ को समाप्त होने वाले सप्ताह में थोक मूल्यों का मूल्य सूचक अंक ३९९ था, जबकि वह अप्रैल १९५१ में ४५८ था। माल एकत्रित हो जाने के कारण सरकार ने ऊन, मूंगफली के तेल और कुछ बीजों पर निर्यात कर बिलकुल उठा दिया और रुई पर निर्यात प्रति गांठ ४०० रुपये से घटाकर २०० कर दिया। उद्देश्य यह है कि वस्तुओं का निर्यात होता रहे तथा विदेशी निर्यात की आय बनी रहे। इस प्रकार हमारे उद्देश्यों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है—

(क) सभी आवश्यक पदार्थों के मूल्य को उचित स्तर पर स्थायी करना;

(ख) अधिक उत्पादन द्वारा मूल्यों को क्रमशः गिराना। किन्तु यह बात ध्यान रखने की है कि उनको ऐसे स्तर पर रोका जावे कि जिसमें उनकी लागत पूरी हो जाने के साथ-साथ मजदूरों को पर्याप्त मज़दूरी मिले और उत्पादक को ऐसा पर्याप्त लाभ मिल जावे कि वह जीवन के उचित मान को बनाए रख सके।

(ग) कष्टपीड़ित मध्य वर्ग के कष्टों को दूर करके उनकी सहानुभूति प्राप्त कर उस योजना में क्रियात्मक सहयोग प्राप्त करना, जिसकी इतनी अधिक आवश्यकता है।

(१) **प्रधानता से ग्रामीण रूप—गांव का अकेलापन तथा आत्मनिर्भरता**—गांव वालों की कुछ ऐसी मनोवृत्ति होती है कि उनके आसपास जो कुछ पैदा होता है वह उसी की खपत करते हैं। अतएव गांवों में आन्तरिक आबकारी केवल कुछ वस्तुओं तक ही सीमित रहती है। उदाहरणार्थ नमक, चीनी, दियासलाई, मिट्टी का तेल तथा शराबें। इन सभी वस्तुओं के लिए गांव वाला बाहर की पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि सार्वजनिक स्वास्थ्य, संवाद साधनों तथा यातायात साधनों की पूर्ण तथा योग्य प्रणाली को बनाए रखना है तो गांव को बिखरे हुए तथा उनके अकेलेपन के रूप के लिए अधिक व्यय करना ही पड़ेगा।

(२) **कृषि पर निर्भरता**—जनता का लगभग दो तृतीयांश भाग कृषि पर निर्भर करता है। जब जनता का एक बड़ा भाग एक विशेष पेशे को अपनाता है तो वह स्वाभाविक रूप से कर प्रणाली में अधिक सहायता करेंगे। यही कारण है कि प्रत्येक कृषक भारत की सार्वजनिक आय में कुछ न कुछ अवश्य देता है जबकि अधिकांश कृषि भिन्न आजीविका वाले साफ छूट जाते हैं।

इस प्रकार केवल खेती के ऊपर निर्भरता सार्वजनिक राजस्व को अन्य प्रकार से भी प्रभावित करती है। कृषि वर्षा पर निर्भर करती है, जो सदा ही समय पर, पर्याप्त अथवा समान रूप से विभाजित नहीं होती। समस्त कृषि क्षेत्रफल का चार-पंचमांश से अधिक भाग अनिश्चित वर्षा पर निर्भर करता है। भारत की बरसाती हवाओं का अनिश्चित रूप बजट का हिसाब लगाने में भारी बाधा डालता है। इसी कारण भारतीय बजट को "बरसाती हवाओं में जुआ खेलना," कहा जाता है और जैसा कि इंडियन स्टेट्युटरी कमीशन का कहना है "उसके आने का विशेष प्रयोजन केवल किसान के लिए ही नहीं वरन् शासकों और यहां तक कि भारत के अर्थ सदस्य के लिए भी है।" वर्षा न होने से भूमि की आय घट जाती है। अनेक बार लगान माफ करना पड़ता है या वापिस करना पड़ता है तथा अकाल सहायता अथवा तकावी ऋणों पर व्यय करना पड़ता है। यह प्रभाव तो प्रांतीय राजस्व पर पड़ता है किन्तु केन्द्रीय सरकार के राजस्व भी इस हानि से नही बच पाते। क्रयशक्ति घट जाने का प्रभाव आयातों, साधारण व्यापारिक कार्यों तथा रेलों की आय पर पड़ता है। अतएव समुद्र तट करों, आयकर तथा रेलों की आय सभी में कमी हो जाती है। भारत में कृषि की प्रधानता के कारण ही आयकर को इतना महत्व नहीं मिल पाता, जितना उसे अन्य औद्योगिक देशों में मिलता है। हमारे लिए भूमि कर अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जब कि अन्यत्र उसका महत्व उतना नहीं है।

(३) **निर्धनता**—भारत की निर्धनता के कारण हमारी कर देने की क्षमता कम है और इसीलिए हमारे करों की आय कम है। यह आगे कर लगाने के क्षेत्र को सीमित कर देती है। इसीलिए हमारा सार्वजनिक, स्वास्थ्य शिक्षा तथा अन्य उपयोगी कार्यों अथवा

'राष्ट्र-निर्माण' कार्यों पर व्यय अत्यधिक कम होता है। इसका कारण करदाता की निर्धनता तथा राज्य के अत्यधिक सीमित साधन हैं।

(४) **धन तथा कर लगाने में असमानताएं**—सम्पत्ति के विभाजन में भारी असमानताएं हैं और कर विभाजन में भी उतनी ही गंभीर विषमताएं हैं।

(५) **केन्द्रित शासन की परम्पराएं**—भारत के पास केन्द्रित शासन की बड़ी लम्बी परम्पराएं हैं और भारतीयों ने अनेक कार्यों के लिए सरकार के मुख की ओर देखा है। अतएव भारत में सार्वजनिक व्यय के विस्तार तथा बढ़ने की भारी आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीयकरण के द्वारा गांवों की स्वतंत्र रूप से स्वयं कार्य करने वाली पंचायतों का पतन होने के कारण स्थानीय राजस्व पृष्ठ भूमि में जा पड़ा। भारत में—अन्य उन्नत देशों की तुलना में—स्थानीय राजस्व का महत्वपूर्ण स्थान है और वह पूर्णतया प्रांतीय सरकार की सहायता पर निर्भर है। १९२७-२८ में भारत के सभी स्थानीय बोर्डों की सम्पूर्ण आय को एक साथ मिलाने से वह कम से कम ४० लाख पौंड होती थी जब कि इंग्लैण्ड और वेल्स के गाव से उसी वर्ष में एकत्रित की हुई आय २७० लाख पौंड थी। यह आय ब्रिटिश भारत की उस जनसंख्या का $\frac{१}{३०}$ वें भाग से अधिक नही थी। सभी प्रकार के—नागरिक तथा ग्रामीण—स्थानीय रेट जो १९२७-२८ में ब्रिटिश भारत में वसूल किये गए थे सवा करोड़ पौंड के थे, जोकि केवल लंदन काउंटी काउंसिल की उस वर्ष की आय से जरा ही अधिक थे।

(६) **राजनीतिक अवस्था**—सैनिक व्यय का स्तर, वेतनों की दर तथा सार्वजनिक ऋण की प्रकृति हमारी वैधानिक स्थिति के परिणाम हैं।

इस प्रकार भारत में सार्वजनिक राजस्व की प्रणाली मुख्य रूप से ग्रामीण रूप, एकाकी गांवों, अनिश्चित वर्षा वाली कृषि पर निर्भरता, निर्धनता तथा जनता के जीवन के निम्न स्तर, सम्पत्ति के विषम विभाजन, केन्द्रीय शासन की परम्परा और सबसे अधिक हमारी वैधानिक स्थिति द्वारा निश्चित की जाती है।

३. आर्थिक विकेन्द्रीकरण का इतिहास—सार्वजनिक राजस्व की भारतीय प्रणाली को ठीक-ठीक समझने के लिए हमको आर्थिक हस्तान्तरीकरण के इतिहास पर विचार करके यह देखना आवश्यक है कि केन्द्रीय तथा प्रांतीय राजस्वों का क्रमशः किस प्रकार विकास हुआ।

सन् १८३३ तक प्रत्येक प्रांत आर्थिक विषय में स्वतन्त्र था। उस समय उनमें से सभी की आय स्वतंत्र थी और वह उसको इच्छानुसार व्यय कर सकते थे। डा० अम्बेदकर के शब्दों में इन दिनों "अनेक प्रांत इस प्रकार की पृथक्-पृथक् बड़ी घड़ियों के समान थे, जिनमें से प्रत्येक का मुख्य स्प्रिंग अपना स्वतन्त्र था।"[१]

१. B. R. Ambedkar: Evolution of Provincial Finance in British India, 1925, p. 7.

किन्तु १८३३ के चार्टर ऐक्ट (Charter Act) ने इस स्थिति में मौलिक परिवर्तन कर दिया। उसने विधान सम्बन्धी केन्द्रीयकरण (Legislative Centralization) की आधारशिला रखी, जिसके साथ आर्थिक केन्द्रीयकरण आपाततः आगया। अब सभी आय सपरिषद गवर्नर-जनरल (Governor-General-in-Council) की आय मानी जाने लगी और प्रांत केवल उसको एकत्रित करने तथा व्यय करने वाली एजेंसी मात्र बन गए। प्रांतों को आय बढ़ाने में कोई रुचि नहीं थी, न उनको मितव्ययिता करने का ही कोई प्रलोभन था। वह अपनी मांग को यथासंभव अधिक से अधिक बढ़ाकर रखते थे, क्योंकि उनको "अज्ञात होने के कारण असीमित गर्त में से थैली निकालनी पड़ती थी।" उन दिनों स्ट्रैची (Strachy) के शब्दों में "सार्वजनिक आय का विभाजन एक प्रकार की छीनाझपटी के रूप में, ऐसा पतित हो चुका था, जिसमें सबसे अधिक प्रचण्ड लाभ में रहता था और उसे तर्क पर ध्यान देने को कोई आवश्यकता नहीं थी। स्थानीय आय कोई स्थानीय लाभ न होने के कारण व्यर्थ व्यय की बचत करने का उत्साह न्यूनतम मात्रा में ही था। स्थानीय आय के बढ़ने से स्थानीय उन्नति न होने के कारण सार्वजनिक आय को विकसित करने में रुचि भी न्यूनतम स्तर की ही थी।"

इसका उपाय केवल आर्थिक विकेन्द्रीकरण ही दिखलाई देता था। १८७१ में लार्ड मेयो ने कुछ ऐसे विभागों को प्रांतों के हाथ में हस्तान्तरित कर दिया, जिनका रूप स्थानीय था, प्रांतों को इन विभागों से तो आय होती ही थी, इसके अतिरिक्त उनको इन विभागों का खर्चा चलाने के लिए उन्हें निश्चित रकम का अनुदान भी मिलता था।

अगला पग लार्ड लिटन की सरकार ने १८७७ में उठा कर प्रान्तों को कुछ और विभागों के व्यय का उत्तरदायित्व दे दिया। स्थायी रकम के अनुदान के अतिरिक्त प्रांतों को कुछ आय के साधन भी दिये गए।

सन् १८८२ में लार्ड रिपन के वायसराय काल में एक ऐसी प्रणाली चलाई गई, जिसको 'आय की विभक्त मदों की प्रणाली' कहा जाता था। पिछले बन्दोबस्त में यह कमी थी कि केन्द्रीय सरकार वार्षिक अनुदान देती थी। वह प्रतिवर्ष वादविवाद की जड़ बन जाती थी। अतएव सन् १८८२ में इन वार्षिक अनुदानों को बंद कर दिया गया और उसके स्थान में प्रांतों को आय की कुछ विशेष मदें दी गई, जो केवल उनके ही लिए निश्चित कर दी गई। उनके अतिरिक्त प्रांतों का कुछ अन्य मदों में भाग भी रखा गया।

अर्थ व्यवस्था में अधिकाधिक स्थिरता लाने के उद्देश्य से यह तय किया गया, कि प्रत्येक पांच वर्ष के बाद नया बन्दोबस्त किया जाया करेगा। यह पंचवर्षीय परिवर्तन उसके बाद १८८७, १८९२ तथा १८९७ में किये गए। इनमें सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन न कर कुछ मामूली परिवर्तन किये जाया करते थे। सन् १९०४ में लार्ड कर्ज़न ने इन बन्दोबस्तों को पांच-पांच वर्षों के बाद भी अनिश्चितता की भावना को दूर करने के लिए एक प्रकार से अर्द्ध-स्थायी बना दिया।

सन् १९१२ में लार्ड हार्डिग की सरकार ने उनको स्थायी बना दिया। यह प्रणाली १९१९ के नये सुधारों के लागू होने तक बनी रही।

४. १९१९ के सुधार अधिनियम के अनुसार आर्थिक प्रबन्ध। १९१९ के सुधार अधिनियम ने केन्द्रीय सरकार तथा प्रांतीय सरकारों में आर्थिक सम्बन्ध को बिलकुल ही नया आधार प्रदान किया। आय के विभक्त मदों को बंद कर दिया गया और केंन्द्रीय सरकार तथा प्रांतीय सरकारों के साधनों की स्पष्ट विभाजक रेखा बना दी गई। इसके अतिरिक्त प्रांतों को उधार लेने तथा नये कर लगाने का अधिकार भी दे दिया गया।

मेस्टन निर्णय—केन्द्रीय सरकार तथा प्रांतों के बीच इस प्रकार साधनों का विभाजन कर देने से केन्द्र को ९ करोड़ रुपये का घाटा रहने लगा और प्रांतों को १८ करोड़ रुपये की बचत होने लगी। इसलिए यह आवश्यक था कि जब तक केन्द्रीय आय इस घाटे को पूरा करने योग्य न बन जावे प्रांत केन्द्र को अपनी ओर से देय के रूप में कुछ देते रहें। प्रांतों द्वारा केन्द्र को दी जाने वाली रकम का निर्णय करने के लिए लार्ड मेस्टन की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई। इस कमेटी के निर्णय को मेस्टन निर्णय (Meston Award) कहा जाता है। इस निर्णय को करते समय कमेटी ने इस बात का ध्यान रखा कि प्रत्येक प्रांत के पास काम चलाने योग्य पर्याप्त रकम बची रहे और न किसी प्रांत को अपना खर्च पूरा करने के लिए कोई बड़ा कर लगाना पड़े। कमेटी ने तीन प्रकार के देय निश्चित किये : आरंभिक देय, मध्यवर्त्ती देय तथा प्रामाणिक देय। आरंभिक देयों का आधार प्रांत की तत्कालीन आर्थिक स्थिति को बनाया गया, जबकि प्रामाणिक देय को निश्चित करने के लिए यह विचार किया गया कि वह क्या दे सकता है और उसको आगे चलकर क्या देना चाहिए।

५. १९१९ के सुधारों के अनुसार लिये गए आर्थिक प्रबंधों की आलोचना। मेस्टन निर्णय की कटु आलोचना की गई। उसपर प्रत्येक प्रांत की अपनी-अपनी आपत्तियां थीं। पंजाब, संयुक्त प्रदेश (अब उत्तर प्रदेश) और मदरास को यह आपत्ति थी कि उनके सिर पर अधिक आर्थिक भार डाला गया है। बम्बई तथा बंगाल को यह आपत्ति थी कि उनसे उनके आयकर जैसे आय के बड़े-बड़े साधनों को छीन लिया गया है। इस प्रणाली के विरुद्ध निम्नलिखित मुख्य आपत्तियां थी—

(१) **अपने-अपने भाग का गलत बटवारा**—केन्द्र तथा प्रांतों में साधनों का बंटवारा करते समय उनकी संबंधित आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा गया। केन्द्रीय सरकार के कार्य न्यूनाधिक मात्रा में स्थायी थे। अतएव केन्द्रीय सरकार का व्यय भी बढ़ने की आशा नहीं थी, किन्तु केन्द्रीय सरकार के पास आयकर तथा तटकर जैसे आय बढ़ाने के साधन भी थे जबकि प्रांतों के लोकहितकारी कार्य अथवा राष्ट्र-निर्माणकारी विभाग दिये गए थे। इस प्रकार की सेवाओं पर उनका व्यय अपने भाग का एक अंश तक नहीं था।

इन सेवाओं में विस्तार करने की लगातार मांग की जा रही थी। अतएव उनके ऊपर प्रांतों के खर्च को अत्यधिक मात्रा में बढ़ना था। किन्तु प्रांतीय साधनों में लोच नहीं था। भूमि कर छोटे-छोटे किसानों को पहले से ही भारी बोझा मालूम दे रहा था। आबकारी की आय तभी बढ़ सकती थी, यदि लोग बड़े परिमाण में शराब पीने लगते जब कि प्रांतों का उद्देश्य नशाबंदी करना था। स्टाम्प कर बढ़ाने से न्याय मंहगा होता था। जंगलों को आरंभ में पर्याप्त व्यय की आवश्यकता थी। इस प्रकार यह योजना त्रुटिपूर्ण थी क्योंकि उसमें प्रांतों में आय कम होने के साथ-साथ व्ययों के बढ़ने की संभावना थी। किन्तु केन्द्र में उससे आय बढ़ती तथा व्यय कम होते थे।

(२) **अन्तर्प्रांतीय विषमता को उकसाया गया**—एक और त्रुटि यह थी कि कुछ प्रांतों का ऐसा विचार था कि उनके साथ ठीक-ठीक न्याय नहीं किया गया और वर्तमान विषमताओं को और बढ़ाया गया। बम्बई तथा बंगाल जैसे अत्यधिक उद्योग-प्रधान प्रांतों को उनके आय कर जैसे एकमात्र उत्पादक साधन को छीनकर हानि पहुंचाई गई, बकि पंजाब जैसा कृषि-प्रधान प्रांत लाभ में रहा क्योंकि उनको भूमि कर की आय मिल गई जो उनके लिए एकमात्र महत्वपूर्ण आय साधन था।

(३) **समाज के विभिन्न वर्गों में असमानता**—इस योजना का परिणाम यह भी हुआ कि विभिन्न वर्गों को पहुंचने वाले लाभों को दृष्टि में रखते हुए उनके द्वारा आय में अत्यन्त विषम देय दिया गया। प्रांतीय कोष में अधिकतर धन किसानों से आता था। इसके विपरीत औद्योगिक तथा व्यापारी वर्गों वाले जो नागरिक क्षेत्रों में रहते थे और जिनको प्रांतीय सरकार के कार्यों से अत्यधिक लाभ पहुंचता था—केन्द्रीय कोष में ही अपना भाग देते हैं। इससे प्रांतों में विषम स्थिति उत्पन्न हो गई और कृषिजीवियों तथा कृषिभिन्न-जीवियों के सम्बन्ध खराब हो गए।

(४) **अन्त में**, यह ध्यान में रखना चाहिए कि आय का केन्द्र तथा प्रांतों में स्पष्ट विभाजन व्यावहारिक नहीं है और न संसार भर में ऐसा कहींभी किया गया है। यह संघीय हल (Federal Solution) है जिसे असंघीय राज्य (Non-Federal State) पर लागू किया गया है। संघ राज्यों में भी इस सिद्धान्त का आदर लागू करने की अपेक्षा तोड़ने में अधिक किया जाता है। अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा अन्य संघ राज्यों में रुझान एक करने की ओर को है, न कि विभाजन की ओर। संघ सरकारें आधुनिक समय में वह काम करने लगी हैं, जिसकी आरंभ में उनसे बिल्कुल आशा नहीं की जाती थी। उनकी प्रांतीय-सरकारों को निर्देश देने, उनसे समान आधार पर सहयोग लेने तथा उनके काम में व्यर्थ हस्तक्षेप करने के कार्य दैनिक अधिकाधिक विस्तृत होते जाते हैं। उनसे अधिकाधिक सेवा कार्य लिया जाता रहता है, जिसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि उनकी आर्थिक शक्तियां बढ़ती जाती हैं। भारत में साधनों का पूर्ण विभाजन संतोषजनक सिद्ध नहीं हो सकता।

६. सुधारों के बाद होने वाला आर्थिक विकास। प्रथम महायुद्ध के बाद भारत की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ गईं। युद्ध के बाद के पुनर्निर्माण, चलअर्थ तथा विनिमय की अस्थिरता मूल्यों के उतार-चढ़ाव से व्यापारिक विकास में पड़ने वाली बाधा तथा सबसे अधिक उच्च वेतनों—इन सभी ने मिलकर प्रांतों के बजट में घाटे उत्पन्न कर दिये। केन्द्रीय अर्थ व्यवस्था की दशा भी उनसे अच्छी नहीं थी। केन्द्रीय तथा प्रांतीय दोनों ही सरकारों को भयंकर मितव्ययिता तथा अतिरिक्त कर लगा कर आर्थिक समानता वापिस लाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा था। मेस्टन निर्णय के विरुद्ध प्रांतों का विरोध बढ़ता जाता था।[1] १९२३ में केन्द्रीय सरकार की अर्थ व्यवस्था में उन्नति हो जाने से प्रांतों द्वारा दिये जाने वाले देय (Contributions) में क्रमशः कमी की जाने लगी। १९२७-२८ में उन्हें अस्थायी रूप में स्थगित करके १९२८-२९ में उनको अंतिम रूप से समाप्त कर दिया गया।

किन्तु प्रान्तीय देयों के रोक देने से अन्तर्प्रान्तीय विषमता और भी अधिक बढ़ गई। देयों के कारण कृषि प्रान्तों को कुछ अधिक देना पड़ता था, जिससे असमानता कुछ कम होती जाती थी। अतएव उनके बंद कर दिये जाने पर बम्बई तथा बंगाल जैसे औद्योगिक प्रान्तों का असंतोष अधिक बढ़ गया।

७. १९३५ के विधान के अनुसार आय का विभाजन। १९३५ के अधिनियम के पास होने के पूर्व अनेक प्रकार की आर्थिक जांच की गई। उसके परिणाम-स्वरूप केन्द्र तथा प्रान्तों में आय का निम्न प्रकार से बंटवारा किया गया।

(क) संघीय साधन—तटकर, आयकर (कृषि आय से भिन्न आय), कारपोरेशन टैक्स, नमक कर, रेल्वे आय, तम्बाकू तथा भारत में तैयार किये जाने वाले अन्य माल पर लगाया जाने वाला आबकारी कर (शराबों, नशीले पदार्थों तथा इन वस्तुओं वाली औषधियों तथा शृंगार सामग्रियों को छोड़कर) चलअर्थ तथा सिक्के ढालना, डाक तथा तार टेलीफोन, बेतार तथा आकाशवाणी, सम्पत्ति कर (कृषि भूमि के कर के अतिरिक्त), उत्तराधिकार कर (कृषि भूमि के उत्तराधिकार को छोड़कर), चेकों, विनिमय पत्रों आदि परिवर्तनीय दस्तावेज़ों पर स्टाम्प कर, साख पत्र, बीमा पालिसियां, कम्पनियों में मत देने के लिए प्रतिनिधि नियुक्ति पत्र, रेल द्वारा ले जाये जाने वाले माल तथा यात्रियों के किराये पर कर, सभी केन्द्रीय साधन थे। रेलों से होने वाली सभी आय संघीय रेलवे अधिकारियों को दी जाती थी और उसकी बचत को केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तों में इस प्रकार बांट दिया जाता था कि जिसकी प्रणाली को केन्द्रीय सरकार तय करती थी।

(ख) प्रान्तीय साधन–भूमि राजस्व, आबपाशी कर, आबकारी कर (सभी शराबों, अफीम तथा नशीले पदार्थों तथा उन औषधियों तथा शृंगार सामग्रियों पर जिनमें

१. देखो मुडीमैन कमेटी की रिपोर्ट, पैरा ५३.

ये वस्तुएं पड़ती हों), कृषि आयकर, भूमि तथा मकान आदि पर कर, कृषि भूमि उत्तराधिकार कर, व्यक्ति कर, खनिज वस्तु अधिकार कर, व्यापारों, पेशों कार्यों तथा नौकरियों पर कर, पशु कर, किसी स्थानीय क्षेत्र में बिक्री या खपत के लिए आने वाले माल पर लगने वाला कर, विज्ञापन तथा माल की बिक्री पर लगने वाला कर; आमोद-प्रमोदों, विलास वस्तुओं, तमाशों, जुओं तथा शर्तबंदी पर लगने वाले कर, स्टाम्प कर, रजिस्ट्रेशन कर, जल मार्गों द्वारा प्रांत के अन्दर ले जाए जाने वाले यात्रियों तथा माल पर लगने वाले कर, औज़ारों तथा की हुई सेवाओं के शुल्क प्रान्तीय कर थे।

निम्नलिखित करों को यद्यपि केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया जाकर उसी के द्वारा वसूल किया जाता था, किन्तु उनको प्रान्तों को दे दिया जाता था—

(१) कृषि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर, (२) चेकों, हुंडियों आदि पर स्टाम्प कर, (३) माल तथा यात्रियों पर टर्मिनल टैक्स, (४) माल भाड़े तथा यात्रियों के किरायों पर कर ।

निम्नलिखित करों की आय को संघ सरकार तथा प्रान्तों में आपस में बांट लिया जाता था—

(१) आयकर (कृषि आयकर के अतिरिक्त अन्य आय पर), (२) नमक कर, (३) तम्बाकू तथा भारत में बने उस माल का आबकारी कर, जो प्रान्तीय सूची में नहीं है, (४) निर्यात कर, पटसन निर्यात कर सहित, किन्तु संघीय अधिकारी इसमें तब तक भाग न देने के लिए स्वतन्त्र हैं, जब तक उनकी आर्थिक स्थिति उसकी अनुमति न दे।

८. नीमियर रिपोर्ट। प्रान्तीय स्वतन्त्रता लागू करने के अवसर पर यह देखना आवश्यक हो गया कि नये वैधानिक प्रयोग की सफलता के लिए क्या-क्या आर्थिक सुधार किये जावें। अतएव इस मामले की फिर जांच करना आवश्यक समझा गया। इस जांच के लिए १९३५ में सर ओटो नीमियर (Sir Otto Niemeyer) को नियुक्त किया गया। मुख्य समस्या आयकर के विभाजन की थी। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि बम्बई और बंगाल जैसे औद्योगिक प्रान्तों ने केन्द्रीय सरकार द्वारा आयकर लगाए जाने को कभी पसंद नहीं किया।

सर ओटो नीमियर ने इस संबंध में जो सुझाव दिया वह न तो सार्वजनिक राजस्व के किसी आदर्श सिद्धांत के अनुसार था और न किसी एकमात्र आर्थिक न्याय पर आधारित था। उन्होंने मामले के यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया और तत्कालीन परिस्थितियों में जो सबसे अधिक संभव था, उसी का प्रस्ताव किया।

अपने प्रस्तावों में उन्होंने दो बातों को विशेष रूप से ध्यान में रखा—

(१) केन्द्रीय सरकार की आर्थिक स्थिरता और साख का मौलिक महत्व है, अतएव उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं आने देनी चाहिए और इसी कारण,

(२) वह प्रांतों को ऐसी आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव करना चाहते थे कि प्रांतीय स्वशासन के आरंभ में जिसका उनके पास होना आवश्यक था और उनके पास काम चलाने योग्य उचित बचत का होना भी आवश्यक था। वह प्रांत-प्रांत के बीच में न्याय करना अपना काम नहीं मानते थे। उनका काम किसी रूप में प्रांतीय असमानताओं को दूर करना था। उनका एकमात्र उद्देश्य था कुछ प्रांतों में सदा घाटा रहने की स्थिति को समाप्त करना और "लड़खड़ाते प्रांतों को उनके पांवों पर खड़ा करना।" उन्होंने इस कार्य को आर्थिक सहायताओं, धन संबंधी सहायताओं, प्रांतों पर वाजिब ऋणों को कम करके अथवा सर्वथा छोड़ कर और आय कर तथा जूट निर्यात कर का भाग देकर पूर्ण किया। उन्होंने प्रस्ताव किया कि संयुक्त प्रदेश (अब उत्तर प्रदेश), आसाम, उड़ीसा, पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत और सिंध को नकद वार्षिक सहायता दी जावे और उड़ीसा तथा सिन्ध को अनावर्तक सहायता दी जावे।

मुख्य प्रस्ताव आयकर के विभाजन के संबंध में था। लगभग १२ करोड़ रुपये के आयकर में से आधा अर्थात् ६ करोड़ रुपया प्रांतों को अंतिम रूप में दिया जाना था। किंतु प्रथम पांच वर्षों में प्रांतों को कुछ भी नहीं देना था। प्रांतीय स्वतंत्रता के छटे वर्ष से उनको छै बराबर-बराबर किश्तों में उनका पूरा भाग दिया जाना था। यह भी प्रस्ताव किया गया कि जब तक केन्द्र के पास विभाजन करने योग्य आयकर तथा रेलवे आय की रकम मिला कर कम-से-कम १३ करोड़ रुपये न हो जावें, आयकर का कोई विभाजन न किया जावे। दूसरे शब्दों में आयकर के विभाजन को रेलवे आय पर निर्भर बना कर आकस्मिक रूप दे दिया गया। प्रांतों को दिये जाने वाले आधे भाग को भी जन्म, निवास, जनसंख्या आदि के किसी निश्चित आधार पर विभाजित न करके प्रांतों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए तय किया गया था। उदाहरणार्थ, बम्बई तथा बंगाल में से प्रत्येक को बीस-बीस प्रतिशत दिया गया, जब कि पंजाब में केवल ८ प्रतिशत ही दिया गया।

बंगाल, बिहार, आसाम, पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत तथा उड़ीसा के समस्त ऋण को माफ कर दिया गया। मध्य प्रांत के १९३६ से पूर्व के बजट के घाटों के ऋण तथा १९२१ से पूर्व के अन्य ऋणों को माफ कर दिया गया।

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रस्ताव था—पटसन के निर्यात कर के विभाजन में १२॥ प्रतिशत की वृद्धि, जिससे पटसन उगाने वाले प्रांतों को जूट निर्यात करके ५९ प्रतिशत भाग के स्थान में ६२॥ प्रतिशत भाग मिलने लगे।

सर ओटो को अनके परस्पर-विरोधी दावों को तय करना था। अतएव यह स्वाभाविक था कि वह सभी को सन्तुष्ट न कर सके। जिनको नकद सहायता न मिल सकी उन्होंने स्वाभाविक रूप से यह शिकायत की कि उनके दावों की उपेक्षा की गई। और जिनको सहायता मिल गई उनका कहना था कि उनको पर्याप्त सहायता नहीं मिली। इस निर्णय को अन्यायपूर्ण तथा स्वेच्छाचारी बतलाया गया। किंतु यह विश्वास करने के कारण

हैं कि प्रांतों को इस प्रकार संतुष्ट नहीं किया गया, जैसे वह दिखलाई देते थे। वह अत्यधिक विरोध प्रदर्शित कर रहे थे। तौ भी नीमियर निर्णय को संतोषजनक समझा जा सकता है।

द्वितीय युद्ध आरंभ हो जाने के कारण कुछ इस प्रकार की परिस्थिति बन गई कि आयकर के विभाजन के संबंध में नीमियर योजना में फर्वरी १९४० में संशोधन करना पड़ा। सन् १९३९ से लेकर १९४२ तक के तीन वर्षों का केन्द्र का भाग गत तीन वर्ष के औसत के आधार पर ४।। करोड़ रुपये निश्चित किया गया। इस संशोधित प्रणाली को १९४६-४७ तक के लिए बढ़ा दिया गया और उसके बाद केन्द्रीय सरकार द्वारा रखे जाने वाले आयकर के प्रांतीय भाग को क्रमशः कम कर दिया जावेगा। पुरानी योजना के अनुसार प्रांतों को रेलवे आय तथा आयकर के बड़े भाग का लाभ मिलता था और इन दोनों में युद्ध परिस्थिति के कारण विशेष वृद्धि हो गई थी। केन्द्रीय सरकार द्वारा युद्ध की हानि को सहन करने के कारण उचित यही था कि उसके लाभ का अधिकांश भी उसी को मिले। किंतु यह अनुमान लगाया गया कि नये प्रबन्ध से प्रांत भी घाटे में नहीं रहे।

सरकार कमेटी ने १९४८ में प्रस्ताव किया कि समस्त आयकर में से प्रांतों के भाग को ५० प्रतिशत से बढ़ा कर ६० प्रतिशत कर दिया जावे। कारपोरेशन टैक्स तथा संघीय लाभ के करों में से भी प्रांतों को ६० प्रतिशत ही दिया जावे। उन्होंने यह भी प्रस्ताव किया कि विभाजन के आधार के रूप में कर संग्रह के साधन को अब से अधिक महत्व दिया जावे। किंतु ड्राफ्टिंग कमेटी (Drafting Committee) ने इन प्रस्तावों को पसंद नहीं किया और प्रस्ताव किया कि प्रांतीय भाग को परिषद आदेश (Order in Council) अथवा विधान मंडल के एक अधिनियम द्वारा तत्कालीन स्थिति के अनुसार निश्चित किया जावे।

देशमुख निर्णय—नीमियर निर्णय विभिन्न प्रांतों के आयकर के उनके भाग के संबंध में परस्पर विरोधी दावों को निपटाने में सफल नहीं हो सका। कुछ प्रांतों ने इस निर्णय का बाद तक भी विरोध किया। उड़ीसा का विचार था कि सिंध की तुलना में उसके साथ न्याय नहीं किया गया। मदरास जनसंख्या के आधार पर एक बड़ा भाग पाने का दावा कर रहा था। बम्बई की शिकायत थी कि आयकर का २५ प्रतिशत भाग उसकी सीमा के अंदर ही उगाया गया था। किंतु उसका भाग उससे कहीं कम था। बंगाल की शिकायत थी कि उसकी अपेक्षा बम्बई को अधिक पक्षपातपूर्ण रियायतें दी गई है। बिहार का विचार था कि सब से अधिक निर्धन प्रांत होने के कारण उसके ऊपर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। उत्तर प्रदेश का कहना था कि कुछ प्रांतों को उससे बड़ा भाग दिया गया है। नीमियर निर्णय से पंजाब भी सन्तुष्ट नहीं था। निर्णय देते समय सर ओटो नीमियर ने किसी भी एक सिद्धांत का अनुसरण नहीं किया, जबकि प्रत्येक प्रांत ने अपना-अपना दावा उपस्थित करते हुए इस प्रकार का दृष्टिकोण उपस्थित किया कि उसको सबसे बड़ा भाग मिले। नीमियर जांच का क्षेत्र केवल "प्रांतीय स्वतंत्रता को एक सम पेंदे पर टिका देना" भर था और अपने

इस उद्देश्य में वह निश्चय से सफल हुए। उनके निर्णय पर दस वर्ष तक बिना किसी परिवर्तन के आचरण किया गया और उसके बाद तीन वर्ष तक उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन करके उसपर आचरण किया गया। यह इस बात का प्रमाण है कि सर ओटो नीमियर का निर्णय तत्कालीन परिस्थिति में सर्वाधिक उपयुक्त निर्णय था।

देश का विभाजन होने के कारण नीमियर निर्णय में और भी परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। भारत सरकार ने नवम्बर १९४९ में रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर और वर्तमान अर्थमंत्री श्री चिन्तामणि देशमुख को आयकर तथा पटसन पर निर्यात कर के उचित विभाजन में अपना निर्णय देने के लिए निमंत्रित किया। पाकिस्तान की स्थापना से भारत से बंगाल, आसाम तथा पंजाब के भागों तथा समस्त सिंध एवं पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त को काट दिया गया। इसके परिणामस्वरूप आयकर की विभाज्य आय की रकम को बढ़ा दिया गया। श्री देशमुख को यह काम दिया गया था कि वह (क) विभक्त बंगाल, पंजाब और आसाम के भाग को उनकी नई सीमा को दृष्टि में रखते हुए फिर तय करें; तथा (ख) उनसे बची हुई आय को भारतीय संघ के प्रान्तों में पुनर्विभाजित करें। कुछ नये सिद्धान्तों के अनुसार आय का नये सिरे से पुनर्वितरण करना उनका काम नहीं था क्योंकि उसमें भारी परिवर्तन होने के कारण भयंकर आर्थिक अड़चनें आने की संभावना थी। इस विषय पर १९५२ में नियुक्त किये जाने वाले अर्थ कमीशन (Finance Commission) को नये सिरे से विचार करना था। इसलिए श्री देशमुख ने उसी पुरानी पद्धति से विचार करके परम्परानुसार ही निर्णय दिया। वह नीमियर निर्णय की पुनरुक्ति मात्र ही था।

विभाजन के फलस्वरूप बंगाल तथा पंजाब के प्रतिशत भाग को २० प्रतिशत तथा ८ प्रतिशत से घटाकर क्रमशः १२ प्रतिशत तथा ५ प्रतिशत कर दिया गया। इस कमी के कारण तथा सिंध एवं सीमाप्रांत के भाग के बच जाने के कारण श्री देशमुख के हिसाब के अनुसार आयकर का विभाज्य भाग १९४८ की अपेक्षा १४·५ प्रतिशत बढ़ गया। श्री देशमुख ने उसका निम्नलिखित प्रकार से बंटवारा किये जाने का प्रस्ताव किया—

प्रान्त	आरंभिक मौलिक भाग	अतिरिक्त योग	योगफल
बम्बई	२०	१	२१
मदरास	१५	२·५	१७·५
पश्चिमी बंगाल	१२·५	१	१३·५
उत्तर प्रदेश	१५	३	१८
मध्य प्रदेश और बरार	५	१	६
पूर्वी पंजाब	४	१·५	५·५
बिहार	१०	२·५	१२·५
उड़ीसा	२	१	३
आसाम	२	१	३

जूट के निर्यात कर में से प्रान्तों को नए सिरे से विचार करने पर निम्न भाग मिला—पश्चिमी बंगाल १०५ लाख रुपये, आसाम ४० लाख रुपये, बिहार ३५ लाख रुपये तथा उड़ीसा ५ लाख रुपये।

किन्तु देशमुख निर्णय का भी उसी प्रकार का स्वागत हुआ जैसा नीमियर निर्णय का किया गया था। कोई भी राज्य उससे संतुष्ट नही हुआ। जिनको अधिक मिला वह और भी अधिक लेना चाहते थे। जिनको कम मिला वह तो घाटे में थे ही। पश्चिमी बंगाल की शिकायत थी कि उसके ऊपर नीमियर निर्णय द्वारा किये हुए अन्याय को स्थायी बना दिया गया। बिहार की शिकायत थी कि उसके द्वारा "अधिक साधन वाले राज्यों को अधिक तथा कम साधन वालों को कम दिया गया था।" बम्बई ने एक "उचित व्यवहार" की मांग की थी। मदरास ने उसमें "मदरास के विरुद्ध विभिन्नता" का अनुभव किया इत्यादि। श्री देशमुख सभी को किसी प्रकार भी संतुष्ट नहीं कर सकते थे। अतएव उन्होंने असंतोष का भी समान अनुपात में विभाजन कर दिया। सभी राज्यों के इस असंतोष से संभवतः यह प्रगट होता है कि उक्त निर्णय को संभवतः उनमें से किसी ने भी पसंद नहीं किया। किन्तु यह एक अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण और उचित निर्णय था और श्री देशमुख ने विभाजन ठीक किया। उनका कार्य किसी मौलिक सिद्धांत के आधार पर विभाजन करना नहीं था। उनके अपने शब्दों में "नीमियर द्वारा किसी सिद्धांत का अनुसरण न किये जाने के कारण मेरा काम किसी मिश्रण, स्थान और जनसंख्या के आधार पर अविभक्त बंगाल तथा पंजाब के भाग में से प्रतिशत अनुपात निकालना किसी प्रकार भी नहीं था। मेरे विचार में उन छूटे हुए भागों का विभाजन निश्चित करने का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग था। नीमियर योजना में यथासंभव समीपता से पाकिस्तान में गए हुए भाग को इस प्रकार निश्चित करना कि मानों वह भी एक स्वतंत्र प्रांत थे, और उसी प्रकार उन्होंने उस भाग का वर्तमान प्रान्तों में विभाजन किया।"

उनका काम एकदम सीमित था कि वह देश-विभाजन के कारण खाली हुए कोष भाग का वर्तमान प्रान्तों में बंटवारा कर दें। यदि वह पिछली स्थिति से कठोरतापूर्वक वापिस जाते तो उससे वर्तमान आर्थिक समानता में गड़बड़ होती और वह बहुत कुछ बिगड़ जाती। पिछली स्थिति को बनाए रखना ही सबसे अच्छा था। जिस प्रकार नीमियर निर्णय को इस प्रकार जांचा गया कि उसने प्रान्तीय स्वतन्त्रता को कार्य करने योग्य बनाया अथवा नहीं उसी प्रकार अब परीक्षा यह है कि इस राष्ट्रीय विभाजन से विभिन्न राज्यों में उठाई गई विकास योजनाओं को कार्य रूप में परिणत करने में सहायता मिलती है अथवा नहीं।

१०. **संघीय राजस्व**। भारत एक संघ राज्य बनने की तैयारी कर रहा था और १९३५ के विधान में संघीय प्रणाली पर आर्थिक प्रबन्ध किये गए थे। केन्द्र और प्रान्तों

दोनों को ही बजट की स्वतन्त्रता दी गई। आर्थिक अधिकारों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की गई और साधनों का स्पष्ट रूप से विभाजन कर दिया गया।

संघीय राजस्व की कुछ सर्वस्वीकृत आवश्यकताएं हैं। प्रथम तो उस प्रबन्ध से शासन सम्बन्धी बचत होती हो। कर से बच निकलने तथा धोखा देने की संभावना को दूर कर दिया जावे और कर का तखमीना करने तथा कर वसूल करने का खर्चा कम-से-कम किया जावे। अतएव कुछ करों को संघ द्वारा लगाया जाकर एकत्रित किया जाना ही चाहिए; फिर भले ही उनकी आय की इकाइयों में बांट दिया जावे। इस दृष्टिकोण से तट-कर, कारपोरेशन टैक्स और सम्पत्ति कर तथा कुछ आबकारी करों को केन्द्रीय बना दिया जाना चाहिए। दूसरे, आर्थिक प्रबन्ध में प्रत्येक इकाई को न केवल उनकी तात्कालिक आवश्यकता के लिएवरन् भावी विकास के लिए भी पर्याप्त धन दिया जाना चाहिए। तीसरे, प्रत्येक प्रान्त अपने निजी क्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र हो। शासन सम्बन्धी कार्यो तथा साधनों को प्रान्तों के लिए विभाजन में एकरसता तथा समानता होनी चाहिए, जिससे न केवल साधन पर्याप्त हों, वरन् वह शासनिक रूप से भी उनके अपने क्षेत्रों में आते हों। केवल इसी प्रकार एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप को तथा एक-दूसरे पर निर्भरता को हटाया जा सकेगा। अन्यथा प्रान्तीय स्वतन्त्रता एक दंतकथा बन जावेगी और संघ का अर्थ कुछ भी नहीं रहेगा।

संघीय अर्थ व्यवस्था की इन आवश्यक बातों को पूर्ण करने के लिए संघ तथा संघीय इकाइयों के बीच साधनों को तय करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रस्ताव उपस्थित किए गए। प्रोफेसर सालिगमान ने निम्नलिखित पांच प्रणालियों का प्रस्ताव किया है—

(१) साधनों का पूर्ण पृथक्त्व (२) कर के अनुमान का कार्य प्रान्तों का तथा अतिरिक्त कर का काम संघ का; (३) कर के अनुमान करने का काम केन्द्र का तथा उसके अतिरिक्त वसूल करने का काम राज्यों का; (४) आय का विभाजन और (५) संघ सरकार से सहायताएं।

आदर्श हल तो पूर्ण पृथक्त्व ही है। किन्तु ऐसा बहुत कम होता है कि इस प्रकार एक-दूसरे के भाग में आये हुए साधन स्पष्ट रूप से इतनी रकम दे सकें कि जितनी उस २ सरकारी इकाई की आवश्यकता हो। अतएव प्रत्येक स्थान में स्पष्ट विभाजन किये जाने की आवश्यकता नहीं है। समझौता करना ही पड़ेगा और भारतीय प्रबन्ध अनेक सिद्धान्तों के बीच में समझौते को प्रगट करता है।

फिर सिद्धान्त रूप में यही सबसे अच्छा है कि सभी प्रत्यक्ष कर इकाइयों के हों और अप्रत्यक्ष कर संघ के हों। कुछ पिछले अनुभवों से सिद्धान्त और व्यवहार में विभिन्नता का पता चला। संघ द्वारा अधिकाधिक कार्य करते जाने के कारण उसका प्रत्यक्ष कर लगाना अनिवार्य हो गया। अमरीका (U.S.A.) में संघ सरकार ने १९१३ में प्रत्यक्ष कर लगाए। आस्ट्रेलिया में भी संघ सरकार आयकर का ६० प्रतिशत लेती है। पृथक्त्व की अपेक्षा पूर्णता ही ठीक नियम जान पड़ता है। उससे एकरूपता तथा पूर्णता आती है।

आजकल सामान्यतया तीन सूचियां रखी जाती हैं, (१) पूर्णतया संघीय, (२) पूर्णतया प्रान्तीय और (३) दोनों द्वारा संयुक्त । संघ द्वारा आर्थिक सहायता देना भी संघीय अर्थ व्यवस्था का एक सामान्य रूप है और इसके लिए अनेक कारण हैं। प्रान्तीय कार्यो का सम्बन्ध लोकहितकारी कार्यो से अधिक होता है । अतएव उनमें अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है । प्रान्तीय समानताओं का संतुलन करने के लिए केन्द्रीय सहायता भी आवश्यक होती है । इससे धनी क्षेत्रों का धन निर्धन क्षेत्रों को मिल जाता है तथा सेवा का न्यूनतम मान भी बना रहता है ।

मांटफोर्ड सुधारों (Montford Reforms) के समय से संघीय अर्थ व्यवस्था की कठिन तथा दिक करने वाली समस्या भारत के अर्थ विशेषज्ञों के मन में घूम रही है। साइमन कमीशन के आर्थिक परामर्शदाता (Financial Adviser) सर वाल्टर लेटन (Sir Walter Layton) इस परिणाम पर आए थे कि भारत के आय साधन ऐसे नहीं हैं कि उनका केन्द्र तथा प्रान्तों में स्पष्ट रूप से विभाजन किया जा सके। उनकी सम्मति करों का एक ऐसा कोष बनाने की थी, जिससे प्रान्तों की सहायता उनकी आवश्यकता के अनुसार की जा सके । वर्तमान आर्थिक चित्र सर वाल्टर लेटन के विचारों का समर्थन करता है ।

११· नये विधान की आर्थिक व्यवस्थाएं । भारत के नये विधान में १९३५ के अधिनियम में दी हुई आर्थिक व्यवस्था को व्यवहारतः स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है । इस प्रकार केन्द्रीय सरकार, आगे भी तटकरों, केन्द्रीय आबकारी, कारपोरेशन कर सहित आयकर, डाकखानों तथा तार, रेलों की आय को लेती रहेगी। राज्य सरकारें भूमिकर, जंगलात, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन, प्रान्तीय आबकारी कर, कृषि आयकर तथा अन्य करों को लेती रहेंगी, जिनमें वह पेशों, व्यापारों, व्यवसायों, नौकरियों, बिक्री कर, मनोरंजन कर, शर्तबंदी पर कर तथा चर-सम्पत्ति पर कर लेती रहीं । श्री नलिनी रंजन सरकार की अध्यक्षता में बनी हुई विशेषज्ञ कमेटी ने सिफारिश की कि वर्तमान अस्थायी दशाओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान विभाजन को बने रहने दिया जावे । वर्तमान विधान के लागू होने से पांच वर्ष तक के लिए वर्तमान व्यवस्था को जारी रहने दिया गया। पांच वर्ष के बाद अर्थ कमीशन समस्त समस्या पर नये सिरे से विचार करेगा ।

विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों के अनुसार केन्द्र के पास निम्नलिखित करों की समस्त आय रहेगी–(क) तटकर निर्यात कर सहित, (ख) सम्पत्ति आदि के पूंजी मूल्य पर कर, (ग) रेल्वे के यात्री तथा माल किरायों पर कर, तथा (घ) तम्बाकू के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर केन्द्रीय आबकारी कर । कुछ करों की कुल आय में केन्द्र तथा राज्य सरकारों दोनों का भाग रखा गया। वह यह है—(क) कारपोरेशन कर सहित आय कर, (ख) तम्बाकू पर केन्द्रीय आबकारी कर, (ग) जायदादों तथा उत्तराधिकार पर कर। पटसन उत्पादक प्रान्तों को १० वर्ष तक के लिए कुछ निश्चित सहायता दी गई। किन्तु इससे अन्य

प्रान्तों को निर्यात करो में भाग मांगने का प्रोत्साहन मिला, उदाहरणार्थ—आसाम चाय के निर्यात कर में भाग मांग रहा है। संघीय स्टाम्प कर तथा माल पर टर्मिनल टैक्स, औषधियों तथा शृंगार सामग्रियों आदि पर आबकारी कर का प्रबन्ध तो केन्द्र के हाथ में रखा गया, किन्तु यह निश्चय किया गया कि उसको पूर्णतया प्रान्तों के लाभ में खर्च किया जावे। आसाम तथा उड़ीसा को पहले से कहीं बड़ी सहायता देना तय किया गया। पश्चिमी बगाल तथा पंजाब को भी एक सीमित अवधि तक सहायता देने का निश्चय किया गया। तम्बाकू कर का कम-से-कम ५० प्रतिशत भाग अनुमानित उपभोग के आधार पर प्रान्तों में बांटना तय किया गया। उत्तराधिकार तथा स्थायी सम्पत्ति कर का कम-से-कम ६० प्रतिशत प्रान्तों में निम्नलिखित आधार पर बांटना तय किया गया : वास्तविक सम्पत्ति पर कर को सम्पत्ति के स्थान के आधार पर बांट दिया जावे और शेष में से तीन चतुर्थांश को जनसंख्या के आधार पर।

इस बात की व्यवस्था की गई है कि भविष्य में एक अर्थ कमीशन (Finance Commission) नियुक्त किया जावे जो (क) केन्द्र द्वारा शासित करों में प्रान्तों का भाग निश्चित करे, (ख) प्रान्तों द्वारा सहायता के लिए दिये हुए प्रार्थना-पत्रों पर विचार करके उनके सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दे और (ग) राष्ट्रपति द्वारा सौंपे हुए अन्य विषयों के सम्बन्ध में विचार करके उनपर रिपोर्ट दे। इस कमीशन की स्थापना की जा चुकी है। यह कमीशन प्रत्येक पांच वर्ष के बाद परिस्थिति की आलोचना किया करेगा। इस व्यवस्था के अतिरिक्त हमारे विधान में यह भी व्यवस्था है कि राष्ट्रपति अनिवार्य आवश्यकता के समय विधान की सामान्य आर्थिक उपबन्धों (Provisions) को चाहे जब रोक सकते है अथवा उनमें परिवर्तन कर सकते हैं। इन व्यवस्थाओं के कारण भारतीय आर्थिक प्रणाली में अत्यधिक लोच उत्पन्न हो गया है।

भारत में सार्वजनिक अर्थ प्रबन्ध का रूप अधिकतर इस बात पर निर्भर करेगा कि राष्ट्र निर्माण अथवा विकास कार्यो के व्यय का उत्तरदायित्व केन्द्र ले अथवा राज्य लें। वर्तमान स्थिति में राज्य की आय अत्यन्त अपर्याप्त है और वह आधुनिक ढंग पर सामाजिक सेवाओं को बनाये नहीं रख सकते हैं और केन्द्रीय सरकार के पास भी अपने खर्चे से अधिक इतना धन नहीं है कि वह अपनी भारी बचत से राज्यों की सहायता कर सके। प्रान्तीय स्वतन्त्रता के पक्ष में आज अत्यन्त प्रबल भावनाएं हैं, किन्तु जब तक प्रान्तीय आय के विकास से उसकी सम्पुष्टि नही की जा सकती केन्द्र का शासन बना ही रहेगा। जनसंख्या, जन्म अथवा आवश्यकता आदि के आधार पर प्रान्तों के अन्दर·विभाजन की वर्तमान आवश्यक प्रणाली को बना ही रहने देना होगा।

अन्य संघीय सरकारों के समान भारत की केन्द्रीय सरकार को सामाजिक सुधार की योजनाओं को आरंभ करने, उनका मार्ग प्रदर्शन करने तथा उनकी योजनाओं में समान

आधार पर सहायता देने में महत्त्वपूर्ण कार्य करना ही होगा। हमको केन्द्रीय सरकार के कम होते जाने वाले तथा स्थायी कार्यो तथा केन्द्र और प्रान्तों के पारस्परिक निवारकता के विचारों को तिलांजलि देनी होगी। अतएव अपने साधनों के प्रभावपूर्ण उपयोग के लिए यह आवश्यक होगा कि परामर्श तथा समान रूप में सहयोग के लिए एक अन्तर्प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्ध समिति बना ली जावे।

यद्यपि भारत की अर्थप्रबन्ध प्रणाली संघीय अर्थ प्रबन्ध का एक झीना पर्दा पहने रहती है तौ भी भारत में केन्द्र को सदा ही इस बात का अधिकार है कि वह एकरूपता लाने के लिए निर्देश दे सके। और यह वैसा हो जैसा उसको होना चाहिए। आज भारत के सामने अद्भुत आर्थिक समस्याएं सुलझाने को पड़ी है, जिनमें केन्द्र तथा इकाइयों का समान भाव से सहयोगात्मक प्रयत्न होना अत्यन्त आवश्यक है। मई १९४९ में प्रान्तीय अर्थ प्रबन्ध के समान रूप में सहयोग न करने के विरुद्ध प्रतिरोध किया गया था, जिससे गोलमाल हो रहा था और परस्पर विरोध अर्थप्रबन्ध की नीतियों का जंगल बन गया था। इस विषय में व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के भारतीय संघ ने भारत सरकार को एक स्मृति-पत्र दिया था। उसमें यह बतलाया गया था कि प्रान्तों द्वारा अनेक विधि कर लगाने से व्यापार तथा उद्योगधन्धों के विकास में बाधा आवेगी। वह भारतीय अर्थशास्त्र के लिए सामूहिक रूप से हानिप्रद सिद्ध होगी। प्रान्तों ने आबकारी आय को छोड़ दिया है और संचित कोष में से बुरी तरह से खर्च किया है। साथ ही उन्होंने बिना किसी विभेद के व्यापार और उद्योग-धन्धों पर कर लगाए हैं जिससे मुक्त व्यापार में बाधा आई है। बिक्री कर से सबसे अधिक हानि हुई है। पाकिस्तान ने बिक्री कर को केन्द्रीय विषय बना दिया है। यह एक बुद्धिमत्ता-पूर्ण कार्य है और भारत को उसका अनुकरण करना चाहिए।

दो बातें आवश्यक हैं—अतिरिक्त आय की प्रान्तीय आवश्यकता को पूरा किया जाना चाहिए और केन्द्रीय अर्थ प्रबन्ध के क्षेत्र में एकरूपता की रक्षा की जानी चाहिए। अतएव यह बहुत आवश्यक है कि परामर्श द्वारा और यदि आवश्यक हो तो नये कानून द्वारा कर लगाने, व्यय और उधार लेने के संबंध में एक सहकारी नीति का निर्माण किया जावे।

१२. देशी राज्यों की आर्थिक एकता। देशी राज्यों के भारतीय संघ में प्रवेश करने से यह समझा जाता है कि प्रान्तों तथा देशी राज्यों का अन्तर मिट जावेगा और संघीय अर्थप्रबन्ध के एकरूप नमूने का विकास किया जावेगा। इस उद्देश्य के लिए श्री वी. टी. कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई थी। उक्त कमेटी के प्रस्तावों के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने १ अप्रैल १९५० से भारत के देशी राज्यों के केन्द्रीय विषयों के लिए आर्थिक प्रबंध तथा उत्तरदायित्व को अपने हाथ में ले लिया। किन्तु देशी राज्यों की अर्थ व्यवस्था में अचानक गड़बड़ी न होने देने के लिए यह निश्चय किया गया कि आवश्यक आर्थिक तथा शासन सम्बन्धी प्रबंधों को १० वर्ष के अन्दर-अन्दर किया जावे। इस प्रकार एकीकरण की प्रणाली धीरे-धीरे सम्पन्न की जावेगी

और उस एकीकरण के पूर्ण होने तक राज्यों में केन्द्रीय विषयों के वास्तविक शासन के कार्य को राज्य सरकारों के हाथ में केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में छोड़ दिया जावेगा। राज्यों तथा राज्य संघों की इस आन्तरिक अर्थ प्रबन्ध रचना को प्रान्तों की रचना के जैसी भी बनाना है। अतएव राज्यों के अधिकार तथा उत्तरदायित्व भी प्रान्तों के समान होंगे। राज्यों को प्रान्तों के समान केन्द्रीय सरकार से अनुदान, आर्थिक सहायता आदि प्राप्त करने का अधिकार होगा।

१ अप्रैल १९५० से केन्द्रीय सरकार ने सभी राज्यों में आयकर, केन्द्रीय आबकारी कर तथा अन्य केन्द्रीय करों को लगा दिया और केन्द्रीय सरकार ने सभी राज्यों के लिए रक्षा रेलवे, डाक तथा तार, आन्तरिक्ष विज्ञान (Meteorology) तथा आकाशवाणी जैसे कार्यों को करना आरंभ कर दिया। भूमि कर जैसी आन्तरिक व्यापारिक बाधाओं को दूर कर दिया गया और आज भारत एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य कर रहा है।

पैंतीसवाँ अध्याय

प्रान्तीय अर्थप्रबन्ध

१. प्रस्तावना। एक पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि किसी समय भारतीय प्रान्तों का स्वतन्त्र आर्थिक अस्तित्व नहीं था। वह केन्द्र की दया पर आश्रित थे और वार्षिक अनुदानों द्वारा उनका काम चलाया जाता था। १९१९ में केन्द्र तथा प्रान्तों में आय के साधनों का एक स्पष्ट विभाजन हो गया। प्रान्तीय सरकारों के पास आय की मुख्य मदें यह हैं—भूमिकर, भूसिंचन कर, उत्पाद कर, जंगलात, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन तथा अनुसूची के अन्य कर।

अब आय के इन साधनों में से प्रत्येक पर पृथक् २ विचार किया जाता है—

२. आय की प्रान्तीय मदें। **भूमिकर**—भारतीय कर प्रणालियों में भूमि-कर का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तटकरों के बाद आय का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। इससे प्रतिवर्ष ३४ करोड़ रुपये की आय होती है।

भारत की भूमिकर प्रणाली में अनेक परस्पर-विरुद्ध बातें भरी हुई हैं। कृषि-भिन्न आय वालों पर—जिसकी आय में तीन सहस्र रुपये से कम पर कर नहीं लगता, जब कि निर्धन से निर्धन किसान को—जो पूरे वर्ष भर मेहनत करके भी अपने तथा अपने परिवार के भरण पोषण योग्य पर्याप्त धन नहीं कमा पाता, भूमि कर देना पड़ता है। उत्तरप्रदेशीय बैंकिंग जांच कमेटी के हिसाब के मुताबिक ३० प्रतिशत खेतों में घाटा रहता है। उसके बाद के ५२ प्रतिशत कठिनता से अपना खर्च पूरा कर पाते हैं। स्पष्ट ही सरकार ८२ प्रतिशत खेतों का कर माफ़ करके इतनी आय की हानि नहीं उठा सकती। घाटे के खेतों का कर माफ़ कर देने से खेतों के टुकड़े २ होने की प्रणाली को प्रोत्साहन मिलेगा। इसके अतिरिक्त किसी लाभप्रद खेत के लिए कोई परीक्षा भी निश्चित नहीं की जा सकती। वह तो प्रत्येक प्रान्त में भिन्न २ प्रकार की होगी। इसके अतिरिक्त अन्य भी शासन सम्बन्धी सैंकड़ों कठिनाइयां आ उपस्थित होंगी, तौ भी भारतीय किसान को—जो कि संसार भर में सब से निर्धन तथा सब से अधिकतर कर भार वाला है—सहायता देने का कोई मार्ग निकालना ही चाहिए।

भूमिकर की मांग में वास्तविक सम्पत्ति का कुछ प्रतिशत अनुपात होता है। किंतु इस विषय में तथा बन्दोबस्त की शर्तों में अत्यधिक विभिन्नताएं हैं। एक दूसरे प्रान्त की अपेक्षा उसमें २८ प्रतिशत विभिन्नता है। किंतु प्रान्तीय जनसंख्या[1] की दृष्टि से उसमें

---

१. C. N. Vakil: Fiscal Developments in British India, 1926, p. 371.

३०० के अपेक्षा ४३० प्रतिशत विभिन्नता है। "उसको लगान की अपेक्षा अनुपात उत्तर प्रदेश में ५० के प्रति २० प्रतिशत; मध्यप्रदेश में ४२ के प्रति ७ प्रतिशत और मद्रास में १०० के प्रति १० प्रतिशत है।"[1]

सब से बड़ा विरोध बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त में है, जिस के द्वारा राज्य ने मूल्य में वृद्धि करने का अपना अधिकार स्थायी रूप से छोड़ दिया है। भूमिकर की कठोरता इस तथ्य में है कि उसको बड़े लम्बे समय के लिए निश्चित कर दिया गया है। पंजाब में क्रमिक वृद्धि प्रणाली को लागू करके इस कमी पर विजय प्राप्त की गयी है।

इसमें संदेह नहीं कि इस कर को लौटाया जा सकता है। प्रान्तीय विधान मंडल में कृषि स्वार्थों की प्रधानता होने पर उपयुक्त अवसर पर भूमि कर में कमी की जा सकेगी।

भूमि कर की त्रुटियों का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है:—

"यह लगाये जाने के ढंग में अनिश्चित, तखमीना लगाने तथा वसूली में गलत, अपने शासन में खर्चीला, अपने विभाजन में असमान तथा लोचरहित है। यह कर देने वाले कृषक को लाभ न पहुंचा कर पूंजी की वृद्धि तथा कृषि की उन्नति में बाधक है।"[2]

भूसिंचन—पानी की दर कर के रूप में है। किंतु यह किसी एक सिद्धांत पर नहीं लगाया जाता। प्रत्येक प्रान्त का रिवाज पृथक्-पृथक् है। कभी २ उसको भूमि कर के साथ मिला दिया जाता है। अन्य मामलों में नहरी भूमि तथा बिना नहर वाली भूमि पर अलग दर से कर लिया जाता है। पानी कर को सेवा की लागत के सिद्धांत पर नहीं लिया जा सकता। क्योंकि ऐसी अवस्था में प्रत्येक आबपाशी कार्य के लिए दर अलग अलग होगी। न उसको लाभ के सिद्धांत पर ही लगाया जा सकता है। कोई समझौता करना ही होगा।

किसान के साथ उदार व्यवहार किये जाने के लिए कारण है। यह सोचना गलत है कि कोई विशेष वर्ग भूसिंचन के कार्यों से लाभ उठाता है। वह राष्ट्रीय आय तथा कर लगाने योग्य शक्ति में वृद्धि करते हैं। वह अकाल पड़ने पर प्राणरक्षा करते हैं और भूमि कर न लेने अथवा उसमें कमी करने की आवश्यकता को दूर करते हैं। अतएव उनके ऊपर अधिक व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है।

आजकल पानी की दरों पर बहुत कम पुनर्विचार किया जाता है। किंतु कृषि के लिए लाभ-प्रद अथवा अलाभप्रद होने की दृष्टि से उस पर पुनर्विचार किया जाना आवश्यक

---

१. Rangaswamy Aiyangar: Some Modern Trends in Public Finance, 1936.

२. Narsimha Aiyangar: Indian Journal of Economics, VII (1927) p. 147.

है। अच्छा हो कि भूसिंचन अर्थप्रबन्ध को साधारण प्रान्तीय अर्थप्रबन्ध से पृथक् कर दिया जावे।

उत्पाद कर—शराब, औषधियों, अफीम आदि के बनाने पर लगे हुए कर तथा उनके बेचने वालों के लैसंस शुल्क से उत्पादन कर मिलता है। १९२९-३० में उत्पाद कर की आय २०,४१,१३,२८५ रुपये थी। यह भयप्रद थी। क्योंकि इससे प्रकट था कि देश में शराब पीने की आदत बढ़ती जाती है। गत वर्षो में उत्पाद कर की आय या तो कम हुई है अथवा वह ठहर गई है। यह निश्चय है कि कुछ समय बाद आय का यह साधन समाप्त हो जावेगा। भारत के प्रत्येक सुधारक की यह इच्छा है कि देश से शराब पीने की बुराई एक दम दूर हो जावे।

सरकार औसत रूप से अधिक कर लगा कर इस की खपत को कम करने का यत्न कर रही है। कर लगाने की नीति में सावधानता शराब के चोरी से बनाये जाने को रोकने के लिए है। कांग्रेस मन्त्रिमंडल कुछ चुने हुए स्थानों में क्रमशः दारूबन्दी करने की नीति पर साहसपूर्वक चल रहे हैं। कलम की एक चोट से शराब को एकदम बन्द कर देना व्यावहारिक अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से ठीक नहीं है। आय में कमी होने के कारण उससे शासन का वह व्यय बढ़ जावेगा, जो चोरी से शराब लाने तथा बनाने को रोकने में पड़ेगा। किंतु दूकानों की संख्या घटाने, दूकान खोलने के घंटों में कमी करके, माल कम लाकर, अधिक तेज़ शराब पर अधिक कर लगा कर, दूकानों में अन्य आकर्षणों को कम करके तथा दारूबन्दी क्षेत्रों में क्रमिक वृद्धि करके दारुबन्दी के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है।

भारत में शराब पीने के विरुद्ध अत्यन्त गहन भावनाएं हैं। प्रत्येक भारतीय महिला उस की विरोधी है। किंतु 'अन्दर से सुधार करने' के सिद्धांत पर निर्भर करने से पूर्ण दारुबन्दी को प्रलय के दिन तक भी लागू नहीं किया जा सकेगा। इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति तक शीघ्र पहुंचाने के लिए निवारक कानून अत्यधिक आवश्यक है। आज अधिकांश प्रान्तीय सरकारें दारुबन्दी की नीति को अपना चुकी हैं। आजकल लगभग सभी प्रान्तों में कांग्रेस शासन है। अतएव हम यह आशा कर सकते हैं कि दारुबन्दी की नीति को उचित शीघ्रता तथा सच्चाई के साथ लागू किया जावेगा।

जंगलात—जंगलों में बहुत लम्बी अवधि के लिए अत्यन्त उदारतापूर्वक पूंजी लगाकर ही उनसे कुछ फल प्राप्त किया जा सकता है। पौदों के लगाने, उनकी रक्षा करने और यातायात के साधनों का विकास करने में बहुत अधिक रकम खर्च करनी पड़ती है। व्यक्ति-गत प्रयत्न से ऐसा नहीं किया जा सकता। किंतु राज्य उसको सुगमता से कर सकता है। और उसके फल को संतोषपूर्वक प्रतीक्षा कर सकता है। क्योंकि निकट भविष्य में भारी लाभ प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती। स्पष्ट बात यह है कि हमने अपने बनों पर आवश्यकता से बहुत कम व्यय किया है। उसकी आय का अधिकांश

लकड़ी सोखता तथा अन्य छोटे उत्पादनों को बेचने तथा चराई शुल्क वसूल करने से प्राप्त होता है। जंगलात से १९३९-४० में कुल आय ३ करोड़ रुपये की थी।

स्टाम्प—स्टाम्प न्यायसम्बन्धी तथा व्यापारी होते हैं। न्यायसम्बन्धी स्टाम्प दीवानी तथा फौजदारी के प्रार्थना पत्रों पर तथा व्यापारी स्टाम्प व्यापारी सौदों में लगाये जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि न्याय सम्बन्धी स्टाम्प न्याय पर कर है। किंतु यह बात ध्यान रखने की है कि ऐसे मामलों में शासन को मुकदमा करने वाली जनता की कुछ सेवा करनी ही पड़ती है। ऋणग्रस्तता के कानूनों के कारण मुकदमों की संख्या में कमी हो गयी है,' जिससे स्टाम्पों की बिक्री पर्याप्त कम हो गयी है, जो कि १९३९-४० में ब्रिटिश भारत में १० करोड़ रुपये की थी।

रेजिस्ट्रेशन—जब अचर सम्पत्ति के दस्तावेज़ों की रजिस्ट्री कराई जाती है रेजिस्ट्रेशन शुल्क लगता है। इस मद में आय बढ़ने का अर्थ यह है कि आर्थिक संकट के कारण लोगों को अपनी सम्पत्ति का हस्तान्तरण करने के लिए विवश होना पड़ रहा है। यह इस बात की रकम है कि उस सौदे का दस्तावेज़ निश्चित रूप में संतोषजनक है। साथ ही उससे इस विषय पर किसी भावी झगड़े को रोका जा सकता है अथवा सुगमता से निपटाया जा सकता है। इस की कुल आय कम है। १९३९-४० में यह ब्रिटिश भारत में एक करोड़ रुपया थी।

सारिणी सूची के कर—यह वह कर थे जिन को लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को १९१९ के सुधार अधिनियम के अनुसार मिला था, अर्थात् शर्तबन्दी पर कर, मनोरंजन कर, विज्ञापन कर, उत्तराधिकार कर तथा कृषि भिन्न उपयोग में भूमि को लेने पर कर।

३. प्रान्तीय व्यय। शासन यंत्र को बनाये रखने के लिए अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों को जनता की सामाजिक आवश्यकताओं पर ध्यान देकर शिक्षा, चिकित्सा और स्वास्थ्य, कृषि उन्नति तथा औद्योगिक उन्नति जैसे राष्ट्रनिर्माणकारी विभागों का प्रबन्ध भी करना पड़ता है। अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा भारतीय प्रान्तों में इन सेवाओं पर अत्यधिक कम व्यय किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि भारत में इन सेवाओं पर जिस मान को बनाये रखा जाता है वह बहुत हल्का है। इसी कारण भारतीय जनता का केवल एक अत्यधिक अल्पसंख्यक वर्ग ही साक्षर है और लाखों स्त्रियों, पुरुषों तथा बच्चों को महामारियों का शिकार बनना पड़ता है।

४. प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था की तुलनात्मक आलोचना। इस बात को फिर दोहराना पड़ता है कि प्रान्तीय सरकारों के आय के साधन ऐसे हैं जो बढ़ने वाले नहीं, वरन् क्रमशः कम ही होते जावेंगे। इसके विपरीत जो सेवाएं उनको देनी पड़ती हैं उनके ठीक ठीक विस्तार तथा उनका उत्तम ढंग से संचालन करने के लिए उनको बराबर अधिकाधिक रकमें मिलनी चाहिएं। १९१३ से लगा कर १९२९ के बीच भूमि कर केवल ७॥ प्रतिशत

ही बढ़ा है। उत्पाद कर प्रायःजैसे के तैसे बने हुए है। स्टाम्प की आय तो १९२५ के बाद पर्याप्त घट गई है। १९२३-२४ तथा १९२८-२९ के बीच जबकि प्रांतीय व्यय में २२ प्रतिशत वृद्धि हुई है, प्रान्तों की समस्त आय में कुल ४ प्रतिशत ही वृद्धि हुई है।[1] भूमि कर पहले ही से अधिक है और उसको कम किया जाना चाहिए। उत्पाद कर तो किसी दिन बिल्कुल ही समाप्त हो जायगा, और रेजिस्ट्रेशन की आय बहुत कम है। जंगलों को विकास के लिए भारी व्यय की आवश्यकता है। इसके विपरीत यदि हमको शिक्षा तथा स्वास्थ्य के मामलों में अन्य देशों के स्तर पर आना है तो और भी अधिक बड़ी रकमें खर्च करनी पड़ेंगी। इन दोनों विभागों पर व्यय बहुत कम किया जाता है और चिकित्सा की सुविधाएं अत्यन्त अपर्याप्त हैं।

प्रान्तों की आय के साधन न केवल अपर्याप्त है, किंतु प्रान्तों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए वह लोचरहित भी हैं।

इसके अतिरिक्त प्रान्तीय करों का बोझ भी अत्यन्त विषमता से विभिन्न वर्गों में विभक्त किया गया है। निर्धनों पर सब से अधिक बोझ है। भूमि कर तथा भूसिचन कर का अधिकांश निर्धनों की जेब से आता है और न्यायालय के स्टाम्प भी प्रायः उन्हीं की जेब से आय देते हैं। १९३२ में २७,११,३०६ दीवानी मुकदमों में से ३,०२,२३० मुकदमें १० रुपये से कम मूल्य के थे। और उन में से ६७ प्रतिशत १०० रुपये से कम मूल्य के थे।[2]

रजिस्ट्रेशन शुल्क भी—जहां तक भूमि का सम्बन्ध है निर्धनों के ऊपर ही पड़ता है। नगर के रहने वाले सम्पन्न लोग जब तक शराब या मुकदमेबाजी में न पड़ जावें प्रान्त की इस आय में कुछ नहीं देते। इसके विपरीत प्रान्तीय सरकारों की सेवाओं का सब से अधिक लाभ उन्हीं को पहुंचता है।

इस के अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक नीति अत्यन्त पुरातनपन्थी है। वह आय के विकास की अपेक्षा छंटनी में अधिक विश्वास करती हैं। जंगलात पर अत्यन्त कंजूसी से खर्च किया जाता है। धनी भूस्वामियों पर कर का अधिक बोझ डालने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। न्याय और व्यवस्था आय के अधिकांश को निगल जाते है तथा सामाजिक सेवाओं पर अत्यधिक कम खर्च किया जाता है। भूसिंचन नीति का उद्देश्य भी लाभ ही है, जिस से या तो निर्धन किसान को अधिक देना पड़ता है अथवा रक्षात्मक प्रकृति के अलाभकर कार्यो की उपेक्षा की जाती है।

आजकल प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था पर भूमि कर का शासन है। भारत में भूमि कर समस्त आय का १६ प्रतिशत है, जब कि ग्रेट ब्रिटेन में वह १९३५-३६ में कुल ८२४८

१. Z.A. Ahmad : Public Revenue and Expenditure in India, 1938 pp. 5-6

२. Ibid. p. 24

लाख पौंड आय में से आठ लाख पौंड ही था, फ्रांस में २ प्रतिशत तथा इटली[१] में कुल सात प्रतिशत था ।

भारत के निर्धन किसान को बहुत समय से आराम मिलना चाहिए था, जब बिक्री कर तथा केन्द्रीय उत्पाद कर जैसे कर प्रान्तों के हित के लिए लगाये जावेंगे तो उस समय भूमि कर पर अत्यधिक निर्भरता को कम किया जा सकेगा ।

५. प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था में सुधार के प्रस्ताव । प्रान्तों की अर्थ व्यवस्था में निम्न लिखित सुधार किये जाने का प्रस्ताव किया जाता है—

(१) जितनी शीघ्र भी संभव हो प्रान्तों को उन के आय कर का पूर्ण भाग दे दिया जावे अथवा उनके भाग को ५० से बढ़ा कर ६६⅔ कर दिया जावे । औद्योगिक प्रान्तों के साथ इस प्रकार न्याय होगा ।

(२) निर्धन किसानों के भूमिकर को क्रमशः कम कर दिया जावे, जिस से कुछ समय बाद अलाभकारी खेतों को करमुक्त किया जा सके ।

(३) कृषि आय पर अविलम्ब उन्नतिशील कर लगाये जाने चाहिएं । इससे चौड़े कंधों पर उनका का उचित बोझ आ जावेगा, और उससे निर्धन किसान को कुछ राहत दी जा सकेगी । इस से किसी मात्रा में प्रान्तीय करों का प्रतिगामी रूप कुछ ठीक हो सकेगा ।

(४) एक क्रमबद्ध उत्तराधिकार कर का भी वही प्रभाव होगा और उसे तुरन्त लगाया जाना चाहिए ।

(५) प्रान्तीय तथा स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं में अधिक सहयोग होना चाहिए जिस से शासन की दोनों इकाइयां उनको दी हुई सेवाओं के स्तर को योग्यतापूर्वक बनाये रख सकें ।

(६) सब से बड़ी आवश्यकता है प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था को बहुरंगी बनाना तथा उसकी भूमि कर पर असमानान्तर निर्भरता को कम करना । यह ग्रामीण उद्योग धंधों तथा नगर के बड़े उद्योगों को प्रोत्साहित करके किया जा सकता है, जिससे कृषि तथा उद्योगधंधों में अब से अधिक अच्छा संतुलन हो सके । व्यापार और उद्योगधंधों के विकास से कर लगाने के नये नये क्षेत्र खुलेंगे ।

(७) कर के बोझ को समान करने के लिए धनिकों द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं को नये करों का लक्ष्य बनाना चाहिये । व्यापारों तथा पेशों पर करों को भी उनमें लैसंस शुल्क लगा कर उसी उद्देश्य के लिए क्रमानुसार लगाया जा सकता है ।

(८) बजट को किसी-न-किसी प्रकार संतुलित करने की डरपोंक नीति के स्थान में ऐसे सार्वजनिक कार्यों तथा सेवाओं पर उदारतापूर्वक खर्चने की नीति को अपनाना चाहिये, जिससे प्रान्त के मानवी तथा भौतिक साधन विकसित हों । यह कार्य अतिरिक्त कर लगा

१. Ibid. p. 35.

कर अथवा उधार लेकर पूर्ण किया जा सकता है। इस नीति से आगे चल कर लाभ होगा। आज हम एक व्यापक क्षेत्र में हैं। हम लोग निर्धन हैं और अधिक कर नहीं दे सकते। इसलिए प्रान्तीय सरकारों के साधन आर्थिक विकास करने और उसके फलस्वरूप समृद्धि कराने के लिए अत्यन्त परिमित हैं और हम निर्धन के निर्धन बने रह जाते हैं। इस व्यापक क्षेत्र को तोड़ देना चाहिये और उसको केवल एक कोने पर ही तोड़ा जा सकता है अर्थात् प्रथम राज्य धन खर्च करे और प्रान्त के साधनों का विकास करे। मितव्ययिता आन्दोलन चलाने के लिए अधिक गुंजायश नहीं है। हमारे ऊपर अत्यन्त गम्भीर वैधानिक पाबन्दियां लगी हुई हैं। हम कुछ ऊंचे पदों अथवा उनके लाभ नहीं छू सकते। जो लोग पहिले ही नीचे हैं उन्हें और नीचे गिराना अच्छा नहीं लगता। हम केवल बुद्धिमत्तापूर्वक खर्च करने पर बल दे सकते हैं, जिससे आय का उपयोग उचित उद्देश्यों के लिए किया जावे।

६. **पहिले की प्रांतीय अर्थ व्यवस्था।** पिछले दिनों प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है।

प्रान्तीय स्वशासन के अन्तर्गत नये मंत्रियों के अपने प्रान्तों में जीवन की दशाओं में उन्नति करने के उत्साह के कारण कुछ नये कर लगाये गए। राष्ट्र निर्माणकारी विभागों अथवा लोकहितकारी विभागों, उदाहरणार्थ—शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि और उद्योगधंधों का कार्य प्रान्तीय सरकारों के पास आ गया। अधिकांश विकास योजनाओं का सम्बन्ध इन्हीं विभागों से है और उनको अधिक धन की आवश्यकता बराबर बढ़ती जाती है। प्रान्तीय स्वतन्त्रता लागू किये जाने के कुछ वर्षों के अन्दर-अन्दर ही प्रान्तीय सरकारों को आय के नये साधनों को खोजना पड़ा। नये लगाये हुए करों में से बिक्री कर, मनोरंजन कर, मोटर स्पिरिट की बिक्री पर कर, नागरिक क्षेत्रों की अचर सम्पत्ति पर कर, तम्बाकू पर कर तथा शर्तबन्दी पर कर का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इन नये करों के अतिरिक्त कई प्रान्तों में स्टाम्प कर तथा कोर्ट फीस को बढ़ाया गया। उत्तर प्रदेश सरकार ने एक रोजगार कर लगा दिया। इन आर्थिक उपायों के परिणामस्वरूप प्रान्तों के बजट को अनेकरूपता दी जा रही है।

द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के एक-दो वर्ष पूर्व भी भारत के वायुमण्डल में युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण योजनाओं की चर्चा की जा रही थी। विभिन्न प्रान्तों में योजना कमेटियां बनाई गई थीं जिन्होंने शिक्षा तथा स्वास्थ्य के सम्बन्ध में प्राप्त करने योग्य लक्ष्य निश्चित कर लिये थे। सड़क निर्माण तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के,जो प्रायः भूसिंचन तथा जल बांधों से सम्बन्धित थे—कार्यक्रम बनाये गये। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रत्येक प्रान्त युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण तथा कृषि एवं उद्योगधंधों के विकास का आकर्षक कार्यक्रम बनाने में दूसरे प्रान्त को पीछे छोड़ जाना चाहता था। केन्द्र से भी इस विषय में उदारतापूर्ण अनुदानों का विश्वास दिलाया गया था। किन्तु इन योजनाओं का खर्च चलाने में प्रान्तीय उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं किया गया। इन योजनाओं द्वारा बाद

में प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

१५ अगस्त १९४७ को भारत का विभाजन हुआ। पंजाब, बंगाल तथा आसाम के टुकड़े हो गये। विभाजन शान्तिपूर्ण रीति से नही हुआ। भयंकर साम्प्रदायिक दंगों के फलस्वरूप बड़ी भारी जनसंख्या की अदला-बदली हुई। इससे सीमावर्ती प्रान्तों में तो व्यापार और उद्योगधंदे पूर्णतया ठप्प हो गये। यातायात प्रणाली टूट गई। फसलों तथा अन्य सम्पत्ति को जान-बूझ कर नष्ट किया गया। न्याय तथा व्यवस्था के यंत्र निष्क्रिय हो गये—इन सभी बातों ने मिल कर प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था पर अनिवार्यतः प्रभाव डाला। लाखों विस्थापितों की सहायता तथा पुर्नानिवास पर बड़ी-बड़ी भारी रकमें खर्च की गईं। १९३८-३९ और १९४२-४३ के बीच जो प्रान्तीय व्यय २९ करोड़ रुपये तक जा पहुंचा था वह और भी अधिक शीघ्रता से बढ़ा। इन कारणों से भी व्यय में वृद्धि हुई—अधिक अन्न उपजाओ संघर्ष, आन्तरिक सुरक्षा के उपाय, युद्ध, महंगाई-भत्ते आदि।

युद्धकाल में प्रान्तों के बजट में नियमानुसार अच्छी बचत देखने में आई। यह बचत १९४५-४६ में ११ करोड़ रुपये तक जा पहुंची। इससे प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था में योजनाबद्धता का अभाव ही प्रकट हुआ, किन्तु प्रछन्न रूप में उससे कल्याण हुआ, क्योंकि सुरक्षा निधि की रकम जो कि एक समय ७० करोड़ रुपये की थी, युद्धोत्तर वर्षों में घाटे को पूरा कर सकी और उससे युद्धोत्तर विकास योजनाओं का खर्चा भी चल गया।

तौ भी प्रान्तों की कर की आय कम होती जाती हैं। यद्यपि १९३८-३९ से १९४८-४९ तक प्रान्तीय आय तिगुनी हो गई। किन्तु इसी बीच में कर की आय का अनुपात ७४·५ प्रतिशत से घट कर ६५.२ प्रतिशत ही रह गया। इससे यह स्पष्ट है कि प्रान्त केन्द्रीय सरकार के अनुदानों और उसकी सहायता पर अधिकाधिक निर्भर होते जाते हैं। प्रान्तीय आय का विकास करना आवश्यक है, जिससे सामाजिक सेवा के कार्यों तथा विकास एवं पुर्ननिर्माण की योजनाओं के लिए पर्याप्त धन मिल सके।

आय के प्रान्तीय साधन पर ध्यान देते हुए हम बड़ी भारी मात्रा में लोच का अभाव पाते हैं। दस वर्षो (१९३८-३९ से १९४८-४९) में भूमि-कर में केवल १० लाख रुपये की वृद्धि ही हुई है। युद्धकाल में स्टाम्प कर, उत्पाद कर, जंगलों की आय आदि में कुछ वृद्धि हुई थी। किन्तु यह वृद्धि अस्थायी सिद्ध हुई। क्योंकि १९४५-४६ के बाद उत्पाद कर तथा स्टाम्प कर की आय घटने लगी।

गत शताब्दी में प्रान्तीय सरकारों ने कई नये-नये कर लगाये है। पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मदरास, उड़ीसा और आसाम में कृषि आय कर लगाया गया है। अभी सभी प्रान्तों में बिक्री कर लगाया जा रहा है। अन्य नये कर यह हैं—शर्तबन्दी तथा जुए पर कर, मनोरंजन कर, पेशों तथा व्यापारों पर कर तथा नागरिक अचर सम्पत्ति पर कर। औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के मान पर ध्यान देते हुए यह पता चलता है कि प्रायः सभी प्रान्तों में कर लगाने योग्य शक्ति की सीमा तक पहुंचा जा चुका है।

प्रान्तों के दारूबन्दी, ग्रामपंचायतों द्वारा मुकदमेबाज़ी में कमी तथा शर्तबन्दी एवं जुए को बन्द करने की नीति पर चलने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण शर्तबन्दी कर, स्टाम्प कर, उत्पाद कर तथा रजिस्ट्रेशन कर में कमी होना अनिवार्य है। इसके विरुद्ध सुरक्षा सेवाओं, महंगाई-भत्तों, खाद्य अनुदानों तथा ऋण सेवाओं में व्यय कम नहीं किया जा सकता। राष्ट्र-निर्माण के विभागों पर व्यय बढ़ना ही चाहिये। १९३८-३९ तथा १९४८-४९ के बीच प्रान्तीय व्यय ९७७.७५ करोड़ रुपये बढ़ गया। इसमें से केवल २६.७ प्रतिशत सामाजिक सेवाओं पर तथा २३.२ प्रतिशत सुरक्षा सेवाओं पर लगा। इसमें से अधिकतर वृद्धि अनुत्पादक युद्धोत्तर योजनाओं अथवा उन विकास योजनाओं के कारण हुई, जिनके परिणाम बहुत समय बाद देखने में आवेंगे।

इससे प्रान्तों की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ गई हैं और वह केन्द्र से अधिकाधिक सहायता की मांग कर रहे हैं। वह आय कर में सबसे अधिक भाग के अतिरिक्त अनुदानों तथा आर्थिक सहायता की भी अधिकाधिक मांग करते जाते हैं। इसका उचित उपाय यह है कि दारूबन्दी जैसे सुधार कार्यों को धीरे-धीरे किया जावे। अनिवार्य आरम्भिक (Primary) शिक्षा, ज़मीदारियों की ज़ब्ती तथा दारूबन्दी को अभी दो-तीन वर्ष तक और रोका जा सकता है, जिससे प्रान्त अपनी वर्तमान आर्थिक कठिनाइयों को पार कर स्वयं ही स्थायी जीवन की ओर अग्रसर हो सकें। प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था को एक बुद्धिमत्तापूर्ण आधार पर आधरित करना चाहिये। प्रान्तीय आय तथा व्यय की भी एक अधिक अच्छी योजना बनाने की आवश्यकता है। पुलिस शासन तथा अनुत्पादक योजनाओं में बचत करनी ही चाहिये, जिससे सामाजिक सेवाओं तथा उत्पादक योजनाओं के लिए धन मिल सके।

स्वतन्त्रता के आगमन तथा राजनीतिक शक्ति की चेतना के कारण प्रांतीय सरकारों ने देश की आर्थिक परिस्थिति पर ध्यान दिये बिना बड़ी २ योजनाओं को हाथ में लेकर उनपर कार्य करना आरम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप प्रान्तीय व्यय बढ़ गया और उसके फलस्वरूप मुद्रा स्फीति बढ़ गई तथा अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में गड़बड़ी फैल गई। यदि सरकार लागत का ध्यान किये बिना कुछ उद्देश्यों का अनुसरण करेगी तो समान भाव से सहयोग मिलना संभव नही होगा। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि सामाजिक उद्देश्यों को ही एकमात्र सर्वप्रभुत्व नही मिला करता। उदाहरणार्थ—दारूबन्दी के कारण जो आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है, उसको पूरा करने के लिए बिना विशेष विचार के कर बढ़ाने पड़ते हैं। इससे दारूबन्दी का लाभ बहुत हल्का पड़ जाता है। यह हो सकता है कि नये करों से व्यापार तथा उद्योगधंधों की गति में बाधा पड़े। "अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में भी यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जब पहिले से सुधारी हुई भूमि पर भारी तथा वैज्ञानिक कृषि अधिक उत्तम तथा धनधान्यपूर्ण उत्पादन दे सकती है तो उस भूमि अथवा फसल पर विचार किये बिना शिक्षा भूमि के तल को अधिक विस्तृत प्रदेश में खुरचने से व्यक्ति

या समाज का कोई लाभ नहीं हो सकता।"[1]

मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय के रूप में केन्द्रीय सरकार प्रान्तों को उनके सुधारों के पागलपन के कार्य से रोकना चाहती थी, जिसका अर्थ है कम आय तथा अधिक व्यय। अतएव प्रान्तीय अर्थमंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। किन्तु ऐसा पता चलता है कि केन्द्रीय सरकार के परामर्श का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। यद्यपि प्रत्येक प्रान्त ने घाटे का बजट न बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनको नये-नये तथा बड़े-बड़े खर्चों को बचाने के लिए अपनी वर्तमान आय के बलिदान करने के मार्ग पर बढ़ना होगा। दारूबन्दी लाग करने के लिए लगभग सभी प्रान्तों ने पर्याप्त उत्साह दिखलाया है। उन्होंने आय के साधनों का बहुत बुरी तरह से दोहन किया है। संभवतः इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि नये करों का व्यापार और उद्योगधंधों पर, और औसत व्यक्ति के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। न इस बात को देखने का यत्न किया गया है कि वह समस्त देश के सम्बन्ध में सार्वजनिक अर्थव्यवस्था में ठीक लागू होते हैं अथवा नहीं। इस प्रकार के विचारणा की उपेक्षा के रूप में बम्बई में स्थानीय बिक्री करों तथा केन्द्रीय उत्पाद करों को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है, जिनका वस्त्र व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ा। खाद्य पदार्थों पर बिक्री कर लगाने का बिहार सरकार का प्रस्ताव भी बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है, क्योंकि इससे खाद्य पदार्थों का मूल्य बढ़ जावेगा। इसी प्रकार मदरास में कृषि उत्पादनों में से साधारण बिक्री कर की मुक्ति को वापिस ले लेने से वहां खाद्य पदार्थों का भाव बढ़ जावेगा। मदरास में मूंगफलियों के मोल लेने के कर तथा काफ़ी गृहों तथा बोर्डिंग हाउसों के कर में ५० प्रतिशत वृद्धि भी आपत्तिजनक है। बम्बई का प्रस्ताव है कि वह अपने प्रान्त से बाहिर जाने वाले सभी निर्यातों पर कर लगावे। इससे व्यापार में बाधा आवेगी। अन्तर्प्रान्तीय व्यापार के विरुद्ध अन्तर्देशीय बाधाएं स्पष्ट रूप से राष्ट्रहित के प्रतिकूल हुआ करती हैं। मदरास ने जो रुई पर कर लगाने का निर्णय किया है उससे वस्त्र के दाम बढ़ जावेंगे। इस प्रकार के करों से मुद्रा-स्फीति के विरुद्ध किया जाने वाला युद्ध निर्बल पड़ जावेगा। किसी प्रकार के प्रान्तीय कर का अर्थ है स्थानीय अर्थव्यवस्था अथवा केन्द्रीय अर्थ व्यवस्था पर आक्रमण। अतएव प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था में एकरूपता अथवा समान रूप में सहयोग की कुछ मात्रा का होना अत्यन्त आवश्यक है।

१९४९-५० में उत्तर प्रदेश, मदरास तथा बम्बई सभी प्रान्तीय सरकारों ने चार करोड़ रुपये वार्षिक के नये कर समान रूप से लगाये। गत दो वर्षों में केन्द्रीय अनुदानों, आय के विभाज्य साधनों तथा प्रान्तों द्वारा बिना विचार के कर लगाये जाने से स्थिति और भी बुरी हो गई। जब तक सार्वजनिक अर्थव्यवस्था की एक बुद्धिवादी प्रणाली को इस गड़-बड़ी के अन्दर से विकसित नहीं किया जाता तब तक राष्ट्र निर्माण के भारी काम की उन्नति

---

१. Indian Finance, March 12, 1946, p. 455.

में कोई निश्चित प्रगति नही की जा सकती। इस समय आवश्यकता मुद्रा-स्फीति के दबाव को कम करने तथा सार्वजनिक शासन में प्रत्येक प्रकार की संभावित मितव्ययिता करने की है, जिससे आर्थिक प्रणाली अनुचित रूप से कठोर न बनी रहे।

गत दशाब्दी में राज्यों की आर्थिक रचना में कुछ उल्लेखनीय परिवर्त्तन हुए हैं। १९४६-४७ में कुल आय २४३.०७ करोड़ रुपये की थी। वह १९३८-३९ के तिगुनी आय से कुछ ही कम है। १९४९-५० में भारतीय संघ के सभी राज्यों की कुल आय २७५.३३ करोड़ रुपया थी। यद्यपि कई नये कर लगाये गये, किन्तु बिक्री कर ने उन सभी को ढक लिया। उत्पाद कर के शीघ्रतापूर्वक कम होते जाने के कारण राज्यों को बिक्री कर लगाने के लिये विवश होना पड़ा। १९४५-४६ में उत्पाद कर (आबकारी कर) आय का सबसे बड़ा साधन था। वह कर की समस्त आय का अकेला ही ३०.८ प्रतिशत था। किन्तु दारुबन्दी की नीति के कारण उस आय में कमी होने लगी और १९४९-५० में उत्पाद कर समस्त कर आय का कुल १०प्रतिशत हो गया। कुछ समय बाद उत्पाद कर की आय बिल्कुल समाप्त हो जावेगी। अब उसके द्वारा छोड़े हुए स्थान को बिक्री कर भरता है। बिक्री कर का प्रथम आविर्भाव १९३९-४० में मदरास में हुआ। अब तो उसका आकार बहुत लम्बा-चौड़ा हो गया है। १९४६-४७ में अविभक्त भारत में उससे १०.६६ करोड़ रुपये की आय हुई थी। किन्तु १९४९-५० में उसकी आय बढ़कर ३८·३० करोड़ रुपये हो गई। यह समस्त कर आय का लगभग एक पंचमांश था। स्थिति के लौट आने पर उसकी आय घट भी सकती है।

बिक्री कर का प्रत्येक प्रान्त में एक विशेष रूप होता है। पंजाब में जीवन की आवश्यक वस्तुओं में चांदी तथा निर्यातों को इस कर से छूट मिली हुई है। मदरास में यह अनेक बिन्दु कर हैं। वहां इसकी दर ३ पाई प्रति रुपया है। तौ भी उत्तर प्रदेश में यह एक बिन्दु कर है। वहां १५००० रुपये से अधिक की बिक्री पर मदरास वाली दर लागू होती है। इसके विपरीत प्रभावों को संभवतः उत्तर प्रदेश में सबसे कम कर दिया गया है। बिहार का बिक्री कर सबसे बुरा है क्योंकि वहां खाद्यान्नों तथा निर्यातों पर भी कर लगता है और दर भी सब की पृथक-पृथक है। बम्बई में भी निर्यातों पर कर लगाया जाता है। वहां सोने-चांदी तथा मसालों तक को कर-मुक्त नहीं किया गया। आवश्यक वस्तुओं की अपेक्षा विलास वस्तुओं पर दुगुनी दर ली जाती है।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भूमि कर सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। उसके बाद उत्पाद कर (आबकारी कर) तथा स्टाम्प कर थे। १९३८-३९ में इन तीनों की आय क्रमशः ४२.८४ प्रतिशत, २२.३५ प्रतिशत तथा १६.२३ प्रतिशत थी। भूमि कर तब से अब तक व्यावहारिक रूप में गतिहीन है। स्टाम्प कर की आय जो ९.८३ करोड़ रुपये १९३८-३९ में थी, १९४९-५० में बढ़कर १५.८४ करोड़ रुपये की हो गई। अब उसका समस्त करों में पांचवां स्थान है। उत्पाद कर जिसका युद्ध से पूर्व दूसरा स्थान था, अब घटकर बहुत

नीचा रह गया है जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है। आयकर में से राज्य को जो भाग मिलता है वह अब आय की प्रधान मद हो गया है। आयकर का जो भाग १९३८-३९ में १.५० करोड़ रुपये दिया जाता था उसे बढ़ा कर १९४९-५० में ४३.४३ करोड़ रुपये कर दिया गया। यद्यपि कुछ राज्यों में कृषि आय कर लगा दिया गया, किन्तु उसकी दर कम होने के कारण राज्यों की समस्त कर आय में उसका भाग कुल १.२२ प्रतिशत है।

७. द्वितीय महायुद्ध का प्रान्तीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव। केन्द्रीय अर्थव्यवस्था के समान प्रान्तीय अर्थव्यवस्था पर युद्ध जैसे बाह्य कारणों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता। युद्ध का आय कर आदि पर तो प्रभाव पड़ना अनिवार्य है, किन्तु आय की प्रान्तीय मदों पर इस प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। युद्ध का खर्चा केन्द्रीय सरकार को चलाना पड़ता है। अतएव युद्ध परिस्थितियों के कारण प्रान्तीय अर्थव्यवस्था की रचना में विशेष परिवर्तन नही होता। निःसंदेह युद्ध-काल में नये-नये कर लगाने के कानून पास किये जाते हैं। उनको युद्ध की आवश्यकताओं की अपेक्षा प्रान्तों की अपनी सामाजिक कल्याण की आवश्यकताओं से लगाना पड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रान्तों की जनता को युद्ध के प्रभाव अछूता छोड़ देते हैं। भोजन की कमी, अधिक मूल्य, आवश्यक वस्तुओं की कमी अथवा अनुदान विधि, यातायात की सुविधाओं में कमी तथा युद्ध उद्देश्यों के लिये कुछ ऋण अथवा देय आदि का कष्ट उनको भी होता ही है। किन्तु बात यह है कि प्रान्त की कर प्रणाली में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया जाता। तो भी प्रान्तों को हवाई आक्रमण विरोधी योजनाओं (A.R.P.) में कुछ खर्च करना ही पड़ता था। उनको अधिक पुलिस रखनी पड़ती थी तथा गेहूं एवं अन्य वस्तुओं के मूल्य नियंत्रण के लिये अधिकारी रखने पड़ते थे।

युद्धकाल में लगभग सभी प्रान्तों की आय बढ़ गई। १९३८-३९ की ८५ करोड़ रुपये से बढ़ कर समस्त प्रान्तों की सम्मिलित आय १९४५-४६ में बढ़ कर १९० करोड़ रुपये हो गई। बम्बई, उत्तर प्रदेश, मदरास तथा बंगाल में तो २०० प्रतिशत वृद्धि हुई। यह आय अधिकतर आयकर के अपने-अपने भाग के बढ़ जाने के कारण मिलने वाली रकम से बढ़ी। कृषि पदार्थों का मूल्य बढ़ जाने से भूमि कर की आय भी बढ़ गई। लकड़ी की मांग बढ़ जाने से जंगलों की आय भी बढ़ गई। मनोरंजन कर, बिक्री कर तथा स्टाम्प कर की आय में भी वृद्धि हुई। विभिन्न साधनों से उत्पादन बढ़ जाने से आय में वृद्धि हुई। यह वृद्धि कर बढ़ाने के कारण नही हुई। प्रान्तों ने अधिकतम आय तथा न्यूनतम व्यय की नीति का अनुसरण किया। प्रत्येक प्रान्त युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिये कोषका निर्माण कर रहा था। पंजाब ने एक कृषक हितकारी फंड तथा एक विशेष विकास फंड भी बनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय महायुद्ध ने प्रान्तों की आर्थिक स्थिति को पर्याप्त प्रबल बना दिया।

८. १९५२-५३ में राज्यों के बजट। १९५१-५२ के बजट बनाते समय केन्द्र के इस निर्देश का पालन किया गया था कि राज्य अपने २ बजट को संतुलित रखें। केन्द्रीय अनुदान को अत्यधिक कम कर दिया गया था। राज्यों को वापिस अपने ही साधनों पर निर्भर करना पड़ता था। विकास योजनाओं में पर्याप्त कांट-छांट की गई। दारूबन्दी की प्रक्रिया को गति को भी मन्द कर दिया गया। राज्यों को अपने घटते हुए उत्पाद कर (आबकारी कर) की कमी को पूर्ण करने तथा जमींदारियां समाप्त करने के लिए फंड एकत्रित करने के लिए बड़ी गम्भीरता से आय के नये-नये साधन खोजने लगे। बिक्री कर राज्य की अर्थव्यवस्था रूपी जहाज़ों का एक लंगर प्रमाणित हुआ। किन्तु बजटों को संतुलित करने के लिए नये कर लगाने की अपेक्षा व्यय में प्रायः कमी की गई। कई राज्यों में कानून तथा व्यवस्था के व्यय तक को घटा दिया गया।

१९५२-५३ के जो बजट नीचे दिये गये है, वह अस्थायी हैं और उनको मंत्रिमण्डलों के कामचलाऊ बजट कहा जा सकता है। अब नये मंत्रिमण्डल बनने के बाद नई विधान-सभाओं द्वारा अन्तिम बजट पास किये जा रहे है।

पंजाब—१९५२-५३ के बजट की आय में एक लाख रुपये की बचत दिखाई गई है। १९५१-५२ के संशोधित अनुमान में ४१ लाख रुपये की बचत है। १९५२-५३ के अनुमान में आय १६.७१ करोड़ रुपये की तथा व्यय १६.७० करोड़ रुपये का अर्थात् कुल एक लाख रुपये की नाममात्र की बचत है। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा संचार साधनों आदि के विकास के आवश्यक व्यय को कम करके यह बचत की गई थी। १९५१-५२ का कुल बजट ३०·३२ करोड़ रुपये का था, जब कि १९५१-५२ में वह २०.५६ करोड़ रुपये का था। इस वर्ष के बजट की रकमों में अधिक अन्न उपजाने तथा पुनर्निवास योजनाओं के लिए १·९४ करोड़ रुपये, सिंचाई कार्यों के लिए ३.१२ करोड़ रुपये, भाकरा नांगल बांध के लिए २०·६० करोड़ रुपये, नई राजधानी के लिए १·८५ करोड़ रुपये तथा नागरिक कार्यो के लिए १ करोड़ रुपये अलग रख दिये गये हैं।

उत्तर प्रदेश—उत्तर प्रदेश के १९५२-५३ के बजट में ४७ लाख रुपये का घाटा दिखलाया गया है। उत्तर प्रदेश की आय भारत के सभी राज्यों की आय से सबसे अधिक ६२.५४ करोड़ रुपये की तथा व्यय ६३·०१ करोड़ रुपये का कूता गया है। बजट में १९५१-५२ की अपेक्षा जमींदारियों की ज़ब्ती की आशा में ७·३६ करोड़ रुपये की वृद्धि दिखाई गई है। गत पांच वर्षो में राष्ट्र-निर्माण कार्यो के लिए एकत्रित किया जाने वाला कोष इस समय तक पर्याप्त बढ़ गया था। शिक्षा को जो पहले २·६५ करोड़ रुपये दिये जाते थे, वह अब ८ करोड़ रुपये कर दिये गए। भूसिंचन तथा पनबिजली के खर्चे को १·२८ करोड़ रुपये से बढ़ा कर ६.६५ करोड़ रुपये कर दिया गया। १९४९-५० में केन्द्रीय सहायता में अचानक कमी की जाने के कारण घाटा रहा था, अन्यथा इस राज्य के और सब वर्षों के बजट लाभ के बजट थे।

पश्चिमी बंगाल—पश्चिमी बंगाल के १९५२-५३ के बजट अनुमान में ५·२० करोड़ रुपये का घाटा आय में दिखाया गया था। ३५·९१ करोड़ रुपये की आय के विरुद्ध ४१·११ करोड़ रुपये का व्यय दिखलाया गया था। पंजाब के समान पश्चिमी बंगाल को भी उस जनसंख्या के पुनर्निवास की समस्या को हल करना था, जिसे पूर्वी बंगाल से उखाड़ कर निकाल दिया गया था। इसी कारण बंगाल के बजटमें बार-बार घाटा पूरा करना पड़ता है। १९५१-५२ में अनुमानित आय ३४·०४ करोड़ रुपये तथा व्यय ३८·८० करोड़ रुपये था, अर्थात् वहाँ ४.७६ करोड़ रुपये का घाटा था।

बिहार—१९५२-५३ के बिहार के अनुमानित बजट में १·३८ करोड़ रुपये का घाटा दिखलाया गया था। बजट में किसी नये कर का प्रस्ताव नहीं था। यह आशा है कि नई सरकार कुछ विकास योजना के खर्च में कमी करके घाटे को पूरा करेगी। आय २८·४२ करोड़ रुपये तथा व्यय २९.८० करोड़ रुपये था। आय में १९५१-५२ के संशोधित अनुमान की अपेक्षा १.२३ करोड़ पये की कमी थी। इस कमी का कारण बिक्री कर तथा आय कर में कमी होना था। करके हिसाब में खर्चा १९५१-५२ के संशोधित अनुमान की अपेक्षा ४.४२ करोड़ रुपये कम था।

उड़ीसा—१९५२-५३ के उड़ीसा के बजट में २९ लाख रुपये का घाटा था। आय ११.७८ करोड़ रुपये तथा व्यय १२.०७ करोड़ पये का दिखलाया गया था। १९५१-५२ के बजट की विशेषता यह थी कि उसमें ९४ लाख रुपये का अनुमानित घाटा संशोधित बजट में कुल ९ लाख पये का रह गया था। क्योंकि उसमें आय में ८२॥ लाख रुपये की वृद्धि तथा व्यय में २॥ लाख रुपये की कमी की गई थी। इस बजट में १४ करोड़ रुपये हीराकुंड बांध के लिए, २६ लाख पये दमदम पन-बिजली योजना के लिए तथा ३६ लाख रुपये सड़क यातायात योजना के लिए तथा १० लाख रुपये कृषि की उन्नति तथा अनुसंधान के लिए रखे गये थे।

आसाम—१९५२-५३ के बजट में २·५५ करोड़ रुपये का घाटा दिखलाया गया था। अनुमानित आय १०·०५ करोड़ रुपये तथा व्यय १२.६० करोड़ रुपये दिखलाया गया था। १९५१-५२ कीं अनुमानित आय ९·६२ क ोड़ पये तथा व्यय १०·६० करोड़ रुपये था, अर्थात् उसमें ९८ लाख रुपये का घाटा था। अर्थमंत्री ने नये कर लगा कर घाटा पूरा करना उचित नहीं समझा। क्योंकि उनकी सम्मति में नये कर लगाने का कोई क्षेत्र खाली नहीं था।

मध्य प्रदेश—मध्य प्रदेश के १९५२-५३ के अस्थायी बजट में ५ लाख रुपये की थोड़ी सी बचत दिखलाई गई थी। आय १०.९६ लाख रुपये तथा व्यय १०.९१ लाख रुपये था। बजट करों के वर्तमान स्तर पर व्यय के स्वीकृत मान पर तैयार किया गया था।

मदरास—मदरास सरकार का १९५२-५३ का अस्थायी बजट विशेष रूप से कामचलाऊ बजट था। उसका आधार वर्तमान कर थे। उसमें ८५.९७ लाख रुपये का ाटा

होने का अनुमान किया गया था। राज्य की आय ६३.९ करोड़ रुपये तथा व्यय ६४.७ करोड़ रुपये होने का अनुमान था। राज्य की अर्थव्यवस्था को भारी घाटे का मुकाबला करना था। ५ करोड़ रुपये तो अकाल सहायता फंड के लिए पृथक् रख दिये गये थे। भूमि कर में पर्याप्त छूट, सहायता तथा तकाबी ऋण, सड़क तथा छोटे भूसिंचन कार्यो, बेकारों को काम देने तथा जई पर सहायता देने की उसमें व्यवस्था की गई थी। ज़मींदारों को हर्जाना देने के लिए भी ७० लाख रुपये रखे गये थे। शिक्षा विभाग को ११.२४ करोड़ रुपये की रकम ी गई थी। उसके अतिरिक्त आम शासन को २७.०४ क ोड़ रुपये, पुलिस को ६.६७ करोड़ रुपये, मेडिकल सर्विस को ३.२७ करोड़ पये तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग को १.४३ करोड़ पये दिये गये थे।

परिणाम—राज्यों के बजट पर एक सरसरी दृष्टि डालने से यह परिणाम निकालना पड़ता है कि राज्यों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा है। ऐसा तीत होता है कि वह अपने साधनों की सबसे अधिक दूरी की सीमा तक पहुंच गये हैं, किन्तु उन्हें विकास योजनाओं का खर्चा चलाने के लिए धन की और भी आवश्यकता है। विकास योजनाओं के कार्यरूप में परिणत होने पर उनकी आय बढ़ेगी, किन्तु इस बीच में रकम कहां से आवे ? उनके साधन या तो लोचरहित हैं या टूट जाने वाले हैं किन्तु राष्ट्र निर्माण कार्यों को चलाने के लिए उनकी आवश्यकतायें बराबर बढ़ती जाती हैं। बिक्री कर को विकास योजनाओं का खर्चा चलाने के लिए बनाया गया था। इस समय तक उसको अधिकांश प्रान्त लग्म चुके ें। अब बिक्री कर के द्वारा उस घाटे को पूरा किया जाता है जो दारूबन्दी के कारण उत्पाद कर (आबकारी) में कमी होने के कारण सहना पड़ता है।

स्थानीय अर्थ व्यवस्था

९. प्रस्तावना। स्थानीय अर्थव्यवस्था की समस्या भी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय अर्थव्यवस्था जैसी ही है। प्रत्येक मामले में अधिकारी लोग अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों में पूर्णता के स्तर को बढ़ाने के लिये उत्सुक हैं और इसी उद्देश्य से वह उसकी आय को बढ़ाना चाहते हैं। स्थानीय अर्थव्यवस्था का कर निर्धारण के सिद्ध सिद्धान्तों—समानता, मितव्ययिता, निश्चितता, सुविधा, उत्पादकता तथा लोच—के अनुसार ही संचालन किया जाता है।

किन्तु उसमें थोड़ा-सा कर का अनुमान लगाने के आधार में अन्तर है। क्योंकि स्थानीय अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार अचर सम्पत्ति होती है। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में एकरूपता आवश्यक तथा महत्वपूर्ण होती है, जब कि स्थानीय अर्थव्यवस्था में अधिक विभिन्नता होती है। क्योंकि उसको स्थानीय दशा के अनुरूप होना चाहिये। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था औचित्य के सिद्धान्त का अधिक सम्मान करती है, जब कि स्थानीय अर्थव्यवस्था लाभ के सिद्धान्त पर अधिक बल देती है। अन्त में स्थानीय अर्थव्यवस्था का आकार बहुत छोटा होता है।

अब हमको यह देखना है कि क्या भारत में स्थानीय अर्थव्यवस्था औचित्यपूर्ण तथा आवश्कतानुसार ठीक है ? हमारे स्थानीय स्वशासन की महत्वपूर्ण इकाइयां नगरपालिकायें (म्युनिसिपल बोर्ड) तथा जिला बोर्ड (डिस्ट्रिक्ट बोर्ड) हैं।

१०. म्युनिसिपल अर्थव्यवस्था। म्युनिसिपैलिटियों को अनेक कार्य करने पड़ते हैं, जिसमें कुछ अनिवार्य तथा कुछ ऐच्छिक होते है। उनको सफाई तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य, सड़कों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत, रोशनी, पानी तथा आरम्भिक (Primary) तथा ैढ़ (Secondary) शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये। यदि वह चाहें तो वह सा जनिक पुस्तकालय खोल सकती हैं, प्रदर्शनालय रख सकती हैं तथा सार्वजनिक पार्क आदि बना सकती हैं। इन कार्यों को करने के लिये धन की आवश्यकता है।

कर निर्धारण जांच कमेटी (Taxation Enquiry Committee) के अनुसार म्युनिसिपैलिटी की आय के साधनों को चार शीर्षकों में क्रमबद्ध रखा जा सकता है—

(१) **व्यापारियों पर कर** जैसे, मार्ग कर (Toll tax), सीमा कर (Terminal tax) तथा चुंगी कर (Octroi duty)।

(२) गृह कर (House tax) तथा मकानों के स्थानों पर कर जैसे **सम्पत्ति कर**।

(३) **व्यक्तियों पर कर** जैसे, यात्रियों, रेलू नौकरों, कुत्तों तथा अन्य पशुओं पर र, तथा परिस्थितियों, पेशों, व्यापारों और कार्यों पर कर।

(४) **शुल्क तथा लैसंस**—कुछ दी हुई सेवाओं पर शुल्क लिया जाता है, जैसे स्कूल फीस, सड़क बुहारने का शुल्क, जल शुल्क, बाजार शुल्क या कसाईखानों का शुल्क। लैसेंस लगाने की प्रणाली का उद्देश्य भी कुछ कार्यो को नियमबद्ध करना ही है; जैसे गाड़ियों तथा भयंकर एवं अपराधपूर्ण व्यापारों से सम्बन्ध रखने वाले, कार्पोरेशन तथा अन्य बड़ी-बड़ी म्युनिसिपैलिटियां सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं—जैसे बिजली या गैस देना, बस या ट्राम सर्विस अथवा किसी ऐसे ही अन्य व्यापारिक कार्य से बड़ा भारी लाभ प्राप्त करके अपनी आय को बढ़ा लेते हैं। १९३९-४० में भारत में ७५६ म्युनिसिपैलिटियां थीं और उनकी कुल आय ४४,३१,४२,१६८ रुपये थी। उनको दिये हुए करों से १३,७१,४३,३७४ रुपये की तथा अन्य साधनों से ३०,५९,९८,७९४ रुपये की आय थी। इस आय का औसत प्रति व्यक्ति ८ रुपया ७ आना ६ पाई पड़ता था।

इन करों में से संख्या (१) में चुंगी, मार्ग कर तथा सीमा कर अत्यन्त आपत्तिजनक हैं। वह व्यापार में बाधा डालते हैं और बड़ी भारी असुविधा के साधन हैं। उनसे वापिसी में तो बड़ी असुविधा होती है और वह सबसे अधिक वापिस होने योग्य हैं। निरीक्षण में ढिलाई के कारण एक भा ी संख्या कर देने से बच जाती है। सारांश यह है कि चुंगी कर कर-शास्त्र की सभी संहिताओं के विरुद्ध एक अपराध कार्य है। कर निर्धारण जांच कमेटी ने प्रस्ताव किया था कि इसके स्थान में किसी प्रकार का बिक्री कर लगा देना

चाहिये । अन्य सभी देशों में स्थानीय अर्थव्यवस्था में से चुंगी कर को व्यवहारिक रूप में समाप्त कर दिया गया है और सम्पत्ति कर को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिल गया है । यह अत्यन्त खेद की बात है कि भारत में चुंगी कर अपने सभी आपत्तिजनक रूपों सहित म्युनिसिपल अर्थव्यवस्था का प्रधान कर बना हुआ है ।

११. ज़िला (देहाती) बोर्डों की अर्थव्यवथा। भारत गांवों वाली भूमि है। उसकी जनसंख्या का १० में से ९ भाग ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है। ज़िला बोर्डो से उन लोगों के स्वार्थों की देखभाल की आशा की जाती है, अतएव वह स्थानीय स्वशासन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण इकाई है। किन्तु अधिक प्रबल वाणी वाले न होने के कारण जनता की दृष्टि में उनका स्थान नगर की म्युनिसिपैलिटियों जैसा नहीं होता।

डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह काम करने पड़ते हैं—सड़कों, पुलों, घाटों आदि की साज संभाल रखना, स्कूलों, औषधालयों तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के अन्य प्रबन्ध कार्यों को चलाना। उनकी आय का सबसे बड़ा साधन भूमि कर पर प्रान्तीय सरकार द्वारा उसके साथ ही लिया जाने वाला अधिभार (Surcharge) है। डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह अधिकार दिया गया है कि यदि वह चाहें तो भूमि कर का कम से कम ६॥ प्रतिशत तथा अधिक से अधिक १२॥ प्रतिशत कर वसूल कर सकें। उनको नागरिक कार्यों तथा अन्य विभिन्न साधनों से भी कुछ आय हो जाती है। पंजाब के डिस्ट्रिक्ट बोर्डो ने हैसियत टैक्स तथा पेशा टैक्स लगा रखे ह ।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आय का अधिकांश भूमिकर के साथ एक सफा दर पर वसूल किया जाने वाला प्रान्तीय कर है। यह कर न तो क्रमबद्ध होते हैं और न इनको करदाता की योग्यता के अनुसार लगाया जाता है। अतएव यह औचित्य शास्त्र के सिद्धान्त का उल्लंघन करते है। हमको इसी कहावत की शरण लेनी पड़ती है कि 'पुराना कर कोई कर नहीं है।' यह भूमि कर जैसा ही लोचरहित होता है। पंजाब में भूमि कर की क्रमिक पद्धति लागू किये जाने से उसको आय का घटने-बढ़ने वाला साधन बना दिया गया है।

भारत भर के सभी डिस्ट्रिक्ट बोर्डो की कुल आय १७ करोड़ रुपया थी। इतनी थोड़ी-सी रकम से डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को शिक्षा, अस्पतालों, महामारियों के विरुद्ध प्रतिबन्धक उपायों का काम चलाना तथा सभी पांच लाख गांवों को आपस में मिलाने वाली सड़कें बनानी पड़ती हैं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आज सहस्रों गांवों में न तो कोई स्कूल है, न अस्पताल है और न वहां कोई सड़क है। डिस्ट्रिक्ट बोर्डो को सदा ही धन की कमी बनी रहती है। इसीलिये प्रान्तीय सहायता की रकम को पर्याप्त बढ़ाना आवश्यक है और जैसा कि कर निर्धारण जांच समिति ने प्रस्ताव किया है कि भूमि कर को इतने हल्के स्तर पर लगाया जावे कि डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को उसके ऊपर एक स्थानीय कर लगाने योग्य अवकाश छूट जावे। गत वर्षों में कर को बढ़ाने की अथवा मदरास के समान

अनेक कर लगाने की प्रवृत्ति बढ़ती रही है। स्थानीय दर को भी उन्नतिशील बनाया जाना चाहिये।

१२. स्थानीय साधनों की स्वल्पता। भारत में अभी पिछले वैधानिक परिवर्तनों से स्थानीय संस्थाओं को बड़े भारी अधिकार मिल गये हैं। स्थानीय संस्थाओं को करने के लिए जो कार्य दिये गये हैं, वह अत्यन्त विस्तृत तथा विभिन्न कार के हैं—शिक्षा, चिकित्सा, सफ़ाई तथा संचार साधनों में सुधार जैसी जिन सेवाओं की हम म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डो से किये जाने की आशा करते हैं वह अत्यन्त राष्ट्रीय महत्व के हैं। इस सारी बात को तथा उनके रा सेवा किये जाने वाले क्षेत्रफल तथा जनसंख्या को ष्टि रखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनके साधन बहुत कम हैं। १९२७-२८ में ब्रिटिश भारत में सभी देहाती बोर्डो की समस्त आय सवा करोड़ ौंड थी। जो कि लन्दन कौंटी कौंसिल[१] की आय से जरा ही ज्यादा है। १९३१-३२ में स्थानीय बोर्डों का समस्त व्यय केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सभी व्ययों का कुल ११ तिशत था। यह व्यय प्रति व्यक्ति कुल १ रुपया १ आना बैठता था। प्रति व्यक्ति इतनी कम रकम खर्च करके विशेष-कर जब कि उसको स्थानीय व्यय की इतनी अधिक मदों में खर्च करना पड़ता है—हम किस चमत्कार की आशा कर सकते हैं। इंग्लैंड और वेल्स ने १९२९-३० में समस्त व्यय का ३५ प्रतिशत स्थानीय बोर्डों पर व्यय किया, जो कि ति व्यक्ति १० पौंड १७ शिलिंग बैठता है। अमरीका में स्थानीय व्यय समस्त सार्वजनिक व्यय का ५५ प्रतिशत और जापान में ५०[२] तिशत था। जाब में विभिन्न सामाजिक सेवाओं पर म्युनिसिपैलिटियों ने ति व्यक्ति ६ रुपये ८ आना खर्च किया था।[३] इतने कम व्यय के साथ हमारी स्थानीय संस्थायें शासन के आधुनिक मान को न तो प्राप्त कर सकती हैं और न बनाये रख सकती हैं। यही कारण है कि हैजा, प्लेग (ताऊन) तथा चेचक जैसे संक्रामक रोग भारत में इतने अधिक फैलते है कि सारे संसार भर में सब प्रकार से मिला कर भी वह इतना नहीं फैलते और इसी लिए हमारी शिक्षा में उतनी अधिक बाधा तथा व्यर्थ व्यय होता है। स्कूल जाने वाले बच्चों में मिडिल तक बहुत कम जा सकते हैं और स्कूल छोड़ने पर वह यह भी सब कुछ भूल कर अशिक्षित बन जाते हैं।

---

१. Indian Statutory Commission Report, 1930. Vol. I. p. 336.

२. Economic Problems of Modern India 1941. Edited by Radha Kamal Mukerjee. pp. 430-31.

३. D.K. Malhotra : "Finance of Local Boards in the Punjab" a paper read at the 25th Indian Economic Conference.

स्थानीय अर्थ व्यवस्था में इतनी तंगी के कारण निम्नलिखित हैं—(१) जनता की सर्वसाधारण निर्धनता तथा कर लगाने योग्य अत्यन्त कम शक्ति, (२) धनिकों की कर देने में असहमति, (३) नगर पिताओं में साहस का अभाव। उनको यह भय रहता है कि कहीं वह बदनाम न हो जायें, जिससे वह दुबारा चुनाव में न आ पावें। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ साधनों पर तो कर लगाया ही नहीं जाता और कुछ पर कर कम लगाया जाता है। राजनीतिक दबाव के कारण वह अपनी कर लगाने की शक्ति का पूरा उपयोग नहीं कर पाते।

(४) दोषपूर्ण निरीक्षण तथा अपर्याप्त शासन के फलस्वरूप अनेक व्यक्ति कर देते से बच जाते हैं और अनेक के पास बकाया रकम एकत्रित हो जाती है। इस तथ्य को लगभग सभी प्रान्तों में स्थानीय संस्थाओं के कार्यो की रिपोर्टों में पाया जाता है।

(५) स्थानीय संस्थाओं का विशाल कार्यक्षेत्र।

(६) किन्तु अत्यन्त मौलिक कारण है केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय अर्थव्यवस्था के बीच में साधनों का अशुद्ध विभाजन। अन्य देशों में भूमि कर विशेष रूप से स्थानीय संस्थाओं के लिए छोड़ दिये जाते हैं। किन्तु भारत में प्रान्तीय सरकारें भूमि कर को अपने पास मुख्य रूप से रखती हैं, क्योंकि केन्द्रीय सरकार ने उनसे उनके आयकर जैसे उचित साधन को छीना हुआ है।

(७) प्रान्तीय सरकार ने जो अभी-अभी बिक्री कर और नागरिक अचर सम्पत्ति कर तथा मनोरंजन कर जैसे करों को लगाया है वह भी स्थानीय अर्थव्यवस्था के ठोस साधनों में पराधिकार प्रवेश ही है।

(८) स्थानीय संस्थायें अपने साधनों से बाहिर जाकर मूर्खता से शिक्षा तथा स्वास्थ्य की योजनाओं को अपने हाथ में ले लेती हैं। इससे उनकी आर्थिक कठिनाइयां बढ़ जाती हैं। इसीलिए उनकी सेवाओं के मान (Standard) हल्के हैं और उनके कर्मचारियों के वेतन में आए दिन कटौती होती रहती है।

(९) डिस्ट्रिक्ट बोर्डो के विषय में यह है कि शासन के केन्द्रीय होने के कारण **पंचायतें** नहीं बन पातीं। इससे एक ओर तो वह कर देने योग्य लोगों पर कर नहीं लगा सकते और दूसरी ओर उनका उत्तरदायित्व बढ़ता जाता है। पंचायतों को स्थानीय स्थिति का अच्छा ज्ञान रहता है और वह जनता की कर देने योग्य स्थिति का उपयोग कर सकती हैं।

हमारी स्थानीय संस्थाओं के साधनों की अपर्याप्तता के अनेक कारणों में से यह थोड़े से कारण हैं। इन्हीं के कारण वह हमारे राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में अपना योग्य कार्य नहीं कर पाते।

१३. स्थानीय संस्थाओं के साधनों को किस प्रकार विकसित किया जावे। हम यह देख चुके हैं कि स्थानीय संस्थायें अपने साधनों के अपर्याप्त होने के

कारण किस प्रकार अपने कार्य का उचित तथा ठीक तौर से सम्पादन नहीं कर पातीं। हमने उनकी अयोग्यता के कारणों पर भी विचार किया है। स्थानीय संस्थाओं की मुख्य समस्या है उनके साधनों को विकसित करके अधिक उत्तम बनाना।

हमको यह आरम्भ में ही कह देना चाहिये कि जनता की संक्रामक निर्धनता के कारण नये कर लगाने के साधन खोजने में भारी बाधाए हैं। शासन यंत्र को कुछ कठोर करने से कुछ काम हो सकता है, जिससे उनमें पूर्णता तथा योग्यता लाई जा सके। जब तक जनता तथा स्थानीय संस्थाओं में उनके प्रतिनिधियों में पूर्ण नागरिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न नहीं होती, उनके ऊपर प्रान्तीय सरकार इस प्रकार का कठोर नियंत्रण रखे कि किसीके ऊपर उचित मात्रा से कम कर न लगे। कोई देने योग्य होता हुआ कर से न छूटने पावे, किसी के पास कर की रकम जमा न होने पावे अथवा वर्तमान साधनों से अधिक से अधिक प्राप्त करने में कोई भूल न होने पावे। व्यय के ऊपर भी कठोर निरीक्षण रखा जावे। जिससे सार्वजनिक धन का अपव्यय, निजी उपयोग में लाना अथवा अन्य प्रकार से दुरुपयोग करना कठिन हो जावे। सार्वजनिक अर्थव्यवस्था की किसी भी प्रणाली की आवश्यक विशेषताएं यह हैं कि कर संग्रह में योग्यता तथा पूर्णता तथा व्यय में बुद्धिमत्ता तथा मितव्ययिता बर्ती जावे।

कर निर्धारण जांच कमेटी (Taxation Enquiry Committee) ने स्थानीय अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये हैं:—

(१) भूमि कर को कम दर पर लगा कर उसका मान स्थिर कर दिया जावे, जिससे स्थानीय कर लगाने की गुंजायश उसमें छूट जावे।

(२) स्थानीय-संस्थाओं को प्रान्तीय सरकार के भूमिकरों में से तथा कृषिभिन्न भूमि की दर को बढ़ा कर उसकी वृद्धि में से एक भाग दिया जाना चाहिये।

(३) म्युनिसिपैलिटियां एक विज्ञापन कर लगावें।

(४) प्रान्तीय सरकारें मनोरंजन कर तथा शर्तबन्दी कर में से एक भाग स्थानीय संस्थाओं को दें।

(५) परिस्थितियों, सम्पत्ति तथा पेशों पर करों को और भी अधिक व्यापक बनाया जावे।

(६) केन्द्रीय सरकार को मोटरकारों पर आयात कर घटा देना चाहिये और प्रान्तीय सरकारों को इस बात की अनुमति देनी चाहिये कि वह स्थानीय संस्थाओं के हित के लिये उस पर अधिभार (Surcharge) लगा सकें।

(७) स्थानीय संस्थाओं को विवाहों की रजिस्ट्री पर एक शुल्क लगाना चाहिये।

(८) प्रान्तीय सरकारों को राष्ट्रीय महत्व की कुछ ऐसी सेवाओं की आर्थिक सहायता करनी चाहिये, जो अब स्थानीय संस्थाओं द्वारा की जाती हैं। इस सहायता का उद्देश्य केवल उनके साधन बढ़ाना न हो, वरन उनमें कार्यदक्षता उत्पन्न करना भी हो।

इन प्रस्तावों में हम निम्नलिखित प्रस्तावों को और सम्मिलित कर सकते हैः—

(९) प्रान्तीय सरकारों को मोटरकारों के कर के एक बड़े भाग को अथवा पूरे का पूरा स्थानीय संस्थाओं को दे देना चाहिये। साथ ही उनको नये करों में जैसे बिक्री कर, अचर सम्पत्ति कर, मनोरंजन कर तथा कृषिआय कर के एक भाग, जिसे तुरन्त लगाया जाना चाहिये—स्थानीय संस्थाओं को देना चाहिये।

(१०) स्थानीय संस्थाओं, विशेषकर म्युनिसिपैलिटियों को व्यापारिक रूप वाले ऐसे उत्पादक कार्यों पर कर लगाना चाहिये, जिनकी अभी तक पूर्णतया उपेक्षा की गई है। ऐसे कार्य यह हो सकते हैं—तम्बाकू और पेट्रोल जैसी वस्तुओं की बिक्री का एकाधिकार, सिनेमाओं, सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं, जैसे बिजली, स्थानीय यातायात सर्विसों, गन्दे पानी के खेतों तथा खाद की बिक्री। संसार की सभी म्युनिसिपैलिटियों ने म्युनिसिपैलिटियों के व्यापार तथा उद्योगधंदों के क्षेत्र को बढ़ा कर अपने साधनों का विकास करने को पसन्द किया है। आय का यह बड़ा अच्छा साधन है। यह खेद की बात है कि इसकी अब तक भी उपेक्षा की जाती है।

(११) एक और साधन की भी अब तक उपेक्षा की गई है। वह है विशेषकर लगाना। यदि किसी सम्पत्ति को म्युनिसिपैलिटी द्वारा किये हुए सुधार कार्यों, उदाहरणार्थ, कोलतार की सड़क तथा भूम्यन्तर्गत नालियों से लाभ पहुंचा है तो उस सम्पत्ति के मालिक को प्राप्त लाभ के अनुपात में म्युनिसिपैलिटी को विशेष कर देना चाहिये। इस प्रकार के विशेष करों का उपयोग अमरीका, ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों में अत्यन्त व्यापक रूप में किया जाता है। और इस बात का कोई कारण दिखलाई नहीं देता कि उसकी यहां भी क्यों उपेक्षा की जावे। संभवतः निहित स्वार्थ वाले इसमें बाधा डालते हैं। किसी महामारी पर नियंत्रण सार्वजनिक महत्व का विषय हो सकता है। किन्तु एक औषधालय, वाचनालय, पार्क अथवा क्रीड़ा भूमि से किसी विशेष स्थान के निवासियों को अधिक लाभ होता है। अतएव इस प्रकार लाभ प्राप्त करने वालों को इस उद्देश्य वाले विशेष कर को चुकाने में संकोच नहीं करना चाहिये।

(१२) शिक्षा, चिकित्सा, सफाई तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा ऐसी बड़ी-बड़ी सड़कों के साज-संवार के व्यय के अधिक भाग को—जिन पर एक से अधिक ज़िलों का यातायात चलता रहता है—प्रान्तीय खज़ाने से दिया जाना चाहिये। क्योंकि इनके स्थानीय महत्व की अपेक्षा कुछ व्यापक महत्व होता है।

(१३) इतना सब कुछ हो जाने पर प्रान्तीय सरकारों को उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता पड़ेगी।

(१४) ऋण का उपयोग आजकल की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाना चाहिये। म्युनिसिपैलिटी के व्यापार तथा भारी कार्यों के लिए धन जुटाने के लिए तो

विशेषरूप से ऋण ले लेना चाहिये। भावी संतति को लाभ पहुंचाने वाले सुधार कार्यो के लिए भी ऋण ले लेना चाहिये।

साधारण विचार यह है कि स्थानीय संस्थाएं स्वयं ही ईमानदारी से अपने पैरों पर खड़ा होने का यत्न नहीं करतीं और प्रायः प्रान्तीय कृपा पर निर्भर करना पसन्द करती हैं। वह आयके उन सब साधनों से काम नहीं लेतीं, जिनका वह उपयोग कर सकती हैं और न वह अपनी अपनी वसूली में विशेष सावधान हैं। यदि स्थानीय शासन में सुधार करना है तो ऐसी बातों को समाप्त कर देना चाहिये।

१४. स्थानीय अर्थव्यवस्था जांच कमेटी १९५१ (Local Finance Enquiry Committee)। स्थानीय अर्थव्यवस्था जांच कमेटी ने अपनी रिपोर्ट १९५१ में प्रकाशित की थी। उसने उसमें निम्नलिखित सुझाव दिये थेः—

(१) केन्द्र को परामर्श दिया गया है कि वह रेल्वे, समुद्र तथा वायुमार्गों द्वारा यात्रा करने वाले यात्रियों पर सीमा-शुल्क लगावे और उस आय को स्थानीय संस्थाओं को दे दे।

(२) राज्य सरकारें इन करों का पूर्णतया स्वयं खर्च करना बन्द कर दें— बिजली की बिक्री, गाड़ी कर (मोटर गाड़ियों के अतिरिक्त अन्य गाड़ियां) भूमियों तथा मकानों अचर सम्पत्ति कर जैसे कर तथा मनोरंजन कर।

(३) राज्य सरकारों को कहा गया है कि वह स्थानीय संस्थाओं को कर लगाने की सभी वर्तमान शक्तियों का पूर्ण उपयोग करने को विवश करें।

(४) सम्पत्ति कर को विशेष रूप से अनिवार्य कर दिया जावे और उसमें तीन आना स्थानीय कोष में दिया जाना चाहिये।

(५) चुंगी कर के लिए एक आदर्श सूची निश्चित करनी चाहिये।

(६) पेशे कर को बढ़ा कर प्रति पेशा प्रति वर्ष १०००) रुपया कर दिया जावे।

(७) होटलों में ठहरने वालों पर भी कर लगाने का सुझाव दिया गया।

(८) राज्यों को मोटर गाड़ियों के कर में स्थानीय संस्थाओं को भाग देना चाहिये।

(९) केन्द्रीय सरकार ने जो अपनी सम्पत्ति को स्थानीय संस्थाओं के क्षेत्र में कर मुक्त रखा हुआ है उसके लिए उसे स्थानीय संस्थाओं को हर्जाना देना चाहिये।

यदि इन सभी प्रस्तावों को समस्त भारतीय संघ भर में कार्यरूप में परिणत कर दिया जावे तो उससे लगभग ४० करोड़ रुपया आय बढ़ जावेगी।

आलोचना—(१) इस रिपोर्ट में ७९७ स्थानीय संस्थाओं के विषय में लिखा गया है और पंचायतों तथा छोटी-छोटी नगर कमेटियों के विषय में नहीं लिखा गया। अत-एव इस रूप में इसका मूल्य सीमित है।

(२) स्थानीय कर निर्धारण के स्तर को बढ़ाना उतना सुगम नहीं है, जैसा कि प्रस्ताव किया गया है।

(३) राज्यों के बजट से स्थानीय बजट में पर्याप्त रकम बदली जावेगी। यह संभव है कि स्थानीय संस्थाएं उस रकम को अधिक अच्छी तरह से खर्च न करें।

(४) इस रिपोर्ट में एक भारी कमी यह है कि उसने $\frac{9}{10}$ भारतीय जनसंख्या वाले क्षेत्र की उपेक्षा की है। इस प्रकार जनपदों, ग्राम सभाओं तथा पंचायतों की स्थापना द्वारा स्थानीय स्वशासन का विस्तार करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

(५) कमेटी ने ऐसे छोटे-छोटे करों को लगाने का प्रस्ताव किया है, जो व्यापार को हानि पहुंचा सकते हैं। यह ठीक नहीं है।

कमेटी ने जो अनधिकृत व्यय के ऊपर अधिभार (Surcharge) लगाने के मूल्य पर पुर्नविचार करने तथा वसूली के लिए न्यूनतम प्रतिशत सारिणी तय की है उन प्रस्तावों को तत्काल ही कार्यरूप में परिणत किया जाना चाहिये। तौ भी सहायता के अनुदानों के वितरण तथा व्यय के न्यूनतम मान को निश्चित करने के लिए स्थानीय सरकार अधिनियम (Local Government Act) के सिद्धान्तों को अपनाने के लिए अभी उपयुक्त समय नहीं है।

निम्नलिखित सुधार अत्यन्त आवश्यक हैं:—

(१) स्थानीय संस्थाओं की सहायता करने के लिए एक आर्थिक मूल्य निर्धारण एजेंसी (Economical Valuation Agency) बनाई जानी चाहिये।

(२) एक स्थानीय सरकार सर्विस (Local Government Service) का संगठन किया जाना चाहिये।

(३) सहायतार्थ अनुदानों की रकमों को बढ़ाया जावे।

(४) ज़िला बोर्डो के कुछ कार्य पंचायतों को दे दिये जावें और ज़िला बोर्डों की उसी अनुपात में आय भी पंचायतों को दे दी जावे।

यदि इन सभी सुझावों को कार्यरूप में परिणत कर दिया गया तो स्थानीय संस्थाओं की उन्नति को अग्रसर करने में बहुत कुछ लाभ हो जावेगा।

१५. भारतीय अर्थव्यवस्था की तुलनात्मक आलोचना। संसार भर में अर्थव्यवस्था की कोई प्रणाली पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकती। किन्तु भारतीय प्रणाली में साधारण से भी अधिक त्रुटियां हैं। हम उसकी त्रुटियों पर दो दृष्टिकोण से विचार करेंगे–(१) कर लगाने की प्रणाली में त्रुटियां और (२) सार्वजनिक व्यय में त्रुटियां।

कर प्रणाली—भारतीय कर प्रणाली आकस्मिक है। उसकी आय का उन्नतिशील विकास करने के लिए वैज्ञानिक रूप से योजना नहीं बनाई गई। उसको समय की आकस्मिक आवश्यकता से ढाल लिया गया है। उसका मुख्य कार्य बजट को संतुलित करना है। कर लगाने की घटना तथा देश में उसके उत्पादन तथा वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर संभवतः बहुत कम ध्यान दिया गया है। जैसा कि सर वाल्टर लेटन का कहना है कि बजट को इस प्रकार कस कर तंग बनाया गया है कि उसमें आकस्मिक तथा अभूतपूर्व व्ययों

के लिए कोई गुंजायश नहीं है, इसीलिए जिनको प्रायः उधार लेकर पूरा करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय बजट में अनिश्चितता का तत्व भी है। वर्षा की हवायें (मानसून) तो सारे हिसाब पर पानी फेर देती है। इसके अतिरिक्त हमारे साधन अपर्याप्त तथा लोचरहित हैं।

हमारी कर प्रणाली की और विशेषता उसका परम्परागत दकियानूसीपना है। सार्वभौम आलोचना की जाने पर भी भूमि कर तथा उत्पाद कर जैसे कर अब भी बने हुए हैं।

हमको इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि अन्य देशों के विपरीत भारत में प्रत्यक्ष करों की अप्रधानता है और परोक्ष करों की प्रधानता है। प्रत्यक्ष कर प्रणाली की अविकसित दशा हमारी कर प्रणाली की सबसे भयंकर त्रुटि है।

एक और भारी त्रुटि हमारी कर प्रणाली का वापिसी का रूप है। वह औचित्य अथवा बलिदानकी समानता के शास्त्रसम्मत नियम का उल्लंघन करती है। वह निर्धनोंके विरुद्ध विभेदात्मक व्यवहार करती है और धनिकोंका पक्ष करती है। धनी लोग केवल एक कर आय-कर ही देते हैं और यहां भी इतनी अधिक उन्नति नहीं की जाती, जितनी करनी चाहिये थी। भूमि कर, तटकर, उत्पाद कर ओर यहां की रेल्वे के किराये भी सब मिला कर निर्धनों द्वारा ही दिये जाते है। उत्तराधिकार कर, कृषि-आय कर, आकस्मिक आय कर के न होने से उसके इस प्रतिगामी रूपमें और भी वृद्धि हो रही है। भारतीय परिनियम कमीशन (Indian Statutory Commission) का कहना है कि "एक निर्धन किसान, जो राज्य को केवल भूमि से ही आय का पर्याप्त भाग नहीं देता वरन् चीनी, मिट्टी के तेल, नमक तथा सामान्य उपभोग की अन्य वस्तुओं के कर के भार को भी उठाता है—उस ज़मींदार से बिल्कुल भिन्न प्रकार का व्यवहार पाता हुआ दिखलाई देता है, जिसकी कृषि आय आय-कर से पूर्णतया मुक्त है।"[१] पेशेवर मध्यम श्रेणी वाले तथा व्यवसायी लोग बड़े ज़मींदारों के साथ साथ अपना योग्य भाग देने से बच जाते हैं। प्रोफ़ैसर के० टी० शाह के शब्दों में "अधिक धनिक वर्ग इस प्रकार के बोझ को उठाने की शक्ति कहीं अधिक शक्ति होने पर भी अपने अपेक्षाकृत कहीं हल्के बोझ से बच निकलते हैं, जब कि निर्धन वर्गों को, जो ऐसे बोझ से नहीं बच सकते—शेर के बोझ के भाग को उठाना पड़ता है, यद्यपि उनकी उसको उठाने की शक्ति मेमने से भी कम होती है।"[२] रक्षात्मक तटकर लग जाने से साधारण जनता का बोझ बढ़ गया।

केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय अर्थव्यवस्था में प्रत्येक के भाग को अत्यन्त दोष-

१. Vide Report, Vol. I, 1930, pp. 334-335

२. K. T. Shah : Review of Indian Finance, 1927-34. p. 48.

पूर्ण ढंग से इस प्रकार निश्चित किया गया है कि थम दूसरे को भूखा मारता है और दूसरा अपने बाद वाले को भूखा मारता है।

सार्वजनिक व्यय की आलोचना—भारत में सार्वजनिक व्यय धीरे-धीरे स्थायी रूप से बढ़ रहा है। किन्तु यदि व्यय बुद्धिमत्तापूर्वक किया जावे और उससे देश के मानवी तथा भौतिक साधनों का विकास किया जावे तो इसमें डरने की कोई बात नहीं है। किन्तु हमारे सार्वजनिक व्यय में सबसे बड़ी त्रुटि यही है।

भारत में सदा ही सार्वजनिक ध्यान देश के रक्षा व्यय पर केन्द्रित किया जाता है। इसके लम्बे-चोड़े आकार पर—जो उसका बन चुका है, सेना में विदेशी तत्व पर और उसको रखने के उद्देश्य पर आपत्ति की जाती है। यह कहा जाता है कि सेना तथा रक्षा सेवायें हमारी कुल आय का २५ प्रतिशत ले जाती हैं। कुछ समय तक तो यह संसार भर में सबसे ऊचा था। १९३५-३६ में रक्षा सेवाओं पर भारत का व्यय उसके कुल व्यय का २४ प्रतिशत था। ब्रिटेन में वह १५ प्रतिशत, फ्रांस में १६ प्रतिशत, जर्मनी में १७ प्रतिशत ओर इटली में वह २१ प्रतिशत था।[१] सर वाल्टर लेटन का अपनी रिपोर्ट में कहना है कि "आर्थिक स्थिति के इस संक्षिप्त विवरण की यह एक विशेषता है कि केन्द्रीय सरकार के वर्तमान व्यय में रक्षा व्यय का इतना ऊंचा अनुपात है कि वह संसार के किसी भी देश के अनुपात से अधिक है। उत्पादन बढ़ाने के लिए सुरक्षा निश्चय से ही आवश्यक है। किन्तु उससे रक्षा पर इतने व्यय का तब तक दावा नहीं किया जा सकता, जब तक या तो वह आय का केवल पुनर्विभाजन मात्र हो अथवा वह उत्पादनात्मक योग्यता बढ़ाती हो। उसका (भारत का) व्यय ब्रिटेन के अतिरिक्त शेष सारे राष्ट्रमण्डल के व्यय का दो या तीन गुना है।"[२] ऐसा पता चलता है कि थम महायुद्ध के बाद संसार भर में व्यापक सुरक्षा से भी भारत को लाभ नहीं पहुंचा और उसका रक्षा व्यय मूल्यों में तेजी लाकर भी बराबर बढ़ता ही रहा।

यह भी कहा गया कि भारतीय सेना को साम्राज्य के उद्देश्यों के लिए रखा जाता है। १९२१ में लार्ड एशर (Lord Esher) की कमेटी ने भारतीय सेना को साम्राज्य रक्षा की एक इकाई के रूप में माना था।

भारतीय लोकमत भी शान्ति काल में युद्ध आधार पर इतनी बड़ी स्थायी सेना रखने के विरुद्ध था। यदि जातीय तथा आर्थिक विकास की अधिक महत्वपूर्ण योजनाओं पर धन खर्च करना है तो रक्षा व्यय की भारी कटौती करनी ही पड़ेगी। सेना के भारतीयकरण, भारतीय युवकों को अनिवार्यत: सैनिक शिक्षा देने, पड़ौसियों से अच्छे सम्बन्ध स्थापित

---

१. Z. A. Ahmad: Public Revenue and Expenditure in India. 1938. p. 48.

२. Indian Statutory Commission Report, Vol. II., pp. 216-17.

करके तथा राष्ट्रमण्डल की रक्षा प्रणाली के लाभ में भाग लेकर हमारे सैनिक बजट में आवश्यक कमी की जा सकेगी।

हमारे सार्वजनिक व्यय का एक और आपत्तिजनक रूप है, अत्यन्त खर्चीला नागरिक शासन। हमारी सिविल सर्विस संसार भर में सबसे महंगी है। "भत्तों तथा अन्य सुविधाओं को बिना गिने अफसरों के वेतन का औसत तीन सहस्र रुपये प्रति मास है। जब कि ब्रि`न के अफसरों के वेतन का औसत एक सहस्र रुपये प्रति मास है।"[१] भारत जैसा निर्धन देश इतने ऊंचे वेतनों को सहन नहीं कर सकता। इस विषय में भारतीयकरण से भी कुछ सहायता नही मिली। क्योंकि भारतीयों को भी अं`जों जैसे वेतन ही दिये गए। इन ऊंचे वेतनों को पर्याप्त मात्रा में कम किया जाना चाहिये। हमारी सम्मति में भारत में सबसे अधिक वेतन प्रति व्यक्ति आय का औसत लगा कर एक सहस्र रुपया प्रति मास होनी चाहिये। दूसरी ओर छोटे कर्मचारियों के वेतन अत्यन्त कम हैं। ५०) रुपये अथवा २०) रुपया मासिक वेतन केवल मज़ाक है। नवम्बर १९४३ में ऐंग्लो-इंडियन नेता मिस्टर फ्रेंक ऐंथोनी ने पार्लमेंट में एक अकाल सम्बन्धी वाद-विवाद में कहा था कि "हमारा शासन-सम्बन्धी यंत्र असंतुलित है, जिसको ऊपर तो आवश्यकता से अधिक वेतन देकर मानसिक रूप से भूखा मारा जाता है और नीचे को आवश्यकता से कम वेतन देकर नैतिक रूप में भूखा मारा जाता है।" कम-से-कम वेतन ५०)से कम नहीं होना चाहिये। ऊंचे तथा नीचे वेतनों की खाईको अधिकसे अधिक भरना चाहिये। हमको वेतनोंकी अपनीही दरें बनानी पड़ेंगी।

ऋण सेवाएँ हमारी आय के एक और बड़े टुकड़े को काट लेती हैं। जब कभी यह एक विदेशी ऋण होता है तो एक पूरी हानि बन जाता है। सौभाग्यवश अब हम अपने सभी विदेशी ऋणों को चुकता कर चुके हैं। अत्यधिक सैनिक व्यय तथा अत्यधिक शासन व्यय के फलस्वरूप हमारी सारी आय सरकारी यंत्र को चलाने में ही समाप्त हो जाती है तथा लोक-हितकारी कार्यों के लिए हमारे पास बहुत कम बच पाता है। जिससे हमारे आर्थिक तथा सामाजिक विकास में बाधा आती है। यह कहा जाता है कि भारत में कुल १२ प्रतिशत राष्ट्र निर्माण के विभागों पर तथा ८८[२] प्रतिशत सरकार को चलाने पर खर्च किया जाता है। सर वाल्टर लेटन के शब्दों में "रक्षा तथा कानून तथा आदेश की रक्षा जैसे सरकार के आरम्भिक कार्यों में वह (भारत) अपनी सम्पत्ति के अनुपात में पश्चिमी राष्ट्रों जैसा खर्चा कर रहा है। इसके विरुद्ध शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि सामाजिक सेवाओं पर उसका व्यय पश्चिमी स्तर से कहीं पीछे है और अनेक दिशाओं में तो वह कुछ भी खर्च नहीं करता।" फिर "अधिक आर्थिक सुरक्षा (भूसिंचन साधनों, कृषि के सुधरे हुए तथा अनेक प्रकार के साधनों आदि) अधिक

१. K. T. Shah: Review of Indian Finance, 1927-34, p. 16.

२. Malani and Soni: Indian Economics, 1934. p. 609.

उत्तम शारीरिक कल्याण (सप्लाई, जल की पूर्ति, सुधरा हुआ सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि) तथा शिक्षा के सार्वजनिक व्यय द्वारा लोकहितकारी कार्यों को अधिक किया तथा उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। वास्तव में अधिक उत्तम तथा अधिक सुरक्षित जीवन के निर्माण करने का एकमात्र व्यवहारिक साधन कर लगाना ही हो सकता है।"[1] १९३५-३६ में कानून और आज्ञा में सैनिक व्यय सहित हमारी आय का ३४ प्रतिशत खप गया था।[2]

जब हमारी आय का इनता बड़ा अनुपात राज्य के आरम्भिक कार्यों में खर्च हो जाता है तो सामाजिक सेवाओं पर व्यय का बहुत कम होना अनिवार्य है। १९३४-३५ में शिक्षा पर हमारा (केन्द्रीय,प्रान्तीय तथा स्थानीय) कुल व्यय प्रति व्यक्ति ९ आना था। जब कि ब्रिटेन में वह १९ रुपये तथा अमरीका में ५५ रुपये था। चिकित्सा, कृषि तथा औद्योगिक उन्नति पर भी व्यय बहुत कम था। निर्धनों की सहायता, स्वास्थ्य तथा बेकारी जैसे सामाजिक बीमे, बीमे तथा वृद्धावस्था की पेंशनों पर तो अभी तक कुछ भी खर्च नहीं किया गया है। १९४५-४६ में विभिन्न मदों पर प्रति व्यक्ति व्यय निम्नलिखित किया गया था।[3]

मद	रुपया	आना	पाई
सैनिक व्यय	०	१३	७
पुलिस, न्याय, जेल, कैदियों की बस्ती आदि	०	७	११
शिक्षा	०	७	२
चिकित्सा	०	२	३
सार्वजनिक स्वास्थ्य	०	०	११
कृषि	०	१	७
उद्योग-धंधे	०	०	६
वैज्ञानिक विभाग	०	०	५

इन अंकों को किसी टीका की आवश्यकता नहीं है। हमारा राज्य अभी तक भी क 'पुलिस राज्य' ही है और उसको सामाजिक सेवाओं के उस युग में प्रवेश करना है, जिसमें अन्य देश यात्रा करते हुए बहुत दूर निकल गए हैं। हमारे सार्वजनिक व्यय का अधिकांश इस प्रकार नहीं खर्चा जाता कि जिससे जनता की आर्थिक उन्नति हो और उनकी कर देने योग्य क्षमता बढ़े।

हमारे सार्वजनिक व्यय का एक और रूप भी है, जिसके विषय में भी हम उल्लेख

१. Indian Statutory Commission Report, Vol. I. pp. 907-908.

२. Z. A. Ahmad: Public Revenue and Expenditure in India, 1938, p. 83.

३. Ibid. pp. 54-56.

कर सकते हैं। विभिन्न प्रान्तों द्वारा संभाल कर चलाये हुए सेवा के स्तर एक दूसरे से अत्यधिक विभिन्नता लिये हुए है। अधिक निर्धन प्रान्त, जिनको सामाजिक सेवाओं की सबसे अधिक आवश्यकता है धन की कमी के कारण इस विषय में कुछ अधिक नही कर पाते। उनकी सेवाओं को व्यवहारिक रूप में कुछ नही मिलता। इस प्रकार की स्थिति से देश का एक-सा तथा सब क्षेत्रों में विकास नहीं हो सकता।

अन्त में हम सारांश रूप में यही कह सकते है कि एक आधुनिक राज्य केवल कर संग्राहक एजेंसी अथवा केवल शान्ति तथा सुरक्षा करने वाली एजेंसी ही नहीं होता। हमारी आर्थिक प्रणाली पर नैतिक विचारणाओं की प्रधानता होनी चाहिये। अर्थ-व्यवस्था में औचित्य जनतन्त्र का आवश्यक अंग है। सार्वजनिक अर्थव्यवस्था को सामाजिक तथा आर्थिक पुर्ननिर्माण का साधन बनाना चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारी कर प्रणाली में आमूल-चूल सुधार करने तथा हमारे सार्वजनिक व्यय में भारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। भूमि-कर तथा सिंचाई- करमें कमी, जीवनोपयोगी वस्तुओं तथा कारखानों के माल की तटकर से मुक्ति तथा विलास वस्तुओं पर अब से अधिक कर, उत्पाद-कर (आबकारी) की आय का बिल्कुल लोप, कृषि आय पर वृद्धिगत स्तर पर कर निर्धारण, आयकर के उच्च स्तरों में ढलवां क्रम से वृद्धि, आयकर की करमुक्ति-योग्य निम्नतम सीमा में थोड़ी और वृद्धि, उत्तराधिकार कर तथा आकस्मिक आयकर जैसे कुछ ऐसे कार्य हैं, जिनको शीघ्र या देर से करना ही होगा।

किन्तु यदि आवश्यकतावश कर प्रणाली इसी प्रकार पिछड़ी हुई बनी रही तो कम से कम सार्वजनिक व्यय द्वारा इस संतुलन को ठीक कर लेना चाहिये। वास्तव में वर्तमान परिस्थिति में हमको अपनी अर्थ प्रणाली में कुप्रबन्ध को ठीक करने के लिए अपने सार्वजनिक व्यय में परिवर्तन करने चाहियें। सैनिक तथा नागरिक शासन के व्यय में भारी कमी करके ही हम अपनी अर्थप्रणाली में सामाजिक न्याय के आन्तरिक सिद्धान्त को लागू कर सकते हैं। सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार ढाला जावे कि उससे किसानों, कारखाने के श्रमिकों तथा समाज के अन्य निर्धन वर्गों को अधिकाधिक लाभ पहुंच सके। अभी प्रत्येक कार्य बहुत छोटे पैमाने पर किया जा रहा है। क्या हम भी भारतीय जनता को अभाव तथा भय से सुरक्षा प्रदान करने के लिए अपनी 'अमृत योजना' उपस्थित करेंगे ?

छत्तीसवाँ अध्याय

राष्ट्रीय आय

१. परिभाषा। मनुष्य का आर्थिक हित उसके कार्य के लिए मिलने वाले पारितोषिक पर निर्भर करता है। इसी प्रकार एक राष्ट्र का आर्थिक-हित इस बात पर निर्भर करता है कि उसके लोगों के उपयोग के लिए कौन-कौन-सी वस्तुएं और सेवाएं उपलब्ध हैं। देश के लोगों की जो संपत्तियां हैं—केवल वही संपत्तिया, जो हिसाब में लगाई जा सकती हैं और जिनका परिवर्तन हो सकता है—उन सबके संपूर्ण राशि के योग को राष्ट्र की संपत्ति माना जा सकता है। संपूर्ण संपत्तियों के इस कोष में से जो आमदनी होती है, उसको राष्ट्रीय आय कहा जाता है। इसमें सम्मिलित किये जाने वाली भिन्न-भिन्न मदों के विषय में अनेक मत हैं। उदाहरण के लिए, एक माता अथवा गृह-पत्नी द्वारा जो सेवाएं दी जाती हैं, वह बहुत मूल्यवान् है और उनसे महान् संतोष की भी प्राप्ति होती है। उन्हें बहुधा द्रव्य से आंका भी जा सकता है, किंतु राष्ट्रीय आय में उसे स्थान नही दिया जाता। वही सेवा, गृह-सेविका द्वारा की जाने पर राष्ट्रीय आय मानी जाती है। इसी प्रकार, प्रो० पीगू के कथनानुसार मकान और सामान को भी राष्ट्रीय आय में माना जाता है, बशर्तेकि उन्हें किराये पर दिया जाता हो। किंतु यदि उन्हें उपहार में दिया जाता है, तो नहीं। कुछेक अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि सरकारी कर्मचारियों की सेवाओं को संपूर्ण राष्ट्रीय आय में स्थान नहीं देना चाहिये। कुछ अन्यों का मत है कि केवल उसी आय को, जिसके बदले में किसी प्रकार की सेवा नही मिल पाती, राष्ट्रीय आय में स्थान नहीं देना चाहिये; जैसे वृद्धावस्था की पैंशनें।

मि. कोलिन क्लार्क इस संबंध में राष्ट्रीय आय की निम्नलिखित व्याख्या करते हैं:—

"किसी काल के लिये राष्ट्रीय आय में माल और सेवाओं के उस द्रव्य मूल्य को लिया जाता है, जो उस काल में खपत (उपभोग) के लिए उपलब्ध होती है, उसके मूल्य का हिसाब उसके उस समय प्रचलित बिक्री मूल्य में उस मूल्य को जोड़कर लगाया जाता है, जो उसके अतिरिक्त नए पूंजीगत माल को मोल लेने के लिये वास्तव में देना पड़ता है, उसमें से घटी तथा व्यर्थ पड़े हुए वर्तमान पूंजीगत माल के हिसाब को घटा दिया जाता है, फिर उस समस्त वृद्धि को स्टाक में या तो जोड़ दिया जाता है अथवा यदि स्टाक में से माल निकाले जाने से कमी हुई हो तो उसे वर्तमान मूल्य के हिसाब से लगा कर उसमें से घटा दिया जाता है। राज्य तथा स्थानीय अधिकारियों की सेवाओं (उदाहरणार्थ, डाकखाने तथा म्युनिसिपल ट्रामवे की सेवाओं) को, जो लागत मूल्य पर बिना लाभ लिए दी जाती हैं—उस पर आई हुई लागत के हिसाब से उसमें सम्मिलित किया जाता है। जहां

कहीं विशेष वस्तुओं अथवा सेवाओं पर कर लगाया जाता है—जैसे तटकर अथवा वस्तुओं पर उत्पाद (आबकारी) कर अथवा मनोरंजन कर को—वहां ऐसे करों को विक्रय मूल्य में सम्मिलित नहीं किया जाता"[१]

डाक्टर वी० के० आर० वी० राव के अनुसार, जो एक अधिकृत भारतीय विद्वान् है—राष्ट्रीय आय की परिभाषा में माल और सेवाओं के प्रवाह के द्रव्य मूल्य को लेना चाहिए। उसमें से उसी काल में किये हुए उन आयातों को निकाल देना चाहिये, जो बिक्री के लिये उपलब्ध हों (अथवा बिक्री योग्य हों), उसके मूल्य को उस समय प्रचलित मूल्य के अनुसार लगाकर उसमें निम्नलिखित मदों के योग को निकाल देना चाहिये: (१) उस बीच में यदि स्टाक में कोई कमी हो गई हो तो उसके द्रव्य मूल्य को; (२) उत्पादन करने के दिनों में उपयोग किये हुए माल तथा सेवाओं के प्रवाह के द्रव्य मूल्य को; (३) वर्तमान पूंजीगत साजसज्जा को वैसे की वैसी ही बनाए रखने के लिये जितने माल तथा सेवा के प्रवाह का उपयोग किया गया हो उसके द्रव्यमूल्य को (इन सभी मामलों में बाजार में प्रचलित मूल्य लगाया जावे); (४) अप्रत्यक्ष कर से राज्य को प्राप्त आय; (५) कोष में सौदों सहित व्यापार के अनुकूल संतुलन को; (६) देश की विदेशी ऋणग्रस्तता में कुल वृद्धि को अथवा विदेशों में बकाया धन तथा प्रतिभूतियों की सम्पत्ति में वास्तविक कमी को, भले ही देश की सरकार अथवा किसी व्यक्तिविशेष की भी हो।"[२]

२. राष्ट्रीय आय के आंकड़ों की उपयोगिता। किसी समाज का आर्थिक-हित उसकी आमदनी से आंका जाना चाहिये। निःसंदेह, उसमें कुछ त्रुटियां है। एक समाज में धनी लोगों अथवा वृद्धों की बहुत बड़ी संख्या हो सकती है। और संभव है, इस कारण, द्रव्य की बड़ी बड़ी रकमें दवाइयों और सुख-सुविधाओं पर अनुपात रूप में खर्च की जाती हों। अथवा, समाज की शांति निरंतर दंगों के कारण भंग होती हो और उसे पुलिस तथा सुरक्षा उपायों पर बहुत व्यय करना पड़ता हो। इस प्रकार, ऐसे समाज की आय अधिक आर्थिक-हित के लिए सहायक नहीं हो सकेगी। इन त्रुटियों के होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि "यदि राष्ट्रीय आय अपेक्षाकृत अधिक है, तो राष्ट्रीय हित भी अपेक्षाकृत अधिक होगा, और अन्य वस्तुएं तो समान ही होती है।"[३]

राष्ट्रीय आय के अंकों से हमें समाज के जीवन-मान का पता चलता है। निश्चय से, यह अंक केवल औसत अंक होते हैं। यह संभव है कि कुछ लोग, देश की आम के बड़े अंश को हड़प जाते हों और बहुत बड़ी संख्या के पास केवल थोड़ा ही हिस्सा रह जाता हो। इसलिए, राष्ट्रीय आय के आंकड़ों को न केवल देश के संपूर्ण अर्थ का विस्तृत दृष्टिकोण

---

१. Colin Clark—The National Income, pp. 1-2.
२. Dr. V.K.R.V.Rao–National Income of British India.
३. Haberler—National Income, Saving and Investment, Vol. 2, pp. 140–41.

प्रगट करना चाहिए, प्रत्युत उन विभिन्न दलों का भी वर्णन करना चाहिये कि जो उत्पादक और आय प्राप्त करने वालों के रूप में हिस्सा लेते है। इस प्रकार, वह भूतकाल में देश के आर्थिक आधार-मूलक परिवर्तनों का स्पष्टीकरण करेंगे और साथ ही भविष्य की प्रवृत्तियों के विषय में प्रस्ताव कर सकेंगे।

राष्ट्रीय आय के अंकों का हितकर उपयोग यह जानने के लिए भी किया जाता है कि एक देश सुदृढ़ आधार पर प्रगति कर रहा है अथवा नहीं। यदि वह उस प्रगति को सही-सही नहीं भी नाप पाते, तौ भी, कम से कम उनसे हमें प्रवृत्तियों का तो ज्ञान होता ही है। चूंकि देश के लोगों की आय को नापने के लिए समय की अवधि अपेक्षाकृत अधिक दरकार होती है, इसलिए कीमतों और लोगों की आदतों में परिवर्तन हो जाने की गुंजायश की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में मार्शल द्वारा प्रस्तावित शृंखला का उपाय लाभपूर्ण सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार यदि हम दो विभिन्न देशों के विभिन्न जीवन मान की तुलना करते हैं, और उनके अंतरों के लिए उचित गुंजायश किये बिना उनके आर्थिक-हितों के सापेक्ष अनुमानों को बनाने की चेष्टा करते है, तो उससे ग़लतफ़हमी हो जायगी।

आज राष्ट्रीय आय का अध्ययन केवल शास्त्रीय दिलचस्पी का विषय नहीं है। इसके विपरीत, इस प्रकार के अंक एक देश की आर्थिक-त्रुटियों की छानबीन करने के लिए उपयोगी होते हैं और साथ ही उन त्रुटियों का उपचार करने के लिए भी उपयोग में लाये जाते हैं। यह आंकड़े हमें आय के वितरण के परिवर्तनशील आदर्शो का परिचय देते हैं। योजना को कृषि-विषयक अथवा औद्योगिक, कोई भी कार्यवाही, तब तक संभव नहीं होती, जब तक हमें यह पता नहीं होता कि समाज का कौन-सा भाग बचा सकता है और वह कितना बचा सकता है। इस ज्ञान के बिना, उनके हित अथवा उनकी बचत की क्षमता को आघात पहुंचाये बिना, उस पर व्यय का बोझ डालना संभव नहीं है। इस लाभपूर्ण ज्ञान के साथ सरकार प्रगतिकारी और संरक्षण, दोनों उद्देश्यों के लिए कोष प्राप्त करने के निमित्त टैक्स लगाने की स्थिति में होती है। जब सरकार को मालूम होता है कि देश के साधन इन उद्देश्यों के लिए पर्याप्त पूंजी की पूर्त्ति नहीं कर सकते, तो वह आवश्यकतानुसार विदेशों से पूंजी को आमंत्रित करती है। सरकार जब इस प्रकार सुसंपन्न होती है, तभी वह कर-विषयक नीतियां बना सकती है। तभी वह उत्पादन के प्रवाह और खपत के नियंत्रण की आवश्यकता को भी आंक सकती है।

भारत की दरिद्रता तो एक कहावत हो गई है। भौतिक समृद्धि के संबंध में भी हमारा देश लगभग अंतिम राष्ट्र है। स्वास्थ्य का मान क्षीण है, पोषण अपर्याप्त है, मृत्यु-अनुपात ऊंचा है, शिशु और जच्चा की मृत्यु का अनुपात असाधारण रूप में अत्यधिक है, जब कि जीवन-यापन का स्तर बहुत ही निम्न है। इस प्रकार के वातावरण में, भारत की आय का विश्लेषण अत्यावश्यकता का विषय हो जाता है। सही अंक दिये जाने पर, सरकार इस स्थिति में होगी कि वह आय के असमान वितरण के दोषों को दूर कर सके और

बुरे पोषण के दोषों को सही कर सके। उनसे लोगों की टैक्स योग्य वास्तविक क्षमता और उनकी क्षमता के उपयुक्त बोझा डालने की खोज में भी सहायता मिलेगी। खपत के ऊपर बचत की सोमा के ज्ञान के आधार पर ही सरकार नये उपायों और योजनाओं को हाथ में लेने योग्य होती है।

३. किसी देश की राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने के उपाय। सामान्यतः, इस आय की गणना के लिए तीन उपायों को बतलाया जाता है :

१. **आय प्रणाली**—यह आय-कर के आंकड़ों पर आधारित होती है। आय-कर के अंकों को विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए विभिन्न मज़दूर-दलों के उपार्जनों की औसत लेकर पूरक किया जाता है। इस प्रकार का उपाय उस देश में अधिक लाभकर होगा, जहां आय-कर दाताओं की अधिक संख्या होती है। किंतु भारत में भी यह उपयोगी हो सकता है, बशर्तेकि इस उद्देश्य से संबंधित उन लोगों की आयों की जांचों में इसकी सहायता की जाय कि जिन पर आय-कर नहीं लगता,अर्थात् मज़दूरों, छोटे-छोटे दुकानदारों तथा कर्मकरों के अन्य दलों की आय।

उत्पादन की गणना प्रणाली अथवा राष्ट्र-सम्पत्ति सूची प्रणाली—यह वर्ष भर में बाज़ार भाव पर खपत की गई वस्तुओं और सेवाओं के योग पर विचार करता है। इस उपाय के लिए उत्पादन और पगार की ठीक ठीक गणना की आवश्यकता है। भारत में किसी भी समय उत्पादन की पूर्ण गणना नहीं ली गई। जो भी हो, सरकार कृषि-विषयक मुख्य जिन्सों के उत्पादन का अनुमान प्रकाशित करती है, जिसका अर्थ यह है कि तीन में से प्रायः प्रत्येक दो व्यक्तियों की आय का हिसाब लगा लिया जाता है।[१] खनिजों और जंगलों के उत्पाद के भी संपूर्ण आंकड़े प्रकाशित किये जाते हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों के उत्पादन के अंक भी उपलब्ध हैं।[२] इसके अतिरिक्त दूध और दूध की बनी वस्तुओं के अंक भी उपलब्ध हैं। हाल ही में, राष्ट्रीय आय कमेटी ने १९४८-४९ के लिए प्रति अंश की आय २५५ रु० बताई थी। इसकी अखीरी रिपोर्ट इस वर्ष (१९५२) में प्रकाशित होगी और १९४९-५० का अनुमान मिल जायगा।

३. आय और राष्ट्र-संपत्ति सूची प्रणाली का सम्मिश्रण। डा० राओ ने भारत में दोनों उपायों को सफलतापूर्वक मिला दिया है। उन्होंने कृषि-विषयक उत्पादनों के सरकारी अनुमानों, खनिजों, उद्योगों और जंगलों के उत्पादनों के प्रकाशित अंकों, दूध और दूध की वस्तुओं के उपलब्ध अंकों, और आय-कर के आंकड़ों तथा छोटे सरकारी कर्मचारियों की आयों के अंकों और उन औद्योगिक कर्मकरों की आयों के अंकों का उपयोग किया है, जिनके वेतन नियमतः प्रकाशित होते हैं। उन्होंने अन्य दिशाओं में इस उद्देश्य से संबंधित जांच द्वारा इनका पूरक किया है।

---

१. Agricultural Situation in India, a Monthly Journal.
२. Statistical Abstract, a Monthly.

४. भारत में राष्ट्रीय आय के अनुमान—भारत की राष्ट्रीय आय का निश्चय करने के लिए समय-समय पर अनुमान लगाए गए हैं। इनमें सबसे पुराना अनुमान डा० नौरोजी ने १८६७-७० के विषय में बनाया था। ब्रिटिश भारत में विभाजन से पूर्व प्रति अंश आय के विभिन्न अनुमान नीचे दिये जाते हैं:-

सं०	लेखक का नाम	अनुमान का वर्ष	आय रु.	आ.	पा.
१.	दादाभाई नौरोजी	१८६७-७०	२०	०	०
२.	लार्ड क्रॉमर और बारबॉर	१८८२	२७	०	०
३.	डिगबी	१८९८-९९	१७	८	५
४.	लार्ड कर्ज़न	१९००	३०	०	०
५.	डिगबी	१९०१	१८	८	११
६.	एफ. जी. एटकिन्सन	१८७५	३०	८	०
	,, ,,	१८९५	३९	८	०
७.	वाडिया और जोशी	१९१३-१४	४४	५	६
८.	शाह और खम्बत	१९००-१४ (युद्ध पूर्व)	३६	०	०[१]
९.	,, ,,	युद्ध और युद्धोत्तर	३८	०	०
१०.	फिंडले शिरास	१९२१	१०७	०	०
११.	,, ,,	१९२२	११६	०	०
१२.	साईमन कमीशन की रिपोर्ट	१९२९	११६	०	०
१३.	डा० राओ	१९२५-२९	७६	०	०
१४.	,, ,,	१९३१-३२	५१	०	०[२]
			१६६	०	०[३]
			६५	०	०[४]
१५.	सर जेम्स ग्रिग	१९३७-३८	५६	०	०[५]
१६.	कामर्स पत्र में एक विद्यार्थी	१९३८-३९	६६	०	०
१७.	,, ,,	१९४२-४३	१२४	०	०

यह स्पष्ट है कि ऊपर लिखित आय के अनुमानोंमें अनेक विभिन्नताएं हैं। एक कारण कीमतों में परिवर्तन का है। उदाहरण के लिए, १९१३-१४ के ४५ रु० १९२१-२२ में ८० रु० की समानता में कम नहीं होंगे बशर्ते कि कीमतों की उन्नति में गुंजायश की जाय। इसे छोड़-

१. As adjusted by Dr. Rao according to the Changes in level of prices.
२. Rural.
३. Urban.
४. India, Dr. Rao allows a margin of error of ±6%.
५. Budget Speech, 1938.

कर, विभिन्न अनुमानों द्वारा जो क्षेत्र आच्छादित होता है,वह सदैव वही नहीं होता। कुछ अनुमानों में संपूर्ण भारत को सम्मिलित किया गया है, जब कि कुछ में रियासतों को छोड़ दिया गया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि विभिन्न जांच करने वालों ने अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति के आधार पर अलग-अलग ढंग से व्यवहार किया होगा। इसे देखकर कोई भी जान सकता है कि राष्ट्रीय भावना के साथ जांच करने वाले सामान्यतः सरकारी अधिकारियों की तुलना में न्यून अंकों पर पहुंचते हैं; पहले का दृष्टिकोण यह है कि ब्रिटिश शासन के कारण भारत में समृद्धि नहीं हुई, जबकि दूसरे इससे भिन्न विचार रखते हैं। इस प्रकार प्रारंभिक जांचों में राजनीतिक पक्षपात की प्रेरणा होती थी और या तो अधिक अनुमान होते थे अथवा अल्प-अनुमान। इसके अतिरिक्त, विभिन्न अनुमानों में सदैव समान मदें नहीं होती थी। गणना का आधार प्रायः सदैव भिन्न होता था। न ही आंकड़े पूर्णतया सही होते थे। बहुधा उन पर धब्बे होते थे और कई अवस्थाओं में महत्त्वपूर्ण दिशा का ही अभाव होता था। प्रो. ए. एल. बाऊले और डी. एच. राबर्टसन ने, जिन्हें सरकार ने आंकड़े संग्रह करने और उत्पादन की गणना के विषय में परामर्श के लिए आमंत्रित किया था, उल्लेख किया था, "भारत में आंकड़े शृंखलाबद्ध नहीं हैं। यद्यपि कुछ दिशाओं में सावधानी के साथ कार्य किया जा रहा है और शुद्धता तथा सूचना के क्षेत्र को उन्नत करने के लिए निश्चित यत्न किए गए हैं। कुछ अन्य दिशाओं में उन्हें अनावश्यक रूप में विस्तार दे दिया गया है, बुरी तरह अशुद्ध हो गए है, अधूरे हैं अथवा गलतफहमी करने वाले हैं; जबकि अनेक महत्त्वपूर्ण दिशाओं में सामान्य सूचना का प्रायः सर्वथा अभाव है। इस परिस्थिति में आंकड़े विशेषज्ञ के नियंत्रण में आमूल-सुधार की अत्यावश्यकता है।" कृषि-विषयक कीमतों के आंकड़ों को विस्तार दे दिया गया है, जन्म और मृत्यु-अनुपात अधूरे हैं और वेतनों के विषय में सामान्य सूचना का अभाव है। यह उल्लेखनीय है कि बाद के अनुमान अधिक वैज्ञानिक हैं और डा० राओ के अनुमान संभवतः सबसे अधिक विश्वस्त है। उन्होंने अपने अनुमानों के लिए १९३१-३२ के वर्ष को चुना है। 'आय' और 'चल संपत्ति' के उपायों का कानूनी रूप में मिश्रण किया गया है और उसे उद्देश्य संबंधी जांच द्वारा पूरक किया गया है। डा. राओ के उपाय की विधि पर नीचे विचार किया गया है और उसका अध्ययन लाभकर होगा।

डा. राओ का विचार है कि कृषि उत्पत्ति के सरकारी आंकड़ों में दस प्रतिशत का आधिक्य है और आय-कर को ५ प्रतिशत तक छिपाया गया है। इस प्रकार, शुद्ध राष्ट्रीय आय १,६६,५१० लाख और १,८६,७७० लाख के अन्तर्गत है, जो ६ प्रतिशत भूल के सीमांत के साथ प्रति अंश की ६५ रु० आय प्रदान करती है।

इसके बाद डा. राओ यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संपूर्ण भारत के लिए प्रति अंश ६५ रु० आय के आनुक्रम में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिअंश आय ५१ रु० है और शहरी क्षेत्रों में १६६ रु०।

१९३१-३२ में ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय का विवरण।

मद	अनुमान (दस लाख रु. में)	शुद्ध रु	भूल का सीमान्त (प्रतिशत)
क. राष्ट्र सम्पत्ति अनुमान :			
१. कृषि उत्पत्ति	६,०८९.२		
फल, मसाले, दालें आदि	१,७४६.९		
	७,८३६.१		
घटाओ—क्षय से हानि बीज, ब्याज, पशुओं की रक्षा और घटी, और औजारों की मरम्मत आदि।	१,९०९	५,९२७	
२. पशु—दूध, मांस, खालों, हड्डियों ऊन आदि सहित		२,६८३	+१०
३. मछली मारना और शिकार	१२०		±२०
खनिज	१८०		
४. जंगल उत्पादन	९२		
ख. आय अनुमान:—			
१. आयकर से निर्धारित आय		२,१६१	
२. बिना टैक्स के आय—			
(अ) उद्योगों में मजदूरों की	२,१००		
(आ) सरकारी नौकरों, रेलों डाक और तार के कर्मकरों की	५९०		
(इ) अन्य यातायात के कर्मकरों की	२८३		
(ई) व्यापार के कर्मकरों की	१,२३३		
(उ) व्यवसायों और कलाओं के कर्मकरों की	४१६		
(ऊ) घरेलू कर्मकरों की	३२५	४,९४७	±१६
ग. मिश्रित :			
मकान सम्पत्ति	७७४		
रेशम	१२		
बासन	६०		
शहद	१०		
पेंशनें	७९		
सरकार की व्यापारिक जिम्मेदारियां	८९		
कृषि ऋण पर ब्याज	१७०		
अप्रत्यक्ष कर	८३९		
घटाओ—	१८५५		
अप्रत्यक्ष करों से राजस्व	+८३९		
आन्तरिक सरकारी ऋण पर ब्याज	—१६०		
आयातों पर निर्यातों का आधिक्य, आदि	३९६		
	१०७५	७८०	±नदारद
	१६,८९०		±६

५. **राष्ट्रीय आय के विभाजनोत्तर काल के अनुमान**। "ईस्टर्न इकोनामिस्ट" ने १९४८ के अपने वार्षिक अंक में प्रति व्यक्ति आय का अनुमान किया था। डा. राओ के १९३१-३२ के आधार पर पाकिस्तान के लिए २२४ रु० के विपरीत अनुमान किया गया था। भारत में अल्प आय के लिए यह युक्ति दी गई थी कि भारत की अपेक्षा पाकिस्तान की कृषि संपत्ति संभवतः अधिक ठहराई गई थी। भारत सरकार के व्यापार सचिवालय ने १९४५-४६ और १९४६-४७ के विभाजन के अनंतर भारत संघ के प्रांतों के राष्ट्रीय-आय के लागत अंशों के रूप में अनुमान प्रकाशित किये थे जो इस प्रकार हैं:—

(करोड़ रुपयों में)

मदें	ब्रिटिश भारत १९४५-४६	भारतीय संघ १९४५-४६	प्रान्त १९४६-४७
१. मौलिक उत्पादन—			
(क) कृषि की शुद्ध उत्पत्ति और पशुपालन	२,७४५	१,९६३	२,२९१
(ख) जंगलों की शुद्ध उत्पत्ति	१२	९	४६
(ग) खनिजों की शुद्ध उत्पत्ति	३८	३७	६१
शुद्ध मौलिक उत्पादन का योग	२,७९५	२,००९	२,३९८
२. अ—मौलिक भिन्न उत्पादन—			
(क) कर निर्धारित आय	५७९	५३५	५६६
(ख) बिना कर की आय	२,८६०	२,३८७	२,६१६
लागत अंश पर कुल राष्ट्रीय आय	६,२३४	४,९३१	५,५८०
प्रति व्यक्ति आय रु. में	१९८	२०४	२२८

ऊपर के अंकों से पता होता है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई, किंतु यह वृद्धि असली नहीं है, क्योंकि कीमतों के स्तर में लगभग १२.५ प्रतिशत की उन्नति के लिए गुंजायश की जानी है। ५,५८० रु० के अंकों में अनंतर काल में भारत में सम्मिलित हुई रियासतों की आय शामिल नहीं की गई।

राष्ट्रीय आय कमेटी—भारत की सच्ची राष्ट्रीय आय जानने की आवश्यकता को इतना महत्व दिया गया कि सरकार ने अगस्त १९४९ में राष्ट्रीय आय कमेटी नियत कर दी। इस कमेटी को उपलब्ध अंकों की किस्म को उन्नत करने और अधिक आवश्यक आंकड़ों को संग्रहित करने के उपायों की तजवीज़ें करने के साथ ही राष्ट्रीय आय की दिशा में अनुसंधान को उन्नत करने के उपायों और साधनों के प्रस्ताव भी करने थे। कमेटी की पहली सूचना अप्रैल १९५१ में पेश की गई, और वह १९४८-४९ की राष्ट्रीय आय का अनुमान प्रदान करती है। अंतिम रिपोर्ट १९५२ में प्रकाशित हो जायगी, और अन्य विषयों पर

विचार करने के साथ ही वह १९४९-५० के लिए राष्ट्रीय आय का अनुमान भी प्रदान करेगी।

१९४८-४९ के लिए भारत की राष्ट्रीय आय (लागत अंश पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति) ८,७३० करोड़ रु० रखी गई है, जिसमें से २० करोड़ रु० विदेशों में भुगतान करने के लिए घटाये जाने हैं। अनुमानित जनसंख्या ३४ करोड़ है। इस प्रकार इस वर्ष में प्रति व्यक्ति आय २५५ रु० आती है। अगले पृष्ठ की तालिका में आय का पूर्ण विवरण प्रकट हो जाता है।

भारतीय अर्थ शासन में कृषि की सापेक्ष महत्ता इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि इससे ४,१५० करोड़ रु० अथवा संपूर्ण राष्ट्रीय आय का ४७.६ प्रतिशत प्राप्त हुआ। उसके बाद व्यापार और यातायात, जिससे १७०० करोड़ रु० अथवा १९.५ प्रतिशत मिला। अंशदान की दृष्टि से खनिज, निर्माण, हस्त व्यापार तृतीय दर्जे पर आते हैं, जिनसे १५०० करोड़ रुपये अथवा १७.२ प्रतिशत प्राप्त होता है। प्रबंध विषयक सेवाओं का ५ प्रतिशत का अंश है।

इस रिपोर्ट का कहना है कि छोटे-छोटे व्यवसायों (अधिकांशतः घरेलू) का मुख्य भाग है, जो ५,३५० करोड़ रु० होता है अर्थात् शुद्ध घरेलू उत्पादन का ६१.३ प्रतिशत प्रति नियोजित व्यक्ति का औसत शुद्ध उत्पादन ६६० रु० आंका गया है। रेलों और संवाहनों के कर्मकरों को सबसे अधिक वेतन मिलते हैं। एक अन्य दिलचस्प निर्णय यह है कि संपूर्ण आय में से निजी भाग ७,९७० करोड़ रुपये आंका गया है और सरकारी साहसिक कार्यों और प्रशासन के लिए केवल ७६० करोड़ रु० आंके गए हैं। सरकार ने टैक्सों, फीसों आदि की दृष्टि से ६९० करोड़ रु० अथवा निजी आय का ८ प्रतिशत प्राप्त किया।

यह अनुमान किया गया है कि खाद्य पर भोक्ता व्यय ४,६०० करोड़ रु० से कम नहीं हुआ अथवा संपूर्ण राष्ट्रीय आय का ५३ प्रतिशत, जो देश के अधिकांश लोगों की दरिद्रता का परिचायक है। सुदृढ़ निर्णय तभी संभव होंगे, जब इस प्रकार के अंक कुछ वर्षों तक मिलते रहेंगे।

आय में वृद्धि होने के अतिरिक्त हाल ही की जांचों से पता चलता है कि उसके वितरण में भी परिवर्तन हुआ है। यह बयान किया गया है कि राष्ट्रीय आय का एक बड़ा अंश ग्राम क्षेत्रों में समाज के अ-नियोजन वर्ग की ओर बदल गया है, जो या तो अपनी बचतों को नियोजित करने की आदत नहीं रखते अथवा बैंकिंग सुविधाओं के अभाव में वैसा नहीं कर पाते। १९५० की आर्थिक कमीशन की रिपोर्ट ने आयके इस परिवर्तन की ओर ध्यान आकर्षित किया था। उसी वर्ष में प्रकाशित हुई ग्राम बैंकिंग जांच कमेटी की रिपोर्ट स परिवर्तन का सही अनुमान नहीं कर सकी थी, और उसने भी उसे ज्यों का त्यों रखा। भारतीय सरकार के अर्थ-सचिव श्री सी. डी. देशमुख ने भी यही दृष्टिकोण उपस्थित किया था। देश के भिन्न भागों के व्यापार मंडलों ने भी इसी विचार का समर्थन किया था और शहरी वर्ग में से ग्राम वर्ग को द्रव्य आमदनियों के परिवर्तन पर चिंता कट की थी। यह कहा जाता है कि औद्योगिक नियोजन में न्यूनता का मुख्य यही कारण है।

१९४८-४९ में भारत की राष्ट्रीय आय

मदें	शुद्ध उत्पत्ति करोड़ रु. में	प्रतिशत	नियोजित व्यक्तियों की संख्या (लाखों में)	प्रति नियोजित व्यक्ति की शुद्ध उत्पत्ति रु०
१. कृषि :				
क. कृषि, पशुपालन और संबंधित कार्य-कलाप	४,०७०	४६.७	—	—
ख. जंगल	६०	०.७	—	—
ग. मछली व्यापार	२०	०.२	—	—
योग	४,१५०	४७.६	९.०५	५००
२. खानों, निर्माण और हस्त व्यापार :				
क. खानों	६०	०.७ }	३८	१,७००
ख. फैक्ट्रियों के कर्मकर	५८०	६.६ }		
ग. छोटे-छोटे व्यवसाय	८६०	९.९	१,४९	६००
योग	१,५००	१७.२	१,८७	८००
३. व्यापार और यातायात :				
क. संवाहन (डाक व तार)	३०	०.३ }	१२	१,९००
ख. रेलें	२००	२.३ }		
ग. संगठित बैंकिंग और बीमा	५०	०.६ }		
घ. अन्य व्यापार और यातायात (देसी सहित)	१,४२०	१६.३ }	९५	१,५००
४. अन्य सेवाएं :				
क. पेशे और उदार कलाएं	३२०	३.७	५९	६००
ख. सरकारी नौकरियां (शासन)	४६०	५.३	३६	१,३००
ग. घरेलू नौकरियां	१५०	१.७	४२	४००
घ. मकान सम्पत्ति	४५०	५.२	—	—
अन्य सेवाओं का योग	१,३८०	१५.९	१,३७	२,३००
५. शुद्ध घरेलू आयका वृहद्योग	८,७३०	१००.२	१३,२७	६००
विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय	−२०	−०.२	—	—
लागत अंश पर शुद्धराष्ट्रीय आय	८,७१०	१००	—	—

पंजाब ओर बम्बई जैसे राज्यों में हाल ही के परीक्षणों से यह परिणाम प्राप्त हुआ है। यह उल्लेख किया गया है कि मालगुज़ारी की दरों में तो किसी प्रकार की ृद्धि की नहीं गई, और केवल सिंचाई के पानी के लिए थोड़ी-सी वृद्धि की गई है, किंतु देखा जाता है कि

मुख्य जिन्सों की कीमतों में अपेक्षाकृत बहुत उन्नति हो गई । फलतः, ग्रामीण जनसंख्या १९३९ की अपेक्षा वर्तमान में कहीं बेहतर है और उसकी बचत करने की क्षमता में वृद्धि हो गई है, जबकि शहरी वर्ग में इसका ह्रास हुआ है। इसी प्रकार, मद्रास राज्य के विषय में डा० नारायण स्वामी नायडू का अध्ययन भिन्न निर्णय पर पहुंचता है। ऐसी दशा में, राष्ट्रीय आय का नियमित रूप से वार्षिक पर्यवेक्षण अत्यावश्यक जान पड़ता है।

६. निष्कर्ष। ऊपर के विचार से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि भारत में आंकड़ों का संग्रह करने का कार्य बहुत ही दोषपूर्ण है और विशेष रूप से पुरानी देसी रियासतों मे। आंकड़े अत्यावश्यक अनिवार्यता हैं। १९३४ में प्रकाशित बाऊले-राबर्टसन रिपोर्ट ने प्रस्ताव किया था कि संग्रह के लिए केंद्र में एक स्थाई विभाग होना चाहिए, जिसकी सहायता के लिए अर्थशास्त्र का विशेषज्ञ नियत किया जाय। उन्होंने प्रस्ताव किया था कि गवर्नर-जनरल की कौंसिल में चार सदस्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए। सदस्यों में से दो अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ होने चाहिएं और तीसरा डाइरेक्टर आव स्टेटिसटिक्स (आंकड़ों) का हो। उत्पादन की गणना पंच-वर्षीय की जानी चाहिए और जनसंख्या को गणना दस वर्ष बाद ही हो। किंतु प्रति दस वर्षके मध्य में पूरक रूपमें एक संक्षिप्त गणना भी होनी चाहिए। यथासंभव, दोनों की एक ही समय गणना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक मुख्य राज्य में एक पूर्ण-काल का आंकड़ा अफसर होना चाहिए, जो सब विभागों के आंकड़ों का परीक्षण करे और केंद्रीय डाइरेक्टर के साथ योग-प्रदान करे। इस रिपोर्ट के लेखकों ने देश की राष्ट्रीय आय की गणना के उपायों की भी तजवीज़ की थी और उन्ही आधारों पर अनंतर डा. राओ नें अपनी जांच का कार्य किया था।

द्वितीयतः, सब भिन्न अनुमानों से, जो सरकारी अथवा गैर-सरकारी, भारतीय या योरोपियन, मत-भेद होने पर भी, अधिक या थोड़ा, प्रकट होता है कि भारतीय बहुत दरिद्र हैं। वह उसी सीमा तक ही दरिद्र नहीं कि जहांतक प्रति व्यक्ति की आयका संबंध है, प्रत्युत वस्तुओं की खपत की दृष्टि से भी गरीब हैं। यह स्थिति तब और भी अंधकारमय हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि भारत कृषिप्रधान देश होते हुए भी अपने लिए पर्याप्त खाद्य उत्पन्न नही कर पाता। डा. आर. के. मुखर्जी के कथनानुसार भारत ६ करोड़ ३० लाख व्यक्तियों को खाद्य देने में अशक्त है। डा. एक्रायड् के कथनानुसार पोषक तत्वों की दृष्टि से इससे भी अधिक न्यूनता है। खाद्य-अन्न-नीति कमेटी ने अंकन किया था कि भारत में प्रचलित खपत के मान बहुत ही न्यून हे और उस स्तर की और अधिक कटौती नहीं की जा सकती। औद्योगिक नगरों में मकानों की अवस्थाएं भयंकर हैं और ग्रामों में अत्यधिक अस्वास्थ्यकर और विभाजन ने तो स्थिति और भी बिगाड़ दी है। मृत्यु अनुपात ऊंचे है। पश्चिम की अपेक्षा शिशु और जच्चा की मृत्यु संख्या बहुत अधिक है। यह हीन अवस्थाएं कृषि और उद्योग, दोनों ही दयनीय उत्पादन के परिणामस्वरूप हैं।

भारत की दुर्दशा तब और भी बढ़ जाती है, जब हम अन्य देशों की अवस्था के साथ

उसकी तुलना करते हैं। मि० कोलिन क्लार्क ने भिन्न देशों के आर्थिक-हितों की तुलना के लिये एक सूत्र उपस्थित किया है। उन्होंने कीमतों के समान अनेक देशों की राष्ट्रीय आयों के अनुमानों को न्यून किया है और कार्यकारी जनसंख्या के प्रति व्यक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयों के रूप में उन्हें कट किया है। वह अन्तर्राष्ट्रीय इकाई की व्याख्या इस प्रकार करते हैं: "१९२५-३४ के अवधि के औसत के ऊपर अमरीका में एक डालर वस्तुओं और सेवाओं की जो राशि क्रय करेगा।" निम्न तालिका इस कालांतर्गत कुछ देशों में अन्तर्राष्ट्रीय इकाई के प्रति व्यक्ति की औसत असली आय प्रकट करती है:—

अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयों में प्रति व्यक्ति की औसत असली आय

देश	अंतर्राष्ट्रीय इकाई	देश	अंतर्राष्ट्रीय इकाई
अमरीका ...	१,३८१	जापान ...	३५३
ग्रेट ब्रिटेन ...	१,०६९	मिश्र ...	३००-३५०
आस्ट्रेलिया ...	९८०	रूस ...	३२०
फ्रांस ...	६८४	दक्षिणी अफरीका ...	२७६
चीन ...	१००-१२०	ब्रिटिश भारत ...	२००

संभव है कि मि. कोलिन क्लार्क के अनुमान किसी सीमा तक दोषपूर्ण हों, किंतु इसमें भी संदेह नहीं कि उन वर्षों में ब्रिटिश भारत और चीन का नाम बहुत निम्न स्तर पर था और यह भी स्पष्ट ही है कि अब भी अवस्था बहुत सुधरी नहीं। भारत को अभी बहुत लंबा मार्ग तय करना है और यह तभी हो सकता है, जब संपूर्ण राष्ट्र मिलकर इच्छापूर्वक काम करे। भिन्न दोषों के लिए उपचार मालूम किए जा सकते हैं बशर्ते कि गंभीरतापूर्वक पर्यवेक्षण किया जाय और सही-सही आंकड़े संग्रहीत किये जांय।

सैंतीसवां अध्याय

भारत में आर्थिक योजना-निर्माण

१. चिरकाल तक राष्ट्र की आर्थिक नीतियों पर और लोगों के दिलों पर तटस्थता का शासन रहा। यह विश्वास किया जाता था कि आत्म-हित के लिए कार्य करना अधिकतम व्यक्तिगत लाभ प्रदान करने वाला था। यह युक्ति दी जाती थी कि उपभोक्ता का अल्पतर लागतों से हित होगा और उत्पादन करने वाले का अधिक लाभों से। जो भी हो, हाल ही के समयों में, निरंकुशता का लोप हो गया है, और राज्य के हस्तक्षेप की विपरीत लहर चल पड़ी है। इस प्रकार, आज, योजना होने और न होने के बीच का प्रश्न नहीं, प्रत्युत राज्य के संरक्षण में योजना-निर्माण की स्थितियों के बीच का प्रश्न है। जैसा कि पं० नेहरू का कहना है, "अर्थ-व्यवस्था की योजना बनाने और बनी हुई योजना का विचार अब लगभग प्रत्येक ने विभिन्न स्थितियों के अनुसार स्वीकार कर लिया है।"

तीस वर्ष के अल्पकाल में दो विश्व-युद्धों ने दुनिया भर को उसकी नींवों से हिला दिया है। पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक विनाशकारी था और आगामी इससे भी बढ़कर प्रलयकारी होगा। धर्म और राज्य इस प्रकार के प्रलयकारी उत्पातों को रोकने में अभी तक असफल रहे हैं। अब अर्थशास्त्री की बारी है। यदि वह सब मुख्य देशों का सहयोग प्राप्त करने के लिए सही खेल कर सका और यदि वह रंग-भेद के बिना दुनिया भर के लोगों के जीवन-मान को उन्नत करने में सफल हुआ, तो वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। स्पष्ट ही है कि जब तक भारत की भूमि पर भूख का राज है, वह विश्व की स्थिति को ीक करने की दिशा में कुछ भी नहीं कर सकता। निर्भरता के राज के कारण उसके नागरिकों में उदासीनता, उपेक्षा और भाग्यवाद का बोलबाला है। उनके कार्य करने की शक्ति, व्यक्तिगत और सामूहिक क्षमता, दोनों रूप में भी भीषणतापूर्वक प्रताड़ित हो चुकी है और जीवन-यापन की अवस्थाएं विनाश के किनारे तक पहुंच गई हैं।"

जीवन-मान निम्न है और लोगों की बहुत बड़ी संख्या कष्टकर दीनता में जीवन बिता रही है। बुरी तरह उन्नत हुए प्रसाधनों के कारण जन-संख्या की निरंतर वृद्धि का संकट भी सदा विद्यमान रहता है। अन्य देशों के साथ तुलना करने पर निम्न अंकों से भारत की दरिद्रता के चिह्न प्रकट हो जाते हैं:—

१. अमरीका	१९४८	५,११९ रु०
२. कैनेडा	१९४८	३,२२५ रु०
३. आस्ट्रेलिया	१९४८	२,६६७ रु०

४. इंग्लैंड	१९४८	२,५७७	०
५. फ्रांस	१९४७	२,१९४	रु०
६. लंका	१९४८	३२०	रु०
७. भारत	१९४८-४९	२५५	रु०

जो भी हो, इतने पर भी, इससे उस अत्यधिक दरिद्र वर्ग की भीषण स्थिति का सही चित्र नहीं मिलता, जिसकी खपत सर्वथा शून्य है। १९३३ में सर जान मेगा की रिपोर्ट ने प्रकट किया था कि केवल ३९ प्रतिशत लोगों के लिए यह कहा जा सकता है कि उन्हें पर्याप्त खुराक मिलती है, ४१ प्रतिशत को घटिया तरीके से और २० प्रतिशत के एक बड़े अनुपात को बहुत बुरी तरह खुराक मिलती है। भारत के विषय में हाल ही चर्चा करते हुए डा. इक्रायड ने कहा था, "इसमें संदेह नहीं कि जन-संख्या के एक महान् प्रतिशत को पर्याप्त खाने के लिए नसीब नही होता," और वह सामान्यतः न्यून भोजियों का अनुपात ३० प्रतिशत से कम नहीं आंकते।

इससे आगे, यही नहीं कि भोजन के परिमाण की पूर्ति अपूर्ण है, प्रत्युत उसकी बनावट भी बुरी है। खाद्य और कृषि पर अन्तरिम कमीशन ने कहा था, "अब हमें मालूम हो गया है कि कई एक रोग, जिनसे लोगों को बहुत बड़ी संख्या प्रभावित है, केवल सही किस्म का पर्याप्त भोजन न मिल सकने के कारण होते हैं।" यह प्रमाणित कर दिया गया है कि दूध, हरी सब्ज़ियां, अंडे और फल जैसे रक्षक फल स्वास्थ्य और मानव-शरीर की योग्यता के लिए अनिवार्य है। भारत उनका पर्याप्त रूप में उत्पादन नहीं करता। इसी के फलरूप मृत्यु का अनुपात ऊंचा है।

प्रति अंश की आय की न्यूनता का कारण भारतीय अर्थ-व्यवस्था की गलत प्रगति है। कृषि पर अत्यधिक निर्भर रहना जीवन-मान को निम्न बनाये रहता है। गांव की आत्म-निर्भरता बेरोज़गार को हटाएगी, किंतु जीवन-मान को उन्नत नहीं करेगी। उसके लिए देश का औद्योगीकरण अत्यावश्यक है। केवल तभी भारतीयों को बेहतर मकानों की सुविधाएं, अधिक वस्त्र और पर्याप्त चिकित्सा की आशा हो सकती है।

इस प्रकार यहां (क) उत्पादन की अपूर्णता है, (ख) व्यवस्थित आर्थिक जीवन की अस्थिरता है, (ग) और, वितरण की असमानता है। यहां तक कि एक छोटा-सा मकान बनाने के लिए हमें एक नक्शा और अपने साधनों का सही विचार होने की आवश्यकता है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के मकान की सही स्थिति करने के लिए, जो एक विशाल उत्तर-दायित्व है, एक अतिविशिष्ट मान और सामान्य पर्यवेक्षण की अत्यावश्यकता है।

उत्पादन की अपूर्णता का कारण बेरोज़गारी है अथवा उत्पादन के अंशों के लिए अल्प-नियोजन है। उसके प्रगति के वर्तमान स्तर के लिए, भारत में जन-संख्या का आधिक्य है। उसके प्रसाधन भले ही विशाल हो सकते हैं, किंतु उनका पूर्णतया उपयोग नहीं किया गया। उसके पास न तो पर्याप्त पूंजी है, न ही उसके पास पर्याप्त मशीनें अथवा कारीगर हैं।

गांवों में अधिकांश लोग—लगभग ८७ प्रतिशत उनमें से वहां रहते ही हैं—आज भी मध्य-युग के आभूषण के रूप में होंगे।

यह अविवाद तथ्य है कि भारतीय आर्थिक-जीवन अस्थिर है, क्योंकि उसकी कृषि अनिश्चित वर्षा की दया पर आश्रित है। हाल ही के देश के विभाजन ने अवस्थाओं को और भी भीषण कर दिया है। उत्तर-पश्चिम में नहरी-सिंचाई के अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान के पास हैं। इस प्रकार भारत को खाद्य के भारी परिमाणों के लिए और औद्योगिक कच्चे पदार्थों के लिए विदेशी आयातों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस निर्भरता के फलरूप १९४८ और १९४९ के व्यापार में भारी घाटे हुए थे। मुद्रा-अवमूल्यन से, १९५० में अस्थायी सहायता मिली थी, किंतु १९५१ में पुनः घाटा दिखाई देता है।

इसके अतिरिक्त, भारत की राष्ट्रीय आय के वितरण में बहुत बड़ी असमानताएं हैं। प्रो. के. टी. शाह और मि. खम्बट्टा को १९२४ में मालूम हुआ था कि यदि एक सौ रुपये एक सौ आदमियों में वितरित करने होते थे, तो मोटे रूप में ३३ रुपये धनी वर्गो के एक सदस्य के भाग में आते; ३३ रु. मध्यम वर्ग के ३३ व्यक्तियों को मिलते और शेष ३३ रु. श्रमिक-वर्गों के ६६ सदस्यों के हिस्से में जाते। १९३१-३२में डा.वी.के.आर.वी. राव ने मालूम किया था कि जब ग्राम क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति की औसत आय केवल ५१ रु. थी तो शहरी क्षेत्रों में यह १६६ रु० थी। यह ध्यान देने की बात है कि उस जांच के समय शहरी क्षेत्रों में केवल १२ प्रतिशत जन-संख्या रहती थी। उसी प्रकार की अन्य जांचों से भी यही प्रकट होता है कि अधिकांश ऐसे हैं, जो अत्यधिक दीन है ओर कुछ ऐसे है, जो बहुत संपन्न है। इस प्रकार मालूम होता है कि देश के आर्थिक-जीवन का सभी दिशाओं से पुनरुद्भव करने की अत्यावश्यकता है।

२. योजना निर्माण का उद्देश्य। अन्य राष्ट्रों के समान हमारा उद्देश्य भी यह है कि "जनतंत्र के नागरिक को अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिये पर्याप्त खाद्य के अधिकार का वचन होना चाहिये। उसे आवास, वस्त्र और खाद्य के न्यूनतम-स्तर का विश्वास होना चाहिए। उसे शिक्षा के पूर्ण और समान अवसर दिए जाने चाहिएं। उसे इसका आनंद लेने के लिये सुख और सुविधाएं होनी चाहिएं। वृद्धावस्था, अस्वास्थ्य और बेरोज़गारी के खतरे के विरुद्ध उसकी रक्षा होनी चाहिए।"[1] इस प्राप्ति के लिए सुलझी हुई योजना की हमें आवश्यकता है। अब, एक योजना बनी है, जिसमें लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पूर्वतः ही संगठित यत्नों को उपस्थित किया गया है। इसका उद्देश्य आंशिक अथवा न्यून उन्नत प्रसाधनों को उन्नत करने के लिये यत्नों के बहाव को संगठित करना है। यह स्वीकार करता है कि कार्य करने और उपार्जन करने की स्वतन्त्रता नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है और यह प्रत्येक को पूर्ण रोज़गार देने के आदर्श का अनुगामी है।

१. Sir J. P. Srivastava—Aim of Post-war Reconstruction.

इसका उद्देश्य सब वर्तमान प्रसाधनों की उपयोगिता और सब तुलनात्मक व्यवसायों में उनका शुद्ध बटवारा करना है। इसका उद्देश्य न्यूनतम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन करना भी है। यह मांग और पूर्त्ति के बीच सही संतुलन के लिये कार्य करता है ताकि उत्पादन और न्यूनता के आधिक्य की चरम-सीमाओं से बचा जा सके।

तो भी, इस बात पर बल दिया जा सकता है कि (क) देश के लोगों के पूर्ण-हार्दिक सहयोग के बिना कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती, (ख) और कोई भी योजना प्रत्येक नागरिक के सुख के लिये कार्य नहीं कर सकती। बहुसंख्या के हित के लिए किसी सीमा तक व्यक्ति की स्वाधीनता की बलि देनी ही होगी।

युद्ध के बाद, भारत में सब विचारवान लोग अपने लोगों की अत्यधिक दीनता और उसके उपचार की समस्या के विषय में चिंतित हो उठे थे। इस प्रकार गत कुछ वर्षों में योजनाओं की बाढ़-सी आगई--जैसे बंबई योजना, जनता की योजना, गांधीवादी योजना, राष्ट्रीय योजना-निर्माण कमेटी की योजना, बिरला योजना, सरकारी योजना, पंच-वर्षीय योजना का लेख्य, आदि। उनमें से प्रत्येक का दावा था कि वह भारत की आर्थिक बुराइयों के लिये विशिष्ट है और हज़ारों करोड़ रुपये के खर्च के प्रस्ताव किए गए। जो भी हो, अंकों की महानता से हमें डरने की आवश्यकता नहीं। हमें योजना को परखना चाहिए और उसे ग्रहण करने की सिफारिश से पहले साधारण परीक्षण पर कसना चाहिए। यह परीक्षण इस प्रकार हैं:

१. क्या योजना का उद्देश्य पर्याप्त-स्तर पर उत्पादन करना है?
२. क्या इससे देश की संपत्ति का अधिक समान वितरण हो सकता है?
३. क्या उत्पादन के उपाय पर्याप्त व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सुख के समानुकूल हैं?
४. क्या योजना के अर्थ-प्रबंध के उपाय क्रियात्मक हैं?
५. क्या यह लोगों का सहयोग प्राप्त कर सकेगी?

यदि ऊपरलिखित योजनाएं इन परीक्षणों के अनुसार हों, तो बहुत ही लाभकर और शिक्षणात्मक परिणामों पर पहुंचा जा सकेगा।

३. बंबई योजना[१]। इस योजना के लेखकों का उद्देश्य भारत के जीवन-मान को उन्नत करना है। लेखकों को आशा है कि १५ वर्ष के काल में प्रति व्यक्ति की आय दोगुना हो जायगी, जिसका, जन-संख्या की वृद्धि के लिए गुंजायश रखते हुए, अर्थ होगा, देश की वर्तमान सामूहिक आय में तीन गुनी वृद्धि।

---

१. यह योजनाएं अब केवल ऐतिहासिक दिलचस्पी की रह गई हैं। उन्हें नयी पंच-वर्षीय योजना को स्थान देने के लिये पर्याप्त रूप में छांट देना चाहिए--अगस्त के तृतीय सप्ताह में 'स्टेट्समैन' में प्रकाशित ए. डी. गोरवाला के लेख के अनुसार।

उद्योग—इस योजना में उद्योग, कृषि, संवाहन, शिक्षा, स्वास्थ्य और भवन-निर्माण को उन्नत करने के लिये लक्ष्य नियत किये गये है। उद्योग के विषय में, आधारमूलक उद्योगों जैसे बिजली, खानें, इंजीनियरिंग, रासायनिक, यातायात आदि को मुख्य महत्व दिया गया है और पहले उनकी प्रगति की दिशा में ध्यान दिया जायगा। किंतु साथ ही उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के लिये उद्योगों को उन्नत करने का भी कार्य किया जायगा। हमारे यहां की सस्ती मानव-शक्ति को दृष्टि में रखते हुए घरेलू और लघु-स्तर के उद्योगों को उन्नत करने पर विशेष महत्व दिया गया है जिससे बहुमूल्य यंत्रों को मोल लेने तथा लगाने की आवश्यकता की उपेक्षा की जा सके। सब उद्योगों की उत्पत्ति में पांच-गुना वृद्धि की जायगी।

कृषि—कृषि उत्पादनों की उत्पत्ति को दुगुना किया जावेगा। इस योजना का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मांगों के अनुसार तथा घरेलू आवश्यकताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न फसलों के क्षेत्रों का पुर्नविभाजन हो। यह उल्लेख किया गया है कि कृषि उन्नति का प्रश्न तब तक बेमानी है, जब तक कृषि की तीन मुख्य समस्याएं हल नही हो जातीं, अर्थात् अर्थ-व्यवस्थाहीन अधिसंपत्तियां, ग्रामीण ऋणंग्रस्तता और धरती का फटना। अनुत्पादक कृषिसंपत्तियों के लिए सहकारिता कृषि की तजवीज़ की गई है और धरती फटने को रोकने के लिए जंगल उगाने की तजवीज़ की गई है। यह भी आवश्यक होगा कि कृषि-कार्य के क्षेत्र में वृद्धि की जावे और प्रति एकड़ उपज में भी वृद्धि की जावे।

यातायात—औद्योगिक और कृषि उत्पादनों के परिमाण में वृद्धि हो जाने से वस्तुओं का आवागमन भी बढ़ेगा। इस आवागमन की वृद्धि को पूरा करने के लिए प्रस्ताव किया गया है कि वर्तमान रेल-मार्गों में २१ हज़ार मील की और वृद्धि की जाय, सड़कों के वर्तमान को दोगुना किया जाय और तटवर्त्ती जहाज़रानी को विस्तार दिया जाय।

सामाजिक सुविधाएं—कृषि, उद्योग और संवाहन को उन्नत करने के साथ ही साथ बेहतर शिक्षा, चिकित्सा और सफाई तथा आवास के लिए योजनाएं जारी करने का प्रस्ताव किया गया है। आशा की गई है कि संतुलित खुराक दी जा सकेगी, वर्ष भर में ३० गज़ कपड़ा और रहने के लिये एक मकान। आशा है कि प्रत्येक ग्राम में एक डिस्पैंसरी होगी और एक कस्बे में एक सामान्य अस्पताल और उसके साथ ही ज़च्चा अस्पताल भी। प्रत्येक ग्राम में एक स्कूल होगा और पड़ोसी कस्बों में सैकंडरी और हायर शिक्षा का प्रबंध होगा।

अर्थ-व्यवस्था—इस योजना के लिए १० हज़ार करोड़ रुपये की संपूर्ण पूंजी की आवश्यकता होगी। प्रस्ताव है कि इस लागत का प्रबंध भिन्न आर्थिक स्रोतों से किया जायगा—जो इस प्रकार है:—दबायी हुई संपत्ति ८०० करोड़, स्टर्लिंग प्रतिभूतियां १००० करोड़, व्यापार का संतुलन ६०० करोड़, विदेशी ऋण ७०० करोड़, लोगों की बचतों से ४ हज़ार करोड़ रु० और ३४०० करोड़ रु० के लिए तजवीज़ की गई है कि इस उद्देश्य संबंधी ज़मानतों के विरुद्ध रिज़र्व बैंक से ऋण लिया जावे।

यह योजना तीन स्तरों में पूर्ण की जायगी। प्रत्येक में पांच वर्ष लगेंगे। इसलिए, वस्तुतः, यह तीन पंच-वर्षीय योजनाओं की बनी हुई है।

योजना की आलोचना—देश के बाहर और भीतर, दोनों तरह के लोगों ने इस योजना पर विचार किया। इस योजना के विषय में कुछ आपत्तियां निम्न हैं:—

१. **रूप की दृष्टि से यह अधिकारपूर्ण है और इससे आर्थिक तानाशाही का रूप लागू हो जायगा।** किंतु यह झूंठा डर है। निःसंदेह, कुछ सेना-क्रम प्रकट होता है, किंतु कोई कारण नहीं क्योंकि यह जनतंत्री मान्यता प्राप्त नही कर सकती।

२. **यह एक बड़ी व्यापारिक योजना है,** कहा गया है कि देश के कुछेक बड़े-बड़े व्यापारी उत्पादन और प्रसाधनों का नियंत्रण कर लेंगे। स्पष्टीकरण में इस प्रकार के भय का कहीं संकेत नहीं मिलता।

३. **पूंजीवाद की जड़ें देश में गहरी हो जायगी।** यह आलोचना रेडिकल डैमोक्रेटिक पार्टी ने की है। किंतु योजना के आधीन राज्य पूंजी के लिए भी स्थान है।

४. **इस योजना में प्रस्तावित कृषि संगठनों के रूप का पूर्ण विवरण नहीं दिया गया।** योजना के लेखकों ने स्वामित्व के अधिकारों से वंचित किये बिना सहकारिता कृषि का समर्थन किया है। उन्हें खुले तौर पर रैयतवारी प्रणाली और उचित आधार पर ज़मींदारों के मुआवज़े चुकाने के बाद ज़मींदारी को पूर्णतया हटाने की प्रणाली का समर्थन करना चाहिए था।

५. **योजना के अर्थ-व्यवस्था के लिए द्रव्य की 'रचना' करना दृढ़ रूप नहीं और यह स्कीम मुद्रा-स्फीति का कारण होगी।** हम लेखकों के इस विचार से सहमत हैं कि अर्थ-व्यवस्था तो केवल अनुगामी है।

६. **यह महात्मा गांधी के आदर्शों के विपरीत है और इससे देश भौतिकवाद की दिशा में गतिशील होगा।** भारत केवल आध्यात्मिक आदर्शों के लिए भौतिक समृद्धि के ध्येय को नहीं छोड़ सकता। हम इस विचार को नहीं मानते कि "गरीब आदमी के लिए स्वर्ग में जाना अपेक्षाकृत आसान है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह योजना अपने आलोचकों की परीक्षाओं में सफल उतरी है।

यह योजना पूंजीवाद और समाजवाद के बीच समझौते के रूप में है। इससे एक ऐसे आर्थिक संगठन का आभास होता है, जो उस समाज के रूप के असमान नहीं है, जिसका प्रो० पीगू ने अपनी पुस्तक समाजवाद बनाम पूंजीवाद (Socialism vs. Capitalism) में चित्र खींचा है। उन्होंने उस अंश का उल्लेख किया है, जो उनकी राय में उस समाज का सही विवरण देता है कि जो उनके दृष्टिकोण में है और उसमें जिस रूप में राज्य अपना अंश पूर्ण करेगा। "इसके बाद यदि देश के भाग का निर्माण करना लेखक के अधिकार में होता, तो इस

काल के लिए, वह पूंजीवाद के सामान्य ढांचे को स्वीकार कर लेगा, किंतु वह सामान्य रूप में इसमें सुधार कर लेगा। वह क्रमिक मृत्यु-करों और क्रमिक आय-करों के शस्त्र का उपयोग करेगा। केवल राजस्व के साधन के रूप में नहीं, प्रत्युत भाग्य की प्रत्यक्ष असमानताओं और अवसर को, जो हमारी वर्तमान सभ्यता के लिए कलंक है, नष्ट करने के प्रकट उद्देश्य के साथ। वह सोवियत रूस की पुस्तक में से एक पन्ना निकालेगा और बताएगा कि पूंजी लगाने के सब कामों में बढ़िया पूंजी लगाने का काम लोगों का स्वास्थ्य है, ज्ञान है और चरित्र है। उसके राज्य में इस दिशा में 'बचत' का नाम लेना दंडनीय अपराध होगा। वह सब उद्योग, जो जनता के स्वार्थ के लिए होंगे अथवा जिनसे एकाधिकार शक्ति उत्पन्न होगी, उन्हें वह जनता की देखरेख और नियंत्रण में कर देगा। उनमें से कुछ का, युद्ध-सामग्री बनाने वालों, संभवतः कोयले के उद्योग, संभवतः रेलें, वह राष्ट्रीयकरण कर देगा, बेशक, डाकखाने के आदर्श की भांति नहीं, प्रत्युत सार्वजनिक बोर्डों अथवा कमीशनों द्वारा। बैंक आव इंग्लैंड को वह सार्वजनिक संस्था का रूप दे देगा और उसे आदेश करेगा कि वह अपनी शक्ति को उद्योग और रोज़गार में भीषण स्फीति को रोकने में लगाये। यदि सब कुछ ठीक-ठीक होता गया, तो आगामी चरण महत्वपूर्ण उद्योगों को धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण की दिशा में उठाए जायेंगे। केंद्रीय सरकार को देश की नई पूंजी में बड़ा अंश लगाने के लिए उचित वितरण की योजना की आवश्यकता होगी। जब यह सब बातें पूर्ण हो जांयगी, तो लेखक अपने पद के काल का अंत समझ लेगा और शासन की बागडोर को स्वतः अर्पण कर देगा। अपने **राजनीतिक प्रवचन में वह अपने उत्तराधिकारी को वह सिफारिश करेगा कि वह भी सुधार करने में सीढ़ी-दर-सीढ़ी के मार्ग का अनुसरण करे, आवेशपूर्वक उखाड़ फेंकने के लिए नहीं, प्रत्यत वृहद् पूंजियों का आधिक्य करे, और तब, एक अंतिम वाक्य, कि सीढ़ी-दर-सीढ़ी में एक क्रिया होती है, और उसका नम्र नाम स्थिर खड़े रहना नहीं।"** ठीक यही वह नीति है, जिसका वर्तमान कांग्रेस सरकार "सुखकर राज्य" के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनुसरण कर रही है।

४. जनता की योजना।[१] (People's Plan) जबकि बंबई योजना युद्धोत्तर निर्माण की दिशा में पूंजीवादी दृष्टिकोण को प्रकट करती है, तहां इस विषय के संबंध में जनता की योजना भारतीय श्रम संघ के दृष्टिकोण को व्यक्त करती है। यह योजना बंबई योजना की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। यह योजना-निर्माण के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालती है, जिसमें संपत्ति का उत्पादन और वितरण भी सम्मिलित है।

---

१. The People's Plan for the Economic Development of India being the Report of Postwar Reconstruction Committee of the Indian Federation of Labour.

संपूर्ण योजना के लिए दस वर्ष की अवधि रखी गई है और संपूर्णकाल के लिए इस योजना-निर्माण पर १५ हज़ार करोड़ रु. खर्च बताया गया है।

योजना के पहले तीन वर्षो के लिए प्रारंभिक पूंजी व्यय का अनुमान १६०० करोड़ रु० किया गया है। यह गणना की गई है कि इस प्रारंभिक लागत से योजना स्वतः अपना अर्थ-प्रबंध करेगी, अर्थात् इसके बाद आगे की पूंजी लगाने के लिए राज्य के पास पर्याप्त कोष हो जायेंगे, क्योंकि प्रारंभिक व्यय ऐसी मदों पर केंद्रीभूत होगा, जिनसे तत्काल लाभ की आशा की जाती है। योजना ने कृषि पर विशेष बल दिया है, जिसके विषय में उत्पत्ति की दिशा में ४०० प्रतिशत वृद्धि की आशा की जाती है। कृषि से उत्पादन की वृद्धि के लिए, भूमि का राष्ट्रीयकरण किया जायगा और ज़मींदारी हटा दी जायगी। उत्पादन के उपायों को यान्त्रिक किया जायगा और २५ हज़ार राज्य क्षेत्र और अनुसंधान संस्थायें स्थापित की जांयगी, जिनमें नवीनतम यंत्र होंगे। यह विश्वास किया गया है कि इन कार्यवाहियों से न केवल पर्याप्त खाद्य और उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थ मिलेंगे, प्रत्युत निर्यात के लिए आधिक्य का उत्पाद भी हो सकेगा।

योजना की आलोचना—यह नही देखा गया कि कृषि उत्पादन में पांच गुना वृद्धि हो जाने से इतना आधिक्य हो जायगा कि स्थानीय बढ़ी हुई खपत के बावजूद, वह विदेशों में उचित दरों पर क्रय करने योग्य नहीं होगा।

वास्तव में, योजना में रूस के ढंग पर भूमि को साम्यवादी रूप देने की तजवीज़ की गई है। भारतीय जीवन में हज़ारों वर्ष पुराने रीति-रिवाजों और धार्मिक परम्पराओं के कारण रायवादी योजना के प्रति आकर्षण संभव नहीं और इसमें जिस क्रांति को लक्ष्य में रखा गया है, वह हो नहीं सकती। ५ वर्ष की अवधि में कृषि-योग्य भूमि में ५० प्रतिशत की वृद्धि और भूमि का राष्ट्रीयकरण तथा संपत्ति-कर से ८१० करोड़ आय निश्चय ही मान्य है। उद्योगों को गौण स्थिति में रखा गया है और राज्य के नियंत्रण के लिए बहुत ज़ोर दिया गया है। निजी साहसिक कार्यो के लिए केवल ३ प्रतिशत लाभ की सीमा रखी गई है, जिसका अर्थ यह है कि निजी साहसिक कार्यों का सर्वदा लोप हो जायगा। प्रो. बृजनारायण ने भी पीपल्ज़ प्लान (जनता की योजना) के अनेक दोषों को प्रकट किया है।[1]

कृषि और उद्योगों के नियंत्रण के साथ ही साथ वितरण की रीति पर भी सबल नियंत्रण किया जाता है। सब जिन्सों की कीमतें नियत होंगी और उनका वितरण सहकारिता समितियों की मार्फत होगा, जो अपने भंडारों की संयुक्त क्षेत्रों और राज्य द्वारा नियंत्रित कारखानों से खरीद करेंगी।

रायवादी योजना आधारमूलक उद्योग की अपेक्षा उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग पर सापेक्ष बल देती है। इसका उद्देश्य पूर्वकथित पर ३००० करोड़ रु० व्यय करने का है

१. Brij Narain–Post-war Planning, p. 243, et. seq.

और २६०० करोड़ रु० दूसरे पर। घरेलू दस्तकारियों की सर्वथा उपेक्षा की गई है और आधार-मूलक उद्योगों की महत्ता को पर्याप्त रूप से समझा ही नहीं गया।

योजना में एक बहुत बड़ी कल्पना की गई है, जिसमें कहा गया है : "१० वर्ष के अंत पर कृषि उत्पादन में ४०० प्रतिशत की वृद्धि हो जायगी और औद्योगिक उत्पादन में ६०० प्रतिशत की। जनता का जीवन-मान ३०० प्रतिशत ऊंचा हो जायगा और इसके अतिरिक्त जनता को स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास की सेवायें जुदा मिलेंगी।" इसमें बेरोज़गारी और सामाजिक असुरक्षा के लिए गुंजायश नहीं की गई। इसमें कृषि स्फीति और व्यापार-चक्र की गुंजायश नहीं रखी गई। बड़ी अनिश्चित समस्याओं के सामने इन्हें भूल जाना खतरे से खाली नहीं। इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए १५ हज़ार करोड़ रु० के अर्थ की व्यवस्था का उपाय कुछ अंशों में अरूढ़िवादी ढंग का है।

५. गांधीवादी योजना। यह योजना अन्यों की भांति बहुत फैली हुई नहीं। इसका कहना है कि भारत गरीब है और उसे मितव्ययिता से ही आरंभ करना चाहिए। इसका प्रस्ताव है कि दस वर्षों में ३५०० करोड़ रु० खर्च किये जांय, जिनमें से ११७५ करोड़ रु० कृषि पर खर्च होंगे, १०३० करोड़ रु० वृहद्-स्तर और मूल उद्योगों पर, ३५० करोड़ रु० ग्राम उद्योगों पर, ४०० करोड़ रु० यातायात पर, और शेष सामाजिक सेवाओं पर।

गांधीवादी योजना आदर्शवादी है। यह ग्राम क्षेत्रों के सुधार, कृषि उन्नति, और सहायक घरेलू दस्तकारियों पर विशेष बल प्रदान करती है। उसका मत है, "हमारी योजना-निर्माण का परिणाम जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की स्वतन्त्रता से बदल कर सैनिककरण का नहीं होना चाहिये। उसे प्रजातंत्र के लिए कार्य करना चाहिए और सर्वाधिकारवादी नहीं बनना चाहिए।

गांधीवादी योजना का मत है कि योजना-निर्माण की ब्रिटिश प्रणाली पूंजीवादियों को गरीबों का शोषण करने की स्वीकृति देती है और उसके बाद शोषकों पर टैक्स लगाकर शोषितों के सामने आर्थिक सहायता के टुकड़े फेंकती है। यह अपमानजनक विधि है। रूसी योजना भी, "नये और शक्तिसंपन्न दल द्वारा अधिकृत है—प्रबंधकवर्ग द्वारा।"[१] व्यक्ति की कोई स्वतन्त्रता नहीं, भले ही भौतिक रूप में वह कितना ही संपन्न है। फासिस्टवादी योजना पूर्ण रोज़गार देती है, किंतु लोगों को माखन की अपेक्षा बंदूकों को अधिक पसंद करने की शिक्षा दी जाती है।[२]

गांधीजी वृहद्-स्तर उद्योग के आधार पर योजना नहीं बनाना चाहते थे। उनके अनुसार 'मशीन' पूंजी की अनुचरी है और अनेकों का शोषण करती है। दूसरी ओर ग्रामों में

१. Burnham—Managerial Revolution.
२. Penguin Series by S. N. Aggarwal—The Gandhian Plan.

ग्राम-समाज द्वारा उत्पादन तत्काल उपयोग के लिये होगा। प्रत्येक गांव या गांवों के दल को आत्मनिर्भर होना है। यंत्रीकरण को एक बुराई समझा जाता है और घरेलू उद्योगों में सुधार के लिए तथा भारत की सुरक्षा के लिए कुछ एक आधार-मूलक उद्योगों का समर्थन किया गया है।

योजना के उद्देश्य इस प्रकार बताये गये हैं : २६०० कैलोरीज़ की संतुलित खुराक, २० गज़ वस्त्र प्रतिवर्ष, प्रत्येक व्यक्ति के लिए १०० वर्ग फुट आवास का स्थान, प्रत्येक लड़के और लड़की के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन की सुविधाएं, देसी थियेटर और ग्रामीण नृत्य।

कोष प्राप्ति के लिए प्रस्ताव किया गया है कि आंतरिक ऋणों, निर्मित द्रव्य और करों से संग्रह किया जायगा।

यह भी तजवीज़ की गई है कि आयकरों को अधिक तेज़ी के साथ स्थिर किया जायगा, जिससे नमक-कर हटाया जा सके और ऊंची कृषि आमदनियों पर आय-कर लगाया जा सके। फौजी खर्चों को भी भीषणतापूर्वक छांट दिया जायगा और किसी भी असैनिक कर्मकर को ५०० रु० मासिक से अधिक वेतन नहीं दिया जायगा।

गांधीवादी योजना मानव-शक्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग करती है। इसका उद्देश्य लोगों को सतर्क नागरिक और ईमानदारी का जीवनोपार्जन करने वाला बनाना है। किंतु लोगों को बहुत ही निम्न जीवन-मान से अपने को संतुष्ट करना होगा। जीवन-मान तब तक उन्नत नहीं हो सकता, जब तक पूंजी प्रसाधनों में वृद्धि न की जाय। गांधीवादी योजना संतति नियमन के कृत्रिम उपायों की निंदा करती है और "संख्या की वृद्धि को रोकने के लिए उचित और सक्रिय रूप केवल संयम के उपाय का बतलाती है।" और साथ ही समान रूप से पूंजी की विस्तृत वृद्धि की भी निंदा करती है। डा० जान मथाई के शब्दों में, "गांधीवादी योजना मूलतः औद्योगिकों की योजना के विपरीत है। पूर्व कथित चाहता है कि आर्थिक ढांचा कृषि पर आधारित हो, जबकि बंबई योजना उद्योग से कृषि के प्रति पहुंचना चाहती है।" गांधीवादी तर्क को "दर्शन" कहा जा सकता है। यह अधिकतम विकेंद्रीकरण और न्यूनतम राज्य नियंत्रण के आदर्श पर बल देती है।

जो भी हो, इस योजना में महान गुण हैं, क्योंकि यह सरल है और ग्राम अर्थ-व्यवस्था की उन्नति पर बल देती है। अभी तक ग्रामों की उपेक्षा की गई है। कोई भी योजना, जिसका उद्देश्य उनका पुनर्निर्माण नहीं है, अर्थहीन है। इसके साथ ही, जिन उपायों का योजना में समर्थन किया गया है, वह पीछे को ढकेलने वाले हैं। वस्तु विनिमय और हाथ-कताई अग्रगामी होने की अपेक्षा देश को पीछे की ओर ले जायंगे।

६. राष्ट्रीय योजना-निर्माण कमेटी की तजवीज़ें। राष्ट्रीय योजना-निर्माण कमेटी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने १९३८ में बनाई थी। इसका उद्देश्य ऐसी योजना बनाना था, जिससे जनता का पर्याप्त उचित जीवन-मान बन सके। निःसंदेह यह निर्देशन किया

गया था कि "नई संपत्ति के भिन्न रूपों के बीच उचित अनुपात रखा जाय और समाज के सदस्यों में उसका समान वितरण किया जाय।" अनेक दृष्टिकोणों को एक-स्वर किया जाता था और एक ऐसी योजना बनानी थी, जो स्वतंत्र भारत पर लागू होती।

देश की सुरक्षा और सार्वजनिक उपयोगिता के आवश्यक उद्योगों का स्वामित्व और कार्य-चालन सरकार द्वारा होना था; मूल उद्योगों का भी राष्ट्रीयकरण करना था। कुछ अवस्थाओं में अयोग्यता को दूर करने के लिए सार्वजनिक ट्रस्ट बनाये जाने थे।

खानों और खनिजों का स्वामित्व पूर्णतया सामूहिक रूप में लोगों को सौंपा जाना था। ज़मींदारी को हटाया जाना था और कृषि के लिये सहकारिता का सिद्धान्त लागू होना था और इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था रहित अधिसंपत्तियों से मुक्त होना था। यह भी उचित समझा गया कि रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जाय और अन्य सब बैंक और बीमा कंपनियां इसके नियंत्रण में रहें। राष्ट्रीय हितों को उन्नत करने के लिए भारत के विदेशी व्यापार को नियमित करना था। आयातों और निर्यातों पर नियंत्रण अत्यावश्यक था।

इस वृहद् कार्य को करने के लिए विभिन्न समस्याओं की खोज के हेतु २९ उप-समितियां बनाई गई। उन्हें उन समस्याओं का हल बताना था और रिपोर्ट करनी थी। देश के किसी भी आर्थिक अंग को अछूता नही रखा गया था। इन खोजों का तात्पर्य अखिल भारतीय पर्यवेक्षण के लिए प्रारंभिक आधार था।

इन समितियों की सूचनाएं प्रकाशित हुई थीं और पता चला था कि यद्यपि नवीन्-तम आंकड़ों का अभाव था, तथापि शिक्षा की दृष्टि से वह सूचनाएं बहुमूल्य थीं और उन्होंने देश के आर्थिक जीवन की अनेक त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित किया था।

राष्ट्रीय योजना कमेटी ने हमें समाजवाद की दिशा में प्रवृत्त होने की योजना दी है, साथ ही व्यापार और निर्माण के उद्योगों में निजी साहसिक कार्य करने वालों के लिए सम्मानपूर्ण अंश भी सुरक्षित रखा है। आधारमूलक उद्योगों का सार्वजनिक स्वामित्व होगा और भूमि का सहकारिता के आधार पर उपयोग किया जायगा। इसके अतिरिक्त, ग्रामीण क्षेत्रों में लघु-स्तर के उद्योगों को सहकारिता-नियंत्रण के रूप में भी प्रोत्साहन दिया जायगा।

७. भारत सरकार की योजना। योजना और प्रगति के विभाग को अगस्त, १९४४ में सर ए. दलाल के हाथों में सौंपने के बाद, भारत सरकार ने युद्धोत्तर योजना-निर्माण की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कार्य किया। १९४४ में, जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, वह योजना निर्माण अधिकारियों के लिए मुख्यतः मार्ग-दर्शन के हेतु थी। अनंतरकाल में सब सापेक्ष विवरणों के साथ संपूर्ण योजना प्रकाशित हुई। यह दो भागों में खंडित थी, एक अल्प-कालीन योजना और दूसरी दीर्घ कालीन।

अल्पकालीन योजना के ध्येयों में, जिसे १९४७-४८ से आरंभ करके पांच वर्ष में काम करना था, मुख्यतः यह बातें निहित थीं :

१. सुरक्षा सेवाओं और व्यक्तियों का पुनर्वास;

२. फौजी स्टोरों तथा साज-सामान के आधिक्य को समाप्त करना;

३. उद्योग को युद्ध से शांति की दिशा में बदलना; और

४. शांति अवस्थाओं के अनुरूप नियंत्रणों का समाधान।

दीर्घकालीन योजना में वृहद्-स्तर पूजी व्यय होने थे और उन्नति के लिए उनका आधारमूलक महत्व था। यह इस प्रकार थे :

१. उद्योग और कृषि की सहायता के लिए जल-विद्युत महायंत्रों का प्रबंध;

२. बहुमूल्य वस्तुओं और उन उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन की विशिष्टता के साथ, जो जन-संख्या की बड़ी मात्रा के लिए आवश्यक हों, उद्योग की प्रगति;

३. सड़क संवाहनों और यातायात के कृत्यों को उन्नत करना; विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में; और

४. सिंचाई, धरती फटने-विरोधी और भूमि सुधार की स्कीमों से कृषि की उन्नति।

यह प्रस्ताव किया गया कि उन्नत शिक्षा, आवास और स्वास्थ्य की स्कीमों को जारी किया जावे, क्योंकि कृषि और उद्योग की उन्नति के लिए इन सेवाओं को सही रूप में पूर्व-आवश्यक समझा गया। इस प्रकार की सेवाओं में टैक्निकल शिक्षा संभवतः सब से महत्वपूर्ण थी। सरकार जानती थी कि उन्नति के लिए केवल अर्थ-व्यवस्था ही नहीं चाहिए प्रत्युत शिक्षित व्यक्तिमंडल भी। टैक्निक आदमी देने के लिए सरकार ने न केवल नवयुवकों को शिक्षा प्राप्ति के लिए विदेशों में भेजा, प्रत्युत देश में अनुसंधान की संस्थाएं तथा प्रयोगशालाएं भी स्थापित कीं।

केन्द्रीय सरकार ने न केवल सब योजनाओं को प्रारम्भ करने का निश्चय ही किया, प्रत्युत राज्यों को योग्य परामर्श देने और महत्वपूर्ण प्रश्नों के विषय में साझी नीति का विश्वास करने के लिए राज्यों के बीच सूचना और टैक्निकल परामर्श आदान-प्रदान के लिये, जहां आवश्यक अथवा उचित हो, वहां आर्थिक परामर्श और सहायता देने के लिए, महायंत्र अथवा टैक्नीकल कर्मकरों की प्राप्ति में सहायता के लिए और वैज्ञानिक अनुसंधान तथा प्रयोग के सहयोग के लिए और टैक्निकल जांचों, टैक्नीशियनों की शिक्षा आदि के लिए भी निश्चय किया।

यह योजना संपूर्ण भारत के लिए थी, किंतु रियासतों को अपने कोषों से निजी योजना बनाने पर अवरोध नहीं था।

वितरण की समस्या के प्रति भी उपेक्षा नहीं की गयी थी। यह स्पष्ट कहा गया था कि उत्पन्न की हुई सम्पत्ति को समान रूप से वितरण के लिये प्रबन्ध किए जायेंगे। योजना में अपेक्षाकृत निर्धन वर्गों के लिए विभिन्न सुविधाएं निःशुल्क अथवा कम लागतों पर देने की शर्त थी—जैसे शिक्षा, चिकित्सा-सहायता, पानी की पूर्ति तथा बिजली सहित अन्य सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएं।

दुर्भाग्य से विभाजन के कारण युद्धोत्तर काल की यह सब योजनाएं उपयोग में न आ सकीं। और एक नयी योजना बनाने की आवश्यकता हुई। फलस्वरूप, योजना-निर्माण कमीशन की स्थापना की गयी।

८. योजना निर्माण कमीशन। युद्ध ने भारत के आर्थिक ढाचे को छिन्न-भिन्न कर दिया था। विभाजन ने उसे और भी विक्षिप्त कर दिया। कुछ भागां में सूखा और अन्य में बाढ़ों तथा भूकम्प ने स्थिति और भी बिगाड़ दी। फलस्वरूप अर्थ-विषयक साधनों, बहुमूल्य साज-सामान, कुशल कारीगरों और कच्चे पदार्थों की हमारे यहाँ कमी हो गयी। इस कारण इनका सावधानी के साथ रक्षण और वितरण अत्यावश्यक था। इस बात का अनुभव करते हुए कि खंडित योजना-निर्माण इस समस्या का निराकरण नहीं कर सकेगा, सरकार ने पं. नेहरू की अध्यक्षता में, दिसम्बर १९४९ में योजना निर्माण कमीशन की स्थापना की। यह देखा गया कि समस्या को केवल छू-छू जाने से काम नहीं होगा; केवल आमूल योजना ही हमें निश्चित ध्येय की प्राप्ति करा सकती है। द्वितीयत:, किसी भी आयोजित अर्थ-व्यवस्था की प्रणाली तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक जनता का पूर्ण सहयोग न हो।

कमीशन को निम्न सीमाओं में कार्य करना था:—

१. टैक्नीकल व्यक्तिमंडल सहित देश के पदार्थ, पूंजी और मनुष्य विषयक प्रसाधनों का निर्धारण करना और ऐसी विस्तार की संभावनाओं की खोज करना, जो राष्ट्र की आवश्यकताओं के लिए अपूर्ण जान पड़ें;

२. देश के स्रोतों के लिए अत्यधिक प्रभावकारी और संतुलित उपयोगिता की एक योजना बनना;

३. प्राथमिकता के निश्चय के अनुसार योजना के स्तरों की व्याख्या करना, प्रत्येक स्तर को पूर्ण करने के लिए उन स्रोतों के वितरण की तजवीज़ करना।

४. ऐसे अंशों का उल्लेख करना, जिन की प्रवृत्ति आर्थिक उन्नति को अवरुद्ध करने की हो और वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों को दृष्टि में रखते हुए उन अवस्थाओं पर विचार करना, जो योजना को सफल करने के लिए स्थापित किये जाने चाहिएं।

५. ऐसी मशीनों के रूप का निश्चय करना, जो योजना के सभी अंगों के प्रत्येक स्तर को सफलतापूर्वक संपन्न करने को प्राप्त करने के लिए आवश्यक हों।

६. योजना के प्रत्येक चरण में प्राप्त की हुई उन्नति का समय-समय पर परिचय देना और आवश्यक उपायों तथा नीति के समाधान की सिफारिशें करना, और

७. ऐसी अन्तरिम अथवा सहायक सिफारिशें करना, जो उसे सौंपे गये कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए उचित हों अथवा सुविधाकारक हों, अथवा प्रचलित आर्थिक अवस्थाओं, प्रचलित नीतियों, उपायों और उन्नति-कार्यक्रमों के विचारों के अनुकूल हों; अथवा ऐसी

विशिष्ट समस्याओं का परीक्षण, जो परामर्श के लिए केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों द्वारा प्रेषित किया गया हो।

२८ मार्च, १९५० को कमीशन का पहला अधिवेशन हुआ और उसने अपने कामों को ६ भागों में संगठित किया : स्रोतों और आर्थिक पर्यवेक्षण; अर्थ; खाद्य और कृषि; उद्योग, व्यापार और यातायात; प्राकृतिक साधनों की उन्नति और रोज़गार तथा सामाजिक सेवाएं।

कमीशन ने केन्द्र और राज्यों की सब उन्नति की स्कीमों का भली भांति अध्ययन किया और उनके प्रसाधनों की परीक्षा की। वह खोज की हुई तथा हस्तगत की हुई अनेक इच्छापूर्ण स्कीमों के मार्ग में आने वाली बाधाओं से परिचित थी—जैसे, सीमित, अर्थ-व्यवस्था, कुशल कारीगरी का अभाव, और कच्चे पदार्थों का अभाव—जैसे, रुई और जूट, और खाद्य अन्नों के लिए विदेशों पर निर्भरता,तथा आवागमन के अपर्याप्त साधन।

तदनुसार, पंच-वर्षीय लेख्य योजना को उपस्थित करते समय उसने इन त्रुटियों को दृष्टि में रखा। यह लेख्य १९५१ में प्रकाशित हुआ था। राज्य सरकारों को विशिष्ट निर्देशन किये गए थे कि:—

१. वर्तमान मुद्रा-स्फीति की शक्तियों को रोकने के लिए बजटों को निश्चित संतुलित किया जाना चाहिए।

२. हाथ में ली हुई स्कीमों के प्रसाधनों के नियोजन को प्राथमिकता दी जाय।

३. केवल ऐसी ही स्कीमें ली जायं, जो युक्तियुक्त अवधिमें पूर्ण करनी संभव हों, और

४. निर्वाचित कार्यों की उत्पादन क्षमता उनमें लगी हुई पूंजी की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए।

इतिहास में पहली बार, अखिल भारतीय आधार पर इस देश में योजना-निर्माण का कार्य किया गया है। यही नहीं कि क्षेत्र केवल केन्द्रीय और राज्य सरकारों तथा निजी साहसिक कार्यों के लिए रखा गया, प्रत्युत स्थानीय अधिकारियों के नियंत्रित क्षेत्र को भी लिया गया, जैसे, आवागमन, पानी की पूर्ति, रोशनी और बिजली। सब भागों का परस्पर संगठन भी आवश्यक था।

आवश्यक योजना उपस्थित कर सकने से पूर्व, कमीशन को जुलाई, १९५० में, कामन्वैल्थ विचार-विनिमय कमेटी से पूर्व देश के लिए ६० वर्षीय योजना बनाने के लिए कहा गया। अनन्तर काल में इस कमेटी को दक्षिण और दक्षिणी पूर्व एशिया में सहकारिता आर्थिक प्रगति के लिए कोलम्बो योजना में शामिल हो जाना था।

९. कोलम्बो योजना। यह योजना दक्षिण पूर्व एशिया के सब कामन्वैल्थ देशों—भारत, पाकिस्तान, लंका, मलाया, बोर्नियो और सारावाक की आर्थिक सहायता के के लिये बनाई गई है। इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों में अधिकांश अपढ़ और गरीब हैं तथा

बुरी खुराक के कारण अस्वस्थ है। दुनिया में अन्य भी कुछ ऐसे हिस्से हैं, जहां ऐसी ही स्थितियां हैं—जैसे, दक्षिण अमेरिका, अफरीका, चीन आदि। किंतु दक्षिण-पूर्व एशिया पहला ऐसा क्षेत्र है, जो सापेक्षतापूर्वक वृहद्-स्तर की अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के लिये चुना गया है। इसके निम्न कारण हैं:—

१. संभवतः, विश्व के अन्य न्यून-उन्नत क्षेत्रों में यहां अपेक्षाकृत अधिक गरीबी और भूख है। प्रतिदिन, प्रति व्यक्ति की खाद्य की खपत २ हजार कैलोरीज़ (उष्ण तत्त्व) से कुछ कम है, जब कि खाद्य विशेषज्ञों का मत है कि मनुष्य की खुराक के लिए २८०० कैलोरीज़ की आवश्यकता होती है। १९४९-५० में भारत के यह अंक १६६० तक न्यून थे। आर्थिक प्रगति का स्तर भी बहुत नीचा है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है:—

१९४९ में आर्थिक प्रगति के स्तर

जन संख्या के प्रति हजार की इकाई	भारत	पाकिस्तान	लंका	मलाया	इंग्लैंड	अमरीका
बिजली (हजार किलो-वाटों में उत्पादन)	१३	१·९	९·६	११७	१,०३३	२,२९६
कोयला (टनों में खपत)	८०	१८	२८	८५	३,८३४	३,४७३
इस्पात (टनों में खपत)	३·८	१·३	६	१६	१९४	३६४
सीमेंट (,, ,,)	७·२	३·६	१९	२३	१४८	२२९
रेलवे के डिब्बे (टनों में क्षमता)	१०	८·८	४·५	१३	२७६	५५६
सब मौसमों की सड़कें (मीलों में)	०·३२	०·१	०·८७	०·९३	३·७	२.२
टैलीफोन	०·३७	०·२१	२·२	७·७	९८	२६१

२. ब्रिटिश कामन्वैल्थ के साथ इस क्षेत्र के अधिक निकट सम्बन्ध है। वस्तुतः, लोगों का ७५% इस क्षेत्र में रहता है। फलतः, इंगलैंड, कैनाडा, आस्ट्रेलिया आदि, सरीखे कामन्वैल्थ के धनी सदस्य अन्यों की अपेक्षा इस क्षेत्र की सहायता करना पसंद करते थे। अनंतर चरण में इस योजना के साथ अमरीका को भी मिला लेने की तजवीज़ की गई।

३. यह क्षेत्र राजनीतिक अशांति से त्रस्त है। यदि लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ण न किया गया और उनके जीवन-मान को उन्नत न किया गया, तो चीन की भांति यह क्षेत्र भी साम्यवादी हो जायगा। इस काल में दक्षिण पूर्व एशिया की राजनीतिक महत्ता को इस प्रकार सहज ही समझा जा सकता है।

४. इस क्षेत्र का आर्थिक महत्व भी बहुत बड़ा है। यह विश्व की प्राकृतिक रबर की

९०% पूर्ति का उत्पादन करता है, ९० प्रतिशत जूट का, ७०% चाय का और ६६ प्रतिशत टीन का। पूर्ति के इन स्रोतों पर से अधिकार की क्षति हो जाने पर पश्चिमी देशों की अर्थ-व्यवस्था पंगु हो जायगी।

५. युद्ध ने इस क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था को संपूर्णतः नष्ट कर दिया है। इस प्रकार १ करोड़ ५० लाख एकड़ चावल कृषि की भूमि नष्ट हो गई, रेल डिब्बों में ३३% उपयोग-रहित हो गए और ५० प्रतिशत कृषि पशु नष्ट हो गये। इस क्षेत्र में भीषण अकाल को अन्तर्राष्ट्रीय सहायता कार्य द्वारा रोका गया है।

६. इन सब से बढ़ कर भारी मुद्रा-स्फीति थी और फलरूप कीमतों में भारी उत्कर्ष हुआ।

इसलिए, आर्थिक-सहायता के लिए न्यून-उन्नत क्षेत्रों में से दक्षिण-पूर्व एशिया को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी है।

स्वतः योजना—जनवरी १९५० में कामन्वैल्थ के विदेश-मन्त्रियों की कोलम्बो विचार विमर्श कमेटी का अधिवेशन हुआ। छः वर्षीय योजना के विचार पर तर्क किया गया। अन्ततः, जुलाई १९५१ में योजना को जारी किया गया।

(क) भिन्न दिशाओं में १९५७ के लिए निम्न लक्ष्य है :

	अतिरिक्त इकाइयां	प्रतिशत वृद्धि
कृषि की जाने वाली भूमि (१० लाख एकड़ों में)	१३	३·५
सिंचाई की जाने वाली भूमि (,,)	१३	१७
खाद्य अन्न (१० लाख टनों में)	६	१०
बिजली (१० लाख किलोवाट में)	१·१	६७

(ख) योजना पर संपूर्ण अनुमानित व्यय इस प्रकार है :

देश का नाम	अतिरिक्त इकाइयां		प्रतिशत वृद्धि
भारत	१,३७९	दस लाख	७५%
पाकिस्तान	२८०	,,	१५%
लंका	१०४	,,	५%
मलाया और बोर्नियो	१०४	,,	५%
	१,८६८	,,	

भारतीय कार्यक्रम के लिए इस प्रकार १,८४० करोड़ रुपये खर्च की आवश्यकता होगी। विश्वास किया जाता है कि भारत आंतरिक रूप में १,०३० करोड़ रुपये का प्रबन्ध करने योग्य हो जायगा और ८१० करोड़ रुपये बाहरी सहायता से आ जायेंगे।

(ग) सहायता रूप में, योजना जिन मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रस्ताव करती है, वह इस प्रकार हैं:—

(१) कला विशेषज्ञ (टैक्नीशियन्स), जैसे असैनिक, यांत्रिक, विद्युत, जल-विद्युत के इंजीनियरों की, जो बांध बनाने, सिंचाई कार्यों आदि और शास्त्रीय कृषि कला-विशेषज्ञ, प्राणी वातावरण प्रभाव विशेषज्ञ (Ecologist), फसलें उगाने और शासन-प्रबन्ध करने में अनुभवी हों।

(२) पूंजी ।

(घ) **पूंजी के स्रोत**—यह निश्चय किया गया कि भिन्न देश आंतरिक रूप में ७८ करोड़ ४० लाख पौंडों का प्रबन्ध कर लेंगे, २४ करोड़ ५० लाख पौड स्टर्लिंग सम्पत्तियों से आ जायेंगे, ८ करोड़ ३० लाख पौंड कामन्वेल्थ देशों का अंशदान होगा, २ करोड़ २० लाख पौंड अन्तर्राष्ट्रीय बैंक I. B. R. D. और शेष अमरीका तथा विदेशों से निजी विनियोजकों द्वारा प्राप्त होगा ।

योजना की आलोचना—कोलम्बो योजना के अधीन जो देश सहायता प्राप्त कर रहे है उनकी सम्पूर्ण जनसंख्या ४२ करोड़ ९० लाख है। इस योजना पर सम्पूर्ण व्यय की तजवीज़ १८६८ मिलियन पौंडों की की गई है। ६ वर्षों के लिये प्रति व्यक्ति का व्यय ४ पौंड से कुछ अधिक है,और एक वर्ष में १३ शिलिंग ४ पेंस से कुछ ऊपर आता है। यह बहुत ही थोड़ा है। अकेले इंग्लैंड ने तीन वर्षों में पुन: शस्त्रीकरण के कार्यक्रम पर ४७०० मिलियन पौंड खर्च करने का प्रस्ताव किया है, जिसका अर्थ ३१ पौंड प्रतिव्यक्ति प्रतिवर्ष होता है।

जैसा कि कोलम्बो योजना का छोटा आकार है, उस तक के लिए भी सम्पूर्ण राशि प्राप्त नहीं की गयी है। अब भी लगभग ५० करोड़ पौंड कामन्वैल्थ के बाहरी साधनों से हस्तगत करने रहते हैं। इसके अतिरिक्त, कोलम्बो योजना उस काल में आरम्भ की गयी थी, जबकि साधन और पदार्थों की अल्पता थी। इसलिये, आवश्यक बहुमूल्य वस्तुओं तथा कारीगरों का इस क्षेत्र के लिये प्राप्त करना बहुत कठिन हुआ।

इस योजना की इस कारण आलोचना की गयी है कि यह कृषि,यातायात और बिजली शक्ति पर अपेक्षाकृत अधिक बल देती है और सामाजिक सेवा पर बहुत कम। किंतु यह मानी हुई बात है कि जब तक अशिक्षा और अज्ञान पर विजय न पा ली जायगी, कोई भी योजना सफल नहीं होगी। इसे छोड़ कर, इस योजना में औद्योगिक प्रगति के प्रति भी उपेक्षा की गयी है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जैसे ही कृषि यांत्रिक हो जायगी, किसानों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो जायगी। यदि उन्हें उद्योग में न खपाया गया, तो अनुभव यह बतलाता है कि वह भूमि की ओर पुन: झुकेंगे और अपने जीवन-भर की खातिर उत्पाद करेंगे, अथवा विपरीत दशा में देश में बेकारी की वृद्धि होगी। इस कारण, मुख्य साधनों तथा उपभोक्ता वस्तुओं के लिये उद्योग की अनुक्रमिक उन्नति आवश्यक है, और इतने पर भी इस योजना में प्रगति के लिये पर्याप्त गुंजायश नहीं रखी गई।

इस प्रकार, यह तर्क किया जाता है कि कोलम्बो योजना युक्तिसंगत तो है किंतु दक्षिण-पूर्वी एशिया की आर्थिक अवस्था पर इस के प्रभाव के आकार के विषय में बहुत बड़ी आशाएं उत्पन्न होती हैं।

निष्कर्ष—जो भी हो, हमें यह याद रखना चाहिए कि यह योजना केवल आरम्भ ही है और इसे युग-निर्माण की घटना नहीं कहा जा सकता। वर्तमान अवस्थाओं में कृषि पर बल देना एक गम्भीर समस्या है। जहां तक खाद्य का सम्बन्ध है, भारत कमी का देश है और इस घाटे के कारण संतुलनों के भुगतान की कमी को पूरा करना उसके लिये कठिन हो रहा है। फलतः, कृषि पर बल देना प्रशंसनीय है।

११. **पंचवर्षीय योजना**। स्वाधीनता के अनन्तर-काल में हर कोई यह महसूस करता था कि सरकार अब तक की हस्तगत की हुई योजनाओं को नियमित कर देगी। किंतु किसी स्थिर नीति का अनुसरण नहीं किया गया। सरकार ने स्वीकार किया कि भारत के साधन सीमित हैं, उन्हें आवश्यकता की महत्ता के अनुसार वितरित किया जाना होगा। इसलिये राष्ट्रीय योजना की अत्यावश्यकता हुई। पं. जवाहारलाल नेहरू की अध्यक्षता में इस प्रकार की योजना बनाने के लिये योजना-निर्माण कमीशन को कहा गया। उसी ने कोलम्बो योजना भी बनाई थी। जो भी हो, कोलम्बो योजना बहुत जल्दी में बनाई गई थी और उसमें अनेक त्रुटियां रह गयी थीं। अपने कार्य में, कमीशन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उदाहरण के लिए, कीमतों का स्तर निरन्तर उन्नत हो रहा था। संतुलन के भुगतानों की स्थिति बहुत ही गम्भीर हो रही थी। खाद्य-समस्या बहुत ही संकटपूर्ण थी। देश के विभाजन ने रुई और जूट की कमी पैदा कर दी थी। इसके साथ ही अन्य मुख्य जिन्सों का उत्पादन गिर रहा था, जब कि देश की जन-संख्या ४२ लाख प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रही थी।

योजना का सारांश—मार्च १९५० में योजना कमीशन बनाया गया था और १५ मास बाद, १९५१ में उसने अपनी रिपोर्ट दे दी। सारांश के मस्विदे को तीन भागों में बांटा गया है। पहले भाग में कमीशन ने योजना-निर्माण के विषय में अपने दृष्टिकोण का विवरण दिया है; दूसरे भाग में मुख्य अंगों और तीसरे भाग में नीति और प्रशासन की समस्याओं की चर्चा की गयी है। इस के मुख्य अंग यह हैं:—

ध्येय—योजना के दो मुख्य ध्येय हैं: (१) लोगों के लिए बेहतर जीवन-मान और (२) सामाजिक न्याय। इस प्रकार यह सब नागरिकों के लिए समान अवसर, कार्य का अधिकार, पर्याप्त वेतन पाने का अधिकार और सामाजिक सुरक्षा के उपाय प्रकट करता है, देश के विधान और साथ ही लेख्य योजना का घोषित ध्येय **हितकर स्थिति** है। यह कहा गया है कि केवल जनतन्त्री योजना के आधीन ही आर्थिक प्रगति की प्राप्ति संभव है। इस लिए लोगों के स्वेच्छापूर्वक सहयोग और त्याग की आवश्यकता है।

कृषि और सिंचाई पर योजना ने अधिक बल दिया है, किंतु देश के जीवन के अन्य

होगा। कृषि-कार्य में बहुत अधिक लोग लगे हुए हैं। एक भारतीय किसान ५ एकड़ से कम भूमि पर खेती करता है, जब कि अमरीकी १४५ एकड़ और ब्रिटेनवासी २१ एकड़ पर खेती करते है। ५ एकड़ तो केवल औसत है। अनेकों के पास तो इस से भी बहुत कम है। इसके अतिरिक्त, किसान के पास जो भूमि है, वह एकाकी टुकड़े में नहीं है। जहां-तहां फैले हुए अनेक टुकड़े हैं। इसलिए, न तो उसके पास बेचने को कुछ बहुत है, न ही वह अपनी भूमि अथवा पशुओं की उचित ढंग से देखभाल कर सकता है। फलतः, कृ के चरित्र को जीवन मात्र की कृषि के रूप से आर्थिक कृषि कार्य में बदलना होगा। कृषि के आदर्श में आमूल परिवर्तन किया जाना चाहिए। यह प्रस्ताव किया गया है कि ज़मींदारी का सर्वथा विलोप किया जावे और उत्पादन की वृद्धि के लिए ग्राम उत्पादन कौसिलें बनाई जावें। किसान वर्षा की दया पर आश्रित है। इसलिए, कमीशन ने सिंचाई तथा शक्ति महायंत्रों के लिए ४५० करोड़ रु० की स्वीकृति दी है। निम्न तालिका से वार्षिक व्यय और लाभ का ज्ञान हो जाता है:—

वर्ष	व्यय रु. करोड़ों में	अतिरिक्त सिंचाई (एकड़ों में)	अतिरिक्त बिजली (किलोवाट)
१९५१-५२	९९	१,५५९,०००	१४४,०००
१९५२-५३	११२	२,७१०,०००	३७३,०००
१९५३-५४	१००	४,५२५,०००	८८९,०००
१९५४-५५	७७	६,७२५,०००	१,०००,०००
१९५५-५६	५३	८,८३२,०००	१,१२४,०००
अन्ततः	—	१६,५०१,०००	१,९३५,०००

(ख) **उद्योग**—उद्योग को इतना महत्व नहीं दिया गया, जितना कृषि को। उद्योग में विनियोजन की निम्न योजना बनाई गई है:—

औद्योगिक लक्ष्य
(रुपये करोड़ों में)

	पांच वर्ष का योग १९५१-१९५६
वृहद् स्तर उद्योग	७९·५
घरेलू और लघुस्तर उद्योग	१५·८
वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान	४·६
खनिज उन्नति	१·१
	१०१·०

उद्योग में सार्वजनिक भाग के साथ ही साथ निजी भाग का भी कार्य होगा। उद्योग के विस्तार में इसे महत्वपूर्ण भाग लेना है। किंतु इसे मज़दूर, विनियोजक और भोक्ता के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण करना है। उद्योग के निजी भाग के कार्यक्रम में महत्वपूर्ण दिशाएं निम्न प्रकार हैः—

निजी औद्योगिक भाग के लिए लक्ष्य

उद्योग का नाम	इकाई	स्थापित क्षमता १९५०-५१ में	१९५० में उत्पादन	स्थापित क्षमता १९५५-५६ में	अनुमानित उत्पादन
डीजल इंजन	(नही)	११·८२६	४,५९६	५१,३२६	४६,१९३
मद्य सार					
(१) शक्ति	००० मात्रा गैलन	१२८,६८	४४,९७	२११,१८	१९०,०६
मोटर गाड़ियां	(नहीं)	३५,०००	३,८४०	३५,०००	२५,०००
सीमेंट	००० टनों में	३२,७६	२,६१३	५१,४०	४६,३१
रुई (१) सूत	मिलियन पौंडों मे	१,६४६	१,१७४	१,६७१	१,६००
(२) कपड़ा	,, गज़ों में	४,७२२	३,६६५	४,७४१	४,५००
खादें					
(१) सुपरफास्फेट (क्षार)	००० टनों में	१,२३	५२	२,१६	१,७९
(२) नौसादर	००० ,, ,,	७४	४७	१,२९	१,००
इस्पात (तैयार)	००० ,, ,,	१०,७१	१०,०५	१६,५९	१३,१५

इसके लिए १२५ करोड़ रु० संपूर्ण व्यय की आवश्यकता होगी। सरकार २५ करोड़ रु० देगी और शेष का प्रबंध निजी उद्योग करेंगे। यदि कोई कमी होगी, तो वह औद्योगिक अर्थ कार्पोरेशन पूर्ण करेगा। साथ ही, विदेशी पूजी का भी स्वागत किया गया है और यह घोषणा की गई है कि भारतीय और विदेशी ज़िम्मेदारियों में कोई भेद नहीं किया जायगा और लाभों को भेजने तथा पूंजी को स्वदेश लौटाने की सुविधाएं दी जाँयगी और राष्ट्रीयकरण की दशा में समान हर्जाना दिया जायगा।

लघु-स्तर उद्योगों की भी उपेक्षा नहीं की गई। कमीशन की राय है कि वृहद्-स्तर, लघु-स्तर और घरेलू उद्योगों के साथ ही-साथ मिल कर काम करने की बहुत गुंजायश है। उद्योग के इन तीनों रूपों के लिए उत्पादन के कार्यक्रम की सिफारिश की गई है। वस्तुतः, घरेलू उद्योग को ग्राम प्रगति के कार्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।यह ख्याल किया गया है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के साथ ही घरेलू उद्योगों की गतिशील उन्नति होगी और सभी दिशाओं में क्रय-शक्ति में भी वृद्धि होगी। जिन घरेलू उद्योगों में विस्तार

के लिए बहुत स्थान है, वह यह हैं : खद्दर, गुड़, तेल (विशेषत: नीम का) मरे पशुओं की उपयोगिता, हाथ का बना कागज, और ऊनी कंबल तथा दियासलाई का निर्माण।

यह उल्लेख किया गया है कि राष्ट्रीय हित के लिए खनिजों के विषय में आयोजित प्रगति की सतर्क नीति होनी चाहिए। आने वाली पीढ़ियों के लिए बहुत सावधानी के साथ उनकी मितव्ययिता होनी चाहिए।

कमीशन ने श्रम की उत्पादन-शक्ति में गिरावट पर विचार किया है। उसने इस गिरावट की जांच करने की सिफारिश की है और उत्पादन-शक्ति की वृद्धि के लिए यत्न करने को कहा है। वह वेतनों में वृद्धि का समर्थन नहीं करती, प्रत्युत उसने प्रस्ताव किया है कि कीमतों की न्यूनता के साथ जीवन-मान को ऊंचा किया जावे और उनकी उत्पादन शक्ति में वृद्धि की जावे।

(ग) **यातायात**–आर्थिक कार्यकलापों के लिए योग्य और सस्ती यातायात तथा संवाहन प्रणाली की आवश्यकता है। हमारी आवश्यकताएं बहुत बड़ी हैं, किंतु यातायात प्रणाली अपर्याप्त है। योजना का विचार है कि सब प्रकार के यातायात और संवाहनों की शृंखलाबद्ध प्रगति होनी चाहिए। उसके विवरण इस प्रकार हैं :

पंचवर्षीय योग १९५१-५६		**पंचवर्षीय योग १९५५-५६**	
रेलें	२००.०	आंतरिक जल यातायात	०.२
सड़कें	९३.७	डाक और तार	४०.०
सड़क यातायात	६.९	आकाशवाणी	३.५
जहाज़ी	१५.९	समुद्रपार संवाहन	१.०
शहरी वायु आवागमन	१५.९	ऋतु विज्ञान विभाग	०.६
बंदरगाहें और समुद्री घाट	१०.८		

रेलों के लिए नये इंजनों, डिब्बों और गाड़ियों की आवश्यकता है। बदलने के अलावा युद्ध-काल में जो रेल सड़कें टूट गई थीं, उन्हें दोबारा चालू करना होगा। छोटे दर्जे के यात्रियों को अधिक सुविधाओं का प्रबंध किया जाना है। इन उपायों पर २०० करोड़ रु० खर्च किए जायंगे।

भारत का लगभग २९०० मील लंबा समुद्री तट है और उसके लिए व्यापारी जहाज़ी बेड़ों की आवश्यकता है। हमारे पास बहुत थोड़े जहाज़ हैं, जो आयु पार कर चुके हैं। जहाज़ी मरम्मतों के लिए योजना में १५ करोड़ रु० दिया है। विशाखापटनम में जहाजी आश्रय स्थल बनाने के लिए १२ करोड़ रु० और दिया गया है।

वायु विश्व में भारत की सैनिक महत्ता की स्थिति है। वायु-शक्ति का विस्तार करने के लिए और साथ ही टैकनीकल प्रसाधनों के लिए १३ करोड़ रुपये की गुंजायश की गई है।

देश में सड़कों की आवश्यकता के विषय में भी कमीशन ने पूरी तरह ध्यान दिया है। सड़कों पर केन्द्र २३ करोड़ रु० व्यय करेगा और राज्य ९४ करोड़ रु०।

(ध) **सामाजिक सेवाएं**—सामाजिक सेवाओं की भी उपेक्षा नही की गई। समाज के हित के लिए जो भी काम हो सकते हैं, वह इसमें सम्मिलित है, जैसे, शिक्षा, स्वास्थ्य, पिछड़े वर्गो का उत्कर्ष, और स्त्रियों की अयोग्यताओं को दूर करना, और बच्चों तथा रोगों की चिकित्सा। सामाजिक सेवाओं को उन्नत करने के लिए निम्न योजना है:

पांच वर्षों का योग, १९५१-५६ (रु० करोड़ों में)

शिक्षा	१२३.१
स्वास्थ्य	८३.६
मकान	२२.८
श्रम और श्रम सुधार	६.७
पिछड़े वर्गों का उत्कर्ष	१८.०
योग	२५४.२

(ङ) **आर्थिक पहलू**—इस योजना के प्रथम भाग पर १४९३ करोड़ रु० की लागत आयेगी। यह केंद्र और राज्यों में इस प्रकार बांटा गया है:

	रु० करोड़ों में
केंद्रीय सरकार	७३४
क-भाग के राज्य	५५९.६
ख-भाग के राज्य	१७१
ग-भाग के राज्य	२८.२
	१४९२.८ करोड़ रु०

कुछेक राज्यों की योजना का आकार नीचे दिया जाता है:—

	रु० करोड़ों में		रु० करोड़ों में
बंबई	१२०	मध्यप्रदेश	४४
बिहार	५६	उत्तर प्रदेश	९१
मदरास	१३७	प. बंगाल	१९
हैदराबाद	४१	मैसूर	३७
मध्यभारत	२३	पेप्सू	८
सौराष्ट्र	२२	ट्रावन्कोर	२६

भाखरा-नांगल, दामोदर, हीराकुड और हरीके का व्यय और विस्थापितों के

पुनर्वास का व्यय राज्यों के व्यय का भाग होगा। प्रथम अवस्था में केंद्र द्वारा उनकी अर्थकी व्यवस्था होगी। यदि उनके लिए गुंजायश की जाती है, तो राज्यों का अंश ९७५ करोड़ रु० बढ़ जाता है।

यह संपूर्ण राशि निम्न साधनों से प्राप्त की जानी है :

केंद्र से :	रु० करोड़ों में
१. आधिक्य राजस्व २६ करोड़ रु० प्रति वर्ष के हिसाब से।	१३०
२. पुनर्वास, वायु कृत्य, शिक्षा के लिए चालू राजस्व में से अलग रखा हुआ।	११८
३. क. ऋण	३५
ख. छोटी बचतें और बिना लौटाए ऋण	२५०
ग. अन्य साधन	७८
४. रेलों के राजस्व से	३०
	६४१

राज्यों से :

केन्द्र इस राशि में से २११ करोड़ रु० राज्यों को देगा, जो ४८० करोड़ रु० स्वत: पैदा करेंगे।

इस प्रकार उत्पन्न की हुई संपूर्ण राशि १,१२१ करोड़ रु. होगी। अमरीका से खाद्य ऋण और कोलंबो योजना की सहायता से ८२ करोड़ रु० मिलेगा। २९० करोड़ रु. का शेष यदि बाहर से न आया, तो, स्टर्लिंग संपत्ति में से निकाला जायगा। यद्यपि यह घाटे की अर्थ-व्यवस्था है और उसी कारण आपत्तिजनक भी है।

१२. **कोलम्बो योजना और योजना के मसविदे की तुलना।** पंचवर्षीय योजना और कोलंबो योजना के आधीन व्यय के वितरण का व्यौरा तुलनात्मक दृष्टि से अगले पृष्ठ पर दिया गया है :

योजना का दूसरा भाग ३०० करोड़ रु० के अतिरिक्त व्यय का अनुमान करता है।

कोलंबो योजना को १९५१ से १९५७ तक के ६ वर्षो पर फैलाया गया है और मसविदे की योजना को १९५६के पांच वर्षो पर। कोलम्बो योजना में आंतरिक साधनों पर १०३०करोड़ रु० रखा गया है और पंचवर्षीय योजना में १,२७१ करोड़ रु०। पूर्व-कथित ने उपलब्ध साधनों का न्यून-अनुमान किया है। दूसरा अपेक्षाकृत वृहद्-स्तर के यत्नों का उल्लेख करता है, चाहे भले ही हस्तगत किये भिन्न बहु-मुखी कार्यो के विषय में हम उच्च-तर अनुमानों की गणना करें। कोलंबो योजना का अनुमान था कि एक वयस्क के अन्न की खपत वृद्धि हो जाने के कारण संभवत: १२ औंस से १६ औंस प्रतिदिन होगी, जबकि लेख्य योजना केवल १४.५ औंस प्रतिदिन की गुंजायश करती है। दोनों ही योजनाओं में एक व्यक्ति के लिए १५ गज़ कपड़ा प्रतिवर्ष रखा गया है।

व्यय की मद	पंच-वर्षीय योजना			योग का प्रतिशत	कोलम्बो योजना	
	केन्द्र	राज्य	योग		खर्च	प्रतिशत
कृषि और ग्राम उन्नति	१८	१७४	१९२	१३	६६६	३६
सिचाई और शक्ति	१७६	२७४	४५०	३०		
यातायात और संवाहन	३१०	७८	३८८	२६	७०३	३८
उद्योग और खनिज पदार्थ ..	७५	२६	१०१	७	१८०	१०
सामाजिक सेवाएं ..	५४	२००	२५४	१७	२९१	१६
पुनर्वास ..	७९	—	७९	५	—	—
विभिन्न ..	२२	८	३०	२	—	—
योग	७३४	७६०	१४९४	१००	१८४०	१००

लेख्य योजना ने संभवित प्रगतियों के लिए अपेक्षाकृत सही अनुमान किया है। रुई की वर्तमान कमी लोप हो जायगी। हमारी पाकिस्तान से जूट की आयातों की निर्भरता ३३ लाख गांठों से कम होकर १२ लाख गांठों की रह जायगी। दूसरी ओर, खांड और तिलहनों की वृद्धि के कारण हमारी खपत का मान अपेक्षाकृत उच्च होगा और निर्यात भी अधिक होंगी। लेख्य योजना पारिवारिक योजना-निर्माण और संतति-निरोध पर सही रूप में बल प्रदान करती है।

पंच-वर्षीय योजना छः वर्षीय योजना में रूपांतरित—यह अनुभव किया गया है कि पंच-वर्षीय योजना का कोलंबो योजना के छः वर्षो के साथ मेल बैठाने के लिए उसे छः-वर्षीय योजना में रूपांतरिंत कर देना चाहिए। योजना में छठा वर्ष जोड़ देने के कारण व्यय में लगभग ३६० करोड़ रुपये की वृद्धि हो जायगी। लेख्य योजना के प्रथम भाग पर १४९३ करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान किया गया है और दूसरे भाग पर ३०० करोड़ रु० का, जिससे संपूर्ण व्यय १७९३ करोड़ रु० हो जायगा। ३०० करोड़ रु० का अतिरिक्त व्यय

बाहरी सहायता में किसी प्रकार की वृद्धि की मांग नहीं कर पाएगा, जिससे पहले की भांति योजना के दो भागों के लिए ६७२ करोड़ रु० शेष रह जायंगे। इसका अर्थ यह है कि हमें पहले की अपेक्षा अधिक सीमा तक अपने साधनों पर निर्भर रहना होगा। योजना को फैलाने का एक और भी कारण है कि योजना में ५ करोड़ डालरों की अमरीकी सहायता भी अब सम्मिलित हो गई है, जो इसमें से पहले छोड़ दी गई थी। इन तथा अन्य कारणों से योजना को एक वर्ष के लिए और बढ़ा देना उचित है।

१३. **निष्कर्ष**। भूतकाल में भारत सरकार जब कभी बड़ी-बड़ी योजनाओं को हाथ में लेती थी, तो सामान्य आरोपों में एक यह होता था कि वह अपनी शक्तियों और साधनों को विशेषज्ञों और रिपोर्टों के आमंत्रण की आयातों में, जो नष्ट कर दी जाती थीं, अंत कर देती है। ब्रिटिश सरकार भारत में विदेशी-हितों को बनाये रहने के लिए भारतीय-हितों के मुकाबिले तरजीह देती थी। दूसरी ओर, सांप्रदायिकता किसी ठोस योजना पर सफलतापूर्वक कार्य करने के मार्ग में बाधक थी। भारतीय रियासतों की बहुत बड़ी संख्या की विद्यमानता ने, जो अपने-अपने स्वार्थों और सम्मान के लिए सबल थीं, स्थिति को और भी भयंकर कर दिया था।

भारत अब स्वतंत्र है। वह एक ऐसी संपूर्ण इकाई है, जैसी पहले कभी नहीं थी। उसका दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष है। योजना-निर्माण जितना आज सफल हो सकता है, उतना भूत-काल में कदापि नहीं हो सकता था।

इस प्रकार भिन्न योजनाओं का विश्लेषण करने से हमें एक ऐसी नीति का सामान्य विचार प्राप्त हो जाता है कि जो स्वतंत्र भारत को अपनानी चाहिए। सरकार द्वारा पुनर्निर्माण के जिस भावी कार्यक्रम का अनुसरण कया जाता है, वह अब स्पष्ट होगया है। भारत को बहुमूल्य वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं के लिए विदेशों पर निर्भर रहने की स्थिति से छुटकारा पाना ही है। लोगों के जीवन-मान को उन्नत करना है। रूस जो-कुछ अपनी जनता के लिए करने योग्य हुआ है, भारत भी उसमें सफल हो सकता है। रूस ने भी विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों में अपना स्थान बना लिया है। उसने दिखा दिया है कि संपूर्ण योजना-निर्माण से क्या हो सकता है। किंतु, जो भी हो, भारतीय परम्पराएं और समस्याएं रूस से भिन्न हैं; फलतः, भारत में उपयुक्त किये जाने वाले उपाय भी भिन्न होने चाहिएं। किंतु भारतीय समस्या भी समानरूप में ही महत्वपूर्ण है और भारत को ग्राम्य-स्थिति से औद्योगिक देश में बदलना होगा, और उसके साथ ही कृषि के मान को भी उन्नत करना होगा। नीचे हम भारत की अत्यावश्यक कुछेक ज़रूरतों का उल्लेख करते हैं।

आर्थिक स्थिरता की आवश्यकताएं—भारत भीषण संकट में पड़ा हुआ है। उसकी अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह विक्षिप्त हो गई है। उसके यहां अन्न की कमी है। औद्योगिक रूप में उसके साधन ठीक नहीं। उसकी आयातें निर्यातों की अपेक्षा कहीं अधिक है, और उन्हें वह पूरी तरह चुका नहीं सकता। उसके सामने आर्थिक बवंडर को रोकने का अत्यावश्यक

काम है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए देश की आर्थिक प्रणाली को संतुलित करना है, जिससे पूर्ण रोज़गार मिल सके और जनता का जीवन-मान उन्नत हो सके। किंतु कोई भी कार्यक्रम, जिसका उद्देश्य देश के बिखरे हुए भागों को सहयोग-प्रणाली में लाना नहीं है, इस कष्ट को अधिक बढ़ाने वाला होगा। इस प्रकार के कार्यक्रम का कार्य निम्न आधारमूलक दिशाओं में आवश्यक है :

१. **खाद्य में आत्म-निर्भरता**—आज भारत अपनी खाद्य की आवश्यकताओं में कम से कम १० प्रतिशत के अभाव में है। उसे १९४८-४९ में न्यूनतम ३० लाख टन खाद्य-अन्नों का आयात करना पड़ा था। १९४९-५० में उससे अधिक और अनंतर के दो वर्षों में और भी ज़्यादा। बनजर भूमियों को ट्रैक्टरों तथा मिश्रित साधनों से सुधारने की भारी चेष्टाएं की जा रही हैं ताकि पर्याप्त अन्न उत्पन्न किया जा सके, किंतु सूखे और बाढ़ों जैसी प्राकृतिक बाधाओं ने अभी तक उन्नति के मार्ग को रोके रखा है। फलस्वरूप, खाद्य को भारी लागतों पर भी आयात करना ही था। यदि यह आयातें चिरकाल तक रहीं, तो देश की आर्थिक स्थिति छिन्न-भिन्न हो जायगी। इसलिए, अल्प-कालिक योजनाओं से सहायक खाद्यों की वृद्धि का संकेत मिला है, जैसे, केला, शकरकन्दी, और मछली, जिससे हमारी विदेशी-निर्भरता कम होगी और साथ ही डालर संरक्षण होगा।

२. **देश के औद्योगिक ढांचे का सहयोग**—इसके लिए आवश्यक है कि अनेक नये उद्योग स्थापित किये जांय, पुरानों की उन्नति की जाय, आधारमूलक उद्योगों का राष्ट्रीय-करण हो और साथ ही औद्योगिक ढांचे का विकेंद्रीकरण हो, जिससे ग्राम-क्षेत्रों में बेकार अंशों को रोज़गार मिलने में वृद्धि हो।

३. **आयातों और निर्यातों की कमी को पाटना**—१९४८-४९ मे, भारत के व्यापार में ९५ करोड़ रु० का बड़ा भारी घाटा था। इस कार के भारी घाटों को पूरा किये बिना नहीं छोड़ा जा सकता। हमें कमर कस कर उपभोक्ता वस्तुओं के आयातों को कम करना है। ज्यों-त्यों खाद्य का आयात करना है, बहुमूल्य वस्तुओं ओर कच्चे पदार्थों को प्राथमिकता देनी ही है। उसके साथ ही निर्यातों के परिमाण और प्रमाण में भी वृद्धि करनी है। मुद्रा-अव-मूल्यन ने किसी सीमा तक मदद की थी। जो भी हो, उसका प्रभाव अब जाता रहा है। अब दीर्घकालीन उपचार यही है कि लागतों में कमी की जाय ओर भारतीय उद्योग को सब संभव उपाय करने चाहिएं ताकि निर्यातों ओर आयातों के बीच की खाई पट जाय।

४. **भारत में लागत के ढांचे को न्यून करना**—भारत के विभाजन ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को सख्त आघात पहुंचाया है। कच्ची रुई ओर जूट, जो हमारे फायदे के निर्यात थे, अधिकांशतः पाकिस्तान को चले गए हैं। फलरूप, भारत अब इन दोनों कच्चे पदार्थों का आयातक हो गया है। इसके अलावा, भारत में जो उपभोक्ता वस्तुएं निर्मित होती हैं, वह वैसी ही अन्यत्र की वस्तुओं की अपेक्षा महंगी हैं। इस संबंध में खांड, सीमेंट, और सूती वस्त्रों का उल्लेख किया जा सकता है। इससे भी अधिक चाय और तंबाकू जैसी जो वस्तुएं

भारत से निर्यात की जाती ह, वह सही तरह से बनी नही होती और बहुधा उनमें मिलावट होती है। इन अनेक कारणों से भारतीय वस्तुओं के लिए आवश्यक बाज़ार नहीं मिल रहे। लागत के ढाचे को न्यून करने ओर उन वस्तुओं को किस्म को उन्नत करने के उपाय किये जाने चाहिएं, जिससे देश का अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार बन सके।

५. यातायात की भीड़ को हटाना—भारत की जन-संख्या बढ़ गई है और अभी बढ़ रही है। आंतरिक व्यापार भी बढ़ गया है। इसके फलरूप यात्रियों ओर वस्तुओं के आवागमन में भारी वृद्धि हो गई है, और वर्तमान यातायात प्रणाली उसे वहन नही कर सकती। सड़कों, रेलों, जलमार्गो, सभी की उन्नति की जानी है, ताकि बढ़ती हुई आवश्यकताएं पूर्ण हो सकें।

६. राष्ट्रीय आय का समान वितरण—सब के लिए समान अवसर और राष्ट्रीय आय का समान वितरण और उसके साथ ही सब और अनेकों के लिए न्यूनतम जीवन-मान एक आदर्श है। हमें समाजवादी रूप की आवश्यकता है, जो योग्यता और मूल्य के अनुसार अन्तरों के लिए गुंजायश करता है, न कि वंश-परंपरा के कारण। हर एक, जिसे काम चाहिए, उसे काम मिलना चाहिए, ताकि वह राष्ट्रीय-श्रम में अपना अंशदान कर सके। यदि कोई व्यक्ति अस्वस्थता या वृद्धावस्था के कारण काम करने के अयोग्य है तो राज्य को उसकी रक्षा करनी चाहिए। टैक्स-प्रणाली को आय की असमानताओं में और भी न्यूनता करनी चाहिए।

भारत में योजना-निर्माण का अंतिम ध्येय नई अर्थ-व्यवस्था की नीति होना चाहिए, जो विवेकपूर्ण पूंजीवाद, मूल-उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और सहयोग कृषि का मिश्रण होना। राज्य को मशीनें, खादें, और पानी गरीब किसान को मुहय्या करने चाहिएं और दूसरी ओर ज़मींदारों का, जो किसान के श्रम का अधिकांश हड़प जाते हैं, लोप हो जाना चाहिए। लेख्य इस दिशा में सहज आरंभ करता है। किंतु यह सहज आरंभ भी अंत में सफल नहीं हो सकता, जब तक कि जनता का सहयोग न हो और वह स्वेच्छापूर्वक योजना के अन्तर्गत स्थापित संस्थाओं की सहायता करने को तय्यार न हो। लोगों को यह महसूस करना चाहिए कि वह एक साझे हेतु में हिस्सेदार हैं और एक महान उद्देश्य के लिए कार्य कर रहे हैं। यह तजवीज़ की गई है कि कालेजों और स्कूलों के छात्र राष्ट्रीय निर्माण के कार्यों में मदद करने के लिए मुख्य योजनाओं के स्थानों पर श्रम-शिविर लगायें। इस विचार के फलरूप पंजाब के ज़िला हिसार में १९५२-५३ में एक शिविर लगाया जा रहा है।

अड़तीसवाँ अध्याय

बेकारी, पूर्ण रोज़गार और विस्थापितों का पुनर्वास

१. **समस्या का रूप**। युद्ध काल में, भारत में रहने वाला विशाल मानव समाज पूरी तरह काम में लग गया था। बेकारी बहुत अल्प अवस्था में थी। किन्तु यह असाधारण अवस्था में थी और सदैव बने रहने की उसकी आशा नहीं थी। सामान्यतः हम देखते हैं कि भारत में नौकरी की खोज में बहुत बड़ी मात्रा जहां-तहां मारी-मारी फिरती है। हमारे यहां गरीबों की सहायता का कोई तरीका नहीं, और न ही बेकार व्यक्तियों के लिए कोई आंकड़े हैं। किंतु आंकड़ों के प्रमाण की उस बात के लिए कोई आवश्यकता नहीं कि जो जग-जाहिर है। सामान्य समय में, भारत में वृहद्-स्तर बेकारी है अथवा न्यून-रोज़गार है। इस तथ्य को हमारे यहां की संयुक्त परिवार की रीति छिपाए रहती है, जो वृद्धों, अशक्तों, अयोग्यों और परिवार के बेकारों का पोषण करती है। इसके अतिरिक्त, भारतीयों की परोपकार की भावनाएं तथा विपरीत धार्मिक भावनाएं भारत में भिखारियों के एक बड़े वर्ग की रक्षा करने में सहायक होती हैं। संभव है, उनकी बेकारी स्वेच्छारहित न हो, तिस पर भी उन्हें लाभपूर्ण रोज़गार में लगे हुए नहीं समझा जा सकता।

भारत में बेकारी की समस्या बहुत बड़ी है, जिसमें बहुत बड़ी संख्या निहित है। यह भारत में प्रचलित सामाजिक और धार्मिक विचित्र अवस्थाओं के कारण भी पेचीदी है, देश के विभाजन के कारण लाखों लोगों के उखड़ कर आने से पुनर्वास और रोज़गार की समस्या में नयी तेज़ी हो गयी है।

२. **बेकारी का रूप**। भारतीय अर्थ-व्यवस्था का रूप योरोपीय देशों से बहुत भिन्न है। फलरूप, बेकारी का जो रूप यहां है, वैसा अन्यत्र नहीं है। उच्चतम रूप में औद्योगिक देशों में बेकारी अधिकांशतः औद्योगिक कर्मकरों को प्रभावित करती है। किंतु भारत में बेकारी के तीन मुख्य रूप हैं:—

क. कृषि-विषयक बेकारी।

ख. औद्योगिक बेकारी।

ग. शिक्षित वर्ग में बेकारी।

हम इन तीनों रूपों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

कृषि-विषयक बेकारी

३. **कारण**। भारतीय कृषि का इतिहास एक पुराना रोग और निरंतर अपकर्षम

बेहतर कृषि के संगठित कार्य को कर सकें और दलित वर्गों को समानता एवं स्वतंत्रता का विश्वास दिला सकें । इसके अतिरिक्त, हम नैतिक और औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की भी रचना नही कर सकेंगे ।"

औद्योगिक बेकारी

६. औद्योगिक बेकारी की सीमा । यहां पुनः हमारे सामने आंकड़ों का अभाव है । हमारे पास देश की औद्योगिक बेकारी के विस्तार का निर्धारण करने के लिए विश्वस्त अंक नहीं है ।

चिरकाल तक हमारे उद्योगों में श्रम-पूर्त्ति का अभाव बना रहा । भारत के उन्नत होते हुए उद्योग का प्रबंध करने के लिए उपयुक्त श्रम नहीं आ रहा था । नगरों में न तो रहने का आकर्षण था, न ही पगारों का, जिससे कि पर्याप्त श्रम आ पाता । भारतीय मज़दूर मुख्यतः किसान है और आवश्यकतावश कारखाने का मज़दूर । औद्योगिक श्रमिक ग्रामीण क्षेत्रों से भाग कर आते थे । उनके भगोड़ेपन का कारण यह था कि वह "उस यातना अथवा सामाजिक अयोग्यता अथवा कानूनी दंडों अथवा कठोर जुर्मानों से बचना चाहते थे कि जो ग्राम के सामाजिक और नैतिक विधान के विरुद्ध अपराधों के कारण उन पर लगाए जाते थे । . . .यदि औद्योगिक श्रमिकों को गाँव में ही खाना और कपड़ा मिल जाता, तो उद्योग में बहुत थोड़े श्रमिक रह पाते । वह नगरों की ओर धकेले जाते है, न कि आकर्षित होते है ।"[१] इस प्रकार औद्योगिकों को मज़दूरों की बहुत कमी दीख पड़ी । श्रम निष्कासित चलन का था और स्थायी नही था । मज़दूर हमेशा ही ललचाई आंखों से गांव की ओर देखता था, और यथाशीघ्र संभव अवसर होते ही घर के लिए रवाना होना चाहता था ।

किंतु श्रम की कमी का युग समाप्त होने को है । संभव है, औद्योगिक केंद्रों की अवस्थाएं बहुत उन्नत न हुई हों, किंतु गांव-क्षेत्रों की अवस्थाएं अधिक बुरी हो गई है, जिसका फल यह है कि श्रम-बाज़ार इस समय ग्राम-क्षेत्रों से कर्त्तव्य-च्युत लोगों द्वारा भरा पड़ा है । इस प्रकार उद्योगों में रोज़ी चाहने वालों की एक बड़ी संख्या हो गई है । हम उस संख्या को सही-सही तो बता नहीं सकते, किंतु निश्चित ही वह बहुत बड़ी संख्या होगी ।

७. यह औद्योगिक बेकारी क्यों ? हमारी औद्योगिक प्रणाली हमारी बढ़ती हुई जन-संख्या को खपाने के अयोग्य है और इसके अनेक कारण है : (१) हमारी औद्योगिक प्रगति अपरिपक्व है और अपर्याप्त है । भारत में औद्योगिक ढांचे का विस्तार न तो उसके विशाल प्रसाधनों और न ही उसकी जन-संख्या की वृद्धि की समानता के साथ मेल खाता है ।

---

१. Report of the Royal Commission on Labour. pp. 15-17.

(२) उद्योगों की स्थान-विषयक दशा बहुत ही दोषपूर्ण और अर्थ-व्यवस्था-हीन है। कतिपय क्षेत्रों में बाहुल्य है और प्रत्यक्षतः उत्पादन की लागत ऊंची हो जाती है। यदि औद्योगिक इकाइयों का विवेकपूर्ण योजना-निर्माण के आधार पर भौगोलिक वितरण होता, तो औद्योगिक ढांचा अधिक अर्थ-व्यवस्थित होता और श्रमिकों को खपाने की उसकी क्षमता निश्चित ही बढ़ जाती।

(३) लागत का ढांचा बहुत ही कठोर है और औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन नहीं करता। फलस्वरूप हमारे उद्योग समय-समय पर मंदी के कारण व्यग्र हो जाते हैं, जिससे बेकारी हो जाती है।

(४) हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित जीने-मात्र की अर्थ-व्यवस्था हमारे औद्योगिक उत्पादों के लिए पर्याप्त बाजार की उन्नति में बाधक है।

इन कारणों के प्रभाव का शुद्ध परिणाम यह होता है कि हमारी औद्योगिक प्रणाली हमारी बढ़ती हुई संख्या के भारी दबाव को स्थिर रखने के अयोग्य हो जाती है, न ही यह देश में रोज़गार के दबाव का समान वितरण कर सकती है। इससे सुदृढ़ मज़दूर-बाज़ार भी नहीं मिल सकता। "भारतीय उद्योग प्रणाली तरल श्रम बाज़ार और जीने-भर की अर्थ व्यवस्था के कठोर ढांचे में जकड़ी हुई जन-संख्या की खपत की प्रवृत्ति के बारूद से निश्चित होने वाले गौण बाज़ार के बीच भीषणतापूर्वक डसी जाती है।"[१]

८. उपचार । औद्योगिक बेकारी का उपचार औद्योगिक योग्यता को उन्नत करने में निहित है। हमारे औद्योगिक ढांचे में आमूल-सुधार की आवश्यकता है। हमारे अधिकांश उद्योगों में अभिनवीकरण की आवश्यकता है, जिससे कि सब प्रकार की व्यर्थता जाती रहे और औद्योगिक क्षमता यथासंभव उच्चता को प्राप्त हो। उद्योगों के केंद्रीयकरण की अधिकता में सुधार करना होगा, कच्चे पदार्थों के प्रमाण को उन्नत करना होगा, श्रम को क़ारीगरी की शिक्षा देनी होगी, पूंजी-विषयक प्रसाधनों का संग्रह करना होगा, प्रबंध-विषयक चतुराई को उन्नत करना होगा और औद्योगिक संगठन को सामान्यतः चमका देना होगा।

वर्तमान औद्योगिक ढांचे की त्रुटियों को दूर करने के अतिरिक्त, उद्योग उन्नति की अछूती स्कीमों को जारी करना आवश्यक होगा। भाग्यवश, योजना-निर्माण कमीशन ने पंच-वर्षीय योजना उपस्थित की है, जिसे संपूर्ण विवरणों के साथ लागू किया जाना चाहिए। औद्योगिक उन्नति के विषय में, निश्चित ही हमें कुछ ठोस काम करना चाहिए। हमारे यहां प्रसाधन हैं। देश के समक्ष कुछेक योजनाएं हैं। इस समय तो कुछ क्रियात्मक रूप की आवश्यकता है, वह है, किसी भी विवेकपूर्ण योजना पर प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करना। हमें अब यह दिखाना है कि हममें स्वतंत्रता के सद्-उपयोग द्वारा कुछ कर-दिखाने की योग्यता है।

---

१. T. N. Ramaswami—Full Employment for India, 1946, p. 115.

इस तथ्य पर अधिक बल देने की आवश्यकता नही कि केवल उद्योग ही है, कि जिसकी ओर हम बढ़ती हुई बेकारी की लहर को खपा लेने के लिए देख सकते हैं। कृषि में पहले ही भारी भीड़ है और इसी प्रकार अन्य उदार व्यवसाय भी। उद्योग की उन्नति ही, हमारी एकमात्र आशा है, जो हमें बेकारी के कष्टों से मुक्ति दिला सकती है। जब हमारा उद्योग अपने पूर्ण आकार में, जिसका उसे अधिकार है, उन्नत हो जायगा, तो बेकारी का लोप हो जायगा। अनेक उन्नत देशों की अपेक्षा भारत में उद्योगों की उन्नति से इस बेकारी की समस्या का निराकरण करने के अधिक अवसर हैं। हमारा औद्योगिक ढांचा अभी शिशु-दशा में है और इसके अधिक विस्तार के लिए अभी बहुत बड़ा क्षेत्र है। देश की सामान्य आर्थिक प्रगति के सहयोग और आवश्यक अंग के रूप में सावधानी के साथ निर्मित की हुई औद्योगिक रीति रोज़गार के उच्चतम स्तर को स्थिर रखने में असफल नहीं हो सकती। भारत में बेकारी के अभिशाप का एक कारण औद्योगिक पिछड़ापन है। हम इसे दूर कर सकते हैं।

शिक्षित-वर्ग में बेकारी

९. एक भीषण समस्या। शिक्षित बेकारी की समस्या बहुत गंभीर और भयंकर समस्या है। शिक्षित बेकार भयंकर व्यक्ति होता है। उसमें बोलने की शक्ति है, उसका प्रभाव है; उसमें व्यक्तिगत आघात की सहज भावना है और, यदि कष्ट चिरकाल तक जारी रहता है, जैसी कि भारत में स्थिति है, तो परिस्थिति निश्चित ही फट पड़ने वाली है, और राज्य की सुरक्षा और स्थिरता के लिए निरंतर भय-प्रद होगी। इस वर्ग के बेकार व्यक्ति, 'गूंगे, और हांके जाने वाले पशुओं जैसे नहीं' किंतु समझदार लोग हैं, और वह उस हीन-परिस्थिति को स्वीकार नहीं करेंगे।

यह समस्या एक अन्य रूप में भी गंभीर है। यदि शिक्षित लोगों को बेकार रहना पड़ेगा, तो इस प्रकार की परिस्थिति को बनाये रहने वाली वस्तुओं का दायित्व प्रबल रूप से निंदनीय है। इसके कारण हमारे सर्वोच्च मानव-प्रसाधन बेकार जाते हैं। इसका अर्थ बहुत बड़ी राष्ट्रीय हानि है कि जो इस प्रकार की बहुमूल्य मानव-पूंजी निठल्ली पड़ी रहती है।

१०: शिक्षित लोग बेकार क्यों हैं? शिक्षित-वर्ग में बेकारी की विद्यमानता का कारण शिक्षाका अत्यधिक साहित्यिक होना बताया जाता है। भारतकी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का वास्तविक जीवन के साथ संबंध-विच्छेद है। ग्रेजूएटों को भारी संख्या में उत्पन्न किया जा रहा है, जिनकी खपत के लिए पर्याप्त मांग नहीं है। हमारी शिक्षा एक युवक को सीधे एम. ए. तक पहुंचा देती है, जिसके बाद, यदि किसी को क्लर्क या अध्यापक की नौकरी नहीं मिलती, तो वह निराश हो जाता है। हमारे यहां बहुत ही थोड़े ऐसे वैकल्पिक मार्ग हैं, जिनमें युवकों के लिए सम्मानपूर्ण जीवन का भविष्य अन्तर्हित हो।

हमारी शिक्षा-प्रणाली पर कड़ी टिप्पणियां भी हुई थीं। १९२७ में पंजाब बेकारी

कमेटी के सामने एक गवाह ने बयान दिया था कि लार्ड मैकाले की शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य "अनुवादकों की रचना करना था कि जो केवल द्विभाषिए का काम कर सकें। शिक्षा ने इन द्विभाषियों को द्विभाषी ही बनाए रखा और इससे अधिक कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त, जो वास्तविकता थी, वह तो जाती रही और एक ऐसी कृत्रिमता और चोकर-सा रह गया, जिसका भारतीय मानव-जीवन की वृद्धि में कोई भी स्थान नही।" १९२७ की पंजाब बेकारी कमेटी के प्रधान सर जार्ज एंडर्सन ने स्वतः माना था कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अपने प्रारंभ से ही इस विशिष्ट उद्देश्य में ढाली गई है कि लड़कों को परीक्षाओं से बाहर निकाला जाय और उन्हें क्लर्कों के काम के लिए शिक्षित किया जाय, और उन्होंने इस प्रणाली के उत्पाद मैट्रिक-पास का यह विवरण दिया है, "परित्यक्त, पृथ्वी के स्तर पर एक आवारा, बेकार, क्योंकि वह बेकारी के योग्य है।" यह कहा जाता है कि "वर्तमान शिक्षा उदासीन बाबुओं की अपेक्षा बेहतर पौंद नहीं निकाल सकती।" एक प्रमाण-पत्र को "सरकारी नौकरी के लिए जादू का प्रवेश-पत्र" माना जाता है।

मि. आर्म स्ट्रांग ने, जो कभी पंजाब के शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर थे, १९३७ की पंजाब बेकारी कमेटी के सामने शिक्षा-प्रणाली के पक्ष में बहुत जोरों से बयान दिया था। उनका कहना था, "इसमें संदेह नही किया जा सकता कि भूतकाल में हमारी शास्त्रीय शिक्षाके रूप ने अपने छात्रों को रोज़गारी का विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया है। पश्चिम में, जहां की शिक्षा-प्रणाली का रूप बहुत ही संगठित है, और जहां सब प्रकार के रूपों की उपलब्धि है, वहां भी पर्याप्त बेकारी है, और यह एक समस्या है, जिसका निराकरण वहां की प्रचलित शिक्षा प्रणाली में सुधार द्वारा नहीं देखा जा रहा, प्रत्युत आर्थिक प्रगति और काम मुहय्या करने की गुंजायश की दृष्टि से उसका समाधान किया जाता है। उनकी संख्या में कमी किये बिना बेकारों की केवल शिक्षाविषयक योग्यता को बदलना समस्या का निराकरण तो न हुआ, और अपने युवकों को कारीगरी और दस्तकारी की शिक्षा यह भरोसा दिये बिना देना कि जब वह अपनी शिक्षा को समाप्त कर लेंगे, तो कृषि और उद्योग उन्हें रोज़गार दे सकेंगे, केवल एक प्रकार की बेकारी की जगह दूसरी को खड़ा करना है।"

मि. आर्म स्ट्रांग ने जो कुछ कहा है, वह बहुत हद तक सचाई है। केवल शिक्षा की प्रणाली में परिवर्तन करना पर्याप्त नहीं; उसके साथ ही आर्थिक प्रगति की स्कीमें होनी चाहिएं, जिससे जब दस्तकारी की संस्थाओं से कारीगर निकलें, तो नौकरियां तय्यार हों। अन्यथा बेकार बी. ए. पासों की जगह बेकार इंजीनियर तथा अन्य कारीगर हो जायंगे। इस प्रकार की स्थिति सदैव भारत में रही है। हमारे यहां बेकार लोगों की संख्या में इस प्रकार के कुशल-कारीगरी प्राप्तों की हमेशा एक संख्या रही है।

इन सब के कारण हमें यह कहना ही होगा कि शिक्षा की प्रणाली दोषपूर्ण है। जीवन के संघर्ष के लिए संतोषजनक रूप में व्यक्ति को संपन्न करना इसकी गणना का आधार नहीं। शिक्षा के माध्यम से, जो विदेशी भाषा है, अपरिपक्व युवक के दिमाग़ पर भारी बोझ

पड़ता है और निश्चित ही उससे मानसिक-प्रगति में बाधा होती है। हमारी शिक्षा-प्रणाली के त्रुटि-पूर्ण रूप के विषय में भिन्न मत नहीं हो सकता । वर्धा में, अक्तूबर १९३६ में, अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा कांफ्रेंस के अध्यक्ष पद से महात्मा गांधी ने कहा था : "वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारे देश की आवश्यकताओं को किसी भी रूप में पूर्ण नही करती। सभी उच्च शिक्षा के विभागों में अंगरेज़ी को शिक्षा का माध्यम बना कर थोड़े-से उच्च-शिक्षा प्राप्तों और अनेक अशिक्षितों के बीच एक स्थायी रुकावट पैदा कर दी गई है। इसने जनता तक ज्ञान के स्रोत को बहने से रोक दिया है। अंगरेज़ी को अत्यधिक महत्व दे देने से शिक्षित-वर्ग पर एक बोझ हो गया है, जिसने जीवन-भर के लिए उन्हें पंगु कर दिया है और उन्हें अपने ही देश में परदेसी बना दिया है।" पुनः, "दस्तकारी की शिक्षा के अभाव में शिक्षित-वर्ग प्रायः उत्पाद-कार्यो के अयोग्य बन गया है, और शारीरिक रूप में भी उन्हें क्षति हुई है ।" अब, भारत स्वतंत्र है, इसलिए हम शिक्षा के पुनर्निर्माण की दिशा में शीघ्र ही कार्यवाही करने की आशा कर सकते हैं।

११. शिक्षित-वर्ग में बेकारी की सीमा। शिक्षित-वर्ग में बेकारों की सही संख्या को बता सकना असंभव है। भिन्न प्रान्तों में इस समस्या की परीक्षाके लिए कमेटियां नियत की गई थीं और इन कमेटियों ने इस प्रकार के लोगों की संख्या का अनुमान करने की चेष्टा की थी। किंतु "शिक्षित" शब्द की भिन्न व्याख्याओं और साथ ही परंपरा की कठिनाइयों के कारण अनुमान के अधिकांश अंक केवल फर्ज़ी ही हैं। किंतु विश्वस्त आंकड़ों का अभाव इस बात को प्रकट नहीं करता कि बेकारी है ही नहीं। इसके विपरीत, यह तथ्य जग-ज़ाहिर है कि शिक्षित व्यक्तियों की अधिकांश संख्या रोज़गार प्राप्त नही कर पाती।

१९३७ में पंजाब बेकारी कमेटी ने शिक्षित व्यक्तियों की बेकारी की संख्या का अनुमान किया था और अविभाजित पंजाब में वह डेढ़ लाख थी। विश्वविद्यालय की ड्योढ़ी को पार करके हज़ारों व्यक्ति प्रति वर्ष बेकारी की संख्या को अधिकाधिक कर रहे हैं। यह बुराई बढ़ी जाने वाली है।

सब सरकारी विभागों का यह सामान्य अनुभव है कि एक दफ्तर में छोटी-सी नौकरी के लिए सैकड़ों आवेदन-पत्र जमा हो जाते हैं। ऊपर कही कमेटी की एक रिपोर्ट से हमें पता चला है कि, "किसी एक ज़िले में पटवारी की २५ नौकरियों के लिए लगभग ७०० प्रार्थी थे—उन में से ९० प्रतिशत मैट्रिक पास थे, और कुछ एम. ए. तथा डबल ग्रेजूएट्ट थे।" पंजाब सरकार के मुख्य-मंत्री ने कमेटी को बयान दिया था, "लगभग २५ क्लर्कों की जगहों के लिए कम-से-कम ३०० आवेदन-पत्र प्रतिवर्ष प्राप्त होते हैं। इन आवेदन-पत्रों में अधिकांश प्रार्थी ग्रेजूएट और एम. ए. पास होते हैं। ८७८ शिक्षित बेकारों में से, जिन्होंने कमेटी को स्मार-पत्र दिया था, ८४३ ने विशुद्ध साहित्यिक शिक्षा प्राप्त की थी, १९ वकालत-पास, यांत्रिक और असैनिक इंजीनियर थे और १५ व्यावसायिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति थे। समाचार-पत्रों में "आवश्यकता" निकलवाने से निश्चित ही आवेदन-पत्रों की बहुत-बड़ी

संख्या आ जाती है। उसे बेकारी का निश्चित चिह्नांक कहा जा सकता है। "ट्रिब्यून" के मालिक अर्जुनदास का कहना है, "मुझे याद है कि अफरीका में एक पुलिस हैड कांस्टेबल की आवश्यकता का विज्ञापन छपने पर, आवेदन-पत्रों की इतनी वृहद् संख्या आई थी कि ३ या ४ दिन के बाद विज्ञापनदाता ने डाक लेने से ही इंकार कर दिया था और उपरांत सैकड़ों पत्र व्यक्तिगत रूप में मैंने उनके यहा पहुंचाए थे।" इस प्रकार, इसम रत्ती भर भी संदेह नहीं रह जाता कि सामान्यतः भारत में हज़ारों व्यक्ति उचित नौकरी प्राप्त करने में असफल रहते हैं।

१२. इसका उपचार क्या है। इसका प्रत्यक्ष उपचार तो यह है कि शिक्षा-प्रणाली में सुधार किया जावे। शिक्षा-विषयक सुविधाएं बहु-दिशी होनी चाहिएं, जिससे हमारे युवकों को दी जाने वाली शिक्षा नितांत साहित्यिक न हो। कारीगरी और दस्तकारी की संस्थाओं को बढ़ा देना चाहिए जिससे हमारे युवक शिल्प सीखने और अपने बल पर घरेलू दस्तकारियां आरम्भ करने के योग्य हो सकें। इससे किसी मालिक के यहां नौकरी करने की आवश्यकता जाती रहेगी।

किंतु शिक्षा-सुधार के साथ-साथ आर्थिक-प्रगति का कार्य भी होना चाहिए। यह आवश्यक है कि नौकरियों की रचना की जावे और यही काफी नहीं कि नौकरियों पर लोगों को जमा दिया जाय। देश की आर्थिक और औद्योगिक प्रगति लोगों के लिए उपलब्ध नौकरियों में वृद्धि कर सकती है। इसलिए, असली उपचार, देश के प्रसाधनों का पूर्ण उपयोग करना है और प्रगति योजना को विस्तृत रूप में सफल बनाना है जिससे रोज़गार के अवसरों में वृद्धि की जा सके।

१३. निष्कर्ष। निःसंदेह, भारत में, सामान्य समय में सभी वर्गों में विस्तृत बेकारी होती है। बहुत बड़ी मात्रा में छिपी हुई बेकारी अथवा अल्प-रोज़गार विद्यमान है। यहां शिक्षित वर्ग में, अशिक्षित जनता, औद्योगिक श्रमिकों और कृषकों में बेकारी है। प्रत्येक वर्ग के बेकारों की अवस्थाओं को सुधारने के लिए विशिष्ट औपचारिक उपाय किये जाने चाहिएं।

किंतु सब प्रकार की बेकारी के मूल में जो कारण है, वह देश की आर्थिक-पिछड़ेपन की अवस्था है। सब प्रकार के संभावित श्रमिकों की संख्या उपलब्ध रोज़गार की राशि की अपेक्षा कही अधिक बड़ी है। यह इस कारण है कि देश के उत्पाद-प्रसाधनों का पूर्णतया एवं उचित रूप में उपयोग नहीं किया गया। भारत के प्रसाधन या तो बिना उपयोग के पड़े है अथवा अपूर्ण ढंग से उपयुक्त हुए हैं। यह स्थिति होते हुए, आर्थिक प्रगति को उन्नत करना ही एकमात्र उपचार है और उसे देश की बढ़ती हुई जन-संख्या और प्रसाधनों के साथ तुल्य बनाना चाहिए। देश के प्रसाधनों की आनुक्रमिक प्रगति के बिना जनसंख्या की वृद्धि बेकारी की विद्यमानता के विवरण के लिए अपेक्षित हो सकती है।

जैसा कि भारतीय जनता की घातक और काल्पनिक धारणा है, बेकारी परमात्मा का कार्य नहीं। बेकारी प्राकृतिक संकट नहीं, प्रत्युत मानवी-संगठन के दोषपूर्ण परिणाम-स्वरूप है। यह आर्थिक-प्रणाली की परिवर्तनीय अवस्थाओं के अनुकूल अपना समाधान न करने की अयोग्यता से उत्पन्न होती है, अर्थात् जन-संख्या की वृद्धि। बेकारी के महान् विस्तार के साथ एक देश दोषपूर्ण चक्र में पड़ जाता है : बेकारी की विद्यमानता का अर्थ है क्रय-शक्ति में न्यूनता। इसका अर्थ यह है कि समाज के सब प्रसाधनों के लिए वस्तुओं और सेवाओं की मांग पर्याप्त रूप में उपस्थित नहीं होती। मांग में न्यूनता होने के फलरूप उत्पाद कार्यवाही में छांटी होती है। उत्पाद कार्यवाही में छांटी होने के फलरूप बेकारी होती है और बेकारी अपनी बारी के मूजिब मांग में पुनः अल्पता करती है। यदि खपत और उत्पाद का उचित संतुलन हो, तो बेकारी नहीं हो सकती। प्रारंभिक समाज में, जहां परिवर्तन या विवरण नहीं था, खपत और उत्पाद साथ-साथ चलते थे, वहाँ बेकारी का विचार भी नहीं किया जा सकता। इस कारण, हमें अपनी आर्थिक-प्रणाली इस रूप में योजित करनी चाहिए कि उत्पाद की क्षमता और खपत में समानता बनी रहे।

१९३७ की पंजाब बेकारी कमेटी ने बेकारी की समस्या[1] पर इस प्रकार अंकन किया था : "हमारी अर्थ-व्यवस्था का असंतुलित रूप बेकारी का मुख्य कारण है। सामान्य मंदी का अर्थ हमारे लिए ग्राम-विषयक संकट है। कृषि-उत्पाद की गिरी हुई कीमतों ने हमारे किसान की क्रय-शक्ति को बुरी तरह छांट दिया है। बदले में, इससे अनेक क्षेत्रों में आर्थिक प्रगति रुक गई है। इसका प्रभाव सार्वजनिक सेवाओं, उद्योग, व्यापार और व्यवसायों पर विभिन्न स्तर में हुआ है। सरकार की अधिकांश आय भूमि से प्राप्त होती है। न्यून राजस्व का अर्थ है नौकरियों के व्यक्तिमंडल में न्यूनता और लाभकर कार्य-कलापों में न्यून व्यय। उपभोक्ताओं के बड़े भाग की क्रय-शक्ति में न्यूनता ने उद्योग और व्यापार में रोक का काम किया है। उसी कारण से पेशेवर आमदनियों में कमी हो गई है। सरकारी नौकरियों और अमले की छांटी, निजी दफ्तरों, मिलों, कारखानों आदि में कमी के कारण न केवल शिक्षितों ही प्रत्युत कारीगरों, चतुर और अ-चतुर, दोनों के लिए रोज़गार के क्षेत्र कम हो गए हैं। अनेक कारणों के सम्मिश्रण का यह परिणाम है। किंतु समष्टि रूप में समस्या का परीक्षण करने से इस नतीजे पर पहुंचा जाता है : सब प्रकार के संभावित कार्यकर्त्ताओं की संख्या उपलब्ध रोज़गार की राशि की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी है और चिंतनीय गति के साथ यह अनुपात बढ़ रहा है। यदि इस रीति को समय पर ही न रोका गया, तो इससे समाज के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को खतरा हो जायगा। एक ही आशा है कि कोई भी सरकार स्थिरता के साथ ऐसी परिस्थिति को नहीं देख सकती।"

---

१. Report of the Punjab Unemployment Committee 1937-38, p. 9.

किंतु, जैसा कि आरंभ में हमने कहा था, इस प्रकार के चिंतनीय निष्कर्ष संभवतः वर्तमान में कुछ-कुछ भद्दे लगें, क्योंकि अभी तो बेकारी की संख्या बहुत बड़ी नहीं। किंतु जब युद्ध के कारण उत्पन्न हुई अवस्थाएं विद्यमान नहीं रहेंगी, तो संभव है, वास्तविक रूप में ही भारत को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ जावे बशर्ते कि इस बीच आर्थिक प्रगति के विस्तार की कार्यवाहियां की जा चुकी हों। बेकारी बहुत बड़ी बुराई है। भौतिक-विनाश के अतिरिक्त, इससे नैतिक पतन होता है। इससे बचना ही होगा। बैवरिज के शब्दों का उपयोग करते हुए, क्योंकि, "इसलिए नहीं कि इससे जो मांग होती है किंतु उस घृणा और भय से कि जिसका यह वर्द्धन करती है।"

१४. पूर्ण रोज़गार। बेकारी का मुकाबला करना नकारात्मक नीति है। हमें कुछ सकारात्मक करना चाहिए। हमें ऐसी आर्थिक-प्रणाली का निर्माण करना चाहिए, कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को राज्य की ओर से नौकरी का वचन प्राप्त हो। हाल ही के वर्षों में, भिन्न देशों में पूर्ण रोज़गार के कार्यक्रम के लिए ज़ोरदार आंदोलन हुए हैं। बैवरिज, पीगू, रूज़वैल्ट और सेनेटर मरे के इस प्रकार के कार्यक्रमों के प्रति अंशदान जग-विख्यात हैं। पीगू के कथनानुसार, पूर्ण रोज़गार का यह अर्थ है कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति बारोज़गार हो, बशर्ते कि वह पगारों की प्रचलित दरों पर कार्य करना चाहता हो। पूर्ण रोज़गार का भरोसा देने के लिए राज्य को देखना चाहिए कि किसी भी समय नौकरियों की संख्या बेकार व्यक्तियों की संख्या से कम नहीं होनी चाहिए।

पूर्ण रोज़गार की निम्न तरीकों से रक्षा की जा सकती है :

(१) हमेशा श्रम की मांग को श्रम की पूर्त्ति के ऊपर रखा जाय।

(२) श्रम के लिए मांग का उचित निर्देशन किया जाना चाहिए।

(३) श्रम की मांग और पूर्त्ति, दोनों को ऐसे ढंग से संगठित किया जावे कि श्रम के लिए मांग में परिवर्तनों को पूर्त्ति के परिवर्तनों के साथ अधिक काल में विस्तृत न किया जावे और इसी प्रकार इससे विपरीत भी। संभव है, हिसाब बैठाने की अवधि के दौरान में आंशिक बेकारी हो।

सबको रोज़गार देने के लिए आर्थिक क्षेत्र पर राज्य का नियंत्रण अनिवार्य होगा। श्रम का संग्रहकरण रोज़गार दफ्तरों की मार्फत नियंत्रित किया जायगा ; उद्योग की दिशा-स्थिति पर भी नियंत्रण किया जायगा, जिससे उपलब्ध श्रम की पूर्त्ति का उचित वितरण किया जा सके। सबसे बढ़कर, संपूर्ण व्यय, सार्वजनिक और निजी, दोनों का ऐसा अंक होना चाहिए कि वस्तुओं और सेवाओं की मांग इतनी अधिक हो कि यह तभी पूर्ण की जा सके, जबकि समाज की संपूर्ण मानव-शक्ति नियोजित हो।

१५. क्या भारत में पूर्ण रोज़गार का कार्यक्रम क्रियात्मक है? भारत की सीमाओं के अन्तर्गत विश्व-मानव-समूह का $\frac{१}{५}$ अंश बसता है। मानवता की इतनी महान संख्या को कार्य देने की चेष्टा बहुत बड़ा कार्य है। कुछ लोग इसे सनक कहेंगे

और उनकी राय में वही लोग इस उप-महाद्वीप में पूर्ण रोज़गार का समर्थन कर सकते हैं, जिनका दिमाग़ जाता रहा हो।

संभव है, यह विचार सनक दीख पड़ता हो, किंतु ऐसा करने की कोई जरूरत नहीं। यदि वह संख्या, जिसके लिए हमें कार्य तलाश करना है, बहुत बड़ी है, तो हमारे प्रसाधन भी तो वैसे ही होंगे। हमने अभी तक अपने प्रसाधनों का पूर्ण उपयोग आरंभ नहीं किया। उदाहरण के लिए, हमने बड़ी मुश्किल से जल-विद्युत के प्रसाधनों को केवल ६ प्रतिशत उन्नत किया है। प्रसाधनों के विषय में कोई बात निश्चित नहीं है। जितना ही अधिक उनका उपयोग होगा, उतनी ही अधिक उनकी वृद्धि होगी। कारीगरी की उन्नति समाज के लिए प्रसाधनों की वृद्धि करने में सशक्त होगी।

युद्ध-काल में, क्रियात्मक रूप में पूर्ण रोज़गार था। तो फिर आर्थिक कार्य-कलापों की उस दशा को हम क्यों नहीं बनाये रह सकते? यदि युद्ध के दबाव के कारण कोई सफलता प्राप्त की जा सकती है, तो कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि हम उसे शांति-काल में स्थिर नहीं रख सकते। हमें अब विचार करना चाहिए कि हमें एक अन्य शत्रु से लड़ना है, "आवश्यकता, रोग, अज्ञान और गंदगी"[1] के चार राक्षसों के साथ। हमें तो केवल लड़ाई को जारी रखना है। इस लड़ाई का उद्देश्य कहीं अधिक प्रशंसनीय है। यह पद-दलित मानवता की विशाल संख्या की उन्नति है। १९३८-३९ में, केंद्रीय और प्रांतीय व्यय १७१ करोड़ रु० हुआ था किंतु १९४५-४६ में यह राशि ११९८ करोड़ रु० की ऊंचाई तक चली गई। युद्ध से पूर्व हमारे खर्चों में इस प्रकार की घटनावश वृद्धि के विषय में कौन सोच सकता था? सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था के समर्थक इस विचार-मात्र से ही कांप जाँयगे। वास्तविकता यह है कि अर्थ-व्यवस्था केवल आर्थिक और राजनीतिक नीतियों की अनुगामी है। यह प्रकट कर दिया गया है कि जो शारीरिक रूप में संभव है, वह आर्थिक रूप में भी संभव है। अर्थ-व्यवस्था निश्चित रूप से आर्थिक-ध्येय की सफलता की सहायक है अर्थात् पूर्ण रोज़गार, और जो ध्येय अधिक प्रशंसनीय है।

पूर्ण रोज़गार के लिए अर्थहीन कार्यों तक में लोगों को लगाये रहने का समर्थन किया गया है। सर विलियम बेवेरिज का विचार है कि "यह बेहतर है कि लोगों को बेकार रखने की अपेक्षा गड्ढे खोदने और पुनः भरने के कामों में लगाए रखा जावे। जो व्यर्थ के रोज़गार में लगे रहेंगे, वह जो कुछ कमाएंगे और खर्च करेंगे, उससे दूसरों को लाभकर रोज़गार दे सकेंगे।" किंतु भारत के प्रायः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कामों को पूरा करने की बड़ी भारी गुंजायश है अर्थात् सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, भवन-निर्माण, यातायात, सिंचाई, विद्युत करण, कृषि और उद्योग का अभिनवीकरण में। इनमें से हर एक को उस सीमा तक उन्नत किया जा सकता है कि वह कितने ही लोगों को रोज़गार दे सकती है। यहां तक कि

---

१. Beveridge—Full Employment in a Free Society, 1944, p. 31.

बंबई योजना ने, जिसने कृषि उत्पाद को दुगुना और औद्योगिक उत्पाद को पांच-गुना बढ़ाने का विचार किया था, गणना की थी कि वह लाखों बेकार लोगों को काम में खपा सकेगा। बंबई योजना के निर्माताओं ने स्वीकार किया था कि पूर्ण रोज़गार की स्थापना किये बिना शिष्ट जीवन-मान की आशा करना व्यर्थ ही है।

यहां तक कि जब पूर्ण रोजगार का कार्यक्रम कार्यरूप में होगा, तब भी किसी सीमा तक किन्हीं उद्योगों का मौसमी रूप अथवा मांग में स्फीति होने के कारण अथवा कार्यक्रम के मौलिक दोषों अथवा अन्य परिवर्तनों के कारण बेकारी हो सकती है। किंतु इन त्रुटियों को सरकारी कार्यो के कार्यक्रमों को नियमित रूप देने से पूर्ण किया जाना संभव है। सरकार भी अपने आर्थिक कार्य-कलाप इस प्रकार नियमित करेगी कि पूर्ण रोज़गार की नीति में जो न्यूनताएं हैं, उन्हें दूर किया जा सके।

यह मानना होगा कि पूर्ण रोज़गार की नीति को कार्यान्वित करने में आर्थिक नियंत्रणों को विस्तृत करना होगा और उन्हें सुदृढ़ बनाना होगा। सब आर्थिक कार्य-कलापों का दृढ़ सैनिककरण होगा। कीमतों पर नियंत्रण करना होगा, निजी विनियोजन को नियमित बनाना होगा, उद्योग की दिशा-स्थिति और श्रम-बाज़ार पर नियंत्रण करना होगा, विदेशी व्यापार पर नियंत्रण करना होगा, खपत और साथ ही साथ उत्पाद पर भी नियंत्रण करना होगा। सार्वजनिक व्ययों के लिए उचित सहयोग और उन्नति के कार्यक्रम को सफल करना होगा। किंतु क्या इस सब के करने में कोई पारंपरिक असंभवता है?

निश्चय ही, अनेक कठिनाइयां हैं, और उन में से कुछ निःसंदेह भयंकर भी हैं। हमारा देश गरीब है और इस प्रकार की स्कीमों को सफल बनाने के लिए हम में प्रशासन-विषयक अनुभव का अभाव है। हमने बड़ी कठिनाई से सामाजिक बीमे की दिशा में पहला ही चरण उठाया है। सामाजिक सुरक्षा और पूर्ण नियोजन (रोज़गार) तो अभी बहुत दूर की बातें हैं। अभी तक हम श्रमिकों के कतिपय दलों को परिमित लाभ (चिकित्सा और मज़दूरों को हर्जाना आदि) देने तक की ही सोच पाये हैं। बी. पी. आदरकर द्वारा बनाई गई रोग-बीमा की स्कीम, जिस में अढ़ाई करोड़ रुपये का व्यय होना है, केवल तीन मुख्य उद्योगों (वस्त्र, इंजीनियरिंग और खानों) के १२ लाख श्रमिकों के लिए पर्याप्त होती है। वृद्धावस्था की पेंशनों अथवा रोज़ी-बीमे के लिए कोई गुंजायश नहीं रखी गयी। अभी हमारा केवल सीमित दृष्टिकोण है। हमें बहुत बड़ी-बड़ी बातों पर विचार करना होगा। किंतु कोई कारण नहीं कि हम उन्हें क्यों नहीं कर सकते। हमारा देश गरीब है, कुछ लोग कहेंगे और हम इस प्रकार के व्ययसाध्य कामों को कर सकने में असमर्थ हैं। किंतु इसका अर्थ केवल यह है कि हमारे लिए पूर्ण नियोजन निम्न आय-स्तर पर स्थापित होगा। पूर्ण नियोजन का कार्यक्रम निश्चय ही भारत में साध्य है।

१६. भारत के लिए पूर्ण नियोजन कार्यक्रम के कुछ रूप[1]। भारत के लिए पूर्ण नियोजन के कार्यक्रम में भारतीय आर्थिक जीवन के प्रायः सब महत्वपूर्ण अंगों का समावेश होना चाहिए। उसे भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय अंगों को भारतीय कृषि और उद्योग के पुनर्निर्माण को, आवागमन के सहयोग और विस्तार को, द्रव्य बाज़ार और विदेशी व्यापार के नियमित रूप देने को, सरकारी अर्थ के पुनरुदय आदि को छूना चाहिए। हम इनमें से प्रत्येक रूप के विषय में विचार करेंगे।

आज सारी दुनिया एक आर्थिक इकाई बन गई है। कोई भी देश उपराम और एकाकी नहीं रह सकता। गत महान् मन्दी और विश्व-युद्ध ने विश्व के भिन्न देशों की अन्तर्निर्भरता का प्रदर्शन कर दिया है। योरोप के औद्योगिक देशों की आर्थिक दृढ़ता और स्थिरता एशिया के कृषि क्षेत्रों की आर्थिक समृद्धि एवं स्थिरता के साथ निकट रूप में परस्पर गुंथी हुई है, जैसा कि सर विलियम बैवेरिज का कहना है, "नया संकेत-स्तंभ मुख्य-जिन्सों के उत्पाद और विक्रय को नियमित करने के लिए अनेक राष्ट्रों द्वारा संयुक्त कार्यवाही की आवश्यकता को स्पष्टतया इंगित करता है।" संयुक्त राष्ट्रों की आर्थिक- और समाजी कौंसिल द्वारा नियत किये अर्थ शास्त्र के पांच विशेषज्ञों ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि विश्व भर के देशों को पूर्ण नियोजन के विश्वास के लिए विश्व-व्यापार को संतुलित और विस्तृत रूप देने के निमित्त संयुक्त चेष्टा करनी चाहिए। पुर्ननिर्माण और प्रगति के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को विशाल और सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजनों के लिए प्रबन्ध करने चाहिएं। (आई. एम. एफ.) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के संगठन का भी विश्व-व्यापार और संतुलन की रक्षा के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

भारत जैसे आर्थिक रूप में पिछड़े हुए देशों की आर्थिक प्रगति की विभिन्न अंशों की किसी योजना को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का परिचालन आवश्यक होगा। पूंजी और बहुमूल्य वस्तुएं विदेशों से आनी होंगी। हमें अन्य देशों के साथ बहुगुणी अर्थ-व्यवस्था और आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना की आवश्यकता होगी। इस प्रकार हमारे विदेशी व्यापार का ढांचा प्रभावित होगा, जो बदले में आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करके रहेगा।

यदि भारत को अपने आर्थिक-भाग्य की साधना करनी है और उसे विश्व की शिष्ट-शक्तियों में अपना उचित स्थान प्राप्त करना है, तो उसे अपना आर्थिक ढांचा उन्नत करना होगा, जो न केवल उसकी बढ़ती हुई जनसंख्या के नियोजन के दबाव को सहन कर सकेगा प्रत्युत अन्य राष्ट्रों को भी उनके पूर्ण नियोजन के उद्देश्य की पूर्ति करने में

---

१. पूर्ण अध्ययन के लिए देखें, T.N. Ramaswamy—Full Employment in India, 1946.

सहायक होगा। "उसे अपने भावी आर्थिक विकास के विस्फोटों को उस विश्व के प्रगतिशील राष्ट्रों के साथ, जो सार्वभौमिक, प्राकृतिक और साथ ही मानवी-प्रसाधनों की अत्यावश्यक उपयोगिता से जागरूक हो रहा है, अंश योजित करना होगा।"

हमारी कृषि-प्रणाली का चरित्र जीने-भर की अर्थ-व्यवस्था का है। यदि हमें पूर्ण नियोजन की आय के ढांचों और जीवनमान की रचना करनी है, तो इसे बदलना होगा। इसके कारण श्रम की अन्तर्व्यवसायी वृहद् परिचालन की आवश्यकता होगी। इस परिचालन को उचित ढंग से संगठित करना होगा, क्योंकि सर विलियम बेवरिज के अनुसार पूर्ण नियोजन-नीति का अनिवार्य अंश है, "श्रम की अस्थिरता नहीं, प्रत्युत संगठित अस्थिरता।"

वर्तमान में हमारी सदा वृद्धि होने वाली जन-संख्या भूमि पर जन-संख्या के दबाव को प्रबल कर रही है और यहां तक कि ग्राम-क्षेत्रों के पूर्वतः दरिद्र जीवन-मान को निरन्तर आतंकित कर रही है। कृषि-विषयक जन-संख्या में वर्ष के कुछ मासों में अनिवार्य बेकारी होती है। ऋण का बोझ किसान को दबाता जा रहा है। इन त्रुटियों को हटाना होगा। प्रति एकड़ की उत्पाद शक्ति को नियोजन के दबाव की तुल्यता के लिए पर्याप्त रूप में अधिक करना होगा। कृषि-विषयक उत्पाद को उचित रूप में आयोजित करना होगा। संक्षेप में हमारी ग्राम-अर्थ-व्यवस्था का आमूल पुनर्निर्माण होना चाहिए और उसे शहरी अथवा औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के साथ अंश-योजित करना होगा, जिस से पूर्ण नियोजन के कार्यक्रम को लागू करने के साथ उसका मेल बैठाया जा सके। यह केवल इसीलिए नहीं कि जन-संख्या में से नियोजन-योग्य उत्पन्न होने वाले वयस्क-दलों को ही खपाया जावे प्रत्युत जन-संख्या के अन्य अंशों को भी खपाना होगा।[१]

वर्तमान भारतीय औद्योगिक ढांचा कतिपय कारीगरी विषयक और आर्थिक कठोरताओं के कारण प्रताड़ित है और पूर्ण नियोजन के कार्यक्रम को सहन करने के अयोग्य है। यह इतना भी पर्याप्त रूप से बलवान नहीं कि "शहरी क्षेत्रों के समान कोमल श्रम बाज़ार को भी सुदृढ़ बना सके।" पूर्ण-नियोजन के आदर्श की औद्योगिक प्रणाली को देश की सामान्य आर्थिक प्रगति का शृंखलाबद्ध अंश बनाना होगा।

औद्योगिक पुनर्निर्माण के निम्न कार्यक्रम को उपस्थित किया गया है[२]: (१) औद्योगिक ढांचे का अधिक अर्थ-व्यवस्थापूर्ण स्थान नियत करना; (२) औद्योगिक इकाइयों की अनेकरूपता और विकेंद्रीकरण; (३) देश के श्रम बाज़ारों को सुदृढ़ करने के लिए गणना-अनुसार औद्योगिक दिशा स्थान का नियंत्रण करना; (४) क्षेत्र में औद्योगिक विकास के साथ सामान्य आर्थिक-विकास का सहयोग; (५) औद्योगिक उत्पादों के लिए क्षेत्रीय बाज़ारों के विकास का नियंत्रण; (६) जीवनमान के पूर्ण नियोजन की रक्षा के

---

१. Ibid, p. 51.
२. Ibid., 143-44.

लिए पगार-स्फीति का प्रबन्ध करना; (७) औद्योगिक उत्पादों के अन्तर्क्षेत्रीय परिचलन का व्यवस्थित नियंत्रण; (८) निर्माण-रीति में टैकनीकल उन्नति के सम्बन्ध में औद्योगिक ढांचे का नियंत्रित विकास; (९) क्षेत्र के विशिष्ट उद्योगों का नियमित पुनर्निर्माण; अन्तर्व्यावसायिक और साथ ही अन्तर्क्षेत्रीय श्रम परिचालन की व्यवस्था; (११) क्षेत्रीय उद्योगों में विनियोजन की व्यवस्था और (१२) सटोरियों और एकाधिकारियों द्वारा औद्योगिक उत्पादों की 'खपत' की व्यवस्था। भारतीय उद्योग के पुनर्निर्माण के ठोस कार्य-क्रम के कम पूर्ण नियोजन के कार्यक्रम का समर्थन नहीं किया जा सकता। औद्योगीकरण का केवल यही उद्देश्य नहीं कि जीवन-मान उन्नत हो प्रत्युत अपने लोगों के सांस्कृतिक स्तर को भी उन्नत करना है। टैक्नीकल इंजीनियर की गति और शक्ति का मुकाबला सामाजिक इंजीनियर के साथ भी करना होगा।

जहां तक हमारी आवागमन-प्रणाली का सम्बन्ध है, वह विक्षिप्त, आयोजन रहित है और अपर्याप्त है। इस प्रकार की आवागमन प्रणाली कृषि-विषयक समृद्धि, औद्योगिक प्रगति और देश के सामान्य आर्थिक विकास में बाधा है। पूर्ण नियोजन कार्यक्रम के सफल बनाने के लिए आवागमन की सहयोगपूर्ण-प्रणाली अनिवार्य है। इसलिए, आवागमन के कंठावरोध को हटाना होगा, यदि इस उप-महाद्वीप की अर्थ-व्यवस्था को पुनर्जीवन प्रदान करना है।

सामान्य आर्थिक सुदृढ़ता के कार्यक्रम में वस्तुओं के अन्तर्क्षेत्रीय परिचलन की व्यवस्था होनी चाहिए, अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्व्यावसायिक श्रमचालन का संगठन होना चाहिए और औद्योगिक कृषि वस्तुओं के उत्पाद की व्यवस्था के साथ-ही-साथ निर्माता और उपभोक्ता वस्तुओं की खपत की व्यवस्था होनी चाहिए। इस सब में आवागमन-प्रणाली को महत्वपूर्ण भाग अदा करना है।

जब समाज का पूर्ण नियोजन का आदर्श स्थापित हो जायगा, तो यातायात-प्रणाली को इस की रक्षा करनी चाहिए और इसे खंडित होने से रोकना चाहिए। उसे असाधारण आर्थिक-स्फीति को रोकना चाहिए, जिस से संभव है, आर्थिक ढांचा अस्थिर हो जाय, जो पूर्ण नियोजन प्रदान कर सके। इस दृष्टिकोण से यातायात प्रणाली[1] में निम्न समन्वयों की आवश्यकता होगी: (१) यातायात प्रणाली का विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीकरण करना होगा और उस यातायात प्रणाली के साथ न्यूनतम सम्बन्ध के साथ कि जिसका स्वतः सम्बन्ध केवल अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की रक्षा के लिए आवागमन की अनिवार्यता के साथ है; (२) यातायात-प्रणाली को सेवा की सार्व-जनिक उपयोगिता के स्तर तक उन्नत करना होगा और यातायात का व्यय स्थानीय व्यय के रूप में होना चाहिए; (३) विभिन्न यातायात प्रणालियों में, जैसे रेलों, मोटरों और जल-यातायात की प्रणालियों में सक्रिय सहयोग होना चाहिए, जिस से उन में किसी प्रकार की

१. Ibid. p. 168.

प्रतिद्वंद्विता न रह सके; (४) क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय—पूर्ण नियोजन की स्थिरता को लागू करने के लिए विनियोजन ढांचे के अंश-योजित आदर्श की रक्षा करने के लिए याता-यात-प्रणालियों का राष्ट्रीयकरण, जिस से मार्ग सम्बन्धी अथवा किराये में प्रतिद्वंद्विता कम हो, (५) आवागमन की वस्तुओं और श्रम की क्षेत्रीय-व्यवस्था करना, जिससे कृषि और उद्योग की कीमतें निर्मित करने के आवश्यक आदर्श की रक्षा हो सके, (६) यातायात सेवाओं में, आवागमन के पुनर्योजित आकार एवं दबाव की आवश्यकता के लिए 'व्यय-अनुपात' का उचित समन्वय करना।

यातायात प्रणाली को नितान्त लोचदार होना चाहिए जिस से वह पूर्ण नियोजन के कार्यक्रम को लागू करने से उन्नत हुए असाधारण आवागमन को सक्रिय रूप में पूर्ण कर सके। इस उद्देश्य के लिए अकेली रेलों पर ही आश्रित नहीं रहा जा सकता। सहयोग-पूर्ण और विस्तृत सड़क यातायात की प्रणाली की अत्यावश्यकता होगी। संक्षेप में, याता-यात प्रणाली को सामान्य आर्थिक स्थिरता के कार्यक्रम का अंगयोजित भाग बनना होगा।

पूर्ण नियोजन कार्यक्रम के लिए उचित रूप में द्रव्य-बाज़ार की व्यवस्था भी आवश्यक अंग है। आर्थिक ढांचे के पूर्ण नियोजन आदर्श को व्यापार और उद्योग में से चक्रपूर्ण स्फीतियों को निकाल फेंकना चाहिए। समृद्धियों और मन्दियों के निरन्तर होने रहने से नई आर्थिक प्रणाली निश्चय ही अस्थिर हो जाती है, जिसकी पूर्ण नियोजन के आय के ढांचे की रक्षा के लिए गणना की गयी है। कीमतों के स्तर की स्थिरता बहुत ही आवश्यक है। फलतः, नयी कार्य-विधि में यह आवश्यक होगा कि बैंकिंग संस्थाओं की अमानतें रचना करने की क्षमता को व्यवस्थित किया जावे और उन शक्तियों का नियंत्रण किया जावे जो समाज की क्रय-शक्ति को प्रभावित करती हैं।

भारतीय द्रव्य-बाज़ार में आवश्यक लोच का अभाव है। इस के विभिन्न अंग अनेक खंडों में बिखरे हुए हैं, जिससे उन्होंने एक सम्पूर्ण सुघटन नहीं बना रखा। यह अंकन किया गया है कि भारत में बैंकिंग प्रगति 'सुघटित' होने की अपेक्षा 'अणुविक' रही है। वह सम्मिलित क्रिया के अयोग्य है।

पूर्ण नियोजन अर्थ-प्रणाली के सामान्य ढांचे में इस को सही बैठाने के लिए भारतीय द्रव्य-बाज़ार के ढांचे में कतिपय समन्वयों की अत्यावश्यकता है। भारत जैसे बड़े देश के लिए भिन्न क्षेत्रों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त एक केन्द्रीय बैंक पर्याप्त नहीं हो सकता। केंद्रीय बैंकिंग का किसी सीमा तक विकेंद्रीकरण करना, स्वतन्त्र छोटी बैंकिंग इकाइयों की स्थापना करना, देश में बैंकों के कृत्यों को व्यवस्थित करना और विदेशी विनिमय के कार्यों का नियंत्रण करना, भारतीय द्रव्य-बाज़ार में कुछ ऐसे आवश्यक समन्वय हैं, जो पूर्ण नियोजन के दबाव को सहन करने के योग्य होंगे।

यदि एक देश पूर्ण नियोजन के कार्यक्रम को चालू करता है, तो विदेशी व्यापार—

१. Ibid., p. 262.

अछूता नहीं रह सकता। जैसा कि सर विलियम बैवरिज का कहना है, "जिस देश में पूर्ण नियोजन होता है, उसके विदेशी व्यापार के आधारमूलक भिन्न रूप होते हैं।" हमें पूर्ण नियोजन की नीति को सफल करने के लिए अपने विदेशी व्यापार की नीति को पुनर्जीवन देना आवश्यक होगा। यह प्रस्ताव किया गया कि जहां तक भारत के विदेशी व्यापार का सम्बन्ध है, उसे समन्वयों की तीन दशाओं में से निकलना होगा,[१] (१) अपने अनेक आर्थिक प्रगति के कार्यक्रमों को लागू करने तथा उनकी अर्थ-व्यवस्था के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के परिचालनों के अधिकतम लाभों की प्राप्ति के निमित्त द्विधातुकरण करना; (२) ब्रिटिश कामन्वैल्थ के राष्ट्रों के अन्तर्गत "बहुमुखी गुट" बनाना, जिससे उसका बाहरी आर्थिक सम्बन्धों का ढांचा सुदृढ़ हो और विश्व के आर्थिक-विकास की शक्तियों द्वारा संघातक होने से अपने पूर्ण नियोजन के भीतरी कार्यक्रमों की रक्षा करना; (३) सार्वभौम बहुमुखी व्यापार में अंश-योजित इकाई के रूप में 'शाही स्टर्लिंग गुट' में हिस्सा लेना, जिससे अन्य करैंसी गुटबन्दियों की अस्थिरता की लूट से अपनी आर्थिक प्रणाली की स्थिरता की रक्षा की जा सके। और यह तब तक हो, जब तक कि विश्व में महान् शक्तिशाली राष्ट्रों के जो आज संयुक्त राष्ट्र संघ की संस्थाओं पर अधिकृत हैं, स्वार्थ-निहित अर्थ-व्यवस्था और आर्थिक हितों द्वारा निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय चलअर्थ का विकास सक्रिय-रूप में लागू नहीं हो जाता। विदेशी व्यापार प्रतिद्वंद्वी होने की अपेक्षा पूरक होना चाहिए।

भारत में पूर्ण नियोजन की नीति को सफल बनाने के मार्ग में कुछ अंश बाधक हैं। आज की मुद्रा-स्फीति की स्थिति इस प्रकार की नीति की वृद्धि नहीं कर सकती, क्योंकि इस प्रकार की नीति के कारण न्यूनता का व्यय मुद्रा-स्फीति में केवल फुलाव पैदा करने वाला होगा। पूंजी निर्माण का अल्प-अनुपात एक अन्य विपरीत अंश है। कीनेसियन शब्दावलि के अनुसार "नियोजन की प्रवृत्ति" बहुत ही न्यून है। निजी विनियोजन के व्यय में गिरावट हुई है। किंतु पूर्ण नियोजन की नीति के लिए वृहद् विनियोजन व्यय की आवश्यकता है। नियोजन की संख्या का अभाव, खपत करने की सीमान्त प्रवृत्ति और वृद्धि करने वाला, आदि, पूर्ण नियोजन की नीति को चालू करना किंचित् रूप में भयंकर कर देता है, राज्य की मुद्रा-स्फीति विरोधी नीति और अप्रत्यक्ष टैक्स-विधि के उच्च-स्तर को भी पूर्ण नियोजन कार्यक्रम की वृद्धि के लिए नहीं गिना गया।

जो भी हो, यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत जैसे प्रति-व्यक्ति की अल्प-आय वाले देश में, पूर्ण नियोजन करने की अपेक्षा टैक्नीकल (कला-कौशल विषयक) योग्यता को उन्नत करना अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि पूर्ण नियोजन स्वतः राष्ट्रीय आय की वृद्धि नहीं कर सकता।

१७. पूर्ण नियोजन में राज्य का भाग। सन् १९३० के बाद

१. Ibid., p. 262.

दुनिया ने प्रचुरता के मध्य में गरीबी का विरोधाभास देखा: एक ओर जन-संख्या के आधिक्य का दृश्य और दूसरी ओर भूखों मरती मानवता। यह अव्यवस्थित अवस्थाएं उत्पादन और खपत की समन्वयहीनता से और पूंजी रचना तथा विनियोजन गति के अनुपात में अन्तर होने से उत्पन्न हुई थीं। जान पड़ता था कि कलाकौशल विषयक प्रगति ने लोगों की खपत की प्रवृत्ति को हटा दिया था। "आर्थिक प्रगति" के घातक चक्कर से निकलने का केवल एक ही मार्ग था कि जहां कलाकौशल विषयक प्रगति विनियोजन अवसर और पूंजी निर्माण के बीच अनन्त दिशाओं को उन्नत करने वाली होती हैं और जन-संख्या की खपत भी प्रवृत्ति के जमाव को विकृत करती है, जिस के फलस्वरूप प्रसाधनों और बाज़ारों में पागलपन की दशा उत्पन्न हो जाती है........वह सब आर्थिक शक्तियों के ठोस सहयोग में निहित है। जो आवश्यकता है, वह यह है कि आर्थिक प्रगति के ढांचे की शृंखला में विनियोग के विस्फोटों को कृत्रिम रूप में मिलाना, जिससे "प्रचुरता का विरोधाभास" तरल हो सके और मानव शक्ति तथा भौतिक प्रसाधनों के पूर्ण नियोजन को कला-कौशल विषयक उन्नति के मुख्य-स्रोत को छेड़-छाड़ किये बिना पर्याप्त रूप में लागू करना।"

अब प्रश्न यह है कि "कृत्रिम मिश्रण" अथवा "ठोस सहयोग" कौन उत्पन्न कर सकता है? इस के लिए हम केवल सरकार की ओर देख सकते है। हमें आर्थिक नियंत्रणों की विस्तृत प्रणाली को बनाना होगा, एक ऐसी प्रणाली जो योग्यतापूर्वक कार्य कर सके, ऐसी नहीं कि जैसी हमने युद्ध के काल में और युद्धोत्तर वर्षों में देखी है। योजनारहित और अंश योजना रहित आर्थिक प्रगति ने निश्चल बेकारी की बड़ी मात्रा उत्पन्न की है। जब वृहद् ग्रामीण-विषयक पुनर्निर्माण किया जाना हो, जब औद्योगिक विकास की योजना-रहित बुराई को दूर करना हो, और शृंखलाबद्ध औद्योगिक प्रगति की जानी हो, जब यातायात प्रणाली में आमूल-सुधार करना हो और जब भीतरी और बाहरी व्यापार को सही दिशा में चलाना हो, तब राज्य की व्यवस्था अनिवार्य हो जाती है। पूर्ण नियोजन की नीति को देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के आमूल पुनर्निर्माण के बिना सफल नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का आर्थिक प्रशासन केवल सरकारी साधनों द्वारा योग्यतापूर्वक चलाया जा सकता है। अर्थ-व्यवस्थित समाज के पूर्ण नियोजन के ढांचे की रचना के लिए राज्य के उपयुक्त यंत्र का निर्माण करना होगा और उसे पूर्णता की दशा में लाना होगा।

आत्म-निर्भर आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना करना आवश्यक होगा। अन्तर्क्षेत्रीय प्रशंसक रूप के आर्थिक सम्बन्धों को उत्साहित करना होगा। इन सबका अर्थ यह होगा कि हमारी आर्थिक प्रणाली में आकार विषयक अनन्त परिवर्तन होंगे, जिस के कारण सरकार के प्रशासन यंत्र में आनुक्रमिक परिवर्तनों की आवश्यकता होगी।

भारतीय उप-महाद्वीप के लिये सम्पूर्ण विस्तृत आर्थिक नीति को चलाने के लिये अर्थ विशेषज्ञों की एक उच्चतम अर्थ समिति (Supreme Economic Council)

बनानी होगी। इस उच्चतम समिति को भिन्न आर्थिक कार्यक्रमों को शृंखला-बद्ध करने के लिये प्रबंध-अधिकारों से सम्पन्न करना होगा। उसे आर्थिक प्रणाली का पोषण, निर्देशन और नियंत्रण करने का अधिकार होगा। इस उद्देश्य के लिये उसे आर्थिक नीति का उचित सहायक साधन उत्पन्न करने की छूट होगी। किसी भी प्रकार के मतभेद को रोकने के लिये और उसे आवश्यक अधिकारी का उचित रूप देने के लिये संघ मन्त्रिमंडल के सदस्य पदाधिकार के नाते उसमें शामिल हो सकेंगे। उस अवस्था में उसके निर्णयों का उचित रूप में पालन करना सरल होगा। यह उच्चतम समिति एक प्रकार से "बुद्धिमानों का ट्रस्ट" होगा। इसे परिपक्व गुण-युक्त बनाने की दृष्टि से और देश के आर्थिक जीवन के भिन्न अंगों का अनुभव संग्रहित करने की दृष्टि से इस की सदस्यता में बैंकिंग, यातायात, कृषि, व्यापार और उद्योग के सरकारी और ग़ैर-सरकारी, दोनों प्रकार के विशेषज्ञ होने चाहिए। आर्थिक प्रगति की इन शाखाओं के लिये उच्चतम समिति के साथ जुदा-जुदा उपसमितियां होनी चाहिएं अर्थात् यातायात की उपसमिति, उद्योग की उपसमिति, कीमत सहयोग उपसमिति इत्यादि।

उच्चतम अर्थ समिति के मुख्य कार्य अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार, यातायात, श्रम का परिचालन, कीमतों, क्षेत्रों के बीच शक्ति प्रसाधनों के वितरण को शृंखला-बद्ध करना होगा। प्रत्येक क्षेत्र या भाग के लिये उच्चतम समिति के अनुसार क्षेत्रीय अर्थ संसद होनी चाहिए और उसके साथ आर्थिक प्रगति के लिये जुदा उपसमिति का सहयोग होना चाहिए। संभव है, वर्तमान राज्यों को छोटे और सुविधाजनक आर्थिक क्षेत्रों में बांटना पड़े। इन आर्थिक समितियों का महत्व-पूर्ण कार्य इस क्षेत्र के मानवीय और भौतिक प्रसाधनों की उन्नति करना होगा और वह उस आवश्यक उन्नत सीमा तक करने होंगे कि जहां पूर्ण नियोजन के आर्थिक ढांचे की रक्षा की जा सके और क्षेत्र में आर्थिक विकास के विभिन्न अंगों को सम्पूर्ण योजित अंश में पारस्परिक जोड़ा जा सके।

संक्षेप में, सरकार को देश की ऐसी आर्थिक प्रणाली का उत्तरदायित्व ग्रहण करना होगा, जो पूर्ण नियोजन प्रदान कर सके। इस उद्देश्य के लिये उसे स्वयं अपने सार्वजनिक कार्यों के कार्यक्रम को लेकर आगे आना होगा। जिससे निजी साहस की न्यूनता को पूर्ण किया जा सके। दूसरे शब्दों में यह सरकार की ज़िम्मेदारी होगी कि वह उस सम्पूर्ण व्यय के स्तर की रक्षा करे, जो उन सब को कार्य का भरोसा देती है कि जो उन्हें चाहते हैं। केवल सरकार ही उन प्रसाधनों का आदेश कर सकती है और ऐसे अधिकार का पालन कर सकती है, जिस से भारत के लिये निर्मित पूर्ण नियोजन का कार्यक्रम सक्रिय रूप धारण कर सकता है। भारत में पूर्ण नियोजन की नीति का उद्देश्य होना चाहिए, "आर्थिक प्रगति और जन-संख्या की मात्रा के लिये प्रगतिशील जीवन-मान के बीच उन्नत संतुलन की रक्षा करना" और उसे "विदेशों में उत्पन्न होने वाली आर्थिक अस्थिरताओं की टक्कर से आर्थिक-प्रणाली". की रक्षा करनी होगी। यह कोई आसान काम नहीं और इसे प्राप्त

करने के लिए सरकार को अपने सभी प्रसाधनों का उपयोग करना होगा। जब पूर्ण नियोजन का कार्यक्रम जारी और सफल किया जायगा तो केन्द्रीय और प्रान्तीय बजटों में पूर्णतया परिवर्तन होने की आशा की जा सकती है। इस प्रकार भारत में नियोजन प्रदान करने और उसकी रक्षा करने में सरकार का महत्वपूर्ण अंश होगा।

विस्थापितों का पुनर्वास

१८. महान् दुःखपूर्ण (घटना)—अन्य देश रक्त-पात के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त करते है, किंतु हमने स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद रक्त बहाया। स्वतन्त्र भारत के जन्म के अवसर पर भारतीय भूमि में मानवीय इतिहास में एक अभूतपूर्व दुःखांत अभिनय का प्रदर्शन हुआ। पंजाब में राज्य विप्लव हो गया था।"चाकू चलानेवाला, बम फैंकने वाला, आग लगाने वाला और लुटेरा घर के बाहर था और वह बेरोकटोक अपने नीचतापूर्ण कार्य कर रहे थे। आदमी पागल बन गया था। मानव स्वभाव के निम्नतम रूप ने अपना नंगापन प्रदर्शित किया था। ऐसे पाशविकतापूर्ण कार्य किये गये, जो कभी सुनने में नहीं आये थे, और यह सहज ही कहा जा सकता है कि यह मानव रूप में अनेक हिंसक पशु थे। यहां तक कि यह कहना भी पशुओं के प्रति अन्याय करना है। हिंसक पशु इस प्रकार के मनुष्यों की अपेक्षा कही अच्छे होते हैं। लाखों लोग, जो शान्ति काल में सदियों से एक दूसरे के पड़ोसी होकर रहे थे, जिन की परस्पर व्यक्तिगत रूप में कोई शत्रुता नहीं थी, एकाएक उखड़ गये। इन्हें अपने घरों से निकाला गया, और उन्हें जो कुछ उनके पास था, उसे वहीं छोड़ना पड़ा। यदि उनका परिवार सम्पूर्ण रूप से निकल आया और उन में से कोई काट नहीं डाला गया, अथवा स्त्रियों को भगा नहीं लिया गया, तो वह अपने को भाग्यवान समझते थे। वह अपने लक्षित देश में पहुंचते थे, "दुरवस्था में, भूखों, लुटे-पुटे हुए, अपने निकट सम्बन्धियों की क्षति से सब कोई उदास, मानव-कंकाल के रूप में, पूर्णतया अव्यवस्थित और निरन्तर बहने वाले स्रोत की भांति।"

१९. आश्चर्यजनक समस्या—इन दुःखपूर्ण अवस्थाओं में "लाखों लोगों के प्रवास" ने एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी, जो अभी तक के मानव-इतिहास में किसी भी सरकार के समक्ष उत्पन्न नहीं हुई। यह इतनी विलक्षण थी कि राजनीति के महानतम पंडित और अनुभवी तथा योग्य शासक भी सहम गये। डा. एल. सी. जैन लिखते है, कि ५० लाख लोगों के पाकिस्तान से भारत में परिवर्तन से उत्पन्न हुई समस्या और इतनी ही संख्या का हिंसक दबाव के कारण भारत से पाकिस्तान जाना और वह भी सर्वथा आर्थिक उद्देश्यों के विपरीत, एक ऐसी विलक्षणता है, कि कोई भी उन के प्रभाव की गहराई को आंक नहीं सकता। यह इस प्रकार है, जैसे कि आस्ट्रेलिया की वर्तमान सम्पूर्ण जन-संख्या का, जो एकाएक धरती से उखड़ गयी हो और उत्पादन के सब साधनों से वंचित हो गयी हो, और उसे आज के भारत जैसे देश में, जो सांप्रदायिकता के कारण

छिन्न-भिन्न हो गया हो और आर्थिक रूप में विक्षिप्त हो गया हो, पुनर्वास किया जावे।[1] पश्चिमी पाकिस्तान से आये ५० लाख व्यक्तियों में पूर्वीय पाकिस्तान से आये लोगों को जोड़ा जा सकता है। यह संख्या अभी अनिश्चित है, किंतु दिसम्बर १९५० तक यह ३२ लाख रखी गयी है।

विस्थापितों की समस्या के दो रूप हैं : (१) पाकिस्तान से आने वाले अभागे और उखड़े हुए गैर-मुस्लिमों के लिए आश्रय-स्थान खोजना; (२) उन्हें लाभकर व्यवसायों में लगाते हुए पुनर्वास करना। आइये, हम समस्या के दोनों पहलुओं पर विचार करें।

२०. **विस्थापितों की सहायता।** तात्कालिक समस्या पाकिस्तान भर में फैले हुए लाखों हिंदुओं और सिक्खों का सुरक्षापूर्वक निष्कासन करना था, जो चारों ओर से दुश्मनों से घिरे हुए थे, और जिन्हें लूटे जाने तथा मारे जाने का भीषण डर था और जिनकी औरतों को भगाये जाने का आतंक था। इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने फ़ौजी निष्कासन संगठन की स्थापना की थी। और इस दिशा में अद्भुत कार्य किया था। यह संगठन मानव-सामान की गाड़ियां और लारियां भर भर कर भारतीय संघ के विभिन्न भागों में रिक्त करता था, विशेष रूप से पूर्वीय पंजाब में। उसी के साथ ही पैदल काफ़िले भी सड़क मार्ग से चलते, जो कभी कभी एक लाख से भी अधिक की संख्या मे होते थे। वह भारतीय गरमियों की तपती दुपहरी में भूखे, प्यासे अपने बच्चों को और सामान को उठाये चलते थे।

जैसे ही वह सीमान्त पार कर लेते थे और उन्हें कष्ट से छुटकारा दीख पड़ता था, तब उन्हें अन्न और आवास देने की समस्या उत्पन्न हो जाती थी। अनेक आवागमन के शिविर और शरणार्थी शिविर खोले गये। पूर्वीय पंजाब की शिशु-सरकार शरणार्थियों की एकाएक महान् संख्या से कंपित हो गई। उसकी मुक्ति के लिए भारत सरकार ने हाथ बढ़ाया। पहले तो सभी ओर अनिश्चय, असहायता और क्रियाहीनता थी। किंतु समयान्तर पर सरकार इस एकाएक और भारी धक्के से संभली और सहायता संगठन ने रूप धारण करना आरम्भ किया। सभी प्रान्तों में भली प्रकार संगठित शरणार्थी शिविरों की स्थापना की गई। पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों की संख्या, जो अब भी शिविरों में पड़े हैं, अनुमानतः १·७७ लाख बताई जाती है।

वर्तमान लेखकों को इस प्रकार के शिविर चलाने का निजी अनुभव है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि सहायता संगठन वह सब कुछ कर सका कि जो उसे करनी चाहिए था अथवा शिविरों के प्रबन्ध से हम सर्वथा संतुष्ट थे; इस से भी अधिक शरणार्थियों को असंतोष था। शरणार्थियों की मानवी आवश्यकताएं इतनी अधिक थीं कि सरकार के आदमी तथा द्रव्य के प्रसाधन उसे पूर्ण नहीं कर सकते थे। इन अवस्थाओं में यह असंभव

---

१. L.C. Jain—Some Thoughts on the Problems of Rehabilitation of Displaced Persons from Pakistan.

भी था। यदि शरणार्थी शिकायतें करते थे और चिल्लाते थे, तो यह स्वाभाविक था। किंतु, समष्टि रूप में, शरणार्थियों ने उल्लेखनीय धैर्य और शान्ति का परिचय दिया। वह सब तरह की असुविधाओं को सहन करने के लिए उद्यत थे।

अवस्थाओं के अनुसार, जो भी सहायता दी गई वह युक्तिसंगत थी। कई शिविर तो सफ़ाई की दृष्टि से आदर्श थे। उन्हें नगरों के बाहर खुले मैदानों में बनाया गया था। शिक्षा, मनोरंजन और चिकित्सा की सुविधाएं दी गई थीं। राशन नियमतः दिया जाता था, जिस में आटा, दाल, घी, नमक, सब्जियां, मसाले, और फल तथा बीमारों और बच्चों के लिए दूध तथा तेल और साबुन भी शामिल था।

रज़ाइयां, कम्बल, बड़े कोट, स्वेटर, रुई की बंडियां, और कमीजों, पायजामों, पगड़ियों, सलवार और दुपट्टों के लिए भी कपड़ा दिया जाता। सरकार के अतिरिक्त निजी लोकोपकारी संस्थाएं और संगठन भी सामान बांटते। पहले तो इस प्रकार की पूर्ति पर्याप्त नहीं थी। इस का कारण या तो यह था कि वस्तुएं तैयार नहीं थीं अथवा बांटने के साधन तैयार नहीं थे अथवा आतंकपूर्ण यातायात था। किंतु कुछ ही मास बाद सहायता-यंत्र गतिपूर्वक चलने लगा और इन आवश्यकताओं की पूर्ति भी होने लगी। पर्याप्त मात्रा में उनका वितरण होने लगा। इन शिविरों की सफलता और योग्यता इस बात से आंकी जा सकती है कि मृत्यु और रोग का अनुपात आश्चर्यजनक रूप में न्यून था और बसी हुई जनसंख्या की औसत से तो बहुत ही कम था। कुछ ही लोग जाड़े और भूख के कारण मरे।

इन शिविरों में भ्रष्टाचार की शिकायतें थीं और उनसे इंकार नहीं किया जा सकता। भ्रष्टाचार हमारे जीवन का अंग और अंश बन गया है। जब तक शिविरों का प्रबंध शिक्षा-विभाग के आधीन था, भ्रष्टाचार को न्यूनतम रूप में कम किया गया था। यदि लोकोपकारी जनता, जिसमें परोपकार की भावना होती, सहायता-कार्य में सहयोग देती, तो संभव था कि भ्रष्टाचार के अवसर न्यूनतम रूप में उत्पन्न हो पाते। किंतु हमें यह कहते संकोच नहीं होता कि जिस स्तर पर सहायता दी गई, उससे सरकार की महान् उदारता का परिचय मिलता है। यह जान पड़ता है कि वह लोग उन अभागों को सान्त्वना देने की कीमत को नहीं समझते थे कि जो दुखदायी राजनीतिक निर्णय के शिकार हुए थे।

भारत सरकार ३० अप्रैल १९४९ तक शरणार्थियों के निष्कासन, स्वागत, सहायता और पुनर्वास पर २९ करोड़ रुपया खर्च कर चुकी थी। १९४९-५० के बजट में शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए ३८ करोड़ २५ लाख रुपया रखा गया था। प्रांतीय सरकारों ने भी इस दिशा में करोड़ों रु. खर्च किया था।

३१ अक्तूबर १९४९ से शरणार्थी-शिविरों में निःशुल्क सहायता बंद कर दी गई, और प्रांतीय तथा राज्य सरकारों को विस्थापितों के नियमित पुनर्वास तथा भंग करने के प्रबंध के लिए कहा गया।

२१. पुनर्वास की समस्या । शरणार्थियों को भोजन देना, उन्हें रहने की जगह देना और कपड़ा देना आदि, समस्या का निराकरण करना नहीं है । इससे अकारण ही सरकार के प्रसाधन क्षीण हो जाँयगे और इससे शरणार्थियों का नैतिक पतन होगा । वह अपने कष्टों को पोषित करते रहेंगे और अपनी दुःखभरी कहानियों को बारंबार सुना-सुनाकर अपने घावों को ताज़ा बनाए रहेंगे । इसके अतिरिक्त राष्ट्र इन श्रमी, समझदार और साधन-संपन्न लोगों द्वारा अपने आर्थिक-जीवन के लिए कर सकने योग्य अंश-दान से वंचित रह जायगा । "शरणार्थी समस्या का यह अत्यधिक दुःखपूर्ण अंग है कि ऐसे साहसी और परिश्रमी लोगों के लिए जिन्हें बहुधा हमने पूर्वी पंजाब के शिविरों में देखा था और जो अधिकांशतः चतुर और साहसिक कार्य करने वाले थे, अपने देश की स्वतंत्रता के उदय के साथ ही उत्पादन-योग्य भूमि के द्वार बंद हो जावें और उन्हें शिविरों के अंदर बंद रहना पड़े, जब कि दुनिया श्रम के लिए परेशान होती हो और उनके अपने ही देश के प्रसाधन अछूते पड़े रह जावें । वह बिना काम के शिविरों में पड़े रहते, उनके नव-जात प्रांत (पूर्वी-पंजाब) के क्षीण साधनों पर दबाव पड़ रहा था, वह प्रतीक्षा करते—किंतु किस बात की ? कोई भी महसूस कर सकता है कि वह स्वयं नहीं जानते; वह केवल प्रतीक्षा करते ।"[१] यह असमंजस,क्रियाहीनता और मानसिक चिताका काल यथा-शीघ्र समाप्त होना चाहिए। यदि और अधिक हानि और राष्ट्रीय विनाश से बचना है तो शरणार्थियों को अपने आर्थिक जीवन में अंतिम रूप से खपा लेने के लिए एक चमत्कृत प्रेरणा की आवश्यकता है । मानवी-संकट को बांटा नहीं जा सकता और जब तक शरणार्थियों को तत्काल ही बसाया नहीं जाता, तब तक निश्चय ही वह सभी ओर कष्ट फैलाएंगे । "पुनर्वास केवल पुनःआवास नहीं ; यह पुनर्समन्वय की आधारमूलक रीति है, जो यह प्रकट करती है कि जीवन के लिए युक्तियुक्त उपाय प्राप्त हो गए हैं और शरणार्थी नये वातावरण में सचेष्ट इकाई में अपने को स्थिर कर रहा है ।"

डा. एल. सी. जैन ने, जो एक समय सहायता और पुनर्वास के सचिवालय के अर्थ-परामर्शदाता थे, शरणार्थियों को पुनः बसाने के लिए एक विस्तृत योजना बनाई थी । यदि उस योजना को ईमानदारी के साथ पूर्ण किया जाता तो समस्या सफलतापूर्वक हाथ में आ गई होती । यदि पुनर्वास को वैज्ञानिक ढंग से किया जाना है, तो हमें पुनर्वास चाहने वालों की संख्या पर विचार करना होगा और उसके साथ ही पाकिस्तान के लिए जाने वाले मुसलमानों के कारण रिक्त स्थान की भी गणना करनी चाहिए । पुनर्वास सचिवालय की जन-गणना के अनुसार पश्चिमी पाकिस्तान के शरणार्थियों की संख्या ५० लाख है और पूर्वी पाकिस्तान से दिसंबर १९५० तक ३२ लाख का अनुमान किया गया था ।

पाकिस्तान जाने वाले मुसलमानों की संख्या भी लगभग इतनी ही थी, किंतु दोनों

१. The Eastern Economist, May 21, 1948, p. 930

प्रकार के लोगों के रहन-सहन में भारी अंतर है। भारतीय संघ में प्रवास करने वाले ग़ैर-मुस्लिम अधिकांशतः भू-स्वामी ग़ैर-काश्तकार हैं अथवा ऐसे व्यक्ति हैं, जो व्यापार, उद्योग और नौकरी-पेशा हैं। दूसरी ओर, मुसलमान दस्तकार हैं, कारीगर हैं और मज़दूर हैं। पाकिस्तान से आने वालों का जीवन-मान बहुत ऊंचा था और पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी बंगाल के मुसलमानों का जीवन-स्तर नीचा था। इसके कारण हमारे पुनर्वास की समस्या अधिक कष्टकर हो जाती है। मुसलमानों के निष्कासन ने हमारे आर्थिक-जीवन में एक खाई पैदा कर दी है, जो आने वाले ग़ैर-मुस्लिमों द्वारा पूर्ण नहीं हो सकती। मुस्लिमों के निष्कासन ने पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल के आर्थिक जीवन को भंग कर दिया है और वहां के उद्योग ठप हो गए हैं। इसलिए, आने वाले ग़ैर-मुस्लिमों का पुनर्वास करने से पहले उत्पाद-यंत्रों को चालू करने के लिए विक्षत अर्थ-व्यवस्था की मरम्मत करनी होगी।

२२. **पुनर्वास अखिल भारतीय समस्या है।** पुनर्वास की समस्या को खंडित रूप में हल नहीं किया जा सकता और उसे बंगाल तथा पंजाब से संबंधित समस्या का एकाकी रूप देकर भी हल नहीं किया जा सकता। इसका निखिल भारतीय आधार पर निराकरण होना चाहिए। इसलिए, यह अच्छा ही है कि शरणार्थियों को सब प्रांतों में बांट दिया गया है। मोटे रूप में, ४० लाख को पूर्वी पंजाब में बसाया जाना होगा। सब प्रांतों और राज्यों ने अपने यहाँ शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए एक नियत संख्या उपस्थित की है।

२३. **शरणार्थियों का वर्गीकरण—ग्रामीण और शहरी।** पुनर्वास के उद्देश्य से शरणार्थियों का ग्रामीण और शहरी वर्गीकरण किया जा सकता है। हिंदू और सिक्खों की पश्चिमी पाकिस्तान में शहरी जन-संख्या, जो भारत में आई है, अनुमानतः २० लाख है। इस प्रकार ग्रामीण जन-संख्या को ३० लाख कहा जा सकता है। यह अनुमान किया गया है कि ग्रामीण विस्थापितों में से २७ लाख पूर्वी पंजाब में पहुंचे हैं, जिनमें १८ लाख कृषक हैं, ८ लाख गांवों में रहने वाले ग़ैर-काश्तकार हैं और ६ लाख दस्तकारों के अन्य दल हैं।

२४. **पुनर्वास के लिए उपलब्ध साधन।** पुनर्वास के लिए हमें भूमि, आवास और नियोजन की आवश्यकता है। यदि हम इस बात की तुलना करें कि गैर-मुस्लिम पाकिस्तान में क्या छोड़ आए हैं और मुसलमानों ने भारत में क्या छोड़ा है, तो हमें उपलब्ध प्रसाधनों की अपर्याप्तता और क्षीणता सहज ही नज़र आ जायगी। यह मुकाबला बहुत ही चौंकाने वाला है। हिंदू और सिक्खों ने पश्चिमी पाकिस्तान में ६७ लाख एकड़ भूमि छोड़ी जब कि पूर्वी पंजाब में मुसलमानों ने ४५ लाख एकड़। इसमें से ११·५ लाख एकड़ हिसार और गुड़गांव में है, जो फसलों के लिए अरक्षित मानी जाती है।

इसके अतिरिक्त, मुसलमानों द्वारा छोड़ी हुई भूमि की उस नहरी और समृद्धिशाली भूमि से तुलना नहीं की जा सकती जो हमारे लोग पश्चिमी पंजाब में छोड़ आए हैं।

हिन्दू और सिक्ख रहने के जो स्थान छोड़ आए हैं, वह उनकी अपेक्षा कहीं बढ़िया हैं, जो मुसलमान इधर छोड़ कर गए हैं—प्रमाण और परिमाण दोनों ही रूपों में। यह अनुमान किया गया है कि हमारी ओर ७५ हज़ार से १ लाख तक मकानों की कमी है।

जहां तक नियोजन की उपलब्धि का प्रश्न है, उसका भविष्य बहुत ही निराशापूर्ण है। हिंदू और सिक्ख, जो पाकिस्तान से आये हैं, व्यापार, उद्योग, नौकरियों और पेशों में लगे हुए थे, और यह पेशे इस ओर उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि यह पूर्वतः हिन्दुओं और सिक्खों के हाथों में है। जो मुसलमान गये हैं, वह अधिकांशतः दस्तकार और श्रमिक थे और यह निश्चित ही है कि आने वाले ग़ैर-मुस्लिम वह नहीं हो सकते।

२५. **ग्रामीण पुनर्वास।** ग्रामीण जन-संख्या का पुनर्वास करने के लिए, जिसमें कृषक, छोटे दुकानदार, साहूकार, दस्तकार और नीच कामों के करने वाले शामिल हैं, यह आवश्यक है कि किसानों को तत्काल ही बसा दिया जाय, क्योंकि प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः अन्य उन पर निर्भर करते हैं। पूर्वी पंजाब सरकार ने भूमि वितरण की एक विस्तृत योजना तैयार की है, जिसके अनुसार शरणार्थी कृषक-स्वामी, चाहे वह काश्तकार हों अथवा नहीं और उप-कृषक उसके अधिकारी होंगे; यह वितरण १९४८ की खरीफ और रबी के दलीय आधार पर होना था। प्रत्येक परिवार को, संयुक्त प्रबंध के ढांचे के अन्तर्गत, ८ से १५ एकड़ वितरण किये जाने थे। दलीय-प्रणाली इस कारण अपनाई गई थी कि बेहतर कृषि का भरोसा हो और बैलों तथा औज़ारों की बचत की जा सके। क्योंकि जाने वाले मुसलमानों की विनाश-नीति और स्थानीय ग़ैर-मुस्लिमों की ठगी के कारण उनका अभाव हो गया था।

यह योजना ठीक तरह से सफल न हुई। ग़ैर-काश्तकार स्वामियों ने अपने प्रभाव का अकारण लाभ उठाया और विभिन्न स्थानों पर तथा भिन्न नामों से ज़मीनें अपने नाम करा लीं, किंतु वह ज़मीनों पर रहते नहीं थे। उन्हें खड़ी फ़सलों और तकावी ऋणों का लोभ था, जो उन्हें मिले और उनका दुरुपयोग किया। उन्होंने कृषि की उपेक्षा की और रबी फसल को बोया। यह शोक की बात है कि यहां तक कि जब हमें काम करने का पूर्ण अवसर भी था, तो भी स्वार्थी हितों को नहीं छोड़ा जा सका। ६ गांवों में योजना के कार्य की जांच करने पर मालूम हुआ कि १९४७-४८ की रबी फसल के लिए मुसलमानों द्वारा छोड़े हुए संपूर्ण क्षेत्रफल का ६६ प्रतिशत बोया गया था और ९० प्रतिशत बोआई का काम उन लोगों ने किया था, जिन्हें ज़मीनें नहीं दी गई थीं। कहा जाता है कि ४० से ५० प्रतिशत की भूमियों का वितरण ग़ैर-काश्तकार स्वामियों अथवा उन लोगों

के हिस्से गया था, जिन का भूमि के साथ कोई संबंध नहीं था। "लूट, धूर्त्तता और कपट" फैला हुआ था।[१]

सब मिलाकर विभिन्न राज्यों में पाकिस्तान से आये हुए ६ लाख २४ हज़ार परिवारों को भूमि बांटी गई। उन्हें बसने के लिए सहायता दी गई। उन्हें बैल खरीदने, औज़ारों के लिए, मकान बनाने या मरम्मत करने के और कुंए खोदने के लिए आर्थिक सहायता दी गई। १९५१ तक केवल पंजाब और पेप्सू में ५·७७ लाख वितरण-भागीदारों को अध-स्थायी वितरण-योजना के आधीन ४० लाख ६० हज़ार एकड़ भूमि दी गई (२० लाख ४३ हज़ार प्रामाणिक एकड़)। भारत सरकार ने गत चार वर्षों में पाकिस्तान से आये हुए नये बसने वालों को बैल, बीज और औज़ार आदि खरीदने के लिए ७·२८ करोड़ रुपए ऋण रूप में सहायता पर व्यय किये हैं।

ग़ैर-काश्तकार भूमि-स्वामियों को भूमि पर नही बसना चाहिए था। वह केवल बोझा-मात्र हैं और अनावश्यक रूप में भूमि पर दबाव को बढ़ाने वाले हैं। उन्हें अन्य पेशों में लगाया जाना चाहिये अथवा भूमि की क्षति के लिए उन्हें हर्जाना दे दिया जाना चाहिये। उन्हें छोड़कर केवल २० लाख व्यक्तियों (४ लाख परिवारों) को भूमि पर बसाना है। चूंकि मुसलमानों द्वारा छोड़ी हुई संपूर्ण ४५ लाख एकड़ भूमि में से केवल ३४·५ लाख एकड़ कृषि-योग्य है, इसलिए प्रति परिवार को औसत साढ़े आठ एकड़ मिल जाते है।

उपलब्ध एकड़-भूमि के पर्याप्त न होने से हमें अपनी भूमि के प्रसाधनों को सुधार, सिंचाई और यंत्रों की योजनाओं से उन्नत करना चाहिए। भारत में ८ करोड़ ३५ लाख एकड़ व्यर्थ भूमि है। पूर्वी पंजाब में २५ लाख एकड़ ऐसी भूमि है, जिसमें से ९ लाख एकड़ का निश्चित रूप से सुधार हो सकता है। इससे कृषि-योग्य क्षेत्रफल में पर्याप्त वृद्धि होगी। तालाबों, और ट्यूब-वैलों (नालीदार कुओं) जैसे सिंचाई कार्यों और भाखरा बांध, नांगल और दामोदर घाटी जैसे मुख्य यंत्रों से केवल खाद्य ही नहीं मिलेगा, यही नहीं कि शरणार्थियों को सौंपा गया लघुतर क्षेत्र भी अधिक प्राप्ति करेगा, प्रत्युत आनुपातिक रूप में पर्याप्त-मात्रा में नियोजन प्रदान भी कर सकेंगे। इसलिए, कृषि को नवीन रूप देने के लिए प्रत्येक यत्न किया जाना चाहिए और भूमि की उत्पाद-शक्ति को फलों के बागीचे लगाकर, रासायनिक खादों का उपयोग करके, बेहतर बीजों और बेहतर साधनों से कृषि करके उन्नत करना चाहिए।

पश्चिमी पंजाब से प्राप्त हुए रिकार्डों के आधार पर पूर्वी पंजाब में भूमि के अधिकारों की जांच की जा चुकी है। यह निर्णय किया गया कि प्रामाणिक कटौती की जावे और भूमि के स्थायी वितरण की योजना पर कार्य किया जावे।

---

१. Eastern Economist, May 28, 1948, op. 971.

२६. शहरी पुनर्वास। पाकिस्तान से आये ११ लाख ग़ैर-मुस्लिमों में से, अनुमान किया गया है कि एक लाख वृहद्-स्तर उद्योग में लगे हुए थे और १० लाख घरेलू और लघु-स्तर के उद्योगों, व्यापार, नौकरियों और पेशों में लगे हुए थे। लघु-स्तर उद्योग के विस्तार के लिए बड़ा क्षेत्र है, क्योंकि वृहद्-स्तर पर नियोजन की आवश्यकता है, उपभोक्ता वस्तुओं की अल्पता है, शरणार्थियों के साधन सीमित हैं और लघु-स्तर उद्योगों को वह सरलतापूर्वक स्थापना कर सकते हैं। घरेलू दस्तकारियों को पश्चिमी पंजाब से पूर्वी पंजाब में लाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। सिंध में लघु-स्तर के अनेक उद्योग थे, जैसे, ठाटा की लुंगियां, नसरपुर के खेस, गादरो की ऊनी दरियां, और हाला का सलमे और कढ़ाई का काम। इन दस्तकारों को पूर्वी पंजाब में जमा होने में मदद करनी चाहिए और उन्हें आवश्यक आर्थिक तथा अन्य सहायता देकर अपने पांव पर खड़ा करना चाहिए।

विस्तार और निर्माण के योग्य जो उद्योग हैं, उनमें उल्लेखनीय यह हैं: हाथ-कताई और बुनाई, हौज़री, रंगाई और कपड़े की छपाई, छापाखाना, दरी बनाना, फलों के बागीचे, और फलों की सुरक्षा करना, दुग्धशालाएं, मुर्गीखाने, मधु-मक्खी पालन, तेल पेलना, साबुन बनाना, खेल के सामान बनाना, खिलौने, लकड़ी का काम, फर्नीचर, डाक्टरी के औज़ार, साईकिल उद्योग, चमड़ा, बुनाई-रंगाई, कागज़ बनाना, इत्यादि। उन्नत हो जाने की दशा में उनसे आशा की जा सकती है कि वह तीन लाख व्यक्तियों को खपा लेंगे। शरणार्थियों को थोड़ी-सी शिक्षा दी जा सकती है और उद्योगों को सहकारिता के आधार पर आरंभ किया जा सकता है। इस उद्देश्य से पहले से ही शिक्षा केंद्र जारी हो चुके हैं।

वृहद् और मध्य स्तर के उद्योगों को पूर्वी पंजाब में इन दिशाओं में उन्नत किया जा सकता है: एक या दो कताई की मिलें; फाज़िल्का में एक ऊनी मिल; रेलवे पुलिस और सेना विभाग की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए एक कपड़े का कारखाना; जालंधर, कालका और अंबाला में खाद्य तैयार करने के कारखाने, मोटरों की मरम्मत और कोच बनाने के उद्योग; उत्तर प्रदेश में बम फैक्ट्री; अम्बाला और जालंधर में जल-विद्युत की इंजीनियरिंग, पठानकोट या गुरुदासपुर में बटन बनाने का उद्योग और दियासलाई का कारखाना; तारपीन के कारखाने; अनेक छापे खाने, (पंजाब सरकार के सरकारी प्रेस के अतिरिक्त), आरे की मिलें, इमारती लकड़ी के काम, टाइल और ईटें बनाने के काम, सफ़ाई का सामान, नालियों के लिये नल, चीनी मिट्टी की वस्तुओं को बनाने के काम तथा कठोर पदार्थ और बिजली के सामान आदि। किंतु इस प्रकार की वृहद्-स्तर औद्योगिक उन्नति केवल सरकार की सक्रिय सहायता के आधार पर ही संभव है। एक औद्योगिक प्रगतिकारी समिति इस उद्देश्य के लिए बनाई जानी चाहिये और साथ ही राष्ट्रीय पुनर्वास अर्थ संसद ऋण प्रदान करने के लिए बनाई जानी चाहिए। प्रान्तीय लघु उद्योग कार्पोरेशन बनाई जानी चाहिए, जो छोटे उद्योगों को उन्नत होने में सहायक हो सके। भारत सरकार ने दस करोड़ रुपया लगा कर पुनर्वास अर्थ

प्रशासन (Rehabilitation Finance Administration) की स्थापना की है । औद्योगिकों को ऋण दिये जा रहे हैं। पूर्वी पंजाब में अनेक औद्योगिक नगरों को उन्नत किया जा रहा है ।

छोटे-छोटे व्यापारियों का पुनर्वास अपेक्षाकृत कठिन है । उन्हें दो वस्तुओं की आवश्यकता होगी, एक तो नगर में कारोबार की जगह, दूसरे रहने के लिए मकान । दोनों ही बातों की भयंकर दुर्लभता है। पूर्वी पंजाब में वैसे भी बहुत थोड़े नगर है और उनमें पहले ही ज़रूरत से ज़्यादा भीड़ है। उन्हें कर्ज़ों की भी आवश्यकता है, जो आसानी से मंज़ूर हो सकते हैं। यदि उन्हें दुकान और रहनेके लिए मकान मिल जावें, तो वह सरलता-पूर्वक अपना पुनर्वास कर सकते हैं। वह कर भी रहे हैं। पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में सड़कों की दोनों ओर लगी हुई दुकानें इन शरणार्थियों की साहसकिता का परिचय देती है । पूर्वी पंजाब सरकार ने अढ़ाई करोड़ रुपये की लागत से बारह कस्बे बनाने की योजना बनाई है। वर्तमान उपलब्ध सूचना (मार्च १९५२ तक) तक सरकार १·२३ लाख मकान बना चुकी है, जिसमें प्रवासियों द्वारा छोड़े मकान और वह मकान भी जो विस्थापित व्यक्ति उन्हें दिये गये २८ हजार प्लाटों पर बनायेंगे, सम्मिलित हैं, और आशा की जाती है कि अब तक २२ लाख व्यक्तियों से अधिक को आवास दिया जा चुका है।

यह कुछ तथ्य इस बात के प्रमाण है कि संघ सरकार और राज्य सरकारों ने शरणार्थियों की समस्या का निराकरण करने के लिए भारत संघ में ईमानदारी के साथ यत्न किये हैं। जो अवस्थाएं हैं, उनमें यह असंभव है कि विस्थापितों को पूर्व जैसा आर्थिक स्तर और जीवन-मान दिया जा सके, किंतु इस से इंकार नहीं किया जा सकता कि कुछ ऐसे सुदृढ़ कार्य किये गए हैं कि जिन से वह एक बार पुनः अपने पांवों पर खड़े हो सकें।

उन्तालीसवाँ अध्याय

आर्थिक नियंत्रण

१. **भूमिका**। युद्ध काल की अवस्थाओं में आर्थिक-नियंत्रण आवश्यकीय घटना हैं। उन्हें उस समय लागू किया जा सकता है, जब एक राष्ट्र शत्रु के विरुद्ध लड़ाई की तैयारियां कर रहा है, भले ही वह काल्पनिक हो अथवा वास्तविक। लड़ाई आरम्भ होने पर उन्हें लागू करना ही होता है; और युद्ध के बाद वह तब तक जारी रहते हैं, जब तक कि युद्ध-जन्य अवस्थाएं जारी रहती हैं। एक युद्ध के लिए नियंत्रण आवश्यक होते हैं और उनका उद्देश्य राष्ट्र के सीमित प्रसाधनों को युद्ध को सफल करने के लिए संग्रहीत करना होता है और इस ध्येय को दृष्टि में रखते हुए उन प्रसाधनों की शहरी उपयोग की दिशा बदल कर उन्हें युद्ध-काल के उद्देश्यों में लगाया जाता है। भारत में आर्थिक नियंत्रण हाल ही के द्वितीय विश्व-युद्ध की देन है।

२. **नियंत्रणों का इतिहास**। एक युद्ध नियंत्रणों के आगमन की घोषणा करता है। किंतु भारत में, १९३९ में युद्ध के आरम्भ होते ही नियंत्रण नहीं आये। कुछ समय के लिए अवस्थाएं आसान रही थीं और युद्ध ने कीमत के निर्देशांक पर कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं किया था। यहां तक कि शुरू-शुरू में तो कीमतों की उन्नति का स्वागत किया गया था, क्योंकि कृषि और उद्योग को, सन् १९३० के शुरू में, इतिहास में अज्ञात भारी मन्दी में से निकलना पड़ा था। सरकार ने संतोष की भावना के साथ कीमतों का उत्कर्ष होने दिया था। किंतु जब कीमतों के उत्कर्ष ने वेदना उत्पन्न कर दी, तो सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। "बंगाल दुर्भिक्ष की निद्रा में से उसे जगाने की आवश्यकता थी।"[१] यदि उपयुक्त मूल्य नीति की कार्यकारिता पर पर्याप्त रूप से विचार कर लिया जाता, तो बाद की कठिनाइयों से बचा जा सकता था। १९४३ तक कोई भी निश्चित नीति नहीं थी, न ही विभिन्न प्रांतों में अनुसरण की जानेवाली नीति में स्थिरता अथवा समानता थी। "खाद्य-संकट का एक पर्याप्त बड़ा भाग, जिस में हम अपने को पड़ा पाते हैं, निश्चय ही अधिकारियों द्वारा सम्पूर्ण स्थिति को सामयिक रूप में हस्तगत करने की असफलता का परिणाम कहा जा सकता है। उन्होंने उस दशा का सामना करने के लिए पर्याप्त रूप में विस्तृत स्तर पर कार्यवाही नहीं की।"[२] समय पाकर अनेक

---

१. R. N. Bhargava : Price Control and Rationing.
२. Anjaria and others—Price Control in India, 1946, p. 1.

दिया और माल जमा करना आरम्भ हो गया। इसी अवसर पर भारत पर प्राकृतिक आपदाएं आ पडी, जैसे बाढ़ें और आसाम का भूकंप। इन कारणो ने प्रचलित न्यूनता को और भी बढ़ा दिया और नियंत्रण बनाये रहने की आवश्यकता का संकेत किया। फलतः, भारत सरकार ने नियंत्रण जारी रखने का अपना दृढ़ मत घोषित किया और यह भी विश्वास दिलाया कि अनिवार्य जिन्सों का उचित कीमतों के आधार पर समान वितरण किया जावेगा।

हाल ही (मार्च १९५२) में जिन्सों की कीमतों में गिरावट होने से सरकार किसी सीमा तक नियंत्रणों को ढीला करने के योग्य हुई, विशेषकर वस्त्र में। खांड से भी आवश्यक नियंत्रण हटा लिया गया है।

सामान्य मूल्य नियंत्रण

३. मूल्य नियंत्रण क्यों? एक युद्ध अपने साथ नियंत्रणों के एक क्रम को लाता है, जिस से समाज के आर्थिक-जीवन पर प्रभाव होता है। जो भी हो, इन नियंत्रणों में मूल्य-नियंत्रण विशेष महत्व का है। कीमतों में परिवर्तन का सरकार सहित हर एक पर प्रभाव होता है। युद्ध-काल में कीमतों की प्रवृत्ति अनिच्छित रूप में और निरन्तर उन्नत होने की थी, और यदि, उन्हें उचित स्तर पर नही रखा जाता, तो उसके भीषण परिणाम हो सकते थे। समाज के अपेक्षाकृत निर्धन अंग पर जो जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा है, सब से अधिक आघात हुआ। यदि वह अत्यधिक ऊंची कीमतें होने के कारण जीवन की आवश्यक वस्तुओं का क्रय करने के अयोग्य हों, तो क्रांति हो सकती है और राजनीतिक स्थिरता को भो खतरा हो सकता है। यहां तक कि विपरीततः इससे कष्ट बढ़ेगा। जन-साधारण की नैतिकता को बनांने रखना चाहिए अन्यथा घरेलू मुहासरा फट सकता है। सरकार को निजी हित के लिए कीमत-नियंत्रण जारी करना पड़ा। वह सब से बड़ी क्रेता है और उसे अपने क्रयों में बचत करनी ही चाहिए। सरकारी नौकरों की दिशा में बढ़े हुए वेतनों के लिये पूर्वतः मांग उपस्थित करने के लिये भी कीमत-नियंत्रण आवश्यक है।

यहां तक कि शांतिकाल में भी कुछ कीमतों पर नियंत्रण किया जा सकता है। कीमतों पर इस लिए भी रोक लगाई जा सकती है कि लाभपूर्ण जिन्स की गरीब भी खपत कर सकें। एकाधिकार की जिन्सों की कीमतों पर इसलिए नियंत्रण किया जाता है कि लाभों की व्यवस्था की जा सके और अथवा उपभोक्ता को शोषण से बचाया जा सके। किंतु युद्ध-काल में कीमत नियंत्रण अनिवार्य आवश्यकता है। यह मांग और पूर्ति के बीच घोर असंतुलन के कारण आवश्यक होती है। पूर्ति में संकुचन होता है और मांग फैलती है। पूर्ति में न्यूनता का यह कारण है कि प्रसाधनों को युद्ध के उद्देश्यों में बदल दिया जाता है और शहरी उत्पादन को यातना सहनी होती है। इसके साथ ही घरेलू उत्पादन में गिरावट होने से आयात गिर जाते हैं। इसका कारण विदेशी विनिमय में न्यूनता है, जो निर्यातों में न्यूनता, जहाजों में स्थानाभाव, समुद्र में शत्रु-कार्यवाहियों और विदेशों द्वारा वस्तुओं की पूर्ति करने की

अयोग्यता—क्योंकि उन्होंने अपने प्रसाधनों को युद्ध-उद्देश्यों में बदल दिया होता है—के कारण होती है। दूसरी ओर वस्तुओं की मांग बुरी तरह बढ़ जाती है। सरकार सब से बड़ी क्रेता के रूपमें बाज़ार में प्रविष्ट होती है। समाज की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। क्योंकि बेकार प्रसाधन पूर्णतया नियोजित होते हैं और यह अतिरिक्त क्रय-शक्ति असैनिक वस्तुओं के क्रय में खर्च होती है। इस प्रकार मांग मे वृद्धि और पूर्ति में न्यूनता युद्ध-काल में कीमतों में असाधारण उत्कर्ष करती है। मुद्रा-स्फीति और द्रव्य में लोच की वृद्धि के कारण कीमतों मे और उकत्र्ष होता है। यदि मब कीमतें और आमदनियां उसी अनुपात से उन्नत हों तो किसी पर भी विपरीत प्रभाव नही होगा। किंतु जो स्थिति है, कीमतों के उत्कर्ष में समानता नही होती और कुछ आमदनियां अन्यों की अपेक्षा कही अधिक उन्नत हो जाती है। धनी और निर्धन में जो खाई होती है, वह अधिक चौड़ी हो जाती है। उसका परिणाम भयंकर सामाजिक विसमता होती है, जिस के प्रति सरकार का कर्त्तव्य है कि वह कीमत नियंत्रण को उस उद्देश्य के लिए रोके या न्यून करे।

६. **मूल्य नियंत्रण के उपाय।** द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भिक चरण में,भारतमें कीमतो में अधिक उत्कर्ष नही हुआ था। किंतु जापान के युद्ध में शामिल होते ही वह बुरी तरह उन्नत होने लगी। जापान की विजयों के कारण बर्मा से चावल की पूर्ति बंद हो गई। आस्ट्रेलिया गेहूं की पूर्ति करने के अयोग्य था। बर्मा से शरणार्थियों का आना और भारत में सेनाओं को वृद्धि और लोगों की क्रय-शक्ति में वृद्धि, कुछ ऐसे कार्य थे, जिन से कीमतों में उत्कर्ष हुआ, शत्रु की विजयो के कारण सरकार में विश्वास का ह्रास और कीमतों में और अधिक वृद्धि की आशा के कारण माल दबा लेने की प्रवृत्ति हुई और इस प्रकार न्यूनता मे और भी वृद्धि हुई।

कीमतों की समस्या पहले तो अनमने ढंग से हल की गयी। सरकार कीमतों के उत्कर्ष के विषय में पूर्णतः विरोधी नही थी, क्योंकि उत्पादको को सन् १९३० के आरम्भ में महान् मन्दी के कारण भीषणतापूर्वक यातना सहन करनी पड़ी थी और वह चाहती थी कि कीमतों मे कुछ उन्नति से उन्हें लाभ मिलना ही चाहिए। कितु चूकि कीमतें बहुत तेज़ी के साथ चढ़ी, इसलिये सरकार ने उन पर रोक लगाने की सोची। भारत रक्षा कानून की धारा ८१ के आधीन उसे सब प्रकार की जिन्सों की कीमतों का नियंत्रण करने का अधिकार था और १९३९ में इन अधिकारों को प्रान्तीय सरकारों को सौंपा गया था।

कीमतों के नियंत्रण-कर्ता और कीमत सलाहकार कमेटियां १९४२ में प्रान्तीय सरकारों द्वारा नियुक्त की गई। चूकि कीमतों की स्थिति भीषण रूप धारण कर रही थी, इसलिए केन्द्रीय सरकार ने १९४३ में कुछ आदेश और आर्डीनेंस जारी किये, जिनमें महत्वपूर्ण ये थे: सूती वस्त्र और सूत (नियंत्रण) आज्ञा (जून १९४३), अतिसंग्रह और लाभनिवारक अध्यादेश (अक्तूबर १९४३) और उपभोक्ता वस्तुओं का वितरण नियंत्रण अध्यादेश (जून १९४४)। प्रान्तों को यह भी अधिकार दिया गया कि

वह कतिपय चुनी हुई जिन्सों की अधिकतम परचून कीमतें नियत कर सकते हैं। लाइसेंस-प्राप्त और अधिकृत व्यापारियों की रीति जारी की गयी और व्यापारियों को अपने व्यापारों का ब्योरा देना होता था। राशनिंग भी जारी किया गया। अतिसग्रह और लाभ व्यवस्था के आधीन किसी भी जिन्स को युद्ध-पूर्व की सामान्य कीमत पर २० प्रतिशत से अधिक पर अथवा सामान्य युद्ध-पूर्व सीमान्त पर, कि जो आयात की हुई वस्तुओं की दशा में भूमि पर पहुंच की लागत के आधार पर हो, और घरेलू निर्मित वस्तुओं की दशा में उत्पाद की लागत के आधार पर हो, जो भी दोनों में कम हो, बेचा जा सकता था। एक सम्पूर्ण राशि की भी सीमा नियत कर दी गई कि जो एक व्यापारी अथवा निर्माता रख सकता था और साथ ही एक वक्त में अधिकतम क्रय की भी स्वीकृति रखी गयी थी। एक दुकानदार को १० रु. से अधिक की खरीददारी के लिए नकदी-पर्चा देना होता था और यदि ग्राहक चाहे तो उससे कम पर भी। कोई भी व्यापारी या निर्माता पर्याप्त कारण के बिना विक्रय से इंकार नहीं कर सकता था। कीमतों के नियंत्रण-कर्ता के आदेश से व्यापारियों को अपने कारोबार की पूर्ति की सूचना देनी होती थी। वस्तुओं पर कीमतें लिखनी होती थीं और उन्हें प्रत्यक्ष स्थान पर प्रदर्शित करना होता था। उपभोक्ता वस्तुओं के (वितरण के नियंत्रण) अध्यादेश के आधीन आयात करने वालों और निर्माताओं को ३२ वस्तुओं के विषय में, राशि की स्थिति, ताज़ा पहुंचों और वह उपाय कि जिन में उन्हें समाप्त किया जाना है, सूचना देनी होती थी।

युद्ध-समाप्ति के बाद अतिसंग्रह और लाभनिवारक अध्यादेशों का अन्त हो जाने दिया गया, किंतु अन्तर्कालीन अवस्था में कुछ नियंत्रणों को अनिवार्य समझा गया। इसलिए सरकार ने १९४६ में, अनिवार्य पूर्ति अस्थायी (अधिकार) अधिनियम [Essential Supplies (Temporary) Powers Act] कतिपय चुनी हुई जिंसों के निर्माण, पूर्ति और वितरण पर नियंत्रण रखने के लिए लागू किया। अगस्त १९५० में इस विधेयक के जीवन-काल को ३० दिसम्बर १९५२ तक बढ़ा दिया गया। यह एक्ट निम्न वस्तुओं पर लागू है : खाद्य-अन्नों, पशुओं का चारा, सूती और ऊनी वस्त्र, कच्ची कपास, कपास के बीज, कागज़, पैट्रोल और तज्जनित वस्तुएं, यांत्रिक गाड़ियों के खुर्दा पुर्ज़े-हिस्से, कोयला, लोहा, इस्पात और अभ्रक।

१९४७ में, अनियंत्रण में संक्षिप्त एवं असफल प्रयोग के बाद भारत में कीमतों की स्थिति गिरती रही; पहले तो विभाजन के कारण, और अनन्तर मुद्रा-अवमूल्यन, भारत पाकिस्तान व्यापार गतिरोध और कोरिया-युद्ध के फलरूप पुनः शस्त्रीकरण में वृद्धि और अतिसंग्रह के कारण। इसलिए, यही नहीं कि कीमत-नियंत्रण को रखना पड़ा प्रत्युत उसे कठोर भी करना पड़ा। औषधि (नियंत्रण) आर्डीनेंस ३ अक्तूबर १९४९ को जारी हुआ जिससे औषधियों की कीमतों में उत्कर्ष न हो सके। इस आर्डीनेंस की जगह पार्लियामेंट के ७ अप्रैल १९५० के अधिनियम को जारी किया गया। वस्तुओं की पूर्ति और कीमतों

का कानून १९५० में स्वीकार हुआ था। यह कानून लोहा-इतर धातुओं पर लागू होता है, जिनमें पीतल, बाईसिकल, साईकल के हिस्से और पुर्ज़े, साईकल टायर और टचूब, बिजली के हुंडे, कास्टिक सोडा, सोडाएश, चमड़ा रंगाई-बनाई के पदार्थ, कच्ची रबड़, ग्लैक्सो, हार्लिक्स जैसे बच्चों के खाद्य, गन्धक, टैनरी, ऊन और क्रोम (चमड़ा) भी सम्मिलित है। इस कानून का उपयोग उन वस्तुओं की कीमतें नियत करने और वितरण को नियंत्रित करने में किया गया, जिससे सीमित पूर्त्तियों को केवल अनिवार्य उद्देश्यों के लिए ही रखा जा सके।

वर्तमान स्थिति यह है कि निम्न वस्तुओं की कीमतों पर नियंत्रण है : खाद्य अन्न, खांड, लोहा और इस्पात, सीमेंट, कच्ची और निर्मित कपास, कच्ची रबर, अनिवार्य औषधियां इत्यादि। जिंसों का नियंत्रण कीमतों, परिचलन अथवा वितरण, परिमाण की सीमा, जो एक वक्त में विक्रय हो सकती है (बच्चों के खाद्य), परिमाण की सीमा जो उपभोक्ता अपने पास रख सकते हैं (बच्चों के खाद्य और कास्टिक सोडा), उपभोक्ताओं द्वारा विक्रय पर रोक (कास्टिक सोडा और सोटा एश), नकद लेन-देन का विवरण रखना और कीमतों की सूची-प्रदर्शन के नियंत्रण का रूप धारण कर लेता है।

५. कीमतें नियत करना। एक कीमत सलाहकार समिति (Prices Advisory Board) है, जिसका कार्य कीमतों को नियत करने और अन्य मामलों के विषय में, जो पूर्ति और वस्तुओं की कीमतों के १९५० के कानून (Supply & Prices of Goods Act, 1950) के अन्तर्गत होते हैं, सरकार को परामर्श देना है। इस समिति ने विशिष्ट कीमतें नियत करने के लिये निम्न सामान्य सिद्धांत स्थिर किये हुए हैं :

१. जहां तक उन वस्तुओं का सम्बन्ध है कि जो पूर्णतः अथवा अधिकतः देश में उत्पन्न होती हैं, उनके लिए यह सूत्र है : निर्माता अथवा व्यापारी के लिए उत्पाद की लागत जमा लाभ का एक उचित सीमान्त।

२. आयात की हुई वस्तुओं के विषय में यह है कि भूमि तक पहुंच की लागत जमा लाभ का उचित सीमान्त।

३. उन वस्तुओं के विषय में, कि जो अंशतः देश में उत्पन्न होती हैं और अंशतः आयात की जाती हैं। आयात की हुई वस्तुओं की कीमत सामान्यतः अधिक ही होगी। यदि प्रमाण द्वारा अन्तर न्याय्य होगा और दोनों वस्तुओं को रूपों द्वारा एक-दूसरे से भिन्न किया जा सकता हो, तो उस दशा में केवल आयात की हुई वस्तुओं की अधिकतम कीमत नियत करना पर्याप्त होगा। जहां कीमतों की असमानता को न्याय्य न ठहराया जा सकता हो और दो किस्मों को एक-दूसरे से भिन्न किया जा सकता हो, तो दोनों किस्मों की उच्चतम कीमत नियत की जानी चाहिए। उन अवस्थाओं में जहाँ आयात की हुई किस्म को देसी किस्म से सहज-पूर्वक भिन्न नहीं किया जा सकता, यदि आवश्यक हो तो साझी

उच्चतम कीमत नियत की जा सकती है।

६. क्या कीमत-नियंत्रण असफल रहा ? इस प्रश्न का कोई प्रत्यक्ष उत्तर नही दिया जा सकता। निःसंदेह, शुरू शुरू में कीमत नियंत्रण बुरी तरह असफल रहा। तिस पर भी कुछ वर्षो के अनुभव के बाद नियंत्रणों की प्रणाली उचित सफलता के साथ कार्य करने लगी, अथवा क्या हम यह कहें, कि भारतीय विवाह की भांति, हमें उससे सतोष करना ही पड़ा ? यह भी मान ही लेना चाहिए कि यह आशा करना भी व्यर्थ ही है कि इंग्लैड में जिस योग्यता के साथ मूल्य-नियत्रण सफल हुए है, वह यहा भी उसी योग्यता के साथ होंगे। भारत का महाद्वीप जैसा क्षेत्रफल है, और उत्पादन है, विशेषतः कृषि और लघु-स्तर के उद्योग बिखरे हुए है और असंगठित है। ऐसी अवस्था होने के कारण कोई नियमित नियंत्रण नही हो पाता, और उत्पाद पर नियत्रण के बिना कीमतों पर नियंत्रण अर्थ-हीन है। इसके अतिरिक्त भारतीयों का अनुशासनहीन और अत्यधिक व्यक्तिगत एवं स्वार्थपूर्ण चरित्र भी कीमतों के नियंत्रण की प्रणाली की दुर्बलता के लिए ज़िम्मेदार है। कीमत-नियंत्रण की असफलता की ज़िम्मेदारी विशेष रूप से आर्थिक दुरावस्था को भी दी जा सकती है। इस स्थिति में हमें धकेलने के ये कारण थे : यातायात प्रणाली का क्रियात्मक रूप में भंग हो जाना, अत्यधिक मुद्रा-स्फीति और सट्टेबाजी का खब्त। राजनीतिक परिस्थिति ने भी, जिस के फलस्वरूप विभाजन हुआ और जिसने देश की अर्थ-व्यवस्था को भंग कर दिया, कीमतों की नियंत्रण की असफलता में अपना कार्य किया। भारत में कीमत-नियंत्रण प्रणाली की सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए यह सामान्य सीमाएं हैं किंतु इसे छोड़ कर स्वतः इस प्रणाली में कुछ अनुगत दोष भी थे। इनमें मे निम्न का उल्लेख किया जा सकता है :

(१) कीमत विषयक स्थिति को ठीक समय पर हल करने के अभाव ने सरकार के लिये अनन्तर जब स्थिति काबू से बाहर हो गयी और व्यवस्था योग्य न रही, तो नियंत्रण करने की कठिनाई हो गयी। शुरू-शुरू में, जब परिस्थिनि सहज थी, पर्याप्त समय था, जब कि उचित रीति से सुदृढ मूल्य-नियंत्रण प्रणाली को चालू किया जा सकता था। किंतु जान पड़ता है कि सरकार बहुत देर करके चेती।

(२) प्रारम्भिक चरणों में अधिकारियों में अनुभव का अभाव भी मूल्य-नियंत्रण की असफलता के लिए ज़िम्मेदार था। परिस्थिति को हस्तगत कग्ने के लिए सरकार के पास पर्याप्त रूप में योग्य और विशिष्ट योग्यता प्राप्त व्यक्ति-मंडल भी नही था। जो कार्य-कर्त्ता उपलब्ध थे, वह पर्याप्त रूप में सतर्क नहीं थे। "अपराधों की संख्या बहुत थी, किंतु चन्द गिरफ़्तारियां होती थीं। कभी-कभी सज़ा होती थी और दंड बहुत ही नरम दिया जाता था।"[१]

---

१. R.N. Bhargava—Price Control and Rationing, 1945 p. 82.

(३) सरकारी कार्यकर्त्ताओं में सहयोग का अभाव एक और अनुगत दुर्बलता थी। भृष्ट कार्यकर्त्ता लोगों की सचाई और योग्यतापूर्वक सेवा करने की अपेक्षा अपनी जेबें भरने पर अधिक उत्सुक थे। जब ढांचा ही इतना क्षीण और जर्जरित था, तो नियंत्रण का यंत्र क्योंकर कार्य कर सकता था? "यह नही कहा जा सकता कि उन युद्ध के दिनों में, जब उपभोक्ता वास्तविक रूप में असहाय था, इस देश के प्रशासन ने योग्यता की दिशा में अपनी ख्याति में श्रीवृद्धि की है।"[१] जब नियंत्रण इस प्रकार प्रभावहीन रहे, तो उपभोक्ता चोर-बाज़ारी की ओर लपका—जो उसकी पूर्ति का एकमात्र स्रोत था।

(४) भारत में कीमत-नियंत्रण की असफलता के लिए सम्पूर्ण दोष अधिकारियों के ही मथे नहीं मढ़ा जा सकता। सामान्य जनता को भी उस दोष का भाग दिया जाना चाहिए। लोगों ने नितान्त स्वार्थ-भावना से कार्य किया। जो लोग चोरबाज़ार से अपनी इच्छानुसार खरीदने की शक्ति रखते थे, उन्होंने बिना किसी ननुच के खरीदा। व्यापारी भी उन्हें माल देने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते। इस प्रकार चोरबाज़ारी का विस्तार हुआ। अतिसग्रह आम था और अपलाभ के लिए एक सनक पैदा हो गई थी।

(५) सरकार की दृढ़ता और स्थिरता के अभाव के कारण भी कीमत-नियंत्रण की सफलता के मार्ग में कठिनाइयां हुईं। सरकार की नीति नियंत्रण और अनियंत्रित के बीच भटकती थी। इस से भी बढ़ कर कीमतों पर नियंत्रण और नोटों को जारी करने के आवश्यकताहीन विस्तार से भी बहुत बुराई हुई।

(६) सामयिक और शुद्ध आंकड़ों का अभाव भी एक बड़ी त्रुटि था। जान पड़ता था कि सरकार अंधेरे में कूद फांद कर रही है और वह तथ्यों के आधार पर विश्वासपूर्ण नीति का निर्धारण नहीं कर सक रही। सरकार को प्रयोगों के आधार पर बढ़ना होता था।

(७) कीमत-नियंत्रण की रीति योजना-रहित, सहयोग-रहित और पर्याप्त अविस्तृत थी। कोई भी साझी निखिल भारतीय नीति ग्रहण नही की गयी थी। प्रत्येक प्रान्त की निजी रीति थी और ज़िला अधिकारियों के विस्तृत मत पर छोड़ दिया जाता था। जो कीमतें नियत की गईं थी, उनमें ज़िला से ज़िला तक अन्तर था। कभी-कभी यातायात और उत्पाद की लागत पर ध्यान रखे बिना भिन्न २ क्षेत्रों में एक ही कीमत नियत कर दी जाती थी। पहले केवल परचुन कीमतों को नियत किया गया और थोक व्यापारियों को उच्चतम दरें लेने की छूट दे दी गई, जिस से खुदरा व्यापारी को चोरी-बाज़ारी की कीमतें लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। यहां पूर्ति पर नियंत्रण के विना कीमत पर नियंत्रण था और आवश्यक रूप में इसका परिणाम चोरबाज़ारी होना था। सरकार ने कीमतें नियत कर दीं, किंतु और कुछ न किया। एक बार तो स्थिति इतनी संकटापन्न हो गई कि स्वतः सरकार को भी चोरबाज़ारी में जाना पड़ा था। १९४३ में बंगाल सरकार के

---

१. Anjaria & Others—Price Control in India, 1946, p. 8.

एजटों को आदेश थे कि वह किसी भी कीमत पर खाद्य का क्रय करें। समष्टि रूप में नियंत्रण की अपेक्षा व्यष्टि रूप में नियंत्रण था, जिस का फल यह हुआ कि नियंत्रण-रहित जिन्सों की कीमतें ऊंची चढ़ गयीं, जिन्होंने नियंत्रित जिंसों पर नियंत्रण रखना कष्टकर बना दिया। यह तो महसूस नहीं किया गया कि अधिकांश जिंसों की कीमतें पारस्परिक रूप में जुड़ी हुई थी। इस से बढ़ कर, पूर्ति में वृद्धि करने के लिए कोई गम्भीर चेष्टा नहीं की गयी और न ही कमी को दूर किया गया जो कि कीमत-नियंत्रण की असफलता का वास्तविक अधारमूलक हेतु था। नियंत्रण के कानून, विशेष कर जो प्रारम्भिक चरणों में स्वीकार किये गये थे, बहुत ही सामान्य थे। उन्हें स्वीकार करना सहज था, किंतु अमल करना कठिन था। उदाहरण के लिए, १९४३ का अतिसंग्रह और अपलाभ निवारक अध्यादेश को आयात कीमतों और उत्पाद की लागत के साथ जोड़ा गया था। लागतों में अन्तर होता था और वस्तुओं की भिन्न समयों और भिन्न कीमतों पर आयात की जाती थी। क्या भिन्न कीमतें ली जा सकती थीं? यदि ऐसा था, तो नियंत्रण अर्थहीन था। जिन अंशों को लागत में सम्मिलित किया जाना था, उनका उल्लेख ही नहीं था। यह भी न्यायानुसार नही कि सम्पूर्ण देशभर के व्यापारियों के लिए एक ही सीमान्त नियत किया जावे। आयात वस्तुओं की स्थिति में बन्दरगाहों के नगर-व्यापारी लाभ में रहते थे और उन लोगों का सीमान्त, जो भीतरी भागों में रहते थे, यातायात की लागतों से खत्म हो जाता था। इसलिए, वस्तुएं बन्दरगाहों के नगरों में केन्द्रीभूत हो गयी थीं। जितना ही भीतरी भाग में नगर होता, उतनी ही कम पूर्ति होती और चोरबाज़ारी की अधिक संभावना होती।

यह हैं कुछेक कारण, जिन्होंने भारत में कीमत के नियंत्रण को असफल करने के लिए षड़यंत्र रचा। किंतु हमें इतनी कठोरतापूर्वक निर्णय नहीं करना चाहिए। जो परिस्थितियां थीं, उनके वशीभूत होकर सरकार को एक के बाद एक भूल के मार्ग में से निकलना ही था। हमें उपस्थित वातावरण की छूट तो देनी ही होगी। हमें उन स्वाभाविक आपदाओं पर भी विचार करना है, जो भारत में हुई अर्थात् विभाजन और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की घोर दशा। निःसंदेह, यदि इन परिस्थितियों में सरलतापूर्वक और सफलतापूर्वक कुछ किया जा सकता है, तो उसे आश्चर्य ही कहा जा सकता था।

७. **खाद्य नियंत्रण**। नियंत्रण की जाने वाली जिन्सों में से विशेषतः १९४३ के बंगाल-दुर्भिक्ष के बाद, स्वभावतः खाद्य-अन्नों पर अधिकतम ध्यान दिया गया। जुलाई, १९४१ के शुरू में, केन्द्रीय सरकार ने कतिपय मुख्य जिन्सों की, जिनमें गेहूं भी शामिल था, निखिल भारतीय आधार पर अधिकतम थोक कीमत नियत की थी। इसके बाद, जब नियंत्रण और पूर्ति प्राप्त करने की दिशा में कोई चेष्टा नहीं की गई, तो जिन्सें चोरबाज़ार में ग़ायब हो गयीं। अन्ततः, सरकार को गेहूं का नियंत्रण तोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा, जो वस्तुतः, इस बात को मान लेना था कि नियंत्रण के मुहासरे पर सर-

कार की पराजय हुई। दिसम्बर १९४२ में केन्द्र में खाद्य विभाग की स्थापना की गयी। किन्तु कुछ समय के लिए कोई स्पष्ट खाद्य नीति नहीं बनाई गई। सरकार ने ग़लती पर ग़लती करने के मार्ग का अनुसरण किया और स्थिति को अधिक जटिल बना दिया।

जुलाई १९४३ में, खाद्य-अन्न विषयक नीति के लिए एक कमेटी की नियुक्ति हुई। १९४४ के अन्त तक खाद्य-अन्नों के स्वतन्त्र व्यापार को अन्ततः बन्द कर दिया गया। १९४५ की फसल के लिए अधिकतम कानूनी कीमतें नियत की गयीं। आधिक्य वाले प्रान्तों को भी कीमत-नियंत्रण और राशनिंग के सिद्धांत को स्वीकार करना पड़ा। १९४६ के अनिवार्य पूर्ति (अस्थायी अधिकार) कानून के आधीन प्रान्तीय सरकारों को खाद्य वस्तुओं पर नियंत्रण करने का अधिकार दिया गया था, यह कानून दिसम्बर १९५२ तकबढ़ा दिया गया है। १९४७ में नियंत्रण भंग करने के सूक्ष्म और असफल प्रयोग के बाद, खाद्य नियंत्रण पुनः लागू किया गया।

खाद्य-नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य उपलब्ध खाद्य-अन्नों का उचित कीमतों पर भिन्न वर्ग के लोगों में समान वितरण करना है। इसमें यह बातें सम्मिलित हैं: (१) आवश्यकताओं का अनुमान, (२) आन्तरिक आधिक्यों की प्राप्ति करना, (३) सम्पूर्ण पूर्ति और आवश्यकताओं के बीच की खाई को आयात की अतिरिक्त पूर्ति द्वारा पूर्ण करना, (४) उपलब्ध पूर्ति का योजित परिचलन, (५) पूर्ति का राशनिंग और (६) कीमतों को नियमित करना।[१]

विभिन्न राज्यों में हस्तगत करने के विभिन्न तरीके जारी हैं। एक रीति तो यह है कि एकाधिकार प्रणाली को लागू करके प्राप्ति की जाय। दूसरी रीति यह है कि अन्न का जो अंश व्यापारियों तक पहुंचता जाय, वह नियत कीमत पर सरकार को सौंपते जाँय। इनके मध्य की रीति पंजाब और उत्तर प्रदेश में प्रचलित है, जिस के अनुसार आधिक्य वाले क्षेत्रों पर घेरा डाल दिया जाता है और अनाजों को स्वतः पेश करने पर सरकारी संस्था द्वारा संग्रहीत किया जाता है। निजी व्यापार पर रोक है। प्राप्त करने की सभी स्कीमों का उद्देश्य क्रय करने की प्रतिद्वंद्विता को हटाना है और खाद्य अन्नों के परिचलन और यातायात को नियंत्रित करना है। परिचलन पर नियंत्रण राशियों को कंठावरुद्ध करता है और प्राप्ति केन्द्रों की दिशा में उनके बहाव का परिचलन करता है और यातायात में आर-पार हो जाने की क्षति को रोकता है।

कीमत-नीति का उद्देश्य उपभोक्ताओं को उचित दर पर खाद्य पूर्ति करना है और साथ ही उगाने वाले को उचित लाभ की प्राप्ति का भी भरोसा देना है। १९४६ में घरेलू उत्पादित अन्नों की अपेक्षा आयात अन्नों की कीमतें चढ़ गई थीं। उनकी कीमतों को अल्प

---

१. Economic Control in India—issued by Ministry of Commerce & Industry, p. 48.

रखने के लिए और इस प्रकार निर्धन वर्ग को सकट से बचाने के लिए आयात अन्नों में सहायता देने की रीति चालू की गयी थी। १ जनवरी १९५१ को लागू की गई सहायता की संशोधित स्कीम के आधीन, केन्द्रीय सरकार का दायित्व कतिपय चुनें हुए औद्योगिक और शहरी क्षेत्रों और कतिपय ट्रावन्कोर और कोचीन जैसे भारी घाटे के राज्यों तक सीमित था। शेष के लिए राज्य सरकारों को सहायता देनी होती थी बशर्ते कि वह आवश्यक समझें और देने के योग्य हों।

भारत में कीमत-नियंत्रण का कारण मुख्यतः खाद्य नियंत्रण की असफलता थी। उसकी सापेक्ष असफलता के लिए जिम्मेदार अत्यधिक अल्पता ही थी। अच्छे-से-अच्छे यत्न करने पर भी अधिक उपजाओ आन्दोलन ने हमारे खाद्य उत्पादन में किसी प्रकार की ठोस वृद्धि नही की। खाद्य की आयातें सदैव ही तत्पर नहीं मिलती थीं। इधर भारत में भयंकर सूखा पड रहा था। प्राप्ति आशा से बहुत ही न्यून थी। जो भी हो, सरकार को इसका श्रेय देना ही होगा कि उसने १९४३ के बगाल दुर्भिक्ष जैसी घटना को दोबारा होने से बचाया।

८. **वस्त्र और सूत नियंत्रण।** वस्त्र पर नियंत्रण का अभाव इतना भयंकर प्रश्न नही था कि जितना खाद्य पर नियंत्रण के अभाव का। खाद्य की ऊंची कीमतों का अर्थ लाखों के लिए विनाश हो सकता है, किंतु वस्त्र की ऊंची कीमतों का नही। हर कोई बिना खास कष्ट के, वस्त्र के क्रय को स्थगित कर सकता है। किंतु खाद्य की मांग किसी भी दशा में स्थगित नही की जा सकती। भारत में वस्त्र की प्रति व्यक्ति अत्यल्प खपत जो भी हो, स्थगित करने का प्रश्न ही नहीं रहने देती। खाद्य-नियंत्रण के साथ तुलना करने पर वस्त्र-नियंत्रण में अनेक किस्में होने के कारण कुछ कठिनाइयां हुई।

अन्य जिन्सों की तरह ही, कपड़े की कीमतों के लिए भी असाधारण उत्कर्ष के लिए एक स्तर नियत कर दिया गया था। घरेलू उत्पाद को कोयले के अभाव, खुर्दा हिस्सों और पुर्ज़ों की आयात करने में कठिनाई और श्रम-अशांति के कारण क्षति सहन करनी पड़ी। आयात सर्वथा शून्य-स्तर पर पहुंच गए थे। इस प्रकार पूर्त्ति की अवस्था बहुत ही असंतोष-जनक थी। दूसरी ओर, मांग बढ़ती ही जा रही थी। सप्लाई डिपार्टमेंट (पूर्त्ति विभाग) ने देश के अधिकतम उत्पाद में से अपने लिये एक बहुत बड़ा हिस्सा काट लिया था। सूती मिल उद्योग को सप्लाई विभाग और मोटे कपड़े के लिए अपनी क्षमता में से ६० प्रतिशत सुरक्षित रखना पड़ता था। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और मध्यपूर्व के देशों से भी वस्त्र की बहुत मांग थी। इन अवस्थाओं में वस्त्र के मूल्य में उत्कर्ष होना अनिवार्य था। वस्तुतः, १९४३ में तृतीय मूल्य-नियंत्रण कांफ्रेंस हुई और उसने विचार किया कि वस्त्र की कीमत में उत्कर्ष होगा। मई १९४२ तक, कपड़े की कीमतों में युद्ध-पूर्व के स्तर से पांच-गुना अधिक कीमत हो गई किंतु उनपर रोक लगाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया। जन १९४३ तक स्वतः वस्तुओं को उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया। "वस्त्र-

नियंत्रण का प्रारंभिक इतिहास क्रियाहीनता और उदासीनता का रहा है।"[1] वस्त्र की कीमतों का निर्देशांक अप्रैल १९४३ में ४६९ हो गया था, जो बहुत ही गंभीर स्थिति का द्योतक था।

अंततः, वस्त्र-नियंत्रण की आवश्यकता के लिए सरकार की निद्रा भंग हुई और जून १९४३ में वस्त्र और सूत पर विस्तृत नियंत्रण लागू किया गया। तदनुसार, (Textile Control Board) वस्त्र-नियंत्रण समिति का निर्माण किया गया, जिसे केन्द्रीय सरकार को वस्त्र-नियंत्रण के विषय में परामर्श देते रहना था। एक (टैक्सटाइल) वस्त्र-कमिश्नर नियत किया गया, जिसे कीमतों, उत्पादन और वितरण को नियमित करने के अधिकार सौंपे गए। पहला कदम यह उठाया गया कि बाज़ार के अतिसंग्रह को निकालने के लिए बाध्य किया गया। पुराने स्टाकों को अक्तूबर १९४३ से पूर्व साफ करने का आदेश किया गया। (अनंतर दिसंबर १९४३ तक यह बढ़ा दिया गया)। कारखाने से निकलने, थोक और खुर्दा की कीमतों की मोहर लगानी होती थी। वस्त्र की दशा में कारखाने से बाहर जाने की कीमत पर खुर्दा कीमतों में २० प्रतिशत और सूत की अवस्था में १५ प्रतिशत जोड़ा जा सकता था। यह बहुत ही सुखकर सीमान्त था और भारी टैक्सों के बावजूद मिलों ने भारी नफा कमाया और अगस्त १९३९ में लाभ-प्राप्ति का ५९·४ निर्देशांक दिसंबर १९४० में १८८·१ हो गया। १९४३-४४ में अकेले अहमदाबाद ने अतिरिक्त लाभ-कर के रूप में ४० करोड़ रुपया दिया था। १९४७ में धीरे-धीरे नियंत्रण भंग करने के प्रयोग के अतिरिक्त, भारत में १९४३ में वस्त्र-नियंत्रण जारी रहा है। अगस्त १९४८ में सूती वस्त्र (नियंत्रण) आज्ञा (Cotton Textiles Control Order) अनिवार्य पूर्त्ति (अस्थायी अधिकार) कानून १९४६ के आधीन जारी की गई।

कपड़े की कीमतों, उत्पादन और वितरण पर नियंत्रण है। वस्त्र और सूत नियंत्रण के प्रशासन में सरकार की सहायता के लिए उच्च-अधिकार-संपन्न दो कमेटियां हैं : सूती वस्त्र और कपास नियंत्रण कमेटी नियंत्रणों की कार्यकारिता में सहायक होती है और वस्त्र प्रगतिकारी कमेटी, अन्य विषयों में वस्त्र की अधिकतम उत्पत्ति के लिए लक्ष्यों की सिफारिश करती है और कपास की पूर्त्ति, मिल के सामान और साधनों तथा अन्य कच्चे पदार्थों की पूर्त्ति के विषय में अनुमति प्रदान करती है। यह पूर्ण वस्तुओं की कीमतें भी नियत करती है। कीमतें हर तिमाही के बाद नियत की जाती हैं और संबंधित सब माल की गिनती कर ली जाती है। जहां तक उत्पाद का संबंध है, १९४३ में पहली चेष्टा मोटा कपड़ा बनाने की योजना के संबंध में की गई थी। दूसरी चेष्टा अक्तूबर १९४८ में सर्वसाधारण की मांग द्वारा किस्मों की पर्याप्त

---

१. Anjaria & Others—Price Control in India 1946, p. 120.

संख्या के विषय में निर्माता को यकीन दिलाने के लिए की गई थी और साथ ही ऐसे उत्पादों पर जो लोक-प्रिय नहीं थे, और न बिकने योग्य किस्मों पर रोक लगाने का भी यत्न किया गया। किंतु १९४९ में जब स्टाक जमा हो गए थे तो इनमें से कई नियंत्रणों को वापिस लेना पड़ा और मिलों को इच्छानुसार बिकने योग्य किस्मों को बनाने की स्वीकृति दे दी गई। १९५० के अंत में और १९५१ के शुरू में, जब धोतियों और साड़ियों की कमी थी, मिलों को आदेश दिया गया कि वह अपनी उत्पाद क्षमता का ५० प्रतिशत इन किस्मों को निर्मित करने में लगाएं। यह देखने पर कि रंगदार और छींटदार वस्त्र के लिए मांग कम है, उसके उत्पादन पर रोक लगा दी गई और मिलों को अपने संपूर्ण उत्पाद का १० प्रतिशत बनाने के लिए आज्ञा दी गई। हाथ करघों द्वारा उत्पाद में सहायता देने के लिए, एक हैंड लूम प्रगतिकारी कोष की रचना की गई, जिसमें आरंभ में १० लाख रुपया रखा गया और उत्पाद की कतिपय किस्मों को हैंड लूमों के लिए सुरक्षित कर दिया गया। अतिसंग्रह को रोकने के लिए यह आदेश दिया गया कि मिल द्वारा निर्मित वस्त्र ६ मास के अंदर-अंदर गांठों से खुल जाना चाहिए और १२ मास के अंदर-अंदर पूरी तरह बिक जाना चाहिए। वस्त्र पर उत्पाद के मास की मोहर लगवानी होती थी। ऐसा न हो कि कपड़ा चोरबाजार में गायब हो जाय, इसलिए १९४८ में वस्त्र (परिचलन-नियंत्रण) आज्ञा जारी की गई, जिसके द्वारा वस्त्र रेल, सड़क, समुद्र अथवा आकाश द्वारा वाहन-स्वीकृति-पत्र के बिना आ-जा नहीं सकता था। डाक-पार्सलों से वस्त्र भेजने पर भी रोक लगाई गई और उसके लिए सूती वस्त्र (डाक द्वारा भेजना) रोकाज्ञा, १९५१ जारी किया गया। भारत सरकार ने इस बात का दायित्व लिया था कि प्रत्येक राज्य को नियम-पूर्वक उसका वस्त्र और सूत का मासिक कोटा पहुंचता रहेगा। वस्त्र कमिश्नर राज्य द्वारा मनोनीत व्यक्तियों को उत्पाद केंद्रों से वस्त्र क्रय करने के स्वीकृति-पत्र देता था। वर्तमान में मिलों का ८० प्रतिशत उत्पाद वितरण-नियंत्रण के अधीन है। राज्य अपने निजी लाइसेंसदार व्यापारी नियत करते हैं और कपड़े के लिए मिल के बाहर जाने की कीमत पर अधिकतम सीमान्त लाभ १४ प्रतिशत और सूत पत्र १२॥ प्रतिशत नियत करते हैं। अपने राज्य के अन्तर्गत ही राज्य सरकार को वितरण का अधिकार है। कुछ राज्यों ने बड़े-बड़े केंद्रों में राशनिंग जारी किया है और कुछ ने फेयर प्राइस शॉप (उचित कीमत पर माल देने वाली दुकानें) खोल दी हैं।

कीमतों, उत्पाद और वितरण पर नियंत्रण होने के अतिरिक्त आयातों, निर्यातों और मिलों के गोदामों पर भी नियंत्रण है। ८० काऊंट या अधिक के सूत के आयात पर नियंत्रण नहीं है। जहां तक वस्त्र का संबंध है, केवल ऐसी ही किस्मों का आयात किया जा सकती है जो या तो देश में कत्तई पैदा नहीं की जातीं अथवा केवल अल्प परिमाण में उत्पन्न होती हैं। सूत के निर्यातों पर पूर्णतः प्रतिबंध है और मिल के उत्पाद का केवल १० प्रतिशत निर्यात के लिए बांधा जा सकता है। जो भी हो, यह प्रतिशत व्यापार की अवस्थाओं के

अनुसार घटता-बढ़ता है। कपास के वितरण और अन्य मिल के सामान का भी नियंत्रण किया जाता है।

खाद्य-नियंत्रण की तरह वस्त्र-नियंत्रण भी, किसी सीमा तक प्रारंभिक दशाओं मे सफल नहीं हुआ। इस स्कीम में निम्न त्रुटियां थीं।

(१) नियंत्रण बोर्ड (समिति) निजी स्वार्थों से पूर्ण था और पक्षपात-हीन सलाह की उससे आशा नहीं की जा सकती थी। उद्योग कमेटी ने, जिसमें उद्योग के प्रतिनिधि थे, बहुत ऊंचे सीमांत नियत किये थे। इसने प्रामाणीकरण को निरुत्साहित किया और अनेक किस्मों के उत्पाद को प्रोत्साहन दिया।

(२) नियंत्रण अधिकारी का यातायात पर नियंत्रण नहीं था कि जो वितरण पर नियंत्रण की सफल कार्यकारिता के लिए अनिवार्य है।

(३) कोयले की पूर्त्ति भी वस्त्र नियंत्रण अधिकारी की शक्ति से बाहर थी कि जो, परिणामतः, उत्पाद की वृद्धि के यत्नों में एक भारी त्रुटि थी।

(४) सप्लाई विभाग के क्रय वस्त्र नियंत्रण अधिकारी की परिधि से बाहर थे।

(५) मुद्रा की निरंतर बढ़ती हुई राशियों ने कीमतों में उत्कर्ष कर दिया था और उनपर नियंत्रण करने की सरकार की चेष्टाओं को शून्य कर दिया था।

(६) नियंत्रण जारी करने की स्कीम को बिना सोचे-विचारे लागू कर दिया गया, था और बहुत देर करके और यहां तक कि अनमने चित्त से उपाय लागू किये गए थे। "अधिकारियों ने समस्या के आकार को नहीं समझा था और इसके अन्य कारण यह थे: प्रबंध विषयक देरी, यातायात का अभाव, अतिसंग्रह और अपलाभ करनेवालों पर रोक लगाने में असफलता और सबसे बढ़कर जनता में विश्वास की भावना उत्पन्न करने में असफलता।"[1]

९. अन्य जिन्सों पर नियंत्रण। त्रिसूत्री नियंत्रण अर्थात् कीमत पर नियंत्रण, उत्पाद पर नियंत्रण और वितरण पर नियंत्रण, अन्य कुछ जिन्सों पर भी किया गया। किसी सीमा तक कीमत नियंत्रण और खाद्य तथा वस्त्र की मुख्य आवश्यकताओं पर नियंत्रण के विषय में सामान्य विचार कर चुकने पर, अब हम अन्य जिन्सों के नियंत्रण पर भी विहंगम दृष्टिपात करेंगे।

खांड--अप्रैल १९४२ में खांड नियंत्रण किया गया था और इसका उद्देश्य उपलब्ध पूर्त्ति का उचित दामों पर समान वितरण करना था। दिसंबर १९४७ में नियंत्रण हटा दिया गया। किंतु यह प्रयोग सफल न हुआ और सितंबर १९४९ में पुनः नियंत्रण लागू कर दिया गया। वर्तमान में केंद्रीय सरकार सब कारखानों की खांड के कारखाने से बाहर जाने की दरों, गन्ने की कीमतों और राज्यों को जाने वाले कोटों को नियत करती है। राज्य

---

१. Anjaria & Others–Price Control in India, 1946, p. 6.

अपनी सीमाओं के अंतर्गत खांड के वितरण का स्वत: प्रबंध करते है। शहरी क्षेत्रों में यह राशन की दूकानों अथवा फेयर प्राइस दूकानों द्वारा वितरण की जाती है। राज्य केंद्रीय सरकार द्वारा नियत कीमतों के आधार पर अपनी सीमाओं में थोक और खुर्दा की कीमतें नियत करते है। गुड़ और खंडसारी की उच्चतम कीमतें भी नियत की गई हैं।

खांड में आंशिक विनियंत्रण की रीति को भी चालू किया गया है। कारखानों को स्वीकृति दी गई है कि वह अपने नियत कोटे से ऊपर के उत्पाद को खुले बाज़ार में बेच सकते हैं। इसका उद्देश्य अधिकतम उत्पाद करने के लिए प्रलोभन देना है। इस रीति के अनुसार प्रत्येक उपभोक्ता को नियत उचित कीमत पर न्यूनतम पूर्त्ति का भरोसा हो जाता है और साथ ही जो लोग क्रय करने में समर्थ है, वह अपनी आवश्यकतानुसार ऊंची कीमतों पर खुले बाज़ार से क्रय कर सकते है।

खाद्य और वस्त्र-नियंत्रणों की तुलना में खांड का नियंत्रण अधिक सफल रहा क्योंकि उत्पाद केंद्रीभूत है और पूर्ति का नियंत्रण करना सहज है। किंतु जब तक गन्ने की लाभकर कीमतें नियत नहीं की गई थी, इस बात की प्रवृत्ति देखी गई थी कि गन्ने के क्षेत्र अन्न उत्पाद की ओर बदले जा रहे थे कि जो अपेक्षाकृत लाभदायक थे। इसके अतिरिक्त जब तक गन्ने की कीमत नियत नहीं की गई थी, तब तक गन्ने से गुड़ बनाने की प्रवृत्ति अधिक थी। मिठाइयों पर नियंत्रण के अभाव ने खांड को चोरबाज़ार में खदेड़ दिया। कुछ राज्यों में वितरण न्यायपूर्ण नहीं था, क्योंकि धनी और असामान्य वर्गो को निर्धनों तथा प्रभावहीन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक मात्रा दी जाती थी। चूंकि एक ज़िले के अन्तर्गत वितरण की संपूर्ण इच्छा ज़िलाधिकारी पर रहती थी, इस कारण वितरण का कोई समान सिद्धांत नहीं था।

लोहा और इस्पात—लोहे और इस्पात और टुकड़ों पर लोहा और इस्पात (उत्पाद और वितरण का नियंत्रण) आज्ञा १९४१ (Iron & Steel Control & Production Order, 1941) तथा लोहा और इस्पात (टुकड़ा नियंत्रण) आज्ञा १९४३, (Iron & Steel Scrap Control Order, 1943) के अधीन नियंत्रण किया जाता है। केंद्रीय सरकार ने इन नियंत्रणों के प्रबंध के लिए स्टील कंट्रोलर (इस्पात नियंत्रण-कर्त्ता) नियत किया हुआ है। वह इस्पात के उत्पाद के विषय में आदेश करता है और विशिष्ट आदेशों के लिए रोलिंग (Rolling) प्राथमिकता प्रदान करता है।

व्यापार और उद्योग का सचिवालय उपलब्ध पूर्त्तियों को उपभोक्ताओं के १५ समूहों में बांट करता है। सर्वसाधारण जनता और लघु-स्तर के उत्पादक अपनी आवश्यकताएं अपने राज्य के नियत अंश में से प्राप्त करते हैं। लगभग १५०० स्टाकिस्ट हैं, जो राज्य सरकारों द्वारा दिये गए आज्ञा-पत्र के अनुसार लोहे और इस्पात की पूर्त्ति करते हैं। औद्योगिक टुकड़ों और दोषपूर्ण टुकड़ों की उपलब्ध मात्रा को राज्य सरकारों के ज़िम्मे

कर दिया जाता है, जो आज्ञा-पत्रों के विरुद्ध नियंत्रित टुकड़ा व्यापारियों द्वारा वितरण किया जाता है। भारत में उत्पाद किये जाने वाले लोहे और इस्पात की लगभग सभी किस्मों की कीमतें जुलाई १९४४ से कानूनी नियंत्रण के आधीन हैं। सहायक उत्पादों की कीमतों का नियंत्रण विभिन्न समयों पर लागू किया गया : फरवरी १९४३ में टुकड़ों और दोषपूर्ण इस्पात का; अप्रैल १९४५ में तारों और तार-उत्पादों का; जुलाई १९४५ में नलों और लगाने के सामानों का; नवम्बर १९४९ में कच्चे लोहे (पिग आइरन) का; जनवरी १९५० में टीन की चादरों का। एक समानीकरण कोष (Equalization Fund) की रचना की गई, ताकि सब उत्पादक, छोटे या बड़े, समान कीमत पर बेच सकें। स्टील कंट्रोलर इस्पात की आयात के लिए लाइसेंस भी देता है और आयात किये इस्पात का उसके आदेशानुसार वितरण किया जाता है।

सीमेंट—युद्ध के दिनों में सीमेंट उत्पादन का ९० प्रतिशत सरकार ले लेती थी। अगस्त १९४२ में, सीमेंट उत्पाद पर पहले-पहल नियंत्रण लागू हुआ था। कीमत और वितरण पर मार्च १९४४में भारत रक्षा अधिनियम के आधीन नियंत्रण लागू किया गया था। सितम्बर १९४६ में इन अधिनियमों की समाप्ति पर उत्पादकों के साथ "शिष्ट समझौते" के अनुसार नियंत्रण जारी रहा। साधारण मटमैले रंग के पोर्टलैंड सीमेंट पर कानूनी कीमत नियंत्रण मार्च १९४४ में लागू किया गया था। समय-समय पर भारत सरकार उत्पाद की लागत औसत के आधार पर थोक कीमतें नियत करती थी। खुर्दा कीमतें राज्य सरकारों द्वारा नियत की जाती हैं।

जहां तक उपलब्ध पूर्त्तियों के वितरण का सम्बन्ध है, उपभोक्ताओं के भिन्न वर्गों को त्रैमासिक बांट की जाती है। किफायत और समान वितरण के उद्देश्य से देश को क्षेत्रों में बांटा गया है और उन्हें क्षेत्रीय अवैतनिक सीमेंट परामर्शदाताओं (Regional Cement Advisors) के आधीन रखा गया है। यह परामर्शदाता कारखानों से सीमेंट लेने के लिए आज्ञा पत्र जारी करते हैं। राज्य का कोटा सरकार की मांग की पूर्ति करने के बाद, सर्वसाधारण जनता के क्रय के लिए ज़िला के स्टाकिस्टों में वितरण कर दिया जाता है। एक अंश उद्योगों के डाइरेक्टरों को सौंपा गया है, जो लघु-स्तर के उद्योगों की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। ज़िला के अन्तर्गत ज़िलाधिकारी स्थानीय स्टाकिस्टों से माल लेने के लिए आज्ञा-पत्र देता है।

कोयला—कोयले पर पहले-पहल अक्तूबर १९४४ में भारत रक्षा अधिनियम के आधीन नियंत्रण जारी किया गया था और इस समय १९४६ के अनिवार्य पूर्त्ति (अस्थायी अधिकार) कानून के आधीन जारी है। इन नियंत्रणों का प्रबन्ध कोल कमीशन करता है। कोयले के नियंत्रण का उद्देश्य उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर प्राप्ति का विश्वास देना है और उद्योग के लिये दृढ़ अवस्थाओं को उत्पन्न करना, आन्तरिक आवश्यकताओं से अधिक का निर्यात करना, यातायात विषयक कठिन क्षेत्रों में उपभोक्ताओं की पूर्ति के

लिए यातायात का सदुपयोग करना, इस बात का विश्वास दिलाना कि जहां घटिया किस्म से काम चल सकता है, वहां बढ़िया का उपयोग नहीं किया जासकता और खानों से समान तथा नियमित कोयले की ढुलाई का प्रबन्ध करना। कोयले की पूर्त्तियों को बाँटने के उद्देश्य से उद्योगों का उनके महत्व के अनुसार विभिन्न समूहों में वर्गीकरण किया गया है और प्रत्येक उद्योग अथवा समूह के लिए मांग उपस्थित करने वाला अधिकारी है, जो कोल (कोयला) कमिश्नर के सामने समूह की मांग उपस्थित करता है ।

इन जिन्सों के अतिरिक्त अन्य अनेक जिन्सें हैं, जो नियंत्रण के आधीन हैं। उनमें से निम्न का उल्लेख किया जा सकता है : नमक, मिट्टी का तेल, पत्थर का कोयला, ईंधन की लकड़ी, दूध और दूध के उत्पाद, वनस्पति, कपास, जूट, ऊन, कहवा, रबर इत्यादि।

१०. व्यापार नियंत्रण । आन्तरिक व्यापार पर नियंत्रण अब तक विचार की गई जिन्सों के नियंत्रण द्वारा अपूर्ण हो जाता है। अब हमें यह देखना रह जाता है कि विदेशी व्यापार कहां तक नियंत्रण की शर्त में आता है। वर्तमान में आयात-नियंत्रण और निर्यात-नियंत्रण की विस्तृत प्रणाली जारी है ।

आयात-नियंत्रण—यह मई १९४० की बात है कि भारत रक्षा अधिनियम के आधीन युद्ध उपाय के रूप में आयात-नियंत्रण जारी किया गया था। युद्ध से शान्ति काल में सरलता-पूर्वक बदलने के उद्देश्य से आयात-नियंत्रण को १९४६ के आकस्मिक अधिकार (अविच्छेद) आर्डीनेंस, (Emergency Provision Continuance Ordinance, 1946) के आधीन एक वर्ष के लिए जारी रखा गया था। जो भी हो, यह आवश्यक समझा गया कि इसे और आगे जारी रखा जावे और इस उद्देश्य के लिए आयात और निर्यात (नियंत्रण) अधिनियम (Imports and Exports Control Act) १९४७ में स्वीकार किया गया, जो १९५० में संशोधित हुआ। इसके द्वारा भारत में आयात-नियंत्रण का कानूनी आधार प्राप्त होता है ।

आयात-नियंत्रण के आधार-मूलक उद्देश्य यह हैं : (१) सम्पूर्ण उपलब्ध विदेशी विनिमय के उपार्जनों के अनुसार देश की अधिकतम आयातों को सीमित करना; (२) अपने विदेशी विनिमय के साधनों को आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं और कृषि तथा उद्योग की उन्नति की वस्तुओं में समान रूप से बांटना; और (३) विशिष्ट जिन्स की कीमतों में चढ़ाव-उतार को नियमित करना। प्रति ६ मास का विदेशी विनिमय बजट तैयार किया जाता है। देश की आयात विषयक आवश्यकताओं का अनुमान घरेलू उत्पाद की इन वस्तुओं की कीमतों, परिमाण और प्रमाण की गणना करने के बाद किया जाता है। आयात की जाने वाली वस्तुओं को प्राथमिकता और बांटे गए विदेशी विनिमय की दृष्टि से क्रमित किया जाता है ।

आयात की जाने वाली वस्तुओं के लिए विदेशी विनिमय की बांट आयात वस्तुओं के लिए लाइसेंस प्रणाली की आवश्यकता प्रकट करती है। ऐसी भी कतिपय वस्तुएं हैं जिन्हें कोई भी बिना लाइसेंस के मंगा सकता है। उन्हें ओ. जी. एल. (Open General

Licence) खुले लाइसेंस के आधीन रखा गया है। आयात लाइसेंसों के लिये आवेदन-पत्रों का तीन वर्गों में विभाजन किया गया है : (१) कच्चे पदार्थों और अर्द्ध-पूर्ण वस्तुओं के अमली उपयोग करने वाले; (२) परिस्थापित आयात करने वाले; (३) नव-आगन्तुक। पाकिस्तान से आये विस्थापितों को रियायत दी गयी है। जब तक कि एक वस्तु ओ. जी. एल. में अंकित न हो, उसके लिए लाइसेंस होना ही चाहिए, अन्यथा वह वस्तुएं ज़ब्त कर ली जायेंगी अथवा उन पर दंड देना पड़ेगा। जो वस्तुएं आयात की जायें, वह देश के अर्थ-लाभ के लिए अनिवार्यतः होनी चाहियें—कृषि और उद्योगों की उन्नति के लिए, और समाज के सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए।

निर्यात-नियंत्रण—युद्ध के दिनों निर्यातों पर कड़ा नियंत्रण लगाना अत्यावश्यक हो जाता है अन्यथा वह वस्तुएं शत्रुओं तक पहुंच जावेंगी। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक समझा जाता है कि युद्ध को सफल करने के लिए कतिपय जिन्सों की पर्याप्त पूर्ति बनी रहे अथवा उन्हें नागरिक उपयोग के लिए सुरक्षित रखा जा सके। पहले-पहल भारत-रक्षा अधिनियम के आधीन निर्यात-नियंत्रण किया गया था और अनन्तर आकस्मिक अधिकार आज्ञा १९४६ तथा आयात और निर्यात कानून, १९४७ और १९५० में उसके संशोधन के अधीन १९५५ तक बनाये रहने के लिए जारी रखा गया।

अपने भुगतानों के संतुलनको उन्नत करने के लिए भारत ने युद्धोत्तर काल में निर्यातों पर से नियंत्रण हटाने की प्रगतिशील नीति का अनुसरण किया है। कतिपय वस्तुओं पर से या तो नियंत्रण पूर्णतया हटा लिया गया है अथवा पर्याप्त रूप में नरम कर दिया गया है। कोरिया-युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण निर्यात-नीति का परीक्षण करने की आवश्यकता हुई और कुछ दुर्लभ एवं अत्यावश्यक वस्तुओं के निर्यात पर पूर्ण रोक लगा दी गयी। मार्च १९५२ में, जिन्सी कीमतों में एकाएक न्यूनता हुई और निर्यात-नीति को पुनः उदार बना दिया गया। निर्यात नियंत्रण के मुख्य उद्देश्य ये हैं : आन्तरिक आवश्यकताओं और देश की आर्थिक प्रगति की वृद्धि के अनुरूप निर्यातों को प्रोत्साहन देना; (२)डालर और कठोर मुद्रा क्षेत्रों की दिशा में निर्यातों का बहावीकरण, ताकि उन देशों की आवश्यकीय आयातों की व्यय-पूर्ति हो सके; (३) बनी हुई वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देना; (४)दुर्लभ जिन्सों का आन्तरिक खपत के लिए संचय करना। वस्तु-विशेष के लिए लाइसेंस की उपेक्षा करने के लिए, ओ. जी. एल. (खुला लाइसेंस) जारी किया जाता है और उसमें अंकित वस्तुओं का स्वतन्त्रतापूर्वक निर्यात किया जा सकता है। शेष के लिए निर्यात लाइसेंस आवश्यक है। ऐसी वस्तुओं का निर्यात, जो (Export Trade Control Notification) निर्यात व्यापार नियंत्रण-आज्ञा के अन्तर्गत है, या तो रोक दिया गया है अथवा कोटा द्वारा नियमित किया गया है अथवा उदारतापूर्वक लाइसेंस दिये जाते हैं अथवा गुणों के कारण स्वीकृति दी जाती है, या ओ. जी. एल. के आधीन स्वीकार किया जाता है।

११. यातायात नियंत्रण । युद्ध के समय यातायात के सब साधनों पर युद्ध-सामग्री तथा अन्य आवश्यकीय पूर्तियों और फौजो के असाधारण परिचलन के कारण भारी दबाव पड़ जाता है । यहा तक कि शहरी आवागमन भी उच्चतम शिखर पर पहुंच जाता है । यदि उसे उसी के भरोसे छोड़ दिया जाय, तो यातायात प्रणाली निःसंदेह, इसके दबाव के कारण नष्ट हो जावे । इसलिये यातायात का नियंत्रण आवश्यकीय होता है ।

भारत सरकार ने रेलों पर दबाव को कम करने के सभी संभव उपाय किये । लोगों में इस बात का प्रबल प्रचार किया गया कि कम सामान के साथ यात्रा करो और "अत्यावश्यकता के समय ही यात्रा करें ।" एक प्राथमिकता की प्रणाली बनाई गई और वस्तुओं तथा यात्रियों को उस रीति के अनुसार ले जाया जाता । फौजी आवागमन और अनिवार्य वस्तुओं के परिचलन को खुला मार्ग दिया जाता था । कतिपय वस्तुओं का परिचलन कतिपय क्षेत्रों के लिए रोक दिया गया था और अन्यों के परिचालन को रेल द्वारा सर्वथा रोक दिया गया था, जिस से इस आवागमन को यातयात के अन्य साधनों की दिशा में बदल दिया जाय ।

इन प्रतिबन्धों की विद्यमानता में भी यातायात की यह रीति जनता, व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त सिद्ध न हुई । यह देखा गया कि आवश्यकीय वस्तुओं, जैसे खाद्य-अन्नों, कोयले और कपड़े को जिस गति के साथ ले जाना चाहिए, वैसा करना असंभव था । १९४३ के बंगाल दुर्भिक्ष में मृत्यु की इतनी बड़ी संख्या न होती यदि खाद्य को अधिक गति के साथ पहुंचाया जा सकता । यदि कोयले और अनिवार्य कच्चे पदार्थों के लिए यातायात उपलब्ध होता तो औद्योगिक उत्पाद को भी इतनी क्षति न होनी । वस्त्र-अकालों को भी रोका जा सकता था । यातायात की पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में लोगों को अनन्त कष्ट सहन करने पड़े ।

किंतु जान पड़ता है कि रेलें अब युद्ध की क्षति से लगभग सम्पूर्णतया स्वस्थ हो गयी है । वर्तमान में प्रायः सम्पूर्ण सामान्य सुविधाएं जारी कर दी गई हैं ।

१२. विदेशी विनिमय नियंत्रण । युद्ध कार्यों में प्रवृद्धि करने के लिए और साथ ही देश की अर्थ-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए देश के विदेशी विनिमय प्रसाधनों का संचय करने के निमित्त युद्ध काल में, प्रथम बार विदेशी विनिमय नियंत्रण लागू किया गया । किंतु युद्ध के उपरान्त भी इसे जारी रखना आवश्यक समझा गया जिससे उपलब्ध विदेशी विनिमय को देश की आर्थिक प्रगति और पुनर्वास के लिए उपयुक्त किया जा सके । तदनुसार, १९४७ में (Foreign Exchange Regulation Act) विदेशी विनिमय अधिनियम स्वीकार किया गया । वर्तमान प्रबन्धों के अनुसार विदेशी विनिमय की पूंजी को भारतीय विनिमय नियंत्रण (Indian Exchange Control) को सौंप दिया जाता है और उसकी कुल राशि को आयात के अर्थ-प्रबन्ध

में खर्च किया जाता है। विदेशी विनिमय के व्यवहार रिज़र्व बैंक द्वारा स्वीकृत व्यापारियों द्वारा हो सकते है। बुलियन और मुद्रा के आयात और निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गए है। पहले विनिमय नियंत्रण स्टर्लिंग-हीन देशों के साथ आदान-प्रदान पर लागू होता था, क्योंकि स्टर्लिंग (पौंड-नोट) को स्टर्लिंग संतुलन में से तत्काल निकाला जा सकता था। किंतु जब स्टर्लिंग समझौते के अनुसार स्टर्लिंग प्राप्ति को नियमित किया गया, तो स्टर्लिंग आदान-प्रदान को भी विनिमय नियंत्रण में ले लिया गया। स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य होने के नाते भारत ने अन्य देशों की समता में कतिपय ऐसे उपाय करने स्वीकार कर लिये हैं, जिन से डालर तथा अन्य कठोर मुद्राओं के कारण उत्पन्न हुए घाटों को पूर्ण किया जा सके। विनिमय नियंत्रण इन उपायों पर भी क्रियाशील होता है। आयात लाइसेंस स्वतः ही विदेशी विनिमय की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। अन्य विदेशी भुगतानों के लिए विदेशी विनिमय या तो रिज़र्व बैंक से या भारत सरकार से प्राप्त करना होता है।

१३. विनियोजन पर नियंत्रण। विनियोजन और पूंजी विषयों पर मई १९४३ में प्रथम बार नियंत्रण किया गया था, जिस से उपलब्ध कोषों का युद्ध की सफलता के लिए केवलमात्र उपयोग किया जा सके। युद्ध के बाद पूंजी विषयक नियंत्रण को जारी रखना पड़ा। इस प्रकार (Capital Issues, Continuance of Control, Act) पूंजी नियंत्रण अधिनियम १९४७ में स्वीकार किया गया और पुनः १९५० में उसे दो वर्ष की अवधि के लिए आगे बढ़ा दिया गया।

युद्ध-काल में पूंजी नियंत्रण का जो उद्देश्य था, युद्धोत्तर काल में इस नियंत्रण का भिन्न अर्थ है। वर्तमान में इस का अर्थ यह है कि निजी विनियोजनों को कृषि, उद्योग और सामाजिक सेवाओं की उन्नति के सम-स्तर पर लाया जावें। अंशों, स्कन्धों, प्रतिज्ञा-पत्रों तथा ऋण-पत्रों और अन्य विनियोजनों पर नियंत्रण लागू है। पांच लाख अथवा कम के विनियोजनों पर छूट दी गयी है। पूंजी जारी करने के लिए पूजी विषयों के नियंत्रण-कर्त्ता को स्वीकृति के लिएं आवेदन-पत्र दिया जाता है। और यदि वह प्रस्तावित विनियोजन केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों की योजना के अनुकूल होता है अथवा उचित समझा जाता है है, तो स्वीकृति दी जाती है। विनियोजनों को प्रभावित करने वाले अन्य उपायों का विदेशी पूंजी को विश्वास दिलाने, घरेलू औद्योगिकों को रियायतें, सहानुभूतिपूर्ण कर नीति, विनिमय नियंत्रण, बैंकिंग पर नियंत्रण, आयात और निर्यात नियंत्रण, उद्योगों के संरक्षण, अल्पपूर्ति के कच्चे पदार्थों के वितरण, राष्ट्रीय बचत के आन्दोलन, जहाजों तथा रेलों के यातायात आदि के साथ सम्बन्ध है।

१४. नियंत्रणों की कार्यकारिता। हमने युद्ध और उसके बाद से जारी रहनेवाले विभिन्न नियंत्रणों के उपायों पर विहंगम दृष्टि डाली है। क्या यह उपाय सफल हुए और इन से इच्छित परिणाम की प्राप्ति हुई? इस विषय में अनेक मत हैं। एक साधारण

व्यक्ति नियंत्रणों से कतई निराश हो चुका है और वह चाहता है कि यथाशीघ्र उनसे मुक्ति मिले। महात्मा जी इन नियंत्रणों के विरुद्ध थे और उन्होंने अपने शक्तिपूर्ण प्रभाव का इन्हें हटाने में प्रयोग किया था। दूसरी ओर, विशेषज्ञों की राय इन्हें जारी रखने के पक्ष में है, इसलिए नही कि वह अच्छे है, प्रत्युत वह आवश्यक हैं—एक अनिवार्य बुराई की भांति ।

इन नियंत्रणों के प्रारम्भिक चरणों में क्रियान्वित स्थिति की असफलता के विषय में किसी को भी मत-भेद नहीं। इस के क्या कारण थे ? हम पूर्वतः कीमत नियंत्रण (भाग ६) की असफलता के विषय में विचार कर चुके है। नियंत्रणों की सामान्यतः असफलता के लिए यही कारण ज़िम्मेदार हैं। हम इन कारणों की परिगणना कर सकते हैं:—

१. सरकारी क्षेत्रों में आत्म-संतोष ने नियंत्रणों को समय पर लागू न होने दिया। नियंत्रणों को जारी करने में देरी ने उस स्थिति का मुकाबला करने में कठिनाई पैदा की जो अन्ततः सम्पूर्णतया हीनतम हो चुकी थी। नियंत्रणों के यंत्र-चालन के विषय में पर्याप्त रूप से पूर्वतः विचार नहीं किया गया था ।

२. प्रशासन यंत्र में त्रुटियां थीं, जिसके अनेक कारण थे : पर्याप्त शिक्षा और अनुभव-हीन नौसिखियों को नियंत्रणों की सेवा पर नियत किया गया था। बड़े और छोटे सभी अफ़सर नियंत्रणों की कार्यकारिता से सर्वथा अपरिचित थे। अयोग्यता और अभिज्ञता के अतिरिक्त सब सरकारी दर्जों में भृष्टाचार फैला हुआ था। ऐसा जान पड़ता था कि वह नियंत्रणों को सफल बनाने में इतनी दिलचस्पी नहीं रखते, जितनी यथासंभव अल्पकाल में अपने लिये धन पैदा कर लेने में रखते है। इसका मुख्य कारण यह भी था कि अधिकांश उनमें से अस्थायी नौकरी पर थे। उन्हें पता था कि जल्दी अथवा देरी में उन्हें जाना ही होगा। उन्होंने स्वभावतः समय से लाभ उठाया।

३. लोगों का भी दोष था। नियंत्रण उपायों को सफल करने के लिये एक विशिष्ट रूप का चरित्र होता है कि जिस का हमारे लोगों में सर्वथा अभाव है। उनमें संयम की भावना का अभाव है। उनमें राष्ट्र के लिये त्याग करने का उत्साह नहीं। वह भृष्टाचार को बढ़ाते हैं और उसमें सहायक होते हैं। जनता से सहयोग के अभाव में नियत्रण क्योंकर लागू हो सकते थे ? जनता में सहयोग के अभाव का कारण योग्यता में और सरकार के औचित्य में अविश्वास था। हर कोई अपने ही स्वार्थ में जुटा हुआ था, जिस का फल अशान्ति हुआ ।

४. इसके अतिरिक्त, विभिन्न प्रबन्ध इकाइयों के बीच सहयोग और शृंखला का अभाव था। प्रायः राज्य की क्रिया केन्द्रीय निर्देशन की विरोधी होती थी और नियंत्रण के उपायों को सफल बनाने के लिये केन्द्रीय सरकार के यत्नों को शून्य कर देते थे।

५. जनता और सरकार के सब दोषों को समक्ष रखते हुए यह मानना ही पड़ेगा कि भारत-जैसे देश में नियंत्रण लागू करना बहुत कठिन हैं। हमारा देश बहुत विस्तार वाला है

और उसमें यातायात और आवागमन के साधन अपर्याप्त हैं। यहाँ विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक अवस्थाओं में नितान्त भिन्नता है। उत्पाद असंगठित है और मार्केटिंग संगठन तो बहुत अर्वाचीन है। लगभग सर्वमान्य निरक्षरता और शिक्षा का अभाव, जिस से हम प्रताड़ित हैं, सिवा सरकार के उपायों में बाधक होने के और कुछ नहीं हो सकती। इन वातावरणों में और इस प्रकार की स्वाभाविक कठिनाइयों मे, यदि नियंत्रण इंग्लैंड और अमरीका की भांति सफल हो जाते तो उसे जादू का ही असर कहा जा सकता था।

नियंत्रणों की असफलता के बहुत ही भयंकर परिणाम हुए।

(१) हमारे लोगों का समष्टि रूप में नैतिक-पतन हुआ। सार्वजनिक जीवन नितांत दूषित हो चुका था। ईमानदारी और सचाई के जो थोड़े से मामले थे, वह भृष्टाचार और घूसखोरी में विलीन हो गए।

(२) स्वतंत्र अर्थ-प्रबन्ध में नियंत्रणों ने भयानक दराड़ें कर दी थीं। फलस्वरूप, उनसे उत्पादशक्ति बुरी तरह प्रभावित हुई। औद्योगिकों और व्यापारियों ने अपने को अनेक अंधी खाइयों में पड़े पाया।

(३) सामान्य व्यापार के स्रोत सूख गए हैं। लाइसेंस प्राप्त और अधिकृत व्यापारियों को कारोबार सौंप दिया गया है और शेष व्यापारी समाज अनिवार्य बेकारी में छोड़ दिया गया है। अनेक स्थापित फर्में दिवालिया हो चुकी हैं।

(४) नियंत्रणों की असफलता के फलस्वरूप चोरबाज़ारी और अतिसंग्रह की समाज-विरोधी बुराइयां पैदा हो गई हैं। यदि नियंत्रण सफल हो जाते तो इन बुराइयों का उभरते ही सिर कुचला जाता। लोगों ने विश्वास के साथ इस नई रीति में अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के प्रति अग्रभाव से देखा होता।

जो भी हो, हमें यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि नियंत्रणों की अप्रामाणिक असफलता हुई। यह केवल प्रारंभिक चरण थे जबकि नियंत्रण असफल हुए। वर्तमान में वह उचित ढंग से सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं और जिन बुराइयों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह अधिकांशतः लोप हो गई है। सरकार ने नियंत्रण की रीति को उन्नत कर लिया है और प्रशासन-यंत्र को कस दिया है। साथ ही, अफसरों ने भी पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया है। इसके अतिरिक्त लोग भी नियंत्रणों के विरोधी नहीं, क्योंकि सरकार अब विदेशी नहीं। भृष्टाचार विरोधी आंदोलन गतिशील हो रहा है। पूर्ति की स्थिति पर्याप्त अच्छी हो रही है। यातायात-प्रणाली अब सामान्यतः कार्य करने लगी है। इन सब अंशों का सामूहिक प्रभाव सफलता का वह उचित उपाय है, जो वर्तमान में भारत में आर्थिक नियंत्रण पूर्ण कर रहे हैं।

१५. हाल ही की मूल्यों में भारी कमी (मार्च १९५२) और नियंत्रण। सरकार ने मुद्रा-स्फीति-विरोधी जो उपाय किये थे, उनका आखिर प्रभाव होकर रहा और कीमतों ने १९५१ के उत्तरकाल की कीमतों में ह्रास की प्रवृत्ति ग्रहण की। किन्तु १९५२

के आरंभ में वह बुरी तरह फिसलीं। सर्वसाधारण के लिए यह अत्यधिक संतोष की बात थी कि मार्च १९५२ में वह एकाएक गिर गई। १९५१ में जिस सोने की कीमत १२० रु० थी, वह ८४ हो गई; और चांदी २१५ रु० से १६२ रु० हो गई। अरंडी की कीमतें फरवरी में १६२ रु० से मार्च में १२८ रु० रह गईं। बंगाली देशी कपास में १५ प्रतिशत से भी अधिक की न्यूनता हो गई और इसी प्रकार सूती वस्तुओं में भी कीमतों में कमी हो गई। मोटे और मध्य-वस्त्र की किस्मों की कीमतें जहां मिल के बाहर की अपेक्षा १०० प्रतिशत अधिक होती थीं, वह ४० से ९० प्रतिशत तक गिर गईं। अहमदाबाद के बाज़ार में १५ से ६० प्रतिशत की न्यूनता हुई। ऐसा जान पड़ता था कि देश सन् ३० वाली महान् मंदी की ओर अग्रसर होने जा रहा है। [illegible] और क्रेता भी कोई नहीं था। जनवरी-फरवरी, १९५२ में राज्यों के मनोनीतों ने बारीक १० प्रतिशत और बढ़िया वस्त्र ३५ प्रतिशत उठाया था। वस्त्र की मिलों में राशियां संचित हो गई थीं। खांड के कारखानों ने पेलना बन्द कर दिया था और गन्ने से भरे छकड़े कारखानों के बाहर लंबी पांतों में खड़े थे, किन्तु कारखानों ने मोल लेने से इंकार किया। गन्ना उगाने वालों को भीषण हानि हुई। वस्त्र की मिलों ने भी काम बंद करना शुरू कर दिया था।

इन अवस्थाओं में सरकार ने महसूस किया कि नियंत्रणों में कुछ छूट होनी चाहिए। कई राज्य-सरकारों ने कपड़े के वितरण पर से नियंत्रण हटा लिए। राजस्थान सरकार ने वस्त्र पर से सब भांति का, प्रमाण और परिमाण विषयक अथवा अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध, नियंत्रण हटा लिया। भारत सरकार ने घोषणा की कि १ अप्रैल १९५२ से सितम्बर १९५२ तक फाईन और सुपरफाईन वस्त्र के निर्यात के लिए उदारतापूर्वक लाइसेंस दिये जायेंगे, विशेषकर विदेशी कपास के बने वस्त्रों के। कपड़े के आंतरिक नियंत्रण को भी ढीला कर दिया गया। यह निश्चय किया गया कि १ अप्रैल १९५२ से मिलों द्वारा बनने वाले मोटे और मध्यम दर्जे के वस्त्र का ५.० प्रतिशत सरकार के मनोनीतों को दिया जावे और शेष के लिए मिलों को लाइसेंस प्राप्त व्यापारियों को इच्छानुसार देने की छूट हो। यह भी निश्चय किया गया कि फाईन कपड़े की कोई भी किस्म राज्य के मनोनीतों को न दी जावे। सूत के विषय में निर्णय किया गया कि विदेशी कपास से बने सूत को मिलें सब काऊंटों में अपनी इच्छानुसार लाइसेंस प्राप्त व्यापारियों को दे सकती हैं। जो भी हो, भारतीय कपास का बना सूत तो राज्य-सरकारों या उनके मनोनीतों में ही वितरित होता रहेगा। किन्तु यदि गांठें उठाई न जावें और नियत अवधि में दाम न चुकाये जावें, तो मिलों को स्वेच्छापूर्वक बेचने का अधिकार होगा। निर्यात-नियंत्रण में छूट देने का तात्पर्य यह था कि कपड़े का निर्यात बढ़े और विदेशी विनिमय का उपार्जन हो सके। जनवरी-मार्च १९५२ में १० करोड़ गज़ के निर्यात कोटे में से वस्तुतः केवल ५ करोड़ गज़ का निर्यात हुआ। वितरण नियंत्रण में छूट देने का अर्थ यह था कि मिलों में वस्त्र और सूत का संचय न हो और जनता को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त हो सके। इस सारी स्थिति का वस्त्र-नियंत्रण

कमेटी ने अवलोकन किया और उसने ११ अप्रैल, १९५२ को सिफारिश की कि वर्तमान व्यवस्थाओं में पूर्ण नियंत्रण नही हटाया जाना चाहिए। खाद्य नियंत्रण में, जो भी हो, कोई छूट नहीं दी जानी चाहिए।

१६. नियंत्रणों का भविष्य। पहले-पहल नियंत्रण युद्ध काल में जारी किये गए थे। लोगों को आशा थी कि जैसे ही युद्ध समाप्त होगा यह जाते रहेंगे। किन्तु यह आशा पूर्ण नहीं हो सकी। उन्हें इसलिए भी युद्ध के बाद जारी रखा गया कि युद्ध से शांति के अंतरकाल की अर्थ-व्यवस्था का भरोसा हो सके और साथ ही अब तक पूर्ति की स्थिति में कठिनाई बनी हुई है। विभाजन के अनन्तर परिस्थिति भयंकर हो गई। १९४९ में मुद्रा-अवमूल्यन ने कीमतों को और अधिक ऊंचा करके भयभीत कर दिया और नियंत्रणों को अधिक कड़ा करना पड़ा। कोरिया के युद्ध और फलस्वरूप स्टाक संचय ने नियंत्रणोंको रखने तथा कड़ा करने की अधिक आवश्यकता प्रकट की। इस प्रकार वातावरण ने ऐसा रूप धारण किया कि नियंत्रणों से पिंड छुड़ाना असंभव हो गया। किंतु भविष्य के विषय में क्या होगा?

अर्थशास्त्री कोई ज्योतिषी नहीं है और अर्थ-विज्ञान मे भविष्यवाणी करने की योग्यता का अभाव है। किन्तु सब सम्बन्धित अंगों और संभावित प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए यह जान पड़ता है कि नियंत्रण अभी कुछ वर्षों तक जारी रहेगे। सम्भव है कि उन्हें एक-एक करके हटाया जावे या उन्हें ढीला किया जावे (एक-एक जिन्स के रूप में)। उदाहरण के लिए, खांड पर से आंशिक रूप में नियन्त्रण पहले ही हटाया जा चुका है और यहां तक कि यह आंशिक भी विलोप हो जावे। किन्तु खाद्य और वस्त्र पर, जो जीवन के लिए अनिवार्य हैं, नियन्त्रण रहना ही चाहिए। खाद्य की आत्म-निर्भरता का ध्येय अभी हमेशा की तरह बहुत दूर है। केवल जब मुख्य नदी योजनाएं पूर्ण होंगी, तभी खाद्य की स्थिति में उन्नति सम्भव है। किन्तु कष्ट यह है कि हमारी जन-संख्या में बहुत वेग के साथ वृद्धि हो रही है। इसलिए, खाद्य की स्थिति आगामी दस वर्षो के लिए अभी चिन्ता का कारण बनी रह सकती है। कपड़े पर नियंत्रण इस कारण जारी रखा जाना चाहिये कि विदेशी विनिमय का उपार्जन किया जा सके।

किन्तु नियंत्रणों को जारी रखने का सबसे महत्वपूर्ण कारण वह आयोजित अर्थ-व्यवस्था है जिसके निर्माण की हमने तजवीज की है। हमने अपनी प्रथम पंच-वर्षीय योजना आरम्भ कर दी है और उसके बाद ऐसी ही योजनाएं और भी चलेंगी। इन आयोजित योजनाओं का उद्देश्य समाज के सीमित प्रसाधनों का अधिकतम लाभ के लिए उपयोग करना है। इन प्रसाधनों के बहाव को संयत रूप देना है। यदि हमें आयोजित अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य को प्राप्त करना है, तो प्रसाधनों का स्वतन्त्रतापूर्वक परिचालन नहीं होने देना होगा। इस प्रकार पूंजी विनय और विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण जारी रहना चाहिए। उत्पाद पर भी नियन्त्रण जारी रहना चाहिए। यदि राज्य निश्चय करता है कि

क्या उत्पाद हो, और क्या नहीं होना चाहिए तो उपभोक्ताओं को कदापि यह आज्ञा नहीं होनी चाहिए कि वह किस वस्तु की खपत करना चाहते हैं। इसलिए उपभोक्ताओं की स्वच्छन्दता पर सीमाएं लगानी ही होंगी। इस प्रकार सहज ही इस निर्णय पर पहुंचा जा सकता है कि नियंत्रणों से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। किन्तु इसकी चिन्ता हमें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सरकार ने इन नियंत्रणों को योग्यतापूर्वक चलाने में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया है।